●

यदीया वाग्गङ्गा विविध-नय-कल्लोल-विमला
बृहद्ज्ञानाम्भोभिर्जगति जनतां या स्नपयति ।
इदानीमप्येषा बुधजन मरालैः परिचिता
महावीरस्वामी नयन-पथ-गामी भवतु नः ॥

पण्डित भागचन्द, महावीराष्टक

●

तीर्थंकर महावीर
और
उनकी आचार्य-परम्परा

लेखक

(स्व०) डॉ. नेमिचन्द्र शास्त्री, ज्योतिषाचार्य

एम ए, पी-एच. डी., डी. लिट्

श्री भारतवर्षीय दिगम्बर जैन विद्वत्परिषद्

प्रकाशक
मंत्री, श्री भा० दि० जैन विद्वत्परिषद्

•

प्राप्ति-स्थान
मंत्री, श्री भा० दि० जैन विद्वत्परिषद्
कार्यालय, वर्णी-भवन
सागर (मध्य प्रदेश)

•

तीर्थंकर महावीरके निर्वाण-रजतशती महोत्सवके
मङ्गलमय अवसरपर प्रकाशित

•

प्रथम संस्करण १५००
दीपावली, वीर-निर्वाण संवत् २५०१
कार्तिक कृष्णा अमावस्या, विक्रम संवत् २०३१
१३ नवम्बर, ईस्वी सन् १९७४

•

मूल्य पचास रुपये

•

मुद्रक
बाबूलाल जैन फागुल्ल
महावीर प्रेस
भेलूपुर, वाराणसी–२२१००१

तीर्थङ्कर वर्द्धमान-महावीर
जिनकी निर्वाण-रजतशती राष्ट्र मना रहा है।

प्रकाशककी लेखनीसे

भारतवर्षीय दि० जैन विद्वत्परिषद्की ओरसे गुरु गोपालदास बरैया-शताब्दी समारोहके प्रसंगको लेकर जब श्री बरैया-स्मृति-ग्रन्थका प्रकाशन हुआ, तब समाजके प्रबुद्धवर्गने अत्यधिक प्रसन्नता प्रकट की थी। ग्रन्थका सर्वत्र समादर हुआ और उसकी समस्त प्रतियाँ हाथोंहाथ उठ गयी। भारतवर्षके समस्त विश्वविद्यालयोंकी लाइब्रेरियोंके लिए यह संग्रहणीय ग्रन्थ विद्वत्परिषद्की ओरसे निःशुल्क भेंट किया गया। उसके उत्तरमें विश्वविद्यालयोंके प्रबन्धकोंने जो धन्यवादपत्र दिये, उनमे उन्होंने उस ग्रन्थरत्नको प्राप्तकर बडा हर्ष प्रकट किया था।

वर्तमानमे चल रहे श्री १००८ भगवान् महावीरके २५०० वें निर्वाण-महोत्सवके उपलक्ष्यमे भी विद्वत्परिषद्की कार्यकारिणीने **'तीर्थंकर महावीर और उनकी आचार्य-परम्परा'** नामक ग्रन्थ प्रकाशित करनेका निश्चय किया और इसके लेखनका भार विद्वत्परिषद्के उपाध्यक्ष और बहुमुखी प्रतिभाके धनी श्री नेमिचन्द्रजी ज्योतिषाचार्य, एम०ए०, पी-एच० डी०, डी० लिट्०, अध्यक्ष, संस्कृत-प्राकृत विभाग एच० डी० जैन कालेज आराको दिया गया। सम्माननीय डाक्टर साहबने इस ग्रन्थके लेखनमे चार-पाँच वर्ष अकथनीय परिश्रम किया है। परन्तु खेद है कि वे अपनी इस महनीय कृतिको अपने जीवन-कालमे प्रकाशित न देख सके। गत जनवरी ७४ मे उनके दिवंगत होनेका समाचार देशभरमे संतप्त हृदयसे सुना गया।

यह महान् ग्रन्थ चार भागोमे सम्पूर्ण हुआ है। इसके प्रकाशनके लिए विद्वत्परिषद्के पास अर्थकी व्यवस्था नगण्य थी। परन्तु विद्वत्परिषद्के अध्यक्ष डॉक्टर दरबारीलालजी कोठियाने इसके अग्रिम ग्राहक बनानेकी योजना प्रस्तुत की, जिसे समाजने बड़े उत्साहके साथ स्वीकृत किया। श्री १०८ पूज्य विद्यानन्दजी महाराजने भी अपने शुभाशीर्वादसे इसके प्रकाशनका मार्ग प्रशस्त किया। यह प्रकट करते हुए प्रसन्नता होती है कि इसके सातसौ ग्राहक अग्रिम मूल्य देकर बन गये। ग्रन्थके चारो भागोका मूल्य ८५) है। परन्तु अग्रिम ग्राहक बननेवालोको यह ग्रन्थ ६१) मे देनेका निर्णय किया गया।

ग्रन्थके प्रथम भागमे भगवान् महावीर स्वामीके पूर्व भवोका चित्रण करते हुए उनके महान् जीवनका सुन्दर विश्लेषण किया गया है। अन्तमे उनके द्वारा प्रतिपादित विषयोपर समुचित प्रकाश डाला गया है। लेखककी भाषा-

प्रौढता और विषय-प्रतिपादनकी गम्भीर शैली उनके वैदुष्यको प्रकट कर रही है। भगवान् महावीरके दीक्षोपरान्त बारह वर्षकी तपश्चर्या तथा विशेष घटनाओंका वर्णन दिगम्बर कथा-ग्रन्थोंमें उपेक्षित-सा रहा है। परन्तु लेखकने उन सबका अन्वेषण कर इस ग्रन्थमें विस्तारसे वर्णन किया है। ग्रन्थका आभ्यन्तर-परिचय डॉक्टर दरबारीलालजी कोठिया द्वारा लिखे आमुख तथा ग्रन्थकी विषय-सूचीसे स्पष्ट है।

इस ग्रन्थके संपादन और प्रकाशन तथा अर्थके संग्रहमें विद्वत्परिषद्के अध्यक्ष श्रीमान् डॉ० दरबारीलालजी कोठिया, न्यायाचार्य, एम० ए०, पी-एच०डी०, पूर्व रीडर जैन-बौद्धदर्शनविभाग, हिन्दू-विश्वविद्यालय, वाराणसीको महान् परिश्रम करना पड़ा है, प्रेसकी दौड़धूप और प्रूफका देखना आदि कार्य आपने जिस निस्पृह भाव, लगन और निष्ठासे संपन्न किये हैं वह श्लाघ्य है। आपकी इस महनीय सेवाके लिए मैं अत्यन्त कृतज्ञ हूँ।

पूज्य मुनिश्री विद्यानन्दजीने ग्रन्थपर आशीर्वचनके रूपमें बहुमूल्य 'आद्य मिताक्षर' लिखकर हमें कृतार्थ किया, इसके लिए हम उनके प्रति विनत हैं। सिद्धान्ताचार्य श्रीमान् पं० कैलाशचन्द्रजी वाराणसीने अपना महत्त्वपूर्ण 'प्राक्कथन' लिखनेकी कृपा की, अतः उनके भी अतिकृतज्ञ हैं।

श्री बाबूलालजी फागुल्ल, संचालक महावीर-प्रेसने बड़ी सुन्दरतासे इसका प्रकाशन किया है, इसके लिए वे धन्यवादके पात्र हैं।

अग्रिम मूल्य भेजकर जिन ग्राहकोंने हमारी प्रकाशन-व्यवस्थाको सुकर बनाया है उनके प्रति मैं नम्र आभार प्रकट करता हूँ। ग्रन्थकी तैयार पाण्डुलिपिके वाचनमें श्रीमान् सिद्धान्ताचार्य पं० कैलाशचन्द्रजी शास्त्री, डॉ० दरबारीलालजी कोठिया, डॉ० ज्योतिप्रसादजी लखनऊ, आदि विद्वानोंने जो समय और सुझाव दिये हैं उनके प्रति भी मैं सविनय आभार प्रकट करता हूँ।

अन्तमें प्रकाशन-सम्बन्धी अशुद्धियोंके लिए क्षमा-याचना करता हुआ आकांक्षा करता हूँ कि भगवान् महावीरके २५०० वें निर्वाण-महोत्सवकी पुण्य-वेलामें इस ग्रन्थका घर-घरमें प्रचार हो और जन-मानस भगवान् महावीरके सिद्धान्तोंसे सुपरिचित हो।

विनीत
पन्नालाल जैन
मंत्री
भारतवर्षीय दि० जैन विद्वत्परिषद्
सागर

सागर
९-७-१९७४

आद्य मिताक्षर

'परम्परा' शब्द अपना विशेष महत्त्व रखता है और विश्वके कण-कणसे सम्बन्धित है। परम्पराका इतिहास लेखबद्ध करना वैसे ही कठिन कार्य है, फिर श्रमण-परम्पराका इतिहास तो सर्वथा ही दुरूह है। प्रसंगमे जहाँ 'परम्परा' शब्द सद्-आगम और सद्गुरुओका बोधक है, वहाँ यह प्रामाणिकताका द्योतक भी है। परम्परागत आगम और गुरुओको सर्वत्र प्रथम स्थान है। इसीलिए **'आचार्यगुरुभ्यो नम'** के स्थान पर **'परम्पराचार्यगुरुभ्यो नम.'** का प्रचलन है। लोकमे आज भी यह परम्परा प्रचलित है। जैसे गृहस्थोके विवाह आदि सस्कारोमे परम्परा (गोत्रादि) का प्रश्न उठता है, वैसे ही मुनियोके सबधमे भी उनकी गुरु-परम्पराका ज्ञान आवश्यक है।

भारतमे मुनि-परम्परा और ऋषि-परम्परा ये दो परम्पराएँ प्राचीनकालसे रही हैं। ऐतिहासिक दृष्टिसे प्रथम परम्पराका सबध आत्मधर्मा श्रमणोसे रहा है श्रमणमुनि मोक्षमार्गके उपदेष्टा रहे हैं। द्वितीय परम्पराका सबध लोक-धर्मसे रहा है ऋषिगण गृहस्थोके षोडश सस्कारादि सम्पन्न कराते रहे है। ऋषियोको जब आत्मधर्मज्ञानकी बुभुक्षा जाग्रत हुई, वे श्रमणमुनियोके समीप जिज्ञासाकी पूर्ति एव मार्गदर्शनके लिए पहुँचते रहे।[1]

स्व० डॉ० नेमिचन्द्र शास्त्री द्वारा रचित ग्रन्थ **'तीर्थङ्कर महावीर और उनकी परम्परा'** मे श्रमण मुनि-परम्पराका तथ्यपूर्ण इतिहास है। वस्तुत

१ वातरशना ह वा ऋषय श्रमणा ऊर्ध्वमन्थिनो बभूवुस्तानृषयोऽर्थमायस्तेऽनिलाय-मचरस्तेऽनुप्रविशुः कूष्माण्डानि तास्तेष्वन्वविन्दन श्रद्धया च तपसा च। तानृषयो-ऽब्रुवन कया निलाय चरथेति ते ऋषीनब्रुवन्नमोवोऽस्तु भगवन्तोऽस्मिन् धाम्नि केन व सपर्यामेति तानृषयोऽब्रुवन पवित्र नो ब्रूत येनोरेपस स्यामेति त एतानि सूक्तान्यपश्यन्।'

तैत्तिरीय आरण्यक २ प्रपाठक ७ अनुवाक, १-२

'वातरशन श्रमण-ऋषि ऊर्ध्वमन्थी (परमात्मपदकी ओर उत्क्रमण करनेवाले) हुए। उनके समीप इतर ऋषि प्रयोजनवश (याचनार्थ) उपस्थित हुए। उन्हें देखकर वातरशन कूष्माण्डनामक मन्त्रवाक्योमें अन्तर्हित हो गए, तब उन्हें अन्य ऋषियोने श्रद्धा और तपसे प्राप्त कर लिया। ऋषियोने उन वातरशन मुनियोसे प्रश्न किया किस विद्यासे आप अन्तर्हित हो जाते हैं? वातरशन मुनियोने उन्हे अपने अध्यात्म धामसे आए हुए अतिथि जानकर कहा हे मुनिजनो! आपको नमोऽस्तु है, हम आपकी सपर्या (सत्कार) किससे करें? ऋषियोने कहा हमें पवित्र आत्मविद्याका उपदेश दीजिए, जिससे हम निष्पाप हो जाएँ।

इतिहासकी रचनाके लिए तथ्यज्ञान आवश्यक है। यत

इतिहास इतीष्ट तद् इति हासीदिति श्रुते ।
इतिवृत्तमथैतिह्यमाम्नाय चामनन्ति तत् ॥

आचार्य श्रीजिनसेन, आदिपुराण, १।२५

'इतिहास, इतिवृत्त, ऐतिह्य और आम्नाय समानार्थक शब्द है। 'इति ह आसीत' (निश्चय ऐसा ही था), 'इतिवृत्तम्' (ऐसा हुआ- घटित हुआ) तथा परम्परासे ऐसा ही आम्नात है इन अर्थो मे इतिहास है।

इतिहास दीपकतुल्य है। वस्तुके कृष्ण-श्वेतादि यथार्थ रूपको जैसे दीपक प्रकाशित करता है, वैसे इतिहास मोहके आवरणका नाशकर, भ्रान्तियोको दूर करके सत्य सर्वलोक द्वारा धारण की जानेवाली यथार्थताको प्रकाशन करता है। अर्थात् दीपकके प्रकाशसे पूर्व जैसे कक्षमे स्थित वस्तुएँ विद्यमान रहते हुए भी प्रकाशित नही होती, वैसे ही सम्पूर्ण लोक द्वारा धारण किया गया गर्भभूत सत्य इतिहासके बिना सुव्यक्त नही होता।[1]

प्रस्तुत ग्रन्थके अवलोकनसे स्पष्ट हो जाता है कि विद्वान्की लेखनीमे बल और विचारोमे तर्कसंगतता है। समाज इनकी अनेक कृतियोका मूल्याकन कर चुका है भलीभाँति सम्मानित कर चुका है। प्रस्तुत कृतिसे जहाँ पाठकोको स्वच्छ श्रमण-परम्पराका परिज्ञान होगा, वहाँ ग्रन्थमे दिये गये टिप्पणोसे उनके ज्ञानमे प्रामाणिकता भी आवेगी। श्रमण-परम्पराके अतिरिक्त इस ग्रन्थमे श्रमणो-की मान्यताओ एव जैन सिद्धान्तोका भी सफल निरूपण किया गया है। यह ग्रन्थ सभी प्रकारसे अपनेमे परिपूर्ण एव लेखककी ज्ञान-गरिमाको इङ्गित करनेमे समर्थ है।

यहाँ लेखकके अभिन्न मित्र डॉ० दरबारीलाल कोठियाजीके प्रस्तुत ग्रन्थके प्रकाशनमे किए गए सत्यप्रयत्नोको भी विस्मृत नही किया जा सकता है, जिनके द्वारा हमे प्रस्तुत ग्रन्थके लिए कुछ शब्द लिखनेका आग्रहयुक्त निवेदन प्राप्त हुआ। विद्वत्परिषद्का यह प्रकाशन-कार्य परिषद्के सर्वथा अनुरूप है। ऐसे सत्कार्य-के लिए भी हमारे शुभाशीर्वाद !

विद्यानन्द मुनि

१ इतिहास-प्रदीपेन मोहावरणघातिना ।
सर्वलोकधृतं गर्भं यथावत् सम्प्रकाशयेत् ॥
— महाभारत

प्राक् कथन

भारतवर्षका क्रमवद्ध इतिहास वुद्ध और महावीरसे प्रारम्भ होता है। इनमेसे प्रथम वौद्धधर्मके सस्थापक थे, तो द्वितीय थे जैनधर्मके अन्तिम तीर्थंकर। 'तीर्थंकर' शब्द जैनधर्मके चौवीस प्रवर्त्तकोके लिए रूढ जैसा हो गया है, यद्यपि है यह यौगिक ही। धर्मरूपी तीर्थके प्रवर्त्तकको ही तीर्थंकर कहते हैं। आचार्य समन्तभद्रने पन्द्रहवे तीर्थंकर धर्मनाथकी स्तुतिमे उन्हे 'धर्मतीर्थमनघ प्रवर्तयन्' पदके द्वारा धर्मतीर्थका प्रवर्त्तक कहा है। भगवान महावीर भी उसी धर्मतीर्थके अन्तिम प्रवर्त्तक थे और आदि प्रवर्त्तक थे भगवान् ऋषभदेव। यही कारण है कि हिन्दू पुराणोमे जैनधर्मकी उत्पत्तिके प्रसगसे एकमात्र भगवान् ऋषभदेवका ही उल्लेख मिलता है किन्तु भगवान् महावीरका संकेत तक नही है जव उन्हीके समकालीन वुद्धको विष्णुके अवतारोमे स्वीकार किया गया है। इसके विपरीत त्रिपिटक साहित्यमे निग्गठनाटपुत्तका तथा उनके अनुयायी निर्ग्रन्थोका उल्लेख वहुतायतसे मिलता है। उन्हीको लक्ष्य करके स्व० डॉ० हर्मान याकोवीने अपनी जैन सूत्रोकी प्रस्तावनामे लिखा है 'इस वातसे अव सव सहमत हैं कि नातपुत्त, जो महावीर अथवा वर्धमानके नामसे प्रसिद्ध है, वुद्धके समकालीन थे। वौद्धग्रन्थोमे मिलनेवाले उल्लेख हमारे इस विचारको दृढ करते हैं कि नातपुत्तसे पहले भी निर्ग्रन्थोका, जो आज जैन अथवा आर्हत नामसे अधिक प्रसिद्ध हैं, अस्तित्व था। जव वौद्धधर्म उत्पन्न हुआ तव निर्ग्रन्थोका सम्प्रदाय एक वडे सम्प्रदायके रूपमे गिना जाता होगा। वौद्ध पिटकोमे कुछ निर्ग्रन्थोका वुद्ध और उनके शिष्योके विरोधीके रूपमे और कुछका वुद्धके अनुयायी वन जानेके रूपमे वर्णन आता है। उसके ऊपरसे हम उक्त अनुमान कर सकते है। इसके विपरीत इन ग्रन्थोमे किसी भी स्थानपर ऐसा कोई उल्लेख या सूचक वाक्य देखनेमे नही आता कि निर्ग्रन्थोका सम्प्रदाय एक नवीन सम्प्रदाय है और नातपुत्त उसके सस्थापक हैं। इसके ऊपरसे हम यह अनुमान कर सकते है कि वुद्धके जन्मसे पहले अति प्राचीन कालसे निर्ग्रन्थोका अस्तित्व चला आता है।"

अन्यत्र डॉ० याकोवीने लिखा है 'इसमे कोई भी सवूत नही है कि पार्श्वनाथ जैनधर्मके संस्थापक थे। जैन परम्परा प्रथम तीर्थंकर ऋषभदेवको जैन धर्मका संस्थापक माननेमे एकमत है। इस मान्यतामे ऐतिहासिक सत्यकी सम्भावना है।'

प्रसिद्ध दार्शनिक डॉ० राधाकृष्णन्‌ने अपने 'भारतीय दर्शन' मे कहा है 'जैन परम्परा ऋषभदेवसे अपने धर्मकी उत्पत्ति होनेका कथन करती है, जो बहुत-सी शताब्दियो पूर्व हुए हैं। इस बातके प्रमाण पाये जाते है कि ईस्वी पूर्व प्रथम शताब्दीमे प्रथम तीर्थंकर ऋषभदेवकी पूजा होती थी। इसमे कोई सन्देह नही है कि जैनधर्म वर्धमान और पार्श्वनाथसे भी पहले प्रचलित था। यजुर्वेद-मे ऋषभदेव, अजितनाथ और अरिष्टनेमि इन तीन तीर्थंकरोके नामोका निर्देश है। भागवत पुराण भी इस बातका समर्थन करता है कि ऋषभदेव जैनधर्मके सस्थापक थे।'

यथार्थमे वैदिकोकी परम्पराकी तरह श्रमणोकी भी परम्परा अति प्राचीन कालसे इस देशमे प्रवर्तित है। इन्ही दोनो परम्पराओके मेलसे प्राचीन भारतीय सस्कृतिका निर्माण हुआ है। उन्ही श्रमणोकी परम्परामे भगवान महावीर हुए थे। बुद्धकी तरह वे भी एक क्षत्रिय राजकुमार थे। उन्होने भी घरका परि-त्याग करके कठोर साधनाका मार्ग अपनाया था। यह एक विचित्र बात है कि श्रमण परम्पराके इन दो प्रवर्त्तकोकी तरह वैदिक परम्पराके अनुयायी हिन्दू-धर्ममे मान्य राम और कृष्ण भी क्षत्रिय थे। किन्तु उन्होने गृहस्थाश्रम और राज्यासनका परित्याग नही किया। यही प्रमुख अन्तर इन दोनो परम्पराओमे है। कृष्ण भी योगी कहे जाते हैं किन्तु वे कर्मयोगी थे। महावीर ज्ञानयोगी थे। कर्मयोग और ज्ञानयोगमे अन्तर हैं। कर्मयोगीकी प्रवृत्ति बाह्याभिमुखी होती है और ज्ञानयोगीकी आन्तराभिमुखी। कर्मयोगीको कर्ममे रस रहता है और ज्ञानयोगीको ज्ञानमे। ज्ञानमे रस रहते हुए कर्म करनेपर भी कर्मका कर्त्ता नही कहा जाता। और कर्ममे रस रहते हुए कर्म नही करनेपर भी कर्मका कर्त्ता कहलाता है। कर्म प्रवृत्तिरूप होता है और ज्ञान निवृत्तिरूप। प्रवृत्ति और निवृत्तिकी यह परम्परा साधनाकालमे मिली-जुली जैसी चलती है किन्तु ज्यो-ज्यो निवृत्ति बढती जाती है प्रवृत्तिका स्वत ह्रास होता जाता है। इसी-को आत्मसाधना कहते हैं।

यथार्थमे विचार कर देखें प्रवृत्तिके मूल मन, वचन और काय हैं। किन्तु आत्माके न मन है, न वचन है और न काय है। ये सब तो कर्मजन्य उपाधियाँ हैं। इन उपाधियोमे जिसे रस है वह आत्मज्ञानी नही है। जो आत्मज्ञानी हो जाता है उसे ये उपाधियाँ व्याधियाँ ही प्रतीत होती हैं।

इनका निरोध सरल नही है। किन्तु इनका निरोध हुए बिना प्रवृत्तिसे छुटकारा भी सम्भव नही है। उसीके लिए भगवान महावीरने सब कुछ त्याग कर वनका मार्ग लिया था। ससार-मार्गियोकी दृष्टिमे भले ही यह 'पलायनवाद' प्रतीत हो, किन्तु इस पलायनवादको अपनाये बिना निर्वाण-प्राप्तिका दूसरा

मार्ग भी नही है। भोगी और योगीका मार्ग एक कैसे हो सकता है। तभी तो गीतामें कहा है

या निशा सर्वभूतानां तस्यां जागर्ति संयमी।
यस्यां जाग्रति भूतानि सा निशा पश्यतो मुनेः॥

'सब प्राणियोके लिए जो रात है उसमे सयमी जागता है और जिसमे प्राणी जागते हैं वह आत्मदर्शी मुनिकी रात है।'

इस प्रकार भोगी ससारसे योगीके दिन-रात भिन्न होते है। संयमी महावीर-ने भी आत्म-साधनाके द्वारा कार्तिक कृष्णा अमावस्याके प्रात सूर्योदयसे पहले निर्वाण-लाभ किया। जैनोके उल्लेखानुसार उसीके उपलक्षमे दीपमालिकाका आयोजन हुआ और उनके निर्वाण-लाभको पच्चीस सौ वर्ष पूर्ण हुए। उसीके उपलक्षमे विश्वमे महोत्सवका आयोजन किया गया है।

उसीके स्मृतिमे **'तीर्थंकर महावीर और उनकी आचार्य-परम्परा'** नामक यह बृहत्काय ग्रन्थ चार खण्डोमे प्रकाशित हो रहा है। इसमे भगवान महावीर और उनके बादके पच्चीस-सौ वर्षोंमे हुए विविध साहित्यकारोका परिचयादि उनकी साहित्य-साधनाका मूल्याकन करते हुए विद्वान् लेखकने निबद्ध किया है। उन्होने इस ग्रन्थके लेखनमे कितना श्रम किया, यह तो इस ग्रन्थको आद्योपान्त पढनेवाले ही जान सकेंगे। मेरे जानतेमे प्रकृत विषयसे सम्बद्ध कोई ग्रन्थ, या लेखादि उनकी दृष्टिमे ओझल नही रहा। तभी तो इस अपनी कृतिको समाप्त करनेके पश्चात् ही वे स्वर्गत हो गये और इसे प्रकाशमे लानेके लिए उनके अभिन्न सखा डॉ० कोठियाने कितना श्रम किया है, इसे वे देख नही सके। **'भगवान महावीर और उनकी आचार्यपरम्परा'मे लेखकने अपना जीवन उत्सर्ग करके जो श्रद्धाके सुमन चढ़ाये हैं उनका मूल्यांकन करनेकी क्षमता इन पंक्तियोके लेखकमे नहीं है। वह तो इतना ही कह सकता है कि आचार्य नेमिचन्द्र शास्त्रीने अपनी इस कृतिके द्वारा स्वयं अपनेको भी उस परम्परामे सम्मिलित कर लिया है।**

उनकी इस अध्ययनपूर्ण कृतिमे अनेक विचारणीय ऐतिहासिक प्रसग आये हैं। भगवान महावीरके समय, माता-पिता, जन्मस्थान आदिके विषयमे तो कोई मतभेद नही है। किन्तु उनके निर्वाणस्थानके सम्बन्धमे कुछ समयसे विवाद् खडा हो गया है। मध्यमा पावामे निर्वाण हुआ, यह सर्वसम्मत उल्लेख है। तदनुसार राजगृहीके पास पावा स्थानको ही निर्वाणभूमिके रूपमे माना जाता है। वहाँ एक तालाबके मध्यमे विशाल मन्दिरमे उनके चरण-

चिन्ह स्थापित हैं। यह स्थान मगधमें है। दूसरी पावा उत्तर प्रदेशके देवरिया जिलेमे कुशीनगरके समीप है। डॉ० शास्त्रीने मगधवर्ती पावाको ही निर्वाण-भूमि माना है।

बिम्बसार श्रेणिक भगवान महावीरका परम भक्त था। उसकी मृत्यु डॉ० शास्त्रीने भगवान महावीरके निर्वाणके बाद मानी है, उन्हे ऐसे उल्लेख मिले हैं। किन्तु यह ऐतिहासिक प्रसग विचारणीय हैं।

उन्होने जैन तत्त्व-ज्ञानका भी बहुत विस्तारसे विवेचन किया है और प्राय सभी आवश्यक विषयोपर प्रकाश डाला है। दूसरा, तीसरा तथा चौथा खण्ड तो एक तरहसे जैनसाहित्यका इतिहास जैसा है। सक्षेपमे उनकी यह बहुमूल्य कृति अभिनन्दनीय है। आशा है इसका यथेष्ट समादर होगा।

कैलाशचन्द्र शास्त्री

●

आमुख

भारतीय संस्कृतिमे आर्हत संस्कृतिका प्रमुख स्थान है। इसके दर्शन, सिद्धात, धर्म और उसके प्रवर्त्तक तीर्थंकरो तथा उनको परम्पराका महत्त्वपूर्ण अवदान है। आदि तीर्थंकर ऋषभदेवसे लेकर अन्तिम चौबीसवे तीर्थंकर महावीर[1] और उनके उत्तरवर्ती आचार्योंने अध्यात्म-विद्याका, जिसे उपनिषद्-साहित्यमे[2] 'परा विद्या' (उत्कृष्ट विद्या) कहा गया है, सदा उपदेश दिया और भारतको चेतनाको जागृत एव ऊर्ध्वमुखी रखा है। आत्माको परमात्माकी ओर ले जाने तथा शाश्वत सुखकी प्राप्तिके लिए उन्होने[3] अहिसा, इन्द्रियनिग्रह, त्याग और समाधि (आत्मलीनता) का स्वय आचारण किया और पश्चात् उनका दूसरोको उपदेश दिया। सम्भवत. इसीसे वे अध्यात्म-शिक्षादाता और श्रमण-सस्कृतिके प्रतिष्ठाता कहे गये हैं। आज भी उनका मार्गदर्शन निष्कलुष एव उपादेय माना जाता है।

तीर्थंकर महावीर इस संस्कृतिके प्रबुद्ध, सबल, प्रभावशाली और अन्तिम प्रचारक थे। उनका दर्शन, सिद्धान्त, धर्म और उनका प्रतिपादक वाड्मय विपुल मात्रामे आज भी विद्यमान है तथा उसी दिशामे उसका योगदान हो रहा है।

अतएव बहुत समयसे अनुभव किया जाता रहा है कि तीर्थंकर महावीरका सर्वाङ्गपूर्ण परिचायक ग्रन्थ होना चाहिए, जिसके द्वारा सर्वसाधारणको उनके जीवनवृत्त, उपदेश और परम्पराका विशद परिज्ञान हो सके। यद्यपि भगवान् महावीरपर प्राकृत, संस्कृत, अपभ्रश और हिन्दीमे लिखा पर्याप्त साहित्य उपलब्ध है, पर उससे सर्वसाधारणकी जिज्ञासा शान्त नही होती।

सौभाग्यकी बात है कि राष्ट्रने तीर्थङ्कर वर्द्धमान-महावीरकी निर्वाण-रजतशती राष्ट्रीय स्तरपर मनानेका निश्चय किया है, जो आगामी कार्तिक कृष्णा अमावस्या वीर-निर्वाण सवत् २५०१, दिनाङ्क १३ नवम्बर १९७४ से कार्तिक

१ धर्मतीर्थकरेभ्योऽस्तु स्याद्वादिभ्यो नमोनम ।
ऋषभादि-महावीरान्तेभ्य स्वात्मोपलब्धये ॥

भट्टाकलङ्कदेव, लघीयस्त्रय, मङ्गलपद्य १।

२ मुण्डकोपनिषद् १।१।४।५।

३. स्वामी समन्तभद्र, युक्त्यनुशासन का० ६।

कृष्णा अमावस्या, वीर-निर्वाण सवत् २५०२, दिनाङ्क १३ नवम्बर १९७५ तक पूरे एक वर्ष मनायी जावेगी। यह मङ्गल-प्रसङ्ग भी उक्त ग्रन्थ-निर्माणके लिए उत्प्रेरक रहा।

अत अखिल भारतवर्षीय दिगम्बर जैन विद्वत्परिषद्ने पाँच वर्ष पूर्व इस महान् दुर्लभ अवसरपर तीर्थंकर महावीर और उनके दर्शनसे सम्बन्धित विशाल एव तथ्यपूर्ण ग्रन्थके निर्माण और प्रकाशनका निश्चय तथा सकल्प किया। परिषद्ने इसके हेतु अनेक बैठकें की और उनमे ग्रन्थकी रूपरेखापर गम्भीरतासे ऊहापोह किया। फलत ग्रन्थका नाम **'तीर्थङ्कर महावीर और उनकी आचार्य-परम्परा'** निर्णीत हुआ और लेखनका दायित्व विद्वत्परिषद्के तत्कालीन अध्यक्ष, अनेक ग्रन्थोके लेखक, मूर्धन्य-मनीषी, आचार्य नेमिचन्द्र शास्त्री आरा (बिहार) ने सहर्ष स्वीकार किया। आचार्य शास्त्रीने पाँच वर्ष लगातार कठोर परिश्रम, अद्भुत लगन और असाधारण अध्यवसायसे उसे चार खण्डो तथा लगभग २००० (दो हजार) पृष्ठोमे सृजित करके ३० सितम्बर १९७३ को विद्वत्परिषद्को प्रकाशनार्थ दे दिया।

विचार हुआ कि समग्र ग्रन्थका एक बार वाचन कर लिया जाय। आचार्य शास्त्री स्याद्वाद महाविद्यालयकी प्रबन्धकारिणीकी बैठकमे सम्मिलत होनेके लिए ३० सितम्बर १९७३ को वाराणसी पधारे थे। और अपने साथ उक्त ग्रन्थके चारो खण्ड लेते आये थे। अत १ अक्तूबर १९७३ से १५ अक्तूबर १९७३ तक १५ दिन वाराणसीमे ही प्रतिदिन प्राय तीन समय तीन-तीन घण्टे ग्रन्थका वाचन हुआ। वाचनमे आचार्य शास्त्रीके अतिरिक्त सिद्धान्ताचार्य श्रद्धेय पण्डित कैलाशचन्द्रजी शास्त्री पूर्व प्रधानाचार्य स्याद्वाद महाविद्यालय वाराणसी, डॉक्टर ज्योतिप्रसादजी लखनऊ और हम सम्मिलित रहते थे। आचार्य शास्त्री स्वयं वाचते थे और हमलोग सुनते थे। यथावसर आवश्यकता पडने पर सुझाव भी दे दिये जाते थे। यह वाचन १५ अक्तूबर १९७३ को समाप्त हुआ और १६ अक्तूबर १९७३ को ग्रन्थका पहला भाग **'तीर्थङ्कर महावीर और उनकी देशना'** प्रकाशनार्थ महावीर प्रेसको दे दिया गया, जो लगभग ९ माहमे छपकर तैयार हो सका।

ग्रन्थ-परिचय

इस विशाल एव असामान्य ग्रन्थका यहाँ सक्षेपमे परिचय दिया जाता है, जिससे ग्रन्थ कितना महत्त्वपूर्ण है और लेखकने उसके साथ कितना अमेय परिश्रम किया है, यह सहजमे ज्ञात हो सकेगा।

इस ग्रन्थके चार खण्ड हैं १ तीर्थङ्कर महावीर और उनकी देशना,

२. श्रुतधर और सारस्वताचार्य, ३ प्रबुद्धाचार्य एवं परम्परापोषकाचार्य और ४. आचार्यतुल्य काव्यकार एवं लेखक।

१. तीर्थङ्कर महावीर और उनकी देशना

यह प्रथम खण्ड ११ परिच्छेदो और लगभग ६४० पृष्ठोमे समाप्त है। इसकी विवेच्य विषय-सामग्री बहुवक्तव्य एव प्रचुर है। इसीसे इसमे कई परिच्छेद रखे गये हैं। इन परिच्छेदोका वर्ण्य विषय नीचे प्रस्तुत है

प्रथम परिच्छेद : तीर्थङ्कर-परम्परा और महावीर

इस परिच्छेदमे मानव-जीवनका क्या महत्त्व है और उसके लिए धर्म-दर्शनकी क्यो आवश्यकता है, इसका प्रतिपादन करते हुए उनके उपदेशक तीर्थङ्करोकी परम्परा और इस परम्परामे हुए आद्य तीर्थंकर ऋषभदेव, २१वे तीर्थंकर नमि, २२वे तीर्थंकर नेमि और २४वें तीर्थंकर पार्श्वनाथका पुरातत्त्वके आलोकमे दिग्दर्शन, पार्श्वनाथकी ऐतिहासिकता तथा तीर्थंकर परम्पराकी अन्तिम शृंखला २४वें तीर्थंकर महावीरपर विभिन्न उपशीर्षको द्वारा विशद प्रकाश डाला गया है।

द्वितीय परिच्छेद : जन्म-जन्मकी साधना

इसमे महावीरका अगणित पूर्व पर्यायोमे पतन और पतनके बाद पिछली अनेक पर्यायोंमे उत्थान प्रतिपादित है। पुरुरवा भीलकी पर्यायमे वे कुछ सम्हलते हैं, किन्तु फिर उन्हे अनेक जन्मोमे गोते लगाने पडते हैं, सुयोगसे सिंहकी पर्यायमे, जो दशवी पूर्व पर्याय थी, उनका उत्थानकी ओर झुकाव होता है। कनकोज्वल, हरिषेण, प्रियमित्र चक्रवर्तीको पर्यायोमे उत्कर्ष करते हुए जब वे नन्दभवमे आते हैं, तो तीर्थंकर प्रकृतिका बन्ध कर जीवनकी चरम उपलब्धि तीर्थंकर-पदप्राप्तिके बीज बोते हैं, इस सबका रोचक एव प्रामाणिक वर्णन किया गया है।

तृतीय परिच्छेद : समसामयिक परिस्थितियाँ : महान् विचारक एवं सम्प्रदाय

इस परिच्छेदमे महावीरके जन्मसे पूर्व देश और समाजकी कैसी स्थिति थी, राजनीतिक वातावरण कैसा था, आर्थिक दशा कैसी थी, विभिन्न विचारको एवं सम्प्रदायोकी गतिविधियाँ कैसी हो रही थी, आदिका विशद निरूपण है।

चतुर्थ परिच्छेद तीर्थंकर महावीरकी जन्मभूमि, जन्म एवं किशोरावस्था

इसमे गणतत्र वैशाली, उसके उपनगर और महावीरकी जन्मभूमि कुण्डग्राम, वैशाली गणतत्रके नायक चेटक, कुण्डग्रामके अधिपति और महावीरके पिता सिद्धार्थ, माता त्रिशला, चेटक और सिद्धार्थके सम्बन्ध, त्रिशलाका स्वप्नदर्शन,

स्वप्नोका फल तीर्थंकर पुत्रका जन्म, देवियो द्वारा माताकी अनवरत सेवा महावीरका जन्म, सुमेरुपर इन्द्रादि द्वारा जन्माभिषेकोत्सव, शैशवकाल, वर्धमान, वीर, अतिवीर, सन्मति और महावीर नामोसे सम्बद्ध घटनाओका उल्लेख, किशोरावस्थामे सजय देव द्वारा महावीरकी परीक्षा और उसकी पराजय, आत्मोन्मुखी असामान्य चिन्तनधारा, अलौकिक शारीरिक शक्तियो और उच्च एवं दृढ मनोवलकी उपलब्धि आदिका हृदयग्राही प्रतिपादन है।

पञ्चम परिच्छेद : युवावस्था संघर्ष एवं संकल्प

इस परिच्छेदमे महावीरके असाधारण शरीर-सौन्दर्य, वल एवं यौवन प्रवेश, माता, पिता और परिवारका दुलार, जनताका अपार स्नेह, उनकी विचारधारा, परिणयका प्रस्ताव और उससे इन्कार, विरक्तिकी ओर झुकाव, आत्मस्वातन्त्र्यकी उपलब्धि और जनकल्याणके लिए निर्ग्रन्थ श्रमण-दीक्षा ग्रहण आदिका मार्मिक विवेचन है।

षष्ठ परिच्छेद : तपश्चरण, साधना एवं कैवल्योपलब्धि

इसमे महावीरने गिरिकन्दराओ, बीहड वनो और खुले मैदानो आदिमे जो दुर्धर तपश्चर्या की, मौनपूर्वक साधना की, अनेक उपसर्ग सहे, विघ्न-वाधाओ पर विजय प्राप्त की, विचित्र अभिग्रह लिए, कैदमे बद्ध चन्दना द्वारा आहार ग्रहण और उसका उद्धार करना आदिका कथन करते हुए महावीरकी वीतरागतासमुपलब्धि, कैवल्यप्राप्ति और केवलज्ञानप्राप्तिस्थानका सप्रमाण निर्धारण किया गया है।

सप्तम परिच्छेद गणधर, समवशरण, अन्य राजन्यवर्ग एवं निर्वाण

इस सातवे परिच्छेदमे तीर्थंकर महावीरको केवलज्ञान प्राप्त हो जानेपर भी ६६ दिन तक उनका उपदेश न होनेसे उत्पन्न लोकचिन्ता, इन्द्रकी चतुराईसे महाविद्वान् गौतम इन्द्रभूतिका महावीरकी समवशरणसभामे पहुँचना, महावीरके दर्शनमात्रसे उसके अहङ्कारका दूर होना और महावीरका शिष्यत्व स्वीकार करना, श्रमण-दीक्षा लेते ही चार सम्यग्ज्ञानोकी प्राप्ति करना तथा प्रथम गणधरका पद प्राप्त करना, अग्निभूति, वायुभूति आदि उनके प्रकाण्ड विद्वान् १० भाईयोका भी महावीरसे शास्त्रार्थके उद्देश्यसे उनके समवशरणमे पहुँचना और महावीरसे प्रभावित होकर उनके शिष्य होना तथा निर्ग्रन्थ-दीक्षा ग्रहण करना, श्रावण कृष्णा एकमको ६६ दिन बाद महावीरकी गौतम इन्द्रभूतिके सन्निधानसे प्रथम देशना होना, देशना-स्थल विपुलगिरिपर प्रथम समवशरणसभाका लगना, उपदेश श्रवणके लिए लालायित असख्य नर-नारियो,

पशु-पक्षियो और देवसमूहका एकत्रित होना, मुनि-आर्यिका-श्रावक-श्राविका रूप चतुर्विध सघका सघटन करना, प्रधान श्रोताके रूपमे बिम्बसार श्रेणिकका समवशरणमे उपस्थित होना, श्रेणिकका वश-परिचय व उसकी ऐतिहासिकता, अभयकुमार, मेघकुमार, वारिषेण, चन्दना, चेलना आदि राजन्यवर्गका महावीर तीर्थंकरकी देशनाको सुननेके लिए आना और व्रतादि ग्रहण करना, दिव्यध्वनिका भाषावैज्ञानिक विश्लेषण आदिका सहेतुक प्रतिपादन है।

इसी परिच्छेदमे तीस वर्षों तक हुए तीर्थंकर महावीरके विहारका विस्तार-पूर्वक निरूपण है। महावीरका समवशरण देशके कोने-कोनेमे गया और जन-साधारणको अहिंसामृतका पान कराया। पुराण एव अन्य ग्रन्थोके आधारसे महावीरकी ८६ स्थानोपर देशना हुई। उनकी इस देशनाका आश्चर्यजनक प्रभाव पडा। क्रियाकाण्ड कम हुआ और तप, त्याग तथा आत्म-साधनाका प्रवाह प्रवाहित हुआ। फलतः प्रसेनजित, रानी मृगावती, वृपभसेन, अदीन-शत्रु, सुबाहु, जीवन्धर, चण्डप्रद्योत आदि क्षत्रियराजाओ, इन्द्रभूति, अग्नि-भूति, वायुभूति आदि ब्राह्मण-विद्वानो, चन्दना, चेलना आदि स्त्रियो, अजन, विद्युच्चर आदि चौर्यकर्म करनेवाले पतितजनोने तीर्थंकर महावीरके उप-देशोको ग्रहण कर आत्मकल्याण किया। इन सबका इस परिच्छेदमे अङ्कन है। कुसन्ध, अश्वष्ट, गान्धार आदि स्थानोका भी निर्देश है, जहाँ महावीरने विहार किया था। परिच्छेदके अन्तमे महावीरके निर्वाण और निर्वाण-स्थानपर विशेष विचार किया तथा मध्यमा पावा वर्तमान पावापुरको ही महावीरका निर्वाण-स्थान सिद्ध किया है।

अष्टम परिच्छेद · देशना ज्ञेयतत्त्वमीमांसा

इस परिच्छेदमे महावीर द्वारा सर्वप्रथम प्रतिपादित ज्ञेयतत्त्वकी विचारणा है। ज्ञेयका अनेकान्तस्वरूप, उसकी उत्पादादित्रयात्मकता, द्रव्य, गुण, पर्याय, जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश, काल इन छह द्रव्यों, जीव, अजीव, आस्रव, बन्ध, सवर, निर्जरा, मोक्ष इन सात तत्त्वो और पुण्य, पाप सहित नव पदार्थोका विशद निरूपण इसमे है।

नवम परिच्छेद ज्ञानतत्त्वमीमांसा

इसमे ज्ञेयके अधिगमोपायके रूपमे उपदिष्ट ज्ञानका स्वरूप, उसके मति आदि पाँच भेदो, उनके भी उपभेदो, प्रमाण, नय और निक्षेपका विस्तृत विवेचन है। स्याद्वाद और सप्तभङ्गीका भी सुन्दर प्रतिपादन है।

दशम परिच्छेद : धर्म और आचार-मीमांसा

इस परिच्छेदमे जीवनके उत्कर्षके लिए धर्मकी अनिवार्यता, धर्मका स्वरूप,

प्रामाणिक व्यवहार और विचार, रत्नत्रय, सम्यक्दर्शनका महत्त्व, उसकी उत्पत्तिके कारण, उसके भेद, आठ अङ्ग, तीन मूढताएँ, आठ मद आदिका विशद विवेचन है। आचारके निरूपण-सन्दर्भमे श्रावकाचार तथा मुन्याचार दोनोका विस्तृत प्रतिपादन है।

एकादश परिच्छेद : समाज-व्यवस्था

इस एकादशवे परिच्छेदमे तीर्थंकर महावीर द्वारा गुण-कर्मके आधार पर प्रतिपादित समाज-व्यवस्थाका दिग्दर्शन है। समाज-व्यवस्थाके प्रमुख घटक परिवार, परिवारकी सीमाएँ, दायित्व और अधिकार आध्यात्मिक साम्य, भावना, नैतिक विधि-विधानोका निर्देश करते हुए अहिंसा, सत्य, अचौर्य ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह पर आधृत महावीरकी समाज-व्यवस्था सर्वदा और सर्वत्र सुख-शान्तिजनक, उपयोगी और महत्त्वपूर्ण है, इसका कथन किया गया है।

इस प्रकार प्रथम खण्डमे तीर्थंकर महावीर और उनकी देशनाका पूरा परिचय उपलब्ध है। ग्रन्थ-योजनाके समय यह खण्ड ५०० पृष्ठोका कल्पित हुआ था, किन्तु लगभग ६४० पृष्ठोमे वह समाप्त हुआ है।

२. श्रुतधराचार्य और सारस्वताचार्य

तीर्थंकर महावीरके सिद्धान्तो और वाङ्मयका अवधारण एव संरक्षण उनके उत्तरवर्ती श्रमणो और उपासकोने किया है। इस महान् कार्यमे विगत २५०० वर्षों मे लाखो श्रमणो तथा उपासकोका योगदान रहा है। उन्हीके त्याग और साधनाके फलस्वरूप भगवान् महावीरके सिद्धान्त और वाङ्मय न्यूनाधिक रूपमे हमे प्राप्त है। तीर्थक्षेत्र, मन्दिर, मूर्तियाँ, ग्रन्थागार, स्मारक आदि सास्कृतिक विभव उन्हीके अटूट प्रयत्नोसे आज सरक्षित है। इन सबका उल्लेख करनेके लिए विपुल सामग्रीकी आवश्यकता है, जो या तो विलुप्त हो गयी या नष्ट हो गयी या विस्मृतिके गर्तमे चली गयी है। जो अवशिष्ट वाङ्मय, शिलालेख और इतिहास हमे सौभाग्यसे उपलब्ध है उन्हीपरसे तीर्थंकर महावीरकी उत्तराधिकारिणी परम्पराकी अवगति सम्भव है।

डॉक्टर शास्त्रीने इस उपलब्ध सामग्रीका आलोडन-विलोडन करके जिन आचार्यों और उनके वाङ्मयका परिचय प्राप्त किया है उन्हे तीन खण्डोमे विभक्त किया है। इन्ही खण्डोका यहाँ परिचय प्रस्तुत है।

दूसरा खण्ड 'श्रुतधराचार्य और सारस्वताचार्य' है। इस खण्डमे दो परिच्छेद हैं १ श्रुतधराचार्य और २. सारस्वताचार्य।

प्रथम परिच्छेद : श्रुतधराचार्य

इस परिच्छेदमे श्रुतधराचार्योंका परिचय निबद्ध है। श्रुतधराचार्यसे लेखकका अभिप्राय उन आचार्योंसे है, जिन्होने सिद्धान्त-साहित्य, कर्म-साहित्य, अध्यात्म-साहित्यका ग्रथन किया है और जो युग-सस्थापक एव युगान्तरकारी हैं। इन आचार्योमे गुणधर, धरसेन, पुष्पदन्त, भूतबलि, यतिवृषभ, उच्चारणाचार्य, आर्यमक्षु, नागहस्ति, कुन्दकुन्द, वप्पदेव और गृद्धपिच्छाचार्य अभिप्रेत हैं। आरम्भमे आचार्यका स्वरूप, आचार्यका महावीरके वाङ्मयके साथ सम्बन्ध, श्रुतका वर्ण्य विषय, उसके भेद-प्रभेद एव उनका सामान्य परिचय अङ्कित है। श्रुतके धारक आचार्योकी परम्परामे आद्य आचार्य गुणधर और धरसेनके व्यक्तित्व, समय-निर्धारण एवं वैदुष्यपर प्रकाश डालते हुए गुणधराचार्य द्वारा रचित 'कसायपाहुड'का तथा धरसेनाचार्यके साक्षाच्छिष्य पुष्पदन्त एव भूतबलि और उनके 'षट्खण्डागम'का विस्तृत परिचय दिया गया है। आर्यमक्षु, नागहस्ति, वज्र, वज्रयश, चिरन्तनाचार्य, यतिवृषभ, उच्चारणाचार्य और कुन्दकुन्दाचार्यके व्यक्तित्व, कृतित्व और समय-निर्णय आदि पर विशेष विचार करते हुए कुन्दकुन्दके उपलब्ध ग्रन्थोका विशद परिचय दिया गया है। परिच्छेदके अन्तमे शिवार्य, स्वामिकुमार और आचार्य गृद्धपिच्छ तथा इनकी रचनाओका परिशीलन निबद्ध है।

द्वितीय परिच्छेद सारस्वताचार्य

इसमे श्रुतधराचार्य और सारस्वताचार्यकी भेदक रेखाओका अङ्कन करते हुए स्वामी समन्तभद्र, सिद्धसेन, देवनन्दि-पूज्यपाद, पात्रकेसरी (पात्रस्वामी), जोइन्दु, विमलसूरि, ऋषिपुत्र, मानतुङ्ग, रविषेण, जटासिंहनन्दि, एलाचार्य, अकलङ्कदेव, वीरसेन, जिनसेन द्वितीय, अमितगति प्रथम, अमितगति द्वितीय, अमृतचन्द्रसूरि, नेमिचन्द्र सिद्धान्तचक्रवर्ती, नरेन्द्रसेन, नेमिचन्द्र मुनि, श्रीदत्त, कुमारसेन, यशोभद्र, वज्रसूरि, शान्तिषेण, श्रीपाल, काणभिक्षु और कनकनन्दिका जीवनवृत्त, गुरुपरम्परा, समय-निर्णय और रचनाओका विशद परिचय अङ्कित है। इसी परिच्छेदमे सिंहनन्दि, सुमति, कुमारनन्दि, विद्यानन्द आदि आचार्योंका भी परिचय ग्रथित है। इन्हे लेखकने सारस्वताचार्योमे परिगणित किया है। सारस्वताचार्यसे लेखकका तात्पर्य उन आचार्योसे है, जिन्होने प्राप्त हुई श्रुतपरम्पराका मौलिक ग्रन्थ-प्रणयन और टीका-साहित्य द्वारा प्रचार एव प्रसार किया है।

इस प्रकार इस खण्डमे श्रुतधराचार्य और सारस्वताचार्य वर्णित हैं। उनके द्वारा रचित वाङ्मय भी विवेचित है।

३ प्रबुद्धाचार्य और परम्परापोषकाचार्य

इस खण्डमे भी दो परिच्छेद हैं। इनका वर्ण्य विषय निम्न प्रकार है।

प्रथम परिच्छेद : प्रबुद्धाचार्य

इस परिच्छेदमे डॉक्टर शास्त्रीने प्रबुद्धाचार्यो और उनकी कृतियोको सकलित किया तथा उनका विस्तृत परिचय दिया है। प्रबुद्धाचार्यसे अभिप्राय उन आचार्यो से लिया है, जिन्होने अपनी प्रतिभा द्वारा ग्रन्थप्रणयनके साथ विवृतियाँ और भाष्य भी रचे हैं। इस श्रेणीमे जिनसेन प्रथम, गुणभद्र, पाल्यकीर्ति, वादीभसिंह, महावीराचार्य, वृहत् अनन्तवीर्य, माणिक्यनन्दि, प्रभाचन्द्र, लघु-अनन्तवीर्य, वीरनन्दि, महासेन, हरिषेण, सोमदेव, वादिराज, पद्मनन्दि प्रथम, पद्मनन्दि द्वितीय, जयसेन, पद्मप्रभमलधारिदेव, शुभचन्द्र, अनन्तकीर्ति, मल्लिषेण, इन्द्रनन्दि प्रथम, इन्द्रनन्दि द्वितीय आदि पचास आचार्य परिगणित हैं। इन सबका परिचय इस परिच्छेदमे निबद्ध है। इनकी कृतियोका भी विस्तारसे वर्ण्य-विषय प्रतिपादित है।

द्वितीय परिच्छेद : परम्परापोषकाचार्य

लेखकने परम्परापोषकाचार्य उन्हे बताया है, जिन्होने दिगम्बर परम्पराकी रक्षाके लिए प्राचीन आचार्यो द्वारा निर्मित ग्रन्थोके आधारपर अपने नये ग्रन्थ लिखे और परम्पराको गतिशील बनाये रखा है। इस श्रेणीमे भट्टारक परिगणित हैं। पार्श्वदेव, भास्करनन्दि, ब्रह्मदेव, रविचन्द्र, पद्मनन्दि, सकलकीर्ति, भुवनकीर्ति, ब्रह्मजिनदास, सोमकीर्ति, ज्ञानभूषण, अभिनव धर्मभूषण, विजयकीर्ति, शुभचन्द्र, विद्यानन्दि, मल्लिभूषण, वीरचन्द्र, सुमतिकीर्ति, यश कीर्ति, धर्मकीर्ति आदि पचास परम्परापोषकाचार्यो का परिचय, समय-निर्णय और उनकी रचनाओका इस परिच्छेदमे विस्तृत निरूपण है।

४ आचार्यतुल्य काव्यकार एवं लेखक

इस चतुर्थ भागमे उन जैन काव्यकारो एव ग्रन्थ-लेखकोका परिचय निबद्ध है, जो स्वय आचार्य न होते हुए भी आचार्य जैसे प्रभावशाली ग्रन्थकार हुए। इसमे चार परिच्छेद है, जिनका प्रतिपाद्य-विषय अधोलिखित है

प्रथम परिच्छेद : संस्कृत-कवि और ग्रन्थलेखक

इसमे परमेष्ठि, धनञ्जय, असग, हरिचन्द, चामुण्डराय, अजितसेन, विजयवर्णी आदि तीस सस्कृत-कवियो एव ग्रन्थलेखकोका व्यक्तित्व एव कृतित्व वर्णित है।

द्वितीय परिच्छेद : अपभ्रंश-कवि एवं लेखक

इस परिच्छेदमे चतुर्मुख स्वयभूदेव, त्रिभुवन स्वयभू, पुष्पदन्त, धनपाल, धवल, हरिषेण, वीर, श्रीचन्द्र, नयनन्दि, श्रीधर प्रथम, श्रीधर द्वितीय, श्रीधर तृतीय, देवसेन, अमरकीर्ति, कनकामर, सिंह, लाखू, यश.कीर्ति, देवचन्द्र, उदयचन्द्र, रइधू, तारणस्वामी आदि पैंतालीस अपभ्रश-कवियो-लेखको और उनकी रचनाओका सक्षिप्त परिचय निवद्ध है।

तृतीय परिच्छेद : हिन्दी तथा देशज भाषा-कवि एवं लेखक

इसमे वनारसीदास, रूपचन्द्र पाण्डेय, जगजीवन, कुवरपाल, भूधरदास द्यानतराय, किशनसिंह, दौलतराम प्रथम, दौलतराम द्वितीय, टोडरमल्ल, भागचन्द, महाचन्द आदि पच्चीस हिन्दी-कवियो और लेखकोका उनकी कृतियो सहित परिचय अङ्कित है। अन्य देशज भाषाओमे कन्नड, तमिल और मराठीके प्रमुख काव्यकारो एव लेखकोका भी परिचय दिया गया है।

चतुर्थ परिच्छेद : पट्टावलियां

इस परिच्छेदमे प्राकृत-पट्टावलि, सेनगण-पट्टावलि, नन्दिसघवलात्कारगण-पट्टावलि, आदि नौ पट्टावलियाँ सकलित हैं। इन पट्टावलियोमे कितना ही इतिहास भरा हुआ है, जो राष्ट्रीय, सास्कृतिक और साहित्यिक दृष्टियोसे वड़ा महत्त्वपूर्ण एव उपयोगी है।

इस प्रकार प्रस्तुत महान् ग्रन्थसे जहाँ तीर्थंकर वर्धमान-महावीर और उनके सिद्धान्तोका परिचय प्राप्त होगा, वहाँ उनके महान् उत्तराधिकारी इन्द्रभूति आदि गणधरो, श्रुतकेवलियो और वहुसख्यक आचार्यो के यशस्वी योगदान विपुल वाङ्मय-निर्माणका भी परिज्ञान होगा। यह भी अवगत होगा कि इन आचार्यो ने समय-समय पर उत्पन्न प्रतिकूल परिस्थितियोमे भी तीर्थंकर महावीरकी अमृतवाणीको अपनी साधना, तपश्चर्या, त्याग और अभीक्ष्ण ज्ञानोपयोग द्वारा अव तक सुरक्षित रखा तथा उसके भण्डारको समृद्ध वनाया है।

स्व० आचार्य नेमिचन्द्र शास्त्री

इस विशाल ग्रन्थके लेखक आचार्य नेमिचन्द्र शास्त्री ज्योतिषाचार्य, एम० ए (संस्कृत, प्राकृत, हिन्दी), पी-एच डी, डी लिट्, अध्यक्ष प्राकृत-संस्कृत विभाग हरप्रसाद दास जैन कालेज आरा (मगध विश्व विद्यालय) बिहार हैं। हमें अपार दुःख है कि यह यशस्वी ज्योतिर्मान् विद्वन्नक्षत्र विगत १० जनवरी १९७४ को असमयमें अस्त हो गया, जो अपनी इस अन्तिम कृतिको प्रकाशित न देख सका।

यहाँ उनका संक्षेपमें परिचय प्रस्तुत किया जाता है। वे होते, तो उनके इस परिचयके निबद्ध करनेकी आवश्यकता न होती।

जीवन-परिचय

लेखकका जन्म पौष कृष्णा १२, विक्रम संवत् १९७२ में राजस्थान प्रदेशके बाबरपुरमें हुआ। पिताका नाम श्री बलवीर सिंह और माताका नाम श्रीमती जावित्री बाई था। डेढ वर्षको अवस्थामें ही आपके पिताका स्वर्गवास हो गया था। विधवा माता जावित्री बाई और नाना श्री झण्डूलालजीके संरक्षणमें आप पले-पुषे एवं मिडिल तक शिक्षा प्राप्त की। आचार्य शास्त्री बचपनसे ही मेधावी और तीक्ष्णबुद्धि थे। आरम्भमें राजाखेडा (आगरा) के कुन्दकुन्द दि० जैन विद्यालयमें तीन वर्ष और उसके बाद स्याद्वाद महाविद्यालय वाराणसीमें सात वर्ष प्राच्य विद्याओं- प्राकृत, संस्कृत, धर्मशास्त्र, साहित्य, न्याय और ज्योतिषशास्त्रका उच्च अध्ययन किया।

आचार्य शास्त्रीने जो शैक्षणिक उपलब्धियाँ प्राप्त की, वे इस प्रकार हैं

प्राच्य-विद्यासे सम्बन्धित

१	न्यायतीर्थ (दि० जैन)	बंगाल संस्कृत एसोशिएसन	१९३७
२	ज्योतिषतीर्थ	,, ,, ,,	१९३८
३	काव्यतीर्थ	,, ,, ,,	१९३९
४	शास्त्री (ज्योतिष)	वाराणसेय संस्कृत विश्व विद्यालय	१९४१
५	ज्योतिषाचार्य	,, ,, ,,	१९४६

अन्य

१	मैट्रिक-परीक्षा	उत्तर प्रदेश बोर्ड, प्रयाग	१९४०
२.	इण्टर-मीडियट	,, ,,	१९५४
३	साहित्यरत्न	हिन्दी विश्व विद्यालय, प्रयाग	१९४३

डॉ० नेमिचन्द्र शास्त्री

उदय	पौषकृष्णा १२	अवसान	माघ कृष्ण २
	विक्रम सवत् १९७२		वि० स० २०३०
	ई० सन् १९१५		१० जनवरी, १९७४

४ एम ए. (संस्कृत) आगरा विश्व विद्यालय १९५७
५ एम ए. (हिन्दी) विहार विश्व विद्यालय १९५८
६ एम ए (प्राकृत) [स्वर्णपदक] ,, ,, ,, १९५९
७. पी-एच. डी [हरिभद्रके कथा-साहित्यका आलोचनात्मक परिशीलन] भागलपुर विश्व विद्यालय १९६२
८ डी लिट् [सस्कृत-काव्यके विकासमे जैन कवियोका योगदान] मगध विश्व विद्यालय १९६७

इन रेखाओसे विदित है कि आचार्य शास्त्री १९३७ से १९६७ तक लगातार ३० वर्ष सतत ज्ञानार्जनमे निरत रहे और तीव्रगतिसे समग्र शैक्षणिक उपलब्धियाँ अर्जित करनेमे सफल हुए। प्रत्येक परीक्षामे प्रथम अथवा द्वितीय श्रेणीमे उत्तीर्ण होते गये।

साहित्य-सृजन और पुरस्कार-प्राप्ति

आचार्य नेमिचन्द्रजीको अनेक कृतियो पर पुरस्कार एव बहुमान प्राप्त हुआ। पुरस्कृत कृतियाँ निम्न प्रकार हैं

ग्रन्थ	प्रकाशक	पुरस्कार
१ भारतीय ज्योतिष	भारतीय ज्ञान पीठ	उत्तर प्रदेश सरकार ११००)
२. आदि पुराणमे प्रतिपादित भारत	वर्णी-ग्रन्थमाला	,, , ५००)
३ सस्कृत-गीतिकाव्यानुचिन्तनम्		,, ,, ११००)
इसी पर वृषभदेव सगीत पुरकार, श्रमण सघ दिल्ली		२५००)
४. सस्कृत-काव्यके विकासमे जैन कवियो का योगदान	भारतीय ज्ञानपीठ	उत्तर प्रदेश सरकार ५००)

अन्य प्रकाशित रचनाएँ :

१. स्नातक-सस्कृत-व्याकरण (मौलिक) ज्ञानदा प्रकाशन, पटना
२ चन्द्र-संस्कृत-व्याकरण मोतीलाल बनारसोदास, वाराणसी
३ हेमशब्दानुशासन एक अध्ययन चौखम्बा सस्कृत भवन, वाराणसी (व्याकरणशास्त्रका तुलनात्मक अध्ययन)
४. अभिनव प्राकृत-व्याकरण तारा यत्रालय, वाराणसी
५ प्राकृत-भाषा और साहित्यका आलोचनात्मक इतिहास तारा यत्रालय, वाराणसी
६. हरिभद्रके प्राकृत-कथासाहित्यका आलोचनात्मक परिशीलन प्राकृत जैन शोध सस्थान, वैशाली
७. हिन्दी जैन साहित्य परिशीलन भारतीय ज्ञान पीठ दिल्ली
८ णमोकार मत्र एक अनुचिन्तन भारतीय ज्ञान पीठ, दिल्ली

९ भाग्यफल — साहित्य-कुटीर, आरा
१०. प्राकृत-प्रबोध — चौखम्बा संस्कृत भवन, वाराणसी
११ संस्कृत-प्रबोध — सुशीला प्रकाशन, धौलपुर
१२. पुराने घाट : नयी सीढ़ियाँ — अहिंसा मन्दिर, दिल्ली
१३ भास (Monograph) — मध्य प्रदेश हिन्दी ग्रन्थ अकादमी
१४. पण्डित गोपालदास वरैया संक्षिप्त झांकी — अ० भा० दि० जैन विद्वत्परिषद्
१५ आचार्य जुगलकिशोर : व्यक्तित्व और कृतित्व — अ० भा० दि० जैन वि० प०
१६ विश्वशान्ति और जैनधर्म — जैनेन्द्र भवन, आरा
१७ तीर्थंकर महावीर और उनकी आ० परम्परा — अ० भा० दि० जैन वि० प०

सम्पादन-अनुवाद

१. व्रततिथिनिर्णय — भारतीय ज्ञान पीठ, दिल्ली
२. केवलज्ञानप्रश्नचूडामणि — भारतीय ज्ञान पीठ, दिल्ली
३ भद्रबाहुसंहिता — भारतीय ज्ञान पीठ, दिल्ली
४ मुहूर्त्तदर्पण — साहित्य कुटीर, आरा
५. रिट्ठसमुच्चय — साहित्य कुटीर, आरा
६. रत्नाकरशतक — देशभूषण ग्रन्थमाला, काशी
७ धर्मामृत — देशभूषण ग्रन्थमाला, वाराणसी
८. लोकविजययन्त्र — वीर सेवामन्दिर ट्रस्ट, वाराणसी
९ अलंकारचिन्तामणि — भारतीय ज्ञान पीठ, दिल्ली
१०. रघुवंश (द्वितीय सर्ग) — ज्ञानदा प्रकाशन, पटना
११. कुमारसम्भवम् (पंचम सर्ग) — मोतीलाल बनारसीदास, वाराणसी
१२ पाइय पज्ज-संगहो पढमो भागो — तारा यन्त्रालय, वाराणसी
१३ पाइय गज्ज-संगहो पढमो भागो — तारा यन्त्रालय, वाराणसी
१४ पाइय पज्ज-संगहो बीयो भागो — B. P. T. C. प्रकाशन
१५. वरैया स्मृतिग्रन्थ — अखिल भा० दि० जैन विद्वत्परिषद्
१६ Proceedings of the Seminar of scholars in Prakrit and Pali held at Magadh University, Bodhgaya 1971

पत्र-सम्पादन

१ मागधम् (संस्कृत) — संस्कृत-प्राकृत विभाग ह० दा० जैन कालेज, आरा
२ जैन-सिद्धान्त भास्कर (हिन्दी) — देवकुमार जैन प्राच्य-विद्या शोध-संस्थान, आरा (बिहार)
३. Jain Antiquary (English)
४ भारतीय जैन साहित्य परिवेशन — भारतीय जैन साहित्य संसद्

ग्रन्थ-सम्पादन मुद्रणक्रममें

युगो-युगोमें जैनधर्म — भारत धर्म महामण्डल बम्बई

सपने : जो रह गये अधूरे

१. महाकवि कालिदासकी उपमान-योजना
२ वाक्यगठन . वृत्तिविचार
३ अर्थमीमासा सिद्धान्त और विनिमय
४ महाकवि बाणके शतशब्द
५ सस्कृत ऐतिहासिक नाटकोका विवेचनात्मक अनुशीलन
६ जैनदर्शन
७ सस्कृत कवियोका जीवन-दर्शन
८ समराइच्चकहा (सम्पादन)
९. चन्द्रोन्मीलन प्रश्न (सम्पादन)

आचार्य शास्त्रीने इन ग्रन्थोको आरम्भ किया था, पर वे इन्हे पूरा नही कर सके।

प्रवृत्तियाँ

आचार्य शास्त्री न केवल साहित्य-साधक मनीषी थे, अपितु समाज-सेवक एव लोक सेवक भी थे। आपकी सेवाएँ एव प्रवृत्तियाँ बहुमुखी थी। उनमे कुछ इस प्रकार हैं-

१. मानद निदेशक . देव कुमार जैन प्राच्य-विद्या शोध-सस्थान
२ उपाध्यक्ष . अखिल भारतीय दि० जैन विद्वत्परिषद्
३. सयुक्त मत्री श्री गणेशवर्णी दि० जैन सस्थान, वाराणसी
४ ट्रस्टी वीर सेवा मन्दिर-ट्रस्ट, वाराणसी
५ सदस्य-प्रबन्धकारिणी स्याद्वाद-महाविद्यालय, वाराणसी

इनके अतिरिक्त अहिंसा, प्राकृत और जैन विद्या शोधसस्थान वैशाली (बिहार), बिहार प्रान्तीय दि० जैन तीर्थक्षेत्र कमेटी आदि सस्थाओके भी आप मानद सदस्य थे। उज्जैन (म० प्र०) मे हुए अखिल भारतीय प्राच्य-विद्या सम्मेलनके २६वें अधिवेशनमे प्राकृत और जैन विद्या विभागके आप अध्यक्ष हुए थे। इस तरह आचार्य शास्त्रीका समग्र जीवन लोक-सेवा एव सास्कृतिक प्रवृत्तियोमे सदैव घुला-मिला रहा। एक दर्जनसे अधिक छात्रोको विभिन्न जैन अथवा अन्य विषयोमे पी-एच० डी० कराया और उसके लिए सदा उद्यत रहे। आप छात्रो और अध्यापकोके परमहितैषी एव कल्पतरु थे।

परिवार

आपके परिवारमे ७० वर्षीया वृद्धा माता जावित्री बाईजी, विधवा पत्नी

४८ वर्षीया श्रीमती सुशीलाबाई और एकमात्र १९ वर्षीय पुत्र चिरंजीव नलिन कुमार है। कभी हमने यह कल्पना नही की थी कि ऐसे यशस्वी, लोकप्रिय और सर्वहितैषी विद्वानका यह परिवार निराश्रित हो जायेगा। जो घर आचार्य शास्त्रीके मित्रो, बन्धुओ, छात्रो और प्रचुर मित्र-अध्यापकोसे भरा रहता था वह सहसा रिक्त हो जायेगा, यह कभी विचार नही आया था। यही जीवनकी सबसे बडी विडम्बना है। जीवनके साथ सयोग-वियोग उसी तरह लगे हुए हैं जिस तरह सुख और दुःख सम्पृक्त हैं। यही सोचकर धैर्य, साहस और विवेककी त्रिपुटी मानव-परिवारको जीवन-पथमे सबलका काम करती है।

हमारा विश्वास है कि आचार्य नेमिचन्द्र शास्त्री चिनश्वर शरीरसे आज भले ही न हो, किन्तु सरस्वती-साधनासे प्रसूत यश और कृतियोसे वे अमर हैं। उन्हें हमारी परोक्ष श्रद्धाञ्जलि है और परिवारके प्रति हार्दिक समवेदना।

आभार

इस विशाल ग्रन्थके सृजन और प्रकाशनका विद्वत्परिषद्ने जो निश्चय एव सकल्प किया था, उसकी पूर्णता पर आज हमे प्रसन्नता है। इस सकल्पमे विद्वत्परिषद्के प्रत्येक सदस्यका मानसिक या वाचिक या कायिक सहभाग है। कार्यकारिणीके सदस्योने अनेक बैठकोमे सम्मिलित होकर मूल्यवान् विचार-दान किया है। ग्रन्थ-वाचनमे श्रद्धेय पण्डित कैलाशचन्द्रजी शास्त्री और डॉ० ज्योतिप्रसादजीका तथा ग्रन्थको उत्तम बनानेमे स्थानीय विद्वान् प्रो० खुशालचन्द्रजी गोरावाला, पण्डित अमृतलालजी शास्त्री एव पण्डित उदयचन्द्रजी बौद्धदर्शनाचार्यका भी परामर्शादि योगदान मिला है।

पूज्य मुनिश्री विद्यानन्दजीने 'आद्य मिताक्षर' रूपमे आशीर्वचन प्रदान कर तथा वरिष्ठ विद्वान् श्रद्धेय पण्डित कैलाशचन्द्रजी शास्त्रीने 'प्राक्कथन' लिखकर अनुगृहीत किया है।

खतौली, भोपाल, बम्बई, दिल्ली, मेरठ, जबलपुर, तेंदूखेडा, सागर, वाराणसी, आरा आदि स्थानोके महानुभावोने ग्रन्थका अग्रिम ग्राहक बनकर सहायता पहुँचायी है। विद्वत्परिषद्के कर्मठ मत्री आचार्य पण्डित पन्नालालजी सागरके साथ मै भी इन सबका हृदयसे आभार मानता हूँ।

वीर-शासन-जयन्ती,
श्रावण कृष्णा १, वी० नि० स० २५००,
५ जुलाई, १९७४
वाराणसी

दरबारीलाल कोठिया
अध्यक्ष
अखिल भारतवर्षीय दि० जैन विद्वत्परिषद्

विषय-सूची

प्रथम परिच्छेद

तीर्थङ्करपरम्परा और महावीर

द्वितीय परिच्छेद

जन्म-जन्मकी साधना

तृतीय परिच्छेद

समसामयिक परिस्थितियाँ, महान विचारक एवं सम्प्रदाय

चतुर्थ परिच्छेद

तीर्थङ्कर महावीरकी जन्मभूमि, जन्म और किशोरावस्था

पञ्चम परिच्छेद

युवावस्था, संघर्ष एवं संकल्प

षष्ठ परिच्छेद

तपश्चरण, वर्षावास एवं कैवल्य-उपलब्धि

विषय	पृष्ठ

सप्तम परिच्छेद

गणधर, समवशरण, शिष्य एवं निर्वाण

विषय पृष्ठ

विषय	पृष्ठ

अष्टमपरिच्छेद

देशना ज्ञेयतत्त्व

विषय	पृष्ठ

विषय पृष्ठ

नवम परिच्छेद

देशना : ज्ञानतत्त्व-मीमांसा

विषय | पृष्ठ

विषय	पृष्ठ

विषय — पृष्ठ

दशम परिच्छेद
धर्म और आचार-मीमांसा

विषय		पृष्ठ
शंकादि दोष	.	५०७
सम्यग्ज्ञान		५०७
सम्यक्चारित्र या सम्यगाचार		५०७
परमपदप्राप्ति-हेतु आचारके भेद	.	५०९
श्रावकाचार	....	५०९
१ न्यायपूर्वक धनोपार्जन		५१०
२ गुण-पूजा		५१०
३ प्रशस्त वचन	..	५१०
४ निर्बाध त्रिवर्गका सेवन		५१०
५. त्रिवर्गयोग्य स्त्री, ग्राम, भवन	.	५११
६ उचित लज्जा	.	५११
७ योग्य आहार-विहार		५११
८ आर्य-समिति		५११
९ विवेक		५११
१० उपकारस्मृति या कृतज्ञता		५११
११ जितेन्द्रियता	.	५११
१२ धर्मविधि-श्रवण		५१२
१३ दयालुता	.	५१२
१४ पापभीति		५१२
श्रावणके द्वादश व्रत	..	५१२
व्रत : स्वरूप-विचार और आवश्यकता		५१३
मूल दोष	.	५१३
अणुव्रत		५१५
१ अहिंसाणुव्रत		५१५
२ सत्याणुव्रत	...	५१७
३ अचौर्याणुव्रत		५१८
४ स्वदारसन्तोष ब्रह्मचर्याणुव्रत		५१९
५ परिग्रहपरिमाण-अणुव्रत		५२०
गुणव्रत और शिक्षाव्रत		५२१
१ दिग्व्रत		५२१
२ देशावकाशिक व्रत		५२२
३ अनर्थदण्डव्रत		५२२

एकादश परिच्छेद

समाज-व्यवस्था

उपसंहार

महावीर व्यक्तित्व-विश्लेषण

•

तीर्थंकर महावीर
और
उनकी आचार्य परम्परा

प्रथम परिच्छेद

तीर्थंकर-परम्परा और महावीर

मानवजीवन एवं धर्म-दर्शन

धर्म और दर्शन मानवजीवनके लिये आवश्यक ही नही, अपितु अनिवार्य है। जब मानव चिन्तन-सागरमे निमग्न होता है, तब दर्शनका और जब उस चिन्तनका अपने जीवनमे उपयोग या प्रयोग करता है, तब धर्मकी उत्पत्ति होती है। मानवजीवनकी विभिन्न समस्याओके समाधान हेतु धर्म और दर्शनका जन्म हुआ है। धर्म और दर्शन परस्परमे सापेक्ष है, एक दूसरेके पूरक है। चिन्तकोने धर्ममे बुद्धि, भावना और क्रिया ये तीन तत्त्व माने है। बुद्धिसे ज्ञान, भावनासे श्रद्धा और क्रियासे आचार अपेक्षित है। जैन दृष्टिमे इसीको सम्यक् श्रद्धा, सम्यक् ज्ञान और सम्यक् चारित्र कहा जाता है। काण्टने धर्मकी व्याख्या करते हुए ज्ञान और क्रियाको महत्त्व दिया है। मार्टिन्यूने धर्मके अन्तर्गत विश्वास, विचार और आचार इन तीनोका समन्वय माना है। प्रकारान्तरसे इन्हे भक्ति, ज्ञान और कर्म कहा जा सकता है।

धर्म-दर्शनका विषय सम्पूर्ण विश्वसे सम्बद्ध है। विश्वके किसी भी प्रदेशका मानव इन दोनोके अभावमे अपनी समस्याओका समाधान प्राप्त नही कर सकता और न जीवनको गतिशील ही बना सकता है। भौतिकतासे ऊब कर विश्व-का प्रत्येक मनुष्य आध्यात्मिकताकी शरणमे पहुँचता है और धर्म-दर्शनके आश्रय-मे ही उसे शान्ति-लाभ होता है। दर्शन मानवकी अनुभूतियोकी तर्कपुरस्सर व्याख्या कर सम्पूर्ण विश्वके आधारभूत सिद्धान्तोका अन्वेषण करता है। धर्म आध्यात्मिक मूल्यो द्वारा सम्पूर्ण विश्वका विवेचन करता है। जीवनके विविध मूल्योका निर्धारण और उनकी उपलब्धिका साधन धर्म-दर्शन ही है। ये दोनो मानवीय ज्ञानकी योग्यतामे, यथार्थतामे तथा चरमोपलब्धिमे विश्वास करते हैं। दर्शनमे बौद्धिकताकी आवश्यकता है, तो धर्ममे आध्यात्मिकताकी। आत्मनिष्ठा, विवेक और आत्मनिष्ठ आचार व्यक्तिके व्यक्तित्वविकासके मानदड है।

ऐतिहासिक दृष्टिसे धर्म-दर्शनकी उत्पत्तिका पता लगाना असम्भव है। इसके लिये प्राग् ऐतिहासिक कालकी सामग्रीका विवेचन आवश्यक है। अनादि कालसे मानव, मानवताकी प्रतिष्ठाके लिये धर्म-दर्शनका प्रयोग करता आ रहा है। इस विश्वमे धर्म-दर्शनका स्वरूपनिर्धारण करनेके हेतु वीतराग नेता या तीर्थकर जन्म ग्रहण करते हैं। वर्तमान कल्पकालमे चौवीस तीर्थकर हुए हैं, जिनमे अन्तिम तीर्थकर महावीर हैं। तीर्थंकर महावीरसे पूर्व धर्म-दर्शनके व्याख्याता तेईस तीर्थकर और हो चुके हैं। जिन्होने मुक्ति-साधना एव प्रकृतिके विभिन्न रहस्योकी व्याख्याएँ की हैं और मानव-जीवनको सुन्दर, सरस, मधुर एव व्यव-स्थित बनानेका उपदेश दिया है। प्रत्येक कल्पकालमे चौबीस तीर्थकरोकी परम्परा आरम्भ होती है और यही परम्परा विच्छिन्न होते हुए समता और अहिंसामय धर्मकी व्याख्या करती है। व्यक्तिकी सत्ता, स्वाधीनता और सह-अस्तित्वकी भावनाका प्रवर्त्तन तीर्थकरो द्वारा ही होता है। सहिष्णुता, उदारता और धैर्यके सन्तुलनके साथ वैज्ञानिक सत्यान्वेषणकी परम्पराका प्रादुर्भाव भी तीर्थंकरो द्वारा ही सभव है।

तीर्थंकर परम्परावादी या रूढिवादी नही होते। उनकी चिन्तन-पद्धति सहिष्णु, क्रान्तिनिष्ठ और प्रगतिशील होती है। वे प्रत्येक युगमे धार्मिक अन्तर विरोधोको रचनात्मक मोड देते हैं, और अपनी स्वस्थ चिन्तन-प्रक्रिया द्वारा अहिंसा, समता, सहिष्णुता आदिकी उपासना करते हैं। स्याद्वाद या अनेकान्त उदार चिन्तन-पद्धतिके माध्यमसे सर्वधर्मसमभावको साकार करनेका यत्न तो करते ही हैं, साथ ही अन्धविश्वासो और रूढियोका उन्मूलन भी करते हैं। नरमे नारायणकी प्रतिष्ठा द्वारा प्रत्येक व्यक्तिको परमात्मा बननेकी प्रेरणा देते

हैं। तीर्थंकरोंके सन्देशसे प्रत्येक प्राणी अपने भाग्यका विधाता बन सतत पुरुषार्थ द्वारा परमात्मतत्त्वको प्राप्त कर सकता है। यह तत्त्व सहज है, दुष्प्राप्य है, पर अप्राप्य नहीं। भीरु रहनेवाला परमात्मतत्त्वको प्राप्त नहीं हो सकता। इस प्रकार तीर्थंकरोंने मानव-जीवनकी प्रत्येक क्रियाको अहिंसाके मापदण्ड द्वारा मापा है। जो क्रिया अहिंसामूलक है, रागद्वेष और प्रमादसे रहित है, वह सम्यक् है और जो हिंसामूलक है वह मिथ्या है। मिथ्या क्रिया कर्म-बन्धनका कारण है और सम्यक् क्रिया कर्मक्षयका। धार्मिक विधि-विधानोंमें ही अहिंसाकी आवश्यकता नहीं है, अपितु जीवनके दैनिक व्यवहारमें भी अहिंसाकी आवश्यकता है।

तीर्थंकर अपने आचार और विचारसे पार्थिव जीवनको अपार्थिव तो बनाते ही हैं, साथ ही आत्मसाधनाका एक विशुद्ध और सुपरीक्षित मार्ग भी निर्धारित कर देते हैं। ये सत्यके अन्वेषण, आत्मसाक्षात्कार एवं सुलझी हुई अन्तर्दृष्टि द्वारा मानवताकी प्रतिष्ठा करते हैं। इतना ही नहीं, अपितु ज्ञान, विज्ञान, सदाचार, आस्था और आत्मशोधनकी प्रक्रिया भी प्रस्तुत करते हैं। ये जीवनके सम्यक्त्वका उपदेश देते हैं और मनको निर्मल बनानेका उपाय बतलाते हैं। वास्तवमें तीर्थंकरोंकी यह परम्परा सुदूर प्राचीनकालसे चली आ रही है।

जैनधर्म और तीर्थंकर-परम्परा

जैनधर्ममें मान्य तीर्थंकरोंका अस्तित्व वैदिक कालके पूर्व भी विद्यमान था। इतिहास इस परम्पराके मूल तक नहीं पहुँच सका है। उपलब्ध पुरातत्त्व-सम्बन्धी तथ्योंके निष्पक्ष विश्लेषणसे यह निर्विवाद सिद्ध हो जाता है कि तीर्थंकरोंकी परम्परा अनादिकालीन है। वैदिक वाङ्मयमें वात-रशनामुनियों, केशीमुनि और व्रात्य क्षत्रियोंके उल्लेख आये हैं, जिनसे यह स्पष्ट है कि पुरुषार्थपर विश्वास करनेवाले धर्मके प्रगतिशील व्याख्याता तीर्थंकर प्राग् ऐतिहासिक कालमें भी विद्यमान थे। मोहन-जो-दड़ोके खण्डहरोंसे प्राप्त योगीश्वर ऋषभकी कायोत्सर्ग मुद्रा इसका जीवन्त प्रमाण है। यहाँसे उपलब्ध अन्य पुरातत्त्व-सम्बन्धी सामग्री भी तीर्थंकर-परम्पराकी पुष्टि करती है। वैदिक संस्कृतिमें ही वेदोंको सर्वोपरि महत्त्व देकर मानव-ज्ञानकी पूर्ण प्रतिष्ठा नहीं हुई है, अपितु श्रमण-संस्कृतिमें भी वीतराग, हितोपदेशी और सर्वज्ञ तीर्थंकरकी प्रतिष्ठा कर मानवताको महत्त्व प्रदान किया है। दीपक स्वयं प्रकाशित होता है और दर्पण स्वभावतः स्वरूपावलोकनका अवसर प्रदान करता है। इसी प्रकार तीर्थंकर भी समस्त आमुष्मिकताओंसे ऊपर उठकर मानवताका सन्देश देते हैं। इनमें राग-द्वेषका स्पर्श भी नहीं रहता और इनका ज्ञान इतना निर्मल हो जाता है कि उसमें

सम्पूर्ण चराचर जगत् प्रतिभासित होता है। मृदंगकी ध्वनिके समान तीर्थंकरकी दिव्यध्वनि भी नितान्त निस्पृह तथा परम लोकोपकारी होती है[1]।

तीर्थंकर : व्युत्पत्ति एवं अवधारणा

तीर्थंकरशब्द तीर्थ उपपद √कृञ् + अप्‌से बना है। इसका अर्थ है जो तीर्थ धर्मका प्रचार करे वह तीर्थंकर है। तीर्थशब्द भी √तॄ + थक्‌से निष्पन्न है। शब्दकल्पद्रुमके अनुसार '**तरति पापादिकं यस्मात् इति तीर्थम्**' अथवा '**तरति संसारमहार्णवं येन तत् तीर्थम्**' अर्थात् जिसके द्वारा संसारमहार्णव या पापादिकोसे पार हुआ जाय, वह तीर्थ है। इस शब्दका अभिधागत अर्थ घाट, सेतु या गुरु है और लाक्षणिक अर्थ धर्म है। तीर्थंकर वस्तुतः किसी नवीन सम्प्रदाय या धर्मका प्रवर्तन नहीं करते वे अनादिनिधन आत्मधर्मका स्वयं साक्षात्कार कर वीतरागभावसे उसकी पुनर्व्याख्या या प्रवचन करते हैं। तीर्थंकरको मानवसभ्यताका संस्थापक नेता माना गया है। ये ऐसे शलाकापुरुष हैं, जो सामाजिक चेतनाका विकास करते हैं और मोक्ष-मार्गका प्रवर्तन करते हैं।

तीर्थका अर्थ 'पुल' या 'सेतु' है। कितनी ही बडी नदी क्यों न हो, सेतु द्वारा निर्बल-से-निर्बल व्यक्ति भी उसे सुगमतासे पार कर सकता है। तीर्थंकरोंने संसाररूपी सरिताको पार करनेके लिये धर्मशासनरूपी सेतुका निर्माण किया है। इस धर्मशासनके अनुष्ठान द्वारा आध्यात्मिक साधनाकर जीवनको परम पवित्र और मुक्त बनाया जा सकता है।

तीर्थशब्द 'घाट'के अर्थमे भी व्यवहृत है। जो घाटके निर्माता हैं, वे तीर्थंकर कहलाते हैं। सरिताको पार करनेके लिये घाटकी सार्वजनीन उपयोगिता स्पष्ट है। संसाररूपी एक महानदी है। इसमे क्रोध, मान, मायादिके विकाररूप मगर-मत्स्य मुँह फाडे खडे हुए हैं। कहींपर मायाके विषैले सर्प फुत्कार करते हैं, तो कहींपर लोभके भँवर विद्यमान हैं। इन समस्त बाधाओंसे मुक्ति प्राप्त करनेके लिये तीर्थंकर धर्म-घाटका निर्माण करते हैं। इस धर्मका अनुष्ठान और साधनाकर प्रत्येक साधक संसाररूपी नदीसे पार हो सकता है।

आगम बतलाता है कि अतीतके अनन्तकालमे अनन्त तीर्थंकर हुए है। वर्तमानमे ऋषभादि चतुर्विंशति तीर्थंकर है और भविष्यत्‌मे भी चतुर्विंशति

१ अनात्मार्थं विना रागैः शास्ता शास्ति सतो हितम्।
ध्वनन् शिल्पिकरस्पर्शान् मुरजः किमपेक्षते॥

आ० समन्तभद्र रत्नकश्रा०, श्लोक० ८

तीर्थंकर होंगे। ये भूत, वर्तमान और भविष्यत्कालके सभी तीर्थंकर धर्मके मूल स्तम्भस्वरूप शाश्वत सत्योंका समानरूपसे प्ररूपण करते रहे हैं, कर रहे हैं और करते रहेंगे। धर्मके मूल तत्त्वोंके निरूपणमें एक तीर्थंकरसे दूसरे तीर्थंकरका किंचिन्मात्र भी भेद न कभी रहा है और न कभी रहेगा। पर प्रत्येक तीर्थंकर अपने-अपने समयमें देश, काल, जनमानसकी ऋजुता, तत्कालीन मानवकी शक्ति, बुद्धि, सहिष्णुता आदिको ध्यानमें रखते हुए उस कालके मानवके अनुरूप धर्म-दर्शनका प्रवचन करते हैं।

देशकालके प्रभावसे जब तीर्थमें नानाप्रकारकी विकृतियाँ उत्पन्न हो जाती हैं, अनेक भ्रान्तियाँ पनपने लगती हैं और तीर्थ, विलुप्त, विशृंखलित एवं शिथिल होने लगता है, उस समय दूसरे तीर्थंकरका समुद्भव होता है और वे विशुद्धरूपेण नवीन तीर्थकी स्थापना करते हैं। अत वे तीर्थंकर कहलाते हैं। धर्मके प्राणभूत सिद्धान्त ज्यों-के-त्यों रूपमें उपदिष्ट किये जाते हैं। केवल बाह्य क्रियाओं एवं आचार-व्यवहार आदिमें ही किंचित् अन्तर आता है।

जब पुराने घाट ढह जाते हैं, वे विकृत एवं अनुपयोगी हो जाते हैं। तब नवीन घाटोंका निर्माण किया जाता है। जब धार्मिक विधि-विधानमें विकृति आ जाती है, तब तीर्थंकर उन विकृतियोंको दूरकर अपनी दृष्टिसे पुनः धार्मिक विधि-विधानोंका प्रवचन करते हैं। ये आत्मोपकारके साथ लोकोपकारमें भी प्रवृत्त रहते हैं। स्वयको जीतकर अन्य लोगोंको स्वयको जीतनेका मार्ग बतलाते हैं। इसप्रकार तीर्थंकर-परम्परा प्रखरधारवाले भवसागरके तटपर घाट स्थापित करनेके साथ सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्रके पोत भी निर्मित करती है।

तीर्थंकर कोई रूढ़ शब्द नहीं है। यह महिमाशाली, दयालु, निःस्वार्थ, निर्भीक, सर्वज्ञ, जितेन्द्रिय और निर्मल विश्वासीके लिये प्रयुक्त होता है। इसमें अनन्त अपरिमित ऊर्जा और आत्मबल पाया जाता है। तीर्थंकर पद आत्म-विकासका चरमोत्कर्ष है और है आत्मविद्याका सर्वोच्च शिखर। तीर्थंकरोंने भौतिक जीवनको आध्यात्मिक जीवनदर्शन दिया। आत्मसाधनाका एक विशुद्ध और सुपरीक्षित मार्ग बतलाया है। उन्होंने सत्यकी शोध, आत्मसाक्षात्कार और सुलझी हुई आत्मदृष्टि द्वारा मनुष्यको स्वानुभूतिका प्रतिष्ठित मार्ग बतलाया है। निःसन्देह 'तीर्थ' एक लोक-प्रचलित शब्द है, पर तीर्थंकरके अर्थमें उसका प्रयोग लक्षणा और व्यजना इन दोनों शब्द-शक्तियों द्वारा होता है। अत तीर्थंकर वह विशिष्ट वीतराग, सर्वज्ञ और हितोपदेशी व्यक्ति है, जो ससार-सागरसे

पार होनेका मार्ग प्रतिपादित करता है। अतएव वह मोक्षमार्गका प्रवर्त्तक युग-पुरुष होता है।

मानव-सभ्यताके सूत्रधार कुलकर और तीर्थंकरोका आरम्भ एव संख्या

जैन विचारकोकी दृष्टिसे यह ससार अनादिकालसे सतत गतिशील चला आ रहा है। इसका न कही आदि है और न कही अन्त। यह दृश्यमान विश्व परिवर्तनशील, परिणामी और नित्य है। मूलद्रव्यकी दृष्टिसे नित्य है और पर्यायकी दृष्टिसे परिवर्तनशील। प्रत्येक जड, चेतनका परिवर्तन नैसर्गिक, ध्रुव एव सहज स्वभाव है। जिसप्रकार दिनके पश्चात् रात्रि और रात्रिके पश्चात् दिन, प्रकाशके अनन्तर अधकार और अधकारके अनन्तर प्रकाशका प्रादुर्भाव होता है, उसीप्रकार अभ्युदयके पश्चात् पतन और पतनके पश्चात् अभ्युदय प्राप्त होता है। उत्कर्ष और अपकर्षका यह क्रम निरन्तर चलता रहता है। कालचक्रके अनुसार उत्कर्षमय कालको उत्सर्पण और अपकर्षमय कालको अवसर्पण सज्ञा दी गयी है। इन दोनोके सुषम-सुषम, सुषम, सुषम-दुषम, दुषम-सुषम, दुषम और दुषम-दुषम ये छह अवसर्पणके और दुषम-दुषम, दुषम आदि छह उत्सर्पणके भेद होते है। यह कालचक्र निरन्तर चलता है। उत्सर्पण काल-चक्रमे प्राणियोकी वृद्धि और विकसित रूपमे भोगोपभोगकी सामग्री एव अव-सर्पणमे ह्रासोन्मुखमे भोगोपभोगकी सामग्री प्राप्त होती है। इस कालचक्रमे जब प्रकृति ह्रासोन्मुख हो जाती है और मानवकी सुख-सामग्री घटने लगती है, तो उसे अभावका सामना करना पडता है। सुषम-सुषम और सुषम कालमे कल्पवृक्षोसे जीवनोपयोगी सामग्री सहजरूपमे उपलब्ध होती है, पर सुषम-दुषम कालके आते ही अभावका सामना करना पडता है। फलत विचार-सघर्ष, कषाय-वृद्धि, क्रोध, लोभ, छल-प्रपच, स्वार्थ, अहकार और वैर-विरोधकी पाशविक प्रवृत्तियोका प्रादुर्भाव होने लगता है और विभिन्न दोषोसे मानव-समाज जलने लगता है। अशान्तिकी असह्य अग्निसे त्रस्त एव दिग्विमूढ मानवके मनमे शान्तिकी पिपासा जागृत होती है। उस समय उस दिग्भ्रान्त परिस्थितिमे मानव-समाजके भीतरसे ही कुछ विशिष्ट प्रतिभासम्पन्न व्यक्ति प्रकट होते है, जो त्रस्त मानव-समाजको भौतिक शान्तिका पथ प्रदर्शित करते है।

ये विशिष्ट बल, बुद्धि और प्रतिभासम्पन्न व्यक्ति मानव-समाजमे कुलोकी स्थापना करनेके कारण कुलकर कहलाते है। आचार्य जिनसेनने अपने महा-पुराणमे कुलकरकी परिभाषा निम्न प्रकार व्यक्त की है

प्रजाना जीवनोपायमननान्मनवो मता ।
आर्याणा कुलसस्त्यायकृते कुलकरा इमे ॥

कुलानां धारणादेते मता कुलधरा इति।
युगादिपुरुपा प्रोक्ता युगादौ प्रभविष्णव ॥[1]

अर्थात् प्रजाके जीवनका उपाय जाननेसे मनु और आर्यपुरुपोको कुलकी भाँति इकट्ठे रहनेका उपदेश देनेसे कुलकर कहे जाते है। अनेक वश स्थापित करनेके कारण ये कुलधर भी कहलाते है। युगके आदिमे होनेसे युगादिपुरुप माने जाते है।

कुलकरोके द्वारा अस्थायी व्यवस्था की जाती है, जिससे तात्कालिक समस्याका आशिक समाधान होता है। प्रथम, द्वितीय और तृतीय कालके कुछ भाग तक कल्पवृक्षोके सद्भावके कारण मानव स्वतन्त्र और वन-विहारी था। अतएव विशिष्ट प्रतिभाशाली व्यक्तियोने नेतृत्व स्वीकार कर उस समयके मानवोको छोटे-छोटे कुलोमे व्यवस्थित किया। ये कुलकर मानव-सभ्यताके सूत्रधार थे। इन्होने मनुष्यको प्रकृतिसे समरस किया और उसे सम्पन्न जीवन व्यतीत करनेका मार्ग वतलाया। आरम्भमे मनुष्य प्रकृतिके रहस्योसे अपरिचित था, कुलकरोने प्रकृति और मानवके सम्वन्वको उद्घाटित किया और मनुष्यको जीनेकी कलासे परिचित कराया। समाजका ढाँचा तैयार कर विवेक एव विचारकी शिक्षा दी। इसी कारण मनुष्य वर्वरताके स्तरसे ऊपर उठा और शनै शनै प्रगतिके मार्गपर आगे वढने लगा। कृपि और औद्योगिक सभ्यताकी ओर मनुष्यको प्रवृत्त करनेका श्रेय कुलकरपरम्पराको है। ये कुलकर ही ग्राम और नगर सस्कृतिके जनक है।

कुलकरोकी सख्या चौदह मानी गयी है। प्रत्येक कुलकर अपने-अपने समयमे तात्कालिक समस्याओके समाधानके साथ श्रम और उद्योगकी शिक्षा देते हैं। चौदहवें कुलकर नाभिरायने मनुष्यको कर्म और पुरुपार्थके धरातलपर ला खडा किया। इन कुलकरोने मनुष्यको वताया कि भयानक पशुओसे कैसे रक्षा करनी चाहिये। किन पशुओको पालतू वनाया जा सकता है और उनसे उत्पादन कार्यमे किस प्रकार सहायता ली जा सकती है आदि बाते प्रतिपादित की। भूमि एव वृक्षोके स्वामित्वकी मर्यादा, कृपि, खेत, खलिहान, हाट, वाजार, कला, विज्ञान आदि विविध क्षेत्रोमे मनुष्यको प्रविष्ट करानेका कार्य भी इन्होने सम्पादित किया। नदीपर घाट वाँधना, यान चलाना, पर्वतारोहण करना, सडक, भवन, कूप आदिका निर्माण करना एव विविध वस्तुओके उपयोगकी कला भी कुलकरोने सिखलायी। परिवार, समाज, शासन आदिके नियम-उपनियम भी इन्होने वतलाये। कुलकरो द्वारा भौतिक साधनोके उपयोगकी जानकारी प्राप्त हो जाने पर भी सहज, शान्त और निर्दोप जीवन-यापनके लिये धर्मकी आवश्यकता

१. महापुराण, आदिपुराण ३।२११-२१२

प्रतीत हुई। इधर मानव-कुलोकी भी वृद्धि हो रही थी, जिससे विषमता उत्तरोत्तर बढती जाती थी। अत जनसाधारणकी आध्यात्मिक भूख बढ रही थी और बढती हुई भौतिक आवश्यकताओके नियन्त्रणकी अपेक्षा बनी थी। अतएव कुलकरोके पश्चात् चौबीस तीर्थंकर, द्वादश चक्रवर्ती, नौ बलभद्र, नौ नारायण और नौ प्रतिनारायण ये त्रेसठ शलाकापुरुष जन्म लेते है, जो सभी तरहकी समाज-व्यवस्था एव वैयक्तिक जीवनोत्थानमे योगदान देते है।

तीर्थंकरो मे सर्वप्रथम ऋषभनाथ या ऋषभदेव हुए है, जिन्होने आत्म-विद्याका नेतृत्व किया है। मानव-समाजको कृषिकी शिक्षाके साथ जीविकोपयोगी षट्कर्मोकी शिक्षा भी इन्होने दी। ऋषभदेवने इस युगमे जैनधर्मका प्रवर्त्तन प्रत्येक कल्पकालके समान ही किया है। भोगभूमिके पश्चात् जब कर्मक्षेत्रका प्रारम्भ हुआ, तो मानव-समाजमे सहअस्तित्व, सहयोग, सहृदयता, सहिष्णुता, सुरक्षा, सौहार्द एव समानताका पाठ पढाकर मानवके हृदयमे मानवके प्रति भ्रातृत्वभावको उत्पन्न किया। इन्होने गुणकर्मके अनुसार वर्ण-व्यवस्थाका भी प्रतिपादन किया। अहिंसा, दयावृत्ति, सयम, रत्नत्रय आदिकी आराधनापर बल दिया।

ऋषभदेवके पिताका नाम नाभिराय और माताका नाम मरुदेवी था। अयोध्या नगरीमे इनका जन्म हुआ था। इनके जन्म लेते ही सभी दिशाएँ शान्त हो गई और सभी प्राणियोको क्षणभरके लिये अपूर्व विश्राम प्राप्त हुआ। देव-देवेन्द्रोने इनका जन्मोत्सव सम्पन्न किया। इनका नाम वृषभ या ऋषभदेव रखा गया। आचार्य जिनसेनने लिखा है कि जगत्के लिये हितकारक धर्मामृतकी वर्षा करनेवाले होनेके कारण इनका नाम वृषभदेव रखा गया। धर्म-कर्मके आद्य प्रवर्तक होनेके कारण इनका आदिनाथ नाम भी प्राप्त होता है। इनका वश इक्ष्वाकु था। ऋषभदेवका विवाह सम्पन्न हुआ और उनके ब्राह्मी और सुन्दरी कन्याओके अतिरिक्त १०० पुत्र उत्पन्न हुए। ऋषभदेवने असख्यात वर्ष पर्यन्त राज्य किया। धर्मानुकूल लोक-व्यवस्था सचालित की और अन्तमे विरक्त होकर श्रमण-दीक्षा ग्रहण की। ऋषभदेवके साथ अनेक राजा, सामन्त और महापुरुषोने भी दीक्षा ग्रहण की। घोर तपश्चरणके अनन्तर इन्हे केवल-ज्ञान प्राप्त हुआ और जगत्के जीवोको शान्तिका उपदेश दिया।

ऋषभदेवके पश्चात् अजितनाथ, सम्भवनाथ, अभिनन्दन, सुमतिनाथ, पद्मप्रभ, सुपार्श्व, चन्द्रप्रभ, पुष्पदन्त, शीतल, श्रेयास, वासुपूज्य, विमल, अनन्त, धर्म, शान्ति, कुन्थु, अरनाथ, मल्लि, मुनिसुव्रत, नमि, नेमि, पार्श्व और वर्द्धमान ये तेईस तीर्थंकर हुए। इन सभीने सत्यका अन्वेषण किया, आत्म-

साक्षात्कार प्राप्त किया और सुलझी हुई अन्तर्दृष्टि द्वारा मानवकी तत्कालीन समस्याओंके समाधान प्रस्तुत किये। उन्होंने अनेकान्त, अहिंसा, समता आदि-का प्रवर्त्तन कर जन-जनको शान्तिका मार्ग बताया। इन चौबीस तीर्थंकरोंमें ऋषभनाथ, नमि, नेमि, पार्श्व और महावीरका निर्देश अन्य वाङ्मय एवं पुरातत्त्व आदिमें भी प्राप्त होता है।

वैदिक वाङ्मय और तीर्थंकर

विश्वके प्राचीन वाङ्मयमें ऋग्वेदका महत्त्वपूर्ण स्थान है। उसकी एक ऋचामें आदि तीर्थंकर ऋषभदेवका उल्लेख आया है

"ऋषभं मा समानानां सपत्नानां विषासहिम्।
हन्तारं शत्रूणां कृधि विराजं गोपतिं गवाम्॥"

ऋग्वेद, १०,१६६,१.

यजुर्वेद और अथर्ववेदमें भी ऋषभदेवका उल्लेख प्राप्त होता है। श्रीमद्भागवतमें विष्णुके चौबीस अवतारोंमें एक ऋषभावतार भी स्वीकृत किया गया है, जिससे आदि तीर्थंकर ऋषभकी ऐतिहासिकता और प्रसिद्धि सिद्ध होती है। भागवतमें ऋषभदेवके जीवन-वृत्तका भी वर्णन प्राप्त होता है। लिखा है

"अथ ह भगवानृषभदेवः स्ववर्षं कर्मक्षेत्रमनुमन्यमानः प्रदर्शितगुरुकुलवासो लब्धवरैर्गुरुभिरनुज्ञातो गृहमेधिनां धर्माननुशिक्षमाणो ... शतं जनयामास[1]। भगवानृषभसंज्ञ आत्मतन्त्रः स्वयं नित्यनिवृत्तानर्थपरम्परः केवलानन्दानुभव ईश्वर एव विपरीतवत्कर्माण्यारभमाणः कालेनानुगतं ... गृहेषु लोकं नियमयत्"[2]।

अर्थात् भगवान् ऋषभदेवने समस्त लौकिक क्रियाओंका सम्पादन किया। वे परम स्वतन्त्र भौतिक आसक्तिसे रहित, आनन्दस्वरूप साक्षात् ईश्वर थे। उन्होंने जनसामान्यमें धर्माचरण और तत्त्वज्ञानका प्रचार किया। समता, शान्ति और करुणाके साथ धर्म, अर्थ, यश, सन्तानसुख, भोग, और मोक्षका उपदेश देते हुए गृहस्थाश्रममें लोगोंका नियमित जीवन व्यतीत करनेका उपदेश दिया। ऋषभदेव समस्त धर्मोके साररूप, वेदके गुह्य रहस्यके ज्ञाता थे। वे सामदानादि रीतिके अनुसार जनताका पालन करते थे। उन्होंने सौ यज्ञोंका सम्पादन किया था। इनके शासनकालमें प्रजा सुखी थी, उसे किसी भी वस्तु-की कमी नहीं थी। ऋषभदेवने अनेक देशोंमें विहार किया था तथा देश, राष्ट्र और समाज हितका उपदेश दिया था।

१ श्रीमद्भागवत (गीताप्रेस-संस्करण) ५।४।८

२. वही, ५।४।१४

इसी ग्रन्थमे यह भी बताया गया है कि ऋषभदेवकी शिक्षाको ग्रहणकर ऐसे धर्म और सम्प्रदाय प्रचलित होगे, जो अस्नान, अनाचमन, अशौच, केशलुञ्च, ईश्वर-कर्तृत्वमे अविश्वास, यज्ञ-विरोध आदि करेगे। लिखा है

"येन ह वाव कलौ मनुजा सपदा देवमायामोहिता निज-निजेच्छाया गृह्णाना अस्नानानाचमनाशौचकेशोल्लुञ्चनादीनि कलिनाधर्म-बहुलेनोपहतधियो ब्रह्मब्राह्मणयज्ञपुरुषलोकविदूषका प्रायेण भविष्यन्ति ॥"[1]

मार्कण्डेयपुराणमे तीर्थंकर ऋषभदेवके वर्णनमे लिखा है कि उन्होने अपने पुत्र भरतको राज्यभार सौपा और स्वय विरक्त हो गये। इन्ही भरतके नामपर इस देशका नाम भारतवर्ष पडा।[2]

कूर्मपुराणमे बताया गया है कि महात्मा नाभि और मेरुदेवीका पुत्र ऋषभ हुआ, जो अत्यन्त क्रान्तिकारी था। ऋषभके सौ पुत्र हुए, जिनमे भरत ज्येष्ठ था। बताया है

"हिमाह्वय तु यद्वर्ष नाभेरासीन्महात्मन ।
तस्यर्षभोऽभवत् पुत्रो मेरुदेव्या महाद्युति ॥
ऋषभाद् भरतो जज्ञे वीर पुत्रशताग्रज ।
सोऽभिषिच्यर्षभः पुत्र भरत पृथिवीपति ॥"

अध्याय ४१, श्लोक ३७-३८, पृ० ६१

अग्निपुराणमे महाराज नाभिके अलौकिक राज्यका वर्णन आया है और बताया गया है कि उनके तथा मरुदेवीके पुत्रका नाम ऋषभ था। ऋषभने अपने पुत्र भरतको राज्य देकर शालिग्राममे मुक्ति प्राप्त की।[3] इस पुराणमे ऋषभका महत्त्व उनकी तपस्या एव उनकी शासन-व्यवस्थाका भी सामान्य चित्रण आया है। इस पुराणमे जैन मान्यताके अनुसार ऋषभके माता-पिताके नाम नाभिराय एव मरुदेवी आये हैं।

वायुपुराण[4] और ब्रह्माण्डपुराणके[5] पूर्वार्धमे ऋषभदेवके महत्त्वसूचक कई पद्य

१ श्रीमद्भागवत, ५।६।९.

२ मार्कण्डेयपुराण, अध्याय ५०, श्लोक ३९-४१, पृ० १५० तथा कल्याण, गीताप्रेस, गोरखपुरका हिन्दू-सस्कृति-विशेषाक, जनवरी, १९५०, पृ० ८८२

३ अग्निपुराण १०।१०-११, पृ० ६२

४ नाभिस्त्वजनयत् पुत्र मरुदेव्या महाद्युति ।
ऋषभ पार्थिवश्रेष्ठ सर्वक्षेत्रस्य पूर्वजम् ॥ वायु०, अ० ३३, पद्य ५०-५२, पृ ५१

५ सोऽभिषिच्यर्षभ पुत्र महाप्राव्राज्यमास्थित ।
हिमाह्व दक्षिण वर्ष तस्य नाम्ना विदुर्बुधा ॥—ब्रह्मा०, अ० १४, पद्य ६१, पृ २४

आये है। वाराहपुराणमे[1] नाभिराय और मरुदेवीके पुत्र ऋषभदेव तथा उनके भरतादि सौ पुत्रोका कथन आया है। ऋषभने भरतको हिमालयके दक्षिणवाला क्षेत्र दिया था, जिसका नाम आगे चलकर भरतके नाम पर भारतवर्ष पडा। लिङ्गपुराणमे[2] नाभिराजको हिमालयके उत्तर-दक्षिणवर्ती प्रदेशका शासक बतलाया गया है। इनके पुत्रका नाम ऋषभदेव आया है। ऋषभको माता मरुदेवी थी। ऋषभके पुत्र भरत हुए, जिनके नामपर इस देशका नाम भारतवर्ष पडा।

विष्णुपुराण[3] और स्कन्धपुराणमे[4] भी ऋषभदेवके प्रताप एव प्रभावका चित्रण आया है।

आचार्यकल्प पण्डित टोडरमलजीने अपने 'मोक्षमार्गप्रकाशक'मे बताया है कि प्रथम तीर्थकर ऋषभ, द्वितीय अजित, सप्तम सुपार्श्व, २२वे अरिष्टनेमि और २४वे महावीरका उल्लेख यजुर्वेदमे है। उन्होने यजुर्वेदका निम्नलिखित मन्त्र उद्धृत किया है

"ओ ऋषभपवित्र पुरुहूतमध्वर यज्ञेषु नग्न परममाह सस्तुत वर शत्रुजयत पशुरिन्द्रमाहुरिति स्वाहा। ओ त्रातारमिन्द्र ऋषभ वदन्ति। अमृतारमिन्द्र हवा सुगत सुपार्श्वमिन्द्र हवे शक्रमजित तद्वर्द्धमानपुरुहूतमाहुरिति स्वाहा। ओ नग्न सुधीर दिग्वासस ब्रह्मगर्भं सनातन उपैमि वीर पुरुषमर्हान्तमादित्यवर्णं तमस परस्तात् स्वाहा। ओ स्वस्ति न इन्द्रो वृद्धश्रवा, स्वस्ति न पूषा विश्ववेदा, स्वस्ति नस्तार्क्ष्यो अरिष्टनेमि स्वस्ति नो वृहस्पतिर्दधातु। दीर्घायुस्त्वायुर्बलायुर्वा शुभजातायु ओ रक्ष रक्ष अरिष्टनेमि स्वाहा।"

उद्धृत आचार्यकल्प प० टोडरमल, मोक्षमार्गप्रकाशक, पृ० २०८

ऋग्वेदमे वातरशनामुनियोके सम्बन्धकी ऋचाएँ आयी है। ये ऋचाएँ ऋषभदेवके जीवनसे सम्बन्धित प्रतीत होती हैं। वस्तुत वातरशनामुनियोको धर्मका उपदेश ऋषभदेवसे प्राप्त हुआ होगा। इन ऋचाओमे मुनियोकी साधनाका वर्णन आया है। लिखा है

१ नाभिर्मरुदेव्या पुत्रमजनयद् ऋषभनामान, तस्य भरतो पुत्रश्च तावदग्रज। तस्य भरतस्य पिता ऋषभो हेमाद्रे दक्षिण वर्षमदद्। अध्याय ७४, पृ० ४९

२ लिंगपुराण, अध्याय ४७, श्लोक १९-२४, पृ० ६८

३ विष्णुपुराण, अध्याय १, श्लोक २७-२८, पृ० ७७.

४ स्कन्धपुराण, अध्याय ३७, श्लोक ५७.

"मुनयो वातरशना पिशगा वसते मला।
वातस्यानु ध्राजिं यन्ति यद्देवासो अविक्षत॥
उन्मदिता मौनेयेन वातॉ आतस्थिमा वयम्।
शरीरेदस्माक यूय मर्तासो अभि पश्यथ॥"

ऋग्वेद १०, १३६, २-३

अर्थात् अतीन्द्रियदर्शी वातरशनामुनि मल धारण करते है, जिससे वे पिंगल वर्ण दिखलायी पडते हैं। जब वे वायुकी गतिको प्राणोपासना द्वारा धारण कर लेते है, अर्थात् रोक लेते है, तब वे अपने तपकी महिमासे दीप्यमान होकर देवतास्वरूपको प्राप्त हो जाते हैं। सर्वलौकिक व्यवहारको छोडकर मौनव्रतपूर्वक ध्यानस्थरूपमे विचरण करते है। उनका बाह्य शरीर मलसे लिप्त दिखलायी पडता है, पर अन्तरग निर्मल होता है।

ऋग्वेदमे केशीकी भी स्तुति प्राप्त होती है। यह केशी साधनायुक्त होते है। लिखा है

"केश्यग्नि केशी विप केशी बिभर्ति रोदसी।
केशी विश्व स्वर्दृशे केशीद ज्योतिरुच्यते॥"

ऋग्वेद १०,१३६,१।

केशी अग्नि, जल, स्वर्ग और पृथ्वीको धारण करता है। केशी समस्त विश्वके तत्त्वोका दर्शन कराता है। उसकी ज्ञानज्योति केवलज्ञानरूप है।

ऋग्वेदके केशी और वातरशना मुनियोकी साधनाओका भागवतपुराणमे उल्लिखित ऋषभकी साधनाओके साथ तुलनात्मक अध्ययन करनेसे स्पष्ट होता है कि ऋग्वेदके वातरशना मुनि और भागवतके वातरशना श्रमण एक ही सम्प्रदायके वाचक हैं। केशीका अर्थ केशधारी है। सम्भवत ये वातरशनामुनियोके अधिनायक थे, इनकी साधनामे मलधारण, मौनव्रत और उन्माद भावका विशेष उल्लेख है। श्रीमद्भागवतमे ऋषभदेवकी जिस वृत्तिका वर्णन आया है, उससे स्पष्ट है कि वे केशधारी अवधूतके रूपमे विचरण करते थे[1]।

जैन मूर्तिकलामे ऋषभदेवके कुटिल केशोकी परम्परा प्राचीनतम कालसे पायी जाती है। २४ तीर्थंकरोमेसे केवल ऋषभदेवकी मूर्तिके सिर पर ही कुटिल केश दिखलायी पडते है और वही उनका प्राचीन विशेष लक्षण भी माना जाता है। पद्मपुराणमे[2] ऋषभदेवकी जटाओका उल्लेख आया है। हरिवशपुराणमे[3]

१ श्रीमद्भागवत, ५।६।२८-३१
२ पद्मपुराण ३।२८८
३ हरिवंशपुराण ९।२०४.

भी उन्हे प्रलम्बजटाधारी बताया है । अत ऋषभदेवका 'केशी' यह नाम सार्थक प्रतीत होता है ।

ऋग्वेदमे एक ऐसी ऋचा उपलब्ध है, जिसमे केशी और ऋषभ इन दोनोका उल्लेख है । यहाँ केशी ऋषभका विशेषण जैसा प्रयुक्त है । मत्र निम्नप्रकार है

"ककर्दवे वृषभो युक्त आसीद् ।
अवावचीत् सारथिरस्य केशी ॥
दुधेर्युक्तस्य द्रवत सहानस ।
ऋच्छन्तिष्मा निष्पदो मुद्गलानीम् ॥"

ऋग्वेद १०,१०२,६

अर्थात् मुद्गल ऋषिकी गायोको चोर चुरा ले गये थे । उन्हे लौटानेके लिये ऋषिने केशी वृषभको अपना सारथी बनाया, जिसके वचनमात्रसे वे गाये आगेकी ओर न जाकर पीछेको लौट पडी । सायणने केशीको वृषभका विशेषण बतलाया है । लिखा है

'अथवा, अस्य सारथि सहायभूत केशी प्रकृष्टकेशो वृषभ अवावचीत् भृशमशब्दयत्" इत्यादि ।

अर्थात् मुद्गल ऋषिने केशी वृषभको शत्रुओका विनाश करनेके लिये अपना सारथी नियुक्त किया । इस ऋचाका आध्यात्मिक अर्थ यह है कि मुद्गल ऋषिकी जो इन्द्रियाँ पराड्मुखी थी, वे उनके योगयुक्त ज्ञानी नेता केशी वृषभका धर्मोपदेश सुनकर अन्तर्मुखी हो गयी । अतएव यह स्पष्ट है कि ऋग्वेदमे जो केशीसूक्त आया है, वह ऋषभदेवके उल्लेखका सूचक है । डॉ० श्री हीरालालजी जैनने लिखा है "इस प्रकार ऋग्वेदमे उल्लिखित वातरशना मुनियोका निर्ग्रन्थ साधु तथा उन मुनियोके नायक केशी मुनिका ऋषभदेवके साथ एकीकरण हो जानेसे जैनधर्मकी प्राचीन परम्परापर बडा महत्त्वपूर्ण प्रकाश पडता है । केशी नाम जैन परम्परामे प्रचलित रहा । इसका प्रमाण यह है कि महावीरके समयमे पार्श्व-सम्प्रदायके नेताका नाम केशीकुमार था (उत्तराध्ययन २३)[१] ।"

इस प्रकार वैदिक साहित्यके प्रकाशमे आदितीर्थंकर ऋषभदेव और उनके अनुयायी वातरशनामुनियोका उल्लेख प्राप्त होता है ।

१. भारतीय संस्कृतिमें जैनधर्मका योगदान, प्रकाशक मध्यप्रदेश-शासन, साहित्यपरिषद्, भोपाल, सन् १९६२, पृ० १७

पुरातत्त्व और ऋषभदेव

पुरातत्त्वकी दृष्टिसे भी ऋषभदेवकी प्राचीनता सिद्ध होती है। प्रसिद्ध पुरातत्त्ववेत्ता डॉ० राखालदास बनर्जीने सिन्धुघाटीकी सभ्यताका अन्वेषण किया है। यहाँके उत्खननमे उपलब्ध सील (मोहर) न० ४४९ ५८ चित्रलिपिमे कुछ लिखा हुआ है। इस लेखको प्रो० प्राणनाथ विद्यालंकारने 'जिनेश्वर (जिन-इ-इ-सर ') पढा है। पुरातत्त्वज्ञ रायबहादुर चन्दाका वक्तव्य है कि सिन्धु-घाटीकी मोहरोमे एक मूर्त्ति प्राप्त होती है, जिसमे मथुराकी ऋषभदेवकी खड्-गासन मूर्तिके समान त्याग और वैराग्यके भाव दृष्टिगोचर होते हैं। सील न० द्वितीय एफ० जी० एच० मे जो मूर्ति उत्कीर्ण है, उसमे वैराग्य मुद्रा तो स्पष्ट है ही, उसके नीचेके भागमे ऋषभदेवके चिह्न बैलका सद्भाव[१] भी है।

डॉ० श्री राधाकुमुद मुखर्जीने सिन्धु-सभ्यताका अध्ययन करते हुए लिखा है — फलक १२ और ११८, आकृति ७ (मार्शलकृत मोहन-जो-दडो) कायोत्सर्ग नामक योगासनमे खडे हुए देवताओको सूचित करती है। यह मुद्रा जैन योगियोकी तपश्चर्यामे विशेष रूपसे मिलती है। जैसे मथुरा सग्रहालयमे स्थापित तीर्थंकर श्रीऋषभ देवताकी मूर्तिमे। ऋषभका अर्थ है बैल, जो आदिनाथका लक्षण है। मोहर सख्या एफ० जी० एच० फलक दोपर अकित देवमूर्तिमे एक बैल ही बना है। सम्भव है कि यह ऋषभका ही पूर्व रूप हो। यदि ऐसा हो, तो शैव-धर्मकी तरह, जैनधर्मका मूल भी ताम्रयुगीन सिन्धु-सभ्यता तक चला जाता है"[२]।

मथुरा ककाली टीलाके आविष्कारने ऋषभादि तीर्थंकरोकी ऐतिहासिकता पर प्रकाश डाला है। वहाँकी पुरातत्त्वकी उपलब्ध सामग्रीमे लगभग ११० अभिलेख प्राप्त हुई हैं। वहीके एक स्तूपमे सवत् ७८ की १८ वे तीर्थङ्कर अरह-नाथकी प्रतिमा भी प्राप्त है। यह स्तूप इतना प्राचीन है कि इसके रचनाका समय ज्ञात करना कठिन है। डॉ० विसेन्ट ए० स्मिथके अनुसार मथुरा-सम्बन्धी अन्वेषणोसे यह सिद्ध है कि जैनधर्मके तीर्थंकरोका अस्तित्व ई० सन्से पूर्वमे विद्यमान था। ऋषभादि २४ तीर्थंकरोकी मान्यता सुदूर प्राचीनकालमे पूर्णतया प्रचलित थी[३]। इसप्रकार ऋषभदेवकी प्राचीनता इतिहास और

१ The modern review, August, 1935 —Sindh Five thausands years ago.

२ हिन्दू सभ्यता (हिन्दी-सस्करण), राजकमलप्रकाशन, नई दिल्ली, द्वितीय सस्करण, सन् १९५८, पृ० २३

३ द जैन स्तूप मथुरा, प्रस्तावना, पृ० ६

वाङ्मयसे सिद्ध है। डॉ० एन० एन० वसुका मत है कि लेखनकलाका प्रथम आविष्कार कदाचित् ऋषभदेवने किया था। प्रतीत होता है कि ब्रह्मविद्याके प्रचारके लिये उन्होंने ब्राह्मी लिपिका आविष्कार किया था। यही कारण है कि वे अष्टम अवतारके रूपमे प्रसिद्ध हुए है[1]।

तीर्थंकर नमि

अनासक्ति योगके प्रतीक २१ वें तीर्थंकर नमिनाथ है। ऋषभनाथके अनन्तर नमिनाथका जीवनवृत्त जैनेतर साहित्यमे उपलब्ध होता है। नमि मिथिलाके राजा थे और इन्हे हिन्दू पुराणोमे जनकके पूर्वजके रूपमे माना गया है। नमिकी अनासक्तवृत्ति इतनी प्रसिद्ध थी, जिससे उनका वश ही विदेह कहलाता था। अहिंसाका प्रचार नमिके युगमे विशेप रूपसे हुआ था। उत्तराध्ययन-सूत्रके नवम अध्ययनमे नमि-प्रव्रज्याका सुन्दर वर्णन उपलब्ध होता है। इस प्रव्रज्यामे आये हुए वचनोकी तुलना पालि जातक और महाभारतके कई अगोसे की जा सकती है। यहाँ उदाहरणार्थ कुछ पद्य उद्धृत किये जाते हैं

"सुह वसामो जीवामो जेसि मो णत्थि किचण।
मिहिलाए डज्झमाणीए ण मे डज्झइ किचण॥"

उत्त० ९-१४

"सुसुख वत जीवाम येस नो नत्थि किचन।
मिथिलाये दहमानाय न मे किंचि अदय्हथ॥"

पालि महाजनक-जातक

"मिथिलाया प्रदीप्ताया न मे किञ्चन दह्यते।"

म० भा० शातिपर्व

तीर्थंकर नमिकी अनासक्तवृत्ति मिथिलामे जनक तक पायी जाती है। कहा जाता है कि अहिंसात्मक प्रवृत्तिके कारण ही उनका धनुष प्रत्यञ्चाहीन रूपमे उनके क्षत्रियत्वका प्रतीकमात्र रह गया था। रामने शिवनाडीवको फिर प्रत्यञ्चा-युक्त किया। सीता-स्वयवरके अवसरपर रामने इसी प्रत्यञ्चाहीन धनुपको तोडकर धनुषपर पुन प्रत्यञ्चाकी परम्परा प्रचलित की। वस्तुत अहिंसामे ही शौर्य और पराक्रमकी वृत्ति निहित है। नमि तीर्थंकर ईस्वी सन्‌से सहस्रो वर्ष पूर्व हुए हैं।

तीर्थंकर नेमिनाथ

२२वें तीर्थंकर नेमिनाथका वर्णन जैन ग्रन्थोके साथ ऋग्वेद, महाभारत

[1] हिन्दी विश्वकोश, जिल्द १, पृ० ६४ तथा जिल्द ३, पृ० ४४४

आदि ग्रन्थोमे पाया जाता है। नेमिनाथ करुणाके प्रतीक हैं। ये यदुवंशी थे। इनके पिताका नाम समुद्रविजय था। ये कृष्णके चचेरे भाई थे। नेमिनाथका विवाह-सम्बन्ध गिरिनगरके राजा उग्रसेनकी विदुषी पुत्री राजुलमतीके साथ होना निश्चित हुआ था, पर जैसे ही बारात गिरिनगर जा रही थी कि मार्गमे अतिथियोके भोजनके निमित्त एकत्र किये गये सहस्रो पशुओकी करुणार्द्र चीत्कार नेमिनाथको सुनायी पडी। इस घटनासे द्रवित होकर उन्होने इस विवाहका परित्याग कर दिया और वे मार्गसे ही तपोवनको चल दिये। नेमिनाथका समय महाभारतकाल है। यह काल ईस्वी पूर्व १००० के लगभग माना जाता है। महाभारतके हरिवंशमे अरिष्टनेमिका वर्णन आया है। इस ग्रन्थके अनुसार महाराज यदुके सहस्रद, पयोद, क्रोष्टा, नील और अजिक ये पॉच पुत्र हुए। क्रोष्टाकी माद्री नामक दूसरी रानीसे युधाजित और देवमिढ़ूष नामक दो पुत्र हुए। क्रोष्टाके बडे पुत्र युधाजितसे वृष्णि और अन्धक ये दो पुत्र हुए। वृष्णिके स्वफल्क और चित्रक नामक पुत्र उत्पन्न हुए। चित्रकके पृथु, विपृथु, अश्वग्रीव, अश्वबाहु, सुपार्श्वक, गवेषण, अरिष्टनेमि, अश्व, सुधर्मा धर्मभृत, सुबाहु और बहुबाहु ये बारह पुत्र हुए[1]। इस वंश-परम्परासे यह स्पष्ट है कि अरिष्टनेमि और श्रीकृष्ण चचेरे भाई थे। अरिष्ट-नेमिका उल्लेख ऋग्वेदमे भी प्राप्त होता है। यथा

> "स्वस्ति न इन्द्रो वृद्धश्रवा स्वस्ति न पूषा विश्ववेदा।
> स्वस्ति नस्तार्क्ष्यो अरिष्टनेमि स्वस्ति नो बृहस्पतिर्दधातु॥"
>
> ऋग्वेद १,८९,६

यहॉपर अरिष्टनेमिका अर्थ हानिरहित नेमिवाला, त्रिपुरवासी असुर, पुरुजित् सुत और श्रौतोका पिता कहा गया है। पर शतपथब्राह्मणमे अरिष्टका अर्थ अहिंसक है और 'अरिष्टनेमि'का अर्थ अहिंसाकी धुरी अहिंसाके प्रवर्त्तक हैं। बृहस्पतिके समान अरिष्टनेमिकी स्तुति भी की गयी है।

वैदिक युगमे अरिष्टनेमि करुणा और अहिंसाके रूपमे मान्य हो चुके थे। वे विश्वकी रक्षाकरनेवाले श्रेष्ठ देवताके रूपमे प्रतिष्ठित थे।

इससे स्पष्ट है कि २२वे तीर्थंकर अरिष्टनेमि करुणामूर्तिके रूपमे महा-भारतकालसे मान्य रहे हैं। जैन वाङ्मयमे तो इनका महत्त्व वर्णित है ही, वैदिक साहित्यमे भी इनका महत्त्व कम नही है। ऋग्वेदके समान यजुर्वेदमे[2]

१ हरिवंश, पर्व १, अध्याय ३४, पद्य १५-१६

२ यजुर्वेद, अध्याय २५, मत्र १६, अष्टक ९१, अध्याय ६, वर्ग १

भी अरिष्टनेमिका उल्लेख आया है। इन्हे यज्ञमे विघ्न निवारणके हेतु आहूत- किया गया है।

टोडरमलजीने प्रभास पुराणका उद्धरण देते हुए बताया है कि वामनको पद्मासन दिगम्बर नेमिनाथका दर्शन हुआ था। उसीका नाम शिव है। उसके दर्शनादिकसे कोटि यज्ञ फल प्राप्त होता है। लिखा है

> भवस्य पश्चिमे भागे वामनेन तप कृतम्।
> तेनैव तपसाकृष्ट शिव प्रत्यक्षता गत ॥
> पद्मासनमासीन श्याममूर्तिदिगम्बर।
> नेमिनाथ शिवेत्येव नाम चक्रेऽस्य वामन ॥
> कलिकाले महाघोरे सर्वपापप्रणाशक।
> दर्शनात्स्पर्शनादेव कोटियज्ञफलप्रद ॥
> × × ×
> रैवताद्रौ जिनो नेमिर्युगादिर्विमलाचले।
> ऋषीणामाश्रमादेव मुक्तिमार्गस्य कारणम्[1] ॥

यहाँ नेमिनाथकी 'जिन' सज्ञा बतलायी है और उनके स्थानको ऋषिका आश्रम, मुक्तिका कारण कहा है। इससे नेमिनाथकी पूज्यता स्पष्ट है।

तीर्थंकर पार्श्वनाथ

२३वें तीर्थंकर पार्श्वनाथका जन्म बनारसके राजा अश्वसेन और उनकी रानी वामादेवीसे हुआ था। इन्होने ३० वर्षकी अवस्थामे गृह त्यागकर सम्मेद- शिखर पर्वतपर तपस्या की। यह पर्वत आज तक पार्श्वनाथ पर्वतके नामसे प्रसिद्ध है। पार्श्वनाथने केवलज्ञान प्राप्तकर ७० वर्षो तक श्रमण-धर्मका प्रचार किया। पार्श्वनाथके जीवन-प्रसगमे कमठका महत्त्वपूर्ण स्थान है। इसीके कारण पार्श्वनाथकी साधनामें निखार और परिष्कार आया है। क्षमा और वैर के घात-प्रतिघातोका मार्मिक वर्णन हुआ है। पार्श्वनाथ क्षमाके प्रतीक हैं और कमठ वैर का। क्षमा और वैरका द्वन्द्व अनेक जन्मो तक चला है और अन्तमें वैरपर क्षमाकी विजय हुई है।

जैन पुराणोके अनुसार पार्श्वनाथका निर्वाण तीर्थंकर महावीरके निर्वाणसे २५० वर्ष पूर्व अर्थात् ई० पू० ५२७ + २५० = ७७७ ई० पू० में हुआ। पार्श्वनाथ-

१. मोक्षमार्गप्रकाशक आचार्यकल्प प० श्रीटोडरमलग्रथमाला, गाधीरोड, बापू नगर, प्लाट न० ए० ४, जयपुर, वि० स० २०२३, पृ० १४१.

का श्रमण-परम्परापर गम्भीर प्रभाव है। वे ऋषभनाथसे नेमिनाथ तक चली आयी धर्म-परम्पराके समवेत सकरण है। उनमें ऋषभका आकिंचन्य, अपरिग्रह और कर्मठता, नमिनाथकी अनासक्तवृत्ति एवं नेमिनाथकी करुणाप्रधान अहिंसा-वृत्ति सामयिक धर्मचक्रके रूपमें प्रतिष्ठित है। पार्श्वनाथने अहिंसाको सुव्य-वस्थित सिद्धान्तके रूपमें प्रतिष्ठित कर क्षमाकी धारा प्रवाहित की।

तीर्थंकर पार्श्वनाथकी वाणीमें करुणा, मधुरता और शान्तिकी त्रिवेणी एक साथ प्रवाहित है। परिणामतः जन-जनके मनपर उनकी वाणीका मंगलकारी प्रभाव पड़ा, जिससे कोटि-कोटि जनता उनकी अनन्यभक्त बन गयी। उनके समयमें तापस-परम्पराका प्राबल्य था। लोग तपके नामपर अज्ञानपूर्वक कष्ट उठा रहे थे। इनके उपदेशसे विवेक युक्त तपश्चरण करनेकी नवप्रेरणा प्राप्त हुई। इनके उपदेशसे तपश्चरण का रूपही निखर गया।

पार्श्वनाथकालीन साहित्यका अध्ययन करनेसे अवगत होता है कि पिप्प-लादि, भारद्वाज, नचिकेता आदिपर पार्श्वनाथका पर्याप्त प्रभाव है। पिप्पलादि मान्य वैदिक ऋषि थे। उनके उपदेशों पर इनके उपदेशकी प्रतिच्छाया दिख-लायी पड़ती है[1]। पिप्पलादिका अभिमत था कि प्राण या चेतना जब शरीरसे पृथक् हो जाती है, तब यह शरीर नष्ट हो जाता है। यह कथन 'पुद्गलमय शरीरसे जीवके पृथक् होनेपर विघटन सिद्धान्तकी अनुकृति है।'

भारद्वाज जिनका अस्तित्व बौद्धधर्मसे पूर्व है। पार्श्वनाथ कालमें वे एक स्वतन्त्र मुण्डक सम्प्रदायके नेता थे[2]। बुद्धोके अंगुत्तरनिकायमें उनके मतकी गणना मुण्डक श्रावकके नामसे की गयी है। मुण्डक मतके लोग वनमें रहनेवाले थे। ये तापसों तथा गृहस्थ विप्रोंसे अपनेको पृथक् दिखानेके लिये सिर मुड़ा-कर भिक्षावृत्तिसे अपना उदर पोषण करते थे। किन्तु वेदसे उनका विरोध[3] नही था। इनके मतपर पार्श्वनाथके धर्मोपदेशका प्रभाव लक्षित होता है।

नचिकेता उपनिषद्कालके एक वैदिक ऋषि थे। उनके विचारोंपर भी पार्श्व-नाथका प्रभाव दृष्टिगोचर होता है। ये भारद्वाजके समकालीन थे तथा ज्ञान यज्ञको मानते थे। इनकी मान्यताके मुख्य अंग थे इन्द्रियनिग्रह, ध्यानवृद्धि, आत्माके अनीश्वर रूपका चिन्तन, तथा शरीर और आत्मका पृथक् बोध।

१. कैम्ब्रिज हिस्ट्री ऑफ इण्डिया, पार्ट १, पृ० १८०
२. Dialogues of Buddha, Part 2, Page 22
३ बृहदारण्यकोपनिषद्, ४।३।२२

इस प्रकार पार्श्वनाथका प्रभाव उस समयके सम्प्रदायो और ऋषियो पर दिखलायी पडता है।

पार्श्वनाथके धर्मको चातुर्याम धर्म कहा गया है। इसका स्वरूप १ सर्वथा प्राणातिपातविरमण हिंसाका त्याग, २ सर्वथामृषावादविरमण असत्य का त्याग, ३ सर्वथा अदत्तादानविरमण चौर्य त्याग और ४ सर्वथा वहिस्थादानविरमण परिग्रह त्याग रूप है। यह आत्म-साधनाका पवित्र मार्ग है। चातुर्याम धर्म का वास्तविक रहस्य चार प्रकारके पापोंसे विरक्त होना है। पार्श्वनाथके काल तक ब्रह्मचर्यव्रतको पृथक् स्थान प्राप्त नही हुआ था, पर इसका अर्थ यह नही है कि उनके समयकी श्रमण-परम्परामे ब्रह्मचर्यकी उपेक्षा थी। इस परम्पराके श्रमण स्त्रीको भी परिग्रहके अन्तर्गत समझ कर, स्त्रीका त्यागकर ब्रह्मचर्य धारण करते थे। धन-धान्यके समान स्त्री भी बाह्य वस्तु होने से बहिस्थादानके अन्तर्गत थी।

इतिहासके आलोकमे पार्श्वनाथ

तीर्थंकर पार्श्वनाथ ऐतिहासिक व्यक्ति थे, यह अनेक प्रमाणोसे सिद्ध हो चुका है। जैन साहित्य ही नही, बौद्ध साहित्य भी तीर्थंकर पार्श्वनाथकी ऐतिहासिकताको स्वीकार करता है। डा० जेकोबीने बौद्ध साहित्यके उल्लेखोके आधारपर निर्ग्रन्थसम्प्रदायका अस्तित्व प्रमाणित करते हुए लिखा है "यदि जैन और बौद्ध सम्प्रदाय एकसे ही प्राचीन होते, जैसाकि बुद्ध और महावीरकी समकालीनता तथा इन दोनोको इन दोनो सम्प्रदायोका सस्थापक माननेसे अनुमान किया जाता है, तो हमे आशा करनी चाहिये कि दोनोने ही अपने-अपने साहित्यमे अपने प्रतिद्वन्द्वोका अवश्यही निर्देश किया होता, किन्तु बात ऐसी नही है। बौद्धोने तो अपने साहित्यमे, यहाँ तककि त्रिपिटकोमे भी निर्ग्रन्थो का वहुतायतसे उल्लेख किया है। इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि बौद्ध निर्ग्रन्थ-सम्प्रदायको एक प्रमुख सम्प्रदाय मानते थे। किन्तु निर्ग्रन्थोकी धारणा इसके विपरीत थी और वे अपने प्रतिद्वन्द्वोकी उपेक्षा तक करते थे। इससे हम इस निर्णयपर पहुँचते हैं कि बुद्धके समय निर्ग्रन्थ-सम्प्रदाय कोई नवीन स्थापित सम्प्रदाय नही था। यही मत पिटकोका भी जान पडता है।[1]"

डा० श्रीहीरालालजी जैनने लिखा है "बौद्ध ग्रन्थ 'अगुत्तरनिकाय', 'चत्तुक्कनिपात' (वग्ग ५) और उसकी 'अट्ठकथा'मे उल्लेख है कि गौतम बुद्धका

१ Indian antiquary, volume 9th, Page 160

चाचा (वप्प शाक्य) निर्ग्रन्थ श्रावक था। पार्श्वापत्यों तथा निर्ग्रन्थ श्रावकोंके इस प्रकार के और भी अनेक उल्लेख मिलते हैं जिनसे निर्ग्रन्थ धर्मकी सत्ता बुद्धसे पूर्व भली-भाँति सिद्ध हो जाती है[1]।"

बौद्ध ग्रन्थोंमे निर्ग्रन्थोंके चातुर्यामका उल्लेख मिलता है और उसे निर्ग्रन्थ नातपुत्र (महावीर)का धर्म कहा गया है, पर इसका सम्बन्ध पार्श्वनाथकी परम्पराके साथ है, महावीरके साथ नही। अत जैन मान्यतामे चातुर्यामका उल्लेख पार्श्वनाथके साथ पाया जाता है, महावीरके साथ नही। महावीर तो पचयाम व्रतके सस्थापक हैं। बौद्धधर्ममे निर्ग्रन्थोंकी जिन व्यवस्थाओंका वर्णन आया है, वह महावीरकी न होकर पार्श्वनाथकी परम्पराका होना चाहिये।

मज्झिमनिकायके 'महासिहनादसुत्त'मे (पृ० ४८-५०) बुद्धने अपने प्रारम्भिक कठोर तपस्वी जीवनका वर्णन करते हुए तपके चार प्रकार बतलाये है, जिनका उन्होने स्वय पालन किया था। वे चार तप हैं तपस्विता, रूक्षता, जुगुप्सा और प्रविविक्तता। तपस्विता का अर्थ है नगे रहना, हाथमे भिक्षा भोजन करना, सिर-दाढीके बालोको उखाडना, कटकाकीर्ण स्थलपर शयन करना। रूक्षताका अर्थ है शरीरपर मैल धारण करना या स्नान न करना, अपने मैलको न अपने हाथसे परिमार्जित करना और न दूसरेसे परिमार्जित कराना। जुगुप्साका अर्थ है जलकी बूदतक पर दया करना और प्रविविक्तताका अर्थ है- वनोमे अकेले रहना।

ये चारो तप निर्ग्रन्थ-सम्प्रदायमे आचरित होते थे। भगवान् महावीरने स्वय इनका पालन किया था तथा अपने निर्ग्रन्थोके लिये भी इनका विधान किया था। किन्तु बुद्धके दीक्षा लेनेके समय महावीरके निर्ग्रन्थ-सम्प्रदायका प्रवर्तन नही हुआ था। अत अवश्य ही वह निर्ग्रन्थ सम्प्रदाय महावीरके पूर्वज भगवान् पार्श्वनाथका था। जिसके उक्त चारो तपोको बुद्धने धारण किया था। किन्तु पीछे उनका परित्याग कर दिया था[2]। इस प्रकार तीर्थंकर पार्श्वनाथकी ऐतिहासिकता असदिग्ध है। जैनधर्म अहिंसापरक है। यह क्रान्तिमे आस्था रखता है और आक्षेप एव दुराग्रह को स्थान नही देता। तीर्थकरोकी परम्परासे उपर्युक्त तथ्य स्पष्ट है।

१. भारतीय सस्कृति मे जैनधर्म का योगदान, मध्यप्रदेशशासन-साहित्यपरिषद्, भोपाल, सन् १९६२, पृ० २१

२ जैन साहित्य का इतिहास, पूर्व पीठिका, श्रीगणेश प्रसाद वर्णी जैन ग्रन्थमाला, वाराणसी, प्रथम-सस्करण, पृ० २१२-२१३

परम्परा : अन्तिम शृंखला–महावीर

तीर्थंकर पार्श्वनाथके २५० वर्ष पश्चात् प्रगतिशील परम्पराके सस्थापक २४वें तीर्थंकर महावीर हुए। इन्होने अपनी व्रत-सम्बन्धी प्रगतिशील क्रान्तिके द्वारा जैनधर्मको युगानुकूल रूप दिया। तीर्थंकरोकी यह परम्परा वैज्ञानिक दृष्टिसे सत्यका अन्वेषण करनेवाली एक प्रमुख परम्परा रही है। निश्चय ही महावीर धर्म प्रवर्त्तक ही नही, अपितु महान् लोकनायक, धर्मनायक, क्राति-कारी सुधारक, सच्चे पथप्रदर्शक और विश्वबन्धुत्वके प्रतीक थे। उनमे अलौकिक साहस, सुमेरु तुल्य अविचल दृढता, सागरोपम गम्भीरता एव अद्भुत सहनशीलता विद्यमान थी। उन्होने रूढिवाद, पाखण्ड, मिथ्याभिमान और वर्ण-भेदके अधकारपूर्ण गम्भीर गर्तमे गिरती हुई मानवताको उठानेमे अथक प्रयास किया। उनके कैवल्यालोकसे मानव-हृदयोका अज्ञान रूपी अधकार छिन्न हो गया और विनाशोन्मुख मानवता को त्राण प्राप्त हुआ।

महावीरकी साधना वीतरागताकी साधना थी। उन्होने विकृतियोसे मुक्त होकर शुद्ध चैतन्य स्वरूप परमात्म-तत्त्वको प्राप्त किया और विश्वके समाज-वाद, साम्यवाद, अहिसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रहका प्रशस्त मार्ग दिखाकर अमरत्वका सदेश दिया। रूढिवाद और अधविश्वासोका विरोधकर जनताको सही दिशामे बढनेका मार्ग-दर्शन किया और उन्हे शुद्ध चितन की तीव्रतम प्रेरणा दी।

इस प्रकार इस युग की तीर्थकर-परम्पराकी अतिम कडी भगवान् महावीर हैं। महावीरने जन-जीवनको तो उन्नत किया ही, साथ ही उन्होने साधनाका ऐसा मार्ग प्रस्तुत किया, जिस मार्गपर चलकर सभी व्यक्ति सुख और शाति प्राप्त कर सकते है। इनका साधना-पथ न किसी गुरुसे बधा था और न किसी शास्त्र से। वह बधा था उनके अपने भीतरकी स्वतन्त्र अनुभूतिसे। तीर्थंकर पार्श्व-नाथकी तीर्थपरम्पराके ढहते हुए घाटोका पुनरुद्धार इन्होने किया। श्रमणो की प्राचीन साधना श्रम, शाति और सयमकी थी। महावीरने भी इसी साधना-मार्गको गतिशील बनाया।

उनके ध्यानयोगकी साधना आत्म-साधना थी, भयसे परे थी, प्रलोभनोसे परे और राग एव द्वेषसे परे थी। वे नील गगनके नीचे हिंस्र जन्तुओसे भरे निर्जन वनमे ध्यानस्थ हो दिगम्बर मुद्रामे अविचल रहकर 'स्व'की शोध करते रहे। उनके मनमे कोई भी विकल्प नही था। वे लहर और तूफानोसे रहित प्रशात महासागरके समान स्थिर और निश्चल थे। मैत्री भावनाका सर्वोच्च

आदर्श, जिसे पुष्पोसे ही नही, कटकोसे भी प्यार था। सतानेवालेके प्रति भी एक सहज करुणा और कल्याणकी कामना विद्यमान थी। उनका चितन था, जो पा रहा हूँ, वह अपना किया ही पा रहा हूँ। जो भोग रहा हूँ, अपना किया ही भोग रहा हूँ। दूसरोका कोई दोष नही। दूसरे सुख-दु खमे निमित्त हो सकते है, कर्त्ता नही। कर्त्ता स्वय आत्मा ही होता है। जो कर्त्ता होता है, वही भोक्ता भी होता है। कर्त्ता कोई और भोक्ता कोई, यह नही हो सकता। महावीर समत्व-योगके साधक थे और वे करुणाके देवता थे। उन्होने विषको अमृत बना दिया और वैर-विरोधका शमनकर समता और शातिका मार्ग स्थापित किया।

•

द्वितीय परिच्छेद

जन्म-जन्मकी साधना

जीवनशोधन : सतत साधना

एक जन्मकी साधनासे कोई तीर्थंकर नही बन सकता। तीर्थंकर बननेके लिये अनेक जन्मोकी साधना अपेक्षित है। इस पदका पाना साधारण नही। इसके लिये आत्माका पूर्ण विकास परमविशुद्धि आवश्यक है। जीव अनन्त कालसे ससारमे जन्म-मरणकी परम्पराजन्य क्लेश-सततिको पा रहा है। शरीरमे ममत्व बुद्धि रखनेके कारण उसे ससारकी चौरासी लाख योनियोमे परिभ्रमण करना पडता है। महावीरके जीवको भी अगणित काल राग-द्वेषके अधीन हो ससार-परिभ्रमणमे व्यतीत करना पडा। उन्हे अहिसाका सर्वागीण प्रासाद निर्माण करनेके लिये कई जन्मो तक साधना करनी पडी।

स्वस्थ विचारका अकुर जीवनकी उर्वर भूमिमे तभी उत्पन्न हो सकता है, जब जीवनकी विकृतियां समाप्त हो जाती है और सत्य का आलोक दिखलायी पडने लगता है। तीर्थंकर महावीरको शुद्ध, बुद्ध और प्रचेता बननेके लिये एक

नही अनेक जन्मोमे साधना सम्पन्न करनी पडी। वस्तुत कर्मोकी कालिमाको सरलतापूर्वक दूर नही किया जा सकता है। मानव अनेक जन्मोमे सत्य और अहिंसाकी साधना करके ही अपनेको इस योग्य बना पाता है कि सत्य और अहिंसाकी प्रकाशकिरणे उसके रोम-रोमसे प्रादुर्भूत हो। इन्द्रियोकी दासताको उतार राग-द्वेपका विजयी बन सके।

तीर्थंकर पद बडे भाग्यशाली साधक पुरुष ही प्राप्त करते हैं। सामान्य सर्वज्ञ, सर्वदर्शी साधु हो जाना सुगम है, पर त्रिभुवनके महापुरुषोसे पूजित तीर्थंकरपद पाना सरल नही है। धर्मचक्रवर्तीका यह महान् पद अनेक जन्मोके श्रम और योगसाधनासे उपलब्ध होता है। मानव जन्मगत पूर्णताको प्राप्त करके ही तीर्थंकरपद प्राप्त कर सकता है। तीर्थंकरपद इसीलिये अनुपम है कि उन जैसा उस कालमे अन्य कोई नही होता। धर्मतीर्थके प्रवर्त्तक होनेके कारण वे बडे-बडे आचार्यों द्वारा वन्दनीय होते हैं। वे लोकके सर्वोपरि सर्वतोभद्र कल्याणकर्त्ता होते है। उनका तीर्थ धर्मशासन समस्त आपत्ति-विपत्तियोका अन्त करनेवाला, लोककल्याणक सर्वोदय तीर्थ होता है।

तीर्थंकरके शरीरका प्रत्येक परमाणु योगनिरत पूर्णता और विशुद्धताको प्राप्त कर शुद्ध पुद्गल स्कन्ध रूप हीरककी प्रभाको भी मन्द कर देता है। सहस्राधिक सूर्यके प्रकाशको भी उनकी प्रभा लज्जित करती है। वे महान्, सुन्दर, सुभग, समचतुरस्रसस्थान और वज्र वृपभनाराचसहननके धारी होते हैं। उनका अतुल बल, अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन और अनन्त सुख अपरिमेय होता है। ज्ञानावरणादि कर्मोके विनाशसे ज्ञानादि गुणोका पूर्ण विकास और प्रकाश तीर्थंकरमे पाया जाता है। वे जीवन मुक्त सच्चिदानद, शुद्ध आत्मा हो जाते हैं। अतएव शरीरका कोई विकार उनमे शेष नही रहता। उनकी आत्मा शुद्ध और शरीर भी शुद्ध हो जाते हैं। परका प्रभाव वहाँ नि शेष है। अतएव विकारके लिये कही अवकाश नही है। अन्तरगमे रागद्वेषादि नही उठते और बहिरगमे क्षुधा, तृपा, जन्म-मरण, रोग-शोक, भय-आश्चर्य आदि भी विकार नही रहता। विशुद्धिके पुज उन तीर्थंकरोमे शुद्ध, बुद्ध, परमोत्कृष्ट आत्मतत्त्वका प्रत्यक्ष दर्शन होता है। अतएव उनके निकट आधि-व्याधि नही रहती। फलस्वरूप बहुत दूर-दूर तक न तो दुर्भिक्षजन्य बाधा रहती है और न परस्परमे वैर-विरोध ही रहता है। सभी चर-अचर प्राणी प्रेममन्दाकिनीमे निमग्न हो जाते हैं। मानव क्या स्वर्गके देवगण भी उनके दर्शन कर अपने को पवित्र मानते हैं। उनकी धर्म-देशनासे ससारके सभी प्राणी पवित्र हो जाते हैं। भौतिकतामे भटकता हुआ मन केन्द्रित हो जाता है और आध्यात्मिक लोकतन्त्रकी सहजमे प्रतिष्ठा हो

जाती है। ऊँच-नीच, रक-राव, शत्रु-मित्र, कृष्ण-गौर आदिके भीतर रहने वाला भेद-भाव समाप्त हो जाता है और साम्य भावका तूर्यनाद होने लगता है। अहिंसा, सत्य और शान्तिका आलोक सर्वत्र व्याप्त हो जाता है।

तीर्थंकरके इस महनीय पदकी प्राप्ति एकाएक सम्भव नही है। इसकी प्राप्तिके लिये अनेक जन्मोमे उग्र तपश्चरण करना पडता है। राग-द्वेष और मोहको जीतनेके लिये कठोर प्रयास करना पडता है। सयम और ध्यानकी साधना करनी होती है, साथ ही कषाय और योगका निरोध कर सवर एव निर्जराकी प्राप्ति करनी पडती है। वास्तवमे अनेक जन्मो तक आत्म-शोधनका प्रयास करनेपर ही यह तीर्थंकरपद प्राप्त होता है।

अतीत पर्यायोमे महावीर : परिभ्रमण

महावीरके जीवने आत्मोत्थानके लिये अनेक जन्मोमे साधना सम्पन्न की। मनुष्य और तिर्यञ्च पर्यायोके अतिरिक्त उन्हे नरकादि पर्यायोमे भी परिभ्रमण करना पडा है। तत्त्वज्ञान और आत्मानुभूतिकी प्राप्तिके क्रममे कभी वे पथभ्रष्ट हुए, पतित हुए, तो कभी वे साधनाके उच्च शृग पर आरूढ हुए। यह सत्य है कि महावीरका लक्ष्य अनेक अतीत जन्मोमे भी सत्यकी साधना रहा है। वे सत्यके मूल स्वरूपको पकडनेके लिये सचेष्ट रहे है। उनके अतीत जन्मोकी साधना इस बातका प्रमाण है कि पथ या सम्प्रदायकी सकुचित-दृष्टि सत्यको सान्त और खण्डित कर डालती है। साम्प्रदायिक भावना सत्यको विकृत कर देती है। महावीरके जीवने जब-जब साम्प्रदायिक सकुचित दृष्टिकोणको अपनाया तब-तब वे साधनाके पथसे विचलित होकर निम्न मार्गकी ओर परावृत्त हुए। आत्माके शुद्ध स्वरूपको अवगत किये विना उनको साधना सफल नही हो सको। अत भवबन्धनोसे विमुक्त होनेके लिये आत्म-निष्ठा, तत्त्वज्ञान और आत्माचरण नितान्त आवश्यक है। जब तक कर्मका आवरण विद्यमान है, तब-तक साधकके जीवनमे पूर्ण प्रकाश प्रादुर्भूत नही हो सकता।

विवेक और वैराग्यकी साधना ही भवबन्धनसे छुटकारा दिला सकती है और यही निर्वाण प्राप्तिका साधन है। यहाँ यह स्मरणीय है कि प्रत्येक आत्मा मे परमात्म ज्योति विद्यमान है, प्रत्येक चेतनमे परम चेतन समाहित है। चेतन और परम चेतन दो नही हैं, एक है। अशुद्धसे शुद्ध होनेपर चेतन ही परम चेतन बन जाता है। कर्मावरण के कारण आत्मा ससार मे भटकती है और जब कर्म बन्धनोसे छुटकारा मिल जाता है, तब वह शाश्वत सुखको प्राप्त कर लेती है। महावीरकी अतीत जीवन गाथा भी ऐसी है, जो मानव को मानवता की ओर अग्रसर कर परमात्मा बननेको प्रेरणा देती है।

मूल्यवान : अतीतपर्याय

यो तो यह जीव अनादि कालसे ससार परिभ्रमण करता चला आ रहा है। इसकी उन असख्यात पर्याय जन्मोका कोई महत्त्व नही है, क्योकि जिन पर्याय या जन्मोमे इसने अपनी आत्मशक्तिके विकासका कोई प्रयास नही किया। पर्याय या जन्म वही महत्त्वपूर्ण या मूल्यवान है, जिसमे व्यक्ति जन्म-मरणके चक्रसे मुक्ति प्राप्त करनेके लिये सकल्प या साधनाका आरम्भ करता है। विगत उन अगणित जन्मो का कोई महत्त्व या मूल्य नही है, इसलिए कि जिनमे चेतनके स्वरूप बोधके प्राप्त करने का प्रयास नही हुआ है। वस्तुत जीवनके दो रूप है १ मर्त्य जीवन और २. अमर्त्य जीवन। जिस जीवनमे क्षण-भगुर विषम भोगोकी तृप्तिका प्रयास किया जाता है, वह मर्त्य जीवन है और यह जीवन मूल्यहीन है। मूल्यकी प्रतिष्ठा अमर्त्य जीवनमे होती है। यह जीवन अमृत और अमर इसीलिये कहा जाता है कि इसमे धर्म-अकुर उत्पन्न होता है, अथवा धर्मका बीज वपन किया जाता है।

तीर्थंकर महावीरके अगणित और संख्यातीत जन्मोमे भिल्ल जीवनका सबसे अधिक महत्त्व और मूल्य है। क्योकि इसी जीवनमे उन्हे योगिराजका आशीर्वाद मिला और मोहग्रन्थिको भेदन करनेके लिये निष्ठाकी प्राप्ति हुई। इसी जीवनमे अहिसाका बीज वपन हुआ। हिसानन्दी पुरुरवा भील किस प्रकार करुणावृत्तिके कारण तीर्थंकर महावीरके पदको प्राप्त हुआ, यह मननीय और चिन्तनीय है। वास्तवमे वही मनुष्यजन्म सफल है, जिसमें आत्मोत्थानकी प्रेरणा प्राप्त हो, जिस जीवनसे साधनाका मार्ग आरम्भ हो और जीवनका तिमिर छिन्न होकर ज्ञान का आलोकदीप प्रज्वलित हो सके।

पुरुरवापर्याय : मंगल प्रभात

तीर्थंकर महावीर बननेका उपक्रम भिल्लसरदार पुरुरवाके जीवनसे होता है। यह सरदार पुण्डरीकिणी नगरीसे दूरवर्ती मधुक नामक अरण्यमे निवास करता था। अनेक भिल्ल इसकी सेवामे तत्पर रहते थे तथा इसकी आज्ञाका पालन करना वे अपना परम कर्त्तव्य समझते थे। इस पुरुरवाकी पत्नीका नाम कालिका था, जो अत्यन्त भद्र परिणामी और कल्याणकारिणी थी। भिल्लराज अपने साथियोके साथ दस्यु कर्म करता हुआ आखेटमे सलग्न रहता था। एक दिन पति-पत्नी वन विहारके लिये गये। पुरुरवाने वृक्षोंके झुरमुटमे दो चमकती आँखे देखी। उसने अनुमान लगाया कि वहाँ कोई जगली जानवर स्थित है। अतएव धनुष पर बाण चढ़ाया और सघन वृक्षोंके बीच स्थित उस व्यक्तिका वध करना चाहा। कालिकाने बीचमे रोक कर कहा "नाथ! वहाँ शिकार

नही है वनदेवता हैं। यदि जगली जानवर होता, तो उसकी इतनी शान्त चेष्टा नही हो सकती थी।" पुरुरवा आश्चर्य चकित हो गया और वह उस झुर-मुटकी ओर चला। वहाँ उसने पहुँच कर देखा कि एक मुनि ध्यानस्थ है। पति-पत्नीने भक्ति विभोर होकर मुनिकी वन्दनाकी और फल-पुष्पोसे अर्चना की। इन निर्ग्रन्थ योगिराजका नाम सागरसेन था। ध्यानसमाधि टूटनेपर मुनिराज ने पुरुरवाको निकट भव्य जान धर्मोपदेश देना प्रारम्भ किया "भिल्लराज! क्यो मोहमे पडे हो? निरीह प्राणियोकी हिसा करते हुए तुम्हे कष्ट नही होता? दु खका कारण हिंसा, झूठ, चोरी आदि पाप है। यदि तुम अपने जीवनकीधारा-को परिवर्तित कर दो, तो सुख-शाति प्राप्त करनेमे तनिक भी कठिनाई न हो। तुम इस शरीरको अपना मानते हो, यह भ्रान्ति है। यह शरीर तो यही रह जाता है मिट्टीमे मिल जाता है। इस शरीर-मन्दिरमे जो बोलता हुआ हस है, वह उड जाता है। वह हस तुम हो। अतएव तुम अमर हो, शरीरके नाश होनेपर भी तुम रहोगे। फिर इस शरीरसे क्यो मोह करते हो? क्यो प्राणियो-की हिसामे सलग्न हो? पथिकोको लूट कर उनका सर्वस्व अपहरण करना क्या उचित है।"

मनोविज्ञानी मुनिराजने भिल्लराजके मनको पुन झकझोरते हुए कहा "मनुष्य-जन्म पाना दुर्लभ है। इस दुर्लभ रत्नको प्राप्त कर हिसा और चोरीमे सलग्न रहना ठीक नही है।" भिल्लराज कहने लगा "महाराज! मै भिल्लो-का सरदार हूँ। मेरे साथी जो लूट-पाट कर लाते है, उसमे मेरा हिस्सा रहता है। मै हिंस्र जीवोको मारकर मार्गको निरापद बनाता हूँ।" मुनिराज कहने लगे "अरे, भोले जीव! तुम नही समझते हो कि पापाचरणमे कोई किसीका साथी नही होता है। पाप कभी सुखका कारण नही बन सकते। इनके सेवनसे अन्तरात्मा कलुषित हो जाती है और व्यक्ति अपने निज स्वरूपको भूल जाता है। यह मोहोदयका परिणाम है कि आपके मुखसे इस प्रकारकी बाते निकल रही है। सात्त्विक प्रवृत्तिको प्रत्येक व्यक्ति सुखप्रद मानता है। जो पापका सेवन करता है, उसको राजदण्ड, समाजदण्ड और जातिदण्ड प्राप्त होता है। हिंसा कभी सुखदायक नही हो सकती।"

भिल्लराज मुनिके उपदेशसे अत्यधिक प्रभावित हुआ। उसने पत्नी सहित मुनिराजसे अहिंसाणुव्रत ग्रहण किया और उसका तत्परता पूर्वक पालन किया। अहिंसक आचरणसे पुरुरवाका जीवन ही बदल गया, वह समभावी बन गया। जो जीव-जन्तु पहले उसके पास आते हुए भयभीत रहते थे, वे अब निर्भय होकर पास आने लगे और उससे प्यार करने लगे। भिल्लराजके हृदयमे दया और

करुणाका सरोवर उत्पन्न हो गया। इस प्रकार भगवान् महावीरकी जीवात्माने आत्मोत्थानकी साधना इस भिल्लपर्यायमे प्रारम्भ की। इस पर्यायमे उसने श्रावकके द्वादश व्रतोका अभ्यास किया। आयुके अन्तमे भीलका जीव इस नश्वर शरीरको छोडकर स्वर्गमे देव हुआ। पूर्व सस्कार वश वह स्वर्गके दिव्य भोगोमे आसक्त नही हुआ, किन्तु धर्माराधनामे समय व्यतीत करता रहा। सौधर्म स्वर्गकी आयु समाप्त कर वह जीव भारतवर्षके आदि चक्रवर्ती भरतका 'मरीचि' नामक पुत्र हुआ।

मरीचि आदि तीर्थंकर ऋषभदेवके साथ ही दिगम्बर मुनि हो गये, किन्तु वे तपस्वी जीवनकी कठिनाईयोको सहन न कर सके। मरीचि वन मे रहकर अपने शरीरकी शीत-आतपसे रक्षा करता हुआ, वनके फल खाकर समय व्यतीत करता रहा। वह रत्नत्रयके मार्गपर दृढ न रह सका और उस मार्गसे च्युत हो एक मिथ्या सम्प्रदायके प्रचारमे सलग्न हो गया। सत्यकी ओर वह वढा हुआ, वीचमें ही रुक गया। उसका जीवन परीपहोके झटकोको सह नही सका। फलत वह विचलित हो गया।

पुरुरवाके जन्ममे जो सस्कार अर्जित किये थे, वे अव धूमिल होने लगे। जीवनका यथार्थ अर्थ उसके नेत्रोसे ओझल होने लगा। जहाँ शरीर आत्माके लिये होता है, आध्यात्मिक विकासमे सहयोग प्रदान करता है, वहाँ जीवन प्राणवान बन जाता है। इसके विपरीत जहाँ शरीर अपने आपमे साध्य बन जाता है, आत्माके विकासकी उपेक्षाकी जाती है, वहाँ चेतनके स्थान पर जडकी प्रतिष्ठा हो जाती है। विश्वास, विचार और आचार इन तीनोका सम्यक् होना आवश्यक है। मरीचि सम्यक् आचार-विचार और श्रद्धाको छोड काय-क्लेशमे प्रवृत्त हुआ। वह पचाग्नि तप करता तथा सूर्यके समक्ष दृष्टि कर एक पैर पर खडा होकर दिनभर तपश्चरण सलग्न रहता। अज्ञानतापूर्वक किया गया तप भी किंचित् फल देता है। अतएव काय-क्लेशके प्रभावसे मरीचिने मरकर ब्रह्मस्वर्गमे देवपर्याय प्राप्त किया। अव वह अहिसा-सस्कारसे दूर भटक गया था, भोगोमे मग्न रह रहा था। वहाँसे भोग भोगकर महावीरके इस जीवने मनुष्यपर्याय प्राप्त किया।

महावीर जटिलपर्याय : पतनकी ओर

महावीरका यह जीव ब्रह्मस्वर्गसे च्युत होकर अयोध्या नगरीमे कपिल ब्राह्मणके यहाँ जटिल नामक पुत्र हुआ। कपिलकी स्त्रीका नाम काली था। इन दोनोकी जटिलके प्रति अपूर्व ममता थी। जटिलने वेद-स्मृति आदि ग्रन्थोका

अध्ययन कर पूर्ण पाण्डित्य प्राप्त किया और कुमारावस्थामे ही ससार छोड सन्यास मार्ग ग्रहण किया। जटिल आगमका विरुद्ध अर्थकर लोगोको कुमार्गकी शिक्षा देता और उन्हे एकान्त मार्गपर चलनेके लिये प्रेरित करता। जटिलने सन्यासी अवस्थामे अनेक प्रकारका दुर्द्धर तपश्चरण किया, पर उसकी साधना आध्यात्मिकतासे शून्य थी। वह अज्ञानतापूर्वक कठोर तपश्चरण करता रहा। आत्मा और परमात्माके परिज्ञानके अभावमे उसकी साधना सफल नही हो सकी। फलत वह साधनाकी अपूर्णताके कारण आयुका अन्त कर स्वर्गमे प्रथम देव हुआ।

पुरुरवापर्यायमे अहिंसाका जो वीज वपन हुआ था, वह अभीतक अकुरित न हो सका और महावीरका वह जीव उत्थानसे पतनकी ओर गतिशील होने लगा। यह सत्य है कि त्याग द्वारा अर्जित सस्कारोका कभी विनाश नही होता। यही कारण है कि इस जीवने भी सन्यास-मार्ग ग्रहणकर मिथ्या तपाचरण किया, पर अन्तरात्मामे स्थित सस्कार कभी-कभी जोर मारते रहे।

पुष्यमित्रपर्याय : अगतिशीलता

महावीरका वह जीव सौधर्म स्वर्गसे च्युत हो अयोध्यापुरीके स्थूणागार नगरमे भारद्वाज नामक ब्राह्मण और उनकी पुष्पदत्ता नामक पत्नीसे पुष्यमित्र नामक पुत्र हुआ। पुण्योदयके कारण पुष्यमित्रका पालन-पोपण समृद्धरूपमेसम्पन्न हुआ। उसने सस्कारवश थोडे ही दिनोमे वेद-पुराण आदि ग्रन्थोका अध्ययन किया। पुष्यमित्रका विवाह समारोहपूर्वक सम्पन्न हुआ। कुछ दिनोतक वह सासारिक सुख भोगता रहा। पत्नीका स्वर्गवास हो जानेके कारण उसके मनमे विरक्ति उत्पन्न हुई। मिथ्यात्वके उदयसे वह 'आत्म'-परिणतिका त्याग कर 'पर'-परिणतिमे प्रवृत्त हुआ। अपनी आत्माकी परमज्योतिको वह भूल गया। फलत उसके समस्त कार्य अध्यात्मपोपक न होकर शरीरपोषक ही होने लगे। फलस्वरूप कठोर साधना करनेपर भी शारीरिक कष्टके अतिरिक्त अन्य कोई उपलब्धि न हो सकी। कष्टसहिष्णुताके कारण मन्द कषाय होनेसे उसने देव आयुका वन्ध किया और फलस्वरूप स्वर्गमे प्रथम देव हुआ। इस देवपर्यायमे कर्मोदयसे प्राप्त संसारके सुखोका उपभोग करता रहा। सुखसामग्रीका जितना आधिक्य उसे उपलब्ध होता, उतनी ही उसकी बेचैनी बढती जाती थी। अतएव देवगतिके सुखोका उपभोग करते हुए भी उसे एक क्षणके लिये भी शान्ति प्राप्त न हुई। मरीचिके भवसे अगतिशीलताकी जो स्थिति उत्पन्न हुई थी, वह ज्योकी त्यो वनी रही। अज्ञानपूर्वक किये गये तपने जीवनमे न कोई गति उत्पन्न की और न किसी आलोकको ही प्रादुर्भूत होने दिया। विकासकी अपेक्षा ह्रास ही उत्पन्न होता रहा। अर्जित सस्कार अज्ञानतामे दवने लगे।

अग्निसह : हठयोगकी साधना

पुष्यमित्रके जीवनमे हठयोगकी साधना आरम्भकी गयी थी, वह साधना आवर्त्तकदशमलव गणितके समान बढ रही थी। अतएव पुष्यमित्रका वह जीव स्वर्गसे मरणकर भरत क्षेत्रमे श्वेतिक नामके नगरमे अग्निभूत ब्राह्मण और उनकी स्त्री गौतमीसे अग्निसह नामक पुत्र हुआ। इस पर्यायमे इसने धर्म, अर्थ और काम इन तीनो पुरुषार्थोका यथोचित सेवन किया। सन्यास सस्कार हो गया था, हठयोगकी साधना अभी अपूर्ण थी। फलत वह सन्यासी बना और उसका मधुर फल उसे स्वर्ग मिला।

स्वर्गके दिव्य भोग-भोगकर वह पुन एकबार अग्निमित्र नामक परिव्राजक हुआ और आशिक साधनाके फलस्वरूप, उसे पुन स्वर्ग सुख प्राप्त हुआ। इसमे सन्देह नही कि छोटा-सा अच्छा बीज भी मधुर फल उत्पन्न करता है। एक जन्ममें की गयी अहिसाकी आशिक साधना भी अनेक जन्मोमे फल देती है। अतएव वह स्वर्गसे च्युत हो, भारद्वाज नामक त्रिदण्डी साधु हुआ। मिथ्या श्रद्धाको वह दूर न कर सका। देवगतिके भोगोमें आसक्त हो गया। इस इन्द्रियासक्तिने उसे अनेक कुयोनियोमे परिभ्रमण कराया। पूर्वसचित शुभ-कर्मोदयसे, उसे मनुष्य जन्म भी मिला। इस जन्मको सार्थक करनेके लिये परि-व्राजक दीक्षा ग्रहणकी और अज्ञानपूर्वक तप किया। आत्मानुभवसे वह दूर रहा। फलत निर्वाण या आत्मकल्याणकी दिशाकी ओर वह प्रवृत्त न हो सका। यह सत्य है कि विवेकपूर्वक किया गया तप ही सिद्धिका कारण होता है।

विश्वनन्दी : नया मोड

मगध देश अपनी धनधान्य सम्पत्तिके लिये सदासे प्रसिद्ध रहा है। यह प्रदेश पवित्रता और रमणीयताकी संगमभूमि है। यहाँके कण-कणने प्राचीन कालसे ही जनमानसको आकृष्ट किया है। इस प्रदेशमे राजगृह नामक प्रसिद्ध नगर है, जिसमे विश्वभूति नामक राजा न्याय-नीतिपूर्वक शासन करता था। महा-वीरका वह जीव स्वर्गसे च्युत होकर इस राजाके यहाँ विश्वनन्दी नामक पुत्र हुआ। 'होनहार बिरवानके होत चीकने पात' नीतिके अनुसार विश्वनन्दी शैशव कालसे ही भविष्णु, प्रतिभाशाली और तेजस्वी दिखलायी पडता था। उसकी तेजस्विताको देखकर सभी आश्चर्य चकित थे। जो भी उस बालकको देखता था, वह उसके स्वभाव तथा गुणोकी प्रशसा किये बिना नही रहता था। समय पाकर विश्वनन्दी युवक हुआ। वह सभी विद्या और कलाओमे प्रवीण हुआ और उसका विवाह अनेक सुन्दरी कन्याओके साथ सम्पन्न हुआ। विश्वनन्दीके पराक्रम और प्रतापसे सभी प्रजा सतुष्ट थी और सभी लोग उसके स्वभावकी पुन पुन प्रशसा

करते थे। वह सेवा, त्याग, साहित्य, कला आदिको पूर्ण आदर प्रदान करता था। उसका अभिमत था "यदि जीवनमें सेवा, त्याग और सयम न रहे, तो जीवन निस्सार हो जाता है। यदि कला, साहित्य, काव्य और दर्शनकी सरिता पृथ्वीपर प्रवाहित न हो, तो पृथ्वी असुरोका अखाडा बन जाये। मानवताका प्रचार कला, काव्य और दर्शनके द्वारा ही होता है। जिसप्रकार शारीरिक स्वास्थ्यको ठीक रखनेके लिये पौष्टिक भोजनकी आवश्यकता होती है, उसी प्रकार आन्तरिक स्वास्थ्यको अनुकूल बनाये रखनेके लिये त्याग, सेवावृत्ति, कला और कौशलकी आवश्यकता है।" विश्वनन्दी अपने इस विचारके अनुसार सासारिक सुखोको भोगता हुआ भक्ति, सेवा और सयमकी ओर भी प्रवृत्त रहा। उसका जीवन आदर्श जीवन था। वह विषयभोगोसे उसी तरह अलिप्त था, जिसप्रकार कमलपत्र जलसे। भक्तियोग, कर्मयोग और ज्ञानयोग इन तीनों-का समन्वय उसके जीवनमे विद्यमान था।

विश्वभूतिके भाईका नाम विशाखभूति था और विशाखभूतिके पुत्रका नाम विशाखनन्दी। विश्वभूति एक दिन अपनी अट्टालिकापर बैठे हुए मेघोकी सुन्दर आकृतिका अवलोकन कर रहे थे। उन्होने सहसा देखा कि वह मेघाकृति वायुके एक झोकेसे क्षणभरमे छिन्न-भिन्न हो गयी। इस दृश्यके देखनेसे उनकी अन्त-रात्मा प्रभावित हुई और वे सोचने लगे कि मनुष्य-जन्मकी सार्थकता आध्या-त्मिक प्राप्तिमे है। यह भव चन्दनके काष्ठके समान है, जिसे क्षुद्र जन्तु कामोप-भोग- वासनाओंके कुण्डमे दग्धकर अकिंचिन प्रयोजनके हेतु नष्ट कर देते हैं, पर जो मननशील हैं, प्रबुद्धचेता हैं, वे इस काष्ठका घर्षण कर सुगन्ध प्राप्त करते हैं और इस गन्धसे अन्तरग एव बहिरंगको तृप्त कर लेते हैं। यह मनुष्य जन्म कितना महान् है। आज भी अन्य प्राणी उसी पूर्व अवस्थामे हैं, जिसमे अनादिकालमे थे और उनके सभी व्यापार उतने ही सीमित हैं, जितने पूर्व युगमे थे। मनुष्य ही एक ऐसा भव है, जिसमे अध्यात्म-सपत्तिका विकास सभव होता है। जो इस भवको प्राप्तकर सयम ग्रहण नही करता, अहिंसाका आचरण नही करता, उसका नर-जन्म पाना सार्थक नही है। वस्तुत इस मनुष्य-जन्मको तप, ज्ञान और चारित्रकी साधना द्वारा सार्थक बनाना ही जीवनका लक्ष्य है। मैने अबतक मोह और कषायके उदयसे अगणित वर्ष इन सासारिक विषयोमे व्यतीत कर दिए है। अतएव अब मुझे आत्मकल्याणके लिये प्रवृत्त होना चाहिये।"

इसप्रकार विचारकर विश्वभूतिने अपने भाई विशाखभूतिको बुलाकर कहा कि मैं अब ससारसे विरक्त होकर आत्मसाधनाके हेतु श्रमण-दीक्षा ग्रहण करना चाहता हूँ। अतएव "वत्स! तुम इस राज्यभारको ग्रहण करो।"

विशाखभूतिने अनुरोध करते हुए कहा "प्रभो, अभी कुछ दिनतक और शासन कीजिये। आपके रहते हुए हम निश्चिन्त हैं। हमे किसी प्रकारकी चिन्ता नही है। अभी आपका तारुण्य है। अत इन सासारिक भोगोको छोडकर श्रमण-दीक्षा ग्रहण करना उचित नही।" विश्वभूतिने उत्तर दिया "वत्स, मृत्यु किसीको नही देखती। उसकी दृष्टिमे रूप-कुरूप, ज्ञानी-अज्ञानी, पण्डित-अपण्डित, धनी-निर्धन, युवा-वृद्ध सभी समान है। अत आत्म-हितसाधनके लिये जितनी जल्दी प्रयास किया जा सके, श्रेयष्कर है।"

जीवन ओस कणके समान अस्थिर है। ससारके भोग देखते-देखते विलीन होनेवाले है। शरीर, धरा और भोग विद्युत्के समान चचल है। अत आत्मोत्थानमे सलग्न होनेके लिये प्रयत्नशील होना मेरे लिये आवश्यक है"।

इसप्रकार उत्तर प्रत्युत्तर सम्पन्न होनेके अनन्तर विश्वभूतिने अपने भाई विशाखभूतिका राज्याभिषेक करनेकी तैयारी की। राजगृह नगरीको पूर्णतया सज्जित किया गया। चारो ओर ध्वज, वन्दनवार लगाये गये। पुष्पमालाएँ प्रमुख मार्गोपर लटका दी गयी। चन्दन-कुमकुमसे छिडकाव किया गया। राजोचित सामग्रियाँ एकत्र की गयी। शखध्वनि हुई। तूर्यभेरी आदि वाद्य बज उठे। मगलाचार सम्पन्न किया गया। पुरोधाओने मत्रपाठ किया और विशाखभूतिको राज्यके पट्टपर प्रतिष्ठित किया गया।

प्रकृतिके अणु-अणुमे नवचेतना व्याप्त हो गयी। सहस्रदल कमल विकसित हो गये। पुष्पोका सौरभ और सुषमा जनमानसको आत्मविभोर बनाने लगी। मोहक वसतऋतुका साम्राज्य व्याप्त हो गया। ऐसे ही मनोरम समयमे विश्वभूतिने श्रमण-दीक्षा ग्रहण की। पच मुष्ठी लोञ्चकर गुरुसे दिगम्बर मुनिके व्रतोकी याचना की और उन व्रतोको ग्रहणकर वे देशान्तरमे विहार कर गये।

विशाखभूतिने अपने बडे भाई विश्वभूतिके पुत्र विश्वनन्दीको पराक्रमशाली और तेजस्वी समझ युवराजके पदपर प्रतिष्ठित किया। विश्वनन्दी अपने कार्योमे पूर्णतया सतर्क और सावधान रहता था। वह राज-काजमे भी यथेष्ट सहायता प्रदान करता था। उसने अपने विलासके लिये एक सुन्दर उद्यान बनवाया और उसमे आनन्दपूर्वक निवास करने लगा। इस उद्यानमे आम, अशोक, अनार आदिके अगणित वृक्ष थे। उसकी सुन्दरता और मध्यमे निर्मित सरोवरकी रमणीयताको देखकर मनुष्योकी तो बात ही क्या, देवोका भी मन चचल हो जाता था। सरोवरके मध्य रक्त, पीत, हरित आदि नाना वर्णके कमल विकसित हो रहे थे। सरोवरके घाट सुन्दर बनाये गये थे, जिनपर हस, मयूर आदिकी आकृतियाँ अकित की गयी थी। विभिन्न प्रकारकी लताएँ

और उनसे निर्मित लतामडप अद्भुत सौन्दर्यका सृजन करते थे। उद्यानके मध्यमे विश्राम करनेके हेतु मणि-माणिक्योसे खचित शिलातल निर्मित किये गये थे। सभी मिलाकर वह उद्यान राजगृह नगरके सौदर्यका प्रतिमान था।

एक दिन वाटिकाके उसी मार्गसे विशाखभूतिका पुत्र विशाखनन्दी जा रहा था। जब उसकी दृष्टि उस मनोरम वाटिकापर पडी, तो उसका मन उछलने लगा। वह सोचने लगा "यो तो मैने अनेक बार इस वाटिकाके दर्शन किये है, किन्तु आज यह मुझे सबसे अधिक सुन्दर लग रही है। इस उद्यानकी प्राप्तिके अभावमे तो यह जीवन ही व्यर्थ है। वह शुभावसर कब प्राप्त होगा, जब मै इसे विश्वनन्दीसे छीनकर अपना स्वत्व स्थापित कर सकूँगा।"

राजकार्य सरल रेखाकी गतिसे नही चलता। इसमे अनेक वक्रताओका उत्पन्न होना स्वाभाविक है। अचानक विशाखभूतिको समाचार प्राप्त हुआ कि कामरूपका समीपवर्ती राजा विद्रोही हो गया है। उसने कर देना वन्द कर दिया है और विशाखभूतिकी आज्ञा माननेसे भी इन्कार कर रहा है। राजदूत और चरोने भी आकर वतलाया कि कामरूपनरेश राजाज्ञाको नही मान रहा है। उसने राजगृहके राजदूतको वहाँसे निर्वासित कर दिया है और अपनेको स्वतत्र घोषित कर दिया है।

इस समाचारसे विशाखभूति चिन्तित हुआ और उसने राजसभामे अपना विचार सामन्तोंके समक्ष रखा। अमात्य और सामन्तोने अपने-अपने विचार प्रकट करते हुए कहा—"अव इस विद्रोहको शमन करनेके लिए ससैन्य आक्रमण करना चाहिये। इस प्रकार तो सभी नरेश स्वतत्र होते जायेंगे और राजगृहकी सत्ता ही समाप्त हो जायगी।"

सभाके इस विचारको सुनकर युवराज विश्वनन्दी कहने लगा। "तात, मेरे रहते हुए आपको युद्धभूमिमे जानेकी आवश्यकता नही है। आप मेरे बल-पौरुष पर विश्वास कीजिये। मै थोडी-सी सेना लेकर ही जाऊँगा और राजविद्रोहीको कैदकर आपके सामने उपस्थित कर दूँगा। कामरूपनरेश अभी हमारी शक्तिसे अपरिचित है। उसे यह नही मालूम कि मागधोमे कितनी शक्ति है? हमारा प्रत्येक सामन्त कामरूपनरेशको परास्त करनेकी क्षमता रखता है। मै सामन्तोके ऊपर इस दायित्वको छोड़ना नही चाहता। अतएव आप मुझे आदेश दीजिये। मै कामरूपनरेशको वदी बनाकर कुछ ही दिनोमे यहाँ उपस्थित कर दूँगा।"

युवराज विश्वनन्दीके अत्यधिक आग्रहको देखकर विशाखभूतिने उसे आक्र-

मण करनेका आदेश दिया। रण-वाद्य बज उठे। वीर सैनिकोने युद्धभूमिमे सम्मिलित होनेके हेतु तैयारियाँ आरम्भ की। तलवारोकी खनखनाहट और कवचोकी झनझनाहटने आकाशको पूरित कर दिया। शुभ मुहूर्तमे विश्वनन्दीके नेतृत्वमे चतुरगिणी सेनाने प्रस्थान किया और कुछ दिनो तक निरन्तर प्रयाण करनेके पश्चात् राजगृहवाहिनीने कामरूपकी सीमामे प्रवेश किया। कामरूपनरेशने भी युद्धके निमित्त अपनी सेना तैयार की और निश्चित समयपर दोनो ओरकी सेनाओमे युद्ध होने लगा। राजगृहके कुशल सैनिकोके समक्ष कामरूपके सैनिक ठहर न सके। कुछ ही घण्टोके युद्धके पश्चात् भगदड मच गयी। सेना अस्त-व्यस्त हो गयी और कामरूपनरेश वदी बना लिया गया।

विश्वनन्दी उसे युद्धबन्दी बनाकर राजगृह ले आया और विशाखभूतिके समक्ष उपस्थित किया। सम्राट् विशाखभूतिने कामरूपनरेशके समक्ष सधिको शर्तें प्रस्तुत की, जिनका पालन करनेका उसने पूर्ण वचन दिया। कामरूप-नरेश स्वतत्र कर दिया गया और दण्डस्वरूप उससे पाँचसौ हाथी एव पाँच सहस्र स्वर्णमुद्राएँ ले ली गयी।

युवराज विश्वनन्दी जब उद्यान-विहारके लिये पहुँचा, तो उसने वहाँ देखा कि विशाखनन्दीने उसकी अनुमतिके बिना उद्यानपर अधिकार कर लिया है। उद्यानके मध्यमे निर्मित उत्तुङ्ग भवनके द्वारोपर उसने अपने पहरेदारोको नियुक्त कर दिया। फलतः जब विश्वनन्दी महलमे प्रवेश करने लगा, तो पहरे-दारोने उसे रोका और कहा "राजकुमार विशाखनन्दीकी आज्ञाके बिना आप इसमे प्रवेश नही कर सकते। अब यह भवन और वाटिका आपकी नही रही, विशाखनन्दीकी है। कुमारकी आज्ञाके बिना यहाँ कोई भी नही आसकता और न इस वाटिकामे विहार ही कर सकता है।"

विश्वनन्दी सोचने लगा कि इन निरीह प्रतिहारियोसे सघर्ष करना व्यर्थ है। यो तो अपने चचेरे भाई विशाखनन्दीसे भी मै झगडा करना नही चाहता। अतएव पहले मै उसे यहाँ बुलाकर बातें कर लेना आवश्यक समझता हूँ, जिससे परस्परकी मिथ्या धारणा दूर हो जाये।

अपने उक्त विचारानुसार उसने कुमार विशाखनन्दीको बुलाकर कहा "वत्स, तुमने मेरी अनुमतिके बिना उद्यानपर क्यो अधिकार कर लिया है और क्यो वहाँपर अपने प्रतिहारियोको नियुक्त किया है? मै कुछ कारण समझ नही सका हूँ। यदि तुम्हे वाटिकासे प्रेम है, तो तुम्हारे लिये दूसरी वाटिकाकी

व्यवस्था की जा सकती है। छोटी-सी बातोको लेकर पारिवारिक कलह करना उचित नही है। परिवारमे तभी शान्ति और एकता विद्यमान रहती है, जब परस्परमे उदारतापूर्ण प्रेमका व्यवहार किया जाये। अतएव तुम उद्यानपरसे अपना अधिकार हटा लो।"

विश्वनन्दीके इस कथनको सुनकर विशाखनन्दीने उत्तर दिया "यह उपवन मुझे मेरे पिताने दिया है और अब मैं इसका स्वामी हूँ। अतएव मैं इसे यो ही वापस नही कर सकता। यदि सामर्थ्य है, तो तुम लडकर इसे ले लो।"

विश्वनन्दी क्रोधाविष्ट हो विशाखनन्दीको मारनेके लिये दौड़ा। विशाखनदी भयसे आतकित हो एक उन्नत वृक्षके ऊपर चढ गया। कुमार विश्वनन्दीने उस उन्नत कपित्थ वृक्षको जडसे उखाडकर फेक दिया और उसे मारनेके लिये उद्यत हुआ। यह देख विशाखनन्दी वहाँसे भागा और एक पाषाण स्तम्भके पीछे छिपकर बैठ गया। शक्तिशाली विश्वनन्दीने अपने मुष्टिप्रहारसे उस पत्थरके स्तम्भको चूर-चूर कर डाला। अब विशाखनन्दीको कही छिपकर प्राण बचानेका स्थान नही था। अत वह पलायनवादी नीति स्वीकार कर वहाँसे भागा। जब कुमार विश्वनन्दीने अपने अपकार करनेवालेको इसप्रकार भागते हुए देखा तो उसका सौहार्द और करुणा जागृत हो उठी। उसने कुमारको रोकते हुए कहा— "भय मत करो। तुम मेरे भाई ही हो। मै अब तुम्हारे ऊपर शस्त्र प्रहार नही करूँगा। तुम्हारे प्रति मेरे हृदयमे ममता है। मैं तुम्हे अपना उपवन देनेको तैयार हूँ। अब जब तुम आत्मसमर्पण करनेको प्रस्तुत हो, तो मुझे उपवन देनेमे किसी भी प्रकारकी आपत्ति नही है। यदि यह कार्य पहले ही किया गया होता, तो न तुम्हे कष्ट होता और न मुझे ही क्लेशका अनुभव करना पडता।"

इसप्रकार विशाखनन्दीको सात्वना देकर विश्वनन्दीने उसे वह वाटिका सौंप दी। अब विश्वनन्दी ससारकी स्वार्थपरताके सम्बन्धमे सोचने लगा- "मैंने इस ससारकी स्वार्थपरता देख ली। चाचाजीने मुझे कामरूपनरेशको वश करनेके लिये भेजा और मेरी अनुपस्थितिमे मेरी वाटिकापर विशाखनन्दीका आधिपत्य करा दिया। विशाखनन्दीमे न शारीरिक बल ही है और न आत्मिक बल। उसका मनोबल इतना कमजोर है कि वह मेरा तो क्या किसी अच्छे सैनिकका भी सामना नही कर सकता। यह ससार स्वार्थोंका अखाडा है। इसकी अनित्यता और अनिश्चितता सभीको कष्ट देती है। कषाय और असयमके कारण अनेक गतियोमे परिभ्रमण करना पडता है। यह मनुष्यजीवन आत्मोत्थानके लिये प्राप्त हुआ है। यदि इस जीवनको सार्थक न किया गया, तो फिर पश्चात्ताप ही करना पडेगा। अतएव इन्द्रिय और मनका नियन्त्रणकर आत्मकल्याणमे

प्रवृत्त होना चाहिए। जीव अनादि कालसे इस संसारमे पंचपरावर्त्तन करता चला आ रहा है। जब सयमकी प्राप्ति हो जाती है, तभी इन परावर्त्तनोसे छुटकारा प्राप्त होता है। अतएव अब मुझे रत्नत्रयकी आराधनामे प्रवृत्त होना है।"

इसप्रकार विचार कर विश्वनन्दीने श्रमण-दीक्षा ग्रहण करनेका निश्चय किया। वह अपने चाचा विश्वभूतिके समीप पहुँचा और निवेदन करने लगा "तात! मैने ससारके रहस्यको ज्ञात कर लिया है और भेदविज्ञान द्वारा मुझे आत्मदृष्टि प्राप्त हो गयी है। आप मुझे दिगम्बर-दीक्षा ग्रहण करनेकी अनुमति दीजिए। मै अब सच्चे पुरुषार्थमे प्रवृत्त होना चाहता हूँ। मानवशरीरकी प्राप्ति बडे सौभाग्यसे होती है, इसे प्राप्तकर साधना द्वारा कर्मसततिको नष्ट कर मै स्वतन्त्र होना चाहता हूँ।"

कुमार विश्वनन्दीके इस कथनको सुनकर विशाखभूति कहने लगा—"वत्स! तुमने इस अवस्थामे ही ससारका अनुभवकर लिया? अभी तुम्हें ससारके विषय-सुखोका उपभोग करना चाहिये। जब चौथापन आरम्भ हो, तब तुम दीक्षा ग्रहण करना। राज्यकी सारी व्यवस्था तुम्हारे ऊपर ही है। मै तो सोचता था कि तुम्हारा राज्याभिषेक कर मैं दिगम्बर-दीक्षा ग्रहण करूँ। विशाखनन्दीसे तुम परिचित ही हो, उसमे राज्यका भार वहन करनेकी क्षमता नही है। न वह शूर-वीर ही है और न राज्यशासनमे कुशल है। अतएव तुम कुछ दिनो तक अभी राज्यसुखका उपभोग करो।"

विश्वनन्दी कहने लगा "तात! मै इस ससारकी वास्तविकताको समझ गया हूँ। आत्मोत्थान करनेके लिये समयकी प्रतीक्षा नही की जाती। अत अब मुझे आप दीक्षा ग्रहण करनेकी अनुमति दीजिये।"

जब विश्वभूतिने कुमार विश्वनन्दीके त्यागभावकी गहराई देखी, तो उसे श्रमण-दीक्षा ग्रहण करनेकी अनुमति दे दी। फलत विश्वनन्दीने ससारके समस्त परिग्रहका त्यागकर सम्भूत नामक गुरुके समीप दिगम्बर-दीक्षा ग्रहण की। जब विशाखभूतिको विश्वनन्दीकी दीक्षाका समाचार मिला, तो उसके मनमे बडा पश्चात्ताप हुआ। वह सोचने लगा कि "मैने अपने पुत्रके साथ पक्षपातकर उसे विश्वनन्दीकी अनुपस्थितिमे मनोहर उद्यानका अधिपति बना दिया, जिससे मेरी स्वार्थपरताके कारण विश्वनन्दीको दीक्षा ग्रहण करनी पडी। यदि मैने यह अनुचित कार्य नही किया होता, तो विश्वनन्दीको दीक्षा ग्रहण करनेका अवसर नही आता और राज्यकी व्यवस्था सुदृढ रहती।" इसप्रकार पश्चात्ताप करनेके अनन्तर उसे भी विरक्ति हो गयी और उसने भी सयम धारण कर लिया।

मुनि बनकर विश्वनन्दीने समस्त देशोमे विहार करते हुए घोर तपश्चरण किया। उसका शरीर अत्यन्त कृश हो गया। वह विभिन्न देश और नगरोमे विचरण करता हुआ मथुरा नगरीमे पहुँचा। जब चर्याके लिये भ्रमण करने लगा, तो वार्द्धक्य एव शक्तिकी क्षीणताके कारण उसके पैर डगमगा रहे थे अधिक दूर चलना विश्वनन्दीके लिये कठिन था। उसकी शारीरिक शक्ति क्षीण हो चुकी थी, पर मनोबल और आत्मबल उदीप्त थे। शरीरसे तेजपुज प्रस्फुटित हो रहा था, पर मार्ग चलनेमे उसे कठिनाई हो रही थी।

इधर पिताके मुनि-दीक्षा ग्रहण करनेके पश्चात् बल और पौरुषकी हीनताके कारण विशाखनन्दी अपने समस्त राज्यको खो बैठा। अधीनस्थ राजा स्वतंत्र हो गये। विश्वनन्दीने जिस राजशक्तिका सगठन किया था, वह शक्ति कुछ ही वर्षोंमे छिन्न-भिन्न हो गयी। फलत विशाखनन्दीको पडोसी राजाके यहाँ राजदूतका कार्य करना पड़ा। अक्षमताओके साथ उसकी व्यसनोकी प्रवृत्ति भी उत्तरोत्तर बढती जाती थी। यही कारण था कि वह दिनों-दिन निर्धन और दु खी जीवन व्यतीत करनेके लिये वाध्य हो गया।

सयोगवश विशाखनन्दी अपने स्वामीका दूतकार्य सम्पन्न करनेके हेतु इसी समय मथुरा नगरीमे पहुँचा। वह अपनी विषयाभिलाषा तृप्तिके लिये एक वेश्याके भवनमे पहुँचा। जिस समय वह उसके भवनकी छतपर बैठा हुआ था, उसी समय मुनि विश्वनन्दी उस वेश्याके भवनके नीचेसे चर्याके हेतु जा रहे थे। तत्काल प्रसूता एक गायने क्रुद्ध होकर मुनिराजको धक्का देकर गिरा दिया। उन्हे गिरता देख क्रोधित हो विशाखनन्दी कहने लगा "तुम्हारा जो पराक्रम पत्थरका खम्भा तोडते समय देखा गया था, वह आज कहाँ गया ? इस समय तो मै भी तुम्हे यमराजके यहाँ पहुँचा सकता हूँ। तुमने मुझे जो अपमानित किया है, उसका बदला मै तुमसे चुका सकता हूँ। बडे बहादुर बने थे, आज एक गायके धक्केसे गिर गये ? यदि अब शक्ति है, तो मेरा सामना करो।"

इसप्रकार मुनिकी भर्त्सना करते हुए विशाखनन्दीने अनेक दुर्वचनोका प्रयोग किया। मुनिराजका धैर्य टूट गया। उनके मनमे भी विकार उत्पन्न हो गया और कुपित होकर मन-ही-मन कहने लगे- "इस अपमानका तू अवश्य फल प्राप्त करेगा।"

मुनिराज विश्वनन्दी बिना चर्या किये ही वापस लौट आये और उन्होने अपनेको असमर्थ समझ सल्लेखना ग्रहण की। काय और कषायोको कृश करनेपर

भी उन्होने निदान सहित मरण किया। फलतः महावीरके जीव विश्वनन्दीने महाशुक्र स्वर्गमे देवपर्याय प्राप्त की। इधर विशाखभूतिका जीव भी तपश्चरणके प्रभावसे उसी स्वर्गमे देव हुआ। ये दोनो ही अगणित वर्ष तक मनोनुकूल सुखो-का उपभोग करते रहे। विश्वनन्दीके चाचा विशाखभूतिका जीव सुरम्यदेशके पोदनपुर नगरमे प्रजापति महाराजकी जयावती रानीके गर्भसे विजयभूति नामका पुत्र हुआ। विश्वनन्दीका जीव भी वहाँसे च्युत हो इन्ही प्रजापति महाराजकी दूसरी रानी मृगावतीके गर्भसे त्रिपृष्ठ नामका पुत्र हुआ। यह शैशवसे ही शूर-वीर और तेजस्वी था। उसके शरीरकी कान्तिने चन्द्रमाकी ज्योत्सनाको भी पराजित कर दिया था। इसप्रकारके तेजस्वी कुमारको देखकर सभी परिजन और पुरजन आनन्दित थे। प्रजापतिने अपने दोनो पुत्रोके पालन-पोषण और शिक्षा-दीक्षाका उत्तम प्रबन्ध किया। कुमार त्रिपृष्ठ अल्पकालमे ही युद्धविद्यामे पारगत हो गया।

त्रिपृष्ठ-पर्याय चक्रव्यूह

विश्वनन्दीके भवमे महावीरके जीवने प्रतिशोधका निदान बाँधा था। इस निदानका फल उन्हे भी ससार-परिभ्रमणके रूपमे प्राप्त होना अनिवार्य था। तपस्या आत्माको कचन बनाती है। वह क्लेश-कर्मोको भस्मकर शुद्ध करती है, पर जब इसी तपस्यामे निदानका सयोग हो जाता है, तो यह आत्मामे ऐसा मोह उत्पन्न करती है, जिससे लक्ष्य च्युत होनेमे विलम्ब नही होता। त्रिपृष्ठको वीरता और पुरुषार्थके साथ समस्त ऐहिक भोग उपलब्ध हुए। वह अनेक प्रकार-से ससारके भोगोका सेवन करने लगा।

इधर विशाखनन्दीका जीव पापकर्मके फलस्वरूप अनेक दुर्गतियोमे परि-भ्रमण करता हुआ विजयार्द्ध पर्वतकी उत्तरश्रेणीके अलकापुर नगरमे मयूरग्रीव नामक विद्याधर राजाकी नीलाञ्जना नामक पत्नीके गर्भसे अश्वग्रीव नामका पुत्र उत्पन्न हुआ। अश्वग्रीव भी पूर्वजन्मोमे कभी अर्जित किये गये शुभ पुण्यो-दयसे विभिन्न प्रकारके सुखभोगोको प्राप्त हुआ। अश्वग्रीव शक्तिशाली और पुरुषार्थी था। इसने भी अस्त्र-शस्त्रकलामे निपुणता प्राप्त की।

विजयार्द्धपर्वतकी दक्षिणश्रेणीमे रथनूपुरचक्रवाल नामक नगरमे ज्वलन-जटी नामका विद्याधर राजा शासन करता था। यह तीन विद्याओका स्वामी था। उसने अपनी शक्तिसे दक्षिणश्रेणीके समस्त विद्याधर राजाओको अपने वशमे कर लिया था। इसके बल-पौरुषके समक्ष बड़े-बडे सामन्त और शूर-वीर नतमस्तक रहते थे। इस राजाकी पत्नीका नाम वायुवेगा था, जो द्युतिलक

नगरके राजा विद्याधर और सुभद्रा नामक रानीकी पुत्री थी। वायुवेगा रूपमे रति और गुणोमे लक्ष्मी थी। एकप्रकारसे रति, लक्ष्मी और सरस्वती इन तीनोका समन्वय उसमे विद्यमान था। इस दम्पतिकी दो सन्तानें हुई अर्क-कीर्ति नामक पुत्र और स्वयप्रभा नामक पुत्री।

स्वयंप्रभाके शरीरसे लावण्यकी काति निस्सृत होती थी। उसने अपने रूपसे तिलोत्तमा और गुणोसे सरस्वतीको तिरस्कृत कर दिया था। उसमे सभी स्त्रियोचित सुलक्षण विद्यमान थे। विना आभूपणोके ही उसका अनिन्द्य लावण्य पुरुपमात्रके लिये आकर्पणका विषय था। स्वयप्रभा गने गने किशोरावस्थाको पारकर यौवनमे प्रविष्ट हुई। पिता ज्वलनजटीके लिये कन्याको युवती देख विवाह करनेकी चिन्ता हुई। उसने निमितज्ञ अपने पुरोहितको वुलाकर पूछा—"कन्या स्वयप्रभाका विवाह किसके साथ होगा और कव होगा? निमित्तशास्त्रके पन्ने उलटकर पुरोहितने उत्तर दिया "यह नारायण त्रिपृष्ठकी महादेवी होगी और आप भी उसके द्वारा दिये हुए विद्याधरोके चक्रवर्तीपदको प्राप्त करेंगे।"

ज्वलनजटीने पुरोहितके द्वारा पोदनपुर और पोदनपुरनरेश प्रजापति, त्रिपृष्ठ आदिकी जानकारी प्राप्तकर अत्यन्त विश्वस्त शास्त्रज्ञ और राजभक्त इन्द्र नामक मत्रीको पत्र एव वहुमूल्य पदार्थ भेंटके निमित्त देकर पोदनपुर भेजा। इन्द्र अपने विद्यावलसे विमानद्वारा पोदनपुर पहुँचा। पोदनपुरनरेश महाराज प्रजापति उस समय पुष्पकरण्डक नामक उद्यानमे क्रीडा कर रहे थे। वे परिजनोसे वेष्टित हो सरोवरमे मज्जन, जलकेलिके अतिरिक्त विभिन्न लताओ और विटपोसे पुष्पा-वचय करनेमे सलग्न थे। प्रकृतिकी रमणीय गोदमे विचरण करनेके कारण उन्हे अपूर्व सुख प्राप्त हो रहा था। इस समय प्रजापति ललित क्रीडाओमे भी सलग्न थे। एक ओर मनोरम नृत्य हो रहा था और दूसरी ओर सगीतका अखाडा जमा हुआ था। ध्रुपद और धमारकी ध्वनि सभीको अपनी ओर आकृष्ट कर रही थी। इसी आमोद-प्रमोदके समय पुष्पकरण्डक उद्यानमे ही इन्द्र मत्री पहुँचा और उसने प्रतिहारी द्वारा अपने आनेका समाचार राजा प्रजापतिके पास पहुँचाया। प्रजापतिने मत्रीको आसन देकर रथनूपुरचक्रवाल नगरके सम्राट् ज्वलनजटीका कुशल समाचार पूछा। मत्रीने वहुमूल्य मणि-माणिक्य आदिकी भेंट उपस्थित कर पत्र प्रस्तुत किया। प्रजापति पत्रको पढकर अत्यन्त प्रसन्न हुआ। पत्रमे लिखा था कि सधि-विग्रहमे निपुण विद्याधरोका स्वामी अपने लोकका शिखामणि, प्रजावत्सल, महाराज नमिके वशरूपी आकाशका सूर्य ज्वलनजटी रथनपुर नगरसे पोदनपुरनरेश तीर्थंकर ऋषभदेवके पुत्र वाहुवलिके

वशज महाराज प्रजापतिको नतमस्तक हो प्रणाम करता है। कुशलप्रश्नके अनन्तर पत्रमे लिखा था—"मै रथनूपुरनरेश अपनी कन्या स्वयप्रभाका विवाह आपके पुत्र त्रिपृष्ठके साथ करना चाहता हूँ। हमारे वशोमे परम्परासे यह सम्बन्ध चला आ रहा है। हम दोनोके विशुद्ध वश सूर्य और चन्द्रमाके समान पहलेसे ही प्रसिद्ध हैं। अतएव आप मेरे इस सम्बन्धको स्वीकार करनेकी कृपा कीजिये।"

प्रजापति ज्वलनजटीके इस पत्रको पढकर प्रसन्नतासे विभोर हो गया और उसने विनम्रतापूर्वक अपनी स्वीकृति प्रदान करते हुए पत्र लिखा "नमिके वशको सुशोभित करनेवाले महाराज ज्वलनजटीकी आज्ञा मुझे स्वीकार है। मै अपने पुत्र त्रिपृष्ठके साथ आपकी कन्या स्वयप्रभाके विवाहकी स्वीकृति प्रदान करता हूँ। इस विवाह-सम्बन्धसे हम दोनोके वशमे प्रेमभाव उत्पन्न होगा और चिरकालतक हमारे वशोमे सौहार्द, सहयोग एव पारस्परिक प्रेमभाव बने रहेगे।"

प्रजापतिके इस पत्रको प्राप्तकर ज्वलनजटी प्रसन्न हुआ और वह पोदनपुर चलनेकी तैयारी करने लगा। उसने अपने प्रधान सेनापति और युवराज अर्ककीर्तिको सेना तैयार करनेका आदेश दिया तथा अन्य आवश्यक यात्रोपयोगी सामान भी तैयार होने लगे। स्वयप्रभाको भी साथ ले जानेके लिए तैयारी की जाने लगी। ज्वलनजटीने पुत्र अर्ककीर्तिको युवराजपदके साथ प्रधान सेनापतिका पद भी दिया था। अतएव उसने सेना तैयारकर पोदनपुरकी ओर प्रस्थान किया। जब ज्वलनजटी ससैन्य पोदनपुरमे पहुँचा, तो पोदनपुरनरेशने ज्वलनजटीका स्वागत किया और उसे मनोहर उद्यानमे स्थान दिया।

शुभ लग्न शोधा गया और विधिपूर्वक विवाहविधि सम्पादित की गयी। स्वयप्रभा और त्रिपृष्ठका विवाह उसी प्रकार सम्पन्न हुआ, जिस प्रकार ऋषभदेव और सुनन्दाका विवाह सम्पन्न हुआ था। दुन्दुभि वाद्य बज रहे थे। सौभाग्यवती स्त्रियाँ मगलगान गा रही थी और पुरोधा मगलमन्त्रोका उच्चारण कर रहे थे।

ज्वलनजटीने दहेजमे अन्य पदार्थोंके साथ सिंहवाहिनी और गरुडवाहिनी विद्याएँ भी प्रदान की। विवाहोत्सव धूम-धामपूर्वक सम्पन्न हुआ। ज्वलनजटी और प्रजापति दोनो ही इस विवाहसे प्रसन्न थे।

जब अश्वग्रीवको अपने गुप्तचरो द्वारा स्वयप्रभाके विवाहका समाचार प्राप्त हुआ, तो उसका हृदय क्रोधाग्निसे जलने लगा। वह सोचने लगा कि "मेरे रहते हुए स्वयप्रभाका विवाह त्रिपृष्ठके साथ कैसे सम्पन्न किया गया है। स्वयप्रभा जैसी सुन्दरी तो मुझे मिलनी चाहिये थी। ज्वलनजटीने यह मेरा अपमान किया है।

मै अपने अपमानका बदला स्वयप्रभाको छीनकर लूँगा और युद्धभूमिमे त्रिपृष्ठ-का वध करूँगा। विधाताने स्वयंप्रभाको मेरे लिये बनाया है, त्रिपृष्ठके लिये नही। इस उदण्डताका फल सभीको भोगना पडेगा।"

अश्वग्रीवने अपनी सेनाको युद्धके लिये तैयार किया। तीन विद्याओसे सपन्न विद्याधर राजाओको युद्धमे सम्मिलित होनेके हेतु आमन्त्रित किया। अश्वग्रीवने विभिन्न प्रकारकी विद्याओ और अस्त्र-शस्त्रसे सज्जित हो आक्रमण किया और रथावर्त्त नामक पर्वतपर अपना सैन्य-शिविर स्थापित किया। त्रिपृष्ठकुमार भी अश्वग्रीवकी सेनाका आगमन सुनकर अपनी चतुरग-वाहिनीके साथ वहाँ आ डटा। दोनो ओरसे व्यूहरचना होने लगी। धनुषधारी अपने धनुषोको सज्जित कर रणभेरीकी प्रतीक्षा करने लगे।

चारो ओर युद्ध-वाद्य बजने लगे। सेनापतियोने अपनी-अपनी सेनाको युद्ध करनेका आदेश दिया। बाण-वर्षा होने लगी, जिससे सूर्य आच्छादित हो गया। अश्ववाहिनीके सैनिक परस्परमे युद्ध करने लगे। त्रिपृष्ठकुमारकी सेनाकी वीरताके समक्ष अश्वग्रीवकी सेना ठहर न सकी और जिसप्रकार वायुके चलनेसे मेघ तितर-वितर हो जाते है, उसी प्रकार अश्वग्रीवकी विद्याधरसेना रण-भूमि छोडकर भाग उठी। जब अश्वग्रीवने देखा कि रणक्षेत्र खाली हो रहा है, तो वह स्वय ही युद्ध करनेके लिये आ डटा। उसने ललकारकर कहा "निरप-राधी इन सैनिकोको मारनेसे क्या लाभ है? अपराधी तुम हो, अतएव अब मै तुम्हारे साथ ही युद्ध करना चाहता हूँ। तुम्हारा और मेरा युद्ध ही अन्तिम निर्णायक होगा।"

अश्वग्रीव और त्रिपृष्ठ दोनो युद्ध करने लगे। अश्वग्रीवने मायाका सचार-कर त्रिपृष्ठको पराजित करना चाहा, पर त्रिपृष्ठकी वीरताके समक्ष उसका वश न चल सका। अतएव अश्वग्रीवने लज्जित होकर त्रिपृष्ठके ऊपर कठोर चक्र चलाया। यह चक्र त्रिपृष्ठके पुण्यप्रतापसे प्रदक्षिणाकर शीघ्र ही उसकी दाहिनी भुजापर आकर स्थिर हो गया। त्रिपृष्ठने उसे लेकर क्रोधवश शत्रुपर चला दिया। जिससे अश्वग्रीवकी ग्रीवाके दो टुकडे हो गये। अश्वग्रीवके धराशायी होते ही उसकी समस्त सेना और विद्याधर सामन्त भाग खडे हुए।

त्रिपृष्ठने अश्वग्रीवको पराजित करनेके पश्चात् त्रिखण्डको जीतनेके लिये प्रस्थान किया और सर्वत्र विजयका डका बजाते हुए अपने स्थानपर लौट आया तथा त्रिखण्ड-अधिपति होकर अर्द्धचक्रवर्तीका पद प्राप्त किया।

उसने विश्वनन्दीके भवमे किये गये निदानको पूरा किया और इस निदान-

जन्य अशुभकर्मके उदयसे त्रिपृष्ठकी प्रवृत्ति ससार-विषयोकी ओर विशेषरूपसे जागृत हुई। उसने अनेक विद्याधरकुमारियोसे विवाह किया। अनेक गन्धर्व-कन्याएँ प्राप्त की और भूमिगोचरियोके साथ वैवाहिक सम्बन्ध स्थापित किया। त्रिपृष्ठने विजयार्द्ध पर्वतपर जाकर रथनूपुर नगरके राजा ज्वलनजटीको दोनो श्रेणियोका चक्रवर्ती बना दिया और निश्चिन्ततापूर्वक अर्द्धचक्रवर्तीपदका भोग करने लगा।

शुभोदयके कारण जितनी भोगसामग्री प्राप्त होती जाती थी, त्रिपृष्ठ उतना ही अशान्त बना रहता था। उसे एक क्षणके लिये भी भोगोसे तृप्ति न मिली। वह करोडो वर्षों तक राज्यसुख और ससारके विषय-सुखोका भोग करता रहा। उसने बहुत आरम्भ और परिग्रह सचित किया, फलत विषय-सुखोकी गृद्धताके कारण मरकर उसने सप्तक नरकमे जन्म ग्रहण किया।

पूर्वजन्ममें बाँधा गया निदान सफल हुआ और दुर्गतिका कारण बना। इस नरकमे त्रिपृष्ठके जीवने अगणित काल तक नाना प्रकारके दु खोको सहन किया। आयु पूर्ण होनेपर यह जम्बूद्वीपके भरतक्षेत्रमें गगानदीके तटके समीपवर्ती वनप्रदेशमे सिंहगिरि पर्वतपर सिंह हुआ। यहाँ भी इसने तीव्र पापका अर्जन किया, जिससे रत्नप्रभा नामक प्रथम नरकमे नारकी हुआ और वहाँ एक सागर तक भयकर दु ख भोगता रहा। पश्चात् वहाँसे च्युत होकर इसी जम्बूद्वीपमें सिन्धुकूटकी पूर्व दिशामे हिमवत पर्वतके शिखरपर देदीप्यमान बालोसे सुशोभित सिंह हुआ।

सिंहपर्याय : पुनः उत्थानकी ओर

सिंहपर्याय प्राप्त करनेपर महावीरका जीव अपनी शक्ति और पुरुषार्थका प्रदर्शन करता हुआ हिंसामे प्रवृत्त हुआ। वह निर्वल जीवोको मारकर खाने लगा और अपनी शक्ति द्वारा समस्त जीवोको त्रस्त करने लगा। एक दिन उसने एक हिरणका पीछा किया और जब हिरणको उसने पकड लिया, तो उसे अपनी तीक्ष्ण दाढोसे फाड डाला। जब सिंह इस प्रकार हिंसाकर्ममे लगा हुआ था, तब आकाशमार्गसे अजितञ्जय नामक चारण मुनि अमितगुण नामक मुनिराजके साथ जा रहे थे। उन्होने आकाशमार्गसे उस सिंहको हिंसामे रत देखा, तो वे दयासे द्रवीभूत हो आकाशमार्गसे उतरकर उस सिंहके पास पहुँचे और एक शिलातलपर बैठकर जोर-जोरसे धर्मप्रवचन करने लगे। उन्होने कहा "हे भव्य मृगराज! तू हिंसामे क्यो प्रवृत्त है? क्या अभी भी तुम्हारी विषयोसे तृप्ति नही हुई है? त्रिपृष्ठके भवमे तुमने पाँचो इन्द्रियोके श्रेष्ठ विषयो-

का अनुभव किया है। तुमने कोमल शय्यातलपर अनेक रमणियोके साथ चिर-काल तक विहार किया है। रसनाइन्द्रियको तृप्त करनेवाले सब रसोसे परि-पूर्ण तथा अमृतरसायनके साथ स्पर्द्धा करनेवाले दिव्य भोजनका उपभोग तुमने किया है। उसी त्रिपृष्ठके भवमे तुमने सुगधित धूपके अनुलेपनोसे, मालाओसे तथा अन्य सुवासित पदार्थोसे अपनी घ्राण इन्द्रियको तृप्त किया है। रस-भाव समन्वित सम्पन्न हुए नृत्यका तुमने पर्याप्त अवलोकन किया है। सगीतके मधुर झकारको सुनकर अगणित वर्षोतक तुमने आनन्द लिया है। तीन खण्डका अर्द्ध चक्रवर्तित्व प्राप्तकर ऐसा ससारका कौन-सा भोग है, जिसका तुमने उपभोग नही किया है। निरन्तर सासारिक सुखोकी आसक्तिके कारण सम्यग्दर्शन और पचव्रतोसे रहित होनेसे तुमने सप्तम नरककी आयुका बन्ध किया और वहाँ तेतीस सागर तक विभिन्न प्रकारके कष्टोको सहा। नरकसे च्युत हो सिह-पर्याय प्राप्त की और इस पर्यायके अनन्तर पुन प्रथम नरककी यातना सही। अब पुन यह सिहपर्याय तुम्हे प्राप्त हुई है। अत इस पर्यायमे तुम्हे अपने आत्मोत्थानमे प्रवृत्त होना चाहिये। तुम यह भूल रहे हो कि पशु और नरक-पर्यायमे छेदन-भेदन, भूख-प्यास, शीत-आतपजन्य कितने कष्ट सहन किये है। क्रूर परिणामी होकर तुम पशुओकी हिसामे प्रवृत्त हो रहे हो। अतएव ससारके स्वरूपका विचारकर हिसाका त्याग करो।"

"अहिसाका सम्बन्ध प्राणीके हृदयके साथ है, मस्तिष्कके साथ नही, तर्क-वितर्कके साथ नही और न बँधे-बँधाये विवेकशून्य विश्वासोके साथ ही है। इसका सम्बन्ध अन्त करणके साथ है भीतरकी गहरी आध्यात्मिक अनुभूतिके साथ है। अहिसाकी भूमि जीवन है। जबतक जीवके आचार-व्यवहार अहिसामूलक घटित होते हैं, तभी तक जीवन हरा-भरा और विकसित रहता है। अतएव तुम्हे अहिसाके वास्तविक महत्त्वको समझना है और जीवनको गतिशील बनाना है। तुमने पुरुरवाके भवमे अहिसा-सस्कारका बीज अर्जित किया था, वह बीज अनेक जन्मोमे किये गये मिथ्याचरणके कारण दबता गया। उसपर अज्ञानताकी तह पडती गयी। फलत त्रिपृष्ठभवमे नारायण होकर भी तुमने इस अहिसाके बीजको अकुरित नही होने दिया। तुम पूर्वके जन्मोमे मनुष्य हुए, देव हुए और पशु बने। पुरुरवाके भवमे तुमने हिसा करना छोडा था, जिसके फलस्वरूप तुमने स्वर्गोके सुख प्राप्त किये, पर त्रिपृष्ठके भवमे तुम वासनामे डूब गये, हिसामे सन गये, जिसका दु खद परिणाम यह पशु-जीवन है। सुख चाहते हो, तो हिसा-कार्यको छोड पहले किये गये सकल्पको याद करो।"

उग्र तपस्वी अजितञ्जयकी वाणीने जादूका कार्य किया। सिहकी वृत्तियाँ

विगलित होने लगी। अज्ञानताके कारण जो गुण आच्छादित थे, वे शनै शनै उद्घाटित होने लगे। उसे अपने पूर्व जन्मोकी स्मृति आ गयी और विगत जन्म उसे दर्पणमे पडनेवाले प्रतिबिम्बके समान स्पष्टत दिखलायी पडने लगे। आत्माकी वाणीको आत्माने समझा, आध्यात्मिकता और अहिंसा-सस्कारोने सिंहके ज्ञाननेत्रोको खोल दिया। वह पूँछ हिलाता हुआ योगिराजके समक्ष नतमस्तक हो गया। उसकी भावभगिमासे यह प्रत्यक्ष दिखलायी पड रहा था कि उसे अपने पूर्वकृत कार्योपर पश्चात्ताप है और अब अपने उत्थानके लिये वह कृत-सकल्प है।

आचार्य अजितञ्जयने सिंहकी इस भाव-विभोर अवस्थाको देखकर कहा "मृगराज! घबडाओ नही। तुम्हारी आत्मा अनन्त ज्ञानवान् और शक्तिशाली है। यदि तुम आत्म-निष्ठापूर्वक हिंसाका त्याग कर अहिंसाका आचरण करोगे, तो तुम्हारा उद्धार सम्भव है। विदेहस्थ तीर्थंकर श्रीधरने समवशरणमे कहा है कि अबसे तुम दशवें जन्ममे भरतक्षेत्रके अन्तिम तीर्थंकर महावीर होगे। सयम, तप और त्याग मनुष्य तथा पशु दोनोके लिये प्राय समानरूपसे उपकारक है। यदि तुम अपनी वृत्तिको अहिंसक बना सकते हो, तो तुम्हारे उद्धारमे विलम्ब नही है।"

मुनिराज उक्त उपदेश देनेके पश्चात् विहार कर गये। उस सिंहने अपने जीवनकी आलोचना की और सयम ग्रहण कर लिया। उसने मासाहारका त्याग कर सल्लेखना धारण की। मनुष्य और पशुओके उपसर्ग एव यातनाओको समताभावसे सहा और प्राणविसर्जनकर सौधर्म स्वर्गमे सिंहकेतु नामका देव हुआ। धर्मका फल ऐश्वर्य होता देखकर वह धर्मपुरुषार्थमे लीन हो गया। वह प्रतिदिन अकृत्रिम चैत्यालयोमे जाकर अर्हत्प्रतिमाओकी दिव्य पूजा-अर्चा करता। नन्दीश्वरादि द्वीपोमे भावविशुद्धिके हेतु जिन-प्रतिमाओकी पूजा एव गुरुओके उपदेशका श्रवण करता। एक दिन अजितञ्जय गुरुका उसे दर्शन हुआ। वह विनीत रूपमे निवेदन करने लगा "गुरुदेव! आपके धर्मोपदेशको प्राप्त कर मै कृतकृत्य हो गया और अब स्वर्ग-सुख भोग रहा हूँ। आपके उपदेशने मेरे ज्ञान-चक्षुओका उन्मीलन कर दिया है। मुझे सयम और साधनामे ही सुख दिखलायी पडता है। पर यह देवगति भोगयोनि है। यहाँ वीतरागताकी प्राप्ति सम्भव नही है। ऐसा उपाय बतलाइये, जिससे मेरा सकल्प पूरा हो सके।"

गुरु "वत्स! इस देवगतिमे देव, गुरु और शास्त्रकी भक्ति सुखपूर्वक की जा सकती है। सम्यग्दर्शनकी उपलब्धि भी यहाँ सभव है। तुम भक्ति और श्रद्धा द्वारा अपने सम्यक्त्वको निर्मलकर आत्मोत्कर्ष कर सकते हो।"

सिंहकेतुने कृत्रिम और अकृत्रिम जिनालयोकी वदना की और देवगतिके भोगोको क्षणभगुर समझकर अनासक्तभावसे इस गतिमे निवास किया। आयुके अन्तमे समभावोसे प्राणविसर्जन कर विद्याधरनरेश हुआ।

कनकोज्ज्वलपर्याय : उदित हुए साधना-अंकुर

घातकीखण्डद्वीपके पूर्व विदेहमे मगलावर्त देश है। इसके मध्यमे विजयार्द्ध पर्वत है। इस पर्वतकी उत्तरश्रेणीमे कनकप्रभ नामका नगर स्वर्णमडित प्रासाद, प्राकार और जिनालयोसे सुशोभित है। नगरका वैभव और उसका रम्यरूप पथिकोको दूरसे ही अपनी ओर आकृष्ट करता है। सरोवर, उद्यान और कूप नगरके सौन्दर्यवृद्धिमे गुणात्मक वृद्धि कर रहे है। मानव या विद्याधरोकी तो बात ही क्या, प्रकृति भी इसके यथार्थ नामका विज्ञापन कर रही है।

इस नगरका अधिपति विद्याधर राजा कनकपुख था और काचनवर्णवाली कनकमाला नामकी उसकी पत्नी थी। इन दोनोके यहाँ महावीरका जीव वह सिंहकेतु देव स्वर्गसे चयकर कनकोज्ज्वल नामका पुत्र हुआ। पिता कनकपुंखने पुत्रोत्पत्तिका समाचार अवगतकर जिनालयमे जाकर कल्याण करनेवाली पचकल्याणक पूजा की। उसने दीन-दुखियो एव सत्पात्रोंको यथोचित दान दिया। वार्धापन-सरकार सम्पन्न करनेके हेतु विभिन्न प्रकारकी कलागोष्ठियोकी योजना की। नृत्य-गान सम्पन्न हुए। पुरोधाओने मत्रोच्चारकर नवजात शिशुको आशीर्वाद प्रदान किया। शिशु द्वितीयाके चन्द्रमाके समान क्रमश वृद्धिगत होने लगा और आठ वर्षकी अवस्थामे उसका विद्या-सस्कार सम्पन्न किया गया। कनकोज्ज्वलकी प्रतिभासे सभी गुरुजन आश्चर्यचकित थे। उसने अनेक शास्त्र और कलाओमें अल्प समयमे ही प्रवीणता प्राप्त कर ली। किशोर कनकोज्ज्वल अपनी मेधा, मनीषा और मानवोचित गुणोके कारण परिजन-पुरजन सभीका प्रेम भाजन बन गया। उसकी मधुर वाणी सुनकर सभी हर्षित होते और उसे प्यार करते थे। जब बड़े गुरुजनोको भी किसी विषयमे आशका या कठिनाई उपस्थित होती, तो वे इस प्रतिभामूर्ति युवासे परामर्श करते।

जब कनकोज्ज्वलने युवावस्थाकी देहलीपर पैर रखा तो माता-पिताके मनमे उसका पाणिग्रहण सम्पन्न कर देनेकी भावना उदित हुई। कुमारके मामाका नाम हर्ष था और वह कुमारके गुणोमे अत्यधिक अनुरक्त था। हर्षके कनकावती नामकी सुन्दर कन्या थी, जो सभी गुणोसे परिपूर्ण थी। मातुल हर्षने अपनी पत्नी और मित्रोसे स्वीकृति लेकर अपनी कन्या कनकावतीका विवाह कनकोज्ज्वलके साथ सम्पन्न कर दिया।

रागताकी प्राप्ति तो सभव नही, पर उसके लिये प्रयत्न किया जा सकता है। आत्मामे अनन्त कालसे पुद्गलके प्रति जो ममता है, भौतिक पदार्थोके प्रति जो आकर्षण है, उसे तो दूर किया ही जा सकता है। अतएव मुझे तटस्थ भावसे शुभ भावनाओका चिन्तन-मनन करना चाहिये। मै इन विषयोके बीच रहते हुए भी इनसे लिप्त नही होऊँगा। इस विचारधाराके प्रभावसे स्वर्गसे च्युत हो उसने मनुष्यपर्याय प्राप्त की।

हरिषेण-पर्याय विकसित हुई साधना

महावीरकी साधनाका वृक्ष अब पल्लवित हो चुका था। अब उसमें शनै शनै कलिकाएँ मुकुलित होती हुई दृष्टिगोचर होने लगी थी। सिह जैसी हिंसक पर्यायमे अर्जित साधनाका सकल्प चन्दनवृक्षके समान अपनी सुगध विकीर्ण करने लगा। जन्म-जन्मकी साधना सफलताके सामीप्यका लाभ करनेके लिये उतावली हो उठी।

कनकोज्ज्वलका जीव लान्तवस्वर्गसे च्युत हो कौशल देशकी अयोध्या नगरीके राजा वज्रसेन और उनकी पत्नी शीलवतीके उदरसे हरिषेण नामका पुत्र हुआ। माता-पिताने बडे उत्साह और अभ्युदयके साथ पुत्र-जन्मोत्सव सम्पन्न किया। पूर्व जन्मके अतिशय पुण्यके कारण कुमार हरिषेण नगरवासियो की आँखोका तारा बन गया। जो भी उसका दर्शन करता, आनन्द-विभोर हो जाता और अपने भाग्यको सराहने लगता। कुमार हरिषेणने राजनीति-अर्थ-शास्त्र, कला-कौशल, धर्मशास्त्र, तर्कविद्या आदि सभी विषयोमे दक्षता प्राप्त कर ली। उसका शरीर देवोसे अधिक सुन्दर और विद्याधरोसे अधिक मनोज्ञ था। कुमारके चातुर्यने सभी व्यक्तियोको अपनी ओर आकृष्ट किया।

हरिषेणके युवा होनेपर अनेक राजकन्याओके सम्बन्ध विवाहके हेतु उपस्थित हुए। माता-पिता और मत्रीपरिषद्ने कई सुन्दरी कन्याओसे उसका विवाह-सम्बन्ध कर दिया। वज्रसेनने कुमारको सभी प्रकार योग्य जानकर उसका राज्याभिषेक किया। राज्यपद प्राप्त होते ही कुमारने बडी योग्यतासे राज्यकार्यका सचालन किया। उसकी न्यायप्रियता और शासन-व्यवस्था सभीके लिये श्लाघनीय थी। कुमारकी मत्रीपरिषद्मे मनीषी विद्वानोके साथ कवि और कलाकार भी सम्मिलित थे। वह अपनी दिनचर्या नियत कर लौकिक और पारमार्थिक कार्योका सचालन करता था। सम्यक्त्वकी निर्मलता-के लिये देवपूजन, शास्त्र-स्वाध्याय एव श्रावकके व्रतोका प्रमादरहित पालन करता था। प्रत्येक अष्टमी और चतुर्दशीको सभी प्रकारके पापकार्योका त्याग

कर प्रोषधव्रतका आचरण करता था। प्रात शय्यासे उठकर धर्म-वृद्धिके लिये सामायिक एव स्तुति-पाठ करता। भोजन करनेके पूर्व सुपात्रोको दान देता और अतिथिजनोका यथोचित सत्कार करता था।

वह जितेन्द्रिय होकर परिमित रूपमे विषयोका सेवन करता हुआ आत्म-सिद्धिमे प्रवृत्त था। जनसाधारणके लिये कल्याणकारी कार्योका सम्पादन करता हुआ प्रजाके अभ्युदय एव विकासकेलिये निरन्तर तत्पर रहता था। उसने राज्यके दायित्वके निर्वाहहेतु सम्पूर्ण राज्यकी मशीनरीको ठीक कर दिया था। कृषि और वाणिज्य-सम्बन्धी कार्योंकी देखभालकेलिये विभिन्न अधिकारी नियुक्त किये। उसने लोकतान्त्रिकपद्धतिपर राज्यका विकास किया था। कृषियोग्य बजर भूमिका सुधार, सिंचाई-व्यवस्था, बाजार-व्यवस्था आदिको उन्नत बनाया। यो तो कुमारके जीवनमे अनेक उत्कर्ष और अपकर्ष प्राप्त हुए, पर उसका जीवन सरल रेखाकी गतिसे गमन कर रहा था। उसने आर्थिक स्वतत्रता, अहिसक वातावरण एव पारस्परिक सहयोग और सहकारिताकी भावना उत्पन्न कर प्रजाका अपार प्यार अर्जित कर लिया।

इस प्रकार राज्यका सचालन करते हुए कुमार हरिषेणने अगणित वर्ष व्यतीत किये। एक दिन उसने आकाशमे बादलोका एक सुन्दर दृश्य देखा। इस दृश्यको देखते ही वह मुग्ध हो गया और उस दृश्यका मानचित्र अकित करने लगा। सहसा वायुका एक झोका आया और आकाशमे एकत्र मेघपटल क्षण-भरमे तितर-बितर हो गया। हरिषेण सोचने लगा "ऐसा सुन्दर दृश्य जब क्षण-भरमे विलीन हो सकता है, तब इस जीवनका क्या विश्वास? मैने अगणित वर्षों तक ससारके सुखोका उपभोग किया है, पर तृप्ति नही हुई! तृष्णा और आशा-की जलती हुई भट्ठीमे उपलब्ध होनेवाली सभी भौतिकताएँ क्षण-भरमे स्वाहा हो जाती है। मैने मानवताके धरातलपर स्थित रहनेका पूरा प्रयास किया, पर शान्ति दूर ही रही। मै सदा सोचता हूँ, जीवन क्या है? जगत् क्या है? तथा उन दोनोमे परस्पर सम्बन्ध क्या है? बन्धन क्या है? मुक्ति क्या है? पर समा-धान मुझे मिल नही पाता। जीवन शरीरका धर्म नही है, चेतन आत्माका धर्म है। जीवन पवित्रतासे जीनेके लिये है। यह पवित्रता उस आत्माका धर्म है, जो आत्मा बुद्ध एव प्रबुद्ध है। जिसे अपने शुभ और अशुभका, सुन्दर एव असुन्दरका तथा वाछनीय एव अवाछनीयका सम्यक् परिज्ञान है। जो अपने भले-बुरे, भूत-भविष्यत् और वर्त्तमानपर चिन्तन कर सकता है, वही प्रबुद्ध चेतन है, वही जागृत आत्मा है और वही विकासोन्मुख जीव है। भौतिक सभ्यता या भौतिक जीवनमूल्योको जब मानवजीवनकी तुलापर तौला जाता

है, तो मुझे निराशा ही प्राप्त होनी है। ये भौतिक सुख त्याज्य हैं। अत मानव-जीवनमे आध्यात्मिकताको अपनाना और अपनी आध्यात्मिकशक्तिके विकासके लिये पूर्ण प्रयत्न करना परमावश्यक है। हमारी आत्म-ज्योति भोगवादी अविवेकके घने कुहासेमे आवृत्त है, जिस प्रकार कीचडमे लिपटे हीरेकी ज्योति तिरोहित हो जाती है और वह हीरा मिट्टी जैसा प्रतीत होता है, उसी प्रकार मानव-जीवनके वास्तविक तथ्य और सत्य पूर्वाग्रह, अन्धविश्वास और अविवेकसे लिप्त हो जानेके कारण मानवताके क्षितिजसे तिरोहित हो जाते हैं। अतएव मुझे आत्मोद्धारके लिये अतृप्ति, कुण्ठा, निराशा और भोगवादी दृष्टिकोणका त्याग करना है।

इस प्रकार ऊहापोह करता हुआ हरिषेण अपने उद्विग्न चित्तकी शान्तिके लिये वन-विहारको चल दिया।

राजाज्ञा प्राप्त होते ही अमात्य, महिषि-वर्ग, चतुरंगिणी सेना, कलाकार सभी उसके मनोविनोदके लिये साथ-साथ चल दिये। ससार, शरीर और भोगोसे विरक्त कुमारका मन प्रकृतिके इस रमणीय रूपको देखकर भी रम न सका। विषयोकी विरक्तिने उसकी चेतनाको उद्बुद्ध कर दिया था। अतएव हरिषेण यानसे उतरकर पैदल ही वनमे भ्रमण करने लगा। कुछ दूर चलनेके पश्चात् उसे अगपूर्वके ज्ञाता श्रुतसागर नामक मुनि दिखलायी पड़े। उसने तीन प्रदक्षिणाएँ की और 'नमोऽस्तु' कहकर मुनिराजकी वन्दना की।

सम्यग्दर्शनके प्रकाशने उसकी अन्तरात्माको आलोकित कर दिया था। विवेकोदयके कारण कषाय और विकार धूमिल हो रहे थे। परिग्रहकी आसक्तिके त्यागने उसकी आत्मामे सयमकी ज्योति प्रज्वलित कर दी थी। अतएव उसने मुनिराजसे दिगम्बर-दीक्षा प्रदान करनेकी प्रार्थना की। मुनि बन हरिषेण एकाकी नदी-तट, पर्वत-गुफा एव श्मशानभूमिमे ध्यानासक्त रहता था। वह ग्रीष्मऋतुमे पर्वतकी चोटीपर, वर्षाऋतुमे वृक्षके नीचे और शरदऋतुमे नदीके तटपर ध्यानारूढ रहता था। दर्शन, ज्ञान, चारित्र और तप इन चारो आराधनाओका सेवन करता हुआ आत्म-शोधनमे प्रवृत्त रहता था। समाधिमरणसे प्राण त्याग करनेके कारण वह महाशुक्र नामक दशम स्वर्गमे महर्द्धिक देव हुआ और वहाँसे चयकर मनुष्य-पर्याय प्राप्त की।

प्रियमित्र चक्रवर्ती : साधनाने अंगड़ाई ली

धातकीखण्ड द्वीपके पूर्वविदेहमे पुष्कलावर्त्त नामक देश है। यहाँ पुण्डरी-

किणी नामकी रम्य नगरी है। इस नगरीका नृपति सुमित्र नामक राजा था। इसकी सुव्रता नामकी महिषी थी। इन दोनोके वह महर्द्धिक देव स्वर्गसे चयकर प्रियमित्र नामक पुत्र हुआ। पिताने पुत्र-जन्मोत्सव सम्पन्न करनेके लिये अर्हन्तकी पूजाके साथ चार प्रकारका दान दिया और नानाप्रकारसे गीत-नृत्यादि-पूर्वक उत्सव सम्पन्न किया। कुमार प्रियमित्र यथानाम तथागुण था। सभी लोग उसे प्यार करते थे।

पूर्व जन्मोमे की गयी साधना अब अगडाई ले रही थी। सकल्प इतना उग्र और उद्दीप्त हो चुका था कि अव उसे आवृत्त करनेमे सभी विकार अक्षम थे। अमृतकी सावना सफल हो रही थी और कुमार प्रियमित्रके समस्त जीवनके आदर्श आध्यात्मिकताकी ओर अग्रसर हो रहे थे। अनादिकालीन अर्जित कर्म-सस्कार शिथिल हो गये थे और आत्मतत्त्वरूप चैतन्य पूर्णतया उद्‌वुद्ध हो गया था। कषाय-विकाररूप विपके शमन होते ही रत्नत्रयकी अमृतधारा प्रवाहित होने लगी थी। कुमार ससारके विषयोसे उदासीन रहता था और उसे ससारके सभी भौतिक पदार्थ अस्थिर एव अहितकर प्रतीत होते थे।

कुमारकी उदासीनतासे माता-पिताको चिन्ता हुई और उन्होने उसे कुशल राजनीतिज्ञ और नेता वनानेके हेतु गुरुके समक्ष अध्ययनार्थ भेज दिया। कुशाग्रवुद्धि कुमारने अल्पकालमे कला और विद्याओमे प्रवीणता प्राप्त की।

युवा होनेपर पिताने उसका राज्याभिषेक किया। पूर्व पुण्यके अतिशय प्रभावसे उसे चक्रवर्त्तित्व, अष्टसिद्धियाँ एव नवनिधियाँ प्राप्त हुईं। प्रियमित्रने चक्ररत्नके प्राप्त होनेके अनन्तर षट्‌खण्ड पृथ्वीकी विजयके लिये प्रस्थान किया। वह चतुरगिणी सेना सहित भ्रमण करने लगा और विद्याधर, मण्डलेश्वर एवं अन्य नृपतियोको पराजित करता हुआ बढ़ने लगा। अनेक राजा और विद्या-धरोने अपनी सुन्दरी कन्याएँ उसे भेंटमे प्रदान की। चक्रवर्तीने रूप-लावण्यवाली छानवे हजार राजकन्याओसे विवाह किया। वत्तीस हजार मुकुटवध राजा चक्रवर्तीकी आज्ञा शिरोधार्य करते और उसके चरणकमलमे नमस्कार करते थे। चक्रवर्तीके पास चौरासी करोड पैदल सेना, सोलह हजार गणदेव और अठारह हजार म्लेच्छ राजा विद्यमान थे। उन्हे निम्नलिखित चौदह रत्न भी प्राप्त थे

(१) सेनापति—सेनानायक—युद्धकलाविशेषज्ञ (२) स्थपति—प्रधान इजिनीयर
(३) स्त्रीरत्न (४) हर्म्यपति
(५) पुरोहित (६) गजरत्न

(७) अश्वरत्न
(८) दण्डरत्न
(९) चक्ररत्न
(१०) चर्मरत्न
(११) काकिणी
(१२) मणि
(१३) छत्र
(१४) असि

चक्रवर्ती दिग्विजयके लिये प्रस्थान करते समय मार्गमे शिविर स्थापित करता था। सैन्य प्रस्थानके पूर्व ही सेनाके पडावका स्थान निश्चित हो जाता था। स्थपति अपनी देख-रेखमे शिविर निर्मित कराता था। शिविरके चारो ओर तम्बू लगाये जाते थे। मध्यमे चक्रवर्तीका तम्बू अनेक मगलद्रव्योंसे युक्त रहता था। चक्रवर्तीके तम्बूको घेरे हुए सामन्तोके तम्बू रहते थे और उसके पश्चात् बडे-बडे योद्धाओ एव सामान्यसैनिकोके। सैनिकोके मनोरजन एवं विश्रामके लिये वारागनाओके नृत्य होते थे। चक्रवर्ती अनेक प्रकारकी व्यूह-रचनामे भी पटु था। असहृतव्यूह, गौडव्यूह, चक्रव्यूह, दण्डव्यूह, मकरव्यूह, मण्डलव्यूह, भोगव्यूह, नागव्यूह आदिकी रचनासे अवगत था।

प्रियमित्र चक्रवर्तीको रत्न, देवियाँ, नगर, शय्या, आसन, सेना, नाट्यशाला, वर्त्तन, भोजन और वाहन ये दश प्रकारके भोग उपलब्ध थे, । वह अवतसिका माला धारण करता था। इस मालाके प्रभावसे सभी प्रकारके शारीरिक रोग दूर हो जाते थे। सूर्यप्रभछत्र द्वारा उसके शरीरकी कान्ति वृद्धिगत होती थी। अणिमा, महिमा, गरिमा, लघिमा, प्राप्ति, प्राकाम्य, ईशित्व और वशित्व ये आठ सिद्धियाँ भी उसे प्राप्त थी। भौतिक दृष्टिसे उसे किसी वस्तुकी कमी नही थी। नवनिधियाँ उसके भौतिक ऐश्वर्यकी वृद्धिमे प्रयुक्त थी। आधुनिक अध्ययनकी दृष्टिसे ये निधियाँ शिल्पशालाएँ (Factories) प्रतीत होती हैं। कालनामक निधि यन्त्रशालामे ग्रन्थ-मुद्रण या ग्रन्थ-लेखनका कार्य होता था। चक्रवर्तीके राज्यव्यवस्था-संबधी सभी कागज-पत्र इस शिल्पशालामे सुरक्षित रहते थे। महाकालनिधि शिल्पशालामे विभिन्न प्रकारके आयुध तैयार किये जाते थे। सर्वरत्ननिधिमे शय्या, आसन एव भवनोके उपकरण निर्मित होते थे। यो तो सर्वरत्ननिधिमे प्रधानरूपसे, नील, पद्मराग, मरकतमणि, माणिक्य, हीरक आदि विभिन्न प्रकारकी मणियोको खानसे निकालकर उन्हे सुसस्कृत रूपमे उपस्थित करनेका कार्य किया जाता था। पाण्डुनिधिमे धान्यो और रसोकी उत्पत्ति निष्पन्न की जाती थी। पद्मनिधिनामक व्यवसाय-केन्द्रसे रेशमी एव सूती वस्त्र तैयार होते थे। दिव्याभरण एव धातु-सम्बन्धी कार्य पिंगलनामक व्यवसाय-केन्द्रमे सम्पन्न किये जाते थे। माणवनामक उद्योगगृहसे शस्त्रोकी प्राप्ति होती थी। प्रदक्षिणावर्त्त नामक उद्योगशालामे सुवर्ण तैयार किया जाता था।

शंखनामक उद्योगशालामे शखकी सफाई कर उसे शुद्धरूपमे उपस्थित किया जाता था। नैसर्प्यनिधिमे भवन, पुल एव अन्य उद्योगगृह निर्मित करनेका कार्य सम्पन्न किया जाता था। इस प्रकार प्रियमित्र चक्रवर्तीके यहाँ नव प्रकारकी उद्योगशालाएँ विद्यमान थी। निधियोके कार्योके वर्णनसे अवगत होता है कि वस्तुत ये चक्रवर्तीकी उद्योगशालाएँ ही थी, जिनसे विभिन्न प्रकारकी भौतिक आवश्यकताएँ पूर्ण की जाती थी।

प्रियमित्र चक्रवर्ती इस वैभवको प्राप्त कर भी अनासक्त रहता था। उसे अर्थ और काम दोनो ही पुरुषार्थ सदोष प्रतीत होते थे। धर्म पुरुषार्थकी ओर उसका विशेष झुकाव था। वह निरन्तर श्रावकधर्मका सेवन करता हुआ मन्दिर और मूर्तियोके निर्माणमे भी सलग्न रहता था। प्रतिदिन देव-पूजन करता हुआ मुनियोको प्रासुक आहार देता था। वह अहर्निश अशुभ वृत्तियोका त्याग कर शुभ वृत्तियोके प्राप्त करनेकी चेष्टा करता था। सुन्दर रमणियाँ, उच्च अट्टालिकाएँ, छानवे करोड़ ग्राम, उद्योगशालाएँ एव गज-अश्वादि वैभव निस्सार प्रतीत होते थे। अनेक जन्मोमे अर्जित धर्म-सस्कार उसे तीर्थंकरत्वके बन्धके लिये प्रेरित कर रहे थे।

एक दिन वह चक्रवर्ती पुरजन-परिजनके साथ क्षेमंकर तीर्थंकरकी वन्दनाके लिये चला। समवशरणमे पहुँच उसने तीन प्रदक्षिणाएँ दी और मनुष्यके कक्षमे बैठ तीर्थंकरकी पूजा की। तीर्थंकरकी दिव्यध्वनि हो रही थी। आयु-वैभव, ऐश्वर्य, इन्द्रियसुख विद्युत्के समान क्षणभगुर बताये जा रहे थे। सात तत्त्व और नव पदार्थोके स्वरूपका विवेचन किया जा रहा था। चतुर्गतिके दुःखोका वर्णन सुन चक्रवर्तीका उद्बुद्ध विवेक और अधिक जागृत हो गया और उसने सवेगसे प्रभावित हो निर्ग्रन्थ-दीक्षा धारण की। उसने नाना प्रकारके परीषह और उपसर्गोको सहा और आयुके अन्तमे प्राण-त्याग कर सहस्रार नामक द्वादशम स्वर्गमे सूर्यप्रभ नामका महान् देव हुआ। वहाँसे चयकर मनुष्य-पर्याय प्राप्त की।

नन्दभव : सफल हुई कामना : तीर्थंकरत्वका बन्ध

प्रियमित्रके जन्ममे राजचक्रवर्त्तित्वको ठुकरा कर उन्हे धर्मचक्रवर्ती बनना अभीष्ट था। अतएव महावीरका जीव सभी प्रकारसे आत्म-शोधनमे प्रवृत्त हुआ। उसने स्वर्गसे च्युत हो छत्रपुर नामक नगरके राजा नन्दिवर्द्धन और उनकी पुण्यवती रानी वीरमतीके यहाँ पुत्र रूपमे जन्म ग्रहण किया। शिशु अपने रूप-गुणोसे जगतको आनन्दित करनेवाला था। अतएव पिताने उसका नाम नन्द रखा। पुत्र-जन्मोत्सव उत्साहपूर्वक सम्पन्न किया गया और क्रमश किशोर

अवस्थाको प्राप्त होनेपर शस्त्र और शास्त्र विद्याके अर्जन हेतु उसे गुरुके आश्रममे प्रविष्ट कराया गया। विद्या और कलाओमे पाण्डित्य प्राप्त करनेके पश्चात् युवा होनेपर उसका राज्याभिषेक सम्पन्न किया गया। अपूर्व लावण्यवती कन्याके साथ उसका विवाह भी सम्पन्न हुआ। अतएव वह उत्तम भोगोको भोगता हुआ राज्यका सचालन करने लगा।

पूर्व जन्मोमे की गई साधनाके फलस्वरूप वह अपने सम्यक्त्वको उत्तरोत्तर निर्मल बनानेके लिए प्रयत्नशील रहने लगा। ससारमे अनन्त पदार्थ है और वे दो वर्गो जड एव चेतनमे विभक्त हैं। जड और चेतनका भेदविज्ञान करना ही सम्यग्दर्शनका वास्तविक उद्देश्य है। 'स्व' और 'पर' का, आत्मा और अनात्माका, चैतन्य और जडका जबतक भेद-विज्ञान नही होता है, तबतक 'स्व' रूपकी उपलब्धि नही मानी जा सकती है। 'स्व' रूपकी उपलब्धि होते ही यह आत्मा कर्मके बन्धनोमे बध नही सकती। जिसे आत्मबोध एव चेतना-बोध हो जाता है, वही आत्मा यह निश्चयकर पाती है कि मैं शरीर नहीं हूँ, मै मन नही हूँ, यह सब कुछ भौतिक है और है पुद्गलमय। इसके विपरीत मै चेतन हूँ, आत्मा हूँ, अभौतिक हूँ और पुद्गलसे सर्वथा भिन्न हूँ। आत्मा ज्ञान-रूप है और पुद्गल जडरूप। जबतक आत्मा और पुद्गलमे स्वरूपत. भेदा-नुभूतिका अनुभव नही किया जाता तबतक अध्यात्म-क्षेत्रसे अज्ञान और मिथ्यात्व दूर नही हो पाते। अज्ञान और मिथ्यात्वके निराकरणका साधन सम्यग्दर्शनमूलक सम्यग्ज्ञान है। सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञानसे ही आत्मा यह निश्चय करती है कि पुद्गलका एक कण भी मेरा अपना नही है। मै त्रिकाला-वच्छिन्न शुद्ध-बुद्धरूप हूँ। शरीरादि पुद्गलद्रव्योकी सत्ता सदा रहेगी, पर इनके प्रति जो आसक्ति या ममता है, उसे दूर करना ही पुरुषार्थ है। आत्मज्ञानकी उपलब्धि होनेके अनन्तर अज्ञान और मिथ्यात्व सहजमे दूर हो जाते हैं।

इस प्रकार चिन्तन करता हुआ वह श्रावकके द्वादश व्रत पालन करनेमे प्रवृत्त हुआ। वह पर्वदिनोमे आरम्भका त्यागकर उपवास करता। मुनियोको भक्तिपूर्वक आहारदान देता और चैत्यालयोमे जिनेन्द्रदेवकी महान् पूजा करता था। उसकी समस्त अशुभ प्रवृत्तियोका निरोध हो चुका या और उसका मन विकारोके दूर होनेसे पवित्र हो गया था। वह परिमित रूपमे सासारिक विषय-भोगोका सेवन करता था, पर उसकी आन्तरिक प्रवृत्ति उससे विलग थी। कुछ समय तक राज्यकार्य सचालन करनेके अनन्तर नन्द भव्यजीवो सहित धर्म श्रवणके हेतु श्रुतकेवली प्रोष्ठिल मुनिकी वन्दनाके लिये गया। उनके चरणोमे बैठकर उसने उत्तमक्षमादि दश धर्मोके स्वरूपको सुना और चिन्तन किया.

"यह संसार अनन्त दुःखोकी खान है। काम, क्रोध, लोभ, मोहादि सदा इसे विचलित करते हैं। इन्द्रियोके विषय अपनी ओर आकृष्ट करनेके लिये सदा प्रयत्नशील रहते हैं। अतएव मुझे इस राज्यवैभव और समस्त गृहस्थीके दायित्व-का त्यागकर आत्म-शोधनमें प्रवृत्त होना चाहिये। अब इन सासारिक प्रपचोमे फँसना मूर्खताके अतिरिक्त और कुछ नहीं है।" इस प्रकार विचार कर नन्दने समस्त अतरग और वहिरग परिग्रहका त्याग कर निर्ग्रन्थ-दीक्षा ग्रहण की। वह भेद-विज्ञानका चिन्तन करता हुआ आत्मालोकसे भर गया। नन्द मुनिने द्वादश तपोका भली प्रकार आचरण किया, जिससे उनकी तृष्णा, लालसा आदि सभी कुण्ठाएँ समाप्त हो गयी। आलोचना, प्रतिक्रमण करते हुए उसने धर्मध्यान और शुक्लध्यानका अभ्यास आरम्भ किया। तीर्थंकर-सम्पत्तिको देनेवाली दर्शनविशुद्धि आदि सोलह भावनाओका सम्यक्चिन्तन कर धर्मनेता वनानेवाली तीर्थंकर-प्रकृतिका वन्ध किया। लौकिक नेता वनना सहज है, सरल है, पर आध्यात्मिक नेताका वनना सहज साध्य नही है। विरले ही व्यक्ति इस पदको प्राप्त कर पाते हैं।

नन्दमुनिने अपने मनसे समस्त विकारोको निकाल वाहर किया। मन, वचन और कर्मकी प्रवृत्तिको नियत्रित किया। अहिंसा, सत्य, सयम और शीलका आचरण ही मनुष्यको धर्मनेता वननेके लिये प्रेरित करता है।

नन्दमुनिने उक्त श्रुतकेवलीके पादमूलमे स्थित होकर निम्नलिखित सोलह कारणभावनाओका चिन्तन कर तीर्थंकर-प्रकृतिका अर्जन किया।

(१) दर्शनविशुद्धि सम्यग्दर्शनके साथ लोककल्याणकी भावना दर्शन-विशुद्धि है। 'स्व' रूपकी आस्थाके हेतु जीवादि तत्त्वोका यथार्थ श्रद्धान परमावश्यक है और इन तत्त्वोके श्रद्धानार्थ आप्त, आगम एव गुरुका श्रद्धान अपेक्षित है। आठ अग सहित और पच्चीस दोष रहित आत्म-श्रद्धाका विकास करना दर्शनविशुद्धि भावना है। तीर्थंकरनाम-कर्मका बन्ध करानेवाले कारणोमे दर्शन-विशुद्धिका रहना अनिवार्य है।

(२) विनयसम्पन्नता सम्यग्ज्ञानादि मोक्षमार्ग और उसके साधन गुरु आदिके प्रति उचित आदर-सत्कार रखना विनयसम्पन्नता है। विनयके पाँच भेद हैं दर्शन, ज्ञान, चारित्र, तप और उपचार। सम्यग्दर्शन निर्दोष धारण करना तथा सम्यग्दृष्टिजीवोका यथासभव सत्कार करना दर्शनविनय है। सम्यग्ज्ञानको धारण करना तथा सम्यग्ज्ञानी पुरुषोका यथोचित सत्कार करना ज्ञानविनय है। यथार्थमे ज्ञानविनय वही है, जिससे सम्यग्ज्ञानका विकास हो सके। श्रद्धा

और भक्तिपूर्वक स्वाध्याय करना और आत्मविवेकको जागृत करना ज्ञानविनयके अन्तर्गत है।

यथाशक्ति रुचिपूर्वक कल्याणकारी सम्यक्चारित्रको धारण करना एवं सम्यक्चारित्रके धारी पुरुषोंमें पूज्य भाव रखना चारित्रविनय है। इन्द्रिय और मनोनिग्रहपूर्वक समताभावसे क्षुधा, तृषादिका कष्ट सहनकर अनशन, ऊनोदरादि तपोंमें प्रवृत्त होना तथा साधु-तपस्वियोंके प्रति पूज्य भाव रखना तप-विनय है। अपनेसे गुणाधिक व्यक्तियोंमें भक्ति-भाव रखना, शिष्टता और नम्रतापूर्वक उनके साथ संभाषण करना, उच्चासन देना, उनकी आज्ञा स्वीकार करना, उपचारविनय है। विनयगुणके धारण करनेसे आत्मशक्तिका विकास होता है और कषायें मन्द होती हैं।

(३) शीलव्रतानतिचार अहिंसा, सत्य आदि व्रत हैं और इनके पालनेमें सहायक क्रोध, मान आदि कषायोंका त्याग शील है। इनका निर्दोष रीतिसे पालन करना शीलव्रतानतिचारभावना है। आशय यह है कि शीलव्रतोंके पालन करनेमें मन-वचन-कायकी निर्दोष प्रवृत्ति शीलव्रत-अनतिचार है। शील आत्माका स्वभाव है। इस स्वभावसे भिन्न परभावोंका निरोध करना शीलव्रत-अनतिचारभावना है। इन्द्रिय और मनकी प्रवृत्तियोंको निरन्तर शुभ बनाये रखनेकी चेष्टा इस भावनाका लक्ष्य है।

(४) अभीक्ष्णज्ञानोपयोग जीवादि स्वतत्त्वविषयक सम्यग्ज्ञानमें निरन्तर समाहित रहना अभीक्ष्णज्ञानोपयोग है। इस भावनाका आशय सप्त तत्त्वोंका निरन्तर अभ्यास और चिन्तन है। ज्ञानमें सदा उपयोगके रहनेसे मन संयमित रहता है और विषयोंकी ओर उसकी प्रवृत्ति नहीं होती है। अत वह विषयोंकी चाहकी दाहसे अछूता रहता है। जैसे-जैसे ज्ञान और अनुभव वृद्धिंगत होते हैं, वैसे-वैसे आनन्दका लाभ होता है।

(५) अभीक्ष्णसंवेग सांसारिक भोगसम्पदाएँ दुखका कारण हैं। उनसे निरन्तर भयभीत रहना अभीक्ष्णसंवेग है। संसारके विषयोंसे भयभीत रहते हुए धर्म, धर्मात्मा और धर्मके फलमें अनुराग करना संवेगभावना है।

(६) शक्तित- त्याग अपनी शक्तिको बिना छिपाये मोक्षमार्गमें उपयोगी आहार, अभय और ज्ञानदान देना यथाशक्ति त्याग है।

(७) शक्तित तप अपनी शक्तिको बिना छिपाये अनशन, ऊनोदर, वृत्ति-परिसंख्यान, रसपरित्याग आदि तप करना यथाशक्ति तप है। सम्यक्प्रकार इच्छाओंका निरोध करना तप है। इस तपका यथाशक्ति आचरण करना ही इस भावनाका रहस्य है।

(८) साधुसमाधि- तपश्चर्यामें अनुरक्त साधुओंके ऊपर आपत्ति आनेपर उसका निवारण करना और ऐसा प्रयत्न करना जिससे वे स्वस्थ रहें साधु-समाधि है।

(९) वैयावृत्यकरण गुणी पुरुषोंके कष्टमें पडने पर उनके कष्टको दूर करनेका प्रयत्न करना वैयावृत्यकरण है। वैयावृत्यका अर्थ सेवा करना है। जब रोगादिके कारण कोई प्राणी अस्वस्थ हो जाय, उस समय उसके श्रद्धानको अडिग बनाये रखनेके लिये वैयावृत्ति आवश्यक होती है। यह दो प्रकारसे संभव है भक्ति और करुणासे। जो दर्शन, ज्ञान, चारित्र, तपादि गुणोंसे उन्नत हैं, उसकी सेवा करना भक्तिसेवा है और गुण-दोषोंकी ओर दृष्टिपात न करके करुणा या दयावश सेवा करना करुणासेवा है।

(१०) अर्हद्भक्ति अरहन्त भगवान्‌की उपासना करना अर्हन्तभक्ति है। यह भक्ति ही चतुर्गतिके दुःखोंसे दूर कर सकती है और इसीके द्वारा सम्यक्त्व निर्मल होता है।

(११) आचार्यभक्ति दीक्षा-शिक्षा देनेवाले गुरुकी उपासना करना आचार्य-भक्ति है।

(१२) बहुश्रुतभक्ति द्वादशांगवाणीके ज्ञाता उपाध्याय परमेष्ठीकी भक्ति करना बहुश्रुतभक्ति है।

(१३) प्रवचनभक्ति परिणामोंकी निर्मलतापूर्वक प्रवचन जिनागममें अनुराग रखना प्रवचनभक्ति है।

(१४) आवश्यकापरिहाणि षट् आवश्यक क्रियाओंको यथासमय करते रहना आवश्यकापरिहाणि भावना है।

(१५) मार्गप्रभावना रत्नत्रयरूप मोक्षमार्गको स्वयं जीवनमें उतारना और समयानुसार उपयोगी कार्यों द्वारा सर्वसाधारण जनताका उसके प्रति आदर उत्पन्न करना मार्गप्रभावना है।

(१६) प्रवचनवात्सल्य साधर्मी प्राणियोंमें निष्कपट भावसे प्रेम करना, यथाशक्ति आदर-सत्कार करना एवं निष्काम भावसे उनकी सहायता करना प्रवचनवात्सल्य भावना है।

नन्दमुनि तीर्थंकरनामकर्मकी कारणभूत इन सोलह प्रकारकी भावनाओंका चिन्तन करता रहा, जिनके फलस्वरूप उसने तीर्थंकरनामकर्मका बन्ध किया।[1]

१ एदेहि सोलसेहि कारणेहि जीवो तित्थयरणामागोदं कम्मं बंधदि (षट्खण्डागम)।

उसने सोलह कारणभावनाओको अपनी जीवनचर्यामे अनुस्यूत कर लिया और समभावोसे शरीर त्याग कर अच्युत स्वर्गके पुष्पोत्तरविमानमे बाईस सागरकी आयुवाले अच्युतेन्द्रका पद प्राप्त किया। यहाँसे च्युत हो वह तीर्थंकर महावीरका पद प्राप्त करेगा।

इस प्रकार महावीरके जीवने आत्मोन्नतिके पथमे अनेक प्रकारसे उन्नति और अवनतिके झकोरोको सहा। शारीरिक पूर्णताके साथ आध्यात्मिक उन्नति प्राप्त हुई। इसमे सन्देह नही कि तीर्थंकर बननेके लिये एक जन्मकी साधना नगण्य है। इसके लिये कई जन्मो तक साधना या तपश्चर्या करनी पड़ती है। शिकारी पुरुरवाभीलकी पर्यायमे उन्हे अहिसा और श्रमकी जो सम्पत्ति प्राप्त हुई, उसीके प्रभावके फलस्वरूप धर्मनेता बननेके हेतु उन्होने तीर्थंकर प्रकृतिका बन्ध किया।

उत्तरपुराणमे आचार्य गुणभद्रने लिखा है

> सप्राप्य धर्ममाकर्ण्य निर्णीताप्तागमार्थक.।
> सयम सप्रपद्यासु स्वीकृतैकादशाङ्गक ॥
> भावयित्वा भवध्वसि तीर्थकृन्नामकारणम्।
> बद्ध्वा तीर्थकर नाम सहोच्चैर्गोत्रकर्मणा[1] ॥

धर्मका स्वरूप सुनकर उसने आप्त, आगम तथा पदार्थका निर्णय किया और सयम धारण कर शीघ्र ही ग्यारह अगोका पाठी बन गया। उसने तीर्थंकरप्रकृतिका बध होनेमे कारणभूत और ससारको नष्ट करनेवाली दर्शनविशुद्धयादि सोलह कारणभावनाओका चिन्तनकर उच्चगोत्रके साथ तीर्थंकर-प्रकृतिका बध किया।

•

१ उत्तरपुराण, भारतीय ज्ञानपीठ-संस्करण, ७४ वाँ पर्व, श्लोक २४४-२४५.

तृतीय परिच्छेद

समसामयिक परिस्थितियाँ, महान् विचारक एवं संप्रदाय

ई० पूर्व ६००-७०० मे भारतमे ही नही विदेशोमे भी जनक्रान्ति और धर्मक्रान्ति हुई थी। इस युगमे राजनीति, समाज और धर्मसवन्धी मान्यताएँ परिवर्तित हो रही थी। समस्त ससारके मानवका मस्तिष्क उद्विग्न था। फलतः धार्मिक अभ्युत्थानके हेतु चीनमे लाओत्से और कन्फ्यूशियस एव यूनानमे सोक्रेटिज तथा प्लेटोने जनमानसको बदलनेका प्रयास किया था। प्रसिद्ध इतिहासकार एच० जी० वेल्सका अभिमत है कि ई० पूर्व छठी शताब्दी ससारके इतिहासमे महत्त्वपूर्ण काल है। इस शताब्दीमे मनुष्यकी चेतना सर्वत्र रूढिवादी परम्पराओको बदलनेके लिये क्रियाशील थी। प्रत्येक विचारक रूढियो, बुराईयो और स्वार्थोको ध्वसकर मानवताकी नयी प्रतिष्ठा करनेके लिये प्रयत्नशील था। लिखा है "This sixth Century B C. was indeed one of the most remarkable

in all history Everywhere men's minds were displaying a new boldness Everywhere they were waking up out of the tradition of kingships and priests and blood sacrifices and asking the most penetrating questions it is as if the race had reached a stage of addescence"

इस उद्धरणसे स्पष्ट है कि ई० पूर्व छठी शताब्दीमें मनुष्य-समाजमे अशान्ति और असतोष फैला हुआ था। धर्मसिद्धान्तोके प्रति विश्वास परिवर्तित हो रहे थे। राजनीति और समाजमे भी यथेष्ट परिवर्तन हो रहे थे। उस समय भारतमे कही राजतन्त्र था, तो कही गणतन्त्र। कुछ अशोमे दोनोका समन्वय भी प्राप्त होता था। गणराज्योमे शासनकी बागडोर जनताके हाथमे रहती थी अत: जनता राजाओ द्वारा शासित नही होती थी। वज्जी, मल्ल और शूरसेन आदि गणराज्य थे। राजतन्त्रमे वशक्रमानुगत एक राजा शासक होता था, जिसकी आज्ञाका पालन समस्त जनता करती थी। ऐसे राज्योमे अवन्ति, वत्स, कोशल और मगध प्रधान थे। ये जनपद साम्राज्य-स्थापनाके लिये आपसमे सघर्षरत रहते थे। राजतन्त्र भी सर्वत्र एक ही तरहका था, ऐसा नही कहा जा सकता है। मगधमे जहाँ राजा सर्वश्रेष्ठ था, वही सिन्धुमे राजा केवल युद्धमे नेतृत्व करता था और शासनकार्य वृद्धजनोकी परिषद् द्वारा सम्पन्न होता था।

वैदिक युगमें आर्यसभ्यताके प्रतिनिधि निम्नोक्त नव राज्य थे

(१) गधार-सिन्धुके दोनो ओर विस्तृत राज्य जिसकी राजधानियाँ पूर्वमें तक्षशिला और पश्चिममे पुष्कलावती नामक नगरियोमें थी। छादोग्य उपनिषद् (६।१४) के अनुसार विचारक उद्दालक, आरुणि, गंधारसे परिचित थे। जातक (सख्या ३७७ एव ४८७) के अनुसार आरुणि पिता-पुत्र दोनो तक्षशिलाके विद्यार्थी थे। यह राज्य पर्याप्त विस्तृत था।

(२) कैकय यहाँके दार्शनिक राजा अश्वपति प्रसिद्ध थे।

(३) मद्र आचार्य पतजलिको यहीका निवासी माना गया है।

(४) वशकुशीनर मध्यदेशका उत्तरी भाग, गोपथब्राह्मण (२।९) मे इसे उदीच्य देश कहा है।

(५) मत्स्य राजस्थानका भरतपुर, अलवर, धौलपुरके आस-पासका प्रदेश। यह विद्याका प्रसिद्ध स्थान रहा है।

१ महावीर-जयन्ती-स्मारिका, जयपुर १९७३, पृ० २७

(६) कुरु ।
(७) पचाल ।
(८) काशी यहाँके दार्शनिक राजा अजातशत्रु प्रसिद्ध थे ।
(९) कोशल ।

इन जनपदोके अतिरिक्त मगध, अग, आन्ध्र, पुलिन्द, पुण्ड्र और निषध जनपद भी प्रसिद्ध थे ।

भारतीय इतिहासके आलोडनसे अवगत होता है कि महाभारतके उपरान्त उत्तरभारतमे वैदिक क्षत्रियोने बारह राज्योकी स्थापना की थी (१) वत्स, (२) कुरु, (३) पाचाल, (४) शूरसेन, (५) कोसल, (६) काशी, (७) पूर्वविदेह, (८) मगध, (९) कलिंग, (१०) अवन्ति, (११) माहिष्मती और (१२) अश्मक ।

इन द्वादश राज्योमे कुरु, पाचाल, कोशल, विदेह और काशी ये पाँच प्रमुख राज्य थे । ये सभी राज्य उस समय वेदानुयायी आर्य क्षत्रियोके थे । इनके अतिरिक्त अवशिष्ट राज्य श्रमणोपासक क्षत्रियोके थे, जो पूर्व, पश्चिम, उत्तर और दक्षिणमे अवस्थित थे ।

कहा जाता है कि हस्तिनापुरमे कुरु और कुरुवशियोका राज्य स्थित था । अर्जुनका पौत्र परीक्षित उस राज्यका अधीश्वर था । इस समय नाग और द्रविड जातियाँ अपनी शक्ति बढानेमे लगी थी तथा तक्षशिला और सिन्धुमुखकी पातालपुरीके नाग विशेष शक्तिशाली हो गये थे । फलत तक्षशिलाके नागवशी राजाओने कुरु राज्यपर आक्रमण किया और इसी युद्धमे परीक्षितकी मृत्यु हुई । परीक्षितके पुत्र जन्मेजयको भी नागोसे युद्ध करते हुए अपना जीवन व्यतीत करना पडा । जन्मेजयके पश्चात् शतानीक, अश्वमेधदत्त, और अधिसोमकृष्ण क्रमश सिहासनपर आसीन हुए । अधिसोमके समयमे अयोध्यामे दिवाकर, मगधमे प्रसेनजित, विदेहमे जनक एव पजाबमे प्रवाहण जैवालका प्रभाव वृद्धिगत हो रहा था । अधिसोमके पुत्र निचक्षुके समयमे नागोका आक्रमण विशेष प्रबल हुआ और हस्तिनापुर पर उनका अधिकार हो गया । इसी समयसे हस्तिनापुरका नाम नागपुर या हस्तिनागपुर प्रचलित हुआ । सम्भवत यह घटना ई० पूर्व ८ वी ९ वी शताब्दीकी है ।

इस युगमे विदेहमे भी राज्य-क्रान्ति हुई और प्रजाने वहाँके कामी राजा कराल-जनकको समाप्त कर विदेहसे जनकोकी राजसत्ताका अन्त कर दिया और वहाँ सघराज्यकी स्थापना हो गयी । उसी समय विदेहके पड़ोसमे वैशाली के लिच्छवियोका सघराज्य विकसित हो रहा था । अतः विदेहका सघराज्य

भी इसीमे सम्मिलित हो गया और फलस्वरूप सुप्रसिद्ध वृजि या वज्जिगणकी स्थापना हुई।

काशीमे उरग या नागवशी क्षत्रियोका राज्य स्थापित हुआ। इस वशमे ब्रह्मदत्त नामका चक्रवर्ती सम्राट् हुआ। काशीकी राजसत्ता बहुत बढ रही थी और मध्यदेशमे यह प्रमुख शासनशक्ति थी। कोशल भी इसके अधीन था तथा गोदावरीका तटवर्ती अश्मक राज्य भी इसीमे सम्मिलित था। कहा जाता है तीर्थंकर पार्श्वनाथका जन्म इसी नागवशमे हुआ था। ई० पू० ८वी शतीमे मगधमे भी राज्यविप्लव हुआ और बार्हद्रथोका पतन होनेके अनन्तर काशी-नरेश शिशुनागको मगधवालोने आमन्त्रित किया और मगधमे इस राजवंशकी प्रतिष्ठा हो गयी। इस प्रकार ई० पूर्व छठी शतीके लगभग महाभारतकालीन समस्त वैदिक राजसत्ताओका अन्त हो गया और उनके स्थानपर नागादि विद्याधर, लिच्छवि, मल्ल, मौर्य आदि व्रात्य क्षत्रियोने राजसत्ताएँ स्थापित की।

डॉ० राधाकुमुद मुकर्जीने[1] अगुत्तरनिकायमे[2] आये हुए सोलह जनपदोकी सूची निम्नप्रकार प्रस्तुत की है

(१) अग
(२) मगध
(३) कासी
(४) कोसल
(५) वज्जि
(६) मल्ल
(७) चेटि (चेदि)
(८) वस (वत्स)
(९) कुरु
(१०) पचाल
(११) मच्छ (मत्स्य)
(१२) सूरसेन
(१३) अस्सक (अश्मक)
(१४) अवन्ति
(१५) गधार
(१६) कम्बोज

१ हिन्दू सभ्यता, हिन्दी-सस्करण, राजकमल प्रकाशन, द्वितीय सस्करण, पृ० १७६
२. १।२१३, ४।२५२, ४।२५६, ४।२६०

इन जनपदोंमें सात जनपद प्रमुख थे :

(१) कलिंग राजधानी दंतपुर,
(२) अस्सक राजधानी पोतन,
(३) अवन्ति राजधानी माहिस्सति,
(४) सौवीर मुख्य नगर रोरुक,
(५) विदेह राजधानी मिथिला,
(६) अंग राजधानी चम्पा,
(७) काशी राजधानी वाराणसी।

भगवतीसूत्रमें भी अंग, बंग, मगह, मलय, मालव, अच्छ, वच्छ (वत्स), कोच्छ, पाढ़ (पुण्ड्र), लाढ (राढ), वज्जि, मोलि (मल्ल), काशी, कोसल, अवाह, सम्भुत्तर इन सोलह जनपदोंके नाम प्राप्त होते हैं।

अंग यह मगधके पूर्वमें था। इसकी राजधानी चम्पा थी। आधुनिक बिहारके भागलपुरका चम्पानगर आज भी इसकी धरोहरके रूपमें सुरक्षित है। चम्पा उस समय भारतवर्षकी सबसे प्रसिद्ध नगरियोंमें थी। यह कला, संस्कृति, सभ्यता और व्यापारका केन्द्र थी। इस राज्यने विशेष उन्नति की, पर शनैः शनैः इसकी शक्तिका ह्रास आरम्भ हुआ। मगधसे सदा संघर्ष होता रहा और अन्तमें मगधने इस राज्यको पराजित कर अपनेमें मिला लिया।

मगध मगधकी राजधानी राजगृह नगरी थी। उस समय राजगृहका वैभव बहुत ही प्रसिद्ध था। मगधमें पटना और गयाके आधुनिक जिले भी सम्मिलित थे। प्राग्बुद्धकालमें बृहद्रथ और जरासंध यहाँके प्रमुख शासक थे। बताया जाता है कि अंगके शासक ब्रह्मदत्त और अन्य राजाओंने मगधके राजाओंको परास्त किया था, पर अंतमें मगधकी ही जीत हुई।

काशी इसकी राजधानी वाराणसी थी, जो वरुणा और असी नदियोंके संगमपर बसी थी। यह नगरी बारह योजन विस्तृत बतलायी गयी है। 'महा-वग्ग'में काशी देशका विस्तृत वर्णन आया है। वैभव, शिल्प, बुद्धि एवं ज्ञानके लिये यह राज्य प्रसिद्ध रहा है। कोशलराज्यके साथ इसका विशेष संघर्ष रहा है। काशीराज्यकी शक्ति इस संघर्षके कारण दिनानुदिन क्षीण होती गयी और अंतमें इसका पतन हो गया।

कोशल उत्तरप्रदेशके मध्यमें उत्तरकी ओर कोशल राज्य स्थित था। इसकी राजधानी श्रावस्ती थी। अयोध्याका महत्त्व उस समय तक घट गया था

और श्रावस्तीका महत्त्व बढ़ता जा रहा था। काशीके साथ इसका संघर्ष बहुत दिनों तक चला और अंतमें काशीके अस्तित्वको समाप्त कर कोशल-राजाओंने अपने साम्राज्यका विस्तार किया। श्रावस्ती नगरीका व्यापारकी दृष्टिसे बड़ा महत्त्व था। शाक्योंकी राजधानी कपिलवस्तु इसी कोशल राज्यके अंतर्गत थी।

वृज्जि यह आठ राज्योंका एक संघ था। जिसमें लिच्छवी, विदेह, और ज्ञातृक (नाथवंश) विशेष महत्त्वपूर्ण थे। ये सभी उत्तर-विहारमें थे। महावीर और बुद्धके समय तक वृज्जिसंघ विद्यमान था। पाणिनि और कौटिल्यने भी वृज्जियोंके उल्लेख किये हैं। यहाँ गणतान्त्रिक शासनपद्धति थी और इस संघकी राजधानी वैशाली थी। उन दिनों वैशाली संस्कृति और सभ्यताका प्रधान केन्द्र थी। वृज्जिशासनमें प्रत्येक ग्रामका प्रमुख राजा कहलाता था। राज्यके सामूहिक कार्यका विचार एक परिषद्द्वारा होता था, जिसके वे सभी सदस्य होते थे।

मल्ल वृज्जियोंके पड़ोसी मल्ल थे और उनका भी गणराज्य था। ये लोग वृज्जिके पश्चिम और कोशलके पूर्वमें थे। पावा और कुशीनगर इस राज्यके प्रमुख नगर थे। मल्ल दो भागोंमें विभक्त थे। एक भाग कुशीनगरमें रहता था और दूसरा पावामें। महाभारतमें मल्लके दोनों राज्योंका उल्लेख है।

चेदि आधुनिक बुन्देलखण्डके अन्तर्गत यह राज्य था और इसकी राजधानी शक्तिमती थी। शिशुपाल यहींका राजा था।

वत्स काशीके पश्चिममें यह जनपद स्थित था। पुराणोंके अनुसार राजा विचक्षुने यमुना नदीके तटपर अपने राजवंशकी स्थापना हस्तिनापुरके राज्य-पतनके अनन्तर की थी। इसकी राजधानी कौशाम्बी थी। यह व्यापारिक मार्गपर स्थित था, इसलिये इसका विशेष महत्त्व था। अवन्तिके साथ इसका निरंतर संघर्ष चलता रहता था।

कुरु दिल्ली और मेरठके समीपवर्ती प्रदेशमें यह राज्य स्थित था और इसकी राजधानी इन्द्रप्रस्थ थी। एक जातकके अनुसार इस राज्यमें तीनसौ संघ थे। उत्तराध्ययनसूत्रमें यहाँके इक्ष्वाकु नामक राजाका उल्लेख आया है। जातक-कथाओंमें सुतसोम, कौरव और धनञ्जय यहाँके राजा माने गये हैं। प्रारम्भमें यहाँ राजतन्त्र था, तदनन्तर यहाँ गणतन्त्रकी स्थापना हुई। यह धर्म और शील-प्रधान जनपद था।

पांचाल कुरु और पांचाल मिलकर सम्भवतः एक राष्ट्र गिना जाता था। अतः कुरु राष्ट्रकी राजधानी कभी इन्द्रप्रस्थ, कभी काम्पिल्यनगर और कभी उत्तर

पांचालनगरमे अवस्थित रहती थी। पाचाल देश कोशल और वत्सके पश्चिम तथा चेदिके उत्तर था। कुरु इसके पश्चिम और व्रजभूमिके उत्तर था। ये दोनो प्राचीन जनपद थे, पर इनका महत्त्व घट रहा था। पाचाल जनपदकी दो शाखाएँ थी. उत्तरी और दक्षिणी। उत्तरी पाचालकी राजधानी अहिच्छत्र और दक्षिणी पाचालकी काम्पिल्य थी। आरम्भमे यहाँ राजतन्त्र था, परन्तु बादमे यहाँ गणतन्त्रकी स्थापना हुई।

मत्स्य आधुनिक अलवर, जयपुर और भरतपुर राज्योकी भूमिपर यह स्थित था। इसकी राजधानी विराटनगरी थी। मत्स्य पहले तो चेदियोके अधीन था, पर कुछ समय बाद मगधके अधीन हो गया।

शूरसेन कुरुके दक्षिण और चेदिके पश्चिमोत्तर यमुनाके दाहिने शूरसेनो-का राज्य था। इस जनपदकी मथुरा राजधानी थी। पहले यहाँ गणतन्त्र था, बादमे यहाँ राजतन्त्र हुआ।

अश्मक यह राज्य गोदावरीके तटपर स्थित था। इसकी राजधानी पाटेली (पोतन) थी। इस राज्यके राजा इक्ष्वाकुवशके थे। इनका अवन्तीके साथ निरन्तर सघर्ष चलता रहता था। शनै शनै यह राज्य अवन्तीके अधीन हो गया।

अवन्ती आधुनिक मालवा प्रान्त ही प्राचीन अवन्तीका राज्य है। उत्तरी अवन्तीकी राजधानी उज्जयिनी और दक्षिणी अवन्तीकी राजधानी माहिष्मती थी। प्राचीनकालमे यहाँ हैहय वशका शासन था।

गान्धार यह आधुनिक अफगानिस्तानका पूर्वी भाग था। यह पश्चिमी पजाब और काश्मीर तक विस्तृत था। इसकी राजधानी तक्षशिला थी। अवन्ती और गान्धारके बीच कई बार युद्ध हुए थे। मगधराज बिम्बसारका भी इस राज्यके साथ मित्रताका सम्बन्ध था। तक्षशिलामे एक प्रसिद्ध विश्वविद्या-लय था, जिसके कारण गान्धार विख्यात था।

कम्बोज गान्धार काश्मीरके उत्तर आधुनिक पामीरका पठार तथा उसके पश्चिम वरख्शॉम प्रदेश, कम्बोज महाजनपद कहलाता था। हाटक या राजपुर इस राज्यकी राजधानी थी।

इन सोलह जनपदोके अतिरिक्त भी उस समय भारतवर्षमे कई छोटे-छोटे राष्ट्र थे। गान्धार-कुरु तथा मत्स्यके बीच केकय, मद्रक, त्रिगर्त, यौधेय आदि तथा उनके पश्चिम और दक्षिण-पश्चिममे सिन्धु, शिवि, अम्बष्ठ, सौवीर आदि राष्ट्र थे। सोलह महाजनपदोमेसे गान्धार-कम्बोजका युगल तो एक ओर था, किन्तु अवशिष्ट सात युगलके प्रदेश लगातार एक दूसरेसे लगे हुए थे। इनकी पूर्वी सीमा अंग और कलिंग तथा दक्षिणी सीमा अश्मक थी। इस युगके भारतके

अन्तर्गत केन्द्रीयकरणकी भावनाके स्थानपर विकेन्द्रीयकरणकी भावना विशेष रूपसे विद्यमान थी। भारत कई छोटे-छोटे राज्योमे विभक्त था और कोई भी राज्य इतना शक्तिशाली नही था कि वह भारतभूमिमे स्थित अन्य राज्योको अपने अधिकारमे करके एक शक्तिशाली केन्द्रीय राज्यकी स्थापना करनेमे सफल होता। सोलह महाजनपदोकी यह व्यवस्था भी अधिक दिनो तक न रह सकी, क्योकि कई जनपद दूसरे जनपदोको निगलकर अपना कलेवर बढानेमे सलग्न थे।

अग और मगधमे सघर्ष चलता रहा। इसी प्रकार काशी और कोशल भी सघर्षरत रहे। सक्षेपमे यह कहा जा सकता है कि ईस्वीपूर्व छठी शताब्दीमे समस्त उत्तर भारतके राज्योमे आधिपत्यके लिये जो संघर्ष चल रहा था, उसमे मुख्यरूपसे कोशल, वत्स, अवन्ती और मगधके शासकगण सक्रिय रूपसे भाग ले रहे थे। सभी अपने-अपने अस्तित्वको सुदृढ बनानेमे लगे हुए थे और अपने-अपने राज्यके नेतृत्वमे एक सगठित साम्राज्यकी स्थापना करना चाहते थे। बिम्बसार, प्रसेनजित, चण्डप्रद्योत एव वत्सराज उदयन प्रबल शासक थे और अपने-अपने क्षेत्रोके विस्तारमे संलग्न थे। इस लम्बे संघर्षसे ही भारतवर्षमे इतिहासका एक नया अध्याय आरम्भ होता है, जिसमे मगध और वैशालीका उत्कर्ष-अपकर्ष दिखलाई पडता है। तीर्थंकर महावीरके जन्मके समय देशकी राजनीतिक स्थिति विशृंखलित-सी हो रही थी। राजतन्त्र और गणतन्त्र दोनो ही समानान्तर रूपमे विकसित हो रहे थे। पर राजतन्त्रका अस्तित्व शनै शनैः सुदृढ होता जा रहा था और यह गणतन्त्र-व्यवस्थाको ध्वस्त करना चाहता था।

बौद्ध-साहित्यमे दस गणराज्योका उल्लेख प्राप्त होता है। इनमे कपिलवस्तुके शाक्य और वैशालीके लिच्छवि प्रधान थे। शाक्य गणराज्य जनतन्त्रात्मक पद्धतिपर शासित होता था। शासनकी बागडोर जनताके हाथोमे थी और राज-सत्ता अस्सी हजार कुलीन परिवारोंके हाथोमे थी। राजाका निर्वाचन होता था और निर्वाचनके पश्चात् राजा राष्ट्रपतिके रूपमे कार्य करता था। राज्य-सचालनके लिये एक परिषद्का निर्माण किया जाता था, जो परामर्शदातृपरिषद्के रूपमे कार्य करती थी। कोई कार्य इस परिषद्की सम्मतिके बिना नही होता था। राज्यका प्रत्येक नागरिक राष्ट्रका सेवक माना जाता था। परिषद्को संथागार कहा जाता था। ललितविस्तरमे शाक्य-राज्यके सदस्योकी सख्या पाँच सौ बतलायी गयी है।

वैशालीमे लिच्छवि-गणराज्य स्थापित था, जिसके सदस्योकी संख्या सात

हजार सात सौ सात थी। प्रतिनिधिसभाको संथागार कहा जाता था। यह राज्यकी व्यवस्थापिका सभा होती थी।

लिच्छवि, विदेह और अन्य छः राज्योंको मिलाकर एक संघ बना हुआ था, जिसे वज्जिसंघ कहते थे। वज्जिसंघकी शासन-व्यवस्था-सम्बन्धी निम्न-लिखित विशेषताएँ थीं

१ वज्जिसंघकी अनेक सभाएँ थीं, जिनके अधिवेशन प्रायः हुआ करते थे।

२ वज्जिसंघके लोग परस्पर मिलकर राजकीय-कार्योको सम्हालते थे, एक होकर बैठक करते और अपनी तथा संघकी उन्नतिके लिये प्रयास करते।

३. ये अपने संघके परम्परागत नियमों और व्यवहारोंके पालनमें सावधान रहते थे और संघद्वारा प्रतिपादित एवं विहित व्यवस्थाका अनुसरण करते थे।

४ इनका शासन वृद्धोंके हाथोंमें था, जिनका ये लोग आदर करते थे और जिनकी बातोंको ध्यानपूर्वक सुनते-समझते थे।

कुशीनारा और पावामें मल्लोंका गणतन्त्र स्थापित था। इसमें आठ प्रमुख व्यक्ति रहते थे और शासनका समस्त कार्य संथागार द्वारा किये गये निर्णयोंके आधारपर सम्पादित होता था।

इस प्रकार तीर्थंकर महावीरके समयमें देशकी शासन-व्यवस्था एक ओर गणराज्योंकी लोकतन्त्रात्मक पद्धतिपर आधारित थी और दूसरी ओर राजतन्त्र-व्यवस्था स्वतन्त्ररूपसे विकसित हो रही थी। गणतन्त्रोंमें पारस्परिक ईर्ष्या-द्वेष एवं दलबन्दियाँ विद्यमान थीं।

आर्थिक स्थिति :

तीर्थंकर महावीरके समयमें भारतमें अर्थ-संकट नहीं था। उस समयका भारत आजसे कहीं अधिक सम्पन्न और सुखी दृष्टिगोचर होता है। तत्कालीन जैन और बौद्ध साहित्यमें आर्थिक समृद्धिके पर्याप्त चित्रण प्राप्त होते हैं।

पाणिनिकी अष्टाध्यायी, रामायण, महाभारत आदि ग्रन्थोंमें उन्नत आर्थिक जीवन-सम्बन्धी सामग्री प्राप्त होती है। जनपदोंमें समृद्ध होनेवाले विभिन्न शिल्प या देशोंके लिये जानपदीयवृत्ति (४।१।४२) शब्द उपलब्ध होता है। कुछ व्यक्ति वेतनसे भी आजीविका उपार्जन करते थे और कुछ शासनमें कार्य करते थे। सरकारी श्रेणीमें कार्य करनेवाले अध्यक्ष और युक्त कहलाते थे। शस्त्रोपजीवी व्यक्तियोंका भी निर्देश प्राप्त होता है। भृत्ति या पारिश्रमिक लेकर काम करने-

वाले कर्मकार मजदूरोका भी अस्तित्व विद्यमान था। कर्मकारोंको पारिश्रमिक नगद और सामग्रीके रूपमे भी दिया जाता था।

क्रय-विक्रयसे सूचित व्यापार और दुकानदारीका उल्लेख आया है। इससे यह भी निष्कर्ष निकलता है कि उस युगमे व्याजपर ऋण लेनेकी प्रथा भी विद्यमान थी। ऋण जिस मासमे देय होता था, उसके आधारपर ऋणका नाम पड़ता था। अष्टाध्यायीमे अगहन या मार्गशीर्षमे देय ऋणको आग्रहायणिक और सवत्सरके अन्तमे देय ऋणको सावत्सरिक कहा गया है।

कृषि-सम्बन्धी शब्दावलीमे 'हल' या उसका पर्याय 'सीर' शब्द प्रचलित थे। जुताई और वोआईकी विधियोका भी उल्लेख आया है। फसलोका नामकरण उस महीनेके नामसे होता था, जिसमे वे वोयी जाती थी। खेतोके नाम उनमें वोये जानेवाले धान्योंके नामसे रखे जाते थे। व्रीहि, शालि, जौ, साठी, तिल, उड़द, अलसी एव सन आदि धान्य वोये जाते थे। अनाज भरनेवाले थैलेका नाम गोणी और छरकीका प्रवाणि नाम आये हैं। कुम्हार, चर्मकार, रंगसाज और सूती तथा रेशमी वस्त्र वुननेवाले वुनकर भी उस समय समाजमें विद्यमान थे।

महाभारतके अध्ययनसे भी उस समयकी आर्थिक समृद्धिका परिज्ञान प्राप्त होता है। नागरिक और ग्रामीण दोनो प्रकारके जीवनका परिचय प्राप्त होता है। घर मिट्टी, ईंट, पत्थर और लकड़ीसे वनाये जाते थे। मकानोंके वीचमें सडक एव गलियाँ रहती थी। भवन और प्रासाद कई मजिलोके वनाये जाते थे। ग्रामोंके वाहर मदिर एव चैत्य वनवानेकी प्रथा थी। कृषिके सम्वन्धमें विशेष उन्नति हुई थी। वीज, भूमिके भेद एव मिट्टीके गुणोका परिचय ज्ञात था। सिंचाईकी व्यवस्था भी विद्यमान थी। वाढ़युक्त क्षेत्र केदार कहलाते थे। कपास, जौ, गेहूँ, चावल, मूँग, तिल, उड़द, गन्ना एव शाक आदि पर्याप्त मात्रामें उत्पन्न होते थे। ग्राम्य पशुओमें गाय, भैंस, भेड़, वकरी, अश्व, गज आदिकी गणना की जाती थी। गो-पालन, दुग्धोत्पत्ति, घृत-निर्माण एव विभिन्न प्रकारके मिष्टान्न-निर्माण भी प्रचलित थे। सुनार, लुहार, रंगरेज, तेली, धोवी, दर्जी, तन्तुवाय, कुम्हार, चर्मकार आदि विभिन्न प्रकारके पेशे करनेवाले व्यक्ति विद्यमान थे।

नगद लेन-देन और वस्तुओंकी अदला-वदली दोनो ही प्रकारकी प्रथाएँ प्रचलित थी। राज्य व्यापारियोंसे परामर्श करके आयात-निर्यात, भडसालकी अवधि, मालकी माँग एवं उसकी उपलब्धिके आधारपर वस्तुओका मूल्य निर्धारित करता था। व्यापारियोके सामूहिक सगठन विद्यमान थे, जो क्रय-

विक्रय और उसके व्यवहारोका नियम निर्धारण करते थे। व्यापारमार्ग वन-कान्तार, जलीय-प्रदेश और अरण्योमे होते हुए जाते थे। माल पशु और गाडियो-पर ढोया जाता था। नदीका यातायात नावोसे होता था, जिसका तर्पण्य दूरी और स्थानीय दरके हिसाबसे तय किया जाता था। समुद्री यातायातके लिये दर निश्चित नही था। नौसचार-सम्बन्धी असावधानीके कारण होनेवाली क्षतिकी पूर्ति नौ या प्रवहणके स्वामीको करनी पडती थी। इस अध्ययनसे ऐसा भी ज्ञात होता है कि उस समय वीमेका भी प्रबन्ध प्रचलित था।

निर्यात वाणिज्यका नियमन राज्यकी ओरसे होता था। जिस मालमे राजाका एकाधिकार था या जिसका निर्गम वर्जित था, उसका निर्यात करने-वाले व्यापारीकी सम्पत्ति जब्त कर ली जाती थी। प्राच्य देशमे हाथी, काश्मीरमे केसर, रेशम एव ऊनी वस्त्र, पश्चिमी देशोमे अश्व, दक्षिणमे रत्न एव मोती आदिका निर्यात सीमित था।

वाणिज्यपर शुल्क भी लिया जाता था। क्रय-विक्रयके भाव माल लाने, ले जानेकी दूरी, मुख्य और गौण मूल्य एव मार्गमे शकास्थलोका विचार कर शुल्काध्यक्ष शुल्कोकी दर निश्चित करते थे। राज्यकी ओरसे नदियोपर उतराईके घाटोका भी प्रबन्ध था। यहाँ शुल्ककी दर निश्चित थी। महावीरके समयमे स्वर्ण, रजत एव ताम्रकी मुद्राएँ भी प्रचलित थी। पण, अर्द्धपण, पादपण, अष्टभागपण, रौप्यमाषक, धरण आदि सिक्के प्रचलित थे। स्वर्ण और रजतके निष्कोका भी व्यवहार होता था। इस प्रकार महावीरके समयका भारत आर्थिक दृष्टिसे पूर्ण समृद्ध था। अन्न और वस्त्रकी कमी उस समय किसीके समक्ष नही थी। ग्राम और नगर अपनी-अपनी आवश्यकताओकी पूर्तिके लिये समर्थ थे। कृषिसे अन्न, करघेसे वस्त्र, शिल्पियोसे विलास-सामग्री एव पशुओसे दुग्ध और वाहनके कार्य सम्पन्न किये जाते थे। देशका व्यापार मिश्र, यूनान, चीन, फारस एव सिहल तक व्याप्त था। आमोद-प्रमोदकी सामग्रियोका भी बाहुल्य था। कूप, वापी, स्नानागार, सभागृह, नाट्यशाला आदिकी भी कमी नही थी।

सामाजिक स्थिति :

महावीरके समयका समाज वैदिककालीन समाजकी अपेक्षा टूट रहा था। समाजमे शिक्षाका प्रचार तो अवश्य था, पर उसकी सीमाएँ निश्चित थी। स्त्री और शूद्रोको वेदाध्ययनके अधिकारसे वचित किया गया था। ऋग्वेदकालमे जिस जातिप्रथाका प्रचार हुआ वह सूत्रकालमे आकर अधिक सुदृढ हो गयी। ऋग्वेदमे अन्तर्जातीय विवाहका निषेध केवल भाई-बहन या पिता-पुत्रीके व्य-

मिचारके विरोधमे ही था। शतपथ-ब्राह्मणमे विवाह-सम्बन्धी यह प्रतिषेध रक्त-सम्बन्धकी तृतीय या चतुर्थ पीढी तक समाविष्ट हो गया। ब्राह्मण एव क्षत्रिय अपनेसे हीन वर्णकी कन्याके साथ विवाह कर सकते थे। जाति-पाँति व्यवस्था दिनोदिन सकीर्ण होती जा रही थी। ब्राह्मणका प्रभुत्व पर्याप्त विकसित हो गया था। क्षत्रिय भूमिके स्वामी माने जाते थे। वैश्योका कार्य कृषि एवं वाणिज्य द्वारा धनार्जन करना था तथा शूद्र सेवा द्वारा ही अपना उदर-पोषण करते थे। समाजके सचालनका दायित्व उच्च वर्गके व्यक्तियोके हाथमें था और वे चाहे जैसे भी समाजपर अत्याचार और अनाचार कर सकते थे।

उस समय वैदिक और श्रमण दोनो ही सामाजिक सगठनमे भाग ले रहे थे। आर्थिक विषमताएँ भी उत्पन्न होने लगी थी, जिनके फलस्वरूप विभिन्न वर्णके व्यक्ति अपने वर्णके विरुद्ध कार्य करने लगे थे। नाग, द्रविड आदि जातियां वैदिक क्षत्रिय-राजसत्ताओका सामना करने लगी थी।

शनै-शनै पुरानी राजसत्ताओंके स्थानपर व्रात्य एव क्षात्र-बन्धुओकी राजसत्ताएँ स्थापित होने लगी थी। ब्राह्मण-परम्पराकी अनुश्रुतियोमे लिच्छवि, मल्ल, मोरीय आदि जातियोको व्रात्य बताया गया है। शिशुनागवशको भी क्षत्रिय नही, अपितु क्षात्र-बन्धु कहा गया है। 'व्रात्य' शब्द अथर्ववेदमे भी आया है। यह श्रमण-परम्परासे सम्बन्धित है। यह शब्द अर्वाचीन कालमे आचार और सस्कारोंसे हीन मानवोके लिये व्यवहृत होता रहा है। आचार्य हेमचन्द्रने अपने 'अभिधानचिन्तामणि कोश'मे "व्रात्य सस्कारवर्जित। व्रते साधु कालो व्रात्य। तत्र भवो व्रात्य प्रायश्चित्तार्ह, सस्कारोऽत्र उपनयन तेन वर्जित [1]" लिखा है।

मनुस्मृतिमे बताया है क्षत्रिय, वैश्य और ब्राह्मण योग्य अवस्था प्राप्त करनेपर भी असस्कृत हैं। क्योकि वे व्रात्य है और वे आर्यों द्वारा गर्हणीय हैं। ब्राह्मण-सतति, उपनयन आदि व्रतोसे रहित होनेके कारण व्रात्य शब्द द्वारा निर्दिष्ट किया जाता है[2]। इस प्रकार अर्वाचीन उल्लेखोमे व्रात्यका अर्थ आचार-हीन बतलाया गया है, पर प्राचीन ग्रन्थोमे व्रात्यका अर्थ विद्वत्तम, महाधिकारी, पुण्यशील और विश्वसम्मान्य व्यक्तिके अर्थमे आया है। अथर्ववेदमे लिखा है-

१ अभिधानचिन्तामणिकोष, ३१५१८.

२ द्विजातय सवर्णासु, जनयन्त्यव्रतास्तु तान्।
तान् सावित्री-परिभ्रष्टान् व्रात्यानिति विनिर्दिशेत्॥

मनुस्मृति १०।२०

कञ्चिद् विद्वत्तमं महाधिकार पुण्यशील विश्वसमान्यम् ।
ब्राह्मणविशिष्टं व्रात्यमनुलक्ष्यवचनमिति मन्तव्यम्[1] ॥

व्रात्यकाण्डकी भूमिकामे आचार्य सायणने लिखा है "उपनयन आदिसे हीन मानव व्रात्य कहलाता है। ऐसे मानवको वैदिक कृत्योके लिये अनधिकारी और सामान्यत. पतित माना जाता है। परन्तु कोई व्रात्य ऐसा हो, जो विद्वान् और तपस्वी हो, ब्राह्मण भले ही उससे द्वेष करें, पर वह सर्वपूज्य होगा और देवाधिदेव परमात्माके तुल्य होगा[2] ।"

उपर्युक्त उद्धरणसे स्पष्ट है कि अथर्ववेदका व्रात्यकाण्ड किसी ब्राह्मणेतर परम्परासे सम्बद्ध है। यह परम्परा श्रमणोकी हो सकती है। व्रात्य शब्दका मूल व्रत है। व्रतका अर्थ धार्मिक सकल्प और सकल्पोमे जो साधु है, कुशल है, वह व्रात्य है। डॉ० हेवरने व्रात्य शब्दका विश्लेषण करते हुए लिखा है "व्रात्यका अर्थ व्रतोमे दीक्षित है। अर्थात् जिसने आत्मानुशासनकी दृष्टिसे स्वेच्छापूर्वक व्रत स्वीकार किये है, वह व्रात्य है[3] ।"

अतएव स्पष्ट है कि व्रतोकी परम्परा श्रमण-संस्कृतिकी मौलिक देन है। वेद, ब्राह्मण और आरण्यक साहित्यमे कही भी व्रतोका उल्लेख नही है। डॉ० कीथ, मैकडॉनल आदिने भी व्रतोमे दीक्षित व्यक्तियोको व्रात्य कहा है। इस प्रकार प्राचीन कालमे व्रात्य शब्दका प्रयोग श्रमण-संस्कृतिके अनुयायियोके लिये प्रयुक्त होता था। डॉ० ज्योतिप्रसादजीने प्रो० जयचन्द्र विद्यालकार का उद्धरण प्रस्तुत करते हुए लिखा है "क्षात्रबन्धु शब्दका प्रयोग हीनताका भाव सूचित करनेके लिये किया गया है। क्योकि वे व्रात्य लोगोके क्षत्रिय थे और व्रात्य वे आर्यजातियाँ थी, जो मध्यदेशके पूर्व या उत्तर-पश्चिममे रहती थी। वे मध्यदेशके कुलीन ब्राह्मण-क्षत्रियोके आचारका अनुसरण नही करती थी। उनकी शिक्षा-दीक्षाकी भाषा प्राकृत थी और वेश-भूषा आर्योकी दृष्टिसे परिष्कृत न थी। वे मध्यदेशके ब्राह्मणोके संस्कार न करते थे और ब्राह्मणोके वजाय अरहन्तोको मानते थे तथा चेतियो (चैत्यो) की पूजा करते थे।[4]"

वस्तुत महावीरके पूर्व सामाजिक क्रान्ति परिलक्षित होने लगी थी और

१. अथर्ववेद १५।१।१।१
२ वही, १५।१।१।१
३. Vratya as initiated in varatas Hence vratyas means a person who has volmitanly accepted the moral code of vows for his own spiritual discipline By Dr. Hebar
४. भारतीय इतिहास एक दृष्टि, भारतीय ज्ञानपीठ काशी, प्रथम संस्करण, पृ० ३९

वैदिक आर्योकी शुद्ध संतति समाप्त हो रही थी। रक्तमिश्रण, सांस्कृतिक आदान-प्रदान एवं धर्म-परिवर्तनादिके कारण नवीन भारतीय जातियाँ उदयमें आ रही थी। आर्य और द्रविड़ोमे भी रक्त-मिश्रण हो रहा था और परस्पर जातीय भेद-भाव टूटता जा रहा था। व्यवसायकर्मके अनुसार ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र इन चार वर्णोमे समस्त भारतीय समाज विभक्त हो रहा था। क्षात्र-धर्म पालन करनेवाले आर्य व्रात्य, नाग और द्रविड सभी क्षत्रिय कहलाते थे। इतना होनेपर भी वैदिक संस्कार इतने सुदृढ और सुगठित थे कि उनमे सामान्यतया कोई परिवर्तन दिखलायी नही पड़ता था। वेदानुयायी ब्राह्मण 'अहंवश' अपनेको सर्वश्रेष्ठ, पवित्र और क्रियाकाण्डका अधिकारी मानता था। वैदिक धर्म और मान्यताएँ इतनी जटिल और आडम्बरपूर्ण हो गयी थी कि उनकी लोकग्राह्यता समाप्तिपर थी। वर्णाश्रमधर्म समाजपर छाया हुआ था। यद्यपि इसके विरोधमे क्रान्तिकी ध्वनि गूंज रही थी, पर इस प्रथाके विरोधमे खड़े होनेकी क्षमता किसी व्यक्तिविशेषमे अवशिष्ट नही थी।

धार्मिक स्थिति :

ई० पू० ६०० के आस-पास भारतकी धार्मिक स्थिति भी बहुत ही अस्थिर और भ्रान्त थी। एक ओर यज्ञीय कर्मकाण्ड और दूसरी ओर कतिपय विचारक अपने सिद्धान्तोकी स्थापना द्वारा जनताको संदेश दे रहे थे। चारो ओर हिंसा, असत्य, शोषण, अनाचार एवं नारीके प्रति किये जानेवाले जोर-जुल्म अपना नग्न ताण्डव प्रस्तुत कर रहे थे। धर्मके नामपर मानव अपनी विकृतियोका दास बना हुआ था। वैयक्तिक स्वातन्त्र्य समाप्त हो चुका था और मानवके अधिकार तानाशाहो द्वारा समाप्त किये जा रहे थे। मानवता कराह रही थी और उसकी गरिमा खण्डित हो चुकी थी। धर्म राजनीतिका एक थोथा हथियार मात्र रह गया था। भय और आतंकके कारण जनता धार्मिक क्रियाकाण्डका पालन करती थी, पर श्रद्धा और आस्था उसके हृदयमे अवशिष्ट नही थी। स्वार्थ-लोलुप धर्मगुरु और धर्माचार्य धर्मके ठेकेदार बन बैठे थे। मानवकी अन्त-श्चेतना मूर्छित हो रही थी और दासताकी वृत्ति दिनो-दिन बढ़ती जाती थी।

दिग्भ्रान्त मानवका मन भटक रहा था और कही भी उसे ज्ञानका आलोक प्राप्त नही हो रहा था। नारीकी सामाजिक स्थिति भयावह थी। उसका अपहरण किया जा रहा था। कोई उसे बेडियोमे जकडता और कोई उसे तल-घरोमे बन्द करता था। फलत नारीका नारीत्व ही नही अपितु समस्त मानव-समाज अन्धकारमे भटक रहा था और सभीकी दृष्टि उद्धारके हेतु किसी महा-शक्तिकी प्रतीक्षामे लगी हुई थी।

निरीह पशुओंका निर्मम वध किया जा रहा था। पशुमेध ही नहीं नरमेध भी किये जा रहे थे। भीषण रक्तपात विद्यमान था। अग्निकुण्डोसे चीत्कारकी ध्वनि कर्णगोचर हो रही थी। बर्बरता और अमनुष्यताका नग्न ताण्डव वर्त्तमान था। मनुष्य मनुष्यके द्वारा होनेवाले निर्लज्ज शोषणका इतिहास बना हुआ था। तीर्थंकर पार्श्वनाथके पश्चात् यज्ञीय क्रियाकाण्डोने मानवताको सन्त्रस्त कर दिया था। आलोककी धर्मरेखा धुधली होती जा रही थी और जीवनका अभिशाप दिनानुदिन बोझिल हो रहा था।

अनेक व्यक्ति अपनेको तीर्थंकर कहने लगे थे और ये व्यक्ति भी मानवताके असमर्थ थे। कोई कहता था कि भौतिकता ही जीवनका चरम लक्ष्य है, कोई त्राणमे कहता था कि अक्रिया ही धर्म है और कोई अकर्मण्यताको ही धर्म घोषित करता था। क्षणिकवाद, नित्यवाद, नियतिवाद आदि सिद्धान्त दिग्भ्रान्त मानवको शान्ति प्रदान करनेमे असमर्थ थे। स्वर्ग, नरक बिक रहे थे और धनिकवर्ग लम्बी-लम्बी रकमे देकर अपना स्थान सुरक्षित करा रहा था। धर्म और दर्शनके क्षेत्रमे पूर्णतया अराजकता विद्यमान थी। अव्यवस्था, औद्धत्य, अहकार, अज्ञानता और स्वैराचारने धर्मकी पावनताको खण्डित कर दिया था। वर्गस्वार्थकी दूषित भावनाओने मानवताको धूमिल कर दिया था। अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह और मैत्री जैसी उदात्त भावनाएँ खतरेमे थी। सर्वोदयका स्थान वर्गोदयने प्राप्त कर लिया था और धर्म एक व्यापार बन गया था। उस समयके विचारकोमे पूर्णकाश्यप, मक्खली गोशालक, अजितकेशकम्बल, प्रक्रुद्ध कात्यायन, सजय वेलट्ठिपुत्र और गौतम बुद्ध प्रमुख थे। 'दीर्घनिकाय'के 'समञ्ञ-फलसुत्त'मे निर्ग्रंथ ज्ञातृपुत्र महावीर सहित सात धर्मनायकोकी चर्चा प्राप्त होती है। हम यहाँ उस समयके धर्मनायकोकी प्रमुख मान्यताओका विवेचन कर उस समयकी धार्मिक स्थितिका स्पष्टीकरण प्रस्तुत करेगे।

अक्रियावाद-प्रवर्त्तक : पूर्णकाश्यप

पूर्णकाश्यप अक्रियावादके समर्थक थे। अनुभवोसे परिपूर्ण मानकर जनता इन्हे पूर्ण कहती थी। ये जातिसे ब्राह्मण थे और काश्यप इनका गोत्र था। ये नग्न रहते थे और अस्सी हजार इनके अनुयायी थे। एक बौद्ध-किंवदन्तीके अनुसार यह एक प्रतिष्ठित गृहस्थके पुत्र थे। एक दिन इनके स्वामीने इन्हे द्वारपालका काम सौपा। पूर्णकाश्यपने इसे अपना अपमान समझा और विरक्त होकर अरण्यकी ओर चल पडे। मार्गमे चोरोने इनके कपडे छीन लिये, तबसे ये नग्न रहने लगे। एक बार जब ये किसी ग्राममे गये, तो लोगोने इन्हे पहननेके लिये वस्त्र दिया। पूर्णकाश्यपने वस्त्र वापस करते हुए कहा "वस्त्रका प्रयोजन लज्जा-निवारण

है और लज्जाका मूल पापमय प्रवृत्ति है। मैं तो पापमय प्रवृत्तिसे दूर हूँ। अत मुझे वस्त्रोकी क्या आवश्यकता है"[1] पूर्णकाश्यपकी निस्पृहता और असगता देखकर जनता उनकी अनुयायी होने लगी।

यत पूर्णकास्यप अक्रियावादके प्रवर्त्तक थे, अत उनका अभिमत था "अगर कोई कुछ करे या कराये, काटे या कटाये, कष्ट दे या दिलाये, शोक करे या कराये, किसीको कुछ दुख हो या कोई दे, डर लगे या डराये, प्राणियोको मार डाले, चोरी करे, घरमे सेंध लगाये, डाका डाले, एक ही मकान पर धावा बोल दे, बटमारी करे, परदार-गमन करे या असत्य बोले तो भी उसे पाप नही लगता। तीक्ष्ण धारवाले चक्रसे यदि कोई इस ससारके पशुओके मांसका बड़ा ढेर लगा दे तो भी उसमे बिलकुल पाप नही है, उसमे कोई दोष नही है। गंगा नदीके दक्षिणी किनारे पर जाकर यदि कोई अनेक दान करे या करवाये, यज्ञ करे या करवाये, तो भी उसमे कोई पुण्य नही मिलता। दान, धर्म, संयम और सत्य-भाषणसे पुण्यकी प्राप्ति नही होती।"[2]

उपर्युक्त उद्धरणसे निम्नलिखित निष्कर्ष प्रस्तुत होते हैं

(१) क्रिया करने पर भी पाप और पुण्यसे अलिप्त रहना।
(२) क्रियामे सम्यक् और मिथ्यात्वका भेद-भाव नही।
(३) क्रिया करनेकी प्रवृत्ति स्वाभाविक है, इससे जीव बन्धको प्राप्त नही होता।
(४) मन-वचन-काय- कृत, कारित और अनुमोदनामे तरतमभावका अभाव।
(५) क्रियाका सम्पादन नैसर्गिक है और निसर्ग बन्धका कारण नही है। अतएव क्रियाके प्रति निस्पृहता।

नियतिवाद-प्रवर्त्तक : मंक्खलि गोशालक

मक्खलि गोशालक नियतिवादका प्रवर्त्तक था। मक्खलि उसके पिताका नाम था। इसी कारण वह मंक्खलिपुत्र कहलाता था। गोशालकका जीवनवृत्त बौद्ध साहित्यके साथ भगवतीसूत्र, उवासगदसा आदि ग्रन्थोमे भी पाया जाता है। कहा जाता है कि मक्खलिकी भद्रा नामक पत्नी थी। वह सुन्दरी और सुकुमारी थी। एकबार वह गर्भिणी हुई। शरवण ग्राममे गोबहुल नामक ब्राह्मण रहता

१. बौद्धपर्व (मराठी) प्र० १०, पृ० १२७ तथा आगम और त्रिपिटक एक अनुशीलन, पृ० १४
२ आगम और त्रिपिटक एक अनुशीलन, पृ० ५.

था। यह धनिक तथा ऋग्वेदादिक ग्रन्थोमे निपुण था। गोबहुलकी एक गोशाला थी। एक बार मक्खलि भिक्षार्थ हाथमे चित्रपट लेकर गर्भवती भद्राके साथ ग्रामानुग्राम विचरण करता हुआ शरवण सन्निवेशमे आया। उसने गोबहुलकी गोशालामे अपना समान रखा और भिक्षार्थ ग्राममे चला गया। उसने ग्राममे निवास योग्य स्थानकी खोज की, पर उसे कोई उपयुक्त स्थान नही मिला। फलत उसने गोशालाके एक भागमे चातुर्मास व्यतीत करनेका निश्चय किया। नौ मास साढे सात दिन व्यतीत होनेपर मक्खलिकी पत्नी भद्राने एक सुन्दर और सुकुमार बालकको जन्म दिया। बारहवे दिन माता-पिताने गोशालामे जन्म लेनेके कारण शिशुका नाम गोशालक रखा। क्रमश गोशालक बडा हुआ और शिक्षा प्राप्तकर प्रतिभासम्पन्न बना। गोशालकने भी स्वतत्र रूपसे चित्रपट हाथमे लेकर अपनी आजीविका सम्पादित करना आरम्भ किया। गोशालक तीर्थंकर महावीरके सम्पर्कमे भी आया और पृथक् सम्प्रदायकी स्थापनाकी कामनासे अलग हो गया।

गोशालकको अष्टागनिमित्तका परिज्ञान था। अत वह जनताको लाभ-अलाभ, सुख-दु ख और जीवन-मरणके विषयमे उत्तर देता था। इस अष्टाग-निमित्तज्ञानके बलपर ही उसने अपनेको जिन, केवली, सर्वज्ञ आदिके रूपमे घोषित किया था। गोशालक द्वारा प्रवर्तित सिद्धान्त नियतिवाद है। इस सिद्धान्तका अभिप्राय यह है "अपवित्रताके लिये कोई कारण नही होता, कारणके विना ही प्राणी अपवित्र होते है। प्राणीकी शुद्धिके लिये भी कोई हेतु नही होता, कोई कारण नही होता। हेतुके बिना, कारणके बिना प्राणी शुद्ध होते हैं। अपने सामर्थ्यसे कुछ नही होता और न दूसरेके सामर्थ्यसे कुछ होता है। पुरुषार्थसे भी कुछ नही होता है। किसीमे बल नही, वीर्य नही, पुरुषशक्ति नही और पुरुषपराक्रम भी नही है। सर्वसत्व, सर्वप्राणी, सर्वभूत, सर्वजीव तो अवश, दुर्बल और निर्वीर्य है। वे नियति (भाग्य)-सगति एव स्वभावके कारण परिणत होते हैं और सुख-दु खका उपभोग करते हैं।"

नियतिवादके उपर्युक्त विश्लेषणसे निम्नलिखित तथ्य प्रसूत होते है-

(१) पुरुषार्थ और आत्मविश्वासका अभाव।
(२) नियतिवश ही कार्योंका सम्पादन।
(३) प्राणीकी पुण्य और पापसे अलिप्तता।
(४) नियति जैसा कराती है, वैसा करनेकी प्रेरणा।
(५) शुद्धि और अशुद्धिके लिये कारणोका अभाव।

(६) प्राणियोकी अवशता और निर्वीर्यता ।

(७) सुख-दुखकी प्राप्ति नियतिके अधीन है, पुरुषार्थाधीन नही ।

उच्छेदवाद-प्रवर्त्तक : अजित केशकम्बल

केशोका बना कम्बल धारण करनेके कारण ये अजित केशकम्बली कहलाते थे। एफ० एल० वुडवार्ल्डको धारणाके अनुसार कम्बल मनुष्यके केशोका ही बना होता था[१]। इनकी मान्यता लोकायतिक दर्शन जैसी ही थी। कुछ विद्वानोका यह भी मत है कि नास्तिक दर्शनके आदिप्रवर्त्तक यही थे। बृहस्पतिने इनके अभिमतोको ही विकसित रूप दिया है।[२] उच्छेदवादका अर्थ यह है कि दान, यज्ञ और हवन आदि कुछ भी तथ्य नही। अच्छे या बुरे कर्मोका फल और परिणाम नही होता है। इहलोक-परलोक, माता-पिता, स्वर्ग-नरक आदि कुछ भी नही है। इहलोक और परलोकका अच्छा ज्ञान प्राप्तकर उसे दूसरोको देनेवाले दार्शनिक और योग्यमार्गपर चलनेवाले श्रमण-ब्राह्मण इस संसारमे नही है। मनुष्य चार भूतोका बना हुआ है। जब वह मरता है, तब उसमे समाहित पृथ्वीधातु पृथ्वीमे, आपोधातु जलमे, तेजोधातु तेजमे और वायुधातु वायुमे जा मिलते हैं तथा इन्द्रियाँ आकाशमे चली जाती हैं। मृत व्यक्तिको अर्थीपर रखकर चार पुरुष श्मशानमे ले जाते हैं। उसके गुण-अवगुणोकी चर्चा होती है, उसकी अस्थियाँ श्वेत हो जाती हैं, उसे दी जानेवाली आहुतियाँ भस्मरूप बन जाती हैं। दानका झगड़ा मूर्ख व्यक्तियोने खड़ा किया है, जो कोई आस्तिकवाद बतलाते हैं, उनका वह कथन बिलकुल मिथ्या और वृथा है। शरीरके नाशके पश्चात् विद्वानो और मूर्खोका उच्छेद होता है। वे नष्ट हो जाते हैं। मृत्युके अनन्तर उनका कुछ भी शेष नही रहता।

इस प्रकार अजित केशकम्बलने उच्छेदवादका प्रवर्त्तनकर परलोक, आत्मा और पुण्य-पापका निषेध किया है। इस सिद्धान्तमे निम्नलिखित तथ्य समाहित हैं

(१) पृथ्वी, जल, अग्नि और वायु इन चार भूतोका अस्तित्व ।

(२) प्रत्यक्षदृष्टिगोचर पदार्थ ही सर्वस्व हैं, परोक्षपदार्थोका अस्तित्व सिद्ध नही, अतएव उनका अस्वीकरण ।

(३) शरीरके साथ ही आत्माका भी उच्छेद ।

(४) पुण्य और पाप वास्तविक नही, कल्पित ।

१ The book of graducl Sayings Volum 1 Page 265.

२ Barua O. P Cit , Page 288

(५) आत्मा और पुनर्जन्मका अभाव।
(६) शरीरातिरिक्त अन्य कोई तत्त्व नही, फलत· शरीरमे ही आत्म-कल्पना।
(७) शुभ और शुद्ध प्रवृत्तियोका सर्वथा अभाव।

अन्योन्यवाद-प्रवर्त्तक : प्रक्रुद्ध कात्यायन

ये शीतोदकपरिहारी थे और उष्णोदकको ग्राह्य मानते थे। पक्रुद्ध वृक्षके नीचे पैदा होनेके कारण ये पक्रुद्ध या प्रक्रुद्ध कात्यायन कहलाये। प्रश्नोपनिषद्मे इन्हे ऋषि पिप्पलादिका समकालीन और ब्राह्मण बतलाया गया है। यद्यपि वहाँ इनका नाम कबन्धी कात्यायन बताया गया है, पर कबन्धी और प्रक्रुद्ध एक ही शारीरिक दोषके वाचक है। बौद्ध टीकाकारोने इन्हे पक्रुद्धगोत्री होनेसे पक्रुद्ध माना है। बुद्धघोषने प्रक्रुद्ध उनका व्यक्तिगत नाम और कात्यायन इनका गोत्र नाम कहा है। डॉ० फीयर इन्हे ककुध कहनेकी भी राय देते है। इन्होने अन्योन्यवादी सिद्धान्तका प्रवर्त्तन किया है। बताया है कि सात पदार्थ किसीके किये, करवाये, बनाये या बनवाये हुए नही है। ये कूटस्थ और अचल है। न ये हिलते है और न परिवर्तित होते है। एक दूसरेको ये नही सताते। एक दूसरेको सुख-दु ख उत्पन्न करनेमे ये असमर्थ है। पृथ्वी, अप, तेज, वायु, सुख-दु ख एव जीव ये सात पदार्थ है। इन्हे नष्ट करनेवाला कोई नही है। तीक्ष्ण अस्त्रसे भी कोई किसीका सिर नही काट सकता और न कोई किसीका प्राण ले सकता है। अस्त्र मारनेका केवल अर्थ है कि सात पदार्थोके बीचके अवकाशमे अस्त्रका प्रविष्ट होना।

इस प्रकार प्रक्रुद्ध कात्यायनने नित्य और कूटस्थ सात पदार्थोका अस्तित्व स्वीकार किया और जनताको उक्त सातो पदार्थोके सम्मिलनसे सुख एव विछोहसे दु ख प्राप्तिका सन्देश दिया।

विक्षेपवाद-प्रवर्त्तक · संजय बेलट्ठिपुत्र

सजय बेलट्ठिपुत्र नाम वैसा ही प्रतीत होता है, जैसा मक्खलि गोशालक। उस युगमे ऐसे नामोकी परम्परा प्रचलित थी, जो माता या पिताके नामसे सम्बद्ध होती थी। आचार्य बुद्धघोषने इन्हे बेलट्ठिका पुत्र माना है। कुछ विद्वान् सारिपुत्र और मौद्गलायनके पूर्व आचार्य सजय परिव्राजकको ही सजय बेलट्ठिपुत्र मानते हैं। पर यह कल्पना यथार्थ नही है। यदि ऐसा होता तो बौद्ध-पिटकोमे स्पष्ट उल्लेख भी मिलता, पर बौद्ध-पिटक इतना ही कहकर विराम लेते है कि सारिपुत्र और मौद्गलायन अपने गुरु सजय परिव्राजकको छोडकर बुद्धके धर्म-

सघमे आये। परिव्राजक शब्द भी यह संकेत करता है कि संजय वैदिक संस्कृतिसे सम्बद्ध थे।

संजयने विक्षेपवादका प्रवर्त्तन किया है। इनके सिद्धान्तमे परलोक आदिका अस्तित्व स्वीकार नही किया गया है। परलोक, कर्मफल, मृत्यु, पुनर्जन्म, आत्मा आदिके सम्बन्धमे इनकी कोई निश्चित धारणा नही है।

गौतम बुद्धने समाजोत्थान और चार आर्य-सत्योका उपदेश देकर जनताको सान्त्वना देनेका प्रयास किया, पर एकान्त क्षणिकवादका प्रचार करनेके कारण सत्यका आलोक उपस्थित न हो सका।

इस प्रकार तीर्थंकर पार्श्वनाथकी श्रमण-परम्परासे प्रभावित उपर्युक्त चिन्तकोने भी समाजमे क्रान्ति लानेकी चेष्टा की, पर वे सफल न हो पाये। एक ही मतमे हिंसक और अहिंसक अनुयायी विद्यमान थे। आजीविकोमे ऐसे दो पक्ष थे। पूर्णकाश्यप जीव-हिंसामे पुण्य-पाप नही मानते थे। प्रक्रुद्धकी भी यही स्थिति थी। अजित केशकम्बली वैदिक क्रियाकाण्डोका विरोध अवश्य करते थे, परन्तु हिंसाको उचित मानते थे। इन विचारकोमे इतना नैतिक बल नही था कि ये जनताको मास-मदिराकी लिप्सासे बचा सके। उस समय हस्ति तापस जैसे तपस्वी भी विद्यमान थे; जो वर्षमे एक बड़े हाथीको मारकर आजीविका चलाते थे और समस्त प्राणियोके प्रति अनुकम्पा बुद्धि रखते थे। अहिंसाकी धारा क्षीण हो रही थी और इन्द्रियनिग्रहकी चर्चा तो दूर ही थी।

ब्राह्मण-परम्परा वैदिक मान्यताओकी रक्षाके लिये क्रियाशील थी। इसमे भी दो धाराएँ परिलक्षित हो रही थी। एक धाराके अनुयायी प्रश्नोपनिषद्के अधिष्ठाता पिप्पलादि, मुण्डकोपनिषद्के रचयिता भारद्वाज और कठोपनिषद्के प्रचारक नचिकेता थे। इन ऋषियोने वैदिक कर्मकाण्डमे सुधार कर ज्ञान-यज्ञ, अहिंसा और सदाचारका प्रचार किया था। दूसरी परम्परा हिंसापूर्ण यज्ञादि उप करनेमे सलग्न थी। शूद्र और स्त्रियाँ मनुष्यकोटिमे परिगणित नही थी। इनके साथ अभिजात्यवर्गकी अहंवादी प्रवृत्तिने नानाप्रकारके अत्याचार करना आरभ किये थे। मनुष्यकी वासना खुल-खेलकर सामने आती थी और भोग-विलासकी प्रवृत्ति निरन्तर बढ रही थी। निःसन्देह वैदिक क्रियाकाण्डके प्रचारने धर्म-तत्त्वकी आत्माको शुष्क बना दिया था। अनात्मवाद और कर्मकाण्डके सार्व-भौमिक राज्यने मानवको आडम्बरमे फँसा दिया था और उसकी अन्तरात्मा प्रकाशके लिये बेचैन थी।

आध्यात्मिक जीवनका गौरव विस्मृत हो गया था और भौतिकताका महत्त्व

बढ रहा था। कुछ व्यक्ति हठयोगकी साधनामे आत्म-शान्तिके स्वप्न देखते थे। राजा महीपाल हठयोगके विशेष उपासक थे। ऋद्धि और सिद्धियाँ प्राप्त करनेके लिये विविध प्रकारके काय-क्लेश सहन किये जाते थे। जनताके समक्ष नये विचार और नये सिद्धान्त प्रस्तुत हो रहे थे, पर कही भी प्रकाशकी किरण दिखलायी नही पडती थी। फलत सर्वत्र धार्मिक अशान्ति परिलक्षित हो रही थी और चारो ओरसे यह ध्वनि हो रही थी कि किसी ऐसे धार्मिक नेताकी आवश्यकता है, जो इस विशृखलित समाजको सुगठित और शृखलित कर नया मार्ग प्रदर्शित कर सके।

ससारमे व्याप्त तृष्णा, अनीति, हिंसा, धर्मान्धता एव जातिमदके विषको दूर करनेके हेतु एक ऐसे पुरुषकी आवश्यकता थी, जो अहिंसा, सत्य और अपरिग्रहके साथ अनेकान्तमयी दृष्टिके आलोकसे लोगोके हृदयान्धकारको छिन्न कर सके। प्रत्येक युगमे जब अधर्माचरण बढ जाता है, तो कोई ऐसी विलक्षण शक्ति प्रादुर्भूत होती है, जो टूटती हुई मानवताको जोडनेका कार्य करती है। इस शताब्दीने भी तीर्थंकर महावीरको क्रान्तिद्रष्टाके रूपमे उपस्थित कर मानवताके त्राणकी शखध्वनि की।

चतुर्थ परिच्छेद

तीर्थंकर महावीरकी जन्मभूमि, जन्म और किशोरावस्था

गणतंत्र वैशाली :

ई० पूर्व छठी शताब्दीमे वैशाली अत्यन्त समृद्ध सुव्यवस्थित और प्रतिष्ठित गणतत्र था। उस समय मध्य हिमालयसे लेकर गगानदी तकका प्रदेश छोटे-छोटे गणतत्रोमे विभक्त था और इनमेसे अधिकाश राज्योमे इक्ष्वाकुवशके लोगोका प्राधान्य था। कोशलमे बहुत पहलेसे इक्ष्वाकुवश चला आ रहा था और यहाँसे इस वशकी शाखाएँ वैशाली और मिथिलामे जब गणतत्रोकी स्थापना हुई, तब इस वशके लोगोके रूपमे कई राज्योमे पहुँच चुकी थी। वैशालीके लिच्छवि, कुशीनगरके मल्ल, पिप्पलीवनके मोरीय, कपिलवस्तुके शाक्य और रामगाँवके कोलिय इक्ष्वाकुवशी थे।

जितने गणतत्र स्थापित हुए उनमे वृजिसघ सबसे अधिक बलशाली और प्रतिष्ठित था। इसे वज्जीसघ भी कहा जाता था। इसकी स्थापना विदेहके

राजतंत्रके समाप्त होनेपर हुई थी। इसमे विदेह, लिच्छवि, ज्ञातृक, वृजि, उग्र, भोग, कौरव और इक्ष्वाकु ये आठ कुल सम्मिलित थे। विदेहोकी प्राचीन राजधानी मिथिला थी और यह वैशालीके गणतंत्रमे समाहित हो गयी थी। वृजि-राष्ट्रवासियोमे लिच्छवि सबसे प्रशस्त थे। ये वाशिष्ठ गोत्रके थे। इसी कारण वाशिष्ठ भी कहे जाते थे। इनकी राजधानी वैशाली थी।

वृजि भी आठ कुलोमेसे एक था। सघका नाम इसी कुलके नामपर वृजि-सघ पडा था। लिच्छवियोके समान वृजियोका भी वैशाली नगरी और इसके उपनगरोसे घनिष्ठ सबध था। ज्ञातृक क्षत्रिय काश्यपगोत्री थे और इनकी राजधानी कुण्डपुर या कुण्डग्राममे थी। इसे क्षत्रियकुण्ड भी कहा जाता था। यह वैशालीका उपनगर था। उग्रोका सबध वैशाली और हस्तिग्रामसे था। भोग भोगनगरमे रहते थे। यह नगर वैशाली और पावाके बीचमे स्थित था। कौरवोका वृजिसघसे सबध था। बौद्धधर्मके उदयके बहुत पहलेसे कुरु ब्राह्मण विदेहकी राजधानीमे बसने लगे थे। इक्ष्वाकुओका वैशालीसे अत्यन्त प्राचीन सम्बन्ध था, क्योकि विशालसे लेकर सुमति तक समस्त राजा इक्ष्वाकुवशी थे।

वृजिसघके सदस्य 'राजा' (गणपति) कहलाते थे। सात हजार सातसौ सात राजा थे। इतने ही उपराज (अध्यक्ष), इतने ही सेनापति और इतने ही भाण्डागारिक थे। सदस्योमे उल्प, मध्य, वृद्ध और ज्येष्ठका भेदभाव नही था। प्रत्येक सदस्य अपनेको राजा मानता था। सस्थागारमे सदस्योकी बैठकें हुआ करती थी। मुख्य कार्य अष्टकुलो और नौ लिच्छवि गणराजाओके द्वारा सम्पन्न होते थे। नौ लिच्छवियो, नौ मल्लकि इस प्रकार अठारह काशी-कोशलके गणराजाओने मिलकर एक सघ बनाया था।

वृजिसघ अपनी विशिष्ट न्यायप्रणालीके लिये प्रसिद्ध था। परम्परासे चला आया 'वज्जिधर्म' यह था कि वज्जिके शासक यह 'चोर है', 'अपराधी है' न कह कर व्यक्तिको विनिश्चय महामात्यके हाथमे सौप देते थे। वह विचार करता, अपराधी न होनेपर छोड देता और अपराधी सिद्ध होनेपर वह उसे व्यावहारिक (न्यायाध्यक्ष) को दे देता। वह भी अपराधी जाननेपर सूत्रधारको दे देता, सूत्रधार निरपराध होनेपर छोड देता और अपराधी होनेपर अष्टकुलिकको सुपुर्द कर देता। अष्टकुलिक सेनापतिको, सेनापति उपराजको और उपराज राजाको दे देता। राजा विचारकर यदि अपराधी न हो, तो उसे छोड देता और अपराधी होनेपर 'प्रवेणि-पुस्तक' (दण्डविधान) के अनुसार दण्ड-व्यवस्था करता था। इस प्रकार वैशालीगणतत्रकी राज्य-व्यवस्था अत्यन्त दृढ और व्यवस्थित थी।

वैशाली नगरी चहारदीवारीसे घिरी हुई थी। यहाँ तीन प्रकारकी दीवालें थीं और प्रत्येक दीवाल एक दूसरीसे एक गव्यूति (एक कोस) पर स्थित थी। तीनों स्थानोंपर द्वार थे, जो गोपुरों और अट्टालिकाओंसे युक्त थे। वैशालीके तीन भाग थे। प्रथम भागमें स्वर्णके गोपुरोंसे युक्त सात हजार भवन, मध्य भागमें रजतके गोपुरोंसे युक्त चौदह हजार भवन और अन्तिम भागमें ताम्रके गोपुरोंसे युक्त इक्कीस हजार भवन थे। इनमें उच्च, मध्यम और निम्नवर्गोंके व्यक्ति अपने-अपने पदोंके अनुसार निवास करते थे। वैशालीके निवासियोंने यह नियम बना रखा था कि प्रथम भागमें जन्मी कन्याका विवाह प्रथम भागमें ही होगा, द्वितीय या तृतीय भागमें नहीं। मध्य भागमें जन्मी कन्याका विवाह प्रथम और द्वितीय भागोंमें होगा और अन्तिम भागमें जन्मी कन्याका तीनोंमेंसे किसी भी भागमें विवाह किया जा सकता था। वैशालीका यह संविधान था कि वैशालीमें जन्मी कन्याका विवाह किसी दूसरे स्थानमें नहीं किया जा सकता है।

ये तीनों भाग वैशाली, कुण्डपुर और वणियगाम (वाणिज्यग्राम) रहे होंगे, जो सम्पूर्ण नगरके दक्षिण-पूर्वी, उत्तर-पूर्वी और पश्चिमी अंगोंमें व्याप्त थे। कुण्डपुरके अनन्तर उत्तर-पूर्वी दिशामें कोल्लाग-सन्निवेश था, जिसमें ज्ञातृकुलके क्षत्रिय निवास करते थे। वैशालीकी समृद्धि और परम्पराके अध्ययनसे ज्ञात होता है कि वैशाली कुण्डग्राम और वाणिज्यग्राममें ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य निवास करते होंगे। निश्चयतः उन दिनोंमें वैशाली बहुत ही समृद्ध और सुव्यवस्थित नगरी थी। इसमें सात हजार सात सौ सतहत्तर प्रासाद, इतने ही कूटागार, आराम और पुष्करिणियाँ थीं। यह नगरी अपनी रमणीयता, वितानयुक्त आँगन, द्वार, तोरण, गवाक्ष और हर्म्योंसे समलंकृत एवं पुष्पवाटिकाओं और कुसुमित वनोंसे युक्त थी। वैशालीमें सभी प्रकारकी फसलें उत्पन्न होती थीं। वहाँके निवासी शांति और संतोषका जीवन व्यतीत करते थे। राष्ट्र धन-सम्पन्न और देवपुर-जैसा रम्य था।

उपनगर कुण्डग्राम

वैशालीका कुण्डग्राम या क्षत्रियकुण्ड बहुत ही प्रसिद्ध और रमणीक था। यह कुण्डपुर या कुण्डग्राम दो भागोंमें विभक्त था क्षत्रियकुण्ड और ब्राह्मणकुण्ड। क्षत्रियकुण्डसन्निवेश ब्राह्मण-कुण्डपुरसन्निवेशसे उत्तर स्थित था। क्षत्रियकुण्डग्राममें ज्ञातृवंशी क्षत्रियोंका निवास था। बताया जाता है कि गंडकी नदीके पश्चिम तटपर ये दोनों ही कुण्डपुर स्थित थे और एक-दूसरेके पूर्व-पश्चिम पड़ते थे। कुण्डपुरका वर्णन महाकवि असगने अपने 'वर्द्धमानचरित' में किया है। यह नगर सभी प्रकारकी वस्तुओंसे युक्त परकोटा, खातिका, वापिका एवं वाटिकाओं-

से परिपूर्ण था। कोटके प्रान्त भागोमे लगी हुई अरुणमणियाँ, पन्नाओकी प्रभाके छायामय पटलोसे परिपूर्ण होनेके कारण सन्ध्याकालीन श्रीका सृजन करती थी। भूमिपर जटित इन्द्रनीलमणियाँ अपनी आभासे भ्रमरोकी भ्रांति उत्पन्न करती थी। उन्नत भवन और रत्नजटित गोपुर अपने सौन्दर्यसे पथिकोंके मनको आकृष्ट करते थे। मुक्ताओकी आभाके कारण इस नगरमे श्वेत किरणोका वितान तना रहता था। धन-धान्य, पशु-सम्पत्ति आदिसे युक्त यह नगर प्रजाजनोको अत्यत सुखप्रद था[1]। आचार्य जिनसेन प्रथमने भी विदेहदेशके अन्तर्गत कुण्डपुरका यथार्थ चित्रण किया है। उन्होने लिखा है कि यह ऐसा सुन्दर नगर है जो इन्द्रके नेत्रोकी पक्तिरूपी कमलिनियोके समूहसे सुशोभित है तथा सुखरूपी जलका कुण्ड है। यहाँ शखके समान श्वेत एवं शरद् ऋतुके मेघके समान उन्नत भवनोके समूहसे श्वेत हुआ आकाश अत्यन्त सुशोभित होता है। भवनोंके अग्रभागमे लगी हुई चन्द्रकान्तमणिकी शिलाएँ रात्रिके समय चन्द्रमारूपी पतिके करस्पर्शसे स्वेदयुक्त स्त्रियोके समान द्रवीभूत हो जाती है। भवनोके अग्रभागमे जटित सूर्यकान्तमणियाँ अत्यन्त देदीप्यमान हैं। भवनोके शिखरपर जटित पद्मरागमणियाँ सूर्यकी किरणोके ससर्गसे अत्यन्त अनुरक्ता अङ्गनाकी तरह दिखलायी पडती हैं। इस नगरमे कही मोतियोकी मालाएँ लटक रही है, कही मरकतमणियोका प्रकाश व्याप्त हो रहा है, कही हीरकप्रभा फैल रही है, तो कही वैडूर्यमणियोकी नीली-नीली आभा छिटक रही है। यह नगरी कोटरूपी पर्वतोके बडे-बडे धूलि कुट्टिम और परिखासे वेष्टित है। इस नगरीका अतिक्रमण करनेमे

१ तत्रास्त्यथो निखिलवस्त्ववगाहयुक्त भास्वत्कलाधरवुधै सवृप सतार।
अध्यासित वियदिव स्वसमानशोभ ख्यात पुर जगति कुडपुराभिधान ॥
प्राकारकोटिघटितारुणरत्नभासा छायामयै परिगता पटलै समतात्।
आभाति वारिपरिखा नितरामनेका सन्ध्याश्रिय विदधतीव दिवापि यत्र ॥
धौतेन्द्रनीलमणिकल्पितकुट्टिमेपु यत्रोपहाररचितान्यसितोत्पलानि।
एकीकृतान्यपि सलीलतया प्रयाति व्यक्ति पतद्भ्रमरहुकृतिभि समतात् ॥
जैत्रेपव सुमनसो मकरध्वजस्य निस्तेजिताबुजरुचो शशलक्ष्मभास।
अप्रावृपो नवपयोधरकातियुक्ता यस्मिन्विभान्त्यसरित सरसा रमण्य ॥
अत्युन्नता शशिकरप्रकरावदाता मूर्धस्थरत्नरुचिपल्लवितातरिक्षाः।
उत्सगदेशसुनिविष्टमनोज्ञरामा पौरा विभाति भुवि यत्र सुधालयाश्च ॥
लीलामहोत्पलमपास्यं कराग्रसस्थ कर्णोत्पलञ्च विगलन्मधु यत्र भृगा।
निश्वाससौरभरता वदने पतन्ति स्त्रीणा मुहुर्मुहुकराहतिभीप्सवश्च ॥
महाकवि असग विरचित वर्धमानचरित, सर्ग १७, पद्य ७-१२

शत्रु सदा असमर्थ रहते हैं। धान्य, गोधन एवं अन्य आवश्यकताकी सभी वस्तुएँ इस कुण्डपुरमें समवेत हैं। यहाँके निवासी इक्ष्वाकुवंशी क्षत्रिय, प्रजाके संरक्षण और अभ्युदयमें निरन्तर तत्पर हैं। नगरका आयाम कई मील विस्तृत है। पंक्तिबद्ध भवन, कमलयुक्त सरोवर एवं विभिन्न प्रकारकी कमलिनियोंसे युक्त पुष्करिणियाँ अपने सौन्दर्यसे जन-मानसको आकृष्ट करती हैं[1]।

यह कुण्डपुर वर्तमानमें बसाढ या वासुकुण्डके नामसे प्रसिद्ध है। इस नगरके शासनप्रमुख राजा सर्वार्थ और रानी श्रीमतीसे उत्पन्न महाराज सिद्धार्थ थे। सिद्धार्थको क्षत्रियकुण्डग्रामका प्रमुख शासक माना गया है। इनकी राज्य-व्यवस्थामें इतिहासका कलुषित पृष्ठ उज्ज्वल हो उठा था।

वैशाली कृतार्थ हो गयी

वैशाली-गणतंत्र उन दिनोंमें सर्वाधिक शक्तिशाली और लोकप्रिय थी। वैशालीके अधिनायक महाराज चेटक थे। इन्हें काशी-कोशलके नौ लिच्छवियों और नौ मल्ल राजाओंका भी अधिनायक माना गया है। चेटकका ज्येष्ठपुत्र सिंह अथवा सिंहभद्र था, जो वज्जिगणका प्रधान सेनापति था। चेटक निर्ग्रन्थ श्रमणोंका उपासक था। इसकी सात कन्याएँ थीं, जिनमें प्रभावतीका विवाह वीतिभयके राजा उद्रायणके साथ हुआ था। पद्मावतीका कौशाम्बीके नरेश शतानीकके साथ, शिवाका उज्जयिनीके राजा प्रद्योतके साथ, त्रिशलाका वैशालीके उपनगर कुण्डपुरके राजा सिद्धार्थके साथ, चेलनाका राजगृहके राजा श्रेणिकके

१ तत्राखण्डलनेत्रालीपद्मिनीखण्डमण्डनम् ।
सुखाम्भःकुण्डमाभाति नाम्ना कुण्डपुरं पुरम् ॥
यत्र प्रासादसङ्घातैः शशाङ्कशुभ्रैर्नभस्तलम् ।
धवलीकृतमाभाति शरन्मेघैरिवोन्नतैः ॥
चन्द्रकान्तकरस्पर्शाच्चन्द्रकान्तशिला निशि ।
द्रवन्ति यद्गृहाग्रेषु प्रस्वेदिन्य इव स्त्रियः ॥
सूर्यकान्तकरासङ्गात् सूर्यकान्ताग्रकोटयः ।
स्फुरन्ति यत्र गेहेषु विरक्ता इव योषितः ॥
पद्मरागमणिस्फीतिर्यत्र प्रासादमूर्धनि ।
इनपादपरिष्वङ्गादङ्गनेवातिरज्यते ॥
मुक्तामरकतालोकैर्वज्रवैडूर्यविभ्रमैः ।
एकमेव सदा धत्ते यत्समस्ताकरश्रियम् ॥
शालशैलमहावप्रपरिखापरिवेषिणः ।
यस्योपरि परं गच्छत्यमित्रेतरमण्डलम् ॥

हरिवंशपुराण, २।५-११
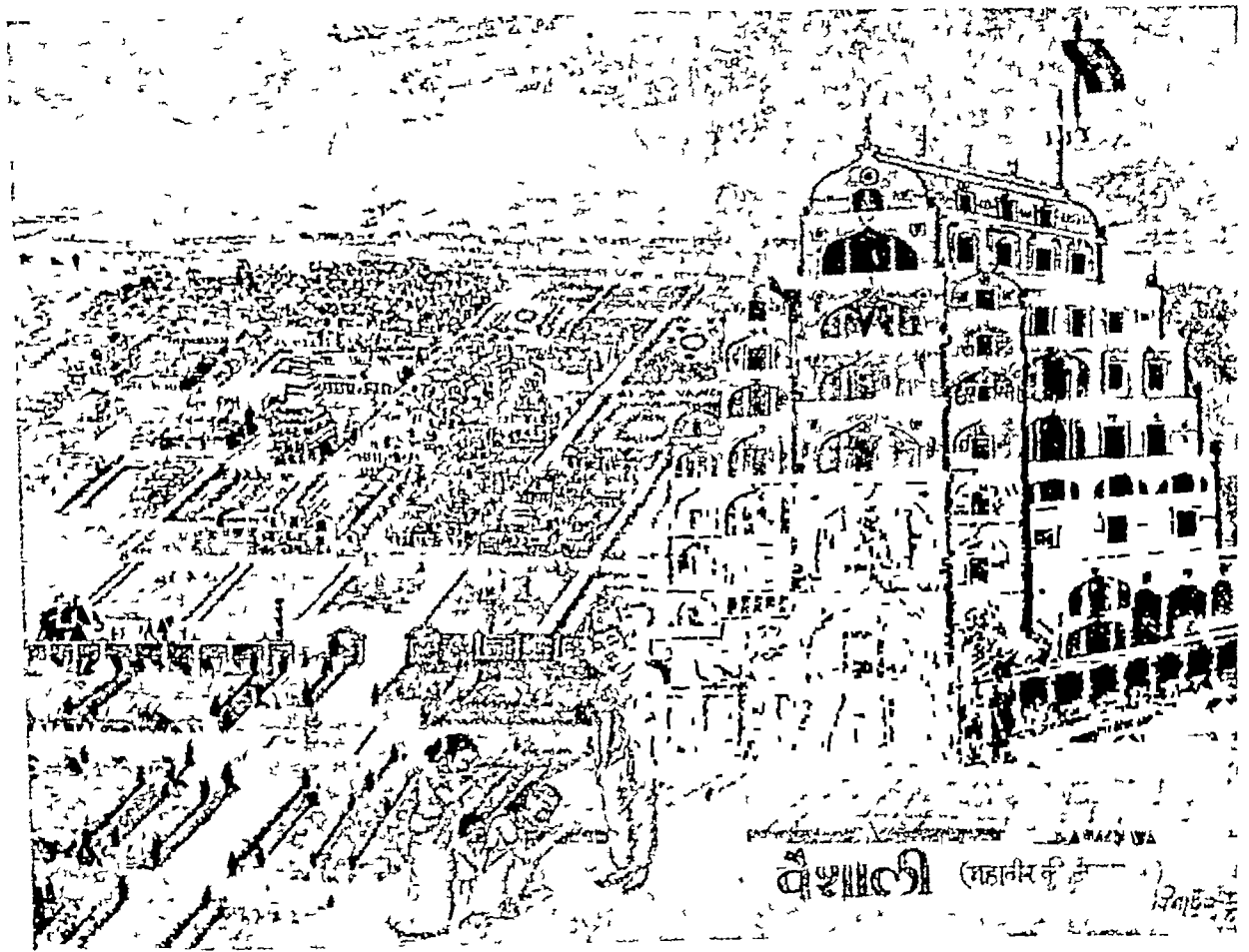
सप्ततल नन्द्यावर्त राजप्रासाद

जहाँ राजा सिद्धार्थकी प्रसन्नबुद्धि रानी त्रिशलाने महावीरको जन्म दिया था

आषाढस्य सिते पक्षे षष्ठ्यां शशिनि चोत्तरा-

षाढे सप्ततलप्रासादस्याभ्यन्तरवर्तिनि ॥

नन्द्यावर्तगृहे रत्नदीपिकाभि प्रकाशिते ।

रत्नपर्यंके हंस-तूलिकादिविभूषिते ॥

आचार्य गुणभद्र, महापुराण-उत्तरपुराण

७४।२५३-५४

साथ एवं छठी कन्या सुज्येष्ठाका विवाह अवन्तिनरेश चण्डप्रद्योतके साथ हुआ था। सातवी कन्या चन्दना अविवाहित रह गयी थी, जिसने दीक्षा-ग्रहण की।

चेटकके प्रभावकारी व्यक्तित्वके कारण अन्य देशोके नरेश भी उनका सम्मान करते थे। चम्पाके राजा दधिवाहन, कलिंगनरेश जितशत्रु, श्रावस्तीनरेश प्रसेनजित, मथुराके राजा उदितोदय, हेमांगदनरेश जीवधर, पोदनपुरनरेश विद्रराज, पोलाशपुरनरेश विजयसेन, पाचालनरेश जय एव हस्तिनापुरनरेश चेटकके मित्र राजाओमे परिगणित थे।

महाराज चेटकके इन सबंधोके कारण वैशालीकी प्रतिष्ठा अधिक बढ गयी थी और वैशालीके उपनगर कुण्डपुरमे तीर्थंकर महावीरका जन्म होनेसे वैशालीकी भूमि कृतार्थ हो गयी। वहाँका अणु-अणु पावन हो पाप और अनाचारके बोझको दूर करनेके लिये कृतसकल्प था। वैशालीकी प्रजा सुखी और समृद्ध तो थी ही, यहाँ न कोई शोषणकर्त्ता था और न कोई शोषक ही था। सभी एक-दूसरेपर विश्वास और प्रेम रखते थे। सरलता, शिष्टता, निश्छलता, सादगी और सत्यका पूर्ण साम्राज्य था। तीर्थंकर पार्श्वनाथकी परम्पराने लोकमानस-को जनोद्धारके लिये कृतसकल्प कर दिया था। प्राचीकी भाँति वैशालीकी प्रत्येक दिशा ज्योतिर्मती हो रही थी।

महाराज चेटक अपनी कन्या त्रिशलाका पाणिग्रहण सिद्धार्थके साथ सम्पन्न कर सुख और शातिकी साँस ले रहे थे। त्रिशला स्वभावसे कोमल, वाणीसे मृदु और हृदयसे उदार थी। उसके व्यक्तित्वकी मधुर छाप प्रत्येक व्यक्तिके अतस्तलपर पडती थी। जो भी उसे देखता सहज ही उसका भक्त बन जाता। प्रिय और मधुर वचन बोलनेके कारण तथा छोटे-बडे सभीके प्रति प्रिय व्यवहार करनेके कारण उसका अपर नाम प्रियकारिणी भी था। प्रिय करना और प्रिय बोलना त्रिशलाका सहज सस्कार था। आचार्य जिनसेनने प्रियकारिणी या त्रिशलाके गुणोका चित्रण करते हुए उसे स्नेह-पयस्विनी कहा है[1]। अपने उदात्त गुणोके कारण त्रिशलाने महाराज सिद्धार्थके मनको वशीभूत कर लिया था। कुण्डपुरके नैसर्गिक सौन्दर्यमे प्रियकारिणीकी सत्ताने कई गुनी वृद्धि कर दी थी। धर्मवत्सल महाराज सिद्धार्थ त्रिशलाको प्राप्तकर बडभागी बन गये थे। वैशालीका

१ उच्चै कुलाद्रिसम्भूता सहजस्नेहवाहिनी।
महिषी श्रीसमुद्रस्य तस्यासीत् प्रियकारिणी॥
चेतश्चेटकराजस्य यास्ताः सप्तशरीरजा।
अतिस्नेहाकुल चक्रुस्तास्वाद्या प्रियकारिणी॥

हरिवंश-पुराण, २।१६-१७

गणतंत्र विश्वका धर्मनायक बननेके लिये प्रयत्नशील था। महाराज सिद्धार्थ ज्ञातृवंशके वैभव महावीरके जन्मकी अगवानी कर रहे थे। सारा कुण्डपुर सहज उमग और उल्लासका अनुभव कर रहा था। नगरकी प्रत्येक डगर आनन्दमे डूबी हुई थी और ऐसा प्रतीत हो रहा था कि कोई निधि यहाँ उद्भूत होनेवाली है।

सूखे धरतीके आँसू

अज्ञानवाद, अनिश्चितवाद, नियतिवाद, भौतिकवाद, अक्रियावाद, यज्ञवाद एव क्रियाकाण्डवादने समाजमे निराशा उत्पन्न कर दी थी। फलतः समाज-विकृतिके कारण धरतीके नेत्रोसे भी आँसू झर-झर कर गिरते थे। जब-जब धरतीपर पाप और अत्याचार बढे, महान् आत्माओने जन्म ग्रहण किया। सभीने अपने-अपने ढगसे मानव-समाजको राह दिखायी, ससारके दु खोको दूर करनेका संकल्प लिया, वैशालीकी धरती और आँगन महावीरके आविर्भावकी प्रतीक्षामे आँसू बहा रहा था। धरा पर चारो ओर अन्धकार आच्छादित था। विवेकका मार्ग अवरुद्ध था। फलत उनके आगमनकी प्रतीक्षामे धरती मुस्कुरा उठी थी।

पृथ्वीके आँचलसे शनै शनैः सुखकी मणियाँ लुप्त होती जा रही थी और दु खकी काली छाया चारो और बढ रही थी। यद्यपि देशमे धन, सम्पन्नता और खाद्य-सामग्रीका अभाव नही था, पर दास और सेवकोके साथ किये जानेवाले बर्बरता-पूर्ण व्यवहार धरतीके हृदयको कचोट रहे थे। पापपूर्ण वासना और विलासिताके प्रचण्ड अग्नि-कुण्डमे दी जानेवाली आहुतिसे नि सृत धूम-कालुष्यने आकाशको आच्छादित कर लिया था। स्त्री और पुरुष दोनोने ही नीति और धर्मके आँचलको छोड़ दिया था और दोनो ही कामुकताके पकमे फँसे हुए थे। आचार-विचार, शील-सयमकी अवहेलनाने धरतीके हृदयको मथ दिया था। लोगोका ध्यान मन-प्राण और आत्माकी धवलतासे हटकर शरीरपर केन्द्रित हो गया था। लोग शरीरको ही सर्वस्व मानने लगे थे। मास-भक्षण, मदिरा-पान, द्यूत-क्रीडा आदिने धरतीको यन्त्रणाका लोक बना दिया था। वर्णाश्रमधर्मका अर्थ स्वार्थकी सकीर्ण सीमामे आबद्ध हो गया था। शूद्र एवं चाण्डालोका दर्शन भी अशुभ समझा जाता था और उनकी छायाका स्पर्श होते ही स्नानकी व्यवस्था को जाती थी। अतएव धरतीका पुलकित होना आरम्भ हुआ और वैशालीमे जगत्वदनीय महावीरने जन्म ले धराको धन्य किया। निश्चय ही वैशालीकी धरती कितनी पूज्य है, जिसकी गोदमे तीर्थंकर महावीरने क्रीड़ा की है।

वैशालीका परिसर कुण्डपुर पुलकित हो उठा। गत-गत वसन्त खिल उठे, सदानीरा(आधुनिक नारायणी-गडकी)तरगित हो गयी और कोटि-कोटि मानवोने

चन्दनके समान उस धरतीका वन्दन किया। शस्य-श्यामला धरतीकी छटा अनुपम हो गयी। वैशालीकी गौरव-गाथाएँ लोकको आकृष्ट करने लगी और धरासे सुरभित उच्छ्वास निकलने लगा।

सूखे पेड़-पौधे हरीतिमाकी चादरसे आच्छादित हो गये। नदी-नालोमे जल उफान लेने लगा। वृक्षोकी गोद फूलोसे भर गयी और खेतोमे अनाजकी बालोसे लदे हुए पौधे झूमने लगे। पक्षियोका कठ खुल गया, जन-जनके हृदयका उल्लास फूट पडा, धरती और धरतीके लोग, उस दिव्य ज्योतिके आगमनकी प्रसन्नतामे स्वर्ग और स्वर्गके देवताओसे स्पर्धा करने लगे।

त्रिशलाका स्वप्न-दर्शन

तीर्थंकर महावीर जब गर्भमे अवतरित हुए, उस समय त्रिशलाके मुखमण्डलपर दिव्य आभा विचरण करने लगी। उनके हृदयमे दिव्य ज्ञानका अजस्र स्रोत प्रवाहित हुआ और उनके पुण्यके शत-शत कमल विकसित होने लगे। त्रिशला-के अंग-प्रत्यग स्फुरित होने लगे और आनन्दसूचक शुभ शकुन दिखलायी पडने लगे। धरापर ही नही, स्वर्गमे भी इन्द्रको माँ त्रिशलाकी सेवाकी चिन्ता उत्पन्न हुई। उसने देवागनाओको कुण्डपुरमे प्रेषित कर त्रिशलाकी सेवाकी व्यवस्था की। इन्द्रने कुबेर द्वारा रत्न और धन-सम्पत्तिकी वृद्धि कर विदेहदेशको समृद्ध बनाया। महाराज सिद्धार्थ विवेक और नीतिके मार्गपर चलते तथा सभी प्रकार-से प्रजाका मगल और कल्याण करनेमे तत्पर रहते।

गर्भाधानसे छ महीने पहले ही महाराज सिद्धार्थके यहाँ धन-धान्यकी वृद्धि होने लगी। सुगधित जलवृष्टि, फल-पुष्पोकी वृद्धि एव स्वर्ण-रत्न-भण्डारकी समृद्धि होने लगी।

अच्युत स्वर्गसे च्युत हो तीर्थंकर महावीरका जीव १७ जून ई० पू० ५९९ शुक्रवारके दिन आषाढ शुक्ला षष्ठीको त्रिशलाके गर्भमे प्रविष्ट हुआ। प्रिय-कारिणी त्रिशला अपने राजभवनमे निद्रालीन थी। रात्रिके पिछले प्रहरमे उनकी पलकोपर एक सुहावनी स्वप्न-पक्ति उतरती दिखलायी पडी। हस्तोत्तर आषाढशुक्ला षष्ठीकी रात्रिका अन्तिम प्रहर ससारके लिये विभूतिके उदयका निमित्त बना। त्रिशलाने देखा कि उसके सामने मदसे झूमता हुआ उन्नत गज उसके उदरमे प्रविष्ट हो रहा है। इतना ही नही उसने भविष्यसूचक सोलह स्वप्नोका दर्शन किया। स्वप्न-दर्शनसे ही उसे अपूर्व आनन्द प्राप्त हो रहा था। उसके हृदयमे हर्षकी लहरें उत्पन्न हो रही थी और मन-मयूर नृत्य कर रहा था। सोलह स्वप्न निम्न लिखित हैं .

१ चार दाँतो वाला उन्नत गज,
२ श्वेत वर्णका उन्नत स्कंधवाला वृषभ,
३ उछलता हुआ सिंह,
४ कमलसिंहासनपर स्थित लक्ष्मी,
५. सुगन्धित भव्य मन्दारपुष्पोकी दो मालाएँ,
६ नक्षत्रोसे परिवेष्ठित चन्द्र,
७. उदयाचलपर अगडाई भरता हुआ सूर्य,
८ स्वच्छ जल परिपूरित दो स्वर्णकलश,
९. जलाशयमे क्रीडारत मत्स्यद्वय,
१०. स्वच्छ जलसे भरपूर जलाशय,
११. गम्भीर घोष करता हुआ सागर,
१२ मणिजटित सिंहासन,
१३ रत्नोसे प्रकाशित देव-विमान,
१४. धरणेन्द्रका गगनचुम्बी विशालभवन नाग-विमान,
१५ रत्नोकी विशालराशि,
१६ निर्धूम अग्नि।

स्वप्न-बेलाके समय हस्त नक्षत्र था, जो मगल और विभूतिका प्रतीक है। स्वप्नदर्शनके अनन्तर त्रिशलाकी निद्रा भंग हुई और वह सोचने लगी आज कभी भी इस प्रकारके स्वप्न दिखलायी ही नही पड़े। क्या कारण है कि आज तक मेरे मनमे हर्ष और उल्लास इतना अधिक बढ रहा है? जिस बातकी कल्पना मैंने कभी जागृत अवस्थामे नही की, वह स्वप्नमे क्यो आई? कर्मबद्ध प्राणीकी क्रियाएँ भूत और भावी जीवनकी सूचना देती है। स्वप्नका अतरग कारण ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय और अन्तरायके क्षयोपशमके साथ मोह-नीयका उदय है। जिस व्यक्तिके जितना अधिक इन कर्मोका क्षयोपशम रहता है, उस व्यक्तिके स्वप्नोका फल भी उतना ही अधिक सत्य निकलता है। तीव्र कर्मोदयवाले व्यक्तियोके स्वप्न निरर्थक एव सारहीन होते है। इसका मुख्य कारण यही है कि सुषुप्तावस्थामे भी आत्मा तो जागृत रहती है, केवल इन्द्रियो और मनकी शक्ति विश्राम करनेके लिये सुषुप्त-सी हो जाती है।

जिस व्यक्तिके ज्ञानावरणादि कर्मोका क्षयोपशम है, उसके क्षयोपशमजन्य इन्द्रिय और मन-सबन्धी चेतनता और ज्ञानावस्था अधिक रहती है। अतएव ज्ञानकी मात्राकी उज्ज्वलतासे निद्रित अवस्थामे जो कुछ दिखलायी पडता है उसका सम्बन्ध हमारे भूत, वर्त्तमान और भावी जीवनसे है। पौराणिक अनेक

आख्यानोसे भी यही सिद्ध होता है कि स्वप्न मानवको उसके भावी जीवनमे घटित होनेवाली घटनाओकी सूचना देते है। मेरे द्वारा देखे गये ये स्वप्न सामान्य नही है। इनसे अवश्य ही भविष्यकी सूचनाएँ उपलब्ध होगी।

त्रिशला जैसे-जैसे स्वप्नोके सम्बन्धमे विचार करती है, वैसे-वैसे उसका मानसिक तनाव बढता जाता है। उसकी चिन्तनधारा स्वप्नोका फल अवगत करनेके लिये उतनी ही अधिक प्रबल होती जाती है। उसकी उत्सुकता बढती जाती है और वह अपने द्वारा देखे गये स्वप्नोका फल ज्ञात करनेके लिये अपने पति महाराज सिद्धार्थके पास जानेका निश्चय करती है।

नित्य-कर्मसे निवृत्त हो त्रिशला उल्लास और हर्षसे विभोर होकर वस्त्राभूषण धारण करती है और पूर्णतया अपनेको सज्जित कर राजसभामे चलनेके लिये तैयार हो जाती है।

राजसभामे पहुँचनेपर महाराज सिद्धार्थ उठकर उनका स्वागत-सम्मान करते है और अर्द्धासन दे त्रिशलाको यथोचित स्थान देते है। सभी सभासद उठकर महारानीका जय-जयकार करते हुए अभिनन्दन करते है।

महाराज सिद्धार्थ "देवी ! आपने इतने सबेरे राजसभामे आनेका क्यो कष्ट किया ? यदि कोई आवश्यकता थी, तो मुझे ही क्यो नही बुला लिया ? मै आपका आदेश प्राप्त करते ही अन्त पुरमे चला आता।"

त्रिशला कोकिलकठसे कहने लगी "स्वामिन् ! मैने रात्रिके पिछले प्रहरमे सोलह स्वप्न देखे है। इन स्वप्नोका फल जाननेके लिये मेरा मन बेचैन है। निमित्तशास्त्रमे अन्तिम प्रहरमे देखे गये स्वप्नोको भविष्यफलसूचक बतलाया गया है। मै इन स्वप्नोका फल जाननेकी इच्छासे आपके समक्ष उपस्थित हुई हूँ। कृपया मेरे देखे गये सोलह स्वप्नोका फल बतलाइए।"

महाराज सिद्धार्थ त्रिशला द्वारा बतलाये गये सोलह स्वप्नोको सुनकर कहने लगे "देवि ! तुम्हारे गर्भसे एक महान् विभूति जन्म लेनेवाली है, जिसके अस्तित्व मात्रसे अन्याय, हिंसा, असत्य, परिग्रह, सघर्ष, अत्याचार आदिका अन्त हो जायेगा। त्रिशले ! तुम बडी भाग्यशालिनी हो कि तुम्हारी कुक्षिसे एक अपराजिता ज्योति प्रादुर्भूत होनेवाली है। युग आयेगे और जायेंगे, पर तुम्हारे पुत्रकी कीर्तिगाथा सर्वत्र और सदैव गूँजती रहेगी। वह देवोके देव और अमरोके भी श्रद्धा-पात्र होगे। उनकी चरण-वन्दनाके लिये मनुष्योकी तो बात ही क्या इन्द्र भी लालायित रहेगे। ऋद्धियाँ और सिद्धियाँ तो उनके चरणोपर लोटती रहेगी। वह लोक-कल्याणके लिये अपने सुखका त्यागकर अलख जगायेगा।"

गज : तीर्थनायक

गज स्वप्नशास्त्रमे महत्ताका प्रतीक है। इस स्वप्न-दर्शन द्वारा महान् तीर्थ-प्रचारक होनेकी सूचना प्राप्त होती है। त्रिशले ! तुम्हारा बालक महान् होगा, संतप्त विश्वका उद्धारक होगा और तीर्थनायक बनकर अनेकान्त-शासनका पुनरुद्धारक और प्रचारक होगा। गर्भस्थ बालक अपने उदात्त गुणोके कारण तीर्थंकर पदको प्राप्त करेगा और इसके द्वारा अहिंसाका सार्वजनीन प्रचार होगा। अहिंसा, अभय और समताके भावोका प्रसार होगा।

स्वप्नशास्त्रके अनुसार चतुर्दन्त गजको किसी महान् अभ्युदयकी प्राप्तिका प्रतीक माना जाता है। जो गज उन्नत और पुष्ट होता है, उसका स्वप्नदर्शन भावी अभ्युदयका निमित्त समझा जाता है। राज्यलक्ष्मी उसके चरणोकी सेवा करती है। लौकिक अभ्युदय उसे घेरे रहते है, पर वह मनुष्यजातिके अभ्युत्थानके लिये कृतसकल्प रहता है। वह अपनी साधनामे चुपचाप बढता जाता है और करुणाका अवतार बनकर जगत्का उद्धारक बनता है।

श्वेत वृषभ : सत्यप्रवर्तक

जब स्वप्नमे उन्नत स्कध वाले श्वेत वृषभका दर्शन होता है, उस समय उस स्वप्न-दर्शन द्वारा भावी बालकको सत्य-धर्मका प्रचारक समझा जाता है। निश्चयत यह स्वप्न पवित्र आचरणसम्पन्न, दिव्यज्योतिके प्रादुर्भावका सूचक है। इस स्वप्न द्वारा निर्भीकता, सहिष्णुता और समत्वकी सूचना प्राप्त होती है। लोककल्याण सत्य-धर्ममे निहित है। इस सत्यका साक्षात्कार उग्र तपश्चरण, वासनाओसे युद्ध एव आसक्तियोके सघर्ष-विजय द्वारा होता है। गर्भस्थ बालक मार्ग-भ्रष्ट जनमानसको सत्यके लिये प्रेरित करेगा। जगतमे व्याप्त अज्ञानरूपी अन्धकारको छिन्नकर शान्ति और कल्याणका सन्देश देगा। बालकके जन्मसे देश और धरा तीर्थ बन जायँगी। युगो तक विश्वकी मृत्तिका चन्दन बनकर महकती रहेगी। कोटि-कोटि मानव उसके द्वारा पावन की गयी मिट्टीमे लोटकर अपने तन-मनको पवित्र बनायेगे। बालकके त्याग और तपश्चरणसे सुख-सरिताएँ तरगित हो जायँगी। श्रद्धाकी त्रिवेणी प्रवाहित होने लगेगी। मृत्युविजेता हो वह धरती-की गोदको अक्षय सुख और शान्तिकी मणियोसे भर देगा। सत्यका आलोक प्रस्फुटित हो जायगा। यह स्वप्न सत्यसन्ध और धर्मनिष्ठ होनेका प्रतीक है। बालक धर्मविशेषका प्रतिनिधि हो जनताको शान्ति और सुख प्रदान करेगा।

सिंह : अनन्त ऊर्जाका द्योतक

स्वप्नशास्त्रमे सिहको बल, प्रताप और पौरुषकी वृद्धिका प्रतीक माना गया है। युद्धक्षेत्रमे शत्रुओको परास्त करने योग्य सामर्थ्यकी सूचना भी इस

स्वप्नसे प्राप्त होती है। देवि! तुमने स्वप्नमे उछलते हुए सिंहका दर्शन किया है, जिसका फल गर्भस्थ बालकको अतुलपराक्रमी और शूरवीर होना है। बालक अपनी अपार ऊर्जाको प्रादुर्भूत कर कर्म-शत्रुओको नष्ट कर आत्मज्योति प्राप्त करेगा। उसके मनमे न कोई तनाव होगा, न कोई चिन्ता होगी और न वह ससारके प्रलोभनोमे आसक्त रहेगा। जन्मसे ही वह आत्मद्रष्टा होगा। बडे-बडे सम्राट् और इन्द्र-धरणेन्द्र उसके चरणोकी वन्दना करेंगे। श्रम, साधना और तपके माध्यमसे अपनी अनन्त ऊर्जाका विकास कर परमात्मपद प्राप्त करेगा। बालककी ऊर्जा पूर्णतया प्रस्फुटित होगी और उसके अध्यात्म-पराक्रम-की सभी लोग प्रशसा करेंगे।

मन्दार-पुष्पमाला दिग्दिगन्त यश सुरभि-विस्तार

मन्दार-पुष्पोकी माला उत्सव, यश एव प्रसिद्धिकी सूचक है। इस स्वप्न-दर्शन द्वारा बालकके यशस्वी होने एव उसके कान्तिमान सुरभित सुस्फीत शरीर-की सूचना मिलती है। यह स्वप्न अनेक शुभ लक्षणोका सूचक है। बालकका शरीर सुगन्धित एव अनेक शुभ लक्षणोसे युक्त होगा। यह इन्द्रियोका निग्रह कर सयम और समताका आचरण करेगा।

लक्ष्मी : इन्द्र-देवेन्द्रो द्वारा वन्दनीय

लक्ष्मी-दर्शनसे यह प्रकट होता है कि सुमेरु पर्वतपर सौधर्म आदि इन्द्रोके द्वारा बालकका जन्माभिषेक सम्पन्न किया जायगा। राजा-महाराजाओके साथ इन्द्र, धरणेन्द्रादि उसके चरणोकी पूजा करेंगे। तीर्थंकरप्रकृतिके अतिशय पुण्य-प्रभावके कारण जन्मसे छ महीने पहलेसे ही कुबेरादि धन-सम्पत्तिकी वृद्धि करेंगे। बालक अतिशय पुण्यके प्रभावसे सभीका लोकप्रिय होगा। वह केवलज्ञानादि लक्ष्मीका प्राप्तिकर्त्ता होकर पुनर्जन्म, आत्मा एव षट्द्रव्योंके महत्त्वका प्रतिपादन करेगा। बालकके सौम्य दर्शनसे सिंह और गाय एकसाथ निवास करेंगे।

चन्द्र : अमृत-वर्षण

स्वप्नमे चन्द्रमाका दर्शन अमृत-वर्षाका प्रतीक माना जाता है। गर्भस्थ बालककी वाणीसे कोटि-कोटि मानवोके हृदयोकी मलिनता दूर होगी। उनके अमृत-स्पर्शसे सर्वत्र शीतलता व्याप्त हो जायगी। धर्मामृतके वर्षणसे जगतका सन्ताप दूर होगा। धर्मामृत प्राणोमे नव शक्तिका सचार करेगा। नश्वर-को स्थायित्व प्रदान करेगा। इनके धर्मामृतसे ससारके क्लेश मिट जायेंगे, मलिनताके बादल छँट जायँगे और पारस्परिक पृथकताओकी दूरी सिकुडकर समाप्त हो जायगी। धर्मके सम्बन्धमे विकृत हुई भावनाका अन्त होगा। विपरीत

व्याख्याएँ समाप्त हो जायँगी और सत्यका आलोक प्राप्त होगा। महावीरकी अमृत-वर्षा शीतल और सुखकर होगी। आत्माके वास्तविक स्वरूपका परिज्ञान प्राप्त होगा। अहिंसाका चन्द्रोदय जगतके प्राणियोका पथ-प्रदर्शन करेगा। ससार-समुद्रमे निमग्न प्राणियोको वह सहारा देगा, त्राण करेगा, शरण देगा, गति देगा और प्रतिष्ठा प्रदान करेगा। इनका धर्मामृत क्षुधितोकेलिये भोजनसदृश, प्यासोकेलिये जलसमान और रोगियोकेलिये औषधसमान होगा। इनकी वाणी अमृतका अक्षय कोष होगी।

सूर्य : दिव्यज्ञानप्राप्ति

सूर्य-दर्शनसे भावी बालक अज्ञानरूपी अन्धकारको नष्ट करनेवाला और सूर्यके समान भास्वर केवलज्ञानको प्राप्त करेगा। यो तो जन्मसे ही मति, श्रुत और अवधिज्ञानका धारी होगा, पर वह अपने त्याग, तपश्चरण द्वारा कर्मकालिमाको भस्मकर केवलज्ञान प्राप्त करेगा। पूर्णज्ञानी ही जगतके उत्थानका कार्य कर सकता है। केवलज्ञानकी ज्योतिके समक्ष अगणित दीपक और असख्य सूर्य-चन्द्र निस्तेज हो जाते है। बालकको जगतके अनिवार्य कोलाहलके मध्य आत्माका सगीत सुनायी पडेगा। उनकी ज्ञान-ज्योति सरागताको समाप्त कर वीतरागताका विकास करेगी। तालावोमे ही नही, पृथ्वीपर भी इस दिव्यज्ञान-मार्त्तण्डके आलोकसे कमल विकसित हो जायेंगे।

जलपूर्ण कलश : करुणाका प्रसार

जलपूरित दो स्वर्ण-कलशोका दर्शन गर्भस्थ बालकके कल्याणकारी सुन्दर एव ध्यानरत होनेका सूचक है। यह स्वप्न करुणाका प्रतीक है। बालक करुणासे द्रवीभूत हो अहिंसाके मार्गका प्रचार करेगा। उसका समस्त जीवन हिंसाके विरुद्ध सघर्ष करने और अहिंसाके प्रचारमे व्यतीत होगा। जिस प्रकार भयसे समाकुल प्राणियोके लिये बलवानकी शरण आधार है, उसी प्रकार विश्वके दुःखोसे भयभीत प्राणियोंके लिये अहिंसा आधार है। अहिंसाकी मगलमयताका उद्घोष इस बालक द्वारा होगा। मन, वचन और कर्म द्वारा सम्पूर्ण प्राणियोके साथ मित्रताका भाव स्थापित कर करुणाकी प्रतिष्ठा करेगा। अनुकम्पा, दया, करुणा, सहानुभूति और सवेदना आदिको अहिंसाके अन्तर्गत सिद्ध करेगा।

मत्स्ययुगल : अनन्त सौख्यकी उपलब्धि

मत्स्ययुगलको अनन्त सुखकी उपलब्धिका सूचक बताया गया है। स्वप्नशास्त्रमे मत्स्य-दर्शनको भावी सुख-समृद्धिका प्रतीक माना है। व्यक्ति प्रमाद-रहित हो अपने पुरुषार्थमे अहर्निश जागरूक रहता है और उसे अभीष्ट सिद्धियाँ प्राप्त होती है। निस्संदेह यह बालक सर्वजनकल्याणक और सुखी होगा।

जलाशय : संवेदनशीलता

जलाशय संवेदनशीलताका प्रतीक है। गर्भस्थ बालक मानव-चेतनाका अध्ययन कर संवेदनशील होगा और पथभ्रष्ट मानवताको कल्याणके पथपर पहुँचायेगा। वह पशुओंका गोपाल, शूद्र और नारियोंके आंसुओंको अपने हाथोंसे पोंछनेवाला, सर्वधर्म-समभावी और विश्वमैत्रीका प्रचारक होगा। अज्ञान-तिमिरको दूर हटाकर नव प्रकाश विकीर्ण करेगा और रोते हुए लोगोंके आंसुओंको पोंछकर उन्हे गोदीमे बैठायेगा। दलित और पतित मानवोंको कण्ठसे लगायेगा, उन्हे सहारा देगा और जाति-मदके विषको दूर कर अमृतमे परिणत करेगा। आडम्बर और गुरुडमको दूरकर अपनी संवेदना द्वारा शान्तिका सन्देश देगा। इतना ही नही, वह दुःखी जगतको अपनी सहानुभूति और संवेदना द्वारा सांत्वना देगा।

सागर : हृदयकी विशालता

गम्भीर घोष करते हुए समुद्रका स्वप्न हृदयकी विशालताका प्रतीक है। शोषजीवी स्वार्थी पण्डितोंने मानवताके अधिकारसे वंचित कर जनसामान्यको निरुपाय और निःसहाय बना दिया है। ऐसे व्यक्तियोंको राहत पहुँचाना और उन्हे खोये हुए अधिकारोंकी पुनः प्राप्ति कराना गर्भस्थ बालकका कार्य होगा। उसके हृदयकी विशालता ही हिंसापूर्ण क्रिया-काण्ड, जातिमद, स्वार्थ-वश ऊँच-नीचत्व, आदिका निरसनकर मानवताकी यथार्थ प्रतिष्ठा करेगी। वह अतिभोग और अभावग्रस्त प्राणियोंका विवेक जागृत कर उन्हे मानव बनने के लिये प्रेरित करेगा।

मणिजटित सिंहासन : वर्चस्व और प्रभुत्व

मणिजटित सिंहासन भावी बालकके वर्चस्व और प्रभुत्वका प्रतीक है वह अन्तःसम्पदा और अक्षयनिधि प्राप्त करेगा। उसके जीवनमे कर्तृत्व और भोक्तृत्वकी अप्रतिम भावसंज्ञाएँ विसर्जित हो जायँगी। प्रज्ञाका धनी वह महाचेता बन अपनी चेतनाका ऊर्ध्वीकरण कर स्थिर-प्रज्ञताको प्राप्त करेगा। प्रेम, करुणा और वात्सल्यकी अनन्ततामे वह समा जायगा। उसके चित्तकी चंचलता, चेतनाकी चिन्मयतामे रूपान्तरित हो जायगी। आत्माकी गतिशीलता अन्तश्चेतनाके उर्ध्वीकरणका सृजन करेगी। उसका पौरुष जीवनसे पलायन नही, जीवनकी अन्तर्निहित शक्तियोंका स्फुरण करेगा।

देव-विमान : कीर्ति

स्वप्नमे देव-विमानके दर्शनसे यह सूचित होता है कि गर्भस्थ बालक स्वर्गसे च्युत हो जन्म ग्रहण करेगा। इस बालककी कीर्ति सर्वत्र व्याप्त हो जायगी। उसके

कार्योकी यशोगाथासे जन-जन परिचित हो जायगा। परम्परागत धर्म और धार्मिक कर्म-काण्ड समाप्त हो जायँगे। जनताके समक्ष रूढियोकी आलोचना कर धार्मिक प्रतिष्ठानके विरुद्ध क्रान्तिका शखनाद करेगा। वह मनुष्य-मनुष्यके बीच होनेवाली दलालीको बन्दकर उदार नीतिका प्रचार करेगा। जाति-प्रथा और कर्मकाण्डपर प्रहारकर अपने क्रान्तिकारी विचारो द्वारा जनमानसको आलोकित कर देगा। वह जड-चेतनका स्वतत्र अस्तित्व प्रतिपादित कर एकाधिकारका विरोध करेगा। व्यक्तिकी स्वतत्रताका उद्घोषकर अनेकान्तात्मक दृष्टिकी स्थापना करेगा। उसकी अपनी राह होगी, अपनी करनी होगी और वह अपने बल-पौरुष द्वारा स्वतन्त्रताका प्रचार करेगा।

धरणेन्द्र-भवन अवधिज्ञान

नागेन्द्र भवनके अवलोकनसे गर्भस्थ बालक अवधिज्ञानका धारी होगा। जन्मकालसे ही वह अपनी प्रतिभा द्वारा लोगोको आश्चर्यचकित करेगा। आत्मा और ज्ञान-ज्योतियाँ जगमगा जायँगी और सर्वत्र प्रकाश व्याप्त हो जायगा। सारे अन्तर्विरोध समाप्त हो जायँगे। आत्मदर्शन द्वारा वह जगतको निराकुल बनानेका प्रयास करेगा। जन्मसे ही अद्भुत रोशनी प्राप्त कर वह वीतरागता और अनेकान्तवादका अमृतवर्षण करेगा। उसका चित्त भवसागरके तटपर चरम शक्तिका अन्वेषण करेगा। उसकी साधनाके सम्मुख सासारिक सुख अकिंचन हो जायगा। समस्त व्यवधान, अमगल, कोलाहल शान्त हो दिव्य आलोक प्रस्तुत करेंगे। आत्म-शुद्धिकी दिशामे बढता हुआ वह एक नया आलोक प्राप्त करेगा। धर्मान्ध जनता विवेक प्राप्त कर उसका नेतृत्व स्वीकार करेगी।

रत्नोकी विशालराशि : अनन्तगुण

स्वप्नमे रत्नराशिका दर्शन सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चारित्ररूप रत्नत्रयकी प्राप्तिका प्रतीक है। जीवनका वास्तविक कल्याण रत्नत्रयसे ही होता है। इस स्वप्न-दर्शनका फल समता, सहिष्णुता आदि लोकोत्तर गुणोकी प्राप्ति भी है। बालक अपने समस्त आचरण और दिनचर्यामे सजग रहेगा। सभी प्रकारके सयम ग्रहण करेगा। वह ईर्ष्या, द्वेष, अहकार, लोभ, मोह, छल, कपट, घृणा आदिसे रहित होगा। न उसका कोई शत्रु होगा, न मित्र, वह सभीके प्रति समभाव रहेगा। आकाशके समान व्यापक-शुद्ध अन्त करण

निर्मल-हृदय, कमलपत्रके समान सर्वथा अलिप्त और सिंहके समान निर्भय विचरण करेगा। वह अपना ज्ञान जन-जनको बाँट कर मुक्तिका पथ प्रशस्त करेगा।

निर्धूम अग्नि : निर्वाण

गर्भस्थ बालक अपनी समस्त कर्म-कालिमाको नष्टकर निर्वाण प्राप्त करेगा। आत्माका सच्चा सुख निर्वाण-प्राप्ति ही है। इसीके लिये संयम-तपकी भावना की जाती है। बालकका भविष्य बहुत ही उज्ज्वल है। वह कर्मोंसे युद्ध कर अपनी आत्माको शाश्वत सुख-प्राप्तिकी ओर लगायेगा। भारतकी मानसिक और सांस्कृतिक पंगुताको समाप्तकर स्वस्थ चिन्तनकी मधुर वीणा वादित करेगा। लोक-जीवन और लोकशासन पावनताका अनुभव करने लगेगा। अज्ञान, अधर्म, अन्याय और अत्याचार समाप्त हो जायँगे। आत्म-स्वातन्त्र्यकी भावना द्वारा वह जनमानसके मनोबलकी वृद्धि करेगा। आत्मा अज्ञान, मोह और मिथ्यात्वसे मुक्त हो जायगी। विश्व-बन्धुत्व और विश्व-मैत्रीकी भावनाओंका प्रसार होगा।

भावी बालक स्वयं अपना तो उद्धार करेगा ही, अपने उपदेशों द्वारा आडम्बर और औपचारिकताओंका भी अन्त करेगा। सच्ची रुचि, सच्ची पहचान और सच्चा आचरण उसके जीवनका लक्ष्य होगा।

इस प्रकार विशिष्ट निमित्तज्ञानी महाराज सिद्धार्थ द्वारा स्वप्नोंके उपर्युक्त फलको सुनकर त्रिशला धन्य हो गयी और अपने भाग्यकी सराहना करने लगी। भाग्यशाली पुत्रका जन्म अवगतकर उसका मन अपार वात्सल्य और उत्साहसे भर गया। वह उस भाग्यशाली क्षणकी उत्कंठापूर्वक प्रतीक्षा करने लगी। माँ त्रिशलाका मन होनेवाले बालककी विशेषताओंको ज्ञात कर अत्यन्त शान्त हुआ। वह सोचती है "जिस दिन मेरी कुक्षिसे यह बालक जन्म ग्रहण करेगा, उस दिन मुझ जैसी बडभागिन कौन होगी ? माँकी साध सुयोग्य सन्तान प्राप्त करनेकी है। यदि यह प्राप्त हो जाये, तो मातृत्व चरितार्थ हो जाता है।"

पुण्य-चमत्कार

पुण्योदयसे संसारके समस्त वैभव प्राप्त होते हैं। पुण्यात्माके यहाँ लक्ष्मी दासी बन जाती है, कुबेर किंकर हो जाता है और जगतके वैभव हस्तामलक हो जाते हैं। महाराज सिद्धार्थ और महारानी त्रिशलाके पुण्य-वैभवका कहना ही क्या, जिनके यहाँ अच्युत स्वर्गसे च्युत हो तीर्थंकर महावीरका जीव पुत्र-रूपमें जन्म ग्रहण करनेवाला है। सारा उपनगर हर्ष, उल्लास और उमंगसे अनुस्यूत है। सिद्धार्थका घर-आँगन देव-देवांगनाओंका क्रीडास्थल बना हुआ है। महावीरका गर्भकल्याणक सम्पादन करनेके लिये मनुष्योंकी तो बात ही क्या, चतुर्निकायके देव भी आतुर हैं। वैशालीके समस्त नगरों और उपनगरोंकी कृषि-सम्पत्ति बढ रही है। गोधन, अश्वधन और गजधनकी वृद्धि हो

रही है। फसलोकी हरीतिमाने जन-जनको पुलकित कर दिया है। पशुओने परस्पर वैर-विरोध छोड दिया है। श्रीदेवी प्रियकारिणी-त्रिगलाकी शोभा-वृद्धिमे, ह्रदेवी लज्जाकी समृद्धिमे, धृतिदेवी धैर्यके सवर्द्धनमे, कीर्तिदेवी स्तुतिगानमे, वुद्धिदेवी विवेक और विचारके सरक्षणमे एव लक्ष्मीदेवी धन-धान्य समृद्धिकी वृद्धिमे सलग्न है। माता त्रिगलाकी सेवा महलकी परिचारिकाएँ तो करती ही हैं, पर स्वर्गकी देवागनाएँ भी आकर उनकी सेवा-शुश्रूषामे रह रही है।

यह सब कुछ विलक्षण, पर सुहावना दिखलायी पडता था। समस्त अन्त -पुर हर्ष और आनन्दमे विभोर था। माता-त्रिशलाकी की जानेवाली सेवा शब्दातीत थी। देवियो और परिचारिकाओ द्वारा की जानेवाली सेवाके समक्ष सभी हार मान जाते थे। त्रिगलाके मनोरजन हेतु नाना प्रकारके साज-सामान एकत्र किये जाते थे। देवियाँ और परिचारिकाएँ माताके मनवहलावके हेतु विविध प्रकारके प्रश्न और पहेलियाँ पूछती थी। प्रत्येक क्षण त्रिशलाकी समस्त सुख-सुविधाओका ध्यान रखा जाता था।

महाराज सिद्धार्थ भी गर्भवती त्रिगलाके समस्त दोहदोको पूर्ण करनेके लिये सचेष्ट थे। उन्होने अनेक अप्रमत्त परिचारिकाएँ नियत की थी। वे सभी परिचारिकाएँ माताके स्वभाव और प्रवृत्तिका अध्ययन कर कार्य करती थी। अद्भुत पुण्यके प्रभावसे समस्त समवाय विलक्षण ही था।

मनोरञ्जनार्थ : संगीत, नृत्य एवं चित्रकला

भारतीय सभ्यतामे सगीत, नृत्य एव चित्रादि कलाएँ मनोविनोद अथवा भोग-विलासका साधन नही है, अपितु इनमे तत्त्ववाद, कल्पनात्मक विस्तार एव ऐतिहासिक परम्पराका प्रच्छन्न रूप पाया जाता है। कला केवल शारीरिक अनुरञ्जन ही नही करती, अपितु मानसिक और बौद्धिक विकासका भी सकेत प्रस्तुत करती है। तीर्थंकर महावीरकी माता त्रिगलाके मनोविनोदार्थ सगीत एव नृत्यादि कलाएँ सेवाके हेतु प्रस्तुत देवियोने उपस्थित की। नवीन रूपको, नयी रेखाओ एव नये रगोसे विभिन्न प्रकारके चित्रोका निर्माण कर माताको प्रसन्न किया। दिवालो, काष्ठ-फलको एव वस्त्रोके ऊपर भी विद्धचित्र, अविद्धचित्र एव रसचित्र अकित किये गये। कलाद्वारा विभिन्न प्रकारकी लीलाएँ एव शिल्प-साधनाएँ चित्रित कर सत्य, शिव और सौन्दर्यकी पूर्णतया अभिव्यक्ति की गयी है। लोक-जीवनकी रसभरी प्रेरणा द्वारा राग-रागिनी, ऋतु-वर्णन, लीला-वर्णन एव प्रकृतिके रम्य रूप उपस्थितकर माताका अनुरजन किया जाने लगा।

संगीतका प्राण स्वर है। काव्यकी काया शब्द और अर्थों द्वारा निर्मित होती है, पर सगीत शब्दातीत है। सगीतमे रस-निष्पत्तिके हेतु वाचक-शक्तिकी अपेक्षा नही रहती है। यही कारण है कि सगीतकी भाषा शाश्वत और सार्वभौम होती है। वह भौगोलिक सीमाओके बन्धनसे परे रहती है। प्राणी ही नही, वनस्पतियो तकमे स्पन्दन भर देती है। संगीतकला, सा रे, ग, म आदि सप्त स्वरोपर आधृत है। ये सात स्वर ही सामक कहे जाते हैं। साम-गानमे प्रथम, द्वितीय, तृतीय, चतुर्थ और मन्द्र इन पाँच स्वरोको मुख्य माना गया है और क्रुष्ट तथा अतिस्वार्य इन दो स्वरोको गौण। साम-सिद्धान्तके अनुसार मुख्य पाँच स्वर क्रमसे मध्यम, गान्धार, ऋषभ, षड्ज और निषाद है। मुख्य और गौण स्वरोको मिला देनेसे सप्त स्वर होते हैं। इन्हीके अन्तर्गत दो मध्यम स्वर माने जाते हैं, जो अन्तर और काकली कहे जाते हैं। वीणाके साथ गान करते समय ऋषभ, धैवत और मध्यम स्वरोके विकृत रूपोको मिलाकर सगीतके बारह स्वर-स्थान, बाइस सूक्ष्म श्रुतियाँ एव छयासठ नादके सूक्ष्मतर प्रभेद होते है।

वाणीको स्वरमयी और शब्दमयी माना जाता है तथा स्वर और शब्द नादके अधीन है। नादको जगतका परिणाम माना गया है। इसके आहत और अनाहत दो भेद हैं। अनाहत नाद विना आघातके उत्पन्न होता है। इसे केवल योगीजन ही सुनते हैं, समझते है और इसके द्वारा मोक्ष प्राप्त करते है। समस्त चराचर जगत नादसे प्रभावित है। हरिण और सर्प वीणाका स्वर सुनकर मंत्र-मुग्ध हो जाते हैं। सगीतको ब्रह्मानन्द-सहोदर इसीलिये कहा जाता है कि नादमे अपार आकर्षण-शक्ति विद्यमान है। जीवन और सृष्टिके जिन रहस्योको हम ज्ञात करनेमे अक्षम रहते हैं, सगीतद्वारा वे रहस्य सहज हृदयगम हो जाते है।

देवियाँ सगीतगोष्ठी और वादित्रगोष्ठी द्वारा माता त्रिशलाको प्रसन्न करती और उनके हृदयको पवित्र भावनाओसे आप्लावित करती थी। वे मधुर गान द्वारा ऐसे स्वर और नादका सृजन करती थी, जिससे माताका हृदय प्रफुल्लित हो जाता था। सस्कृति, शिक्षा, धार्मिक, नैतिक विश्वास एव निष्ठाओकी अभिव्यक्ति सगीतके द्वारा की जा रही थी। रसानुभूतिकी क्षमता और अभिरुचिका परिष्कार अहर्निश होता रहता था।

माता त्रिशला सगीतके रसास्वादनद्वारा मनोविनोद तो करती ही थी, पर वे जीवनके गम्भीर रहस्योको भी अवगत करती थी। विनोदकी सबसे प्रथम और बडी आवश्यकता है बन्धनोसे मुक्ति। यद्यपि धर्म और नीति इस विनोदकी प्रवृत्तिको मर्यादित और सस्कृत करनेका सतत प्रयत्न करते आये है, परन्तु

विनोदकी आवश्यकता इसे मुक्त अन्तराल देनेके प्रयत्नमे लगी रहती है। इसका अर्थ यह है कि सौन्दर्यके सृजन और रसके आस्वादनमे जनरुचिकी सर्वाधिक अभिव्यक्ति होती है।

संगीत और सन्तुलन, लयात्मक आरोह-अवरोह तथा अगोंका समानुपातिक विन्यास आदि सौन्दर्यके ऐसे गुण हैं, जो मानवमात्रके स्वभाव और रुचिके अग बनते हैं। सगीतकला केवल अनुरंजनका ही साधन नही हैं, अपितु धर्मको भी मर्यादित और नियन्त्रित करती है। देवाङ्गनाएँ सगीतकलाका शुद्ध स्वरूप उपस्थित कर माताके समक्ष दिव्य मगल प्रस्तुत करती थी। जीवनके स्थूल और सूक्ष्म दोनो पक्षोका उपस्थितीकरण मानवकी मानवताको उद्‌बुद्ध करता है। जीवनगत स्थूलके सघन अन्तरालमे युग-युगान्तरसे सोये हुए जड-प्रत्यय एव मुमूर्ष-सूक्ष्मकी कल्पना स्मृति और प्रत्यभिज्ञाको उद्‌बुद्ध कर उसके अपराहृत पौरुष-की अनुण्ण अग्निशिखाको प्रदीप्त करती है। व्यावहारिकताके वर्वर क्षणोमे मनुष्यता शील और सौन्दर्यको स्पन्दित करती है। इस प्रकार देवाङ्गनाएँ विभिन्न प्रकारके गीत और वादित्र द्वारा माता त्रिशलाका मनोरजन कर उन्हे सदैव प्रसन्न रखनेका प्रयास करती थी।

नृत्यकला

नृत्यकला भी सौन्दर्योपासनाकी एक सुखद प्रवृत्ति है। सौन्दर्य-जिज्ञासाकी इस प्रवृत्तिने ही सभ्यता और सस्कृतिको जन्म दिया। मानवसभ्यता और सस्कृतिके विकासमे नृत्यकलाका सर्वाधिक योगदान रहा है। भारतीय जीवनमे नृत्य-कलाको सत्य, शाश्वत, नित्य और अनादि माना है। उसकी आराधना लोक-मगल और परमार्थ दोनोके लिये होती है। नृत्यकला अनुरजनके लिये न होकर जीवनके विकासके लिये है। नृत्यका व्यापक अनुराग काम, क्रोधादि विकारोको शमन करनेका भी कार्य करता है। आगिक सकेतोद्वारा भावाभिव्यञ्जनकी प्रवृत्ति नृत्यमुद्राओमे देखी जा सकती है। देवाङ्गनाएँ माता त्रिशलाको अपने विभिन्न अग-सचालन द्वारा प्रसन्न करती थी। नृत्य करते समय देवाङ्गनाओकी दन्तपक्तिसे नि सृत किरणें मुस्कराती हुई जान पड़ती थी। लयके साथ पाद-सचालनकी गति और हाव-भावयुक्त विलास रस-धाराका सृजन करते थे। नृत्यमे सलग्न देवियाँ अनेक प्रकारकी गति, तरह-तरहके गीत, नृत्यविशेष एव विचित्र शारीरिक चेष्टाओ द्वारा माताके मनको उत्कठित करती थी। हस्त-पल्लवोंसे वीणा-वादन करती हुई विभिन्न शारीरिक चेष्टाओ को प्रस्तुत करती थी। ताल और स्वरके साथ मन्द और मधुर रूपमे प्रस्तुत की गयी शारीरिक चेष्टाएँ जनमानसका अनुरञ्जन करती ही हैं।

वस्तुत' नृत्य जीवनके विस्तारका नाम है। यह जीवनका अनुपम और अमूल्य अग है। जीवनका अर्थ है प्रगति एव प्रवृत्तिकी गाथा तथा कर्मका इतिवृत्त। जिस जीवनमे नृत्य और सगीतका विकास न हो, वह भारभूत हो जाता है। जीवनमे यदि नृत्यादि कलाएँ न हो, तो मानवकी सात्विकता और पशुकी पाशविकतामे अन्तर ही न रहे। सगीत और नृत्यकला विहीन जीवन अपूर्ण, वेग-रहित और नीरस है। जीवनमे प्रगति लाना नृत्यादि-कलाओका धर्म है। जैसे-जैसे जीवनमे नृत्य और सगीत आदि कलाओका विस्तार होता जाता है, वैसे-वैसे जीवन मूल्यवान् बनता जाता है। अत कलाकी निर्मलता और पवित्रताका प्रभाव भी निर्मल एव पावन होता है। सगीत और नृत्य आत्मलीन होनेके साधन है। ये जागृतिके कारण है। आत्म-स्वतन्त्रता एव आनन्द-प्रमोदकी प्राप्ति इन्हीके द्वारा सम्भव है।

सगीतशास्त्रमे विभिन्न मुद्राओका उल्लेख आता है। मुखराग एव हस्ताभिनय भी नृत्यके अन्तर्गत है। नर्तक एव नर्तकियाँ मेधा-स्मृति, गुणश्लाघा, राग, सर्ग और उत्साहसे युक्त होकर गीत-वाद्य-तालके अनुसार पाद-सचालन कर विविध प्रकारके स्वाभाविक परिभ्रमण प्रस्तुत करती थी। पताकहस्त, त्रिपताक-हस्त, अर्द्धपताक-हस्त, कर्तरमुख-हस्त, मयूर-हस्त, अर्द्धचन्द्रहस्त, सूचीहस्त, चतुरहस्त, भ्रमरहस्त, व्याघ्रहस्त, कटकहस्त एव पल्लीहस्त आदि बत्तीस प्रकारकी सयुक्त हस्तमुद्राओ द्वारा देवियाँ अभिनय करती थी। असयुक्त हस्तमुद्राओमे अञ्जलि, कपोत, कर्कट, पुष्पपुट, उत्सग, शकट, शख, चक्र, सम्पुट, पाश, कीलक, मत्स्य, वराह, गरुड, नागबन्ध आदि तेइस प्रकारकी मुद्राएँ परिगणित हैं। शृङ्गारादि नव रसोको अभिव्यक्त करनेवाले नृत्य उपस्थित किये जा रहे थे। इस प्रकार देवाङ्गनाएँ सगीत एव नृत्य द्वारा माताकी आनन्दोपलब्धिका साधन बन रही थी। वे रसाश्रित और भावात्मक नृत्य उपस्थित कर माताको प्रसन्न करती थी

चित्रकला

गर्भस्थ बालकके सम्यक् पोषण हेतु माताका प्रसन्न और आनन्दित मुद्रामे रहना आवश्यक माना जाता है। जीवनके विविध अनुभवोका मूल्य अवगत करनेके लिये चित्रकलाकी भी आवश्यकता अनिवार्य है। सस्कृतिकी पहचान इसीके द्वारा होती है। चित्रकलाका प्रधान कार्य कल्पनाको जागृत कर जीवनको पूर्ण बनाना है। इसकी मुख्य शर्त यह है कि इसमे जीवनका तटस्थ अनुभव ही प्राप्त हो। यथार्थताके सान्निध्यमे जो व्यवहार अनिवार्य बन जाये, उसमे उसके लिये जरा भी गुजाइश नही। मनुष्यके आस-पास अपार जीवनलीलाका विस्तार रहता है। रेखा, परिबन्धन, आवेग और आलेखन द्वारा विभिन्न प्रकार

की भाव-भंगिमाएँ व्यक्त की जाती हैं। देवाङ्गनाएँ चित्रकला द्वारा माताके अन्तर्जीवनकी भूखको मिटानेवाले रसोंका सृजन करती थी। वस्तुतः चित्रकला सन्तप्त हृदयोंके समाधान और विश्रामके लिये अथवा दैनिक जीवनको क्षुद्र बना देनेवाली घटनाओंसे दूर हटाकर आन्तरिक जीवनको उद्दीपन और पोषण प्रदान करनेवाली दिव्य जडी है। चित्रकलाकी प्रशस्तिमे सौन्दर्यकी व्याख्या भी अनेक बार उलझती हुई दिखलायी पडती है। मनोभावो मे सुसम्पादन और लीला-वैविध्यका उद्रेक चित्ताकर्षक सौन्दर्यका आग्रह करता है।

चित्रकलाकी प्रवृत्ति अनादिकालसे मानवसमाजमे पायी जाती है। विभिन्न सामाजिक स्तरोकी जानकारी चित्रकला द्वारा प्राप्त की जाती है। मनोगत भावो एवं विभिन्न शारीरिक चेष्टाओं का अकन भी चित्रकलामे सम्भव होता है। चित्रकलाका सर्वस्व उसकी भावधारा है और इस भावधाराका अकन विभिन्न शैलियो द्वारा किया जाता है।

देवाङ्गनाएँ चित्रोको करुणाके सूत्रमे आबद्ध कर विभिन्न सभ्यताओके सघर्ष और आघातोका अकन करती थी। इनके द्वारा निर्मित चित्रोमे निम्नाकित विशेषताएँ उपलब्ध होती थी

(१) सादृश्यकी उपेक्षा और भावकी प्रधानता,

(२) रगानुकूल रेखाओका चित्रण एव विभिन्न गतिविधिका रूपाकन,

(३) रगो द्वारा भारतीय वातावरणका सृजन,

(४) दृष्टि-सरणिको विषयपर अवलिम्बित न रहने देना,

(५) शाश्वत सौन्दर्यका अकन।

देवाङ्गनाएँ पट-चित्र, फलक-चित्र और भित्ति-चित्रो द्वारा माताका मनोरजन करती हुई उनकी सुसस्कृत रुचिका परिष्कार करती थी। बताया गया है कि देवियाँ आलस्यरहित होकर रत्नोंके चूर्णसे रगावली तैयार कर धूलि-चित्रोका निर्माण करती थी। रग-विरगे चौकके चारो ओर पुष्प विकीर्ण कर रसमय चित्रोका निर्माण करती थी। वीणा और मृदग आदि वाद्य बजाती हुई देवियाँ मनोहर और आकर्षक चित्रो द्वारा माताके मनका आकर्षण करती थी।

इस प्रकार नृत्य-गोष्ठी, वाद्य-गोष्ठी, सगीत-गोष्ठी, अभिनय-गोष्ठी, चित्र-गोष्ठी आदिके द्वारा माता त्रिशलाके मनमे रस-माधुर्यका सचार करती थी।

काव्य-गोष्ठीद्वारा मनोरञ्जन

गर्भके नवम मासमे माता त्रिशलाके मनोविनोदार्थ देवियाँ विशिष्ट-विशिष्ट काव्य-गोष्ठियोका आयोजन करती थी। गूढ अर्थ, गूढ क्रिया, गूढ पाद एव लुप्त मात्रा और अक्षरवाले पद्यो द्वारा माता त्रिशलाको प्रसन्न करती थी। वे

कहने लगती कि हे माता! क्या तुमने इस ससारमे एक क्षीण चन्द्रमाको देखा है? व्याजस्तुति द्वारा वे माताकी मुखकान्तिका चित्रण करती और वतलाती हैं कि माताकी मुखकान्ति जैसे-जैसे बढती जाती है, चन्द्रमा उतना ही क्षीण होता जाता है।

देवियाँ माताके मुखकमलका अनेक दृष्टियोसे काव्यात्मक चित्रण करती थीं। वे कभी उनके मुखकमलको भ्रमरसहित चित्रित करती, तो कभी कमलरहित।

देवाङ्गनाएँ काव्यका सृजन करती हुई कहती कि "हे कमलनयनी! ये भ्रमर आपके मुखरूपी कमलको आघ्रात कर कृतार्थ हो जाते है। अतएव वे फिर पृथ्वीसे उत्पन्न हुए कमलके पास नही जाते हैं। इस प्रकार देवाङ्गनाएँ काव्यपाठ द्वारा माताके मनको आनन्दित करती थी। वे इष्टभावके स्वरूपको काव्य-बन्ध द्वारा प्रस्तुत करती थी। लघु वर्ण और दीर्घ वर्णोका प्रयोग इस रूपमे करती थी, जिससे शब्द और अर्थमे सामजस्य एव माधुर्य उत्पन्न हो जाता था। सुकोमल भावनाओ और अनुभूतियोका प्रचण्ड वेग उपस्थित कर वे माताको भाव-विभोर बनाती थी। देवाङ्गनाओ द्वारा पठित काव्योमे सगीतात्मकता और भावमयताके साथ सुकोमल भावनाओका भाण्डार निहित रहता था। इनके काव्योमे निम्नलिखित गुण समवेत रहते थे

(१) अन्तर्वृत्तिका प्राधान्य,
(२) संगीतात्मकता,
(३) रसात्मकता,
(४) रागात्मक अनुभूतियोकी कसावट,
(५) शब्द-चयन और चित्रात्मकता,
(६) समाहित प्रभाव,
(७) मार्मिकता,
(८) गेयता,
(९) मधुरता।

इस प्रकार देवियाँ काव्य-सृजन द्वारा माता त्रिशलाका मनो-विनोद करती थी। गीति-नाट्य एवं प्रवन्धो द्वारा अपूर्व रसका चमत्कार उत्पन्न करती थी।

पहेलियो एवं प्रश्नोत्तरोद्वारा मनोविनोद

माता त्रिशलाके मनोरजनार्थ देवियाँ प्रश्न करती हैं कि इस ससारमे किसके वचन श्रेष्ठ और प्रामाणिक हैं?

माता सर्वज्ञ, हितैषी और वीतरागी तीर्थंकरके वचन ही श्रेष्ठ हैं।

देवियाँ   जन्म-मरणरूपी विषको दूर करनेवाला अमृतके समान क्या पेय है?

माता   तीर्थंकरके मुखकमलसे निर्गत ज्ञानामृत ही पेय है। इस ज्ञानामृतसे जन्म-मरणकी संसार-परम्परा छिन्न हो जाती है।

देवियाँ   लोकमे बुद्धिमानोको किसका ध्यान करना चाहिये ?

माता   पञ्चपरमेष्ठी, आगम और आत्मतत्वका ध्यान करना श्रेयस्कर है। ससार-परिभ्रमणके कारणभूत आर्त्त और रौद्र ध्यान त्याज्य है।

देवियाँ   किस कार्यके करनेमे शीघ्रता करनी चाहिये ?

माता   ससार-उच्छेदक अनन्तज्ञान और चारित्रके प्राप्त करनेमे शीघ्रता करनी चाहिये। जो आत्मकल्याणके कारणीभूत रत्नत्रयधर्मको धारण करनेमे समयकी प्रतीक्षा करता है, वह आत्मकल्याणसे दूर रहता है। अत धर्मपालनमे शीघ्रता करना आवश्यक है।

देवियाँ   ससारमे सज्जनोके साथ जानेवाला कौन है ?

माता   दयामय अहिंसाधर्म ही साथ जानेवाला है, यही जीवोका रक्षक है।

देवियाँ   धर्मके लक्षण कौन-कौन हैं ? धर्मसाधनसे क्या फल प्राप्त होता है ?

माता   आत्मतत्वकी अनुभूति कर द्वादश तप, रत्नत्रय, महाव्रत, अणुव्रत, शील और उत्तमक्षमादि धारण ये धर्मके लक्षण हैं। धर्मका फल कर्म-निर्जरा है।

देवियाँ   धर्मात्माओके चिह्न क्या हैं ?

माता   उत्तम शान्तस्वभाव होना, अहकार और ममकार न होना, शुद्धाचरणका पालन करना, धर्मात्माओंके चिह्न है।

देवियाँ   पापके चिह्न और फल क्या है ? तथा पापी जीवो की पहचान क्या है ?

माता--मिथ्यात्व, क्रोधादि कषाय, अनायतन-सेवन पापके चिह्न हैं। राग, द्वेष, मोह, क्लेशादि पापके फल हैं। अत्यधिक क्रोध, मान, माया और लोभ करने-वाला, दूसरोका निन्दक और स्व-प्रशंसक, आर्त्त-रौद्रध्यानधारी होना पापियोंके चिह्न हैं।

देवियाँ   लोकमे विचारवान कौन है ?

माता सर्वज्ञ, हितोपदेशी और वीतराग देव, शास्त्र और गुरुका चिन्तन करनेवाला विचारवान है।

देवियाँ परलोकगमन करते समय पाथेय क्या है?

माता दान, पूजा, व्रत, उपवास, शील और संयम ही पाथेय है।

देवियाँ इस लोकमे किसका जन्म सफल है?

माता मोक्ष-लक्ष्मीके सुखदायक उत्तम भेद-विज्ञानको प्राप्त करनेवाले व्यक्तिका ही जीवन सफल है।

देवियाँ ससारमे सुखी कौन है?

माता सब प्रकारकी परिग्रह-उपाधियोसे रहित ध्यानरूपी अमृतका स्वाद लेनेवाला योगी ही सुखी है, अन्य व्यक्ति नही।

देवियाँ ससारमे किस वस्तुकी चिन्ता करनी चाहिये और क्या उपादेय है?

माता कर्मोकी निर्जरा करनेकी और मोक्ष-लक्ष्मीको प्राप्त करनेकी चिन्ता करनी चाहिये, इन्द्रियसुखोकी नही। अतीन्द्रिय सुख ही उपादेय है।

देवियाँ किस कार्यके लिये महान् उद्योग करना अभीष्ट है?

माता रत्नत्रय और शुद्धोपयोगको प्राप्त करनेके लिये महान् यत्न करना ही अभीष्ट है।

देवियाँ मनुष्योका परम मित्र कौन है और अमित्र कौन है?

माता तप, दान, व्रत, शील, सयम आदिके धारण करनेकी ओर जो प्रेरित करे वही परम मित्र है और जो इन कार्योमे विघ्न करता है तथा हिंसा, असयम और प्रमाद आदिमे प्रवृत्त करता हो वह अमित्र है।

देवियाँ ससारमे प्रशस्य कौन है?

माता थोडा धन रहनेपर भी जो सुपात्रको दान देता हो और निर्बल शरीर रहनेपर भी निष्पाप तपश्चरण करता हो वही प्रशस्य है।

देवियाँ विद्वत्ता क्या है और मूर्खता क्या है?

माता शास्त्रोका ज्ञाता होकर भी जो निन्द्य आचरण और अभिमानका त्याग करता है तथा पापाचरणसे दूर रहता है वही विद्वान् है। मिथ्याचरण, मिथ्याज्ञान और मिथ्याश्रद्धासे पृथक् रहना ही विद्वत्ता है। जो ज्ञानी होकर भी सयम, तप और त्यागका आचरण नही करता वही मूर्ख है। सम्यक् आचरणसे पृथक् रहना ही मूर्खता है।

देवियाँ चोर कौन है?

माता पचेन्द्रियाँ चोर हैं। ये रत्नत्रयरूप धर्मको चुरानेवाली हैं। विषयासक्ति ही जीवके विवेकको चुराती है।

देवियाँ शूरवीर कौन है?

माता जो धैर्यरूपी खड्गसे परीषहरूपी महायोद्धाओंको, कषायरूपी शत्रुओंको एव काम-क्रोधादि रिपुओंको जीतनेवाला ही शूरवीर है।

देवियाँ पिञ्जरमे कौन आबद्ध है? कठोर शब्द करनेवाला कौन है और जीवोका आधार क्या है?

माता शुक पिञ्जरमे आबद्ध है, काक कठोर शब्द करता है और जीवोका आधार लोक है।

देवियाँ मधुर शब्द करनेवाला कौन है? पुराना वृक्ष कौन है? कैसा राजा छोड़ देने योग्य है?

माता मयूर तथा कोयल मधुर शब्द करनेवाले हैं। कोटरवाला वृक्ष पुराना है। क्रोधी राजा छोड देने योग्य है।

इस प्रकार देवियोने मातासे विभिन्न प्रश्न पूछे और नाना प्रकारकी प्रहेलिकाएँ उनके समक्ष उपस्थित की। देवियाँ माता त्रिशलाकी सेवामे अहर्निश उपस्थित रहती थी। तीर्थंकर महावीरके गर्भमे आते ही माता त्रिशलाका मन अपार वात्सल्य और उल्लाससे भर गया। सिद्धार्थ महाराजका घर-आँगन देवोत्सवोका रगमच बन गया। सारा कुण्डग्राम उमग, उत्साह और पुलकका अनुभव कर रहा था। कृषिकी समृद्धि और मैदानोकी हरीतिमा सभीके मनको उल्लसित करती थी। वैशालीका यह उपनगर धन-धान्यसे समृद्ध होता हुआ मैत्री, प्रमोद और प्रेमका आगार बन गया। सब कुछ विलक्षण और सुखद दिखलायी पड़ने लगा। देवागनाएँ और परिचारिकाएँ छायाके समान त्रिशलाकी सेवामे उपस्थित रहती थी।

माता त्रिशलाका मन आमोद-प्रमोद एव शास्त्र-चर्चा और तत्त्व-चर्चाके कारण अत्यन्त पावन रहता था। माताके पवित्र सस्कारोका प्रभाव गर्भस्थ शिशुपर भी पड़ने लगा। महाराज सिद्धार्थ भी त्रिशलाकी समस्त सुख-सुविधाओंका ध्यान रखते और एक क्षण भी उसे अप्रसन्न नही रहने देते। परिचारिकाएँ अप्रमत्तभावसे रानी प्रियकारिणीकी सेवामे उपस्थित रहती। इस प्रकार वैशालीका उपनगर कुण्डग्राम समृद्धि और सुखसे ओत-प्रोत हो रहा था।

खुल गये भाग्य वैशालीके

नौ माह और आठ दिनकी गर्भावधि समाप्त कर त्रिशलाने विशाला वैशालीमे

विश्ववन्द्य वैशालिक तीर्थंकर महावीरको २७ मार्च ई० पू० ५९८ को जन्म दिया। इस समय समस्त ग्रह उच्च स्थानपर स्थित थे और चन्द्रमा उत्तराफाल्गुनी नक्षत्रका उपभोग कर रहा था। चैत्रशुक्ला त्रयोदशी चन्द्रवारकी रात्रिका वह अन्तिम प्रहर मांगलिक था, जिसमे वर्द्धमानका जन्म हुआ।

तीर्थंकर महावीरके जन्मके समय चतुर्थ काल दुषम-सुषममे ७५ वर्ष ३ महीना अवशिष्ट थे। वैशालीके भाग्य जग चुके थे। हिंसा, असत्य, अन्याय, आडम्बर एव विकृतियोको ललकारा था। वैशालीकी धरा कृतकृत्य हुई। प्रकृतिने समस्त वातावरणमे मधुरिमा घोल दी। अज्ञानका अवसान हुआ और ज्ञानसूर्यका उदय। वैशालीका उपनगर कुण्डग्राम आल्हादसे परिपूर्ण था। प्राणीमात्र शान्ति और सुखकी श्वास ले रहा था। समस्त परिसर हर्षोन्मत्त हो आमोद-प्रमोदमे सलग्न था।

तीर्थंकर वर्द्धमानका शरीर काञ्चन आभायुक्त था और मुखमण्डलपर अगणित सूर्योकी दीप्ति विद्यमान थी। नवजात शिशुके शरीरसे दिव्य कान्ति फूट रही थी और ऐसा अनुभव हो रहा था कि बालकके दर्शनमात्रसे उपनगर निरापद, निष्कटक और समृद्ध बन गया था। प्राणियोके हृदयोके साथ-साथ समस्त दिशाएँ भी प्रसन्न हो गयी थी। आकाश निर्मल और प्रकृति मनोरम हो गयी थी। देवो द्वारा मत्तभ्रमरोसे व्याप्त पुष्पवृष्टि और दुन्दुभिनाद सम्पन्न हुए।

देवो द्वारा जन्माभिषेक

तीर्थंकरका जन्माभिषेकोत्सव देवोने सम्पन्न किया और स्वय महाराज सिद्धार्थने अपने भवनमे दस दिनो तक आनन्दोत्सव मनाया। दीपक प्रज्वलित कर प्रकाश किया गया। दान, पुण्य आदि शुभकृत्य किये गये और कारागारोसे बन्दीजनोको बन्धनमुक्त किया गया।

सौधर्म इन्द्रका आसन कम्पित हुआ और भवनवासी आदि देवोके यहाँ घटाकी ध्वनि हुई। अवधिज्ञानसे देवोने अवगत किया कि कुण्डग्राममे अन्तिम तीर्थंकर वर्द्धमानका जन्म हो चुका है। वे हर्षमे झूम उठे और समस्त देवपरिवार नृत्य-गान करता हुआ कुण्डपुर पहुँचा। ऐरावत हाथी सजाया गया, सवाँरा गया और उसके ऊपर विभिन्न उपकरण रखे गये। मानवताका श्रृङ्गार करनेवाले वर्धमानका जन्माभिषेक सम्पन्न करनेके हेतु देव-परिवार चल पडा। सौधर्म इन्द्रने कुण्डपुरमे पहुँचकर राजमहलकी तीन प्रदक्षिणाएँ की और माता त्रिशला प्रियकारिणीकी स्तुति की।

इन्द्राणी प्रसूतिगृहमे पहुँची और उसने माताकी सान्त्वनाके हेतु मायामयी बालक वहाँ सुला दिया और तीर्थंकर वर्धमानको गोदमे लेकर बाहर आयी। उसने शिशुको सौधर्म इन्द्रको सौंप दिया। इन्द्रने ऐरावत्त हाथीपर सवार हो समस्त देव-परिवारके साथ सुमेरु पर्वतकी रत्नमयी पाण्डुक शिलापर शिशुको विराजमान किया और क्षीरोदधिके निर्मल जलसे अभिषेक किया।

अभिषेकके अनन्तर इन्द्राणीने शिशुके देहको पोछा। जब वह कपोलप्रदेश-पर लगे हुए जल-बिन्दुओको सुखानेमे प्रवृत्त हुई, तो उसे एक विलक्षण दृश्य दिखलायी पड़ा। जैसे-जैसे वह जल-बिन्दुओको पोछती वैसे-वैसे जल-बिन्दुओकी सख्या बढती जाती। इन्द्राणीके समक्ष अजीव असमजसताकी स्थिति थी। अन्तत उसने अनुभव किया कि ये जलबिन्दु नही, अपितु दर्पणसे स्निग्ध निर्मल कपोलपर स्थित आभूषणोका प्रतिबिम्ब है। उसने इतना सुन्दर शिशु अभी तक देखा ही नही था। उसके नेत्र लज्जासे झुकने लगे।

अभिषेकके अनन्तर शिशुको वस्त्राभरण पहनाये गये, दिव्य एव सुगन्वित मालाओसे उन्हे आभूषित किया गया। नम्रीभूत हो सुरेन्द्रने उनकी स्तुति की। जब इन्द्रकी दृष्टि शिशुके दक्षिण पगपर पड़ी, तो सिहका चिह्न देखकर और उसे भावी पुरुषार्थका प्रतीक समझकर उनका चिह्न 'सिह' स्थिर किया।

अभिषेकके पश्चात् इन्द्र उन्हे वैशालीके राजमार्गोसे कुण्डग्राम लाया और इन्द्राणीने पूर्ववत् प्रसूति-गृहमे जाकर शिशुको माता प्रियकारिणीके पार्श्वमे सुला दिया।

शिशु महावीरके जन्मसे ही राजा सिद्धार्थका बल-वैभव बढने लगा। उनकी कीर्त्ति व्याप्त होने लगी। सब ओर महाराज सिद्धार्थ एक उदाराशय राजाके नामसे प्रसिद्ध हुए। अतएव महाराज सिद्धार्थने अपने समस्त बन्धु-बान्धव और इष्ट-मित्रोको आमत्रित कर वीर बालकका नामकरण-उत्सव सम्पन्न किया। वे कहने लगे "यह शिशु महाभाग है। जिस दिनसे महारानी प्रियकारिणीके गर्भमे आया, उसी दिनसे घर, नगर और राज्यमे धन-धान्यकी समृद्धि हुई है। अतएव इस बालकका सार्थक नाम वर्धमान रखा जाय।" उपस्थित जन-समुदायने राजा सिद्धार्थके इस प्रस्तावका अनुमोदन किया और वीर बालक 'वर्धमान' नामसे प्रसिद्ध हुआ।[१]

---

१ सिद्धार्थप्रियकारिण्यो सममानन्ददायकम्।
वर्धमानाख्यया स्तुत्वा सदेवो वासवोऽगमत्॥ हरिवशपुराण, २।४४

तीर्थंकर वर्द्धमान द्वितीयाके चन्द्रमाके तुल्य वृद्धिंगत होने लगे। उनकी बाललीलाएँ विलक्षण और मनोहारिणी थी। वर्धमानकी शिशु-सुलभ क्रीडाओ-द्वारा महाराज सिद्धार्थ और महारानी त्रिशला मनोरजन प्राप्त करते थे। जन्मसे ही वे विलक्षण प्रतिभासे सम्पन्न थे, विशिष्ट थे और थे तीर्थंकरप्रकृतिके बन्धक। उनका शरीर अनुपम सुषमा और शोभासे युक्त था। रक्त दूधके समान श्वेत, पवित्र और उज्ज्वल, वाणी मधुर तथा शरीर शख, चक्र, पद्म, यव, धनुष आदि एक हजार आठ शुभ लक्षणोसे युक्त अलौकिक था।

प्रियकारिणी पुत्रको पालनेमे झुलाती, दुलराती और लोरियाँ सुनाती थी। वर्धमानकी शारीरिक विभूतिके साथ आध्यात्मिक विभूति भी बढ रही थी। ज्ञानकी दीप्तिसे उनकी काया अनवरत जगमगाती रहती थी। एक अखण्ड परमज्योति प्रकाशित होती थी। मति, श्रुत और अवधिज्ञानका प्रकाश उन्हे आलोकित कर रहा था। सौन्दर्य-राशि आविर्भूत होती जा रही थी। क्रमश अब वे पालनेसे गोदीमे और गोदीसे भूमिपर लडखडाकर चलने लगे थे। उनकी क्रीडाएँ पुरजन और परिजनकी थाती बन रही थी। कूप सजल और तालाब कमलोसे परिपूर्ण होने लगे थे। खेत हरे-भरे और खलिहान धान्य-प्रचुर दिखलायी पडते थे। घर-घरमे सुख-सम्पदा व्याप्त हो गयी थी। ऐसा लगता था कि धरती स्वय अपना कोष लुटा रही है। लोगोके घरोको धन-धान्यसे भर रही है। ज्योतिषी और गणक शिशुके शारीरिक लक्षणोको देखकर विस्मित-चकित थे। उनकी घोषणा थी कि यह बालक धरतीका श्रृंगार है। इसके प्रताप और यशका गान मनुष्य ही नही सूर्य-चन्द्र और नक्षत्र भी करेंगे। इसके द्वारा जगतमे मगल-दायिनी क्रान्ति होगी, जो मनुष्यके दु ख-दैन्यको मिटाकर अक्षय सुखकी ओर ले जायगी।

तीर्थंकर महावीरकी जन्मपत्रिका और ग्रह-स्थिति

तीर्थंकरके जन्मके समय बृहस्पति, शनि, मगल ग्रह उच्च स्थानमे थे। एक भवावतारी या धर्मनायकके लिये जिस प्रकारके ग्रह-योगकी आवश्यकता रहती है, वह ग्रह-योग इनकी जन्म-कुण्डलीमे निहित था। यहाँ उनकी जन्म-कुण्डली अकित कर ग्रहोके सक्षिप्त फलादेशका विचार किया जायगा। कुण्डलीके फलाध्ययनसे यह स्पष्ट है कि वे आजीवन अविवाहित रहे है। सप्तम गृहमे दो पापग्रहोके मध्य राहुके अवस्थित रहनेसे पत्नीका अभाव सिद्ध होता है। उनकी जन्मपत्रिका निम्नप्रकार है

जन्मकुण्डली
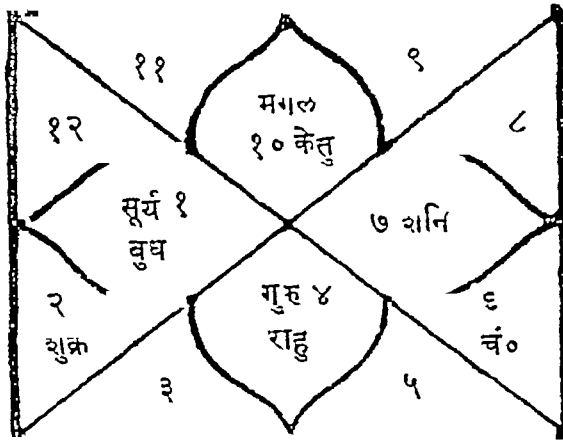
(१) जब व्यक्तिका जन्म 'चर' लग्नमे हो; गुरु, शुक्र पचम या नवम भावमे स्थित हो और शनि केन्द्रमे हो, तो जातक, तीर्थनायक या अवतारी होता है।

(२) सप्तम भावमे राहु स्थित हो, इस भावपर पापग्रहकी दृष्टि हो, सप्तमेश पापाक्रान्त हो, तो पत्नीका अभाव रहता है[1]। ऐसे जातकका विवाह नही होता, इस योगसे उसके सयमी होनेकी सूचना मिलती है।

(३) तीर्थकर महावीरकी कुण्डलीमें गुरु और चन्द्रमा १२० अशके अन्तराल पर स्थित हैं। यह स्थिति उनकी सर्वज्ञता और वीतरागताकी सूचक है। चन्द्रमा नवम भावमे स्थित है और बुधके गृहमे है और बुध केन्द्रमे सूर्यके साथ है। चन्द्रमा सप्तमेश भी है। अतएव महावीरकी बारह वर्षों तककी साधनाके सूचक हैं। नवमस्थ चन्द्रमा दर्शनशास्त्र, आचारशास्त्र एवं विभिन्न प्रकारके ज्ञान-विज्ञानकी अभिज्ञताका सूचक है[2]। जातकका प्रभाव अनुपम रहेगा और यह समाजका उद्धारक होगा।

(४) महावीरकी इस कुण्डलीमे चन्द्रचूड योग है। इस कुण्डलीमे भाग्येश बुध केन्द्रमे स्थित है। अत यह योग चन्द्रचूड कहलाता है। इस योगमे जन्म लेनेवाला व्यक्ति प्रसिद्ध ज्ञानी, आत्मयोगी एव धर्मप्रचारक होता है। लोक-

१ पत्नीभावे यदा राहु पापयुग्मेन वीक्षित ।
पत्नी योगस्थिता तस्य मृताऽपि म्रियतेऽचिरात् ॥

२ लाभे त्रिकोणे यदि शीतरश्मि करोत्यवश्य क्षितिपालतुल्यम् ।
कुलद्वयानन्दकर नरेन्द्र जोतस्॥ हि दीपस्तमनाशकारी ॥ मानसागरी।
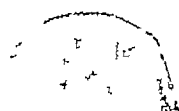
सगमदेवके साथ क्रीडारत राजकुमार

कल्याणकी भावनाकी सूचना लग्नस्थ मगलसे प्राप्त होती है। लग्न-स्थानमे उच्चका मगल उपसर्ग और परीषहजयी होनेकी ओर इगित करता है।

तीर्थंकर महावीरके विभिन्न नाम

तीर्थंकर महावीरके वर्द्धमानके अतिरिक्त अन्य भी कई नाम थे। इनकी माताने इन्हे 'विदेहदिन्न' और 'वैशालिक' नाम दिये। पितृवशकी परम्पराने 'ज्ञातृपुत्र'के नामसे उन्हे प्रसिद्ध किया। वे 'अतिवीर' और 'निर्ग्रन्थ' भी कहलाते थे। उनका एक नाम 'सन्मति' था, जिसके साथ एक घटना जुडी है, जो बडी रोचक और प्रेरक है।

तीर्थंकर महावीरकी अवस्था अभी पॉच या छ वर्षकी थी कि वे एक दिन झूला झूल रहे थे। आकाशमार्गसे दो चारण-ऋद्धिधारी मुनि जा रहे थे। इन मुनियोमे एकका नाम सजय और दूसरेका विजय था। इन्हे अनेक ऋद्धियाँ, सिद्धियाँ प्राप्त थी। महावीरको झूलते हुए देखकर इन मुनियोके मनमे शकाएँ उत्पन्न हुई। अतएव वे उनकी परीक्षाके हेतु महावीरके निकट पहुँचे, पर जैसे ही उन्होने उनका दिव्य दर्शन किया, वैसे ही दर्शनमात्रसे उनके मनकी शकाएँ निराकृत हो गयी। शकाओंके दूर होनेसे उन मुनियोका मन भक्ति-विभोर हो गया और वे तीर्थंकर महावीरकी स्तुति करते हुए कहने लगे कि इस वालकका नाम अब 'सन्मति' होगा[1]। उसी दिनसे इनका नाम 'सन्मति' पड़ गया।

निर्भयताका प्रतीक : महावीर

वाल्यकालसे ही महावीर अत्यन्त निर्भय थे। आठ वर्षकी अवस्थामे वे अपने समवयस्क साथियोके साथ उद्यानमे क्रीडा कर रहे थे। सौधर्म इन्द्रकी सभामे महावीरके पराक्रम और वीरताका प्रसग छिडा हुआ था। इन्द्रने कहा वालक महावीर शैशवकालसे अत्यन्त साहसी और पराक्रमी है। देव, दानव और मानव कोई भी उन्हे पराजित नहीं कर सकता।

सगम नामक देवको इन्द्रके कथनपर विश्वास नही हुआ, अतएव वह वर्द्धमान महावीरकी परीक्षा करनेके लिये चल पडा।

१ सजयस्यार्थसन्देहे सजाते विजयस्य च।
जन्मानन्तरमेवैनमभ्येत्यालोकमात्रत ॥
तत्सन्देहे गते ताभ्या चारणाभ्या स्वभक्तित।
अस्त्वेष सन्मतिर्देवो भावीति समुदाहृत ॥ उत्तरपुराण ७४।२८२-२८३

महावीर वाटिकामे अपने मित्रोंके साथ आँख-मिचौनी खेल रहे थे। संगमदेवने भयंकर विषधरका रूप धारण किया। वह देखनेमे अत्यन्त कृष्ण वर्ण और भयानक था। वह प्रकट होते ही फन फैलाकर फुफकारता हुआ उस आमलकी वृक्षकी ओर दौडा, जिस वृक्षपर महावीर अपने साथियोंके साथ क्रीडारत थे। वह भयंकर नाग वृक्षके तनेसे लिपट गया। उपस्थित सभी बालक सर्पको देखकर आतंकित हुए और वे इधर-उधर भागने लगे, पर महावीर डरे नही, वह हिमालयकी भाँति अडिग खडे रहे। उन्होने अपने साथियो को धैर्य देते हुए कहा आप लोग घबडायें नही, मैं इसे अभी उठाकर दूर फेंक देता हूँ। बालकोंके मना करने पर भी महावीरने उस भयंकर नागको पकडकर दूर कर दिया और सभी बालक प्रसन्न होकर पुन क्रीडामे जुट गये।

उपर्युक्त घटनाके घटित होनेपर भी संगमदेवको संतोष नही हुआ। अत वह समवयस्क बालकका रूप धारण कर उन्हीके साथ क्रीडा करने लगा। इस बार तिन्दूशक नामक खेल आरम्भ हुआ। इस खेलमे दो बालक एकसाथ लक्षित वृक्षकी ओर दौड़ते और इन दोनोमेसे जो वृक्षको पहले छू लेता वह विजयी माना जाता। विजयी बालक पराजितपर सवार होकर मूल स्थान पर आता।

महावीर और छद्मवेशधारी संगमदेव एकसाथ दौड़े। महावीरने वृक्षको पहले छू लिया। खेलके नियमानुसार पराजित संगमको सवारीके लिये उपस्थित होना पडा। महावीर उसपर सवार होकर जैसे ही नियत स्थानपर आने लगे, देवने सात ताडके बराबर उन्नत और भयावह शरीर बनाकर महावीर को आतंकित करना चाहा। इस दृश्यको देखकर सभी बालक भयभीत हुए, पर महावीर सोचने लगे अवश्य ही कोई मायावी देव-दानव है, जो मुझे डराना चाहता है। उन्होने उसकी पीठपर अत्यन्त दृढ मुष्टि प्रहार किया, आघातसे संगमदेव चीख उठा और गेंदके समान फूला हुआ उसका शरीर दबकर छोटा हो गया[1]। महावीरके इस धैर्य और पराक्रमको देखकर संगमदेव

---

१ देवानामवुना शूरो वीरस्वामीति तच्छ्रुते ।
देव संगमको नाम सम्प्राप्तस्त परीक्षितुम् ॥
दृष्ट्वोद्यानवने राजकुमारैर्बहुभि सह ।
काकपक्षधरैरेकवयोभिर्बाल्यचोदितम् ॥
कुमारं भास्वराकार द्रुमक्रीडापरायणम् ।
स विभीषयितु वाञ्छन् महानागाकृति दवत् ॥

नत मस्तक हो गया और उनकी स्तुति कर वहाँसे चला गया। इसी प्रकार इन्होंने मदोन्मत्त हाथीको वशमे करके उसे गजशालामे बाँध दिया। महावीर-की इस निर्भयता और पराक्रमसे पूरा वैशाली गणतन्त्र प्रभावित हुआ।

वैराग्य और निष्कामताका अंकुर

तीर्थंकर महावीरके माता-पिता भगवान् पार्श्वनाथकी परम्पराके अनुयायी थे। उनके अहिंसा, करुणा, दया और सयमशीलता आदि महान् गुणोके कारण उनका जीवन आलोकित था। अत महावीरको उनसे इन गुणोकी आदर्श छाया प्राप्त हुई। उनका वैराग्य शनै. शनै बढने लगा और आत्मशुद्धिकी ओर उनके पग तेजीसे गतिशील होने लगे। ससारके वैभव उन्हे निस्सार और स्वादहीन लगने लगे। उन्होने लोकजीवनमे व्याप्त बुराइयोका अध्ययन किया और उन्हे मनुष्यद्वारा मनुष्यका किया जानेवाला शोषण अनुचित प्रतीत हुआ और उनका मन विद्रोह कर उठा। वे वैसे समाजकी रचना करना चाहते थे, जिसमे किसी भी प्रकारका भेद-भाव न हो, प्राणीमात्र समान हो और सभीको जीनेका अधिकार हो। फलत उन्होने आठ वर्षकी अवस्थामे ही निम्नलिखित नियमोको धारण किया

(१) जीवोपर दया करना और अहिंसक वृत्ति रखना,
(२) सत्य भाषण करना,
(३) अचौर्यव्रतका पालन करना,
(४) ब्रह्मचर्यव्रतका धारण करना;
(५) इच्छाओको सीमित करना।

विश्वके इतिहासमे ऐसा एक भी बालक दिखलायी नही पडेगा, जिसने आठ वर्षकी अवस्थामे ही जीवोपर दया करने, सत्य बोलने, चोरी न करने, ब्रह्मचर्य

मूलात् प्रभृति भूजस्य यावत्स्कन्धमवेष्टत।
विटपेभ्यो निपत्याशु धरित्री भयविह्वला॥
प्रपलायन्त त दृष्ट्वा बाला सर्वे यथायथम्।
महाभये समुत्पन्ने महतोऽन्यो न तिष्ठति॥
ललज्जिह्वाशतात्युग्रमारुह्य तमहिं विभी।
कुमार क्रीडयामास मातृपर्यङ्कवत्तदा॥
विजृम्भमाणहर्षाम्भोनिधि सगमकोऽमर।
स्तुत्वा भवान्महावीर इति नाम चकार स॥

उत्तरपुराण ७४।२८९-२९५.

रखने और अपनी इच्छाओंके सीमित रखनेकी बात सोची हो। बाल्यावस्थामें ही उन्होंने अपनी प्रवृत्तियोंको परिष्कृत करनेका प्रयास किया।

महावीरका चिन्तन परिवारकी परिधिसे आगे बढने लगा। सामाजिक जीवनमें उत्पन्न होनेवाली आर्थिक विषमता, वर्गभेद, दलित और पतितोंके प्रति निष्करुण भावना आदिको दूर करनेके लिये उन्होंने संकल्प किया। उनका जन्म ही आत्मकल्याण और लोकहितके लिये हुआ था। अतएव लोककल्याण उनका इष्ट था और लोककल्याण ही उनका लक्ष्य था।

किशोरावस्थाकी विचारधारा

महावीर सोचने लगे कि परम्परागत धर्म और धार्मिक कर्मकाण्ड मानवताके रूपको विकृत कर रहे हैं। वे मनुष्य-मनुष्यके बीच गहरी खाई उत्पन्न कर रहे हैं। वेद, कर्मकाण्ड और ब्राह्मणोंका स्वार्थमूलक व्यवहार समाजको विकृत करनेमें संलग्न है। जातिप्रथा कर्मकाण्डका मूल है और इस कर्मकाण्डपर पलनेके कारण तत्कालीन ब्राह्मण-समाज हिंसाप्रिय और अहंमन्य है। आज जातिप्रथामें सडाँध आ गयी है। अतएव आजके समाजने मनुष्योंको विभिन्न वर्गोंमें विभक्त कर दिया है।

भाषा-नीति भी विकृत हो रही है। जनताकी बोलीसे पृथक् संस्कृतमें पुरोहित या धर्माचार्य अपना प्रवचन करते हैं, जिससे शासक और शासित ये दो वर्ग अलग-अलग दिखलायी पड़ते हैं। जनताकी भाषामें बोल या लिखकर शासकवर्ग अपनी श्रेष्ठता सिद्ध नहीं कर सकता। अतएव सामान्य जनतासे अपनी श्रेष्ठता सिद्ध करनेके लिये ही शासकवर्ग मनमाना शोषण कर रहा है। उच्चवर्ग अपनी भाषा विशिष्ट बतलाकर जनतापर शासन कर रहा है। अत जनताको धर्म और धर्मके ठेकेदारोंके शिकंजोंसे मुक्त करनेके लिये उन्हें भाषासे भी मुक्त करना होगा, जो निहित स्वार्थोंकी प्रतीक बन गयी है।

महत्त्व भाषाका नहीं, भावोंका है। वास्तवमें वही भाषा श्रेष्ठ है, जो वक्ता और श्रोताके बीच सेतु बन सके। जिस भाषाको जनता समझ सके उसीमें उपदेश देना या वैचारिक क्रान्ति करना युक्ति-संगत है।

वर्तमानमें नारीकी भी प्रतिष्ठा समाप्त हो चुकी है। न उसे सामाजिक अधिकार प्राप्त हैं और न पारिवारिक। शिक्षा और धर्म-संस्कारोंको प्राप्त करनेके अधिकारसे भी वंचित है। वेदाध्ययन करना या धर्मानुष्ठान करना उसकी अधिकार-सीमासे बाहर है। अतएव नारीसमाजका उत्थान करना भी इस समय आवश्यक है।

यज्ञोमे की जानेवाली हिंसा वीभत्स और अमानवीय है। पर वलि-प्रधान-यज्ञके हिमायती ब्राह्मण और उच्च वर्गके अत्याचार एव दवावके कारण किसी व्यक्तिमे इतनी शक्ति नही कि वह उसका तथा अन्य असामाजिक प्रवृत्तियोका विरोध कर सके। न तो आज व्यक्तिगत स्वातन्त्र्य ही है और न उच्च आचार-विचारको प्रतिष्ठा ही प्राप्त है। ज्ञान, कर्म और पाण्डित्यके दम्भने जन-सामान्यके हृदयको स्तब्ध कर दिया है। आजका मनुष्य मनुष्य नही, दानव दिखलायी पड़ता है। प्रेम, शान्ति और त्यागका वातावरण कही भी नही है।

महावीरने तद्युगीन समस्याओपर विस्तारसे विचार किया। उन्होने सोचा कि आज मनुष्य धनका दास बना हुआ है। वह धन और वैभवके वलसे स्वर्गका आज्ञा-पत्र प्राप्त कर सकता है। ऐसा कोई भी साधन नही जो धनके वलसे न खरीदा जा सके। यज्ञीय समस्त विधियोका सयोजन भी धन द्वारा किया जा सकता है। अतएव धन-त्याग या परिग्रह-नियमनकी अत्यन्त आवश्यकता है। समाज कल्याणके मार्गसे दूर हट गया है। भोगने त्यागपर अपना अधिकार जमा लिया है। मित्रता, विश्वास, निष्कपटता और परम पुरुषार्थकी अवहेलना हो रही है। वृत्तियोकी शुद्धि परम आवश्यक है। जवतक मनुष्य अपने विवेकको जागृत नही करेगा, तवतक उसका जीवन सास्कृतिक नही हो सकता है।

इस युगमे आध्यात्मिक लोकतन्त्रके स्थापनकी अत्यन्त आवश्यकता है। हिंसा, असत्य, शोषण, सचय, कुशील-विचार, असहिष्णुता, सचय-शीलता आदिका विरोध करना मानवताके अभ्युत्थानहेतु आवश्यक है।

आज विचार-स्वातन्त्र्यको स्थान प्राप्त नही है। हठवाद और दुराग्रह मानवताको पगु वनाये हुए हैं। अपनी सकुचित दृष्टिके कारण विभिन्न सभावनाओमे आस्था उत्पन्न नही हो रही है। व्यक्ति, वस्तु, क्षेत्र और कालकी सीमाओका विचार नही किया जा रहा है। जवतक एकान्तवादका विष वना रहेगा, तवतक मनुष्य चरम शक्तिको प्राप्त नही कर सकेगा। वर्तमानमे लोगोकी दृष्टि इतनी सकीर्ण और सकुचित है, जिससे वस्तुकी पूरी सम्भावनाओपर विचार नही किया जा सकता है। असहिष्णु और अनुदार व्यक्ति सत्यका साक्षात्कार नही कर सकता है। अतएव सापेक्ष कथन ही सत्यके निकट पहुँचाता है। व्यक्ति, स्थिति या वस्तुको लेकर सव कुछ एक साथ और एक समयमे कहना सम्भव नही है। शब्द और शब्द-प्रयोक्ताकी अपनी सीमाएँ हैं तथा सुनने और समझनेवालोकी भी अपनी सीमाएँ है। चाहे कोई कितना ही वडा दावा क्यो न करें, पर तथ्योको एक साथ उपलब्ध नही कर सकता, मार्जिन सदैव ही बना रहता

है और इसका बना रहना भी आवश्यक है। आजकी इस सकुचित विचार-धाराको उदार और विस्तृत बनाना आवश्यक है।

निस्सन्देह महावीर किशोरावस्थासे ही विचारशील थे। वे जीवनके प्रथम चरणसे ही समाजकी विकृतियोके लिये चिन्तित थे। वे समता, सहिष्णुता, अभय, अहिसा एव अनासक्ति आदि गुणोंका प्रचार और प्रसार चाहते थे। वे लोक-कल्याणकी उज्ज्वल ज्योति जलाकर समाजको आलोकित करना चाहते थे। उन्होने किसी विद्यालय या महाविद्यालयमे जाकर विद्याका अभ्यास नही किया था। उनकी नैसर्गिक प्रतिभा अनुपम थी। वे सच्चे कर्मयोगी, महान् दार्शनिक, आत्मद्रष्टा और जीवन-क्षेत्रके अमर योद्धा थे। विश्वमे बडे-बडे युद्धोके विजेता तो बहुत व्यक्ति हुए हैं, किन्तु कामनाओ और वासनाओपर विजय प्राप्त करने-वाले महावीर कम ही हुए हैं।

महावीरने जीवनके जिस क्षेत्रमे प्रवेश किया उसमे अपने आचरण और व्यवहारोका मान-बिन्दु स्थापित किया। उन्होने स्वयं लोक-कल्याणके लिये कष्ट सहे और अपने पुरुषार्थ द्वारा बड़ी-बडी विघ्न-बाधाओको समाप्त किया। अपने पवित्र आचरण और दिव्य-ज्ञानकी ज्योतिसे जन-जनको अनुरजित किया।

जिस गुरुडममे धनिक-गरीब, राजा-रंक सभी डूबे हुए थे, उस गुरुडमको दूर करनेके लिये उन्होने सकल्प लिया।

उनके गुणोसे आकृष्ट होकर सहयोगी और समवयस्क ही उनके प्रति नत मस्तक नही होते थे, अपितु देवता भी उनका चरण-वन्दन करते थे, उनका यशोगान करते थे और अपनी समस्याओका समाधान प्राप्त करते थे।

अलौकिक शक्तियोका वरण

किशोरावस्थामे ही महावीरको अगणित अलौकिक शक्तियाँ प्राप्त हुईं। उनमे दैवी गुण प्रादुर्भूत हुए। जनता उन्हे श्रद्धा और आदरकी दृष्टिसे देखती थी। कोटि-कोटि मानव उन्हे वीतराग समझकर उनकी पूजा करते और उनके पवित्र चरणोमे अपनी श्रद्धा निवेदित करते थे। उनका पराक्रम मित्रोके लिये अनुकरणीय था। उनके शरीरसे न तो दुर्गंधित पसीना निकलता और न अन्य किसी प्रकारकी अशुचिता ही दृष्टिगोचर होती थी। अद्भुत रूप, समचतुरस्र-सस्थान, वज्रवृषभ-नाराच-सहनन, अनन्त बल, अतिशय सुगन्धता एव एकहजार आठ शुभ-लक्षण उनकी शारीरिक आभाको आलोकित करते थे। इसमे सन्देह नही कि महावीरको नाना प्रकारके अतिशयो और वैभवोने वरण किया था।

इसप्रकार उनका किशोर-काल या कुमार-काल अलौकिक और दैवीय गुणोसे युक्त होकर व्यतीत होने लगा। उनकी प्रत्येक क्रिया विशिष्ट मालूम होती थी। वे सामान्य मनुष्योंकी अपेक्षा विशिष्ट विचारशील नेताके रूपमे दिखलायी पड़ते थे। यही कारण है कि उन्हे सभी लोग जापक, तारक, बोधक और मोचकके रूपमे देखते थे। वे स्वय सोचते कि मानव-जीवन सगमर्मरके समान है और मानव एक शिल्पकार है। कुशल शिल्पीके हाथो द्वारा मानव-जीवन सुन्दरतम रूपमे परिणत हो जाता है। यदि मानव कुशल शिल्पकार नही बन पाया, तो जीवन-सगमर्मरका स्वय कोई मूल्य नही है। सगमर्मरका यह टुकडा केवल पाषाण-खण्ड ही रह जायगा, इससे और आगे कुछ नही बनेगा। यदि सौन्दर्यकी अभिव्यञ्जना करनी है, तो कुशल शिल्पकार बनना होगा, तभी जीवन-सगमर्मरसे आराध्य आत्मा या भगवान्की मूर्ति गढी जा सकेगी। मानव अपनेको पहचान ले तो उसे शिल्पकार बननेमे कोई कठिनाई नही हो सकती है।

•

पञ्चम परिच्छेद

युवावस्था, संघर्ष एवं संकल्प

ग्रीष्म ऋतुके पश्चात् वर्षा जिस प्रकार आरम्भ होती है, उसी प्रकार कैशोर्यके अनन्तर महावीरके जीवनमे भी युवावस्थाका अध्याय आरम्भ हुआ। कलीने पुष्पका आकार ग्रहण किया और चारो ओर पुष्पका सौरभ फैलने लगा। किशोरावस्थाके आसनपर यौवनने अँगड़ाई ली, धूप-छाया एकसाथ अभिव्यक्त हुई। कैशोर्यकी विदाई और यौवनका आगम एक अपूर्व वय-सन्धि थी। एक ही प्रागणमे सब कुछ भव्य और मनोहर प्रतीत हो रहा था। महावीरका व्यक्तित्व विलक्षण था। शरीरमे अखण्ड यौवनका साम्राज्य रहनेपर भी उनका मन ससारके समस्त प्राणियोके लिये करुणामे निमग्न था। समत्व उनकी श्वाँस थी और परिणाम-विशुद्धिपर उनका विशेष ध्यान था। मन, वाणी और कर्मसे वे सम्यक्त्वमे प्रवृत्त थे।

मनीषा प्रखर थी और विवेक उनके जीवनका सावधान प्रहरी था। उनका जीवन क्रान्तिका प्रतीक था, मुक्तिका दिव्य छन्द था और शक्तिकी एक विशाल शोधशाला था। यौवनके प्रकट होनेपर भी वे जलमे रहनेवाले कमलके समान ससारसे निर्लिप्त और निष्पक थे। उनका जीवन अनासक्त था। उनके व्यक्तित्वके धरातलपर ससार था, पर तलमे वैराग्यका निवास था।

दिव्यदेह और पराक्रम

अखण्ड और सौन्दर्य-राशिने उनके तारुण्यको कृतार्थ कर दिया था। विलक्षण देह, सुगठित अवयव, ऊर्जस्वी मन, उद्दीप्त मुख, अंग-अगके अपूर्व पुरुषार्थ एवं युवावस्थाका परिस्फुरण करवट ले रहा था। वस्तुत महावीरका उज्ज्वल नया यौवन, विलक्षण पुरुषार्थ, बहुचर्चित पराक्रम और अप्रतिम तेज एक नया मार्ग ढूँढ रहा था। युवक महावीर जीवन-सत्यको अपने जीवनमे मूर्तिमान करना चाहते थे। वे नरसे नारायण बनकर स्वातन्त्र्य-उपलब्धिके लिये प्रयत्नशील थे।

यौवनने उनके विवेकको आच्छादित नही किया। वे निर्धूम अग्निके समान स्पष्ट और भास्वर बने रहे। उनकी मनीषा अहर्निश आत्मोन्मुख होती गयी। अहिंसाका रचनात्मक सूत्र उनके हाथमे आकर क्रियात्मक रूप धारण करने लगा। जैसे-जैसे युवावस्थाका ज्वारभाटा बढता जाता, वैसे-वैसे महावीर साधना-पथकी ओर बढनेका सकल्प करते। अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रहके अकुरने अब विराट वटवृक्षका रूप धारण कर लिया था। लोक-कल्याण और आत्म-कल्याणका लक्ष्य उत्तरोत्तर वृद्धिगत होता गया। वे काम, क्रोध, लोभ, मोहादि अन्तरग शत्रुओसे जूझनेके लिये तैयारी करने लगे।

यह सत्य है कि महावीर राजकुमार थे। राज्य था, वैभव था, सेना थी, सेवक थे, सेविकाएँ थी, विलास था और आमोद-प्रमोदके अनेक साधन थे। युवक महावीरके चारो ओर लौकिक सुखोका अम्बार लगा हुआ था। उन्हे सभी प्रकारका आदर-सम्मान प्राप्त था। लक्ष-लक्ष मानवोका प्यार, श्रद्धा और स्नेह उन्हे प्राप्त था। उनकी सात हाथ उन्नत काया यौवनकी कान्तिसे जगमगा उठी। प्रजा उनके बलिष्ठ और कान्तिमय शरीरको देखकर सोचती थी कि एक दिन आयगा जब यही अलौकिक महापुरुष उसके अध्यात्म-मार्गका विधाता बनेगा। इस अलौकिक महापुरुषका जन्म किसी एक प्रान्त या वर्गके लिये नही हुआ है, वह तो सम्पूर्ण विश्वके प्राणीमात्रका कल्याण करेगा।

महावीरका सम्पूर्ण जीवन चिन्तनका क्षेत्र बन गया। इसकी सम्पूर्ण साधना विजयकी साधना हो गयी। जितेन्द्रिय बनना आन्तरिक रूपसे आत्म-विरोधी तत्त्वोपर विजय प्राप्त करना लक्ष्य हो गया। आत्मोदय स्वाधीनताके रूपमे परिणत होने लगा। शरीर और मनकी परतन्त्रता नष्ट होने लगी। परम-स्वातन्त्र्य अपने निज स्वभावकी ओर बढ़ने लगा। उनके पौरुषेय-पराक्रमसे अनन्त पर्यायोके दुर्द्धर्ष मोह, राग और वासनाके विकार धूलिसात् होने लगे। चित्तकी चञ्चलता चेतनाकी चिन्मयतामे रूपान्तरित हो गयी। उन्होने अपनी गतिशीलताको अन्तश्चेतनाके ऊर्ध्वीकरणमे प्रयुक्त किया। वे जीवनकी अन्तर्निहित शक्तियोका स्फुरण करने लगे, जिससे राग-विद्वेषकी विकृतियाँ स्पष्ट ज्ञात होने लगी। वे भीतर और बाहर इतने सुन्दर हो गये कि छिपानेको कुछ भी शेष नही रहा।

यो तो महावीरको ससारका प्रखर ज्ञान था। उनकी शाश्वत साधना अनेक जन्मोकी थी और वे अपने इस अन्तिम पडावमे सम्पूर्ण चराचर जगत्की अनन्त पर्यायोके ज्ञाता-द्रष्टा बननेको उत्सुक थे।

यौवनके आनेपर भी उनके जीवनमे कोई महत्त्वपूर्ण घटना घटित नही हुई। अत घटनाओंके घटाटोपमे उनके व्यक्तित्वकी तलाश करना व्यर्थ है। अगणित भवोमे तारुण्यके आते ही अनेक घटनाएँ घटित हुई थी, पर वे सभी पीछे छूट गयी थी। अब तो वे उस पथके नेता थे, जहाँ उन्हे पहुँचना था, जो उन्हे स्पष्ट दिखलायी पडता था।

इसमे सन्देह नही कि युवावस्थामे व्यक्तित्वको परिवर्तित करनेवाली घटनाएँ घटती हैं और घटनाओका आकार-प्रकार वैसा ही होता है, जैसी हमारी वासना और आकाक्षा। हम प्रत्येक युवकसे लीला-प्रिय होनेकी आशा करते है। घटनाओ और सन्दर्भोको उनके जीवनके साथ जोडना चाहते हैं। हमारे अपने सकल्प-विकल्प और विचार-वासनाएँ तरुणोके जीवनमे घटनाओका सृजन करती है। हम अपने विचारोकी प्रतिच्छाया ही युवकोके जीवनमे देखना चाहते हैं। युवाकी स्वाभाविक और प्रखर कान्ति हमे सन्दर्भ-कल्पनाके लिये प्रेरित करती है।

युवावस्थाके रहनेपर भी महावीरका व्यक्तित्व एक ओर जहाँ पुष्पकी तरह कोमल और सुरभित था, वहाँ दूसरी ओर अग्निकी तरह जाज्वल्यमान् भी था। उनके व्यक्तित्वमे चन्द्रमाके समान शीतलता और सूर्यके समान प्रखरताका समावेश था। वह गजकी तरह बलिष्ठ थे, तो वृषभकी तरह कर्मठ भी। उनका पराक्रम सिहके समान निशंक था।

महावीरके व्यक्तित्वमे सागरके समान गम्भीरता और हिमालयके समान उत्तुङ्गता विद्यमान थी। ज्ञानमे प्रखरता और करुणामे कोमलता प्रादुर्भूत हो रही थी। शान्ति और क्रान्तिका एकत्र समवाय दृष्टिगोचर हो रहा था। उन्होने सम्पूर्ण सृष्टिके साथ एकात्मकता और समरसताका अनुभव किया। युवावस्थाके रहनेपर भी उनका जीवन खुली पुस्तक था और आकाशके समान स्वच्छ और निर्मल था। उनके तारुण्य और भास्वर लावण्यने जन-जनका मन मोह लिया था। उनके दिव्य देहको देखकर मलिन मन भी पवित्र हो उठता था। अनन्त शक्तियोका विकास दिनोदिन होने लगा था। वे सामाजिक क्रान्तिके क्षेत्रमे एक नया अध्याय जोडना चाहते थे। उनका हृदय विप्लवसे भरा हुआ था। अन्याय और अनीतिकी राह चलता हुआ संसार उन्हे खटकता था। वे शोषितो, पीडितो और सतप्तोके बीच अलख जगाना चाहते थे। जन-सामान्यकी दरिद्रता और जडताने उनके हृदयको झकझोर दिया था। वे विश्वको सह-अस्तित्वके महान् सन्देशकी ओर ले जाना चाहते थे।

जनताका आह्वान

निरीह पशुओका हाहाकार उनकी चेतना और सवेदनाको आमन्त्रित कर रहा था। दिग्भ्रमित विश्वको वे स्पष्टत. दिशा-निर्देश करना चाहते थे। वे विगत तेईस तीर्थंकरोके धुधले पद-चिह्नोको स्पष्टता और गम्भीरता देना चाहते थे। धर्म-दर्शनकी परम्पराओपर जमी हुई रूढियोकी राखको साफकर अपनी साधनासे उसे निर्धूम अग्निका रूप देना चाहते थे।

नारीका करुण-क्रन्दन और दलित वर्गकी सवेदनाएँ उनके हृदयको आलोडित कर रही थी। आध्यात्मिकताकी क्रान्ति सशक्त भूमिका तैयार कर रही थी। मोह, माया, ममता और अस्मितापर विजय प्राप्त करनेके लिये उनका यौवन उत्ताल तरगे ले रहा था। तप, त्याग और सयम द्वारा वे लोकके लोचन-कपाटोको खोलना चाहते थे। जगत्के अनिवार्य कोलाहलमे भी उन्हे आत्माका संगीत सुनायी पड रहा था। जंजालोमे भी वे प्राञ्जल बने हुए थे।

युवा महावीर वैशालीके बाल-सरस्वती बने हुए थे। उनके दर्शन-मात्रसे जनताके अन्तर्नयन उद्घाटित हो जाते थे। वय और विलक्षण मनीषाको देख लोग आश्चर्यचकित थे। यौवनमे धन-सम्पत्ति और अविवेकताके स्थानपर महावीरमे त्याग, विवेक और सयमका प्रादुर्भाव हो गया था। यौवनकी अमावास्या सयमके कारण पूर्णिमा बन चुकी थी। न उनके मनमे क्रोध था, न आकुलता और न किसी प्रकारका भय या आतक ही था। उनकी सरलता

और स्वाभाविकता जन-जनके लिये वन्दनीय थी। अतएव वे विश्व-कल्याणके हेतु अपना सर्वस्व त्याग करनेके लिये प्रस्तुत थे।

माताकी ममता

माता त्रिशला महावीरके अद्वितीय और अलौकिक शरीरके तारुण्य और लावण्यको देखकर लाख-लाख मनसे उनपर बलिहारी हो जाती। वह मन ही मन सोचती, क्या ही अच्छा होता, यदि महावीरका विवाह हो जाता और राजभवनमें वधूका प्रवेश होता। माताका मन बहूके सौन्दर्यकी कल्पनामें उल्लसित होने लगा। वह बेटेके भावी सुखकी कल्पना कर आनन्दित ही नहीं होती, अपितु कुछ क्षणके लिये उन्मत्त हो नृत्य भी करने लगती। त्रिशलाकी ममताका एकमात्र आधार महावीर था। वह अपनी समस्त आकांक्षाओंको महावीरके अभ्युदय द्वारा ही पूर्ण करना चाहती थी। वह अपने लाडलेको सुख-भोगोंके बीच देखकर अत्यन्त आह्लादित होती थी। उसकी कामना थी कि वह धूल-धूसरित पौत्रको गोदमें खिलाकर आनन्दित हो।

त्रिशलाने अपनी यह आकांक्षा महाराज सिद्धार्थके समक्ष प्रस्तुत की। सिद्धार्थने महारानीके प्रस्तावका समर्थन किया। मंत्रियोंने भी महाराज सिद्धार्थका अनुमोदन किया। फलत योग्य कुमारीसे विवाह-सम्बन्ध स्थिर करनेके लिये राजदूत दौडाये गये। बडे-बडे राजा-महाराजा अपनी-अपनी राजकुमारियोंका पाणिग्रहण-सम्बन्ध महावीरसे करनेके लिये लालायित थे।

विवाह-प्रस्ताव

महावीरकी जन्मगांठके अवसरपर कलिंग देशके महाराज जितशत्रु अपने राज-शिविर सहित कुण्डग्राममें पधारे। इनकी षोडसी कन्या यशोदा अनुपम सुन्दरी थी। आकाश और धरती भी उसके सौन्दर्यका वर्णन करते थे। यशोदाकी आशुतोष छवि कलिंगका गौरव थी। मासलपुष्ट देह, सुवर्णचम्पक-तुल्य वर्ण, शिरीषसम मृदुल गात, विशाल नेत्र, पूर्णेन्दु-तुल्य मुख, कोकिलकठी और मृग-नयनी राजकुमारी यशोदाने महाराज सिद्धार्थ और महारानी त्रिशलाके मनको जीत लिया। महाराज सिद्धार्थ और रानी त्रिशला राजकुमारी यशोदाको अपनी पुत्रवधू बनानेके लिये अत्यन्त उत्कण्ठित थे[1]। सिद्धार्थने महारानी त्रिशलासे

१ यशोदयाया सुतया यशोदया पवित्रया वीरविवाहमङ्गलम्।
अनेककन्यापरिवारयारुहत्समीक्षितु तुङ्गमनोरथं तदा॥

हरिवंश पुराण ६६।८.

कहा देवि ! विवाह करनेके पूर्व राजकुमार महावीरसे भी सहमति प्राप्त करना आवश्यक है। अत विवाह-सम्बन्धी तैयारियाँ करनेके साथ महावीरसे सहमति लेना अनुचित नही होगा।

नगरमे मंगलवाद्य बजने लगे। समस्त राजभवन मगल-गीतोसे मुखरित हो उठा। सभी ओर नृत्य-गीतके सुमधुर आयोजन होने लगे। महावीर इन सबसे अनभिज्ञ थे। उन्हे इसका पता भी नही था। आखिर एक दिन अवसर पाकर माता त्रिशलाने राजकुमार महावीरसे विवाहकी चर्चा की "बेटा! कलिंगनरेश जितशत्रुकी पुत्री यशोदा अत्यन्त रूपवती है। मै उसे अपनी पुत्र-वधू बनाना चाहती हूँ। इस सम्बन्धमे तुम्हारा क्या अभिमत है?"

महावीर माताके प्यार-भरे वचनोको सुनकर मौन रह गये। उन्होने कुछ उत्तर न दिया। माता त्रिशला कुमारके सिरपर हाथ फेरती हुई, पुचकारती हुई और प्यार करती हुई पुन बोली "लाडले! जल्दी बताओ, मैं तुम्हारी सहमति चाहती हूँ। अब मेरी यही अभिलाषा है। आज तक तुमने मेरी सभी इच्छाओका आदर किया है। अब मुझे निराश नही करोगे।"

राजकुमार महावीरने अर्थपूर्ण दृष्टिसे माँकी ओर देखकर कहा "मुझे दुख है माँ, तुम्हारी यह इच्छा पूर्ण न हो सकेगी। मै विवाह-बन्धनमे फँसकर परिवारकी परिधिमे आबद्ध नही होना चाहता। आज सामाजिक जीवनमे आर्थिक विषमता, वर्गभेद, घृणा, ग्लानि बढती जा रही है। एक ओर सामान्य सुविधा-विहीन वह जनता है, जिसे दास या दलित वर्ग कहा जाता है और दूसरी ओर वह समाज है, जो ऐश्वर्य एव प्रभुताके मदमे समाजकी इस बडी इकाईको अपनेसे पृथक् कर चुका है। यह प्रभुसत्ता-सम्पन्न वर्ग जनसामान्यका शोषण और दुरुपयोग भी करता है। आज दास-दासियोके रूपमे नर-नारियोका क्रय-विक्रय हो रहा है। इस प्रकार सारा समाज अस्त-व्यस्त और विशृंखलित है। अतएव मै विवाह-बन्धनमे न बधकर सत्यका अनुसन्धान करूँगा और जीवनकी श्रेष्ठताओका वरण करूँगा।"

राजमाता त्रिशला आश्चर्यचकित हो करुण स्वरमे बोल उठी "पुत्र! विवाह न करोगे? क्या मै पौत्रके मुख-दर्शनसे वञ्चित रह जाऊँगी? माताका मातृत्व पौत्रकी प्राप्तिपर ही पूर्ण होता है।"

राजकुमार महावीर "माँ! मैंने लोक और आत्मकल्याणका महाव्रत लिया है। देख रही हो, आज चारो ओर अधर्म और अज्ञानका अन्धकार व्याप्त है। चारो ओरसे पापका धुआँ निकल रहा है। बलि दिये जानेवाले पशुओकी

करुण चीत्कारसे दिशाएँ कम्पित हो रही है। माँ! मै अन्धकारको प्रकाशमे बदलना चाहता हूँ और सामाजिक एव सास्कृतिक क्रान्ति उत्पन्न कर समाजको मार्ग-दर्शन कराना चाहता हूँ। मै जीवनके निर्मल लक्ष्यको छोडकर विषये-च्छाओमे उलझना नही चाहता। साधनामे सबसे बड़ा बाधक परिग्रह है और यह परिग्रह पारिवारिक सम्बन्धोसे प्राप्त होता है। इसका सर्वथा त्याग करना अनिवार्य है। विवाह जीवनकी परिधिको सकीर्ण कर देता है। अत इसका त्याग तो आवश्यक ही नही, अनिवार्य है।"

"जीवनकी भूलो और अन्धकारके बीच प्रकाशमान सत्यको देखना ही अधिक महत्त्वपूर्ण है। अत मै सत्यके अनुसन्धानमे प्रवृत्त होनेका प्रयास करूँगा।"

"सत्य प्रसन्नताका जनक है। यह सभ्यताका उत्पादक है और यही जीवन-को श्रेष्ठ एव पवित्र बनाता है। सबसे ऊँची महत्त्वाकाक्षा जो किसीको भी हो सकती है, वह सत्य ज्ञानकी है। सत्य ही व्यक्तिको परोपकार करनेका अधिकसे अधिक सामर्थ्य देता है। यही तलवार भी है और ढाल भी है। यह आत्माका पवित्र प्रकाश है। सत्य खोज करनेसे मिलता है, तपश्चर्यासे मिलता है और मिलता है अनुभवसे।"

राजमाता त्रिशला महावीरके उपर्युक्त कथनको सुनकर स्तब्ध हो गयी। वह सोचती थी कि पुत्रका विवाह करूँगी। राजभवनमे पुत्रवधू लाकर मगल-गीतोसे उसे मुखरित कर दूँगी। फूल जैसी सुकुमारी पुत्रवधू जब राज-प्रागणमे विचरण करेगी. तो मेरे सभी स्वप्न साकार हो जायँगे।

महावीरने तो एक ही झटकेमे मेरे समस्त स्वप्नोके भव्य भवनको धूलि-सात् कर दिया। अत वह पुन साहस एकत्र कर कह उठी "बेटे! तुम लोक-कल्याणमे प्रवृत्त होगे, अधर्म और अज्ञानके अन्धकारको दूर करोगे, पर इस राज्यका क्या होगा? इसे कौन सम्हालेगा?"

महावीरने संयत स्वरमे उत्तर दिया "माँ! सभी वस्तुएँ नष्ट होनेवाली है। जो नष्ट होनेवाली वस्तुएँ है, उनकी हमे चिन्ता नही करनी चाहिये। हमे तो शाश्वत सत्यको प्राप्त करना है और इसी उपलब्ध सत्य द्वारा समाजको व्यवस्थित करना है। यह जीवनसे पलायन नही है, अपितु वास्तविक जीवनके साथ समझौता करना है।"

माताका आशीर्वाद

माता त्रिशला साधारण माता नही थी। यदि महावीर अद्वितीय पुत्र थे,

राजकुमारावस्थामे ध्यानरत तीर्थंकर महावीर

संसार त्यागनेसे लगभग एक वर्ष पूर्व, जब महावीर अपने राज-प्रासादमें ध्यान-मग्न खड़े हुए थे, उस समयकी यह मूर्ति बनायी हुई है ।

तो वह भी अद्वितीय मातृपदपर प्रतिष्ठित थी। उन्होने तीर्थंकरको जन्म देकर महान् गौरव प्राप्त किया था। त्रिशलाके हृदयमे धर्म था, ज्ञान था, श्रद्धा थी और जन-कल्याणकी भावना थी। वह अपने पुत्रको प्रणय-सूत्रमे अवश्य बाँधना चाहती थी, पर यह नही चाहती थी कि महावीर जीवनके सच्चे पदको छोड दें। अत जब उसने महावीरके मनमे विवाहके प्रति विरक्ति देखी, तो वह मौन हो गयी। उसने अनुभव किया कि महावीरका कथन यथार्थ है।

वर्तमान समाज धनके आगे झुकना और घुटने टेकना जानता है। आज धनसे शक्ति, सम्मान, प्रतिष्ठा प्राप्त हो रही है। अत जबतक समाजमे सत्य, न्याय और विवेककी प्रतिष्ठा नही होगी; तबतक समाज आत्म-निर्भर नही हो सकता है। राजकुमार महावीर सत्य-अनुसन्धानके हेतु यदि विवाह नही करते हैं, तो कुछ भी अनुचित नही है।

महावीरका अनुचिन्तन

महावीरके हृदयमे अनेक अनुभूतियाँ बडी तीव्रतासे जागृत होने लगी। वे सोचने लगे कि "कही मै पुत्रके कर्त्तव्यसे च्युत तो नही हो रहा हूँ। माता-पिताकी आज्ञा स्वीकार करना मेरा आवश्यक कर्त्तव्य है, पर मैं आध्यात्मिक पथका पथिक हूँ। मुझे सयमका पाथेय चाहिये। पिताका हृदय ममताका अतल समुद्र है, और माँके वात्सल्यका अन्त नही है। पर ये सब व्यामोह है। मोहके परिणाम है। मोक्ष और मोह दो परस्पर विरोधी तथ्य है। इनमेसे किसी एकका ही चयन करना होगा। मोह बन्धन है, त्याग मुक्ति है। मुझे मुक्ति प्राप्त करनी है। अत मै विवाहके कीचडमे क्यो फसूँ? यदि मै बन्धनमे फस गया, तो इस विकट परिस्थितिमे मुक्तिका प्रवर्त्तन कौन करेगा? मै काम, वासना, हिंसा, अज्ञान, असत्य, पराधीनता और आडम्बरके दुर्भाग्यपूर्ण अनुबन्धपर नेत्र बन्दकर हस्ताक्षर नही कर सकूँगा। आदितीर्थंकर ऋषभदेवसे लेकर २३ वें तीर्थंकर पार्श्वनाथ तककी उदात्त परम्परा मेरे समक्ष है। मुझ एक वैज्ञानिकके समान सत्यका अनुसन्धान कर कुछ नये अध्याय जोड़ने हैं। आत्माकी स्वतन्त्रता उपलब्ध करनी है और वासनाकी दासतासे उन्मुक्त होना है। ससारका यह वैभव कब किसका हुआ है? यह सब कुछ क्षण-ध्वसी है। मेघ-पटलके समान क्षणभरमे विलीन होनेवाला है।"

"आज व्यापक रूपमे प्राणियोका वध हो रहा है। समाजमे विकृतियाँ बढती जा रही हैं। स्वार्थने धर्मकी पावनता को खण्डित कर दिया है। चारो ओर कपट और मायाचार पनप रहे है। मनुष्य-मनुष्यका शोषण कर रहा है। हिंसा,

झूठ, चोरी, कुशील, परिग्रह, अज्ञान, भ्रम, दुराचार, अविश्वास और आडम्बरकी वृद्धि होती जा रही है। यज्ञोमे निरपराध जीवित पशुओको झोका जा रहा है और उनके दुःसह चीत्कारसे मानवता आक्रान्त हो रही है। अतः मेरा कर्त्तव्य मुझे आत्म-साधनाकी ओर प्रेरित कर रहा है।"

परिणय-बन्धनसे स्पष्ट इनकार

महावीरके अनुचिन्तनने उनके विचारोको परिपुष्ट किया और उन्होने स्पष्ट रूपमे कलिंग-नरेश जितशत्रुकी अनिन्द्य सुन्दरी कन्या यशोदाके साथ विवाह करनेसे इनकार कर दिया और घोषित किया कि मैं आजन्म ब्रह्मचारी रहकर सत्यज्ञान प्राप्त करूँगा और उसका आलोक जन-जन तक पहुँचाऊँगा। मुझे समाजके विशाल भवनकी नीवको दृढ करना है। मुझे देवताओंके मन्दिर नही बनाना हैं अपितु जन-जनके मानस-मन्दिरको सुसंस्कृत करना है। मानवशक्तिके होते हुए अपव्ययको रोकना है। प्रत्येक जड-चेतनका अपना स्वतंत्र अस्तित्व है। किसीका किसीपर अधिकार नही है। सभी पदार्थ अपने परिणामी स्वभावके अनुसार उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यकी प्रक्रिया द्वारा परिवर्तित होते हैं।

महावीरका हृदय आध्यात्मिक क्रान्तिके विप्लवसे भर गया और वे सोचने लगे कि ससारमे कोई किसीका नही है। सभी आत्माएँ स्वतन्त्र रूपसे कर्त्ता और भोक्ता है। जो जैसा करता है, उसे वैसा फल मिलता है। फल देनेवाला कोई अन्य व्यक्ति नही है। अतः वे अपने माता-पितासे आत्म-निवेदन करने लगे

"पूज्यवर! मैं आपका पुत्र हूँ, किन्तु आप ही बतलाइये कि इस संसारमे कौन किसका है? संसारका प्रत्येक पदार्थ क्षणभंगुर है। जीवन अनित्य है, दुःखमय है। इस चरम सत्यसे इनकार नही किया जा सकता है। आत्मा अमर और शाश्वत है। परिवर्तन तो जगत्का शाश्वत नियम है। यह चेतन और अचेतन दोनोमे ही होता है, पर इतनी बात अवश्य है कि जडमे परिवर्तनकी प्रतीति शीघ्र हो जाती है, जबकि चेतनगत परिवर्तनकी प्रतीति शीघ्र नही हो पाती है। यदि चेतनमे परिवर्तन न होता, तो आत्माका दुःखीसे सुखी होना और अशुद्धसे शुद्ध होना यह कैसे सम्भव हो सकता है? जीवन और जगत्मे प्रतिक्षण परिवर्तन हो रहा है, यह चरम सत्य है।"

"शरीर अनित्य है। धन और वैभव भी शाश्वत नही हैं। मृत्यु सदा सिरपर नाचती रहती है। न जाने किस क्षण श्वाँस बन्द हो जायगी। जिस दिन बालक जन्म ग्रहण करता है, उसी दिनसे उसके पीछे मृत्यु लग जाती है।"

"जिस शरीरपर मनुष्य अभिमान करता है, वह शरीर भी विविध प्रकारके रोगोसे आक्रान्त है। क्रीडाओ और व्यथाओका भाण्डार है। न जाने कब और किस समय कहाँपर उसमेसे रोग फूट पडेंगे। अतएव मुझे ऐसे लक्ष्य तक पहुँचना है, जहाँ वैषम्यका प्रश्न नही। सबकुछ समत्वके वातावरणमे स्पन्दित है।"

"मैं शोषित, पीडित और सन्तप्तोके मध्य भोगरत जीवन-यापन करना अपराध मानता हूँ। पिताजी ! क्या इस व्यापक दरिद्रता और जडताके रहते हुए, मुझे समृद्धियोके बीच विलास-मग्न होनेका अधिकार है ? मैं इस मर्त्य-जीवनसे अमृतत्वको प्राप्त करना चाहता हूँ। यह अमृतत्व ही आत्मतत्त्व है। अविनाशी है, नित्य है और शाश्वत है। यह आत्मा ज्ञान, दर्शन, चारित्रमय है। आलोक या प्रकाश-पुञ्ज है।"

"मेरे जीवनका लक्ष्य ससारको शान्ति प्रदान करना है। मै इन भूले और भटके हुए प्राणियोको सन्मार्गमे प्रवृत्त करना चाहता हूँ। अहिसा, सत्य और अचौर्य आदिके द्वारा मानवमे मानवताकी प्रतिष्ठा करना चाहता हूँ। अतएव आपका भव्य आशीर्वाद मेरी साधनाके पथको आलोकित करेगा।"

महाराज सिद्धार्थ महावीरके विचारोको सुनकर पुलकित हो उठे। उनका पितृत्व धन्य हो गया। वे बाल्यकालसे ही महावीरका सम्मान करते थे और उनमे पूर्ण व्यक्तित्वका दर्शन करना चाहते थे। उन्हे विश्वास हो गया कि महावीर अविवाहित रहकर ही विश्वका कल्याण करेंगे। उनका कार्यक्षेत्र परिवार और वैशाली-गणतन्त्र तक ही सीमित नही रहेगा, अपितु वे पूरे विश्वको अपने आलोकसे आलोकित करेंगे। अतएव उन्होने महावीरको उनके उच्च विचारोपर मौन स्वीकृति प्रदान की। सिद्धार्थका पितृत्व भावी तीर्थंकरत्वसे पराजित हुआ।

माताकी विह्वलता

पुत्रको विरक्त अवगत कर सिद्धार्थने तो किसी प्रकार धैर्य धारण किया, पर माताकी विह्वलता अभी भी ज्यो-की-त्यो अक्षुण्ण थी। माताको आशा थी कि महावीर अभी विवाहके पक्षमे भले ही न हो, पर आगे वह मेरा आग्रह स्वीकार कर लेगा। माताके वात्सल्यको ठुकराना सभव नही है। अतएव त्रिशला हृदयका साहस एकत्र कर पुत्रके विचार-परिवर्तनकी प्रतीक्षा करने लगी। वह पुत्र-परिणयके दृश्यका काल्पनिक आनन्द लेती हुई रोमाचित होने लगी। वह सोचती-महावीर वयमे कम, परतु प्रज्ञा और प्रतिभामे ज्येष्ठ है। उन

जैसा समझदार पुत्र किसी सौभाग्यवती माताको ही प्राप्त होता है। अभी तो महावीरका मन कच्चा है, समय आने पर उसे बदलना सम्भव है।

माता त्रिशलाने एकान्त देखकर एकाध बार अपने पुत्रसे प्रेमपूर्वक पाणि-ग्रहण करनेका अनुरोध भी किया, पर महावीरका दृढ सकल्प ज्यो-का-त्यो बना रहा। उन्होने अपनी स्नेहमयी माताको समझाया और बतलाया कि इस समय त्रस्त मानवताकी रक्षा करना आवश्यक है। महावीरके चिन्तनको ज्ञात कर माता त्रिशलाको भी यह निश्चय होने लगा कि महावीर अपने सकल्पपर अडिग रहेगा और यह सासारिक बन्धनमे न बँधकर स्वतन्त्र रूपसे जन-क्रान्ति करेगा। ससारकी कोई भी मोह-माया इन्हे बाँध नही सकती है। यह तो वर्गहीन समाजकी स्थापना कर आत्म-स्वातन्त्र्य लाभ करेगा। अतएव पुत्र विवाह न भी करे, तो भी मेरी आँखोके समक्ष बना रहे यही मेरे लिये बहुत है।

यौवन और गृह-निवास

तीर्थंकर महावीरका जन्म ऐश्वर्यपूर्ण परिवेशमे हुआ था और उनके चारो ओर परिवार एव वैशाली गणतन्त्रकी समृद्धि व्याप्त थी। युवावस्थाके प्राप्त होनेपर उन्होने विवाह न करनेका दृढ सकल्प किया एव उनके हृदयमे विराग-का अकुर पल्लवित हुआ। भोगसे योगकी ओर उनकी प्रवृत्ति बढने लगी। यत अतिसमृद्धिमेसे ही त्यागकी प्रवृत्ति जन्म लेती है। गहरे रागमे विराग पनपता है। राजभवनमे नर्तकियोके पग-नूपुरकी झकार सुनायी पडती, परिचारक इच्छा व्यक्त होनेके पहले ही भोग-सामग्रियाँ प्रस्तुत कर देते। उत्तरोत्तर भोगके साधन बढ रहे थे।

पचेन्द्रियोके रमणीय सुख पूर्णरूपेण समवेत थे। न अशन-वसनकी कमी थी और न भोग-सामग्रीका ही अभाव था। महावीर प्रात काल व्यायाम आदिसे निवृत हो एकान्त चिन्तनमे समय यापन करते। रमणीया हरितवसना वसुन्धरा महावीरके मनको प्रसन्न करती। वैशालीके जनपदमे ऐसा एक भी व्यक्ति नही था, जो महावीरका सम्मान न करता हो। वे सभीकी आँखोके तारा थे। काञ्चन वर्ण और गम्भीर मुखमुद्राको देखकर जन-जन उनके चरणोमे नत-मस्तक हो जाते थे। जब महावीर नगर-परिभ्रमणके लिये निकलते तो पौरा-ङ्गनाएँ गवाक्षोसे एकटक दृष्टिसे देखा करती थी। राजकुमार महावीरको सभी भोग-सामग्रियाँ प्रचुर रूपमे उपलब्ध थी।

बडे-बडे सामन्त और मुकुटधारी नृपतिगण उनके चरणोकी वन्दना करते थे। वे अपनी कठिनाइयाँ उन्हे निवेदित करते और विचक्षणबुद्धि महावीरसे अपनी

समस्याओंका समाधान प्राप्त करते। राजा सिद्धार्थ महावीरके बढते हुए इस प्रभावको देखकर अत्यन्त पुलकित थे। वे पुत्रकी समृद्धिको अवलोकित कर सुनहले स्वप्न सजोते और विचार करते कि महावीरका जन्म देशकी जनताको दासताके बन्धनोसे मुक्ति दिलानेके लिये हुआ है। वास्तवमे मै धन्य हूँ, जिसके घरमे तीर्थंकर महावीरने जन्म लिया है। यह विश्वका धर्म-नेता बनेगा और समस्त व्यवधान, अमगल और मोह-बन्धनोको शिथिल करेगा।

महावीरको सब कुछ सहज और सुलभ था। बडी-बडी लावण्यवती वाराङ्गनाएँ अपने नृत्य, वाद्य और सगीत द्वारा उनका मनोरजन करती थी, पर महावीरका चित्त इनसे अलग था। उनका मन भव-सागरके उस तटपर चरम शक्तिका अन्वेषण करता था। वे मोक्ष-साधनके लिये तैयारियाँ कर रहे थे। अपनी इस साधनाके समक्ष उन्हे सासारिक सुख अकिंचन प्रतीत होते थे। उनके अन्त करणको राजसी विलास एक क्षण भी नही रुचता था। वे अपने पूर्व भवोका स्मरण करते हुए कभी सोचने लगते

चिन्तनधारा

"आज जिन विनश्वर ऐश्वर्योके बीच मै हूँ, उनसे कई गुना अधिक वैभव भोग चुका हूँ। मुझे अगणित देवाङ्गनाओका सुख मिला, इच्छानुसार अमृतकी प्राप्ति हुई, पर तृप्तिका अनुभव कभी नही हुआ। सासारिक समस्त भोगोपभोग त्याग-सुखकी तुलनामे नगण्य है। अब सयम और त्यागका अवसर उपस्थित हुआ है। अत मुझे आत्म-शुद्धिकी दिशामे प्रगति करनी है। मोह, माया, ममता और अस्मितापर विजय प्राप्त करनी है। अहताके पकसे ऊपर उठकर जीवन-को निर्मल बनाना है। मुझे उन दिनोकी स्मृति आ रही है, जब मै पुरुरवा भीलकी पर्यायमे धनुष-बाण लेकर आखेट किया करता था। उन दिनो मुनि सागरसेनने मुझे उपदेश दिया था, उसकी आज भी स्मृति बनी हुई है।

जटिल-पर्यायमें मिथ्याशास्त्र पढकर मैंने जिन भोगोका आस्वादन किया था और मेरी आसक्तिके कारण मुझे जो नर-नारकादि पर्याये प्राप्त हुई थी, उनकी स्मृति-रेखा अभी भी अकित है। विश्वनन्दीकी पर्यायमे मेरे द्वारा किये गये पराक्रमपूर्ण कार्य एव विरक्त होती गयी साधनाकी स्मृति अक्षुण्ण है। त्रिपृष्ठनारायणकी पर्यायमे मैंने सगीत, चित्र, नृत्य आदि विभिन्न कलाओ द्वारा जो मनोरजन किया था, उसकी भी स्मृति भूली नही है। इस प्रकार मैंने विगत अनेक भवोमे अपार वैभवका भोग किया है। यह सत्य है कि इस भोग-परम्परासे आत्म-साधनाकी उपलब्धि सम्भव नही है। वीतरागताकी प्राप्ति

बडी कठिनाईसे होती है आत्मानुभूति सहज नही है। आत्माको विकारोसे बचानेकी आवश्यकता है। राग-द्वेषके वातावरणसे बाहर निकल कर एकबार जो श्वास लिया कि उसकी सुगन्ध स्वयमेव सर्वशक्तिमानकी अनुभूति उत्पन्न करा देगी। सुषुप्त आत्मशक्तिके जागृत होनेपर विकाररूपी शत्रुओका कही पता-ठिकाना भी नही रहता। जीवनमे एक नयी चमक आ जाती है, नया मोड उत्पन्न हो जाता है और सच्चे आनन्दकी उपलब्धि होती है। पूर्णताके अभावमे सर्वशक्तियोका उदय नही हो पाता।

महावीर ज्यो-ज्यो वयकी सीढियोपर चढते गये, त्यो-त्यो भोगासक्तिके स्थानपर विरक्ति-भावना वृद्धिगत होती गयी। जिस यौवनावस्थामे सासारिक प्राणी विषय और भोगोके प्रति आकृष्ट होते हैं और क्षणिक सुखके लिये अपने जीवनको अर्पित कर देते हैं, उसी यौवनावस्थामे महावीर पूर्णरूपसे विरक्ति प्राप्त करने लगे। तीस वर्षकी अवस्था तक वह गृहस्थ-जीवनमे रहे, पर उनका मन एक क्षण भी परिवार, गृह और भोगोमे आसक्त न हो सका। उनके मनमे कई बार तूफान उठा कि वह गृहस्थ-जीवनके बन्धनोको तोडकर अपनी लक्ष्य-सिद्धिके लिये निकल पडे। पर किसी न किसी कारणवश उन्हे रुक जाना पडा। वस्तुत साधनाकी उपलब्धि सहजमे नही होती है। जबतक काललब्धि उपलब्ध नही होती, तबतक चाहनेपर भी साधना-पथ नही मिल पाता है।

महावीरमे अद्भुत शूरता और वीरता थी। प्राय देखा जाता है कि लोग सन्यास लेनेके लिये घर-द्वार छोडते हैं। पर घरके बीच रहकर इन्द्रियसुख और मोह-ममतासे सघर्ष करना साधारण बात नही है। रोग, दुख, पापाचार, क्रोध, मान, माया, लोभ और अहकार ऐसे साधन हैं, जो व्यक्तिको एक सामान्य परिवेशमे बन्द करके रखते हैं। महावीरको वैशालीमे सभी सासारिक सुख-सुविधाएँ प्राप्त थी, पर उनका मन सदा विरक्त रहता था। अत वैशालीके सुख-साधन उन्हे अधिक दिनो तक अपने बीच रोक न सके। उन्हे राज्य, भवन, सुख-सम्पदा, कुटुम्ब एव बन्धुवर्ग आदि सभी बन्धन प्रतीत हो रहे थे। वे इन बन्धनोसे ऊपर उठकर स्वयबुद्ध बननेका प्रयास कर रहे थे। वे अपने जीवन-प्रवाहको नयी दिशामे परिवर्तित कर साधक बनना चाहते थे। गृह-वास करते हुए भी वे ससारसे विरक्त थे। अब उनके अन्तस्तलमे वैराग्यकी उत्ताल तरगे उठ रही थी। पुरजन-परिजन इन तरगोको शान्त करना चाहते थे, पर महावीरके सकल्पको परिवर्तित करनेकी क्षमता किसीमे नही थी। तप, त्याग, सयम और ज्ञानके अक्षय पदको प्राप्त करनेके लिये महावीर प्रयत्नशील थे।

युगकी पुकार

महावीरका युग एक क्रान्तिकारी युग-द्रष्टा व्यक्तिको पुकार रहा था। चारो ओर "त्राहि माम्, त्राहि माम्"की ध्वनि गूँज रही थी। यज्ञोके धूम, पशुओके करुण चीत्कार, नारीपर किये जानेवाले जोर-जुल्म एव शूद्र और दलितोंपर किये गये अत्याचार जोर-जोरसे पुकार रहे थे कि कोई एक आध्यात्मिक क्रान्तिकारी महान् प्रभावशाली व्यक्ति उपस्थित हो और ससारके अन्याय एव अनीतिका विरोध करे। वास्तवमे इस समय युगका आह्वान न सुनना मानवताकी अवहेलना करना था। युग सयम और त्यागकी ओर टकटकी लगाये देख रहा था। अत लोक-कल्याणके लिये दृढ सकल्प ग्रहण करना आवश्यक था। दुखी ससार आँखे खोलकर किसी महान् व्यक्तिकी प्रतीक्षा कर रहा था। चारो ओर अनेक तरहकी प्रतिक्रियाएँ अभिव्यक्त हो रही थी। प्रत्येक वर्ग और प्रत्येक व्यक्ति अपने-अपने ढगसे अपनी-अपनी प्रतिक्रिया अभिव्यक्त कर रहा था। दीर्घकालसे चली आयी सार्वदेशिक विषमताको दूर करनेके लिये महावीरकी खोज थी। जनकल्याणका मार्ग सभी नही प्राप्त कर सकते हैं। इसके प्राप्त करनेवाले तो कोई एकाध व्यक्ति ही होते हैं। अत. महावीरने वैराग्य ग्रहण करनेका सकल्प लिया। युगकी पुकार उन्होने सुनी और वे युगनिर्माणके कार्यमे प्रवृत्त हुए।

मचल उठा त्रिशलाका मातृत्व

त्रिशलाने जब महावीरकी आध्यात्मिक जागृतिका सवाद सुना तो उनका मातृत्व मचल उठा। ममता उतावली हो उठी और उसके मन प्राण शून्य हो गये। वह सोचने लगी "राजसी वैभवमे पला मेरा लाडला बीहड वन-पर्वतोमे किस प्रकार विचरण करेगा? ग्रीष्मके कडे सन्तापको कैसे सहन करेगा? जिसने आजतक मखमलको छोडकर नगी भूमिपर चरण भी नही रखा, वह कटकाकीर्ण भूमिमे किस प्रकार गमन करेगा? शीत ऋतुमे सरिता-तटोपर कैसे विचरण करेगा? जब मूसलाधार वर्षा होगी, तब वह किस प्रकार खुले आकाशमे साधना कर सकेगा? कहाँ तो मेरे पुत्रकी सुकुमारता और कोमलता, और कहाँ ककरीली कठोर धरती? तप्त शिलाखण्डोपर बैठकर आत्मचिन्तन करना, क्या सुकुमार महावीरसे सभव होगा? हाथियोकी चिघाड, सिहोकी गर्जना एव सर्पोके उत्कट फूत्कारोको यह कैसे सहन कर सकेगा? मेरा हृदय आशकासे दहल रहा है और मेरा रोम-रोम काँप रहा है।"

माता त्रिशलाकी विचारधारा और तीव्रतासे आगे बढी। वह चिन्तन करने लगी कि "जिसके सुकोमल पगतलोमे प्रकृतिने स्वय महावर लगाया है,

जिस लाडलेने स्वप्नमे भी सघर्ष नही किया है, वह इन विषम परिस्थितियोसे जूझेगा ? राजसी कोमल शैय्यापर शयन करनेवाला मेरा पुत्र कठोर चट्टानपर किस प्रकार शयन करेगा ? कहाँ बीहड वन और कहाँ सुख-सुविधा-सम्पन्न राजभवन । आजतक मैं जिसके मुखको निहारकर पुलकित होती रही और इसी आशामे जीवित रही कि मेरा प्यारा पुत्र महावीर मेरी मनोकामना पूर्ण कर मेरे जीवनको सफल करेगा । अब उसके सन्यासी बन जानेपर मैं जीवनको नीरस घडियोको किस प्रकार बिताऊँगी ? मैं पुत्रके वियोगको एक क्षणके लिये भी सहन करनेमे असमर्थ हूँ। यह मैं मानती हूँ कि महावीरपर मेरा उतना ही अधिकार है, जितना कोटि-कोटि मानवका । महावीर मेरा ही पुत्र नही है, वह जन-जनका प्यारा लाडला है ।" माता त्रिशलाके सोचनेकी तीव्रताने उसे मूर्च्छित कर दिया ।

परिचारिकाएँ जल लेकर उपस्थित हुई और चन्दन-मिश्रित शीतल जलके सिंचन करते ही त्रिशलाकी मूर्च्छा दूर हो गई ।

चेतनाके लौटते ही पुत्र-वात्सल्य उमड पडा । उसे सारा ससार रूक्ष, कर्कश और कठोर प्रतीत हुआ । सारा दृश्य मर्मस्पर्शी था । माता लडखडाती हुई उठी और सतप्त हृदयसे महावीरको ढूँढने लगी । महावीर दृढ सकल्प लेकर वैराग्यकी ओर कटिबद्ध थे । उनके अन्तरगमे वीतरागताकी उत्ताल तरगे उठ रही थी और यह ससार उन्हे स्वार्थोका जलता हुआ पुञ्ज दिखलाई पड रहा था ।

लौकान्तिकों द्वारा चरण-वन्दन

महावीरकी विरक्तिको अवगत कर लौकान्तिक देव आये और उन्होने प्रभुके चरणोकी वन्दना करते हुए स्तुति की

"प्रभो ! आप धन्य हैं और धन्य है आपका अमर सकल्प । आपने जिस जीवनके वरणका सकल्प किया है, उससे समस्त लोकोका कल्याण होगा । आप तप, त्याग, सयम और ज्ञानके अक्षयपदको प्राप्त करेंगे । सर्वज्ञ और हितोपदेशी बनकर विश्वका कल्याण करेंगे । हम सभी आपके वैराग्यकी प्रशसा करते हैं । आपने जन-कल्याणके लिये जिस साधना-पथका अनुसरण करनेका सकल्प लिया है, वह महनीय है । इस समय विश्वको आप जैसे साधक धर्म-नेताकी आवश्यकता है । नि सन्देह महापुरुषके जीवनमे एक ऐसी स्थिति आती है, जब वह विषय-वासनाओ और भोगोसे सर्वथा विरक्त होकर यथार्थ सत्यको प्राप्त करनेके लिये व्यग्र हो उठता है । आत्म-सयमकी उच्च भावनाओमे रमण करना उसे प्यारा

लगता है। धन, सम्पत्ति, राज्य, भोग-विलास आदि वस्तुएँ तो बाह्य साधन हैं और अपूर्ण हैं, क्योंकि वे स्वय नाशवान हैं। अतएव हम आपके त्याग, सयम और सत्यानुष्ठानकी प्रशसा करने एव आपके वैराग्यका अनुमोदन करनेके लिये यहाँ उपस्थित हुए हैं। आप मति, श्रुत और अवधि ज्ञानके धारी, विवेकी एवं आत्म-शोधक हैं। आपको साधनामे सफलताकी तनिक भी आशका नही है। आप अपने संकल्पको अवश्य पूरा कीजिये।

माताको सांत्वना

इन्द्रको जब अवधिज्ञानसे तीर्थंकर महावीरको विरक्तिका समाचार ज्ञात हुआ, तो वह उल्लासमे पगा कुण्डग्राम आ पहुँचा और उसने कई प्रकारसे हर्षोत्सवोका आयोजन किया। देव विभिन्न प्रकारके उत्सवोका आयोजन करते हुए महावीरके वैराग्यकी श्लाघा करने लगे। आगत देवोने माता त्रिशलाको विह्वल देखा तो वे मातृ-हृदयकी प्रशसा करते हुए सात्वनाके स्वरमे कहने लगे—

"जगदम्बे! तीर्थंकरकी माता होकर आपने महान् पुण्य अर्जित किया है। आपका पुत्र परम तेजस्वी और विश्वका कल्याणकारक है। आप इतना विलाप क्यो करती हैं? चिन्ता छोडिये। शीत, आतप और वर्षाका कष्ट सहन करनेका उसमे अपूर्व सामर्थ्य है। ये वज्रवृषभनाराचसहननसे युक्त है। धीरजके धनी हैं और समस्त उदात्त गुणोसे सम्पन्न हैं। इन्हे सर्वोच्च पद तीर्थंकरत्व प्राप्त करना है। यह ऐसा पद है, जिसके समक्ष ससारके समस्त पद और वैभव तुच्छ माने जाते हैं। महावीर स्वय तो मुक्ति प्राप्त करेंगे ही, पर वे अन्य साधकोके लिये भी तीर्थका निर्माण करेगें। विशृंखलित और विघटित होते हुए समाजका स्थिरीकरण भी इन्हीके द्वारा सम्पन्न होगा। तुम्हारी कुक्षि धन्य है। तुमने एक लोकोद्धारक विभूतिको जन्म दिया है। ससार शताब्दियो तक तुम्हारे चरण-वन्दन करेगा। देवि! तुम्हारे समान सौभाग्यशाली नारियाँ कितनी हैं? अतएव वास्तविक परिस्थितिको ज्ञातकर शान्त हो जाइये"।

देवोकी इस सात्वनाप्रद वाणीको सुनकर माताका मन कुछ हल्का हुआ। फिरभी पुत्र-वियोगकी कल्पना इन क्षणोमे भी उसे विह्वल बना रही थी। उसे विश्वास नही हो पाता था कि उसका लाडला महावीर वनकी उन भयावनी स्थितियोका सामना कर सकेगा? राजसी वातावरणमे पालित-पोषित और सम्वर्द्धित महावीर तपश्चर्यामे होनेवाले कष्टोको सहन कर सकेगा? त्रिशलाका मातृत्व उसे विह्वल कर रहा था। आँखोमे सावन-भादोके बादल घिरे हुए थे। मन ममतामे उफन रहा था और महावीर दीक्षा-कल्याणककी तैयारी कर रहे

थे। अब उन्हे एक क्षण भी वैशालीमे निवास करना असह्य प्रतीत हो रहा था। देवोने बिलखते हुए मातृत्वको सान्त्वना दी और महावीरकी शक्तियोका परिज्ञान कराया।

चरण चल पड़े

मार्गशीर्ष कृष्णा दशमी २९ दिसम्बर ई० पू० ५६९ की तिथि भारतीय इतिहासमे स्वर्णाक्षरोमे अकित है।[1] उस दिन कुण्डग्रामका राजमार्ग जयघोषोसे गूँज रहा था और महावीर कामनाओ एव विषय-वासनाओपर विजय प्राप्त करनेके लिये कृतसकल्प थे। उनके साहस और शौर्यपूर्ण चरण आत्मविजयकी ओर बढ रहे थे। देशोपर विजय प्राप्त करनेवाले तो विश्वके इतिहासमे अनेक महापुरुष मिलते है, पर कषायो और विषय-वासनाओको जीतनेवाले महामानव कम ही होते है। महावीर विषय-वासनाओकी कटीली झाडियोको काटनेके लिये गतिशील थे। कोटि-कोटि मानव श्रद्धा और विश्वासमे अवनत हो चरण-स्पर्श कर रहे थे। वे मानवको दुःखोसे त्राण देनेके हेतु उद्यत थे।

वास्तवमे इन्द्रियोकी दासता और विलासिता दुर्दमनीय शत्रु है। बडे-बडे शक्तिशाली शत्रुओको पराजित करनेवाले अनेक योद्धा होते है। पर रोग, शोक, कदाचार और काम जैसे अन्तरग दुर्दमनीय शत्रुओको तो तीर्थंकर महावीर जैसे विरले महामानव ही पराजित कर सकते है।

महावीर राज्य-भवन, सुख-सम्पदा और कुटुम्ब-वर्गको त्यागकर दिगम्बर-दीक्षा ग्रहण करनेके लिये सन्नद्ध हो गये। समस्त कुण्डग्राममे शोक और उल्लासकी लहर व्याप्त हो गयी। शोक इसलिये कि उनके प्राणप्रिय राजकुमार उन्हे छोडकर जा रहे थे और उल्लास इसलिए कि उनके श्रद्धापात्र महावीर उन विषय-वासनाओसे युद्ध करनेके लिए जा रहे है, जिन्हे अबतक लोग अजेय, अविजित समझते आ रहे थे। एक ओर जनताके नेत्रोसे अश्रुधारा प्रवाहित हो रही थी, तो दूसरी ओर जनताके कण्ठसे जयनाद भी निकल रहा था। हर्ष और विषादके समागमका अद्भुत दृश्य था।

कुण्डग्राम-वासियोने महावीरके दीक्षा-कल्याणककी पूरी तैयारी की। इस उत्सवमे देव भी सम्मिलित हुए। समारोहमे परिजन-पुरजन और प्रजाजन एकत्र हुए। सबने महावीरको विदा दी। सभीके नेत्र आँसुओसे गीले हो रहे

१ मग्गसिरबहुलदसमी अवरण्हे उत्तरासु णाधवणे।
तदियखवणम्मि गहिद महव्वद वड्ढमाणेण ॥
तिलो० प० ४।६६७

थे। और हृदयमे प्रबल आकर्षण था। नेत्रोसे गिरती अश्रुधारा और जनताका निश्छल प्रेम भी महावीरके चरणोको बाँधनेमे असफल रहा। धन्य थे उनके चरण। उनके उन चरणोमे कितनी गति थी। कितनी सचरण-शक्ति थी।

जनता डबडबाई आँखोसे महावीरके मुखको देखती रही और महावीर मोह-बन्धनोको तोड़कर 'चन्द्रप्रभा' पालकीपर जा बैठे।

आत्म-स्वातन्त्र्यकी वेला

देव और मानवोंके बीच विवाद आरम्भ हुआ कि त्रिलोकीनाथ महावीरकी इस चन्द्रप्रभा पालकीको पहले कौन उठायेगा? देवोने अपने तर्क उपस्थित किये और मानवोने अपने तर्क। मानवोने कहा जो महावीरके साथ दीक्षित हो सकता है, वही उनकी इस पालिकीको अपने कधोपर उठानेका अधिकारी है। सयम-ग्रहण करनेमे असमर्थ देव कतराने लगे और मानव-मंगलके वे क्षण अत्यन्त भाग्यशाली बन गये। आरभमे मानवोने कधोपर पालकीको उठाया, अनन्तर देव-देवेन्द्र पुलकित हो 'चन्द्रप्रभा' पालकीको उठाये हुए 'खण्डवन'की ओर बढने लगे। इसे 'नायखण्डवन' या 'ज्ञात-खण्डवन' भी कहते है। वैशाली गणतन्त्रने आत्मस्वातन्त्र्यकी वेलाका अनुभव किया।

तुमुल जयघोषोसे गगन, धरा, दिग्दिगन्त गूँज उठे। वैशालीसे ज्ञातखण्डवन तक सम्पूर्ण प्रदेश जीवन्त था। आध्यात्मिक जागृतिकी लहर एक छोरसे दूसरे छोर तक व्याप्त थी। जीवनकी समस्त उज्ज्वलताएँ लोक-कल्याणके लिये प्रवृत्त थी।

पालकी-वाहकोने उद्यानमे पहुँच कर महिमामय अशोकवृक्षके नीचे पालकीको उतारकर रख दिया। महावीर पालकीसे नीचे उतरे और अशोकवृक्षके नीचे स्थित मणिजटित स्फटिक-शिलापर आसीन हो गये और उत्तर दिशाकी ओर मुखकर अपने समस्त वस्त्राभूषणोको त्यागकर दिगम्बर वेश धारण किया। अब वे यथाजात शिशुवेषमे दिखाई पड रहे थे। कितना हृदय-द्रावक और प्रभावक यह दृश्य रहा होगा, जिसमे एक राजकुमार अपने विशाल वैभवको ठुकरा कर अपरिग्रही विरक्त बन रहा हो। दिग्वधुओने दिगम्बर महावीरको आरती उतारी और देव-मानवोने दीक्षा-कल्याणक सम्पन्न किया। महावीरने सिद्धपरमेष्ठीको नमस्कार कर पच-मुष्टियो द्वारा अपने राजसी, सुकोमल, स्निग्ध केशोका लुञ्चन किया। उन्होने शरीरके मोहपर पूर्ण विराम लगा दिया और आत्म-लोचन एव आत्म-शोधनमे प्रवृत्त हुये।

अट्ठाईस मूलगुणोंको धारण

समस्त बाह्याभ्यन्तर परिग्रहका त्याग कर महावीरने अट्ठाइस मूलगुणोंके पालन करनेकी महाप्रतिज्ञा की। वे ज्ञान-ध्यानमे लीन हो सयम-आराधनामे सलग्न हो गये।

महावीरने (१) अहिसा, (२) सत्य, (३) अस्तेय, (४) ब्रह्मचर्य और (५) अपरिग्रह इन पाँच महाव्रतोके पालन करनेकी प्रतिज्ञा की। अनंतर उन्होने पच-समितियोको स्वीकार किया। प्रमादजन्य पापोसे बचने और मनको एकाग्र करनेके लिए समितियोकी आवश्यकता होती है। महावीर द्वारा स्वीकृत समितियाँ निम्न प्रकार हैं

(६) ईर्या-समिति जीवोकी रक्षाके हेतु सावधानीपूर्वक चार हाथ आगेकी भूमि देखकर चलना।

(७) भाषा-समिति हित मित और प्रिय वचन बोलना।

(८) एषणा-समिति सावद्य रहित पवित्र भोजन ग्रहण करना।

(९) आदान-निक्षेपसमिति वस्तुओ (साधु द्वारा स्वीकार्य पिछी, शास्त्र और कमण्डलु) के रखने और उठानेमे प्रमादका त्याग कर सावधानी रखना।

(१०) व्युत्सर्ग-समिति जीव-जन्तु रहित भूमिपर मल-मूत्र त्याग करना।

तीर्थंकर महावीरने पाँच महाव्रत और पाँच समितियोके पालन करनेका सकल्प कर निम्नाकित गुणो सद्वृत्तियोके पालन करनेकी भी प्रतिज्ञा की

(११) स्पर्शन-निरोध प्रिय और इच्छित वस्तुके स्पर्शका निषेध।

(१२) रसना-निरोध अभीप्सित वस्तुके रसास्वादनका त्याग।

(१३) घ्राण-निरोध इच्छित गन्धके सूँघनेका निषेध।

(१४) चक्षु-निरोध इच्छित वस्तुके अवलोकनका त्याग।

(१५) श्रोत्र-निरोध रागात्मक इच्छित सगीतके श्रवणका त्याग।

(१६) सामायिक समभावका पालन।

(१७) चतुर्विंशतिस्तव तीर्थंकरोका स्तुति-पाठ।

(१८) वन्दना देव-गुरुको नमस्कार।

(१९) प्रतिक्रमण दोषोका शोधन और प्रकटीकरण।

(२०) प्रत्याख्यान अयोग्यके त्यागका नियमन और व्रत-पालन।

(२१) कायोत्सर्ग नियत कालके लिये देहसे ममत्व त्यागकर खड़े होना।

(२२) केश-लुञ्चन नियत कालमे उपवासपूर्वक अपने हाथसे केशोका लुञ्चन करना उखाडना।

(२३) अचेलकत्व वस्त्रादि द्वारा शरीरको नही ढँकना।

(२४) अस्नान स्नान, अञ्जनादिका त्याग करना।

(२५) क्षिति-शयन शुद्ध एकान्त स्थानमे एक करवटसे शयन करना।

(२६) अदन्त-धावन दँतौन आदि नही करना।

(२७) स्थित-भोजन अपनी अञ्जुलिमे समपाद खड़े होकर नियमित भोजन करना।

(२८) एकभक्त या एक समयका भोजन सूर्योदय और सूर्यास्त कालमे तीन घडी अर्थात् एक घटा बारह मिनट समय छोड़कर एकवार भोजन करना।

महावीरने साधुके इन अट्ठाइस मूलगुणोको स्वीकार किया और साधना द्वारा अपने गुप्त आत्म-वैभवको प्रकाशित करनेका प्रयास किया। महावीरने जीवनकी ममतासे ऊपर उठकर मोह और विकारका त्याग किया। युवा योगिराट् महावीरने दिगम्बररूप धारणकर यह बता दिया कि वे जितेन्द्रिय है। विकारोपर उन्होने विजय प्राप्त करनेके लिये कमर कस ली है। निर्मलता और सरलता उनके रोम-रोममे समा गयी है। वे हिमालयके समान दृढ-प्रतिज्ञ होकर उपवासमे प्रवृत्त हुए। वह कुण्डग्रामके ज्ञातृखण्ड उद्यानसे चलकर कुल्यपुर पहुँचे और वहाँ उन्होने वकूल या कूल राजाके यहाँ प्रथम आहार ग्रहण किया।

वकूल या कूलको ही हिन्दी-कवियोने 'नृपकुमार' कहा है। वरागचरितमे इस वकूल नामक नृपकुमारको अत्यन्त धर्मात्मा कहा गया है। उत्तरपुराणमे इसे कूल वताया गया है।

●

स्पष्टीकरण

इस ग्रन्थके प्रथम भागके षष्ठ परिच्छेदमे भगवान् महावीरके तपश्चरण, वर्षावास एवं कैवल्यलब्धिका वर्णन करते हुए लेखकने लिखा है आगम ग्रन्थोमे वर्षावासोका वर्णन प्राप्त होता है। इस वर्णनसे महावीरके मानवीय जीवनका उज्ज्वल पक्ष अंकित हो जाता है, यहाँ आगम ग्रन्थोसे उनका अभिप्राय श्वेताम्बर साहित्यसे है क्योकि दिगम्बर साहित्यमे इसप्रकारके कथन नहीं पाये जाते हैं। भ्रमकी सभावनाके परिमार्जनके लिये यह स्पष्टीकरण किया जाता है।

(प्रकाशक)

षष्ठ परिच्छेद

तपश्चरण, वर्षावास एवं कैवल्य-उपलब्धि

अन्तरंग और वहिरंग परिग्रहका त्याग करते ही महावीरको मन पर्यय-ज्ञानकी प्राप्ति हो गयी। वे इस ज्ञानको प्राप्तकर ग्रामानुग्राम विचरण करने लगे। उनकी सतत साधना वढती जा रही थी। सोते-जागते, उठते-बैठते, चलते-फिरते आदि सभी अवसरोपर उनका मन चिन्तनसे विरत नही था। वे अपने आपको सभी ओरसे समेटकर आत्म-अनुभवमे लीन हो रहे थे और सर्वस्वका विसर्जनकर विश्व-मगलकी कामनासे ओत-प्रोत थे।

वे ग्रीष्मकी तपती हुई दुपहरियामे खुले आकाशमे अग्नि-वर्षा करते हुए सूर्यके नीचे उत्तप्त पाषाण-शिलापर तपस्या करने बैठ जाते और अविचल भावसे दीर्घकाल तक तपस्यामे लीन रहते। वर्षा-ऋतुमे जब घनघोर वर्षा, भयकर

तूफानें और बादलोंकी गड़गड़ाहटका आतंक व्याप्त रहता था, उस समय वे वृक्षके नीचे अविचल भावसे खड़े हुए तपश्चर्यामें लीन रहते थे।

चारों ओर हरी-हरी घास उग आती। ताल-तलैयाँ जलसे परिपूरित हो जाती। मक्खी और मच्छरोंकी भरमार हो जाती, ऐसे समयमें भी महावीर अनावृत्त कायामें संयमकी साधनामें लीन रहते। शीत-ऋतुमें बर्फीली हवाएँ चलतीं, घरसे निकलना पशु-पक्षियोंके लिये भी असम्भव था। ऐसे समय निर्वस्त्र रहकर महावीर नदीके शीत-लहरीयुक्त तटपर ध्यानावस्थित रहते। पर्वतकी किसी उपत्यका, गुफा अथवा सूनसान, निर्जन और भयंकर स्थानोंमें जाकर वे तपस्या करते। इस प्रकार महावीरकी साधना उत्तरोत्तर उग्रतर होती गयी।

महावीर विहार करते समय किसी भी स्थानपर तीन दिनोंसे अधिक नहीं ठहरते थे। साधनाके दिनोंमें उन्होंने अगणित स्थानोंकी यात्राएँ कीं, अगणित मानवोंसे भेंट की और अगणित प्रकारके उपसर्ग सहन किये। तपश्चर्याके दिनोंमें जब वर्षा ऋतु आती, तो वे किसी एक स्थानपर रहकर चातुर्मास व्यतीत किया करते थे। उन्होंने साढ़े बारह वर्षोंके लम्बे तपश्चरण-कालमें कितने ही स्थानोंमें चातुर्मास किये।

महावीरके चातुर्मासोंके स्थानोंके साथ बड़े ही प्रेरक सन्दर्भ जुड़े हुए हैं। इन सन्दर्भोंसे एक ओर तत्कालीन समाजकी कायरता, कदाचार और पापाचार अभिव्यक्त होते हैं, तो दूसरी ओर तीर्थंकर महावीरके अदम्य साहस, त्याग, धैर्य, सहनशीलता, दया एवं क्षमाके चित्र भी प्रस्तुत होते हैं। यहाँ महावीरके वर्षावासोंके सम्बन्धमें कुछ जानकारी प्राप्त कर लेना अप्रासंगिक नहीं होगा।

आगम-ग्रन्थोंमें वर्षावासोंका वर्णन प्राप्त होता है। इस वर्णनसे महावीरके मानवीय जीवनका उज्ज्वल पक्ष अंकित हो जाता है।

प्रथम वर्ष-साधना सहिष्णुता और साहस

ज्ञातृखण्डवनसे एक मुहूर्त दिन शेष रहनेपर महावीर कर्मार ग्राममें पहुँचे और कायोत्सर्ग धारण कर ध्यानमें संलग्न हो गये। इसी समय एक ग्वाला अपने बैलों सहित वहाँ आया और महावीरसे बोला "मैं गाय दुहकर अभी गाँवसे वापस आता हूँ। मेरे ये बैल चर रहे हैं, इनकी निगरानी रखियेगा।" वह उत्तरकी प्रतीक्षा किये बिना ही गाँव चला गया। महावीर तो ध्यान-मग्न थे। उन्हें ग्वालेकी बातका कुछ भी ज्ञान नहीं था। बैल घास चरते हुए वनमें बहुत दूर चले गये। ग्वाला जब घरसे वापस आया और

उस स्थानपर बैलोंको चरता हुआ न पाया, तो उसने महावीरसे पूछा—"मेरे बैल कहाँ चले गये ?" महावीरने कुछ भी उत्तर नही दिया। उसने क्रोधाविष्ट हो महावीरको बहुत बुरा-भला कहा। पर जब उनसे कुछ भी उत्तर नही मिला, तो उसने समझा कि इन्हे मालूम नही है। अत वह बैलोको ढूँढनेके लिये जगलकी ओर चल दिया। रातभर वह बैलोको तलाश करता रहा, पर बैल उसे नही मिले। प्रात काल होने पर उसने बैलोको महावीरके पास बैठे रोमन्थन करते हुए पाया। ग्वाला बैलोको महावीरके पास प्राप्तकर क्रोधसे जल-भुन गया और अपमानके स्वरमे बोला "बैलोकी जानकारी होते हुए भी आपने मुझे नही बतलाया। मालूम होता है कि आप मुझे तग करना चाहते थे, इसीलिये रातभर मुझसे परिश्रम कराया गया।" यह कहकर हाथमे ली हुई रस्सीसे उसने महावीरको मारनेका प्रयास किया। तभी किसी भद्र पुरुषने आकर ग्वालेको रोका और कहा कि "अरे, यह क्या कर रहे हो ? क्या तुझे मालूम नही कि जिन्होने कल ही दीक्षा ली है, वही ये महाराज सिद्धार्थके पुत्र महावीर हैं। इन्हे तुम्हारे बैलोसे क्या प्रयोजन ? ये तो आत्म-ध्यानी हैं और कर्म-कालिमाको दूर करनेके लिये प्रयत्नशील हैं। अतएव इन्हे मारना-पीटना या अपशब्द कहना सर्वथा अनुचित है।"

ग्वालेने नतमस्तक होकर महावीरसे क्षमा-याचना की और वह बैलोको लेकर चला गया।

ममताकी झोपड़ी कहाँ ?

अप्रतिबन्ध विचरण करते हुए महावीर मोराक-सन्निवेशमे पधारे। यहाँ दुर्जयन्त नामक तापस-कुलपतिका आश्रम था। आश्रमके समीप कल-कल निनाद करते हुए निर्झर प्रवाहित हो रहे थे। शात वातारण या और कुलपति महावीरके पिताका मित्र था। उसने दूरसे ही महावीरको आते हुए देखा। कुलपतिने महावीरका स्वागत किया और अपनी कुटियामे विश्राम कराया।

प्रात.काल महावीर जब चलने लगे, तो कुलपतिने उन्हे भावभीनी विदाई दी और इसी कुटियामे चातुर्मास करनेका निवेदन किया। तीर्थंकर महावीर ग्रामानुग्राम विचरण करनेके उपरान्त पुन मोराकसन्निवेशमे आये और कुलपतिकी उसी कुटियामे चातुर्मास करनेका निश्चय किया।

वर्षा-ऋतु प्रारम्भ हो चुकी थी, पर वर्षाकी कमीके कारण पर्याप्त मात्रामे वहाँ घास उत्पन्न नही हुई थी। गायोंका पेट नही भर रहा था। अत. भूखी गायें अपनी क्षुधाको शान्त करनेके लिये झोपड़ीकी घास खानेको

आने लगी। महावीर तो मौन रूपमे आत्म-साधनामे सलग्न थे, उन्हे झोपड़ीकी क्या चिन्ता थी ?

एक दिन कुलपतिके साथ उनके सभी शिष्य बाहर गये हुए थे। गायोने उस दिन जी भरकर झोपडीकी घास खायी और जब सध्या समय कुलपति वापस लौटा, तो उसने देखा कि झोपडीका अधिकाश भाग उजाड़ दिया गया है। गायें उसकी घास खा चुकी हैं और महावीर ध्यानस्थ हैं। इस स्थितिको देखते ही कुलपतिको क्रोध उत्पन्न हो गया और महावीरको डॉटने लगे "पक्षी भी अपने घोसलेका ध्यान रखते हैं, आप तो मनुष्य है, आपको अपनी इस झोपडीकी रखवाली करनी चाहिये थी। अरे, जिस झोपड़ीमे रहते हो, उसकी रक्षा भी तुमसे सम्भव नही। तब तुम क्या साधना करोगे ?"

अभी वर्षावासके प्रारम्भ होनेमे कुछ दिन अवशिष्ट थे। अत महावीरने वहाँसे विहार कर दिया और मनमे दृढ सकल्प लिया कि जो स्थान सस्वामिक हो, वहाँ नही ठहरना और निर्जन स्थानमे ध्यान एव आत्म-शोधनका सम्पादन करना है। अब मौन रूपमे ही विचरण करूँगा।

मिट गये शूल, बन गये फूल

महावीर मोराक-सन्निवेशसे ग्रामानुग्राम विचरण करते हुए अस्थिग्राम पधारे। यहाँ ग्रामके बाहर रात्रिमें शूलिपाणि यक्षके चैत्यमे ठहरे। जनताने उनसे अनुरोध किया "प्रभो ! यहाँका निवासी शूलपाणि महादुष्ट है। यदि रात्रिमे कोई भी भूला भटका यात्री इस चैत्यमे आकर ठहर जाता है, तो यह यक्ष उसे मार डालता है। आपको जो हड्डियोका पहाड़ दिखलायी पड रहा है, वह इसी यक्षके कुकर्मोका फल है। अतएव आप हमारी प्रार्थना स्वीकार कीजिये और यहाँ रात्रि व्यतीत करनेका कष्ट न कीजिये। आप त्यागी-तपस्वी हैं। अत दूसरा स्थान उपलब्ध करनेमे आपको कठिनाई नही है। यहाँ रहकर व्यर्थ प्राण मत दीजिये। जो इस यक्षके फँदेमे फँस जाता है, वह जीवित नही जा सकता।

लोगोने यक्षके भय और आतकको अनेक घटनाएँ सुनायी तथा इस प्रकारके दृश्य उपस्थित किये, जिनसे कोई भी विचलित हो सकता था।

महावीर साहस और शूर-वीरताकी मूर्त्ति थे। उन्होने सोचा कि "सम्यक् दृष्टिको न कोई भय है और न कोई भयजन्य किसी प्रकारकी पीड़ा ही। मैं तो इसी चैत्यमे रहकर चातुर्मास व्यतीत करूँगा और ध्यान द्वारा सभी प्रकारके उपसर्गोंको जीतूँगा।" महावीर कायोत्सर्ग-मुद्रामे ध्यानस्थित हो

गये। जब आधी रात्रिका समय व्यतीत हुआ और यक्षने देखा कि एक नग्न सन्यासी उसके चैत्यमे निर्भय होकर ध्यानारूढ है तो उसका क्रोध बढ गया और वह नाना प्रकारके रूप बना-बनाकर महावीरको असह्य और असख्य यातनाएँ देने लगा। पर महावीरपर इन सबका कुछ भी प्रभाव नही पडा। उसने अपशब्दोके साथ मार-पीट भी की, पर अन्तमे हताश हो वह तीर्थंकर महावीरके चरणोमे गिरकर क्षमा-याचना करने लगा और स्तुति करता हुआ अन्तर्हित हो गया।

बताया जाता है कि उपसर्गके दूर होनेपर तीर्थंकर महावीरको रात्रिके अन्तिम प्रहरमे कुछ क्षणके लिये नीद आयी और इसी समय उन्होने कुछ स्वप्न देखे। इसके पश्चात् तो महावीर समस्त जीवन भर जागृत ही रहे और बारह वर्षोके तपश्चरणमे एक क्षणको भी न सोये।

महावीरका अनुपम साहस और त्याग अतुलनीय था। उनकी अनवरत साधना द्वारा कर्मपाश शिथिल हो रहे थे। अविचल तपने कर्मकी शृखलाओंको जर्जर कर दिया था। महावीरका रोम-रोम एक दीप्त आत्म-ज्योतिका सिंहासन बना हुआ था। चारो ओर एक प्रभामण्डल उनके भावी तीर्थंकरत्वका तूर्य-नाद कर रहा था।

अपने इस प्रथम चातुर्मासमे महावीरने पन्द्रह-पन्द्रह दिनके आठ अर्द्धमासी उपवास किये और पारणाके लिये केवल आठ बार उठे।

बताया जाता है कि तीर्थंकर महावीरके निमित्तसे शूलपाणि-यक्षके शान्त हो जानेके कारण अस्थिग्रामका नाम वर्द्धमाननगर रख दिया गया, जो आज भी 'वर्दवान'के नामसे पश्चिम बगालमे प्रसिद्ध है। महावीरकी साधना अनुपम थी। उन्होने एक वर्षके साधना-कालमे ही अनेक ऋद्धि-सिद्धियाँ प्राप्त कर ली थी।

द्वितीयवर्षकी साधना सर्पोद्‌बोधन

प्रथम चातुर्मास समाप्त कर महावीरने अस्थिग्रामसे विहार किया और वे मोराकसन्निवेश पहुँचे। वहाँ कुछ दिन तक ठहर कर उन्होने वाचलाकी ओर प्रस्थान किया। जब वे मार्गमे कुछ आगे बढे तो गाय चरानेवाले ग्वालोने उनसे प्रार्थना की कि "यह मार्ग निरापद नही है। इसमे भयकर एक दृष्टिविष नामक सर्प रहता है। वह पथिकोको अपने दृष्टिविषसे मार डालता है। उसके विषैले फूत्कारसे आकाशमे उडते पक्षी भी धरतीपर आ गिरते हैं।

इतना ही नही उसके तीव्र विपके कारण आस-पासके वृक्ष और लताएँ भी सूख कर ठूँठ बन चुकी है।"

इस समस्त सन्दर्भको सुनकर महावीरने विचार किया कि "एक ओर चडकौशिक है, तो दूसरी ओर निरन्तर हो रही विनाश-लीला है। अत उन्होने निश्चय किया कि इस चडकौशिक या दृष्टि-विपको उदबोधित कर सन्मार्ग पर लगाना आवश्यक है। इस विषधरके विपको अमृतमे परिवर्तित करना मेरा काम है।" अतएव महावीर निर्भय होकर वनके उसी मार्गसे विहार करने लगे। जिसमे नागराज दृष्टिविप निवास करता था। दृष्टिविपने तीर्थकर महावीरको ज्यो ही देखा, फुफकार मारने लगा, विपकी ज्वालाएँ उगलने लगा। महावीर उसके विलके पास ही स्थिर और अडिग होकर खडे रहे। नागराजने देखा कि फुफकारका प्रभाव नही पड रहा है, तो उसने महावीरके पैरके अगूठेको जोरसे डँस लिया। उसे अनुभव हुआ कि इस व्यक्तिके रक्तमे रक्तका स्वाद नही, अपितु दुग्धका स्वाद आ रहा है। उस सर्पने कई बार महावीरको डसा, पर महावीर अविचल भावसे ध्यानस्थ रहे।

दोनो ओरसे बहुत समयतक सघर्ष चलता रहा। एक ओरसे क्रोधरूप महादानव रह-रहकर विपकी ज्वालाएँ उगलता था, तो दूसरी ओरसे क्षमाकी अमृत-पिचकारी छूट रही थी। दृष्टिविष विपका वमन करते-करते थक गया और पराजित होकर महावीरके चरणोके पास लोटने लगा। प्रभुने अपने क्षमा-अमृतसे उसके विपकी ज्वाला सदाके लिये शान्त कर दी।

दृष्टिविप महावीरके मौनरूपसे सम्बोधित होकर मन-ही-मन विचारने लगा-"वास्तवमे मनुष्यका अहित कषायावेशके कारण ही होता है। मैंने क्रोध-कषायके कारण अपनी कितनी योनियोको यो ही नष्ट किया है। आत्माका सच्चा मगल रत्नत्रयके द्वारा ही सम्भव है। मैने इस महानुभावके पगतलमे कई बार दशन किया है। इसके शरीरसे निकलनेवाला रक्त दूधके समान स्वादिष्ट और मीठा है। इनके मौन सम्बोधनसे मेरा कल्याण सुनिश्चित है।"

दृष्टिविप महावीरका मौन उद्बोधन प्राप्तकर सचेत हुआ और अपना मुख नीचेकी ओर करके कुँएमे लटक गया। उसने फुफकार मारना बन्द कर दिया और सल्लेखना व्रतमे सलग्न हुआ। अन्तमे अहिंसाकी साधना द्वारा दृष्टिविपने अपने देहका त्यागकर सद्गति प्राप्त की।

इस प्रकार महावीर निर्भय हो ग्रामानुग्राम विहार करते हुए श्वेताम्बी नगरीमे पधारे। यहाँके राजा प्रदेशीने भगवानूका स्वागत किया और भक्तिपूर्वक

उनके चरणोकी वन्दना की। राजा प्रदेशी महावीरके दर्शन-वन्दनसे बहुत प्रभावित हुआ और धर्माराधनकी ओर प्रवृत्त हुआ।

सुरभिपुरमे ज्योतिर्विदकी भविष्यवाणी और चक्रवर्तित्वके लक्षण

श्वेताम्बी नगरीसे चलकर महावीरने सुरभिपुरकी ओर विहार किया। कुछ दूर चलनेके अनन्तर मार्गमे गगा नदी मिली। इसे पार करनेके लिए महावीर-को नावपर बैठना पडा। नाव जब नदीके मध्यमे पहुँची, तो भयकर तूफान आया। नाव भँवरमे पडकर चक्कर काटने लगी। तूफानकी तेजीको देखकर सभी यात्रियोको ऐसा अनुभव हुआ कि अब प्राण-रक्षा होना कठिन है। अत. वे 'त्राहि,' 'त्राहि' करने लगे। महावीर नावके एक किनारे बैठे हुए सुमेरुवत् ध्यानस्थ थे। उनके मनमे न किसी प्रकारकी आशका थी और न भयके चिह्न ही। महावीरका साहस अतुलनीय था। तूफानके कारण उठती हुई लहरे शनै शनै शान्त होने लगी। गगाकी प्राय समस्त आकुलित जलराशि स्तब्ध हो गयी।

एकाएक तूफानके शान्त होनेसे नावमे सवार लोगोको ऐसा प्रतीत हो रहा था, मानो किसी चमत्कारी व्यक्तिने जादू कर दिया हो। भयकर तूफानका आना, भँवरोका उठना, नावका डगमगाना, उनका सहसा शान्त हो जाना और नावका तटपर सकुशल पहुँच जाना आश्चर्यकी बात थी। नावमे बैठा जन-समुदाय इसे महावीरका चमत्कार मान रहा था और उनका जयनाद कर रहा था।

महावीर नावसे उतरकर थूणाक-सन्निवेशकी ओर चल दिये। मार्गमे अकित उनके पदचिह्नोको देखकर एक सामुद्रिक-वेत्ता आश्चर्यमे डूब गया और सोचने लगा कि ये चरणचिह्न तो किसी चक्रवर्तीके ही हो सकते हैं। अत वह उन पदचिह्नोका अन्वेषण करता हुआ वहाँ पहुँचा, जहाँ महावीर ध्यानस्थ खडे थे। उसने सिरसे पैर तक महावीरपर दृष्टि डाली। वह उनके सर्वाङ्गमे चक्रवर्तीके चिह्न देखकर चिन्तामे पड गया। वह सोचने लगा "इस महापुरुषमे चक्रवर्तीके सभी शुभ लक्षण विद्यमान है। शंख, चक्र, गदा आदि चिह्नोके साथ हाथकी ऊर्ध्व रेखाका उन्नत होना एव गुरु और भौमके पर्वतोका समतल रूपमे उत्कृष्ट होना चक्रवर्तित्वका सूचक है। इस महापुरुषमे ऐसा एक भी लक्षण कम नही है, जिससे इसे चक्रवर्ती न माना जाय। निमित्त-शास्त्रमे धर्मनेता, चक्रवर्ती एव भाग्यशालियोके जिन लक्षणोका वर्णन मिलता है, वे सभी लक्षण इसमे विद्यमान हैं। क्या कारण है कि यह पुरुष साधु बनकर जगलोमे परिभ्रमण कर रहा है? निमित्तशास्त्रकी दृष्टिसे यह अत्यन्त विचार-णीय है"।

ज्योतिर्विद अपनी इस शकाका समाधान प्राप्त करनेके लिए इधर-उधर

तलाश करने लगा। किसी भद्रपुरुषने बतलाया कि ये अपरिमित लक्षणवाले धर्मचक्रवर्ती तीर्थंकर महावीर हैं। इनके शुभ लक्षणोसे स्पष्ट है कि ये जन-क्रान्तिके नेता, आत्मशोधक और मोक्षमार्गके नेता होगे। ये नाना प्रकारके उपसर्ग और परीषहोके विजेता, इन्द्रिय-निग्रही एव जनकल्याण-कर्ता होगे। सामान्य-चक्रवर्तीकी अपेक्षा इनमे अपरिमित गुणाधिक्य है। वह महावीरका वन्दन-अर्चनकर अपने स्थानको चला गया।

महावीर थूणाक-सन्निवेशसे विहार करते हुए नालन्दा पधारे। वर्षाकाल प्रारम्भ हो जानेके कारण उन्होने वही चातुर्मास व्यतीत करनेका निश्चय किया।

नालन्दा : आत्मशोधन

नालन्दामे एक मासका उपवास स्वीकारकर महावीर ध्यानावस्थित हो गये। उनकी साधना मूक रूपमे चलने लगी। इसी समय वर्षवास व्यतीत करनेके उद्देश्यसे मखली-पुत्र गोशालक वहाँ आया। इसकी महावीरसे भेंट हुई।

उपवासकी अवधि समाप्त होनेपर महावीर चर्याके लिए निकले और वहाँके विजय सेठके यहाँ उनका निरन्तराय आहार हुआ। दानके प्रभावसे नालन्दामे गन्धोदककी वर्षा और पुष्पवृष्टि हुई, सुगन्धित वायु चलने लगी, देवोने दुन्दुभि-वादन किया और 'यह दान आश्चर्यकारी है' की ध्वनि की। नालन्दावासी इन पञ्च आश्चर्योको देखकर महावीरका जयनाद करने लगे। गोशालक भी बहुत प्रभावित हुआ और महावीरको चमत्कारी साधु समझ उनका शिष्यत्व स्वीकार करनेका उसने निश्चय किया।

गोशालकका शिष्यत्व

जब चर्यासे महावीर लौट आये तो गोशालकने उनसे प्रार्थना की कि आप मुझे अपना शिष्य बना लीजिए। महावीरने कुछ भी उत्तर नही दिया और पुन एक मासके उपवासका नियम ग्रहणकर ध्यानस्थ हो गये। उपवास समाप्त-कर पारणाके हेतु नगरमे परिभ्रमण किया तथा आनन्द श्रावकके यहाँ उनकी पारणा हुई। अनन्तर वापस लौटकर उन्होने पुन एक मासका उपवास ग्रहण किया। उपवास समाप्त होनेपर वे पारणाके लिए चले और यहाँ सुनन्द श्रावकके घर उनकी पारणा सम्पन्न हुई।

महावीरने चतुर्थमासके आरम्भमे पुन एकमासका उपवास करनेका सकल्प लिया।

चातुर्मास पूर्ण होते ही महावीरने नालन्दासे विहार किया, वे कोल्लाग-सन्निवेश पहुँचे। महावीरने जब नालन्दासे विहार किया, उस समय गोशालक

भिक्षाके लिए गया हुआ था। भिक्षासे वापस लौटनेपर उसे महावीरके विहार-का समाचार मिला, अत वह उनको तलाश करता हुआ कोल्लाग-सन्निवेश पहुँचा। इसके पश्चात् गोशालक छ चातुर्मासो तक उनके साथ रहा। महावीर मौन रूपमे साधना करते रहे।

तृतीयवर्ष-साधना : विकार-शमन

साधनाका लक्ष्य मोक्ष या निर्वाण-प्राप्ति है। जीवन-मरणके दु खमे मुक्त होना ही साधनाका केन्द्रविन्दु है। इस साधनाके दो रूप हैं–(१) वाह्य साधना, (२) अन्तरग साधना। वाह्य साधनामे शरीर और इन्द्रियोको तपाकर साधित किया जाता है। आन्तरिक साधनामे मनको साधित कर वायुके समान मनकी चचल गतिको वश कर केन्द्रविन्दु आत्मापर स्थिर किया जाता है। साधनाका सम्यक् होना आवश्यक है और सम्यक्का अर्थ है साधनाका आत्मभिमुखी होना। जव साधना आत्माभिमुखी हो जाती है, तव स्व-परका भेदज्ञान प्रकट हो जाता है।

महावीरकी तृतीयवर्ष-सम्वन्धी साधना आत्माकी साधना थी, वे आत्म-विकासका प्रयास कर रहे थे। वे शुभ रूपमे अपने रागका ऊर्ध्वमुखी विकास करते हुए पूर्ण वीतरागी वननेके हेतु प्रयत्नशील थे।

महावीर कोल्लाग-सन्निवेशसे विहार करते हुए ब्राह्मणगाँव पहुँचे। यहाँ-पर महावीरकी पारणा निरन्तराय सम्पन्न हुई, किंतु गोशालकको भिक्षामे वासी भात मिला, जिसे लेनेसे उसने इनकार कर दिया और भिक्षा देनेवाली स्त्रीकी भर्त्सना करते हुए वोला "वासी भात देते हुए तुझे लज्जा नही आती। किसी साधुको कैसी भिक्षा देनी चाहिए, यह भी अभी तक ज्ञात नहीं है। साधुकी साधना भोजनके अभावमे चल नही सकती है, अतएव साधुको पुष्ट और हित-कर अहार देना चाहिए। मैं तुम्हारी अज्ञानतापर पश्चात्ताप कर रहा हूँ और तुम्हे अभिशाप देता हूँ कि आजसे साधुओको शुद्धाहार देना, अन्यथा तुम्हारा नाश हो जाएगा।"

इस प्रकार कहकर भिक्षा विना लिये गोशालक चल दिया। गोशालकने यहाँ रसना-इन्द्रियको जीतनेका सकल्प किया।

ब्राह्मणगाँवसे चलकर महावीर चम्पानगरी गये और तीसरा चातुर्मास यहीपर व्यतीत किया। इस वर्षावासमे महावीरने दो-दो मास उपवास किये। कर्मनिर्जराके हेतु अट्ठाइस मूलगुणोका पालन करते हुए वे आत्म-शोधनमे प्रवृत्त हुए। महावीरके वज्रवृषभनाराच-सहनन और समचतुरस्र-सस्थानका सौंदर्य

द्विगुणित हो गया तथा उनके आध्यात्मिक जीवनकी सुगन्ध अनन्तगुणेरूपमे वृद्धिगत होने लगी। अहिंसा और सत्यकी साधना उत्तरोत्तर निर्मल होने लगी। कषाय-भाव उनकी आत्मासे पृथक् होने लगे। विरोधोके प्रति भी उनके हृदयमे करुणाकी सतत धारा प्रवाहित होने लगी।

मानवताका शृंगार

पथ-भ्रमित होती हुई मानव-सभ्यताको उन्होने सजाया और संवारा। दान, शील, तप और भावरूप चतुर्विध धर्मकी साधना द्वारा मानवताकी प्रतिष्ठा की। उनके जीवनमे किसी भी प्रकारकी गोपनीयता नहीं थी। उनका जीवन पूर्णतया सरल और समरस था। वे अपनी अध्यात्म-शक्तियोका सर्वोत्कृष्ट विकास अपने निजी पुरुषार्थ द्वारा करनेमे सलग्न थे। फलत' उपवास, ध्यान एवं आत्म-चिन्तनकी प्रक्रिया अहर्निश वढ रही थी। महावीरकी साधना राग-द्वेषके जीतनेमें प्रवृत्त थी।

चतुर्थवर्ष-साधना : क्षमाकी आराधना

अनवरत साधनाके फलस्वरूप महावीरने क्षमाका पूर्ण अभ्यास कर लिया और उनके कर्म-पाश शिथिल होने लगे। अविचल तपने कर्म-शृखलाको जर्जरित कर दिया। दीक्षाके चतुर्थ वर्षमे उन्होने अपने तपको और अधिक तेज वनाया। एकाग्रताके कारण उनकी समस्त आकुलताएँ शान्त हो चुकी थी। वे शीत, ग्रीष्म और वर्षामें समानरूपसे तपश्चरण करते हुए आत्म-साधनामे रत थे।

गोशालक : घटित घटनाओके बीच

तपस्वी महावीर चम्पानगरीसे चलकर ग्राम-ग्राम, नगर-नगर घूमते हुए कालायस-सन्निवेशमे पहुँचे। वहाँ पहुँचकर एक खण्डहरमे ध्यानावस्थित हो उन्होने रात्रि व्यतीत की। एकान्त स्थान समझ गाँवके मुखियाका व्यभिचारी पुत्र किसी दासीको लेकर वहाँ व्यभिचार करनेकी इच्छासे आया और व्यभिचार करके वापस जाने लगा। गोशालक इस दृश्यको देख रहा था। अत उससे न रहा गया और उसने उस दुराचारिणी स्त्रीका हाथ पकड लिया।

जव मुखियाके पुत्रने देखा कि गोशालक उसकी प्रेमिकाका हाथ पकडे हुए है, तो उसे गोशालकपर वड़ा क्रोध आया और उसने गोशालककी खूब पिटाई की। महावीर ध्यानावस्थित थे, उनका इस प्रकारकी घटनाओकी ओर ध्यान न था। गोशालक पिटते समय महावीरकी सहायताकी आकांक्षा कर रहा था, पर ध्यानी महावीर अपने आत्म-चिन्तनमे विभोर थे। गोशालक मन-ही-मन

महावीरपर क्रुद्ध हो रहा था और सोचता था कि गुरुका कर्त्तव्य है कि वह कष्टके समय शिष्यकी रक्षा करे। ये गुरु तो मेरा कुछ भी उपकार नही करते। न तो भोजन-चर्यामे इनसे सहायता मिलती है और न अन्य किसी संकटके समय ही। अतएव इस प्रकारके गुरुका त्याग कर देना ही श्रेयस्कर है।

गोशालकका मन महावीरसे वगावत कर रहा था, पर सकोच और लज्जावश उनका साथ छोडनेमे भी असमर्थ था।

दूसरे दिन महावीरने कालायस-सन्निवेशसे पत्रकालयकी ओर विहार किया। यहाँ पहुँचकर महावीर एकान्त स्थानमे ध्यानारूढ़ हो गये और उन्होने-सामायिकव्रत ग्रहण कर लिया। वे सोचने लगे "जीव और पुद्गल भिन्न भिन्न द्रव्य हैं। अनादिकालसे इनकी विजातीय अवस्थारूप वन्धावस्था हो रही है। इसीसे यह आत्मा नाना योनियोमे परिभ्रमण करती हुई परका कर्त्ता वनकर अनन्त ससारी हो रही है। वन्धावस्थाका जनक आस्रव है। यह आस्रव मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय और योगरूप है। पुद्गल-कर्मोंके विपाक-कालमे जो जीवके राग-द्वेष-मोहरूप अज्ञानमय भाव होते हैं, वे ज्ञानावरणादि कर्मोंके आनेमे निमित्त हैं। वे ज्ञानावरणादि कर्मपुद्गल जीवके राग-द्वेष-मोहरूप अज्ञानमय भावोंके निमित्त हैं। इस तरह पुद्गलकर्म और जीवके राग-द्वेषादि अशुद्ध भावोमे निमित्त-नैमित्तिकभाव वना चला आ रहा है। अतएव निमित्तके हटानेमें सम्पूर्ण पुरुषार्थ करना है, जिससे नैमित्तकों (राग-द्वेषादि अशुद्ध भावो) की परम्परा समाप्त होकर सम्यग्दर्शनादि शुद्ध भावोकी ही सदा परम्परा चले। यत सम्यग्दृष्टिके आस्रव और वन्ध नही हैं, अत ज्ञानी जीवके अज्ञानभावोकी अनुत्पत्ति है।"

महावीर आत्म-चिन्तनमे सलग्न थे कि पहले दिन कालायस-सन्निवेशमे घटित घटनाकी यहाँ भी पुनरावृत्ति हुई। प्रेमिकाका हाथ पकड़नेके कारण गोशालक यहाँपर भी पीटा गया और उसकी वुरी अवस्था की गयी।

निर्ग्रन्थता कल्याणका मार्ग

पत्रकालयसे चलकर महावीरने कुमाराक-सन्निवेशकी ओर विहार किया। यहाँपर चम्पक-रमणीय उद्यानमे महावीर ध्यानारूढ हुए और सामायिकमे प्रवृत्त हो गये। इस उद्यानमे कुछ साधु ठहरे हुए थे, जो वस्त्र और पात्रादि रखते थे।

गोशालकने इन साधुओसे पूछा "आप किस प्रकारके साधु हैं, जो वस्त्रादि रखते हैं?"

साधु "हम निर्ग्रन्थ है?"

गोशालक "इतना परिग्रह रखनेपर आप कैसे निर्ग्रन्थ माने जा सकते है? मालूम पडता है कि अपनी आजीविका चलानेके लिए आप लोगोने ढोग रच रखा है। निर्ग्रन्थत्व और परिग्रहत्वका तो शाश्वतिक विरोध है। आप लोग देखिए, सच्चे निर्ग्रन्थ तो हमारे धर्माचार्य हैं, जिनके पास एक भी वस्त्र और पात्र नही है। निर्ग्रन्थ सर्वपरिग्रहके त्यागी होते हैं, इनके पास तिल, तुषमात्र भी परिग्रह नही रहता। हमारे गुरु महावीर साक्षात् त्याग-तपस्याकी मूर्त्ति हैं। इनका आदर्श ही साधुओके लिए अनुकरणीय हो सकता है।"

इस प्रकार सग्रन्थ साधुओकी भर्त्सना कर गोशालक महावीरके पास आया और सग्रन्थोके साथ हुई चर्चा-वार्ताका उल्लेख किया। पर महावीर तो आत्म-चिन्तनमे रत थे। उन्हे इन बातोसे क्या मतलब? उनके लिए तो आत्म-साधना मुख्य थी और अन्य सब गौण। अत निराकुल साधनाकी वृद्धि करनेमे महावीर सतत प्रवृत्त रहते थे।

इस प्रकार चतुर्थ-वर्ष कठोर तपश्चरण और आत्मानुसधानमे व्यतीत हुआ।

साधना और शमामृत

महावीर कुमाराक-सन्निवेशसे चलकर चोराक-सन्निवेश गये। इस सन्निवेशमे पहरेदार चोरोके भयसे अत्यन्त सतर्क रहते थे। किसी भी अपरिचित व्यक्तिको इस ग्रामकी सीमामे प्रविष्ट नही होने देते थे। जब महावीर इस ग्रामकी सीमामे पहुँचे तो पहरेदारोने उनका परिचय जानना चाहा, किन्तु महावीर मौन थे, उन्होने अपना परिचय प्रकट नही किया। इसपर आरक्षकोको सन्देह हुआ और उन्होने उनको चोरोका गुप्तचर समझकर पकड़ लिया तथा नाना प्रकारके कष्ट दिये। कष्ट सहन करते हुए भी महावीर अडिग थे। उनके हृदयमे शान्ति और समताका अमृत चू रहा था।

आरक्षक महावीरको जितनी अधिक ताडना देते, महावीर उतने ही अधिक प्रसन्न दिखलायी पडते। समताभावपूर्वक कष्ट सहन करनेसे कर्मोकी प्रकृतियाँ नष्ट हो रही थी। इनके मनमे न किसीके प्रति राग था और न द्वेष ही। वीतरागताका अनुभव करते हुए आनन्दित हो रहे थे।

अचानक सोमा और जयन्ती नामक परिव्राजिकाओको महावीरका परिचय प्राप्त हुआ। वे दोनो घटनास्थलपर पहुँची और आरक्षकोको समझाती हुई कहने लगी "देवानुप्रिय! तुम इन्हे नही जानते, ये धर्मचक्रवर्त्ती सिद्धार्थपुत्र महावीर हैं। अपनी साधनाको सफल करनेके लिए मौनरूपसे विचरण कर रहे हैं। जब कोई इन्हे कष्ट पहुँचाता है, तो ये शमामृतका पान करते हैं।

ये जितेन्द्रिय और सयमी हैं। वज्रवृषभनाराच-सहनन होनेके कारण इनकी सहनशक्ति अपार है। इन जैसा त्यागी संन्यासी कोई दूसरा नही। आप लोग इन्हे कष्ट देकर पापका वन्ध कर रहे हैं। न ये स्वय चोर हैं, न चोरोंके गुप्तचर ही हैं। अत आप इनको छोड दीजिये और अपने किये गये अपराधोंके लिये क्षमा-याचना कीजिये।"

आरक्षकोंने महावीरको वन्धन-मुक्त कर दिया और उनके चरणोमे गिरकर क्षमा याचना की।

वीतरागी महावीरने चोराक-सन्निवेशसे विहार किया और पृष्ठचम्पामे पहुँचे। यहीपर इन्होंने चतुर्थ वर्षावास व्यतीत किया। इस चातुर्मासमे महावीरने पूरे चार मासका उपवास रखा और अनेक योगासनो द्वारा तपश्चरण किया। चातुर्मास समाप्त होते ही पारणाके हेतु कयगलाकी ओर विहार किया।

पञ्चमवर्ष-साधना : कयंगलामे घटित घटनाएँ

तीर्थंकर महावीर निराकुल भावसे क्षुधा-तृषाके परिषह सहन करते हुए आत्मामृतका पान कर तृप्त होते थे। एकाग्रता और ध्यानके कारण उनके रोम-रोमसे आत्म-ज्योति प्रस्फुटित हो रही थी। वे कयगलाके वाहरी उद्यानमे स्थित एक देवालयमे ठहरे। उसके एक भागमे स्थित होकर कायोत्सर्ग कर ध्यानस्थ हो गये। सयोगवश उस देवालयमे रात्रि-जागरण करते हुए कोई धार्मिक उत्सव मनाया जा रहा था। अत सन्ध्याकालसे ही नगरके स्त्री-पुरुष एकत्र हो गये। गायन-वादन और नृत्यकी योजना की गयी। देवालयमें शोरगुल होने लगा और वहाँका शान्त वातावरण अशान्तिमे परिणत हो गया।

गोशालकको देवालयका यह धूम-धड़ाका अच्छा नही लगा और वह उन-लोगोकी निन्दा करने लगा। महावीर तो समत्वकी साधना करते हुए आत्म-ध्यानमे लीन रहे। उन्हे आज समायिकमे इतना आनन्द आया कि वे तन-वदन-की सुध भूल गये। ग्रामवासियोने गोशालक द्वारा जव अपनी निन्दा सुनी, तो वे क्रोधसे आग ववूला हो गये और उन्होने उसी समय गोशालकको देवालयसे निकाल वाहर किया। गोशालक रातभर वाहर शीतसे काँपता रहा और ग्राम-वासियोको गालियाँ वकता रहा। वस्तुत कयगलामे कुछ पाखण्डी निवास करते थे, जो सपत्नीक और आरम्भ-परिग्रही थे। इन्ही लोगोने धार्मिक उत्सवकी योजना की थी। इस उत्सवमे गायक और वादक भी दूर-दूरसे एकत्र हुए थे। गोशा-लककी अवस्था शीतके कारण विगडती जारही थी और वह वडवडता हुआ शीतजन्य वाधाको सहन कर रहा था। उपस्थित व्यक्तियोमेसे किसीको उसपर दया आयी और वह वोला "यह देवार्यका सेवक है। इसे कष्ट पहुँचाना उचित

नही। यह सत्य है कि यह क्रोधी है, असहिष्णु है और चचल है। इसे अपने कियेका पर्याप्त फल मिल चुका है। अतएव अब इसे वापस भीतर बुला लेना चाहिये और जोर-जोरसे वाद्य बजाने चाहिये, जिससे इसकी बडबडाहट सुनायी न पड़े।"

किसी प्रकार गोशालकको त्राण मिला और उसने रात्रिका अवशेष भाग व्यतीत किया। महावीर तो ध्यानस्थ थे ही; आत्मानन्दकी अनुभूति होनेके कारण उन्हे बाह्य परिवेशका बोध न था।

अग्निकृत उपसर्गजय

प्रात काल होते ही महावीरने कयगलासे श्रावस्तीकी ओर विहार किया। चर्याका समय होने पर गोशालकने नगरमे प्रवेश करनेको कहा। यहाँ चर्याके समय ऐसी घटना घटित हुई, जिससे गोशालकको विश्वास होगया कि "भवितव्यता दुर्निवार है।"

शनै-शनै. घटनाएँ इस प्रकार घटित होरही थी, जिससे गोशालकको नियतिवादपर अटूट विश्वास होता जारहा था।

श्रावस्तीसे तीर्थंकर महावीर हलद्दुयग्रामकी ओर चले। वे नगरके बाहर एक वृक्षके नीचे ध्यान-स्थित होगये। रात्रिमे वहाँ कुछ यात्री ठहरे हुए थे और उन्होंने शीतसे बचनेके लिये अग्नि जलायी थी। प्रात काल होनेके पूर्व ही यात्री तो चले गये, पर आग बढती हुई महावीरके पास जा पहुँची, जिससे उनके पैर झुलस गये। महावीरने यह वेदना शान्तिपूर्वक सहन की और आगके बुझ जानेपर उन्होंने नगला गाँवकी ओर विहार किया। यहाँ गाँवके बाहर महावीर तो वासुदेवके मन्दिरमे ध्यानस्थ हो गये, पर वहाँ खेलनेवाले लडकोको गोशालकने डरा-धमका दिया। लडके गिरते-पडते घरोकी ओर भागे और उन्होंने अपने अभिभावकोसे जाकर गोशालककी घटना निवेदित कर दी।

अविभावक क्रोधाभिभूत हो गये और उन्होने वहाँ आकर गोशालकको खूब पीटा। महावीर तो ध्यानस्थ थे, उन्हे इस घटनाकी कोई भी जानकारी न थी। पिटता हुआ गोशालक अविभावकोको तो बुरा-भला कह ही रहा था, पर महावीरको भी कायर और डरपोक समझने लगा। वह महावीरकी सहनशीलताको समझ नही पा रहा था। उनकी सिंहवृत्तिका उसे यथार्थ बोध न था।

नगलासे विहारकर महावीर आवर्त्तग्राम पहुँचे और वहाँ नगरसे बाहर वने बलदेवके मन्दिरमे रातभर ध्यानस्थ रहे। दूसरे दिन वहाँसे प्रस्थान कर वे

चोराक-सन्निवेश पहुँचे और वहाँ भी नगरके बाहर उद्यानमें सर्वसावद्यका त्याग-कर सामायिक करने लगे। महावीरकी साधना उपवासपर्वके रूपमें चल रही थी, पर गोशालक भिक्षाचर्याके लिये नगरकी ओर चला। नगरवासियोंने उसकी वेश-भूषासे उसे गुप्तचर समझा और उसकी खूब मरम्मत की।

सन्देहजन्य उपसर्ग

चोराक-सन्निवेशसे महावीर जब कलम्बुका-सन्निवेशकी ओर जा रहे थे, तो मार्गमे सीमा-रक्षकोने उनसे पूछा कि तुम लोग कौन हो? मौन साधक महावीरने तो कुछ भी उत्तर नही दिया और गोशालक सोचने लगा कि मैं उत्तर देते ही पीटा जाऊँगा और अब पिटते-पिटते मेरी अवस्था बहुत खराब हो रही है, अतएव महावीरकी तरह मौन रहना ही मेरे लिये भी श्रेयष्कर है।

सीमा-रक्षकोको उन दोनोपर सन्देह उत्पन्न हो गया और उन्हे शत्रुका गुप्तचर समझा। फलत उन दोनोको पकड़कर वे नगराधिपतिके पास ले गये। रहस्य अवगत करनेकी दृष्टिसे सीमा-रक्षकोने उन्हे नानाप्रकारकी यातनाएँ दी।

जब महावीर नगराधिपतिके समक्ष पहुँचे, तो उसने महावीरको पहचान लिया और बन्धन-मुक्त कर वह बोला "प्रभो! क्षमा कीजिये। आपको न पहचाननेके कारण ही यह अपराध हुआ है। आप त्यागी-सयमी श्रमण है। जन-कल्याणके लिये ही आपने राजसिंहासनका त्याग किया है। मेरे अहोभाग्य हैं कि मैं आपका दर्शनकर कृतार्थ हो रहा हूँ। मेरे सेवकोने जो आपकी अवमानना की है, उसके लिये मुझे पश्चात्ताप है। प्रभो! आपकी साधना सफल हो।

अनार्यदेश-विहार

अभी प्रचुर कर्मोंका क्षय करना अवशिष्ट था। कर्म-निर्जराके हेतु साधना-को और अधिक तीव्रता प्रदान करनी थी। अतएव तपस्वी महावीरने अनार्य-देशोकी ओर विहार करनेका विचार किया। यत इन देशोमे उपसर्ग और परीषह सहन करनेके लिये अनेक अवसर आते हैं। उपादानमे प्रबल शक्तिके रहनेपर भी निमित्त कर्मनिर्जरामे सहायक होता है। महावीर इस तथ्यसे अवगत थे कि शत्रु-मित्रमे समताभाव रखनेकी परीक्षा विपरीत परिस्थितियोमे ही सम्भव होती है। विपरीत परिस्थितियोसे युद्ध करना सामान्य बात नही। अतएव विरोधी परिस्थितियोमे अविचलित बना रहना ही साधनाकी सफलता

है। इस प्रकार विचारकर महावीरने लाढ देशकी ओर विहार किया। यहाँपर अनार्यों द्वारा की जानेवाली अवहेलना, निन्दा, तर्जना और ताडना आदि अनेक उपसर्गोको सहनकर कर्मो की निर्जरा की। इस देशकी भूमिमे महावीरको निवास करने योग्य स्थान भी नही मिलता था। अत वे ककरीली, पथरीली विपम-भूमिमे ही ठहरते थे। वहाँके लोग उनपर कुत्ते छोड देते तथा और भी नानाप्रकारसे कष्ट पहुँचाते थे। आहार भी बडी कठिनाईसे उपलब्ध होता था। अतएव महावीरको कई दिनो तक लम्बा उपवास रखना पडता था। जब वे वहाँसे लौट रहे थे, तो मार्गमे उन्हे दो चोर मिले, जो अनार्य-भूमिमे चोरी करने जा रहे थे। महावीरके दर्शनको उन्होने अपशकुन समझा और भविष्यमे आनेवाली विपत्तियोका अनुमान किया। अतएव इस अपशकुनको निष्फल करनेके विचारसे उन्होने महावीरपर आक्रमण किया। महावीर समताभावपूर्वक उपसर्गको सहन करते रहे। उनकी साधनाने चोरोके आक्रमणको कुण्ठित कर दिया।

आर्य-प्रदेशमे पहुँचकर महावीर मलयदेशमे विहार करते रहे और उन्होने अपना पञ्चम वर्पावास मलयकी राजधानी भद्दिलनगरीमे सम्पन्न किया। इस चतुर्मासमे महावीरने अनशनादि तप करते हुए विविध आसनो द्वारा ध्यान किया। चातुर्मास समाप्त होनेपर वे भद्दिलनगरीसे पारणाके हेतु बाहर निकले और कयलि-समागमकी ओर विहार किया। वस्तुत महावीरने इस पचम चातुर्मासमे भी चार महीनेका उपवास ग्रहण किया था और अनन्तर नगरीके वाहर उनकी पारणा हुई थी।

षष्ठवर्ष-साधना उपसर्ग-पर-उपसर्ग

महावीर कयलि या कदली-समागमसे जम्बूखण्ड गये और वहासे तम्बाय-सन्निवेशकी ओर प्रस्थान किया। ग्रामके बाहर सामायिक ग्रहणकर महावीर ध्यानस्थ हो गये। यहाँ पार्श्वसन्तानीय नन्दीपेण आचार्य रात्रिमे किसी चौराहे-पर ध्यान कर रहे थे। कोट्टपालका पुत्र पहरा देता हुआ उस चौराहेपर पधारा और नन्दिषेणको उसने चोर समझकर भालेसे मार डाला। गोशालकने इस घटनाकी सूचना नगरमे दी और वह भ्रमण करता हुआ महावीरके पास लौट आया। गोशालककी चर्चा पार्श्वापत्य अनगारोसे भी हुई और उसने मुनि आचार-विचारकी रूपरेखा प्रस्तुत की।

तम्बाय-सन्निवेशसे तीर्थंकर महावीर कूपिय-सन्निवेश गये। यहाँपर आपको गुप्तचर समझकर राजपुरुषोने पकड़ लिया और उनसे उनका परिचय जानना चाहा। जब महावीरने कुछ भी उत्तर नही दिया और वे मौन रूपमे स्थित रहे,

तब राजपुरुषोको उनपर और अधिक आशंका हुई। महावीर जैसे-जैसे अपनी सहनशीलता दिखलाते जाते थे, वैसे-वैसे राजपुरुष उन्हे कष्ट देते जाते थे।

महावीरके बन्दी बनाये जानेकी घटना नगरमे व्याप्त हो गयी। अत विजया और प्रगल्भा नामक दो परिव्राजिकाएँ तुरन्त घटना स्थलपर पहुँची। उन्होने महावीरको पहचानकर राजपुरुषोसे कहा- "क्या तुम लोग सिद्धार्थ-राजकुमार अन्तिम तीर्थंकर महावीरको नही पहचानते? महावीरकी साधना-से मनुष्योकी तो बात ही क्या, देव-दानव भी प्रभावित हैं। ये तीर्थंकर-प्रकृति-धारी निर्ग्रन्थ महावीर हैं। इनकी उग्र तपश्चर्यासे इन्द्रादि भी अत्यन्त प्रभावित हैं। महावीर स्वावलम्बनके धनी हैं। इन्हे स्वय अपनेपर विश्वास है। अतएव ये किसी परोक्ष शक्तिकी सहायता नही चाहते हैं।"

परिव्राजिकाओके इस कथनको सुनकर राज्याधिकारी कॉप उठे। उन्हे अपनी अज्ञानजन्य भूलका अनुभव हुआ और वे क्षमा-प्रार्थना करते हुए कहने लगे "प्रभो! अज्ञान और प्रमादसे ही अपराध होते हैं। हमने आपकी जो अवमानना की है, उसके मूलमे अज्ञान ही है। आप दयामूर्ति हैं और क्षमाके धनी हैं। अतएव हम लोगोके अपराधको क्षमा कर दीजिये।"

महावीरने मौन रहकर उन राजपुरुषोको क्षमा कर दिया और वे पुन. निर्द्वन्द्वभावसे विहार करने लगे।

कूपियसे महावीरने वैशालीकी ओर विहार किया। गोशालक यहाँसे महा-वीरके साथ नही गया और उनसे बोला "भगवन्! न तो आप मेरी रक्षा करते हैं और न आपके साथ रहनेमे मुझे किसी प्रकारका सुख मिलता है। प्रत्युत कष्ट ही भोगने पडते है और भोजनकी भी चिन्ता बनी रहती है। अत-एव अब मै आपके साथ नही चल सकूँगा।" यह कह कर गोशालक राजगृहकी ओर चला गया। महावीर शान्त और मौनभावसे गोशालकका कथन सुनते रहे। वे वैशाली पहुँचकर एक कम्मारशाला लोहारके कारखानेमे ध्यान-स्थित हो गये। दूसरे दिन कम्मारशालाका स्वामी लोहार वहाँ आया। वह छह महीनेकी लम्बी बीमारीसे उठा था। जब कारखानेमे कामपर गया, तो पहले-पहल नग्न दिगम्बर व्यक्तिके दर्शनको अमगल और अशुभ समझा। अतएव वह हथौडा लेकर महावीरको मारनेके लिये दौड़ा। इसी समय सयोगवश कोई भद्र पुरुष आ गया और उसने तीर्थंकर महावीरका परिचय उस लोहारको दिया।

विमेलक यक्षका चिन्तन

वैशालीसे चलकर महावीर ग्रामाक-सन्निवेशकी ओर आये। यहाँके उद्यान-मे विमेलक यक्षका चैत्य था। यक्षके कार्योका आतंक सर्वत्र व्याप्त था। महा-

वीरने यक्षके चैत्यमे सामायिक ग्रहण किया और आत्म-स्थित हो गये। यक्षपर महावीरकी शान्त और सौम्य मुद्राका बहुत प्रभाव पड़ा और वह उनकी स्तुति करने लगा।

महावीर ग्रामाकसे शालिशीर्ष पधारे और वहाँके उद्यानमे कायोत्सर्ग करने लगे। माघका मास था। कडाकेकी सर्दी पड़ रही थी और तीर्थंकर महावीर दिगम्बर-मुद्रामे ध्यानस्थ थे। इस समय महावीरके चारो ओर दिव्य कान्तिपुञ्ज अवस्थित था। उनके रोम-रोमसे शान्तिका प्रवाह निकल रहा था।

कटपूतनाका उपसर्ग : असंख्यातगुणी कर्मनिर्जरा

इसी समय वहाँ कटपूतना नामक एक व्यन्तर देवी आयी और तीर्थंकर महावीरकी इस शान्त मुद्राको देखकर द्वेषसे जल उठी। क्षणभरमे उसने परि-व्राजिकाका वेश धारण किया और बिखरी हुई जटाओमे पानी भरकर महावीरके ऊपर छिड़कने लगी तथा उनके कंधोपर चढ़कर प्रचण्ड हवा करने लगी।

भयंकर शीतऋतु, जलवर्षा और तीक्ष्ण पवनने इस समय भीषण और असाधारण उपसर्ग उपस्थित किया। महावीर मौन भावसे साधनामे सुमेरुवत् दृढ रहे। कटपूतना महावीरकी अपराजित वीतरागताके सम्मुख नतमस्तक हो गयी। उसने अपना पराजय स्वीकार किया और महावीरकी तपश्चर्याकी प्रशसा करते हुए उनके चरणोका वन्दन किया।

महावीरका जीवन तपोमय था। वे दुर्लंघ्य पर्वत, अन्धकारपूर्ण गुफाओ, निर्जन नदी-तट, बीहड वन एव सुनसान श्मशान भूमिमे आत्म-साधना करनेमे तत्पर रहते थे। वास्तवमे महावीरका आत्म-परिष्करण अद्भुत था। वे मोह-भगके हेतु समस्त पदार्थोसे आसक्ति तोडनेमे संलग्न थे। सार्वभौम समत्व ही उनका आधार था। उनके समक्ष सिंह-मृग, मयूर-सर्प, मार्जार-मूषक जैसे अन्तर्विरोधी भी शान्त थे। वीतरागताके प्रभावने उनकी जन्मजात शत्रुताको समाप्त कर दिया था। सर्वत्र प्रेम, शान्ति और सौख्यका साम्राज्य व्याप्त था।

शालिशीर्षसे महावीरने भद्दिया नगरीकी ओर विहार किया और वही छठा वर्षावास ग्रहण किया। महावीरने चातुर्मासभरका उपवास-व्रत किया और अखण्डरूपसे आत्म-चिन्तनमे निरत रहे।

गोशालक भी छह महीने तक अकेला भ्रमण करता हुआ शालिशीर्षमे महावीरसे आ मिला। महावीरने चतुर्मास समाप्त होनेपर भद्दिया नगरीके बाहर पारणा ग्रहण की और वहाँसे उन्होने मगध-भूमिकी ओर विहार किया।

सप्तमवर्ष-साधना : आत्म-दर्शन

आत्म-साधक योगीश्वर तीर्थंकर महावीर क्षुधा-तृषा, शीत-उष्ण आदि परीषहोको सहन करते हुए आत्म-दर्शनकी ओर उन्मुख हुए। उन्होने निश्चय किया कि आत्माके शुद्ध स्वरूपको समझे विना साधककी साधना सफल नही हो सकती है। मानव-जीवनका सर्वोच्च लक्ष्य मुक्ति प्राप्त करना है। मुक्ति भव-बन्धनोसे विमुक्त होनेका नाम है। इसके लिये तत्त्वज्ञानकी नितान्त आवश्यकता है। जबतक कर्मका आवरण है, तबतक साधकके जीवनमे पूर्ण प्रकाश प्रकट नही हो पाता है। अत भीतरके प्रसुप्त ज्ञान एव विवेकको जागृत करनेकी आवश्यकता है। मोक्ष जीवनकी पवित्रताका अन्तिम परिपाकरस और लक्ष्य है। विवेक एव वैराग्यकी साधना करते हुए कदम-कदमपर साधकके बन्धन टूटते रहते है और मोक्षकी प्राप्ति होती है।

मानव सदा परस्परके प्रतिशोध और विद्वेषके दावानलमे झुलसता रहता है। यही कारण है कि वह आत्म-बोध, आत्म-सत्य अथवा आत्म-ज्ञानको प्राप्त नही कर पाता है। जब तक व्यक्ति विश्वकी समग्र आत्माओको समान भावसे नही देखता, तब तक उसे आत्म-दर्शन नही हो पाता है। यह आत्म-दर्शन कही बाहरसे आनेवाला नही है, यह तो हमारी आत्माका धर्म है, हमारी चेतनाका धर्म है, एव शाश्वत तत्त्व है। हमे जो कुछ पाना है, वह कही बाहर नही है, वह स्वय हमारे भीतर स्थित है। आवश्यकता है केवल अपनी आत्म-शक्तिपर विश्वास करनेकी, विचार करनेकी और उसे जीवनकी धरतीपर उतारनेकी। आत्म-दर्शन मनुष्यकी प्रसुप्त शक्तिको प्रबुद्ध करता है, आत्माका पूर्ण विकास करता है और आत्म-स्वरूपका पूर्ण उद्घाटन करता है। अतएव मुझे अपनी साधना द्वारा आत्म-दर्शन करना है। यो तो मैने सामायिकका अभ्यास किया है, पर अभी समग्र आत्म-साधना शेष है। जब तक पूर्ण वीतरागता और निष्कामताकी उपलब्धि नही होती, तब तक मेरी साधना अनवरत रूपसे चलती रहेगी।

नृपतिद्वारा चरण-वन्दन

महावीर शीत और उष्णाकालमे मगधभूमि मे विचरण करते रहे। जब वर्षाकाल निकट आया, तो उन्होने आलम्भिया नगरीमे सप्तम वर्षावास ग्रहण किया। इस वर्षावासमे भी महावीरने चातुर्मासिक तप और विविध योग-क्रियाओं-की साधना की। वर्षावासके समाप्त होनेपर उन्होने पारणाके हेतु कुण्डाक-

सन्निवेशकी ओर विहार किया। इस सन्निवेशमे महावीरने वासुदेवके मन्दिर-मे स्थित हो ध्यान लगाया और कुछ दिनो तक साधना कर मद्दना-सन्निवेशकी ओर विहार किया। यहाँ वे बलदेवके मन्दिरमे ध्यानस्थ हो गये। साधुके अट्ठाईस मूलगुणोका पूर्णतया पालन करते हुए यहाँसे लोहार्गला नामक राजधानी-मे पधारे। यहाँके राजा जितशत्रुपर उन दिनो शत्रुओकी वक्र दृष्टि थी, अतएव राजपुरुष बहुत सावधान रहते थे। कोई भी व्यक्ति अपना परिचय दिये बिना राजधानीमे प्रवेश नही कर सकता था। महावीर और गोशालकके यहाँ पहुँचते ही पहरेदारोने उन्हे रोक दिया और परिचय माँगा। ये दोनो मौन रहे। फलस्वरूप राजपुरुषोने इन्हे बन्दी बना लिया।

जिस समय महावीर और गोशालक राजसभामे लाये गये, उस समय वहाँ अस्थिकग्रामवासी नैमित्तिक उत्पल भी उपस्थित था। महावीरको देखते ही वह खडा हो गया और चरण-वन्दन कर बोला "अरे गुप्तचरो, तुम इन्हे नही पहचानते? ये चौबीसवे तीर्थंकर महावीर है। चक्रवर्तीके लक्षणोसे भी बढकर शारीरिक लक्षण इनमे विद्यमान हैं। इन जैसा तेजस्वी, पराक्रमी, आत्म-द्रष्टा अन्य नही है। आप लोगोने इन्हे बन्दी बनाकर महान् अपराध किया है।

उत्पल द्वारा परिचय प्राप्त करते ही जितशत्रुने महावीर और गोशालकको बन्धन-मुक्त कर दिया और चरण-वन्दन करते हुए उनसे क्षमा प्रार्थना की।

अष्टमवर्ष-साधना : आत्मोदयकी ओर

श्रमण-जीवनका मूलोद्देश्य प्राणियोको श्रेयोमार्गकी ओर प्रवृत्त करना है। यही वह मार्ग है, जिसके द्वारा आत्माको अनन्त एव यथार्थकी उपलब्धि हो सकती है। आत्मा कर्मजालमे आबद्ध होनेसे ही चिरकालतक ससारमे परिभ्रमण करती रहती है। वह अपने शुभाशुभ कर्मके परिणामस्वरूप ही नाना योनियो-मे परिभ्रमण करती है। यथार्थज्ञानके अभावमे वह भौतिक सुखको ही सच्चा सुख मानकर उसीमे यथार्थ आनन्दकी मिथ्या अनुभूति करती है। अतएव भौतिक सुखकी नश्वरता सुनिश्चित होनेपर भी व्यक्ति आत्मोदयसे विमुख रहता है।

ध्यातव्य है कि प्रत्येक आत्मा अनन्त-गुणोका अक्षय अमृतकूप है, जिसका न कभी अन्त हुआ है और न कभी अन्त होगा। विवेकज्योति या आत्मोदय होनेपर आत्मा उस परमात्मा-स्वरूप अमृतरसका पान करने लगती है, जिसे

प्राप्तकर शाश्वत सुख उपलब्ध होता है। आत्मा उस धनकुबेरके पुत्रके समान है, जिसके पास कभी धनकी कमी नहीं होती, चाहे वह अपने उस अक्षय भंडार-का दुरुपयोग ही क्यों न करे।

आत्मोदयका तात्पर्य आत्माके अनन्तगुणोंके विकाससे है। आत्मामें अनन्त-ज्ञान, अनन्तदर्शन, अनन्तसुख और अनन्तवीर्य विद्यमान हैं। इन गुणोंकी अभि-व्यक्ति ही आत्मोदय है। महावीरने अष्टम वर्षकी साधनामें आत्मोदय प्राप्त करनेके हेतु अगणित उपसर्ग सहन किये तथा शीत, उष्ण, क्षुधा, तृषा, दंश-मशक आदि विभिन्न परीषहोंको समतापूर्वक सहन किया। उन्होंने अपने स्वरूपमें रहकर अक्षय आनन्दका अनुसन्धान किया। आत्माके अतिरिक्त विश्वके किसी बाह्य पदार्थमें सुखकी परिकल्पना करना भयंकर भ्रम है। सत् और चित् तो प्रत्येक आत्माके पास व्यक्तरूपमें सदा विद्यमान हैं, पर आनन्द-गुणकी अभिव्यक्तिकी कमी रहती है। अत जो आत्मोदय प्राप्त कर लेता है, वह सच्चिदानन्द बन जाता है।

घोर उपसर्गजय

लोहार्गलासे महावीरने पुरिमतालपुरकी ओर विहार किया। यहाँ नगरके बाह्य उद्यानमें कुछ समय तक निवास किया। यहाँ भी महावीरको अनेक प्रकारके उपसर्ग सहन करने पड़े। वग्गुर श्रावकने यहाँ महावीरका सत्कार किया तथा विभिन्न प्रकारसे उनकी स्तुति की। महावीर मौनरूपमें अपनी साधनामें सलग्न रहे।

पुरिमतालसे उन्नाग, गोभूमि होते हुए महावीर राजगृह पधारे और आठवाँ वर्षावास राजगृहमें ही सम्पन्न किया। इस वर्षावासमें उन्होंने चातुर्मासिक तप एव विविध योगक्रियाओंकी साधना द्वारा आत्मोदय प्राप्त किया।

महावीर आसन-साधनाके साथ आतापना सूर्यरश्मियोंका ताप लेते, शीतको सहन करते और दिगम्बर रहकर आत्म-साधना करते थे। विभूषा एवं परिकर्म शरीरकी सभी प्रकारकी साज-सज्जाओंका त्याग करते थे।

यथाशक्ति इन्द्रियोंके विषयोंसे बचते, क्रोध, मान, माया और लोभसे बचते, मन, वाणी और शरीरकी प्रवृत्तियोंका सयमन करते एव एकान्त स्थानमें ध्यानस्थ होते थे। मनकी सहज चंचलताको ध्यान द्वारा नियन्त्रित करते थे।

अष्टम चातुर्मासके दिनोंमें महावीरने चित्तशुद्धिका पूर्ण अभ्यास किया। उन्होंने भ्रमणशील मनको विषयोंसे पृथक् कर आत्मस्वरूपपर ही केन्द्रित

किया। मन जैसे-जैसे शान्त और निष्कम्प होता गया, त्यो-त्यो स्थिरता बढती गयी।

जब चातुर्मास समाप्त हुआ तो महावीरकी सावधि योग-साधना भी समाप्त हो गयी और पारणाके हेतु उन्होने राजगृहसे विहार किया।

नवमवर्ष-साधना सामायिक-सिद्धि

महावीर विहार करते हुए राजगृहसे लाढ देशकी ओर गये और वहाँसे वज्रभूमि, शुद्धभूमि एव सुम्हभूमि जैसे आदिवासी प्रदेशोमे पहुँचे। यहाँपर महावीरको ठहरने योग्य स्थान भी नही मिला। न यहाँ कोई चैत्य ही ऐसा था, जिसमे रहकर ध्यान कर सके और न ऐसा कोई शून्य मन्दिर ही था, जिसमे सामायिककी सिद्धि कर सकें। अतएव महावीरने ग्राम और नगरके बाहर उद्यानमे खड़े होकर सामायिक किया।

महावीरकी सामायिक-क्रिया आत्मोपलब्धिका साधन थी। दुष्टजन महावीरकी हँसी उडाते, उनपर धूलि-पत्थर फेंकते, गालियाँ देते, अवमानना करते और शिकारी कुत्ते छोडते थे। पर इन समस्त कष्टोको सहन करते हुए भी वे अपने सामायिकमे पूर्णतया तल्लीन रहते। उनके परिणामोमे शान्ति थी। क्रोधादि कषायोका प्रादुर्भाव नही होने देते। प्रतिकल परिस्थितियोमे भी अपनेको नियन्त्रित रखते थे।

उपवास-पर-उपवास

चातुर्मास आनेपर महावीरने एक वृक्षके नीचे नवम चतुर्मास ग्रहण किया। चार महीनेका उपवास स्वीकार कर सामायिककी सिद्धिके हेतु वे कायोत्सर्ग और ध्यानमे प्रवृत्त हुए। इन्द्रिय और मनकी दीवालोको भेदकर आत्माके सान्निध्यमे रहना आरम्भ किया। शरीरकी चचलता और शरीरके ममत्वका पूर्ण विसर्जन किया। प्रवृत्ति और ममत्व ये दोनो शरीर एव मनमे तनाव उत्पन्न करते हैं तथा इन्हीके द्वारा अनेक प्रकारकी शारीरिक एव मानसिक व्याधियाँ उत्पन्न होती हैं। अतएव महावीरने उक्त दोनोका निरोध किया।

महावीर इहलोक-भय, परलोक-भय, अत्राण-भय, आकस्मिक-भय, मृत्युभय आदि सात प्रकारके भयोसे रहित थे। अत दुष्टजनोके उपद्रवका उनके ऊपर कुछ भी प्रभाव नही पडता था। वे जितेन्द्रिय और सामायिक-सयमी थे।

महावीर छ: महीने तक अनार्य भूमिमे भ्रमणकर वर्षाकालके अनंतर आर्य-भूमिमे लौट आये।

दशमवर्ष-साधना : संयमाराधना

संयमका अर्थ है इन्द्रियो और मनका दमन करना तथा उन्हे आत्म-वशीभूत करना और हिंसा-प्रवृत्तिसे बचना। संयम अहिंसारूपी विशाल वृक्षकी एक शाखा है। अहिंसा साध्य है और संयम साधन। संयमके अनुष्ठानसे ही अहिंसाकी साधना सम्भव होती है। संयम दो प्रकारका है इन्द्रिय-संयम और प्राणी-संयम। इन्द्रियो और मनको अपने-अपने विषयोमे प्रवृत्त करनेसे रोककर आत्मोन्मुख करना इन्द्रिय-संयम है और षट्कायके जीवोंकी हिंसाका त्याग करना प्राणी-संयम है। वस्तुत. व्यक्ति, समाज एवं राष्ट्रके जीवनमे सुख-शान्तिका हेतु संयम ही है और इसीके द्वारा अहिंसाकी प्राप्ति होती है। जीवनमें अहिंसाकी प्रतिष्ठा संयमसे ही सम्भव है। अतएव महावीरने अपने दसवे वर्षकी साधनामें संयम और समता-प्राप्तिके लिये पूर्ण प्रयास किया।

महावीर और गोशालकने अनार्यभूमिसे निकलकर सिद्धार्थपुर जाते हुए कूर्मग्रामकी ओर प्रस्थान किया।

तपस्वरूप : परिष्कार

कूर्मग्रामके बाहर वैश्यायन नामक एक तापस तपस्या कर रहा था। वह धूपमे अधोमुख होकर तपस्यामे रत था। इस तपस्वीकी जटाएँ बहुत बड़ी-बड़ी थी और उनमे त्रसजीव विद्यमान थे। गोशालक वैश्यायनके इस दृश्यको देखकर महावीरसे कहने लगा- "प्रभो! इस प्रकारकी तपस्यासे संयमकी प्राप्ति कैसे हो सकती है? और संयमके अभावमे अहिंसाकी साधना सम्भव नही? अत इस तपस्याको आत्म-कल्याणकारिणी कहा जायगा? मुझे तो यह तपस्वी ढोंगी जैसा प्रतीत हो रहा है। इसकी जटाओसे जूएँ गिर रहे हैं। अत इस तपस्याको केवल शारीरिक कष्ट ही माना जा सकता है। आत्म-शुद्धिके लिये तो उपवास, ध्यान, संयम आदिकी आवश्यकता है। तपस्याका अर्थ इच्छा-निरोध है। मनुष्यकी इच्छाएँ अपार, असीम और अनन्त हैं। अतः इच्छाओंकी पूर्ति सम्भव नही है। इच्छापूर्तिके लिये असंयमके पाप-पथपर चलना अनिवार्य होता है।"

"तपोनुष्ठानसे मनुष्य संयमशील बनता है और संयमशीलतासे अहिंसाकी प्रतिष्ठा होती है। जिस व्यक्तिके अन्तरमें अहिंसा, संयम और तपकी त्रिवेणी

प्रवाहित होती है, उसकी आत्मा निर्मल, निष्कलुष और निर्विकार हो जाती है। देव भी उसके चरणोमे नमस्कार कर अपनेको धन्य मानते हैं।"

गोशालक द्वारा इस प्रकार सयमकी व्याख्या सुनकर और इसे अपने ऊपर आक्षेप मानकर वैश्यायनने क्रुद्ध होकर अपनी तेजोलेश्या गोशालकपर छोडी। पर तीर्थंकर महावीरके अहिंसा-प्रभावसे गोशालककी रक्षा हो गयी और वैश्यायनकी तेजोलेश्या व्यर्थ सिद्ध हुई।

गोशालक महावीरका साथ छोडकर श्रावस्ती चला गया और वहाँ आजीवक मतकी उपासिका कुम्हारिन हालाहलाकी भाण्डशालामे रहकर तेजोलेश्याकी साधना करने लगा। गोशालकने छह महीनोकी निरन्तर साधनाके पश्चात् तेज.शक्ति प्राप्त की। इतना ही नही, उसने निमित्तशास्त्रका भी अध्ययन किया। अब वह सुख-दु ख, लाभ-हानि, जीवन-मरण आदि सभी बातोको बतलानेमे निपुण हो गया।

तेज शक्ति और निमित्तज्ञान जैसी प्रभावक शक्तियोने गोशालकका महत्व बढा दिया। उसके भक्त और अनुयायियोकी सख्या प्रतिदिन बढने लगी। साधारण भिक्षु गोशालक अब एक आचार्य बन गया और आजीवक-सम्प्रदायका प्रवर्त्तक कहलाने लगा।

बालकोका उपद्रव और समता

सिद्धार्थपुरसे तपस्वी महावीर वैशाली पधारे। एक दिन वैशालीके बाहर ये कायोत्सर्ग-ध्यानमें स्थित थे। उस समय नगरके बालक खेलते हुए वहाँ आये और महावीरको पिशाच या भूत समझकर सताने लगे। बालकोने महावीरके ऊपर ढेले फेके, गालियाँ दी और अनेक प्रकारसे कदर्थनाएँ की, पर सयमाराधक महावीर अपनी साधनासे विचलित न हुए। उन्होने इस उपसर्गको बडी समता और शान्तिके साथ सहन किया। बालकोका उपद्रव प्रतिक्षण बढता जाता था। वे धूल और मिट्टी भी उनके ऊपर फेक रहे थे। इसी समय राजा सिद्धार्थका मित्र बनराज शख भी अकस्मात् वहाँ पहुँच गया। उसने बालकोके उपद्रवको रोका और स्वय महावीरके चरणोमे गिरकर उनसे क्षमा-याचना की।

कायोत्सर्ग-मुद्रा

वैशालीसे महावीरने वाणिज्य-ग्रामकी ओर प्रस्थान किया और वाणिज्य-ग्राम पहुँचकर ग्रामके बाहर कायोत्सर्ग-मुद्रामे ध्यान आरम्भ किया। संयमकी

साधनाके कारण महावीरको विभिन्न प्रकारकी ऋद्धियाँ प्राप्त होने लगी, पर वे इन सभी ऋद्धियोसे अनासक्त थे। उन्हे प्रत्येक उपसर्गको दूर करनेका सामर्थ्य उपलब्ध था। किन्तु उन्होने कभी भी अपने सामर्थ्यका प्रयोग नही किया। साधक महावीर संयम और उपवासको सिद्धि द्वारा कर्मोकी निर्जरा करना चाहते थे। वे अन्य व्यक्तियोको जीतनेकी अपेक्षा अपनेको जीतना अधिक उपयुक्त मानते थे।

जब वाणिज्यग्रामके निवासी श्रमणोपासक आनन्दको महावीरके पधारनेका पता चला, तो उसने आकर उनकी वन्दना की। वहाँ से विहारकर महावीर श्रावस्ती पधारे और यहीपर उनका दशवाँ वर्षावास सम्पन्न हुआ। गोशालक तो चातुर्मास आरम्भ होनेके पहले ही महावीरका साथ छोडकर चला गया था।

इस दशम वर्ष-साधनाकी उपलब्धि सयमकी सिद्धि थी। वे आत्मसिद्धिके लिये निरन्तर प्रयासशील थे। चैतन्यके ऊर्ध्वगमनकी वृत्तिको ही वे धर्मकी जननी मानते थे।

एकादशवर्ष-साधना : आत्मानुभूति

जीवनकी यात्रामे आत्माकी अमरता ही परमबिन्दु है और यही है जीवनका अन्तिम लक्ष्य, क्योकि इसीको मुक्ति-यात्रा कहा जाता है। आत्माकी अमरता-विभावपरिणतिरहित अवस्था वीतराग हुए विना प्राप्त नही होती। न तो रागी मुक्त होता है और न विरागी ही। दोनो ही ससारके वन्धनमे वन्धते है। वीतरागता रागी और विरागीसे ऊपरकी स्थिति है। रागका अर्थ है रगना या किसी वस्तुमे आसक्त होना। विरागीका अर्थ है रागकी कुछ न्यूनता। रागी आसक्त होता है, तो विरागी कम आसक्त होता है। उसका पूर्णत राग छूटता नही। किन्तु वीतराग इन दोनोसे परे है। उसकी आँखोमे कोई रग नही है, वह पूर्णतया रग-मुक्त है। जो वस्तु जैसी है, वीतरागको वैसी ही दिखलायी पडती है। वीतरागकी दृष्टिमे कोई वस्तु न सुन्दर है और न असुन्दर। यत वीतरागताकी प्राप्ति अमृतकी प्राप्ति है।

महावीरने श्रावस्तीमे चातुर्मास समाप्त कर सानुलट्ठीय-सन्निवेशकी ओर विहार किया। यहाँ इन्होने भद्र व महाभद्र और सर्वतोभद्रतपस्याओको करते हुए सोलह उपवास किये। उपवासके अन्तमे, इन्होने आनन्द उपासकके यहाँ पारणा की और दृढभूमिकी ओर विहार किया। मार्गमे पेढ़ाल उद्यानके चैत्यमे जाकर

तेला उपवास ग्रहणकर एक शिलापर ध्यानस्थित हो गये। महावीरके इस निश्चल और निर्निमेष ध्यानको देखकर लोग प्रशंसा करते हुए कहते कि "ध्यान और धैर्यमे तीर्थंकरका कोई समकक्ष नही है। वे आत्माके अमृतत्व-को प्राप्त करनेके लिये अहर्निश ध्यानकी साधना करते हैं। मनुष्य तो क्या, देव भी उन्हे विचलित नही कर सकते हैं। उपसर्ग और परीषहोका ऐसा विजेता इस कालमे अन्य नही है।"

संगमदेवका परीक्षण और विभिन्न उपसर्ग

संगम नामक देवने विचार किया कि महावीरको ध्यानसे विचलित कर मैं उनकी परीक्षा करूँगा। ऐसा कौन व्यक्ति है, जिसे मैं विचलित न कर सकूँ। मेरे समक्ष किसीका भी धैर्य अटल नही रह सकता है। अत मैं जाकर महावीरको ध्यानसे च्युत करता हूँ। यह निश्चयकर संगमकने पेढाल उद्यानमे स्थित पोलास चैत्यमे जाकर महावीरको ध्यानसे विचलित करनेका उपक्रम किया। उसने विविध प्रकारके कष्टदायक बीस उपसर्ग किये, पर महावीरका हृदय इन उपसर्गोसे रचमात्र भी क्षुब्ध नही हुआ।

पोलास चैत्यसे चलकर महावीरने वालुकाकी ओर विहार किया। वहाँसे सुभोग, सुच्छेत्ता, मलय और हस्तिशीर्ष आदि ग्रामोमे विहार करते हुए तोसलि पहुँचे। संगमकदेवने इन ग्रामोमे भी महावीरको विभिन्न प्रकारके कष्ट दिये। मारनन्ताडनजन्य बाधाएँ पहुँचायी, पर महावीर अपनी साधनामे अविचलित रहे।

एक समय महावीर तोसलि गाँवके उद्यानमे ध्यानारूढ थे। संगमकदेव साधुरूप धारणकर गाँवमे गया और एक भवनमे सेंध लगानेका कार्य करने लगा। ग्रामवासियोने उसे चोर समझकर पकडा और मारने लगे। संगमक कहने लगा "मुझे मत मारो। मैं तो निरीह और निरपराधी हूँ। अपने गुरु-की आज्ञाका पालन करनेके लिये ही मुझे यह कार्य करना पडा है। जैसा गुरु कहते है, वैसा मैं करता हूँ। गुरुका आदेश चोरी करनेके लिये हुआ और मैं यहाँ आकर सेंध लगाने लगा।"

लोगोने पूछा तुम्हारे गुरु कहाँ हैं? और क्या करते हैं? उसने कहा "वे उद्यानमे ठहरे हुए हैं और नेत्र बन्दकर ध्यान कर रहे हैं।"

ग्रामवासी उसके साथ उद्यानमे गये, तो महावीरको संगमकके बताये हुए नियमानुसार ध्यानस्थ देखा। अज्ञानी नागरिकोने चोर समझकर महावीरपर आक्रमण किया और बाधकर नगरमे ले जानेकी तैयारी की। उन लोगोने

महावीरको विभिन्न प्रकारकी यातनाएँ दी। उन्हे मार-पीट और बांधकर नगर-मे ले जाने लगे। महावीर इन सबको सहन करते हुए भी मौन थे। वे पूर्वोदयका कर्म-विपाक समझकर सब कुछ समतापूर्वक सहन कर रहे थे। इसी समय भूतिलक नामक एक इन्द्रजालिक वहाँ आया। वह महावीरको पहचानता था। अत उसने ग्रामवासियोके समक्ष महावीरका परिचय प्रस्तुत किया। जब ग्रामवासियोको यह ज्ञात हुआ कि ये महाराज सिद्धार्थके पुत्र महावीर है, और कैवल्यसिद्धिके लिये ग्रामानुग्राम विचरण करते हुए तपश्चरण कर रहे है, तो वे अपने कृत्योके लिये लज्जित हुए। ग्रामीणोने साधु-वेशधारी उस व्यक्तिकी भी तलाश की, जो उन्हे महावीरके पास ले गया था। पर उसका कही पता नही चला। अन्तमे ग्रामवासी इस निष्कर्षपर पहुँचे कि इन घटनामे कोई रहस्य अवश्य है।

मोसलि-नरेश द्वारा चरण-वन्दन

तोसलिसे तीर्थंकर महावीर मोसलि पधारे और वहाँ उद्यानमें ध्यानस्थित हो गये। यहाँ भी सगमकने महावीरपर चोर होनेका अभियोग लगवाया जिससे राजपुरुषो द्वारा उन्हे अनेक प्रकारके उपसर्ग दिये गये। राजपुरुष महावीरको पकडकर मोसलि-नरेशके पास ले गये। राजसभामे राजा सिद्धार्थका मित्र सुमागध नामक राष्ट्रिय बैठा हुआ था। इन्हे देखते ही वह कहने लगा "राजन्! यह चोर नही हैं। यह तो सिद्धार्थके राजकुमार महावीर हैं। ये अपनी आत्म-शक्तियोका विकास करनेके लिये तपश्चरण कर रहे हैं। इन जैसा घोरतपस्वी और परीषहजयी अन्य कोई नही है। अत इनपर चोर होनेका सन्देह करना बिल्कुल निराधार है।"

सुमागधके इन वचनोको सुनकर मोसलि-नरेशको पश्चात्ताप हुआ और उन्हे बन्धन-मुक्त कर उनके चरणोमे गिर गया।

सगमक इतनी जल्दी अपना पराजय स्वीकार करनेको तैयार नही था। अत उसने उपसर्ग देनेकी अपनी प्रक्रियाको और अधिक तीव्र बनाया। जब महावीर तोसलि उद्यानमे ध्यानस्थ थे, उस समय सगमकने इनके पास चोरीके अस्त्र-शस्त्र रख दिये। इन अस्त्र-शस्त्रोको देखकर लोगोने इन्हे चोर समझा और तोसलि-पतिके पास इन्हे पकड़कर ले गये।

अद्भुत चमत्कार : फांसीका फंदा टूटा

तोसलि-पतिने महावीरसे कई प्रकारके प्रश्न पूछे, पर महावीर मौन रहे। अब तो उसे और उसकी सलाहकार-समितिको यह विश्वास हो गया कि

यह अवश्य ही कोई छद्मवेशधारी चोर है। अतएव उसने महावीरको फाँसी देनेका आदेश दिया। अधिकारियोने उन्हे फाँसीके तख्तेपर चढा दिया और तुरन्त गलेमे फाँसीका फदा लगाया। पर तख्ता हटाते ही फाँसीका फदा टूट गया। दूसरी बार फाँसी लगायी, फिर भी वह टूट गया। इस प्रकार सात बार महावीरके गलेमे फासी डाली गयी और सातो ही बार फाँसीका फंदा टूटता गया। इस घटनासे कर्मचारी भयभीत और आतकित हुए। अत वे तोसलि-नरेशके पास इन्हे ले आये और पूर्वोक्त घटनाका स्पष्टीकरण प्रस्तुत किया। तोसलि-नरेश महावीरके इस प्रभावसे प्रभावित हुआ और क्षमा-याचना करते हुए उन्हे मुक्त कर दिया।

संगमदेवने अभी भी पराजय स्वीकार नही किया। अत वह इन्हे उपसर्ग देनेके लिये और अधिक गतिशील हो गया। तोसलिसे महावीर सिद्धार्थपुर गये और वहाँ भी सगमकदेवके षड्यन्त्रके कारण इन्हे चोर समझकर पकड लिया गया। इसी समय कौशिक नामक एक अश्वव्यापारी वहाँ आया। वह महावीरको पहचानता था। अत उसने इनका परिचय देकर इन्हे बन्धन-मुक्त किया। सिद्धार्थपुरसे महावीर वृजगाँव (गोकुल) पहुँचे।

वृजग्राममे उस दिन कोई उत्सव था। घर-घर क्षीरान्न बना था। महावीर भिक्षाचर्याके हेतु वृजगाँवमे पहुँचे। सगमक वहाँ पहलेसे ही उपस्थित था। वह अहारको अनेषणीय करने लगा। जब महावीरको सगमके षड्यत्रका पता लगा, तो वे तुरत ही उस गाँवसे बाहर चले गये। सगमकने महावीरको ध्यान-विचलित करनेके लिये अनेकानेक उपसर्ग किये, पर वह उन्हे विचलित न कर-सका।

सगमकको महावीरपर उपसर्ग करते हुए लगभग छहमास व्यतीत होने जा रहे थे। वह उन्हे ध्यानच्युत करनेके लिये अगणित विघ्न भी कर चुका था, पर वह अपने इस दुष्कृत्यमे सफल नही हो पाया।

संगमदेवका पराजय और चरण-वंदन

उसने अवधिज्ञान द्वारा महावीरकी मानसिक वृत्तियोकी भी परीक्षा ली। पर उसने अवगत किया कि महावीरका मनोभाव अधिक सुदृढ है। वे आत्माके अमरत्वके निकट पहुँच रहे हैं। सयम और शीलकी अहर्निश वृद्धि हो रही है। अत अपनी पराजय स्वीकार करते हुए महावीरसे निवेदन किया "प्रभो। आपके सम्बन्धमे जो कहा गया था, वह अक्षरश सत्य है। आप सत्यप्रतिज्ञ है और उपसर्ग-विजेता हैं। विश्वमे कोई भी ऐसी शक्ति नही है, जो आपको आत्मा-

साधनसे विचलित कर दे। मैं अपना पराजय स्वीकार करता हूँ और दिये गये कष्टोंके लिये आपसे क्षमा-याचना करता हूँ। आप वास्तवमे धन्य हैं। आपका साहस और धैर्य अतुलनीय है और आपकी साधना अनुपम है।"

तीर्थंकर महावीरके धैर्यसे हार मानकर संगमक वहाँसे चला गया। दूसरे दिन महावीरने उसी वृजगाँवमे भिक्षा-चर्याके लिये प्रवेश किया। पूरे छह महीनोके बाद इन्होने एक वृद्धाके यहाँ निर्दोष क्षीरान्नका भोजन ग्रहण किया।

वृजग्रामसे महावीर आलम्भिया आदि प्रसिद्ध नगरियोसे होते हुए श्रावस्ती पहुँचे और वहाँ नगरके उद्यानमे ध्यानस्थित हो गये।

चमत्कारको नमस्कार

इन दिनो श्रावस्तीमे स्कन्दका उत्सव चल रहा था। नगरनिवासी उत्सवमे इतने व्यस्त थे कि महावीरकी ओर किसीने लक्ष्य ही नही किया। समस्त गाँव-स्कन्दके मन्दिरके पास एकत्र था। यहाँ एक प्रभावक घटना घटी। भक्तजन देवमूर्तिको वस्त्रालकारोसे सजाकर रथमे बैठाने जा रहे थे कि मूर्ति स्वय चलने लगी। भक्तोके आनदका पार न रहा। वे समझे कि देव स्वय रथमे बैठने जा रहे है। हर्षके नारे लगाते हुए सब लोग मूर्तिके पीछे-पीछे चलने लगे। मूर्ति उद्यानमे पहुँची और महावीरके चरणोमे गिरकर वदना करने लगी। उपस्थित जनसमुदायने हर्ष-ध्वनि की और महावीरको देवाधिदेव मानकर उनका बहुमान किया और महिमा व्यक्त की।

निर्विघ्न पारणा सम्पन्न

श्रावस्तीसे विहारकर महावीर कोशाम्बी, वाराणसी, राजगृह, मिथिला आदि नगरोमे परिभ्रमण करते हुए वैशाली पधारे और यही ग्यारहवाँ वर्षा-वास सम्पन्न किया। वैशालीके बाहर काममहावन नामक एक उद्यान था। इसी उद्यानमे महावीर चातुर्मासिक तप ग्रहणकर ठहरे।

वैशालीका नगरसेठ प्रतिदिन महावीरके चरण-वदन करने जाता और आहार ग्रहण करनेकी प्रतिदिन प्रार्थना करता। पर महावीर आहारके निमित्त नगरमे नहीं जाते। श्रेष्ठिने सोचा महावीरका मासिक तप होगा और महीना पूरा होने पर आहारके हेतु पधारेंगे। पर महावीर आहारके लिए नही उठे।

सेठने द्विमास-क्षपणकी कल्पना की और दूसरे मासके अतमे त्रिमासिक की। महावीर तीसरे महीनेकी समाप्तिपर भी भिक्षाचर्याके लिये नही निकले। अब

उसने अनुमान किया कि महावीरका चातुर्मास-क्षपण होगा। अत चार महीनेके उपवासको समाप्त कर वे भिक्षाचर्याके लिये प्रस्थान करेगे। वह अपने घर आकर चातुर्मासके अतमे महावीरकी प्रतीक्षा करने लगा। मध्याह्नकाल महावीर चर्याके लिये निकले और पिण्डेषणाके नियमानुसार वैशालीमे भ्रमण करते हुए उन्होने एक गृहस्थके घरमे प्रवेश किया। गृहस्वामीने, जो कुछ रूखा-सूखा तैयार था, उसीसे महावीरकी पारणा करायी। महावीरने अत्यन्त सतोप और शान्तिके साथ पारणा ग्रहण की। जब नगरसेठने सुना कि महावीरकी पारणा अन्यत्र हो गयी, तो वह अपने भाग्यको दोष देने लगा।

महावीरकी पारणा निर्विघ्न सम्पन्न होनेके कारण पञ्चाश्चर्य प्रकट हुए, जिससे वैशाली-निवासी अत्यन्त प्रसन्न थे।

इस प्रकार तीर्थंकर महावीरने इस एकादश वर्षकी साधनामे कर्मोकी असख्यातगुणी निर्जरा की। उन्होने साधुके अट्ठाईस मूलगुणो, तीन गुप्तियो, पाच समितियो आदिका पूर्णतया निर्वाह करते हुए त्याग, वैराग्य और सयमानुष्ठान किया। महावीरने आत्म-सयम और उच्च भावनाओमे रमण करनेकी पूरी चेष्टा की। आत्म-शुद्धिके लिये प्रयत्नशील रहना ही जीवनका प्रधान उद्देश्य था। महावीरकी यह साधना आत्मशुद्धिका प्रमुख साधन थी।

द्वादशवर्ष-साधना : विचित्र अभिग्रह

सवर और कर्म-निर्जराके हेतु महावीर विचित्र अभिग्रह ग्रहण कर चर्याके लिये निकलते थे और जब अभिग्रह पूरा नही होता, तो वे सन्तोषपूर्वक लौटकर साधनामे संलग्न हो जाते। उनके भीतर दिव्यप्रकाशके उदयका आरम्भ हो चुका था। अतएव वे अपनी समस्त शक्तियोके विकास हेतु प्रयत्नशील थे। वे हिमालयके समान दृढ होकर उपवास आरम्भ करते और अनेक प्रकारके उपसर्ग आनेपर भी वे उनसे विचलित न होते। भय और रोषसे दूर अविचलभावसे यत्रणाओको सहन करते रहते थे।

महावीर क्षमाके अवतार थे। दुराचारियो, अत्याचारियो और अधर्मियोको क्षमा प्रदानकर उन्हे सच्चे पथपर लगाते थे। वे अनार्योमे सद्व्यवहार और सम्यक्त्वके विकासके हेतु भ्रमण करते और उन्हे भी सन्मार्गपर अग्रसर होनेकी प्रेरणा देते थे।

वैशालीसे महावीरने सुसुमारपुरकी ओर विहार किया। इस नगरके परिसरमे महावीरने अशोकवृक्षके नीचे कायोत्सर्ग किया। यहाँसे महावीर भोगपुर और नन्दिग्राम होते हुए मेढ़ियग्राम पधारे। यहाँ एक गोपने

महावीरको कठिन उपसर्ग दिया और महावीरने बड़ी समताके साथ उस उपसर्गको सहन किया।

मेढियग्रामसे महावीर कौशाम्बी पधारे और पौष कृष्णा प्रतिपदाके दिन चर्याविषयक यह अटपटा अभिग्रह किया कि "मुण्डित सिर, पैरोमे बेड़ियाँ पहने हुए, तीन दिनकी भूखी, उबाले हुए उड़दके बाकुले, सूपके कोनेमे लेकर भिक्षाका समय बीत चुकनेपर द्वारके बीचमे खडी हुई तथा दासत्वको प्राप्त हुई यदि कोई स्त्री आहार देगी, तो मैं ग्रहण करूँगा, अन्यथा नही।"

उक्त प्रतिज्ञा कर महावीर प्रतिदिन कौशाम्बीमें चर्याके लिये जाते। घूमते-घूमते चार महीने उन्हे बीत गये, पर अभिग्रह पूरा न हुआ।

एक दिन महावीर कौशाम्बीके अमात्य सुगुप्तके घर चर्याके हेतु पधारे। अमात्य-पत्नी नन्दा भक्तिपूर्वक प्रतिग्रहण करने लगी, पर अभिग्रह पूरा न होनेसे महावीर चल दिये। नन्दा पश्चात्ताप करने लगी। दासियोने निवेदन किया "ये देवार्य तो प्रतिदिन यहाँ आते हैं और कुछ भी लिये बिना यहाँसे चले जाते हैं।" दासीके इस कथनसे नन्दाने निश्चय किया कि अवश्य ही महावीरका कोई दुर्गम अभिग्रह है, जिसकी पूर्त्ति न होनेसे आहार ग्रहण नही करते।

जब अमात्य घर आया, तो उसने नन्दाको उदासीन देखा। पूछा "क्या बात है? मलिन और चिंतितमुख क्यो दिखलाई पडती हो?"

नन्दा "आपका अमात्यपन किस कामका, जब कि चार महीनोसे योगिराज महावीर आहार ग्रहण नही कर रहे हैं। पता नही उनका क्या अभिग्रह है? और उसकी पूर्ति क्यों नही हो रही है? यदि आप महावीरके अभिग्रहका पता नही लगा सकते, तो आपका चातुर्य किस कामका?"

आश्वासन देता हुआ सुगुप्त बोला "तुम चिंता मत करो, मैं उनके अभिग्रहकी जानकारी प्राप्त करूँगा, जिससे महावीरकी पारणा हो जाय।"

राजा-रानीकी चिन्ता

जिस समय महावीरके अभिग्रहकी चर्चा हो रही है, उस समय वहाँ प्रतिहारी विजया भी उपस्थित थी। उसने सब बाते सुन ली और राजभवनमे जाकर रानी मृगावतीसे निवेदन किया। रानी भी इस घटनासे आकुल हुई और राजाको उलाहना देती हुई बोली "आपका इतना समृद्ध राज्य है और इस राज्यमे एक-से-एक बढकर मेधावी और प्रतिभाशाली व्यक्ति हैं। गुप्तचर-

विभाग आपका कार्य करता है। महावीर कई महीनोंसे कोई अभिग्रह लेकर राजधानीमे चर्याके हेतु भ्रमण करते हैं। पर अभिग्रह पूर्ण न होनेसे वे आहार ग्रहण किये विना ही लौट जाते है। क्या आपके व्यक्ति उनके अभिग्रहका पता नही लगा सकते? आपने कभी यह सोचा भी नही कि महावीर आहार क्यो ग्रहण नही करते? आपके इतने बडे राज्यकी सार्थकता तभी है, जब आप अभिग्रहकी जानकारी प्राप्त करे। आज नगरमे सर्वत्र यही चर्चा है।"

राजा शतानीक "देवि! चिता मत करो! मैं शास्त्रज्ञ विद्वानोको वुलाकर आहार-सम्वन्धी सभी अभिग्रहोको जानकर नगरमे घोषणा करा दूँगा कि सभी भव्य उक्त अभिग्रहोको एकत्र करनेका प्रयास करे।

राजाने सभापण्डित तथ्यवादीको वुलाया और कहा "महाशय! धर्म-शास्त्रोमें साधुकी चर्याका जो आचार वर्णित है, आप उसे सुनाइये। साधु भोजनके लिए जाते समय किस प्रकारके अभिग्रह ग्रहण कर सकता है, यह भी वतलाइये। आप जानते होगे कि हमारी नगरीमे महावीर कोई दुर्बोध अभिग्रह लेकर कई महीनोसे निराहार रह रहे हैं। जवतक उनका अभिग्रह नही मिलेगा, वे आहार ग्रहण नही करेगे। अतएव शास्त्रोमे जितने प्रकारके अभिग्रह वर्णित हो, नगरमे उन सभीको व्यवस्था कर दूँ।"

राजाने सुगुप्त महामात्यकी ओर सकेत करते हुए कहा "मन्त्रिवर! आप भी अपनी वुद्धिका उपयोग कीजिए और महावीरके अभिग्रहका पता लगाइये।"

सभापण्डित "राजन्! अभिग्रह अनेक प्रकारके होते है, अत यह कैसे जाना जाय कि किसके मनमे क्या अभिप्राय है? द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव-विषयक अभिग्रह, पिण्डैषणा और पानैषणा-सम्वन्धी विविध नियम शास्त्रोमे आये है।"

राजा शतानीकने शास्त्रोंमे उल्लिखित चर्या-सम्वन्धी विधि-विधानकी जानकारी प्रजाको कराई। अनेक प्रकारके अभिग्रहोकी पूर्त्तिका भी प्रवन्ध किया गया, पर महावीरका आहार न हो सका। महावीरको निराहार पाँच महीने वीत चुके थे और छठा महीना पूरा होनेमे केवल पाँच दिन शेष रह गये थे। दोपहरका समय था। सारा कौशाम्वी नगर महावीरके जयघोषसे गूँज रहा था। नगरके एक कोनेसे दूसरे कोने तक विद्युत-तरगकी भाँति यह समाचार व्याप्त हो गया कि महावीर आहारके लिये आ रहे हैं।

महावीर आहारके निमित्त नगरमे घूमने लगे। द्वार-द्वारपर लोग उनकी प्रतीक्षा करने लगे। कौशाम्वी-निवासी आश्चर्यपूर्वक यह देखनेके लिये उत्सुक

थे कि आज किसके भाग्य खुलते हैं ? कौन ऐसा पुण्यात्मा है, जो तीर्थंकर महावीरको आहार देता है ? इस प्रकार नगरकी उत्सुकता देखते ही बनती थी।

भाग्योदय हुआ चन्दनाका

चन्दना चेटककी पुत्री रानी त्रिशलाकी छोटी बहन थी। चन्दना और त्रिशलाके बीचमे एक और बहन थी मृगा। पर भाग्यका चक्र विचित्र होता है। कर्मोदयसे त्रिशला और मृगावतीको तो राजभवन और पुष्पशय्या प्राप्त हुई, पर बेचारी चन्दनाको कांटोकी झाड़ियाँ ही उपलब्ध हुईं। बड़े दुःख भोगे चन्दनाने। यहाँ तक कि उसे दासी भी बनना पड़ा।

चन्दनाका आरम्भिक जीवन बड़ा ही गर्वित था। वह राजकन्या तो थी ही, पर अपने अद्भुत रूपलावण्यके कारण वैशालीके समस्त उपनगरोकी शोभा थी। उन्नत ललाट, काञ्चन दिव्य वर्ण एवं कृश शरीर सहजमे ही जनमानस-को आकृष्ट कर लेता था। पुरजन, परिजन सभीका विश्वास था कि चन्दनाके समान दिव्य कुमारी देव, नाग, गन्धर्वोमे भी नही हो सकती।

वसन्तके दिन थे। राजोद्यानमे पुष्प विकसित थे और भौंरे उनपर मधुर स्वर-मे गुंजन कर रहे थे। चन्दना भी उद्यानमे घूम-घूमकर गुनगुना रही थी और भ्रमरोके स्वरमे स्वर मिला रही थी। उसके कोकिल कण्ठसे निकली हुई वाणी सहजमे ही सरस और मधुमय हो जाती थी। उसके स्वरका मिठास अपूर्व था।

चन्दनाका अपहरण

हठात् एक विद्याधरकी दृष्टि चन्दनापर पड़ी। वह आकाशमार्गसे विमान द्वारा जा रहा था, पर चन्दनाके अपूर्व स्वर-माधुर्यने उसे स्तब्ध कर दिया। चन्दना उसके मन प्राणमे समा गयी। वह नीचे उतरा और चन्दनाको लेकर फिर आकाश-मार्गसे उड़ चला। चन्दनाने शक्तिभर विरोध किया, पर विद्या-धरपर इसका कुछ भी प्रभाव न पड़ा।

चन्दना रोयी-चिल्लायी। नाखूनोसे अपने शरीरको क्षत-विक्षत किया, पर विद्याधरने उसे न छोड़ा। विद्याधर चन्दनाके शीलको नष्ट करना चाहता था और चन्दना सभी प्रकारसे अपने शीलकी रक्षा करनेमे तत्पर थी। संयोगकी बात कि विद्याधरकी धर्मपत्नी कहीसे घूमते हुए वहीं आ पहुँची। विद्याधर अब क्या करता ? पत्नीसे भयभीत होकर उसने चन्दनाको भयानक वनमे छोड़ दिया।

निरीह चदना उस भयानक वनमें इधर-उधर घूमने लगी। चारो ओर हिंसक पशु और अकेली चन्दना। भूख और प्यासले उसकी आंतें सूखी जा रही थी, पर

वह करे तो क्या करे ? घूमते हुए उसकी भेंट एक भिल्लसे हुई। भिल्ल चन्दनाको देखकर विस्मित हो उठा। ऐसा रूप-लावण्य तो उसने अपने जीवन मे कही देखा ही नही था। वह सोचने लगा यह अवश्य कोई देवी या अप्सरा है, मानवी तो हो नही सकती। मनुष्योमे इतना सौदर्य कहाँसे आ सकता है ? अतएव वह चन्दनाको अपने सरदारके पास ले गया।

भिल्लसरदारके घेरेमे चन्दना

चन्दनाको देखते ही भिल्ल-सरदारके मनमे वासनाका विप समाविष्ट हो गया। वह उसे अपनी पत्नी बनानेके लिये चेष्टा करने लगा। पर चन्दना उसकी शर्त स्वीकार करनेको तैयार नही थी। वह तो एक शीलवती और सदाचारिणी नारी थी। भिल्ल-सरदार भी उसे यो ही छोडनेवाला नही था। वह उसे डराने-धमकाने लगा तथा भाँति-भाँतिकी यत्रणाएँ देने लगा। फिर भी चदना उसके वगमे न आयी। वह अपने पवित्र विचारोपर दृढ रही।

जब भिल्ल-सरदारने यह अनुभव किया कि मेरे अत्याचारोसे यह अनिन्द्य-सुन्दरी अपने प्राण छोड देगी, पर मेरी इच्छा-पूर्तिका साधन न बनेगी, तो वह सोचने लगा कि अच्छा हो कि इसे बेचकर कुछ रुपये प्राप्त करूँ।

उन दिनो दास-प्रथाका प्रचलन था। स्त्री-पुरुष दास-दासियोके रूपमे उसी प्रकार बेचे जाते थे, जिस प्रकार बाजारोमे पशु बेचे जाते हैं। अत वह भिल्ल-सरदार चन्दनाको लेकर कौशाम्बी नगरीमे पहुँचा और चौराहेपर खडा होकर उसकी बोली लगाने लगा।

चन्दनाकी विक्री

भिल्ल-सरदार बोली लगाकर चन्दनाका मूल्य बढाता चला जा रहा था कि दूसरी ओरसे वहाँ वृषभदत्त नगरसेठ उपस्थित हुआ। चन्दनाको देखते ही उसके हृदयमे निश्छल वात्सल्यका उदय हो गया और उसे ऐसा प्रतीत हुआ कि चन्दना उसकी कभीकी पुत्री है। अत उसने सर्वाधिक मूल्य चुकाकर चन्दनाको खरीद लिया और धर्मपुत्रीके समान उसका पालन-पोषण करने लगा।

यद्यपि नगरसेठका हृदय पवित्र था। वह चन्दनाको अपनी धर्मपुत्री समझता था। पर नगरसेठकी पत्नी चन्दनाके रूप-लावण्यसे आशकित थी। उसके मनमे सदेह था कि सेठ चन्दनाको अपनी धर्मपत्नी बना लेगा और उसकी अवमानना करेगा। चन्दनाका रूप-सौंदर्य यहाँपर भी उसके जीवनका अभिशाप बना। नगरसेठकी पत्नी चन्दनाके साथ दासी जैसा कटु व्यवहार करने लगी।

वह अपने तीखे वाक्‌बाणो द्वारा उसके हृदयको छेदती तथा अनेक प्रकारकी जली-कटी सुनाती। चन्दना करती तो क्या करती ? वह अशुभ कर्मोदयका विपाक समझकर सब कुछ सहन करती हुई नगरसेठके घर पडी रहती।

दिन बीतते गये और चन्दना बड़ी होती गयी। युवावस्थाके पदार्पणने उसके शारीरिक सौंदर्यको कई गुना बढा दिया। सेठकी पत्नी सुभद्राका सदेह दिनोदिन बढता जा रहा था।

संदेहका भूत

एक दिनकी बात है कि नगरसेठ वृषभदत्त मध्याह्न कालमे तेज धूपमें-से लौटा था। चन्दना उसके पैर धुला रही थी। उस समय उसके बाल बिखरकर नीचेकी ओर जमीनको छूने लगे और मुहँपर छा गये। वृषभदत्तने सहज ममतावश अपने हाथसे उन बालोको ऊपर कर दिया। जब सुभद्राने इस दृश्य-को देखा तो उसका मन आशकाओसे भरने लगा। उसे यह निश्चय हो गया कि नगरसेठ वृषभदत्त चन्दनासे प्रेम करता है। अतएव वह चन्दनाको अपने घरसे निकालने और उसे विद्रूप करनेका अवसर ढूढने लगी। सेठके रहते हुए उसके भयसे सुभद्रा कुछ नही कर पाती थी।

अन्तमे एक दिन सुभद्राको ऐसा अवसर मिल गया। सेठ वृषभदत्त बाहर गया हुआ था। उसने नाईको बुलाकर सर्वप्रथम चन्दनाकी केशराशिको उसके सिरसे उतरवा दिया। वे केश चन्दनाके सौंदर्यकी अभिवृद्धिमे बहुत बडे कारण थे। इसपर भी उसे सतोप न हुआ, तो चन्दनाके पैरोमे बेड़ी डलवाकर उसे तलघरमे बन्द करवा दिया। चन्दनाकी बड़ी ही दुर्गति थी। वह एकप्रकारसे जीवन-मृत्युकी घड़ियाँ गिन रही थी।

वृषभदत्त बाहरसे लौटा। चन्दनाको न देखकर उसके मनमे विभिन्न प्रकारकी आशकाएँ उत्पन्न होने लगी। उसने दास-दासियोसे चन्दनाके विषयमे पूछा, पर किसीका भी साहस न हुआ कि सेठको वास्तविक स्थितिका परिज्ञान कराये। बहुत तलाश करनेके उपरान्त वृषभदत्तकी एक दासीने डरते-डरते पूरी बात बतलायी। वह शीघ्र ही तलघरमे पहुँचा और चन्दनाकी उक्त स्थिति देखकर रो पड़ा। उसकी ममताके बादल बरसने लगे। वह शीघ्र ही चन्दनाको वहाँसे निकालकर बन्धनमुक्त करना चाहता था। अतएव बेड़ियाँ काटनेके लिये वह लोहारको बुलाने चला गया।

खुल गये बन्धन, मिला रत्नमय उपहार

सयोगकी बात कि महावीर छह महीनेतक निराहार रहकर अहारके हेतु नगरमे दुर्गम अभिग्रह लिये घूम रहे थे। चन्दना बेड़ियोमें पड़ी हुई थी। तल-

घरका द्वार खुला हुआ था। तभी महावीर उस ओरसे निकले। सुभद्राने चन्दनाको भोजनके लिये जो तुच्छ आहार दिया था उसे लिये वह बैठी थी।

महावीरके निकट आते ही उसकी बेडियाँ टूट गयी और उनके अभिग्रहके अनुसार द्वारके मध्यमे स्थित होकर, सूपमे रखे बाकुलोसे उनको पडगाहने लगी। महावीर चन्दनाकी ओर बढ आये। उन्होने आहार स्वीकार कर लिया। राजा शतानीक, सुगुप्त मत्री, वृषभदत्त और सेठकी पत्नी सुभद्रा आदि सभी चन्दनाके भाग्यकी प्रशसा कर रहे थे। नर-नारियोके झुण्ड-के-झुण्ड चन्दनाके दर्शनके लिये दौड पडे और उसके चरणोकी धूलि अपने मस्तक-पर लगाने लगे। राजमार्ग ठसाठस भरा था और चारो ओर जय-जयकारकी तुमुलध्वनि हो रही थी।

चन्दनाकी वन्दना

आज चन्दनाके साथ कोदोके भी भाग्य खुल गये और कौशाम्बी कृतार्थ हो गयी। उसके जन्म-जन्मके पातक शिथिल पड गये। चन्दनाको आत्मशक्ति-का बोध हुआ। उसकी आत्माके बन्धन क्षीण हो गये और शीलका उपहार मिल गया। यह दृश्य इतना अलौकिक और अद्भुत था कि चन्दनाकी प्रशसा हर व्यक्तिकी जिह्वापर विराजमान थी। भारतीय नारीत्व अमर हो गया था और चन्दनाके सतीत्वका उदाहरण आदर्श रूपमे उपस्थित था।

दशो दिशाओंके द्वार खुल चुके थे और चन्दनाकी आरतीके लिये दिग्-दिगन्त तैयार था। भारतीय नारीत्वको एक उज्ज्वल ऊँचाई प्राप्त हुई थी। चन्दनाकी बेडियाँ आशीर्वाद बन चुकी थी।

चन्दनाका मिलन

कौशाम्बीकी राजमहिषी मृगावतीको जब यह समाचार ज्ञात हुआ, तो वह भी चन्दनाके दर्शनार्थ द्वारपर जा पहुँची। उसे क्या पता था कि चन्दना कोई और नही, उसकी ही छोटी बहन है। जब उसने चन्दनाको देखा, तो उसकी आँखोमे शोक और हर्षके आँसू छलक आये। शोकके आँसू इसलिये गिरे कि चन्दनाको राजपुत्री होनेपर भी दासीका जीवन व्यतीत करना पडा और हर्षाश्रु इसलिये प्रादुर्भूत हुए कि उसकी बहन चन्दनाके हाथोसे महावीरने आहार ग्रहण किया। उसने उपस्थित जन-समुदायके समक्ष चन्दनाका परिचय प्रस्तुत किया और राजभवनमे चलनेके लिये अनुरोध किया।

वृषभदत्तकी पत्नी सुभद्रा चन्दनाके पैरोपर गिर गयी। उसकी आँखे सजल हो गयी और मुखपर पश्चात्तापका गहरा भाव उत्पन्न हो गया। वह कह रही थी "बहन मुझे क्षमा करो। मैने तुम्हारे साथ घोर अन्याय किया है। मेरे

जीवनकी आशा और मरणके भयसे वे विप्रमुक्त थे। कायोत्सर्गका अर्थ उनकी दृष्टिमे देहभावकी विस्मृति, देहमे विदेहभाव, शरीरसे सम्बन्धित मोह-ममत्व-का त्याग था।

निश्चयत महावीरका साधनाकाल बड़ा विकट था। उस युगका जन-मानस बडा ही सकीर्ण और स्वार्थपूर्ण था। विश्वहितकी दिशामे सर्वस्व त्यागकर निकले हुए साधकको इतना उत्पीड़न, ऐसी भयंकर बाधाएँ एव ऐसी निर्दयतापूर्ण यातनाएँ दी जा सकती हैं, यह महावीरके जीवनसे स्पष्ट है। महावीरके उपसर्गोकी कथा जानकर सहृदय श्रोताका तन-मन काँप उठता है, मन सिहर जाता है, पर महावीर ऐसे थे, जैसे एक प्रशांत महासागर, जिसमें कभी तूफान नही उठता। मैत्रीभावनाका ऐसा सर्वोच्च आदर्श, जिसे फूल और काटोसे समान प्यार हो। सतानेवालेके प्रति भी एक सहज करुणा, कल्याणकी कामना और उनके उत्थानकी भावना निहित थी। हम प्राय देखते हैं कि मनुष्य अनादि कालसे दूसरोकी शिकायत करता चला आ रहा है। महावीरको अपने सतानेवालोंसे भी कोई शिकायत नही थी। उनका चिन्तन था "जो पा रहा हूँ, वह अपना ही किया पा रहा हूँ। जो भोग रहा हूँ, अपना ही किया भोग रहा हूँ। दूसरोका कोई दोष नहीं, दोष तो मेरा है।"

"अन्य व्यक्ति किसीके सुख-दु खमे निमित्त तो हो सकते हैं, कर्त्ता नही। कर्त्ता मनुष्य स्वय ही होता है। जो कर्त्ता है, वही भोक्ता भी होगा। कर्त्ता कोई हो और भोक्ता कोई हो, यह कैसे सम्भव होगा। जो कृत है, उसे भोगे विना बन्धनमुक्ति नही।"

इस प्रकारका चिन्तन भी महावीरकी प्रारम्भिक भूमिकाओमे ही रहा। आगे चलकर तो वे इन समस्त विकल्पोसे रहित हो गये। मेरे और तेरेका कोई विकल्प नही। करने और भोगनेका भी कोई विचार नही। अन्तर्लीनताके क्षणोमे किया गया ध्यान-योग निर्वात कक्षमे प्रज्वलित दीप-शिखाके समान स्थित हो जाता है। उस समय न अशुभकी लहर उठती है और न शुभकी। यह तो शुद्धोपयोगकी स्थिति होती है। आत्मा विकल्पसे अविकल्पकी ओर और चिन्तनकी ओर आती है। इस शुद्धस्थितिको प्राप्त करना ही तो साधकका लक्ष्य है।

भवरुद्र द्वारा प्रदत्त उपसर्गोपर विजय

उज्जयनीके चातुर्मासकी कथा तीर्थंकर महावीरके अनुपम शौर्य और वीरत्व-का चित्र उपस्थित करती है। इस प्रकारके उपसर्ग वडे-बड़े साहसियोके भी

साहसको तोड देते है। महावीर जैसे असाधारण साहसी ही इस प्रकारके उप-सर्गोमे सफल हो पाते हैं।

महावीर जिन दिनोमे साधना कर रहे थे, उन दिनो उज्जयिनीमे बलि-प्रथाका वडा जोर था। देवताओकी पूजामे प्राय पशुओकी बलि दी जाती थी। महावीरने यह वर्षावास श्मशानमे ग्रहण किया था। इस श्मशानमे भव नामक रुद्र निवास करता था। वह महावीरको देखते ही कोपसे जल उठा। यत. वह महावीरके अहिंसक विचारोसे परिचित था। वह नही चाहता था कि वे अपना वर्षावास उज्जयिनीमे करे। उसे भय था कि महावीरकी अहिसा-साधनाके प्रभावसे यहाँकी वलि-प्रथा वन्द हो जायगी। अतएव उज्जयिनीसे महावीरको हटानेके लिये अगणित अत्याचार और उपसर्ग किये। वह चारो ओरसे अग्नि जलाकर महावीरको यन्त्रणा देने लगा। कभी वह धूलि-मिट्टीकी वर्षा करता, कभी ककड पत्थर गिराता और मूसलाधार जलवर्षा कर महावीरको भिगो देता और तीक्ष्ण तूफान चलाकर उनकी हड्डियो तकको शीतसे जकड देता।

भयावनी और डरावनी आकृतियाँ वनाकर महावीरको डराता, धमकता। कभी सर्प वनकर उन्हे डसता, तो कभी सिंह बनकर उन्हे खा जाना चाहता। इसप्रकार उस रुद्रने तीर्थंकर महावीरपर विभिन्न प्रकारके हिंसक उपसर्ग किये। पर महावीर हिमालयकी चट्टानके समान दृढ वने रहे और इन उपसर्गोसे तनिक भी विचलित न हुए। उनके समत्वयोगकी साधना वढती जा रही थी। विप अमृत वन रहा था। राग और द्वेष चूर-चूर होकर वीतरागतामे परिणत हो रहे थे। उन्हे अपनी सहायताके लिये किसी अन्यकी आवश्यकता नही थी। जव रुद्र थक गया और महावीरका कुछ न बिगाड सका, तो वह उनकी असाधारण वीरताकी प्रशसा करता हुआ कह उठा कि ये तो महान् महावीर या अतिवीर हैं। इन्हे साधना-मार्गसे कोई भी विचलित नही कर सकता। इन्होने अपने शरीरको सयमकी अग्निमे तपाया है।

साढे वारह वर्षोके साधनाकालके अधिकाश भागको निराहार रहकर व्यतीत किया। बारह वर्ष, छहमास और पन्द्रह् दिनके अपने साधना-कालमे महावीरने केवल ३५० दिन ही आहार ग्रहण किया।

महावीरके तपश्चरणका विवरण निम्न प्रकार है

छहमासी अनशन तप	१	पक्षोपवास	७२
पाँचदिन कम छहमासी तप	१	भद्रप्रतिमा दो दिनपर उपवास	१
चातुर्मासिक ,,	९	महाभद्रप्रतिमा चार दिनपर उपवास	१
त्रैमासिक ,,	२	सर्वतोभद्रप्रतिमा दस दिनपर उपवास	१

पापी मनने तुम्हे भी पापरूपमे ही कल्पित किया है। मुझे अपने कृत्यपर घोर पश्चात्ताप है।"

चन्दना। "देवी! तुम बडी हो। तुम्हारे चरण मुझे छूने चाहिये। तुमने मेरा महान् उपकार किया है। यदि तुम्हारा यह व्यवहार न हुआ होता, तो महावीरका अभिग्रह मिल ही नही पाता। तुम्हारे तलघरने मेरा भाग्योदय किया है। अतएव मेरी कृतज्ञता स्वीकार कीजिये।"

रानी मृगावतीने चन्दनाको राजभवनमे चलनेका पुन आग्रह किया और उसे अपनी बडी बहनका आग्रह स्वीकार करना पडा। कालान्तरमे महाराज चेटकको चन्दनाको प्राप्तिका समाचार भेजा गया और वे चन्दनाको अपने घर लिवा ले गये।

कौशाम्बीसे विहारकर महावीर सुमङ्गल, सुच्छेत्ता और पालक आदि गॉवोमे विचरण करते हुए चम्पापुरी पहुँचे और यहीपर वर्षावास समाप्त किया। वर्षावासके दिनोमे महावीरने चार महीनेका उपवास ग्रहण किया। इस वर्षा-वासमे उन्होने स्वातिदत्तको प्रबोधित किया। तीर्थंकर महावीर नानाप्रकारसे मौन साधना करते हुए ग्रामानुग्राम विचरण कर रहे थे। वे चम्पासे विहारकर जम्भिय गाँव पहुँचे।

अन्य उपसर्ग : आत्म-दृढता

स्वर्ण तपाये जानेपर ही कुंदन बनता है। व्यक्तिकी साधना भी उपसर्ग और परीषहोके सहन करनेपर ही सफल होती है। जिस प्रकार अञ्जलिका जल शनै शनै हाथसे चू जाता है उसी प्रकार उपसर्ग सहनेसे कर्मका कालुष्य समाप्त हो जाता है। अविच्छिन्न तपस्या ही कर्म-निर्जराको सम्पादित करती है। तपश्चर्याकी छेनीसे कर्मकी निविड़ शृंखलाएँ कट रही थी और धीरे-धीरे वीतरागता उभर रही थी। एक अदम्य परम ज्योतिका उदय निकट था और केवलज्ञानका उषाकाल उपस्थित था। आत्माके आवरण शिथिल हो रहे थे और निर्मलताका तेज बढता जा रहा था।

महावीरकी उपसर्ग-विजय साधारण नही थी, उन्होने बड़े-से-बड़े उपसर्गोको समता और शातिसे सहन किया। उनकी दृष्टिमे कोई शत्रु-मित्र नही थे। सभी कल्याणमित्र थे। दुरराह साधनाके तेजसे हिंसा, घृणा, भय और आतंक निष्प्रभ हो गये थे।

वसंतके दिन थे। चारो ओर वन-वाटिकाएँ पुष्पोसे आच्छादित थी। पक्षी सुमधुर स्वरोमे कलकल-निनाद कर रहे थे। तीर्थंकर महावीर एक पुष्पित

उद्यानके मार्गसे गमन कर रहे थे। प्रकृतिका रम्य वातावरण पशु-पक्षी, मानव और देव सभीको आह्लादित कर रहा था।

अप्सराओं द्वारा प्रस्तुत मोहक राग-भोग

स्वर्गकी देवांगनाओंके मनमे सदेह उत्पन्न हुआ कि महावीर काम-विजयी और इन्द्रिय-जयी हो सकते हैं? वे महावीरकी स्वर्णकातिमय देहको देखकर सोचने लगी, हो नही सकता कि ऐसे स्वस्थ सुन्दर पुरुषके मनमे काम-विकार उत्पन्न न हो। देवांगनाएँ महावीरके सयमकी परीक्षाएँ लेनेके हेतु उद्यत हो उठी।

वसंतश्रीका मादक सौरभ सभीके मनको काम-वासनासे बोझिल बना रहा था। देवांगनाएँ ऐसे ही मधुमय वातावरणमे महावीरके समक्ष उपस्थित हुई। वे एक-से-एक सुन्दर वस्त्राभूषणोसे अलकृत थी। सबकी सब प्रकट होकर नृत्य करने लगी, गाने लगी, कामुक हाव-भाव प्रदर्शित करने लगी और अपने कटाक्षो द्वारा अपने भावोको प्रकट करने लगी। अश्लीलतापूर्ण उनके वचन और विकारीभाव बडे-बडे संन्यासियोको विचलित कर सकते थे, पर महावीरपर उनका रचमात्र भी प्रभाव न पडा। प्रभावकी तो बात ही क्या, महावीरने उनकी ओर दृष्टि उठाकर भी नही देखा। आखिर वे हारकर तीर्थंकर महावीरसे अपने अपराधोके लिये क्षमा-याचना करने लगी।

महावीरकी यशोगाथा चारो ओर फैल गयी और काम-विजयीके रूपमे वे सर्वत्र समादृत होने लगे। महावीरने इन्द्रियोके विकारोको जीत लिया था। वे स्वकी उपलब्धि और स्वनिष्ठ आनन्दकी खोजमे सलग्न थे। ससारका बड़े-से-बडा प्रलोभन उनके लिये तुच्छ था। ससारकी भोग-वासना और दुर्गंधभरी गलियोसे भटकना उन्हे स्वीकार नही था। वे सोचते "विकृतियोंके कीडोसे कुलबुलाता जीवन भी क्या जीवन है? जीवनकी निर्विकार पवित्रता एव अनन्त सत्यकी उपलब्धि ही जीवनका महान् उद्देश्य है। वे परम सत्य और परम आनन्दको प्राप्त करनेके लिये प्रयत्नशील थे।

स्वयंबुद्ध महावीरकी साधना जड नही, सचेतन थी और सचेतन साधना गतिहीन नही होती। साधनाकी सचेतनता ज्ञानपर अवलम्बित है। वे श्रमण-साधनामे सलग्न थे। उनके कदम सूनी और अनजानी राहोपर दृढतासे बढ रहे थे। उन्होने न तो कभी किसीको डराया और न स्वय कभी भयभीत हुए। उनके ध्यानयोगकी साधना आत्मानन्दकी साधना थी। भयसे परे, प्रलोभनसे परे, द्वेषसे परे, शरीरमे रहकर भी शरीरसे अलग, शरीरकी अनुभूतिसे पृथक्,

अढाई मासिक	,,	२	षष्ठोपवास (वेला)	२२१
दोमासी	,,	६	अष्टमभक्त (तेला)	१२
डेढमासी	,,	२	पारणाके दिन	३४९
एकमासी	,,	१२	दीक्षाका दिन	१

स्पष्ट है कि महावीर उपसर्ग और परीषहकी घड़ियोमें भी अनाकुल रहते, विचलित नहीं होते थे। वे उग्रतपस्वी, घोरतपस्वी या दीर्घतपस्वी थे। उनका तप विवेककी सीमामे आबद्ध था। वे सहज तपस्वी थे। वे क्षमाके क्षीरसागर थे। अवज्ञा और अवमानना सहन करनेका उन्हे अभ्यास था। लोग उनपर धूल फेंकते, पत्थर मारते, उन्हे नोच डालनेके लिये शिकारी कुत्ते भी छोडते, पर महावीर शान्त रहते। किसीको कुछ भी नही कहते। उद्दण्ड विरोधियोंके प्रति भी सौहार्द एव सौजन्यपूर्ण मधुरभाव विद्यमान था। वाणीमे तो क्या, मनमे भी कटुता नहीं होती थी। जिस प्रकार विजलिया या उल्काएँ सागरमे गिरकर स्वय शान्त हो जाती, सागरका कुछ नही बिगाड पाती, उसी प्रकार महावीरके ऊपर किये गये उपसर्ग स्वय ही शान्त हो जाते और उनमे किसी भी प्रकारका विकार उत्पन्न नही कर पाते। महावीर अपनी तप.साधनामे अडिग थे। उन्होने आत्मनिष्ठा और ज्ञान-ध्यानके अभ्यास द्वारा समताभावकी जागृति कर ली थी। ऐहिक सुख-दु ख, आकुलता और व्याकुलता एव मोह-ममता सभी उनसे दूर थे। महावीरने आस्रवका निरोधकर सवर और निर्जराको सक्रिय बनाया था। उनकी आत्माकी अनन्त तेजस्विता ज्ञानके उदयाचलकी ओर झाक रही थी।

कैवल्योपलब्धि

वैशाखशुक्ला दशमी, २३ अप्रिल ई० पू० ५५७ का शुभ दिन मानवताके इतिहासमे अमर है। इस शुभ तिथिमे महावीर ऋजुकूला नदीके तटपर स्थित जम्भृका ग्रामके निकट शालिवृक्षके नीचे ध्यानमग्न हो गये थे और क्षपकश्रेणीका आरोहणकर केवलज्ञानको आवृत करनेवाली कर्मप्रकृतियोका क्षय करने हेतु ध्यानस्थ थे। फलस्वरूप इन्होने निर्मल चित्तसे आज्ञा-विचय आदि चार महान् धर्म-ध्यानोका अभ्यास किया। अनन्तानुबन्धी क्रोध, मान, माया, लोभ, मिथ्यात्व, सम्यक्त्व और सम्यक्मिथ्यात्व, तिर्यचायु, देवायु, नरकायु इन दश कर्मप्रकृतियोको (तीन आयुओका तो अबन्ध था, शेष सात प्रकृतियोका) चतुर्थ गुणस्थानसे सप्तम गुणस्थानके मध्य क्षयकर दिया। कर्मरूपी शत्रुओको नष्ट करनेके लिये तीर्थंकर महावीरने शुक्लध्यानका अभ्यास किया और क्षपक-श्रेणी आरूढ होकर स्त्यानगृद्धि, निद्रा-निद्रा, प्रचलाप्रचला, नरकगति,

तिर्यञ्चगति, एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रियरूप चार जातियो, नरकगति, नरकगत्यानुपूर्वी, तिर्यग्गति, तिर्यग्गत्यानुपूर्वी, आतप, उद्योत, स्थावर, सूक्ष्म, साधारण इन सोलह कर्मप्रकृतियोको नष्ट किया। महावीर शुक्ल-ध्यानकी साधनाद्वारा अनिवृत्तिकरण नामक गुणस्थानके प्रथम भागमे अवस्थित रहे। पुन इसी गुणस्थानके द्वितीय भागमे चारित्रघातक आठ कषायोको, तृतीय भागमे नपुसकवेदको, चतुर्थ भागमे स्त्रीवेदको, पचम भागमे हास्यादि षट्को, षष्ठ भागमे पुरुषवेदको, सप्तम भागमे सज्वलन क्रोधको, अष्टम भागमे सज्वलन मानको और नवम भागमे सज्वलन मायाको क्षीण किया। अनन्तर दशम गुणस्थानकी भूमिपर आरोहित हो सूक्ष्मसज्वलन लोभका विनाश किया।

इस प्रकार समस्त मोहनीय कर्मको नष्टकर बारहवें क्षीणकषाय गुणस्थान-का आरोहण किया। इस बारहवे गुणस्थानके दो समयोमेसे उपान्त्य समयमे निद्रा और प्रचला इन दो कर्मप्रकृतियोको तथा अन्त समयमे पाँच ज्ञानावरण, चार दर्शनावरण और पाँच अन्तराय इन चौदह कर्मप्रकृतियोका नाश किया। इस प्रकार द्वादश गुणस्थान तक त्रेसठ कर्मप्रकृतियोका विनाशकर त्रयोदश गुणस्थानका आरोहण किया।

इस गुणस्थानारोहणसे महावीरकी शुभ्रता और उज्ज्वलता सर्वत्र प्रकट हो रही थी। घातियाकर्मोकी ४७ और अघातियाकर्मकी सोलह प्रकृतियाँ कुल मिलाकर त्रेसठ प्रकृतियाँ विगलित होनेसे कैवल्य-सूर्यका उदय हो गया। महावीरकी सौम्य मुद्रामे सर्वज्ञता तरगायित हो रही थी। कर्मशत्रुओने आत्मार्पण कर दिया था और ज्ञान-प्राचीपर कैवल्य-भास्कर उदित हो चुका था। जिस प्रकार सूर्योदय होनेपर सर्वत्र प्रकाश व्याप्त हो जाता है, उसी प्रकार कैवल्योदय होनेपर दिव्य तेज व्याप्त हो गया था।

अनन्त सौख्यकी अनुपम विभूतिसे धराका कण-कण मुस्करा उठा और त्रस्त मानवता त्राणके हेतु आशान्वित हो गयी। राग-द्वेषके विकल्प शान्त हो चुके थे और आत्माने निर्विकल्पक स्थितिको प्राप्त कर लिया था। समताके समक्ष विषमताका अस्तित्व समाप्त हो गया था।

महावीरको कैवल्यबोध या सत्यकी उपलब्धि जिस दिन हुई उसका उल्लेख करते हुए आचार्य यतिवृषभने लिखा है

> वइसाहसुद्धदसमी मघारिक्खम्मि वीरणाहस्स।
> रिजुकूलणदीतीरे अवरण्हे केवल णाण॥
>
> ति० ४।१७०१

वैशाख शुक्ला दशमी (२३ अप्रैल ई० पू० ५५७) का शुभ दिन था, जिस दिन महातपस्वी महावीरको केवलज्ञान उत्पन्न हुआ। उस दिन अपराह्न काल और मघा नक्षत्र था। ऋजुकूला नदीका पावन तट था। जृम्भिका गाँव निकट था। शालिवृक्षके नीचे ध्यानमग्न होकर क्षपकश्रेणीका आरोहण करते हुए घातिकर्मोकी ४७ और अघातिकर्मोकी १६ कुल ६३ प्रकृतियोंको निरस्त करके महावीरने कैवल्य उपलब्ध किया था।

कैवल्यप्राप्ति-स्थान विभिन्न मान्यताएँ

इस कैवल्य-प्राप्ति-स्थानके सम्बन्धमे विद्वानोमे विवाद है.

बाबू कामताप्रसादजीने[1] झरियाको जृम्भिक गाँव माना है। आपका अभिमत है कि प्राचीन लाटदेशका विजयभूमि प्रान्त वर्तमान विहारके अन्तर्गत छोटानागपुर डिवीजनके मानभूमि और सिंहभूमिमे है। श्रीनन्दलाल डे भी झरियाको ही जृम्भिक गाँव मानते हैं। यहाँकी बराकर नदी ही प्राचीन ऋजुकूला है। इस कथनमे एक ही बात विचारणीय है वह है भगवान्‌की केवलज्ञान-प्राप्तिका वज्रभूमिमे होना। वर्तमान झरियामे कोयला निकालते समय यहाँकी भूमिसे प्रथम बार पत्थर निकलता है। अत. यह भूमि यथार्थमे वज्रभूमि है।

आगम-साहित्यके भौगोलिक निर्देशानुसार इस गाँवको वज्रभूमिमे होना चाहिये। श्वेताम्बर आगम-साहित्यमे जृम्भिक गाँवकी स्थिति लाटदेशमे मानी गयी है।

मुनि श्रीकल्याणविजयजी इस ग्रामकी स्थितिके विषयमे लिखते हैं "जृम्भिक गाँवकी अवस्थितिपर विद्वानोका ऐकमत्य नही है। परम्पराके अनुसार सम्मेदशिखरसे दक्षिणमें बारह कोसपर दामोदर नदीके पास जो जम्भिय गाँव है, वही प्रचीन जम्भिक गाँव है। कोई सम्मेदशिखरसे दक्षिण-पूर्वमे लगभग पचास मीलपर आजी नदीके पासवाले जमगामको प्राचीन जम्भिय गाँव बताते हैं। हमारे मान्यतानुसार जम्भिक गाँवकी अवस्थिति इन दोनो स्थानोसे भिन्न स्थानमे होनी चाहिये, क्योकि महावीरके विहार-वर्णनसे जम्भिय गाँव चम्पाके निकट कही रहा होगा[2]।"

मौलिक विरोध

बाबू कामताप्रसादद्वारा अनुमानित स्थान झरिया प्राचीन जम्भिय या जृम्भिक गाँव नहीं है। इस स्थानको ऋजुकूला नदीके किनारे होना चाहिये।

१. बाबू कामताप्रसाद - भगवान् महावीर।

२ श्रमण भगवान् महावीर, पृ० ३७०।

ाकर नदी ऋजुकूलाका अपभ्रंश नही है और न झरियामे कोई भी ऐसा चीन चिह्न ही उपलब्ध है, जिससे इसे तीर्थंकर महावीरका केवलज्ञान-ान माना जा सके। बाबू कामताप्रसाद भी स्वय इस स्थानके विषयमे पूर्ण सन्दिग्ध नही है।

मुनि कल्याणविजयको तो स्वय ही इस स्थानकी अवस्थितिके विषयमे ागका है, पर इतना उन्हे निश्चय है कि यह स्थान चम्पाके निकट ही कही ना चाहिये। आवश्यकचूर्णिके अनुसार महावीर केवली होनेके पूर्व चम्पासे म्भिय, भिण्डिय, छम्माणी होते हुए मध्यमा पावा गये थे और मध्यमासे र जम्भिय गाँव गये थे, जहाँ उन्हे केवलज्ञान प्राप्त हुआ था। इस वर्णनसे गता है कि जम्भिय ग्राम और ऋजुपालिका नदी दोनो मध्यमाके रास्तेमे म्पाके निकट ही कही होने चाहिये।

म्भिक या जम्भिय ग्रामकी अवस्थिति

वर्तमान विहारके भूगोलका अध्ययन करने तथा विहारके कतिपय स्थानोका र्यटन करनेपर अवगत होता है कि महावीरका कैवल्यप्राप्ति-स्थान वर्तमान गेरसे दक्षिणकी ओर पचास मीलकी दूरीपर स्थित जमुई गाँव है। यह स्थान र्तमान क्विल नदीके तटपर है। यही नदी ऋजुकूलाका अपभ्रश है। क्विल टेशनसे जमुई गाँव अठारह-उन्नीस मीलकी दूरीपर अवस्थित है। जमुईसे चार ील उत्तरकी ओर क्षत्रिय-कुण्ड और काकली नामक स्थान हैं। इन स्थानोकी ाचीनता आज भी प्रसिद्ध है। जमुईसे तीन मील दक्षिण एनमेगढ नामक एक ाचीन टीला है। कनिंघमने इसे इन्द्रद्विमनपालका माना है। यहाँपर खुदाईमे नट्टीकी अनेक मुद्राएँ प्राप्त हुई हैं। वर्षाकालमे अधिक पानी बरसनेपर यहाँ ापने-आप ही अनेक मनोज्ञ मूर्तियाँ निकल आती हैं।

जमुई और लिच्छवाड़के बीचमे महादेवसिमिरिया गाँव है। यहाँ सरोवरके ध्य एक तीन-चारसौ वर्ष पुराना मन्दिर भी है। इस मन्दिरमे कुछ प्राचीन ैन प्रतिमाएँ भी है। जमुईसे १५-१६ मीलपर लक्खीसराय है। यहाँपर एक र्वतश्रेणी है, जिसमेसे प्रतिवर्ष अनेक बौद्ध और जैन मूर्तियाँ निकलती है। मुई और राजगृहके बीच सिकन्दरा गाँव है तथा सिकन्दरा और लक्खीसराय-के मध्यमे एक आम्रवन है। कहा जाता है कि इस आम्रवनमे भगवान महा-ीरने तपश्चरण किया था। आज भी यहाँके निकटवर्ती लोग इस वनको पावन ानकर इसके वृक्षोकी पूजा करते है।[1]

१. लेखकने स्वय जाकर देखा और जानकारी प्राप्त की।

'जमुई' गाँवकी भौगोलिक स्थितिसे प्रकट है कि जैन साहित्यमे उल्लिखित यह 'ऋजुकूला' नदी वर्त्तमान अपभ्रंश 'विपल' नदी ही है और इसका तटवर्ती वर्त्तमान 'जमुई' गाँव ही 'जृम्भिक' ग्राम है। हमारे इस कथनकी पुष्टि आगमोमे वर्णित भूगोल और महावीरके विहार-प्रदेशके वर्णनसे भी होती है। यहाँ प्रचलित किंवदन्तियाँ और उपलब्ध पुरातत्त्व भी इसकी पुष्टिमें सहायक हैं। 'जमुई'-के दक्षिण लगभग ४-५ मीलकी दूरीपर एक 'केवाली' नामक ग्राम है, जो महावीरके केवलज्ञानोत्पत्ति-स्थानकी स्मृतिको बनाये रखनेके लिये ही प्रसिद्ध हुआ होगा। इस गाँवके समीप बरसाती 'अञ्जन' नदी बहती है, जिसके किनारेपर बालू अधिक पायी जाती है। सिकन्दराबाद तथा केवाली-निवासियोसे बातें करनेपर वे कहते हैं कि यही 'केवाली' भगवान् महावीरका 'केवल' ज्ञान स्थान है तथा 'अजन' नदीको 'ऋजुपालिका' या ऋजुवालिका' बतलाते हैं। वैशाख-शुक्ला दशमीके दिन यहाँ सामूहिक रूपसे उत्सव भी मनाया जाता है। सिकन्दराबादके निवासी श्रीभगवानदास केशरीने इस स्थानसे अनेक पुरातत्त्वावशेषोका सकलन किया है तथा उनके पास ऐसी अनेक किम्वदन्तियाँ भी सग्रहीत हैं, जिनसे 'जमुई'का निकटवर्ती प्रदेश महावीरका कैवल्यप्राप्ति-स्थान सिद्ध होता है।[1]

'जमुई'से राजगिर लगभग ३० मीलकी दूरीपर है। झरियासे चम्पा और राजगृहकी दूरी सौ-सवासौ मीलसे भी अधिक है। 'जमुई' चम्पाके भी निकट है। अत यह निश्चित है भगवान् महावीरका बोधि-स्थान ऐसी जगह था, जो राजगृह और चम्पा दोनोसे ३०-३५ मीलकी दूरीसे अधिक न था। 'जमुई' भी वज्रभूमि है। यहाँ भी पृथ्वीके नीचे पत्थर निकलते हैं, पहाड़ी स्थान भी है। 'क्विल' नदीका तटवर्ती प्रदेश है। जमीन पथरीली और उबड़-खाबड़ है। अत' महावीरका केवलज्ञान स्थान 'जमुई' ग्रामका निकटवर्ती वह प्रदेश, जहाँ आजकल 'केवाली' ग्राम बसा है, होना चाहिये।

केवलज्ञान : अर्चना

महावीरके केवलज्ञान-कल्याणकका उत्सव सम्पन्न करनेके लिए चतुर्निकायके देव और मनुष्य एकत्र हुए। सभीने भक्तिभावपूर्वक उनके केवलज्ञानकी पूजा की। ऋजुकूलाका तट मुखरित था। बारह वर्ष, पाँच मास और पन्द्रह दिनकी दुर्द्धर्ष तपश्चर्याका फल अर्हत्वके रूपमे प्राप्त हो चुका था। तीर्थंकरप्रकृतिका उदय होनेसे दिव्य देशनाका सामर्थ्य उत्पन्न हो गया था।

●

१ लेखकने स्वयं जाकर देखा और जानकारी प्राप्त की है।

सप्तम परिच्छेद

गणधर, समवशरण, शिष्य एवं निर्वाण

समवशरण पीयूष-वाणीकी आकांक्षा

तीर्थंकर महावीरने अर्हत्त्व प्राप्त कर लिया। उनके ज्ञानके अपूर्व प्रकाशसे सारा ससार जगमगा उठा, दिशाएँ शान्त एव विशुद्ध हो गयी। मन्द-मन्द सुखद पवन वहने लगा। सौधर्म इन्द्र और अन्य चतुर्निकायदेव महावीरके केवलज्ञान-कल्याणककी पूजा कर चुके थे। इन्द्रने अपने कोषाध्यक्ष कुबेरको बुलाया और एक विशाल सभा-मण्डप समवशरणकी रचनाका आदेश दिया। इन्द्रकी अभिलाषा थी कि विगत २३ तीर्थंकरोके समान अन्तिम तीर्थंकर महावीर भी अपनी देशनाद्वारा ससारके सत्रस्त, सन्तप्त प्राणियोको शान्ति प्रदान करे। इस उद्देश्यकी पूर्तिके लिये ऋजुकूलाके तटपर अविलम्ब समव-

शरणकी रचना की गयी। कुवेर हर्षित था और उसे अपना वैभव अकिंचन लग रहा था।

विशाल भव्य समवशरण रचा गया। उसकी शोभा अप्रतिम और सजावट अद्वितीय थी। धरतीके वक्षस्थलपर निर्मित यह समवशरण विश्वके गौरव-का प्रतीक था। इसके चारो द्वारोके आगे धर्म-ध्वजोसे मण्डित मानस्तम्भ और धर्मचक्र सुशोभित थे। समवशरणमे प्राकार, चैत्य वृक्ष, ध्वजा, वनवेदी, तोरण, स्तूप आदि रत्नमय एव जिन-प्रतिमाओसे युक्त थे।

प्राणी इस सभा-मण्डपमे पहुँचते ही आधि-व्याधि भूल जाता था। धर्ममय वातावरणमे वह निराकुल हो जाता था। इस सभा-मण्डपमे मनुष्य ही नही, पशु-पक्षी तक पहुँच कर अपना कल्याण करते थे। समवशरण द्वादश कोष्ठको-मे वटा हुआ था, जिनमे साधु-आर्यिका, देव-देवाङ्गना और पशु-पक्षी वैठते थे। इसके मध्यमे गन्धकुटी थी, जिसमे एक स्वर्णसिंहासन रखा हुआ था। महावीर इतने निर्लिप्त और निर्मोही थे कि उसका स्पर्श भी उन्हे नही होता था। उनकी पुण्यप्रकृतियोसे शरीर इतना सूक्ष्म और सुन्दर हो गया था कि वह अधिक स्थूल पदार्थका आश्रय न चाहकर आकाशमे ही स्थिर था। सिंहासन-पर स्वर्ण-कमल वना था, जिससे यह प्रतिभासित होता था कि भगवान् कमला-सनपर विराजित हैं।

यह समवशरण आत्मानुशासनका प्रतीक था। यहाँ किसी प्रकारकी आकुलता नही थी, सभी प्राणी शान्त, विनम्र और अनुशासित थे।

स्थापत्यकलाकी दृष्टिसे भी यह एक अलौकिक उदाहरण था। सर्वप्रथम धूलिसालकोट वना हुआ था, इसके आगे मानस्तम्भ और मानस्तम्भके आगे वापिकाएँ विद्यमान थी। वापिकाओसे कुछ दूर जानेपर जलपूर्ण परिखा, इसके आगे लतावन और तदनन्तर प्रथम परिकोट आता था। इस कोटके द्वार पर देव द्वारपालके रूपमे विद्यमान थे और गोपुरद्वारपर आठ मंगलद्रव्य स्थित थे। इसके आगे दूसरा परिकोट विद्यमान था, जिसमे अशोकवन, सप्तपर्णवन, चम्पकवन और आम्रवन ये चार वन विद्यमान थे। इन वनोमे चैत्यवन भी थे, जिनके वृक्षोपर तीर्थंकरोकी प्रतिमाएँ विराजमान थी। यहाँ किन्नर-जातिकी देवियाँ तीर्थंकरका गुणगान करती हुई परिलक्षित होती थी। इसके पश्चात् चार गोपुरद्वारो सहित वलवेदिका उल्लघन करनेपर अनेक भवनोसे युक्त पृथ्वी और स्तूप अवस्थित थे। ये भवन तीन, चार और पांच खण्डोके थे। भवनोके वीचमे रत्नतोरण लगे हुए थे। जिनमे मूर्तियाँ अंकित थी। यहाँ रत्नमय स्तूप भी सुशोभित होता था।

इसके आगे आकाशमे स्फटिकका बना हुआ तृतीय कोट था। इसके द्वारपर कल्पवासी देव उपस्थित रहकर पहरा देते थे। उनसे आज्ञा लेकर अथवा बिना आज्ञा लिये ही सभामें प्रवेश करते थे। यहाँ चारो ओर एक योजन लम्बा-चौड़ा और गोल श्रीमण्डप बना हुआ था। इसके मध्यमे तीर्थंकर महावीर सुशोभित थे। बारह कक्षोमे क्रमश मुनि, कल्पवासिनी देवियाँ, आर्यिकाएँ, महारानियाँ एव अन्य स्त्रियाँ, ज्योतिषीदेवोकी स्त्रियाँ, व्यन्तरदेवोकी स्त्रियाँ, भवनवासीदेवोकी स्त्रियाँ, भवनवासीदेव, व्यन्तरदेव, ज्योतिषीदेव, कल्पवासी-देव, सभी प्रकारके पुरुष और सभी प्रकारके मृगादि पशु-पक्षी उपस्थित थे।

तीर्थंकर महावीरकी देशना सुननेके लिये जनसमूह एकत्र हो रहा था। इन्द्र भी अपने विशाल परिवार सहित आ पहुँचा। उसने तीर्थंकर महावीरका अर्चन, वन्दन किया और समवशरणके नियमानुसार अपने कक्षमे बैठ गया। इस सभामण्डपमे ज्ञानालोक व्याप्त था और तिमिर छिन्न करनेवाली प्रकाश-व्यवस्था भी बडी महनीय थी। रात-दिनका भेद मिट गया था और प्रकाश-ही-प्रकाश सर्वत्र दिखलायी पडता था। जो भी प्राणी इस समवशरण-सभामे आया, उसके हृदयसे वैर, द्वेष, क्रोध, हिंसा एव प्रतिशोधकी दूषित भावनाएँ समाप्त थी और उनके परिणाम इतने निर्मल थे कि वे जन्मजात शत्रुताको भी विस्मृत कर चुके थे। समस्त अन्तर्विरोध समाप्त हो गये थे। गाय-सिंह, मृग-व्याघ्र, मार्जार-मूषक बडे निर्मलभावसे एकसाथ स्थित रहकर तीर्थंकर महावीरकी दिव्य वाणीकी उत्कण्ठापूर्वक प्रतीक्षा कर रहे थे।

अगणित श्रोता महावीरकी ओर अपलक दृष्टि थे। उनके मन प्राण तीर्थं-करकी पीयूष-वाणीको सुननेकी प्रतीक्षा कर रहे थे। महावीरकी सौम्य मुखमुद्रा सभीको अपनी ओर आकृष्ट कर रही थी। उनकी मुखाभा दिव्यभाषा बनी हुई थी। उनकी मुद्रा अविचल, वचनातीत और भाषातीत थी। अनन्तज्ञान, अनन्तदर्शन, अनन्तसुख और अनन्तवीर्यकी उज्ज्वलता सर्वत्र विद्यमान थी।

समवशरण-सभामे एकत्र सभी प्राणिवर्ग उद्ग्रीव होकर महावीरकी देशना सुननेके लिये लालायित थे।

देशना-अवरोध और इन्द्रकी चिन्ता

महावीरको दिव्यज्ञानकी प्राप्ति वैशाख-शुक्ला दशमीके दिन अपराह्न कालमे हो चुकी थी। आषाढका मास व्यतीत होने जा रहा था, पर अभी तक महावीरकी देशना आरम्भ नही हुई थी। विद्वज्जन, देवगण एवं अन्य विचारशील व्यक्ति देशनाके अवरोधके सम्बन्धमे विचार कर रहे थे। वे

चिन्तित थे कि तीर्थंकर महावीरने अपने तपस्या-कालमे मौन रहकर साधना-की, उन्होने कोई देशना नही दी। उनके सम्पर्कसे दृष्टिविष जैसे सर्प और शूलपाणि जैसे यक्ष अवश्य उपकृत हुए थे। पूर्वतीर्थंकरोके समान सर्वभूत-हितार्थ महावीरकी दिव्यध्वनिका लाभ हमे अवश्य होना चाहिये। पर यह क्या ? दिन गिनते-गिनते पैंसठ दिन बीत गये और महावीरकी दिव्य-वाणी प्रकट नही हुई। श्रोताओने मनको समझाया कि अभी काललब्धि नही आयी है। यही कारण है कि प्रभुकी देशनामें विलम्ब है।

इन दिनोमे सभा-मण्डपमे कितने ही लोग आये, कुछ आकर लौट गये और कुछ भव्यप्राणी दिव्यध्वनिकी प्रतीक्षा करते हुए उपस्थित रहे।

दिन-पर-दिन और रात-पर-रात व्यतीत होती गयी, पर तीर्थंकरकी वाणी मुखरित न हुई। उपस्थित जनसमुदाय निराश होने लगा और वाणीके अवरुद्ध होनेके कारणकी जिज्ञासा करने लगा। सभी लोग स्तब्ध थे, असमजस-मे थे, पर समाधान किसीके पास न था। सब जानते थे कि तीर्थंकर महावीर मूककेवली नही। उनका उपदेश अवश्य होगा। पर कब होगा ? और अबतक क्यो अवरुद्ध है ? इसकी जानकारी किसीको नही थी।

पैंसठ दिनो तक समवशरण भी एक स्थानपर नही रह सका और तीर्थंकर महावीर विहार करते हुए राजगृहके निकट विपुलाचलपर आये। यहाँ भी कुबेरने पूर्ववत् सभा-मण्डप समवशरणकी रचना की। असख्य श्रोता इस सभामे भी उपस्थित थे, पर गतिरोध ज्यो-का-त्यो बना हुआ था। तीर्थंकर महावीरकी वाणीके प्रकट न होनेसे सौधर्म इन्द्रको चिन्ता उत्पन्न हुई और उसने ज्ञान-गगाके अवरुद्ध रहनेके कारणोकी जानकारी चाही। सौधर्म इन्द्रने अवधिज्ञानसे ज्ञात किया कि सम्यक् और यथार्थ ज्ञानी गणधरके अभावमे ज्ञान-गगा रुकी हुई है। उसे अवतरित करनेके लिये किसी भगीरथकी आवश्य-कता है। जब-तक सच्चा जिज्ञासु और श्रुतज्ञानका धारक व्यक्ति उपस्थित न होगा, तब तक तीर्थंकरकी दिव्यध्वनि सम्भव नही है। समवशरणमे इस समय-कोई भी ऐसा व्यक्ति नही है, जो तीर्थंकर महावीरकी वाणीको सुने, समझे और ठीक-ठीक उसकी व्याख्या कर सके। जब तक ज्ञानकी गूढताका ज्ञाता यथास्थितिका सवहन करनेवाला व्यक्ति इस सभामे उपस्थित नही होगा, तब तक तीर्थंकरकी वाणी मुखरित नही हो सकेगी। अतएव मुझे गणधरकी खोज करनी है।

जिस प्रकार तीर्थंकर तीर्थका निर्माता होता है और श्रुतरूप ज्ञान-परम्पराका पुरस्कर्ता होता है, उसी प्रकार गणधर तीर्थ-व्यवस्थापक, नियोजक

और तीर्थंकरोकी अर्थरूप वाणीका व्याख्याता होता है। प्रत्येक तीर्थंकरके तीर्थमे गणधर एक अत्यावश्यक उत्तरदायित्वपूर्ण और महान् प्रभावशाली व्यक्तित्व होता है। वह इनके पादमूलमे दीक्षित होता है।

वस्तुत साधनाके क्षेत्रमे व्यक्ति स्वयं अपना विकास कर सकता है, पर साधनाको सिद्ध करके उसके प्रकाशको जन-जनके जीवनमे प्रसारित करनेके हेतु महान् व्यक्तित्व-सम्पन्न व्यक्ति भी समाजमे जब प्रविष्ट होता है अथवा सघ एवं समाजकी स्थापना करता है, तब उसे इसके लिये सहयोगीके रूपमे तेजस्वी व्यक्तित्वकी अपेक्षा होती है। यत सहयोगके विना कार्यको साकार रूप नही दिया जा सकता है। ज्ञानकी अभिव्यक्ति करनेके लिए क्रियाका सहयोग आवश्यक है। व्यक्तिका आचार ही व्यक्तिके विचारको अभिव्यक्ति दे सकता है। आचारके विना विचार साकार रूप ग्रहण नही कर सकता है। इसी प्रकार श्रद्धालु एवं कर्मनिष्ठ व्यक्ति ही महान् तेजस्वी व्यक्तित्वकी तेजस्विता-को जन-जनके समक्ष प्रकट कर सकता है।

प्रत्येक तीर्थंकरके लिए गणधरकी नितान्त आवश्यकता है। तीर्थंकरकी ज्ञान-साधना गणधरके द्वारा ही अभिव्यक्तिको प्राप्त होती है। अत महावीर-की दिव्यज्ञानधाराको ग्रहण करनेवाला गणधर परम आवश्यक है।

सोमिल और इन्द्रभूति

मगधमे आर्य सोमिल नामक एक विद्वान् ब्राह्मण ब्राह्मणवर्गका नेतृत्व अपने हाथमे लिये हुए पूर्वीय भारतमे अत्यन्त प्रतिष्ठित था। उसने मध्यमा पावामे एक विराट् यज्ञका आयोजन किया, जिसमे पूर्वी भागोके बडे-बडे दिग्गज विद्वानोको उनके शिष्य-परिवार सहित आमन्त्रित किया। इस महायज्ञके अवसरपर वेद-विरोधी विचारधाराके कडे प्रतिवादके उपायोपर एव साधारण जनताको पुन वैदिकविचारोकी ओर आकृष्ट करनेके साधनोपर भी विचार करनेके निमित्त योजना बनाई गई थी। इस महायज्ञका नेतृत्व मगधके प्रसिद्ध विद्वान् एव प्रकाण्ड तर्कशास्त्री इन्द्रभूति गौतमके हाथमे था।

इस अनुष्ठानमे सहस्रो विद्वानोके साथ अग्निभूति, वायुभूति आदि एका-दश महापण्डित उपस्थित थे। वैदिक विचारधाराके समर्थक अपने विखरते हुये प्रभुत्वकी पुन स्थापनाहेतु वहाँ सम्मिलित थे। आर्य सोमिलकी जयध्वनि आकाश तक पहुँच रही थी।

इन्द्रभूति गौतम : खुला श्रद्धाका द्वार

इन्द्रभूति गौतमका जन्म मगध-जनपदके गोब्बर ग्राममे हुआ था। इनकी

माताका नाम पृथ्वी और पिता नाम वसुभूति था। इनका गोत्र गौतम था। गौतमका व्युत्पत्तिजन्य अर्थ है 'गोभिस्तमो ध्वस्त यस्य' बुद्धिके द्वारा जिसका अन्धकार नष्ट हो गया है अथवा जिसने अन्धकार नष्ट किया है। यो तो 'गौतम' शब्द कुल एव वशका वाचक है। ऋगवेदमे भी गौतमनामसे अनेक सूक्त मिलते है। इस नामधारी अनेक व्यक्ति हो चुके हैं। इन्द्रभूति गौतमका व्यक्तित्व विराट् एव प्रभावशाली था। दूर-दूर तक उनकी विद्वत्ताकी धाक विद्यमान थी। ५०० छात्र उनके पास अध्ययन करते थे। इनके व्यापक प्रभाव-के कारण ही सोमिल आर्यने इस महायज्ञका धार्मिक नेतृत्व इनके हाथमे सौपा था। मगध-जनपदके सहस्रो नागरिक दूर-दूरसे इस यज्ञके दर्शन करने आये थे।

राजगृहके निकट विपुलाचलपर निर्मित समवशरणमे तीर्थंकर महावीर-की देशना सुननेके लिए असख्य देव विमानो द्वारा पुष्पोकी वर्षा करते हुए जा रहे थे। आकाशमार्ग जयजयकारकी ध्वनिसे गूँजित था। जिस प्रकार छोटी-छोटी सरिताएँ वृहत् समुद्रमे सम्मिलित होती है, उसी प्रकार नर-नारियो-के विभिन्न वर्ग इस सभामे सम्मिलित होनेके लिये आकुलित थे।

निराशा और जिज्ञासा

यज्ञ-मण्डपमे स्थित विद्वानोने आकाशमार्गसे आते हुए देवगणोको देखा, तो वे रोमाचित हो कहने लगे "यज्ञ-महात्म्यसे प्रभावित होकर आहुति ग्रहण करनेके हेतु देवगण आ रहे हैं।" लक्ष-लक्ष मानवोकी आँखे आकाशकी ओर टकटकी लगाये देख रही थी, पर जब देवविमान यज्ञ-मण्डपके ऊपरसे होकर सीधे आगे निकल गये, तो यज्ञ-समर्थकोके बीच बडी निराशा उत्पन्न हुई। सबकी आँखे नीचे झुक गयी, मुख मलिन हो गये और आश्चर्यके साथ सोचने लगे "अरे! देवगण भी किसीकी मायामे फँस गये हैं या भ्रममे पड़ गये है? यज्ञ-मण्डप छोडकर कहाँ जा रहे हैं?"

इन्द्रभूतिने देवविमानोको प्रभावित करनेकी दृष्टिसे वेद-मन्त्रोका पाठकर तुमुल ध्वनि की, पर उनके अहकारपर चोट करते हुए देवविमान सीधे निकल गये।

इन्द्रभूतिको यह जानकर अत्यन्त आश्चर्य हुआ कि ये सभी देवविमान महावीरकी समवशरण-सभामे जा रहे हैं। इन्द्रभूतिका मन अहकारपर चोट लगनेसे उदास हो गया। उनका धर्मोन्माद मचल उठा। इसी समय सौधर्म-इन्द्र वटुकका रूप बनाये हुए इन्द्रभूतिके समक्ष पहुँचा और कहने लगा "गुरु-वर! आपकी विद्वत्ताकी यशोगाथा देशभरमे व्याप्त है। वेद, उपनिषद्का

ज्ञान आपकी चेतनाके कण-कणमें छाया हुआ है। आप दर्शन, न्याय
ज्योतिष और आयुर्वेदके मर्मज्ञ विद्वान् हैं। मुझे एक गाथाका अर्थ समझ
आ रहा है। अत उसका अर्थ ज्ञात करनेके लिये मैं आपकी सेवामे उ
हुआ हूँ। यदि आप आदेश दें, तो मैं उस गाथाको आपके समक्ष प्रस्तुत

इन्द्रभूति गौतम ब्राह्मणवटुकरूपधारी इन्द्रके विनीत भावसे बहुत
हुआ। उसने अनुभव किया कि आगन्तुक वृद्धमे ज्ञानकी पिपासा है। व
और अनुशासित भी है। अत इसकी जिज्ञासा पूर्ण करना मेरा कर्त्तव्य

इन्द्रने नम्रतापूर्वक कहा :

पंचेव अत्थिकाया छज्जीव-णिकाया महव्वया पच।
अट्ठ यपवयण-मादा सहेउओ बध-मोक्खो य[१]॥

इन्द्रभूति "मैं इस गाथाका अर्थ तभी बतलाऊँगा, जब तुम इसका
ज्ञात हो जानेपर मेरे शिष्य बननेकी शर्त स्वीकार करो।"

इन्द्रभूति बहुत समय तक गाथाका अर्थ सोचता रहा। पर
समझमे कुछ नही आया। अतएव वह इन्द्रसे कहने लगा "तुमने यह
कहाँसे सीखी है? किस ग्रन्थमे यह गाथा आयी है"?

ब्राह्मणवेशधारी इन्द्र—"मैने यह अपने गुरु तीर्थंकर महावीरसे
है। पर वे कई दिनोसे मौनावलम्बन लिये हुए हैं। इसी कारण इस गा
अर्थ मैं उनसे नही जान पाया। आपका यश वर्षोसे सुनता चला आ र
और आपकी प्रखर प्रतिभाका मैं प्रशसक हूँ। अतएव इस गाथाका अर्थ
करनेके लिये आपकी सेवामे उपस्थित हुआ हूँ।"

इन्द्रभूति समझ न सके कि पञ्चास्तिकाय क्या हैं? छ जीवनि
कौन से हैं? आठ प्रवचनमात्रिकाएँ क्या वस्तु है? इन्द्रभूतिको जीवके अस्ति

१. षट्खण्डागम, धवला, पु० ९, पृ० १२९ में उद्धृत।

२ उक्त गाथाके समकक्ष सस्कृतमें भी निम्नलिखित पद्य उपलब्ध है

त्रैकाल्य द्रव्यषट्क नवपदसहित जीवषट्-काय-लेश्या।
पञ्चान्ये चास्तिकाया व्रत-समिति-गति-ज्ञान-चारित्रभेदा.॥
इत्येतन्मोक्षमूल त्रिभुवनमहितै प्रोक्तमर्हद्भिरीशै।
प्रत्येति श्रद्दधाति स्पृशति च मतिमान् य स वै शुद्धदृष्टि॥

तत्त्वार्थसूत्र, श्रुत

सम्बन्धमें स्वयं शंका थी।[1] अतः वे और भी असमंजसमें पड़कर कहने लगे "चलो, तुम्हारे गुरुके समक्ष ही इस गाथाका अर्थ बतलाऊँगा। मैं अपनी विद्वत्ताका प्रभाव तुम्हारे गुरुपर ही प्रकट करना चाहता हूँ।"

इन्द्रभूति गौतमकी उक्त बातको सुनकर इन्द्र बहुत प्रसन्न हुआ और मनमे सोचने लगा "मेरा कार्य अब सम्पन्न हो गया। तीर्थंकर महावीरके समवशरणमे पहुँचते ही इनका अहकार विगलित हो जायगा और शकाओका समाधान स्वय प्राप्त हो जायगा।"

मानस्तम्भदर्शन : मानगलन और रत्नत्रयका उपहार

इन्द्रभूति गौतमने शास्त्रार्थ करनेकी आकाक्षासे तीर्थंकर महावीरके समवशरणमे प्रवेश किया। मानस्तम्भके दर्शनमात्रसे ही उनके मनका सारा कालुष्य धुल गया। स्तम्भ देखकर इन्द्रभूति स्तब्ध रह गया और ज्ञानका समस्त अहकार पिघल गया। इन्द्रभूति गौतमके लिये मानस्तम्भ प्रकाश-स्तम्भ बन गया। उनके हृदयका तिमिर छिन्न हो गया और उन्हे क्षायोपशमिक ज्ञानकी सीमा ज्ञात हो गयी। वह मन-ही-मन सोचने लगा कि मेरा ज्ञान कितना बौना है। मैं तो महावीरके ज्ञानकी एक किरण भी छूनेमे असमर्थ हूँ। न मालूम क्यो मुझे अपने ज्ञानका अहकार था। आज मेरा अभिमानी मन विनम्रतासे भर गया है, द्रवीभूत हो गया है।

इन्द्रभूति गौतम गततम होकर गन्धकुटीमे विराजमान तीर्थंकर महावीरकी मङ्गल-मुद्राका दर्शनकर हर्षविभोर हो उठा। प्रतिमाके साथ उसकी श्रद्धाके कपाट भी खुल गये। मिथ्यात्वरूपी ओस-कण महावीरके केवलज्ञानरूपी सूर्यप्रभासे सूखने लगे। उसकी अन्तरात्मा निर्मल नीरकी तरह स्वच्छ हो गयी। सम्यक्‌दर्शनका आविर्भाव हो गया और ज्ञानका मद चूर हो गया।

श्रद्धातिरेकके कारण उसके परिणामोमे अतिशय कोमलता उत्पन्न हो गयी। आया था शास्त्रार्थ करने, पर उसके शास्त्रके सभी शस्त्र कुण्ठित हो गये। वीतरागताके समक्ष उसके मनका कालुष्य धुल गया। दम्भ और मिथ्या-

१ खओवसमजणिद-चउरमलबुद्धिसपण्णेण बम्हणेण गोदमगोत्तेण सयल-दुस्सुदिपारएण जीवाजीव-विषय-सदेहविणासणट्ठमुवगय-वड्ढमाण-पादमूलेण इंदभूदिणा वहारिदो। उक्त च

गोत्तेण गोदमो विप्पो चाउव्वेय-सडंग वि।
णामेण इदभूदि त्ति सीलवं बम्हणुत्तमो ॥

षट्खडागम, धवला, पुस्तक १, पृ० ६४ मे उद्धृत

पासक हो गया। वह तन और मनसे निर्ग्रन्थ बननेका सकल्प करने ल

इन्द्रभूतिने दिगम्बरी दीक्षा ग्रहण कर ली। उसे मन पर्यय ज्ञान हो गया। इन्द्रभूति गौतमकी मिथ्यात्वे श्रद्धाका ताला टूटते ही जयजय ध्वनि होने लगी।

यह पावन दिन आषाढी पूर्णिमाका था, इसी दिन गौतमने दीक्षा धा ती। इसी कारण यह दिन 'गुरुपूर्णिमा'के नामसे लोकमे प्रसिद्ध है। अग श्रावण कृष्ण-प्रतिपदाके ब्राह्ममुहूर्त्तमे भगवान् महावीरकी दिव्यध्वनि ई। और इसीलिए धर्मतीर्थकी उत्पत्ति भी इसी दिन हुई

वासस्स पढममासे सावणमासम्मि बहुलपडिवाए।
अभिजी-णक्खत्तम्मि य उप्पत्ती धम्मतित्थस्स ॥[1]

वीरसेनाचार्यने केवलज्ञानोत्पत्तिके ६६ दिनतक देशना प्रकट न रणकी मीमासा की है। लिखा है

> केवलणाणे समुप्पण्णे वि दिव्वज्झुणीए किमट्ठ तत्थापउत्ती? ग भावादो। सोहम्मिदेण तक्खणे चेव गणिदो किण्ण ढोइदो? ण, काल विणा असहेज्जस्स, देविदस्स तड्ढोयणसत्तीए अभावादो। सगपाद पडिवण्णमहव्वय मोत्तूण अण्णमुद्दिसिय दिव्वज्झुणी किण्ण पयट्ठदे? वियादो। ण च सहाओ परपज्जणिओगारुहो, अव्ववत्थापत्तीदो।[2]

आशय यह है कि सौधर्म इन्द्र भी काललब्धिके अभावमे तत्काल गण तलाश नही कर सका। काललब्धिके सम्बन्धमे प्रश्न नही किया जा स यत यह स्वभाव है और स्वभावमे तर्कका प्रवेश नही होता।

इन्द्रभूति गौतमने पचास वर्षकी अवस्थामे दिगम्बरी दीक्षा ग्रहण क मोक्ष-भवनकी सीढियोपर पदार्पण किया। ये तत्त्वज्ञानी, विशिष्ट साधव तपस्वी थे और थे विरल अध्यात्मयोगी, सिद्धिसम्पन्न साधक और कल्याणकी उदग्र भावनासे युक्त परिव्राजक। उनमे विनय, सरलता, मृदुत विचारशीलता पूर्णत विद्यमान थी। इनका जीवन पुष्पतुल्य ही नही, पुष्पोका रंग-विरगा गुलदस्ता था, जिसमे विविध प्रकारके सौरभके साथ सुकुमारता भी निहित थी।

१ तिलोयपण्णत्ती, ११६९.

२ कसायपाहुड, जयधवला, पुस्तक १, पृ० ७६.

गणधरोंमें इन्द्रभूतिका प्रधान स्थान था। महावीरके समवशरणमें ग्यारह विद्वान् गणधरनामसे विख्यात् थे। इन सभीने महावीरके दिव्य ज्ञान और तेज-से प्रभावित होकर दिगम्बर-दीक्षा ग्रहण की थी।

अन्य गणधर : हृदय-परिवर्तन और दीक्षा

इन्द्रभूति गौतमके दिगम्बर-दीक्षा ग्रहण करनेका समाचार मगध-भूमिमें विद्युत्के समान व्याप्त हो गया। शिष्य-परिवार सहित इनके दीक्षित होनेसे अग्निभूति आदि विद्वानोंको महान् आश्चर्य हुआ और वे इन्द्रभूतिका समाचार ज्ञात करनेके लिए राजगृहके निकट विपुलाचलपर पधारे।

अग्निभूति

अग्निभूति इन्द्रभूतिके मझले भाई थे। ये भी पाँचसौ छात्रोंके विद्वान् अध्यापक थे और सोमिलार्यके यज्ञोत्सवमें अपने छात्रगणके साथ मध्यमा पावामें पधारे थे। वेद, उपनिषद् और कर्मकाण्डके महान् ज्ञाता थे। इनके आकर्षक व्यक्तित्वका प्रभाव प्रत्येक व्यक्तिपर पड़ता था। इनका व्यवहार मधुर एवं विनय-पूर्ण था।

इन्द्रभूतिकी दीक्षाके समाचारसे आश्चर्य-चकित हो शास्त्रार्थ करनेकी साध लेकर महावीरके समवशरणमें आये। मानस्तम्भके दर्शनमात्रसे इनके हृदयका व्यामोह दूर हो गया तथा मिथ्यात्वके विगलित होते ही सम्यक्त्वकी प्रकाश-किरणें फूट पड़ी।

वे महावीरकी शांत मुखमुद्राका दर्शन करनेमें इतने तल्लीन हो गये कि उन्हें शरीरकी भी सुध-बुध न रही। जिस प्रकार स्वर्ण अग्निमें तपकर निखर जाता है और समस्त मलिनता दूर हो जाती है, उसी प्रकार अग्निभूति-की आत्मज्योति तीर्थंकर महावीरके सम्पर्कसे निखर गई और आत्म-शोधनके हेतु दीक्षित होनेकी उनकी कामना भी जागृत हो गयी।

सच्ची रुचि, सच्ची श्रद्धा, सच्चा ज्ञान और सच्चा आचरण भी उत्पन्न हो गया। अग्निभूतिके हृदय-परिवर्तनमें विलम्ब न हुआ। सच है कि काल-लब्धिके आनेपर आत्मोत्थानमें रुकावट नहीं आती। द्वैत-अद्वैत-सम्बन्धी उनकी शंकाएँ स्वयं निराकृत हो गयीं।

अग्निभूतिने ४६ वर्षकी अवस्थामें तीर्थंकर महावीरके चरणोंमें दिगम्बर-दीक्षा ग्रहण की। इनके दीक्षित होनेका समाचार भी बात-की-बातमें सर्वत्र व्याप्त हो गया और विद्वानोंकी उत्सुकता जागृत हुई कि महावीरमें ऐसा कौन-सा

चमत्कार है? क्रियाकाण्डी ब्राह्मण-परम्परानुयायी विद्वान् आश्चर्य-चकित हो समवशरण-सभामे आने लगे।

वायुभूति गौतम : अहंकार चूर

वायुभूति इन्द्रभूतिका छोटा भाई था। यह भी सोमिलार्यके यज्ञोत्सवमे ५०० छात्रोके साथ मध्यमा पावामे आया हुआ था। जब इसे इन्द्रभूति और अग्निभूतिके दीक्षित होनेका समाचार प्राप्त हुआ तो इसका मन महावीरसे शास्त्रार्थ करनेके लिये फड़क उठा। इसने विचार किया "मेरे दो भाई, पता नही, किस प्रकार मायावीके इन्द्रजालमे फँस गये है। मुझे वैदिक मान्यताओकी रक्षा करनी है। अतएव मैं शास्त्रार्थद्वारा महावीरको अवश्य पराजित करूँगा। भौतिक सुख, समृद्धि, यज्ञ-यागादि क्रियाकाण्ड, जातिवाद, बहुदेववाद आदिका विरोध करनेका सामर्थ्य किसमे है? यह मैं मानता हूँ कि मेरे दोनो बड़े भाई मुझसे अधिक विद्वान् और प्रतिभाशाली है, पर मैं भी अपने ज्ञानपर भरोसा करता हूँ। मेरा विश्वास है कि देहातिरिक्त 'आत्मा' नामका कोई पदार्थ नही। चलता हूँ महावीरकी सभामे और अपने तर्कोसे उन्हे परास्त कर देता हूँ।"

इस प्रकार अहकारसे पुलकित होता हुआ वायुभूति महावीरके समवशरणमे उपस्थित हुआ। जैसे ही वह मानस्तम्भके निकट आया, उसके अहकाररूपी ओले गल गये और मानस-चक्षु उद्घाटित हो गये। गन्धकुटीमे विराजमान तीर्थंकर महावीरको सौम्य मुद्राको निर्निमेष होकर वह देखता रहा। ज्ञानमद चूर होते ही उसका हृदय श्रद्धासे जगमगाने लगा। दम्भ और मिथ्याके हटते ही उसका हृदय परिवर्तित हो गया। मनके सारे विकल्प समाप्त हो गये। मन दिगम्बरी दीक्षाके लिये विवश करने लगा।

वायुभूतिने ४२ वर्षकी अवस्थामे तीर्थंकर महावीरके पादमूलमे दिगम्बर-दीक्षा धारण की और तृतीय गणधरका पद प्राप्त किया। वायुभूतिको भी आत्मदर्शन हो गया और वह भी तीर्थंकरके चरणोका उपासक हो गया।

शुचिदत्त हृदय-परिवर्तन

परिवेश व्यक्तिको कितना परिवर्तित कर देता है, यह शुचिदत्तके जीवनसे जाना जा सकता है। यह ब्रह्मवादी था और यज्ञ-यागादि द्वारा लौकिक अभ्युदयकी प्राप्तिमे विश्वास करता था। जब उन्हे इस बातका ज्ञान हुआ कि तीर्थंकर महावीर समवशरणमे स्थित हैं और जनसमुदाय उनकी पीयूष-वाणीका पान करनेके लिये एकत्र है, तो वे भी अपनी इच्छाका संवरण न कर सके और तीर्थंकर महावीरके दर्शनके लिये चल पडे। शुचिदत्त ज्ञानी अध्यापक थे और ५००

शिष्य इनके चरणोमे बैठकर वेदाध्ययन करते थे। इनके ज्ञानकी धूम भी समस्त पूर्वाञ्चलमे व्याप्त थी। ये कोल्लाग-सन्निवेशके निवासी और भारद्वाजगोत्रीय ब्राह्मण थे। इनकी माताका नाम वारुणी और पिताका नाम धनमित्र था। शुचिदत्त अपनी विद्वत्ताके लिये प्रसिद्ध थे। इनके हृदयमे दृश्य जगत्के अस्तित्वके सम्बन्धमे आशका विद्यमान थी। इन्हे भी अपने ज्ञानका दम्भ था और शास्त्रार्थमे बडे-बडे विद्वानोको परास्त करनेकी क्षमता भी थी।

शुचिदत्त महावीरके समवशरणमे उपस्थित हुआ और महावीरके दर्शनमात्रसे उसकी शकाओका समाधान हो गया। वह सोचने लगा . "महावीरका तेज अद्भुत है। इनके तेजके समक्ष सभीका तेज फीका पड़ जाता है। मैं द्वैतवादकी शकामे अबतक पडा हुआ था, पर आज मेरी आँखें खुल गयी और मुझे सत्यका साक्षात्कार हो गया। अतएव मुझे दीक्षा-ग्रहण करनेमे अब विलम्ब नही करना चाहिये।"

शुचिदत्तने ५० वर्षकी अवस्थामे दिगम्बर-दीक्षा ग्रहण की और महावीरके चतुर्थ गणधरका पद प्राप्त किया। शुचिदत्तका अन्य नाम आर्यव्यक्त भी प्राप्त होता है।

सुधर्मा : दीक्षा और आत्मशोधन

महावीरके पचम गणधरका नाम सुधर्मा है, जो सुधर्मा स्वामीके नामसे प्रसिद्ध है। ये कोल्लाग-सन्निवेश-निवासी अग्निवेश्यायनगोत्री ब्राह्मण थे। इनकी माताका नाम भद्दिला और पिताका नाम धम्मिल्ल था। ये भी अपने ५०० शिष्योके साथ आर्य सोमिलके यज्ञोत्सवमे सम्मिलित होनेके हेतु मध्यमापावा पधारे थे।

जब इन्हे इन्द्रभूति, अग्निभूति आदिके दीक्षित होनेका वृत्त ज्ञात हुआ, तो इनके मनमे भी तीर्थंकर महावीरके दर्शनकी इच्छा जागृत हुई और निर्मल वातावरणमे तीर्थंकर महावीरके समवशरणमे इन्होने प्रवेश किया। मानस्तम्भके दर्शनमात्रसे मनका सारा कालुष्य धुल गया और मिथ्यात्वका गलन होते ही आत्मामे पात्रता उत्पन्न हो गयी। सुधर्माकी काललब्धि भी आ पहुँची और उनके मनमे भी वीतरागता प्रकट होने लगी। आज सुधर्माका कर्म-कालुष्य विसर्जित होने जा रहा था और उनकी उज्ज्वलता, शुद्धता, निर्मलता और समता वृद्धिगत हो रही थी। क्षणकी सत्ता विलक्षणतामे परिवर्तित हो रही थी। आत्माके महान् शिल्पीके स्पर्शसे उनकी सरागता उज्ज्वलतामे बदल रही थी। वे महावीरकी सौम्य मुद्राके दर्शनसे आनन्द-विभोर थे।

सुधर्मा सोचने लगा। "मेरे पचास वर्ष बीत गये। मैने अभी तक अपनी आत्माका कुछ भी सुधार नही किया। ज्ञान और जातिके अहकारमे डूबा रहा। न मैंने आत्म-साधना की और न कल्याण ही। वास्तवमे अहिंसा ही जीवनोत्थानका साधन है। जो व्यक्ति वैभव और विभूतियोसे दबा रहता है, वह महान् नही बन सकता है। मानवकी मानवताके सामने देव भी नतमस्तक हो जाते हैं। अतएव व्यक्तिको सदा सत्य, अहिंसा आदि मानवीय एव ज्ञान-दर्शनादि आत्मीय गुणोका साक्षात्कार करना चाहिये। मानवताके नाते सभी मानव समान है। जन्मसे कोई भी व्यक्ति न बडा है न छोटा। प्रत्येक व्यक्ति अपने कार्य-गुणो और श्रमसे महान् बनता है। अतएव अब मुझे प्रव्रजित हो जाना आश्यक है।"

सुधर्माने ५० वर्षकी अवस्थामे दिगम्बर-दीक्षा ग्रहण की। महावीरके गणधरोमे इनका पाँचवाँ स्थान था। सुधर्मा दीर्घजीवी थे। इन्होने बहुत दिनो तक श्रमण-सघका सचालन किया।

मण्डिक : आत्मोद्बोधन

मण्डिक साख्य-दर्शनका समर्थक था। उसे बन्ध-मोक्षके सम्बन्धमे आशका थी। वह मौर्य-सन्निवेशका निवासी और वाशिष्ठगोत्री विद्वान् ब्राह्मण था। उसकी माताका नाम विजयदेवी और पिताका नाम धनदेव था। वह ३५० छात्रोका विद्यागुरु था। सोमिल आर्यके निमत्रणपर यज्ञोत्सवमे सम्मिलित होनेके लिये मध्यमा पावामे आया हुआ था। मण्डिक स्वस्थ शरीर, गौरवर्ण और सात हाथ उन्नत था। उसके ज्ञानका प्रकाश पूर्वाञ्चलमे पूर्णतया व्याप्त था। वेदकी अपेक्षा वह तर्कशास्त्रमे अधिक निष्णात था। उसका शिष्यवर्ग दर्शन और तर्कमे विशेष निपुण था।

मण्डिकको इन्द्रभूति, वायुभूति आदिके दीक्षित होनेका समाचार उपलब्ध हुआ, तो उसके मनमे भी महावीरके समवशरणमे प्रविष्ट होनेकी भावना उत्पन्न हुई। मण्डिक सोचने लगा। "देवार्य महावीरमे ऐसा कौन-सा चमत्कार है, जो बडे-बडे विद्वानोको अपना शिष्य बना लेते हैं। इन्द्रभूति, अग्निभूति वैदिक कर्मकाण्डी विद्वान् थे। तर्क-शास्त्रसे वे प्राय. दूर थे। अत सम्भव है कि महावीरने इन्हे सरलतासे प्रभावित कर लिया हो। मैं तो तर्कका पण्डित हूँ। मेरे समक्ष महावीर या उनका अन्य कोई शिष्य नही ठहर सकता। मै आज जाकर महावीरसे अवश्य शास्त्रार्थ करूँगा और उन्हे पराजित कर अपनी यश पताका फहराऊँगा।"

मण्डिक अपने ही विचारमे डूबता-उतराता अपने ३५० शिष्यों सहित विपुलाचलपर स्थित महावीरके समवशरणमें सम्मिलित हुआ। जैसे ही वह समवशरणके निकट पहुँचा कि उसके मनमे एक जोरका झटका लगा। ज्ञानका सारा दम्भ धूलिसात् हो गया, मिथ्यात्वके बन्धन शिथिल हो गये और सम्यक्त्वसूर्यका उदय हो गया। जो मण्डिक कुछ क्षण पूर्व महावीरकी आलोचना कर रहा था वही उनका स्तवन करने लगा। वह स्वरचित स्तोत्र पढता जाता था और भक्तिकी विह्वलताके कारण उसके राग-द्वेष धुलते जा रहे थे। भक्ति-गंगामे स्नान करते ही उसकी अन्तरात्मा पवित्र हो गयी और वह दिगम्बर-दीक्षा ग्रहण करनेके लिये उत्सुक हो उठा।

५० वर्षकी अवस्थामे मण्डिकने उद्‌वोधन प्राप्त किया और तीर्थंकर महावीरके पादमूलमे स्थित होकर दिगम्बर-दीक्षा ग्रहण की। अव मण्डिक वह मण्डिक नही रहा, जिसे अपने तर्क और ज्ञानका अहंकार था। आत्माके मृदुल होते ही अनन्तानुवधी क्रोध, मान, माया, लोभ ये चार और मिथ्यात्व, सम्यग्-मिथ्यात्व और सम्यक्त्व इन तीन दर्शनमोहनीय इस प्रकार सात कर्म प्रकृतियोके क्षय होते ही मण्डिकमे परिर्वतन हो जाना स्वाभाविक था। मण्डिकने छठे गणधरका पद प्राप्त किया।

मौर्यपुत्र सम्यक्त्वलाभ

तीर्थंकर महावीरके सप्तम गणधरका नाम मौर्य-पुत्र है। ये मौर्यपुत्र काश्यप गोत्रीय व्राह्मण थे। इनके पिताका नाम मौर्य और माताका नाम विजयादेवी था। ये मौर्य-सन्निवेशग्रामवासी थे।

मौर्यपुत्र भी ३५० छात्रोंके अध्यापक थे और आर्य सोमिलके आमंत्रणपर मध्यमा पावामे पधारे थे। इन्हे परलोक, पुनर्जन्म आदिके सम्वन्धमे सन्देह था। अतएव अग्निभूति, इन्द्रभूति आदिकी दीक्षाका समाचार ज्ञात कर ये भी तीर्थंकर महावीरके समवशरणमे सम्मिलित हुए। महावीरके समवशरणके दर्शन करते ही इनकी आत्मामे सम्यक्त्वकी लहर उत्पन्न हो गयी। ये सोचने लगे "यह मानव जीवन क्या है? इस विश्वमे तो मत्स्यन्याय चल रहा है। जैसे समुद्रमे वडी मछली छोटी मछलीको निगल जाती है, उसी प्रकार यहाँ भी शक्तिशाली मनुष्य निर्वलको आक्रान्त कर देता है। जाति-पाँतिका वन्धन भी कम नही है। व्राह्मणको अपनी विद्या और जातिका अभिमान है। भजन-भोजन एव पठन-पाठनपर एकाधिपत्य स्थापित कर लिया है। वैश्य वाणिज्यपर अपना अधिकार मानता है और जैसे-तैसे धन-सचय करना ही अपना अधिकार समझता है। क्षत्रिय-कुमार पर-पीड़ा देनेमे ही आनन्दानुभूति करते हैं। शूद्रजाति सव ओरसे

प्रताडित हो रही है। आत्मामे प्रज्वलित होती हुई ज्योतिका कोई अनुभव नही करता है। प्रत्येक आत्मा प्रयत्न करनेपर परमात्मा बन सकती है। जन्मसे व्यक्ति ऊँच-नीच नही होता, यह तो आचारपर निर्धारित है। अत. मै तीर्थंकर महावीरकी शरणमे आकर आत्मोत्थान करूँगा। इससे बढकर मेरे लिये अन्य कोई श्रेयस्कर कार्य नही है। उसका रोम-रोम पुलकित होने लगा और भोगो-पभोगोका त्याग करनेके लिये वह कृतसकल्प हो गया।

राग-द्वेष, काम, क्रोध, मान, माया, लोभ आदि विकार उसके छूटने लगे। "आत्मा अपनेमे अनन्तज्ञानादि गुणोकी झलक पाकर अपने वास्तविक स्वरूपको अनुभव करे और अपने सतप्रयत्नो द्वारा कर्म-कलकसे छूटनेका प्रयास करे, तो उसका परमात्मा बन जाना कठिन नही है।"

"यह आत्मा शरीरादि अजीवतत्त्वोंसे भिन्न है। ज्ञान-दर्शन, सुख और वीर्य इसके अपने गुण हैं। यह पर-सयोगके कारण क्लेशका अनुभव करती है। जहाँ पर-सयोग छूटता है कि आत्माको शाश्वत आनन्द प्राप्त होता है। अग-णित शास्त्रोके पढ लेनेपर भी आत्मज्ञान प्राप्त नही होता है। सम्यग्दर्शनके साथ आत्मामे तत्त्वोका यथार्थ ज्ञान पैदा होता है।"

इस प्रकार चिन्तन करते हुए मौर्यपुत्रने सम्यक्त्व-लाभ कर अन्तरग और वहिरग परिग्रहका त्यागकर ६५ वर्षकी अवस्थामे दिगम्बर-दीक्षा धारण की।

अकम्पिक : रिक्त श्रद्धाकी पूर्ति

तीर्थंकर महावीरके समवशरणकी प्रसिद्धि सर्वत्र फैल गयी थी। विद्वानोका समूह अपने विद्याके अहकारको छोडकर उनकी सभामे उपस्थित होने जा रहा था। अकम्पिक भी अहंकारके पंकसे ऊपर उठकर विपुलाचलकी ओर गया और उसने अष्टम गणधरका पद प्राप्त किया।

अकम्पिक मिथिलाका निवासी गौतम-गोत्रीय ब्राह्मण था। इनकी माताका नाम जयन्ती और पिताका नाम देव था। अकम्पिकके चरणोमे बैठकर ३०० छात्र विद्याध्ययन करते थे। आर्य सोमिलके यज्ञ-महोत्सवका निमन्त्रण प्राप्तकर ये भी अपनी छात्र-मण्डलीके साथ मध्यमा पावामे पधारे थे। इनके हृदयमे नरकलोक और नारकी जीवोके अस्तित्वके सम्बन्धमे शका चली आ रही थी। जब अकम्पिकको महावीरके प्रभावका परिज्ञान हुआ तो वह भी उनके सम-वशरणकी ओर चला। उसने जैसे ही मानस्तम्भका दर्शन किया वैसे ही उसका जाति-अहंकार नष्ट हो गया और वह आत्माकी शाश्वत सत्ताके सम्बन्धमे

विचारने लगा "आत्माके गुण निजी सम्पत्ति हैं। वे कही बाहरसे नही आते। इनकी उपलब्धिका अर्थ इतना ही है कि मिथ्यात्वभावके हटते ही इन गुणोकी अनुभूति होने लगती है। जैसे सूर्यपरसे मेघका आवरण हटते ही सूर्यका भास्वर प्रकाश व्याप्त हो जाता है, उसी प्रकार आत्माकी विभावपरिणतिके दूर होते ही स्वभावपरिणति उत्पन्न हो जाती है। जब साधकके हृदयमे ससारकी आशा और तृष्णाका अन्त हो जाता है, तब साधकका चित्त सविकल्प-समाधिसे निकलकर निर्विकल्प-समाधिमे पहुँच जाता है और अपने पूर्व सचित कर्मोंको निर्जरा कर डालता है। यह निर्विकल्प-समाधिभाव कहीसे आता नही है, यह तो स्वभावका रमण है। अतएव मैं भी इस अवसरका लाभ उठाकर महावीरके समक्ष दीक्षा ग्रहण कर लूँ।"

अतएव अकम्पिकने समस्त परिग्रहका त्याग कर ४८ वर्षकी अवस्थामें दिगम्बर-दीक्षा ग्रहण की और अष्टम गणधरका पद प्राप्त किया।

अचल : मिली साधना

महावीर और उनके प्रमुख शिष्योके अन्तरंग और बहिरग-परिग्रहके त्याग-की चर्चा सर्वत्र व्याप्त थी। उनकी देशना जीवनके परत खोल रही थी। आत्मा-की बद्धता और मुक्तताका कथन विचारशीलोको आकृष्ट कर रहा था। अतः अचल भी तीर्थंकर महावीरके समवशरणमे चलनेकी तैयारी करने लगा। वह कोशल-निवासी हारीतगोत्रीय ब्राह्मण था। उसकी माताका नाम नन्दा और पिताका नाम वसु था। ३०० छात्र उसके शिष्य थे। क्रियाकाण्ड, यज्ञविधान आदिका वह ज्ञाता था। अत सोमिलार्यके यज्ञोत्सवमें सम्मिलित होनेके लिये शिष्य-परिवार सहित आया था। इसके मनमे पुण्य-पापके अस्तित्व एव उसके फलाफलके सम्बन्धमे आशका थी। जीवनकी दृष्टि उलझी हुई थी। वह शरीर, इन्द्रियाँ और मनके विषयोमे ही आनन्दानुभूति करता था। अनेक परतोंके नीचे दबे हुए जल-स्रोतके समान उसकी चेतनाका विशुद्ध अस्तित्व भी विकारो-की परतोके नीचे दबा हुआ था। रूप, रस, गन्ध आदि भौतिक स्थितियोकी अनुभूतिको ही उसने सर्वस्व मान लिया था।

जब वह तीर्थंकर महावीरके समवशरणमे प्रविष्ट हुआ तो राग-द्वेष और इनसे होनेवाली उत्तेजना, घृणा, ईर्ष्या, अहकार आदि विकृतियाँ दूर हो गयी। वह सोचने लगा "मनपर विकारो, सस्कारो एव अच्छे-बुरे विचारोकी एक सघन तह जमी हुई है। मनके क्षुद्र आँगनमे नाना प्रकारकी विकृतियाँ उपस्थित हैं। विकृतियोकी यह भीड़ ही शुद्ध चेतनाको प्रकट नही होने देती। विकृतियोका

आवरण ही चेतनाकी अनन्तज्योतिको सभी ओरसे आवृत्त किये हुए है। काम, क्रोध, मद, मोह, लोभ आदि अगणित विकृतियोके मूल बीज है राग और द्वेष। इसी राग-द्वेषसे मुक्त होनेकी दिशामे चेतनाका अपना पुरुषार्थ है। जब चेतना विकृतियोसे मुक्त होकर अपने विशुद्ध मूल स्वरूपमे पहुँच जाती है, तो यही परम चेतना बन जाती है। यही परम तत्त्व है और यही परमात्मा है। अत परम तत्त्व या परम चैतन्यको प्राप्त करनेकी आध्यात्मिक प्रक्रिया दिगम्बर-दीक्षा है। यह दीक्षा ही शुद्ध चैतन्य स्वरूप परम तत्त्वको प्राप्त करनेमे साधक है। अतएव मुझे दिगम्बर-दीक्षा ग्रहण कर परमात्मपद प्राप्त करनेके लिये प्रयास करना चाहिये।"

अचलने ४६ वर्षकी अवस्थामे तीर्थंकर महावीरके पादमूलमे दिगम्बर-दीक्षा ग्रहण की और नवम गणधरका पद पाया।

मेदार्य : जागा विवेक

मेदार्य या मेतार्य वत्सदेशके निवासी और कौण्डिन्यगोत्रीय ब्राह्मण थे। इनकी माताका नाम वरुणिदेवी और पिताका नाम दत्त था। ये ३०० छात्रोके अध्यापक थे। आर्य सोमिलके निमन्त्रणपर मध्यमा पावामे पधारे थे। इन्हे आत्माके पुनर्जन्म और अस्तित्वके सम्बन्धमे आशका थी। जब अन्य गणधरोके समान इन्हे भी तीर्थंकर महावीरके समवशरणकी जानकारी प्राप्त हुई, तो ये भी तत्काल ज्ञानके अहकारकी गठरी बाँधे हुए आ पहुँचे और समवशरणमे प्रविष्ट होते ही इनके ज्ञानचक्षु खुल गये। ये सोचने लगे "याज्ञिक-क्रियाकाण्ड आत्माको अमरत्व और शान्ति नही दे सकते। पञ्चाग्नि आदि तपश्चरण भी आत्मोपलब्धिमे सहायक नही हैं। यत दमनकी साधना यथार्थ साधना नही। वृत्तियोका विवेक ही यथार्थ है। इनका अवनिग्रह करके उन्हे शुद्ध नही बनाया जा सकता है। दमन द्वारा निगृहीत विकार या वृत्तियाँ पिंजडेमे बन्द किये गये भूखे सिंहके समान हैं। जैसे ही अवसर प्राप्त होता है, विकार पुन. उत्तेजित हो जाता है। महानदीकी जलधाराको कितने दिनोतक बाँधा जा सकता है? अवसर मिलते ही जलधारा बाँध तोड देती है और सहारलीला उपस्थित हो जाती है। अतएव दमन या पञ्चाग्नि तपके साधनो द्वारा विकारोको जीता नही जा सकता है।"

"आत्मामे तीन प्रकारकी वृत्तियाँ उत्पन्न होती है अशुभ, शुभ और शुद्ध। धन, स्त्री, पुत्र, मित्र आदि सम्बन्धी वृत्तियाँ राग-द्वेषका मूल होनेसे अशुभ हैं। इन अशुभ वृत्तियोकी निवृत्ति दमनद्वारा सम्भव नही है। शुभ वृत्तियाँ आत्मामे परिष्कृत रागके कारण उत्पन्न होती है और वे आत्माके निकट पहुँचाती है।

वृत्तियोका शुद्धिकरण तो राग-द्वेषकी निवृत्तिसे ही होता है। वीतरागता ही आत्माका निजरूप है और इसी स्थितिमे वृत्तियाँ शुद्ध होती हैं। मै अनादि-कालसे जन्म-मरणका दु ख उठा रहा हूँ। अब वीतरागताकी प्राप्तिका अवसर आ चुका है। अतएव मुझे इस अवसरका उपयोग करना आवश्यक है।"

मेदार्यने ३६ वर्षकी अवस्थामे दिगम्बर-दीक्षा ग्रहण कर महावीरका शिष्यत्व स्वीकार किया। इन्हे दशम गणधरका पद प्राप्त हुआ।

प्रभास · पुरुषार्थ-जागरण

तीर्थंकर महावीरका युग बहुदेववादका था। तत्कालीन जनजीवन भय, एव प्रलोभनोसे प्रताडित था। जनता दु ख और विपत्तियोसे त्राण पानेके लिए देवताओकी शरणमे जाती थी और उन्हे प्रसन्न करनेके लिए यज्ञानुष्ठान करती थी। यक्ष, भूत, राक्षस सभी देवत्वको प्राप्त हो चुके थे। आर्त मानव उन यक्षो, भूतो, एव राक्षसोको प्रसन्न करनेके लिए विभिन्न प्रकारका अनुष्ठान करता था। यज्ञ-बलिकी तो बात ही क्या, शान्ति-कर्मके नामपर मनुष्यो तकका हवन कर दिया जाता था।

मानव अपने पुरुषार्थको भूलकर दिग्भ्रमित हो देवोसे ऐश्वर्यकी भिक्षा माँगता था। धन, ऐश्वर्य, राज्य-शासन, विद्या, पुत्र, स्वास्थ्य आदि सभीकी प्राप्तिके लिए विशिष्ट-विशिष्ट देवोकी अर्चना की जाती थी। पुरुषार्थपर किसी-को विश्वास नही था। अत इस युगमे पुरुषार्थ प्राप्तिकी ओर ध्यान देना नितान्त आवश्यक था।

प्रभासने युगका अध्ययन किया और महावीरके समवशरणमे पहुँचनेका सकल्प किया।

यह कौडिन्यगोत्रीय ब्राह्मण था। इनकी माताका नाम अतिभद्रा और पिताका नाम बल था। यह राजगृहका निवासी था। ३०० छात्र उसके शिष्य थे। उसे भी आत्मा और मुक्तिके विषयमे सदेह था और श्रुति-वाक्योंका अर्थ भी यथार्थ ज्ञात नही था। महावीरके दर्शनमात्रसे प्रभासका पुरुषार्थ जागृत हो गया और उसने ४६ वर्षकी अवस्थामे दिगम्बर-दीक्षा स्वीकार की तथा एका-दश गणधरका स्थान प्राप्त किया।

प्रथम देशनास्थल : विपुलाचल

विपुलाचलपर अवसर्पिणीके चतुर्थ कालके अन्तिम भागमे तेतीस वर्ष, आठ माह और पन्द्रह दिन शेष रहनेपर श्रावण-कृष्णा प्रतिपदाके दिन अभिजित् नक्षत्रमे धर्म-

तीर्थकी उत्पत्ति हुई[1]। देव, विद्याधर और मनुष्य तिर्यञ्चोंके मनको प्रसन्न करनेवाला वह विपुलाचल प्रथम देशनाका स्थल होनेके कारण सभीसे वन्दनीय है[2]।

राजगृह नगरके पूर्वमे चतुष्कोण ऋषिशैल, दक्षिणमे वैभार और नैऋत्य दिशामे विपुलाचल पर्वत है। ये दोनो वैभार और विपुलाचल पर्वत त्रिकोण आकृतिके है। पश्चिम, वायव्य और उत्तर दिशामे फैला हुआ धनुषके आकारका छिन्न नामक पर्वत है और ईशान दिशामे पाण्डुपर्वत है। इस प्रकार पाच पर्वतोंसे युक्त होनेके कारण यह पचशैलपुर कहलाता है।

षट्खण्डागमकी धवला-टीकामे उद्धृत पद्योके आधारपर पंच-पहाडियोंके क्रमश. नाम ऋषिगिरि, वैभारगिरि, विपुलाचल, चन्द्राचल और पाण्डुगिरि आये है।

हरिवंश-पुराणमे वताया गया है कि पहला पर्वत ऋषिगिरि है। यह पूर्व दिशाकी ओर चौकोर है। इसके चारों ओर झरने निकलते हैं। यह इन्द्रके दिग्गजोंके समान सभी दिशाओंको सुशोभित करता है।

दूसरा पर्वत दक्षिण दिशाकी ओर वैभारगिरि है। यह पर्वत त्रिकोणाकार है। वन और झरनोंसे युक्त है। इसका सौन्दर्य प्राकृतिक दृष्टिसे अपूर्व है।

तीसरा दक्षिण-पश्चिमके मध्य त्रिकोणाकार विपुलाचल पर्वत है। इसी पर्वतके ऊपर तीर्थंकर महावीरका प्रथम समवशरण हुआ था और यही एकादश गणधरोंने भगवान्‌के पादमूलमे दिगम्बर-दीक्षा ग्रहण की थी। विपुलाचल पर्वत अपनी प्राकृतिक शोभा और सौन्दर्यके लिये भी प्रसिद्ध है।

१. एत्थावसप्पिणीए चउत्थकालस्स चरिमभागम्मि।
तेत्तीसवास-अडमास-पण्णरसदिवस-सेसम्मि ॥
वासस्स पढममासे सावणणामम्मि बहुलपडिवाए।
अभिजीणक्खत्तम्मि य उप्पत्ती धम्मतित्थस्स ॥
· तिलोयपण्णत्ती १।६८-६९

इम्मिस्से वसप्पिणीए चउत्थ समयस्स पच्छिमे भाए।
चोत्तीस-वास-सेसे किंचि विसेसूणए संते ॥
वासस्स पढम-मासे पढमे पक्खम्हि सावणे बहुले।
पाडिवद-पुव्व-दिवसे तित्थुप्पत्ती दु अभिजिम्हि ॥
षट्खण्डागम, धवलाटीका-समन्वित, पु० १, पृ० ६२-६३.

२ सुरखेयरमणहरणे गुणणामे पंचसेलणयरम्मि।
विउलम्मि पव्वदवरे वीरजिणो अट्ठकत्तारो ॥
चउरस्सो पुव्वाए रिसिसेलो दाहिणाए वेभारो।
णइरिदिदिसाए विउलो दोण्णि तिकोणट्ठिदायारा ॥

चतुर्थ पर्वत वलाहक नामका है। यह धनुषके आकारको तीनों दिशाओंको घेरे हुए शोभित है। पाँचवाँ पाण्डुक नामक पर्वत गोलाकार पूर्वोत्तर-मध्यमें है। ये पाँचों पर्वत फल-पुष्पोंके समूहसे युक्त हैं। इन पर्वतोंके वनोंमें वासुपूज्य स्वामीको छोड़कर शेष समस्त तीर्थंकरोंके समवशरण हुये हैं। ये वन सिद्धक्षेत्र भी हैं और कर्म-निर्जरामें कारण हैं[1]।

वर्त्तमानमें पहला पर्वत विपुलाचल है। इसी विपुलाचलपर तीर्थंकर महावीरका प्रथम समवशरण हुआ था। दूसरा रत्नगिरि है, तीसरा उदयगिरि है, चौथा स्वर्णगिरि है और पाँचवाँ वैभारगिरि नामका है।

राजगृहके प्राचीन नाम पंचशैलपुर, गिरिव्रज, कुशाग्रपुर, क्षितिप्रतिष्ठ आदि मिलते हैं। मगध-देशमें अनेक उत्तम भव्य भवनोंसे युक्त राजगृह-नगर

चावसरिच्छो छिण्णो वरुणाणिलसोमदिसविभागेसु।
ईसाणाए पंडू वण्णा सव्वे कुसग्गपरियरणा॥

तिलोयपण्णत्ती १।६५-६७

पंच-सेल-पुरे रम्मे विउले पव्वदुत्तमे।
णाणा-दुम-समाइण्णे देव-दाणव-वंदिदे॥
महावीरेणत्थो कहिओ भविय-लोयस्स।

षट्खण्डागम, धवलाटीका-समन्वित, पु० १, पृ० ६१.

१ पंचशैलपुरं पूतं मुनिसुव्रतजन्मना।
यत्परध्वजिनीदुर्गं पञ्चशैलपरिष्कृतम्॥
ऋषिपूर्वो गिरिस्तत्र चतुरस्रः सनिर्झरः।
दिग्गजेन्द्र इवेन्द्रस्य ककुभं भूषयत्यलम्॥
वैभारो दक्षिणामाशां त्रिकोणाकृतिराश्रितः।
दक्षिणापरदिग्मध्यं विपुलश्च तदाकृतिः॥
सज्यचापाकृतिस्तिस्रो दिशो व्याप्य वलाहकः।
शोभते पाण्डुको वृत्तः पूर्वोत्तरदिगन्तरे॥
फलपुष्पभरानम्रलतापादपशोभिताः।
पतन्निर्झरसङ्घातहारिणो गिरयस्तु ते॥
वासुपूज्यजिनाधीशादितरेषां जिनेशिनाम्।
सर्वेषां समवस्थानैः पावनोरुवनान्तराः॥
तीर्थयात्रागतानेकभव्यसंघनिषेवितैः।
नानातिशयसम्बद्धैः सिद्धक्षेत्रैः पवित्रिताः॥

हरिवंशपुराण, ३।५२-५८.

है। इस नगरीको वेष्टित किये हुए पाँचशैल हैं, इसीलिए इसे पचशैलपुर कहा गया है। तीर्थंकर मुनिसुव्रतनाथके चार कल्याणक यही सम्पन्न हुये थे। जैन साहित्यमे राजगृह और विपुलाचलका बड़ा महत्व वर्णित है। धवलाटीका, जयधवलाटीका, तिलोयपण्णत्ती, पद्मपुराण, महापुराण, हरिवशपुराण, णायकुमारचरिउ, जम्बुसामिचरिउ, उत्तरपुराण, आराधना-कथाकोश, पुण्यास्रव-कथाकोष, मुनिसुव्रतकाव्य, धर्मामृत आदि ग्रन्थोमें इस नगरीका माहात्म्य वर्णित है।

राजगृहके साथ जैन पुराणोकी शताधिक कथाएँ सम्बद्ध हैं। पुरातत्वकी दृष्टिसे भी विपुलाचल और राजगृह महत्त्वपूर्ण हैं।

फाहियान (ई० सन् ४००) ने आँखो देखा राजगृहका वर्णन किया है। वह लिखता है "नगरसे दक्षिण दिशामे चार मील चलनेपर वह उपत्यका मिलती है, जो पाँचो पर्वतोके बीचमे स्थित है। यहाँपर प्राचीन कालमे सम्राट् बिबसार विद्यमान था। विपुलाचल धार्मिक पवित्रताकी दृष्टिसे प्रसिद्ध है। आज यह नगरी नष्ट-भ्रष्ट है[१]।"

१८ जनवरी सन् १८११ ई० को बुचनन साहबने इस स्थानका निरीक्षण किया था और इसका वर्णन भी लिखा है। उनसे राजगृहके ब्राह्मणोने कहा था कि जरासंधके किलेको किसी नास्तिकने बनवाया है जैन उसे उपश्रेणिक द्वारा बनाया बताते हैं। बुचनन साहबने यह भी लिखा है कि पहले राजगृहपर चतुर्भुजका अधिकार था, पश्चात् राजा वसु अधिकारी हुए, जिन्होने महाराष्ट्रसे चौदह ब्राह्मणोको लाकर बसाया था। वसुने श्रेणिकके बाद राज्य किया था[२]।

कनिंघमने लिखा है कि "प्राचीन राजगृह पाँचो पर्वतोके मध्यमे विद्यमान था। मनियारमठ नामक छोटा-सा जैन मन्दिर सन् १७८० ई० का बना हुआ था। मनियारमठके पास एक पुराने कुएँको साफ करते समय इन्हे तीन मूर्तियाँ प्राप्त हुई थी। इनमे एक मायादेवीकी मूर्ति थी, दूसरी सप्तफणमण्डलयुक्त एक नग्न मूर्ति तीर्थंकर पार्श्वनाथकी थी[3]।

एम० ए० स्टीन साहब लिखते है "वैभारगिरिपर जो जैन मन्दिर बने हुए हैं, उनके ऊपरका हिस्सा तो आधुनिक है, किन्तु उनकी चौकी, जिनपर वे बने हुए हैं, प्राचीन हैं।"

श्रीकाशीप्रसाद जायसवालने मनियारमठवाली-पाषाण मूर्तिका लेख पढकर

१ Travels of Fa-Hian, Beal (London, 1869) pp 110–13

२. Buchanan, Travels in Patna District, Page 125–144.

३ Archacological Survey of India, Vol I (1871) PP. 25–26.

बताया है कि यह लेख पहली शताब्दीका है और उसमे सम्राट् श्रेणिक तथा विपुलाचलका उल्लेख है[1]।

आर० डी० बनर्जीने बताया है कि सातवी शताब्दीतक विपुलाचल और वैभारगिरिपर जैन स्तूप विद्यमान थे और गुप्तकालकी कई जैन मूर्तियाँ भी वहाँ हैं। सोनभद्र-गुफामे यद्यपि गुप्तकालीन लेख हैं, पर इस गुफाका निर्माण मौर्यकालके जैन राजाओंने किया था[2]।

विपुलाचल पर्वतके तीन मन्दिरोमेसे मध्यवाले मन्दिरमे चन्द्रप्रभस्वामीकी श्वेतवर्णकी मूर्ति विराजमान थी, जो गुप्तकालीन अनुमानित है।

द्वितीय रत्नगिरिपर महावीर स्वामीकी श्यामवर्ण-प्रतिमा एव तृतीय उदय-गिरिपर महावीर स्वामीकी खड्गासन-प्रतिमा निश्चयत गुप्तकालीन है।

सक्षेपमे राजगृहके विपुलाचल पर्वतपर अन्तिम तीर्थंकर महावीरका प्रथम समवशरण लगा था। आज भी सोनभण्डार, मनियार, गौतमवन, सीताकुण्ड आदि स्थान जैन संस्कृतिसे सम्बद्ध हैं।

पुरातत्त्वके अनुसार राजगृह नगरको कुशात्मज वसुने गगा और सोन नदीके सगमपर बसाया था। महाराज श्रेणिकने पचपहाडीके मध्यमे नवीन राजगृह नगरको बसाया, जो विभूति और रमणीयतामे अद्वितीय था। जब श्रेणिकके पुत्र अजातशत्रुने मगधकी राजधानी चम्पाको बनाया, उस समय किसी कारणवश अग्निदाहसे यह नष्ट हो गया। अतएव सक्षेपमे राजगृहके निकट स्थित विपुलाचल पर्वत तीर्थंकर महावीरका प्रथम देशनास्थल है। यहीसे धर्मतीर्थका उदय हुआ है।

चतुर्विधसंघ-स्थापना

तीर्थंकर महावीरके उपदेशोसे प्रभावित होकर अनेक राजा-महाराजा, राजकुमार, सार्थवाह, श्रेष्ठि, राजमहिषियाँ, श्रेष्ठिपत्नियाँ एव सामान्य नर-नारीजन उनके शिष्य बने। इस सम्पूर्ण शिष्य-समुदायको महावीरने चतुर्विध-सघमे विभक्त किया था (१) मुनि, (२) आर्यिका, (३) श्रावक और (४) श्राविका। इस व्यवस्थाको दो भागोमे भी विभक्त किया जा सकता है (१) मुनि और (२) श्रावक।

सन्यस्त व्यक्तियोके लिये मुनि और आर्यिका अलग-अलग सघ बनाये गये थे। इसी प्रकार श्रावक-श्राविकाओंके लिये पृथक् सघकी व्यवस्था की गयी थी। जो

१ Journal of the Bihar and Orissa Rea. Soe Vol. XXII (June, 1935)

२. Indian Historical Quarterly, Vol. XXV, Pages 205–210.

निर्ग्रन्थ बनकर आत्माका विकास करना चाहता था, वह मुनि-संघका सदस्य बनता और जो घरमे रहकर श्रावकके व्रतोका आचरण करते हुए आत्मोत्थान करना चाहता था, उसके लिये श्रावक और श्राविका-सघकी व्यवस्था थी। तीर्थंकर महावीरके यहाँ जाति और वर्ण-व्यवस्था नही थी, बल्कि आचारके आधारपर सघ-व्यवस्था थी। जैन मुनियोके आचारके नियम कठोर थे और वे उन नियमोका आचरणकर आत्माके ज्ञान, दर्शन, सुख, वीर्य आदि गुणोका विकास करते थे।

महावीरके सघमे पूर्वधारी ३००, शिक्षक ९९००, अवधिज्ञानी १३००, केवली ७००, विक्रियाधारी ९००, मन पर्ययज्ञानी ५००, वादी ४००, सर्वऋषिसख्या १४०००, आर्यिका ३६०००, श्रावक १००००० और श्राविकाएँ ३००००० थी।[1]

प्रधान श्रोता श्रेणिक : समवशरणकी शरण

काललब्धिके प्राप्त होनेपर मिथ्यादृष्टि सहजमे ही सम्यग्दृष्टि बन जाता है। श्रेणिक बिम्बसार जैनधर्मका विरोधी था, निर्ग्रन्थ साधुओकी निन्दा और अवमानना करता था। बौद्धधर्मके प्रति उसके हृदयमे अटल श्रद्धा थी, पर महारानी चेलनाने अपने चातुर्यसे उसे महावीरका भक्त एव अनुयायी बना दिया। उसकी समस्त अशुभवृत्तियाँ शुभवृत्तियोके रूपमे परिवर्तित हो गयी। भौतिकतामे भटकता हुआ उसका मन शान्त हो गया। तीव्र पापाचरणसे बाँधी गयी सप्तम नरककी आयु खण्डित होने लगी और वह प्रथम नरककी जघन्य आयुके रूपमे परिणत हो गयी। सत्य है कि जीवनमे जब आध्यात्मिक जागृति होती है, तो सभी शुभोपलब्धियाँ स्वयमेव प्राप्त हो जाती है। एक क्षणके लिए प्राप्त की गयी आध्यात्मिक जागृति भी अनेक जन्मोको मगलमय बना देती है। श्रेणिकका मोह भग हुआ और उसकी जीवनधारा परिवर्तित हो गयी। महावीरके समवशरणकी शरणने उसे भावी तीर्थंकर बना दिया।

१ शतानि त्रीणि पूर्वाणा धारिण शिक्षका परे।
शून्यद्वितयरन्ध्रादिरन्ध्रोक्ता सत्यसयमा ॥
सहस्रमेकं त्रिज्ञानलोचनास्त्रिशताधिकम्।
पञ्चमावगमा. सप्तशतानि परमेष्ठिन ॥
शतानि नवविज्ञेया विक्रयर्द्धिविवर्द्धिता।
चतुर्दशसहस्राणि पिण्डिता स्युर्मुनीश्वरा ॥
चन्दनाद्यार्यिका शून्यत्रयषड्वह्निसम्मिता।
श्रावका लक्षमेक तु त्रिगुणा श्राविकास्तत ॥
उत्तरपुराण ७४।३७५–३७९, तिलो० प० ४।११६६–११७६,
हरि० पु० ६०।४३२–४४०,

श्रेणिक : वंशपरिचय

ई० पू० छठी शतीमे मगधका शासन शिशुनागवंशीय क्षत्रिय राजाओंके बाहुओंकी छायामे पल रहा था। इसकी उत्पत्तिके सम्बन्धमे बताया जाता है कि महाभारतयुद्धमे जरासन्धकी मृत्युके पश्चात् उनके अन्तिम वंशज रिपुञ्जय-को मगधका शासनभार प्राप्त हुआ। इसके मन्त्री शुकनदेवने वि० सं० पूर्व ६७७ (ई० पू० ६१०) मे इसे मार डाला और अपने पुत्र प्रद्योतनको मगधका राजा नियुक्त किया। इस वंशमे वि० सं० ६७७-५८५ (ई० पू० ६१०-५२८) पूर्व तक पालम, विशाखभूप, जनक और नन्दिवर्द्धनने राज्य किया। अनन्तर इस वंशका पाँचवाँ राजा शिशुनाग हुआ। यह पराक्रमी, प्रतापी, साहसी और शूरवीर था, अतएव इसीके नामपर इस वंशका नाम शिशुनागवंश प्रसिद्ध हुआ। ई० पू० ६४२-४८० तक शिशुनाग, कामवर्ण, कर्मक्षेपण, उपश्रेणिक, श्रेणिक या बिम्बसार, कूणिक या अजातशत्रु, हर्षक, उदयाश्व, नन्दिवर्धन और महानमि ये दस राजा हुए।

उपश्रेणिकके पुत्रका नाम श्रेणिक बिम्बसार था। इसका जन्म ई० पू० ६०१ मे हुआ था। उपश्रेणिक मगध-जनपदके राजा थे। राजगृह इनकी राज-धानी थी। मगधके समीपवर्ती चन्द्रपुरके राजा सोमशर्माका उपश्रेणिकके साथ युद्ध हुआ और उपश्रेणिकने उसे युद्धमे परास्तकर अपने राज्यकी वृद्धि की। उपश्रेणिककी पट्टरानीका नाम इन्द्राणी था। श्रेणिकका जन्म इसीकी कुक्षिसे हुआ था।[1]

श्रेणिकका बचपन सुखके रंगीन पलकोमे बसा था। इन्हे बचपनमे माता-पिता दोनोका ही प्यार मिला था। श्रेणिककी बुद्धिकी प्रशंसा प्रत्येक व्यक्ति करता था। वह असाधारण गुणोका आगार था। बालक श्रेणिकको विद्यारम्भ कराया गया। उसने अपनी कुशाग्रबुद्धिके कारण थोड़े ही समयमे समस्त विद्याओ, कलाओ और शस्त्र-संचालनमे प्रवीणता प्राप्त कर ली। श्रेणिकमे दान देनेकी संस्कारगत प्रवृत्ति थी।

उपश्रेणिकको श्रेणिकके अतिरिक्त अन्य पुत्र भी थे। महाराज उपश्रेणिकने चिलातीपुत्रको राज्य देनेका पहले ही वचन दे दिया था, परन्तु इस समय इन्हे चिन्ता उत्पन्न हुई कि सब पुत्रोमे सच्चा राज्याधिकारी कौन है? अतः उन्होने एक ज्योतिषीको बुलाकर पूछा "मेरे पुत्रोमे मेरे राज्यका अधिकारी कौन होगा"?

ज्योतिषीने कहा कि—"महाराज आप अपने पुत्रोकी परीक्षा करें, जो अधिक

१ श्रेणिकचरित, पृ० १८-३२

बुद्धिमान् और योग्य हो, उसे ही राज्याधिकारी बनाइये"। परीक्षा निम्न प्रकारसे ली जा सकती है :

१ आप एक चीनी भरा हुआ घडा पुत्रोको दीजिए, जो घडेको सेवकके सिरपर रखवाकर सिंहद्वारपर रख आये और स्वयं क्रीडा करता हुआ पीछेकी ओर से निकल आये, वही मगधका स्वामी होगा।

२. प्रत्येक पुत्रको एक नवीन घडा दीजिए, जो घडेको ओससे भर दे, वही मगधका शासक होगा।

३. सभी पुत्रोको एक साथ भोजन कराइये, वे जब भोजनमे लीन हो, एक खूखार कुत्तेको छोड दीजिए। जो पुत्र निर्भय होकर भोजन करता रहे और कुत्तेको भी खिलाता रहे, वही राजा होगा।

४ जिस समय नगरमे आग लगे, उस समय जो पुत्र सिरपर छत्र, चमर धारणकर निकले, वही पुत्र मगधका भावी सम्राट् होगा।

५. भोजन और जलसे परिपूर्ण वर्त्तन दीजिए, जो पुत्र इन वर्त्तनोका मुँह खोले विना ही भोजन और जल ग्रहण कर ले, वही मगधका अधिकारी होगा।

उपश्रेणिकने उपर्युक्त रूपोमे अपने सभी पुत्रोकी परीक्षा की। कुमार श्रेणिक अपनी अद्भुत प्रतिभाके कारण सभी परीक्षाओमे सफल हुए। उन्होने घड़ेको ओससे भर दिया। एक मोटा वस्त्र लेकर जिस स्थानकी घास भीगी हुई थी, उस वस्त्रको उस घासपर रखकर कई बार घुमाया और भीगे हुए वस्त्रका जल घडेमे निचोड दिया। इस प्रकार कुछ ही घटोमे ओससे घडेको भर दिया।

भोजन करते समय खूखार कुत्तेके आनेसे अन्य पुत्र तो भाग गये, पर श्रेणिकने अपनी थालीमेसे कुछ भोजन कुत्तेके सामने भी रख दिया, जिससे कुत्ता शात होकर भोजन करता रहा। कुमार श्रेणिक भी निश्चिन्त होकर भोजन करता रहा।

इस प्रकार श्रेणिक विम्बसार अपनी अद्भुत मेधाके कारण सभी परीक्षाओमे सफल हुए, जिससे उपश्रेणिकने यह निश्चयकर लिया कि मगधका भावी सम्राट् श्रेणिक ही होगा। पर उपश्रेणिक वचनवद्ध होनेके कारण अशात था। वह सोच रहा था कि मैने चिलातीपुत्रको राज्य देनेका सकल्प किया है। मेरा यह सकल्प कैसे पूरा होगा ? श्रेणिकके रहते हुए चिलातीपुत्र राजा नही हो सकता है। अतएव श्रेणिकका मगधसे निष्कासन आवश्यक है।

उपश्रेणिकने श्रेणिकको मगध छोडकर चले जानेका आदेश दिया। कुमार

श्रेणिक राजगृह छोडकर नन्दग्राम पहुँचा और यहाँ अपनी विद्या-बुद्धिके प्रभाव-से आजीविका अर्जित करने लगा। इसकी विद्वत्ता और प्रतिभासे सोमशर्मा ब्राह्मणकी पुत्री नन्दश्री अत्यन्त आकृष्ट हुई और श्रेणिकके साथ पाणिग्रहण करनेका अभिग्रह किया।

श्रेणिकका विवाह नन्दश्रीके साथ सम्पन्न हो गया और इसीसे अभयकुमार नामक बुद्धिमान् पुत्र उत्पन्न हुआ। इस नगरमे श्रेणिकने राजा वसुपालके हाथीको निर्मदकर वशमे किया, जिससे राजा अत्यधिक प्रसन्न हुआ। श्रेणिक-के परामर्शसे राजाने सात दिनो तक अहिंसा-धर्मके पालन करनेकी घोषणा की और हिंसाको बन्द कर दिया।

उपश्रेणिकने अपने सकल्पानुसार चिलातीपुत्रको मगधका शासक नियत किया, पर चिलातीपुत्र अपनी योग्यताओ और असमर्थताओके कारण राज्य-सचालनमे असमर्थ रहा। उपश्रेणिककी मृत्युके अनन्तर चिलातीपुत्रने प्रजापर अत्याचार करना आरम्भ किया, जिससे प्रजा "त्राहि', 'त्राहि' करने लगी। मन्त्रियोने राज्यकी दुरवस्थापर विचार किया और निश्चय किया कि चिलाती-पुत्रसे राज्य नही चल सकता है। अतएव श्रेणिककी तलाश करनी चाहिए। शिशु-नागवशमे श्रेणिक बिम्बसार ही ऐसा योग्य व्यक्ति है, जो मगध-शासनको सुदृढ कर सकता है। फलत. श्रेणिकको ढूँढकर मगधमे लाया गया और ई० पू० ५७९ मे इसका राज्याभिषेक सम्पन्न हुआ।

चिलातीपुत्र स्वय ही राज्यभार छोड़कर चला गया और वैभारगिरिपर मुनियोंके निकट पहुँचा और वहाँ दिगम्बरी-दीक्षा ग्रहण कर ली। उसने घोर तपश्चरण कर सर्वार्थसिद्धि विमान प्राप्त किया।

श्रेणिकने मगध-शासक बन राज्यका विस्तार किया और ई० पू० ५५९ मे इसने अपना प्रधानमन्त्री अभयकुमारको नियत किया। केरलनरेश मृगाकने अपनी कन्या विलासवतीका विवाह श्रेणिक बिम्बसारके साथ सम्पन्न किया।

बिम्बसारका एक अन्य विवाह वैशालीके राजा चेटककी पुत्री चेलनाके साथ भी सम्पन्न हुआ, जिससे इनके धार्मिक जीवनमे आश्चर्यजनक परिवर्त्तन हुआ।

बिम्बसारके साथ चेलनाका विवाह भी एक घटना है। कहा जाता है कि भरत नामक चित्रकार चेटककी पुत्री चेलनाका सुन्दर चित्र अकितकर राजगृह-मे उपस्थित हुआ। बिम्बसार चित्रके दर्शनमात्रसे मन्त्रमुग्ध हो, चित्राङ्कित नारी चेलनाको प्राप्त करनेके लिए उत्कंठित हो गया। बिम्बसार मगध छोड़नेके अनन्तर बौद्धधर्ममे दीक्षित हो गया था और इसी धर्मका वह पक्का श्रद्धालु था।

चेटककी यह प्रतिज्ञा थी कि वह साधर्मीके साथ ही अपनी कन्याका विवाह

करेगा। बिम्बसार बौद्धधर्मानुयायी था। किन्तु चेलनाके साथ विवाह करनेके लिए वह छलसे जैन धर्मानुयायी बन गया। फलत चेटकने चेलनाका विवाह बिम्बसारके साथ ई०पू० ५५८ मे कर दिया।

जब चेलना राजगृहमे आयी तो बिम्बसारको जैनधर्मद्वेषी और बौद्धधर्मका अनुयायी ज्ञातकर उसे आन्तरिक वेदना हुई। वह सोचने लगी "वह नारी क्या, जो अपने जीवन-साथीको अनुकूल नही बना सकती? जो कार्य अस्त्र-शस्त्रोसे सम्पन्न नही होते, वे बुद्धिद्वारा सम्पन्न हो जाते हैं। मै अपनी सेवा, त्याग और तपश्चर्या द्वारा बिम्बसारके हृदयको परिवर्तित कर दूँगी।"

चेलनासे ई० पू० ५५७ मार्चमे अजातशत्रु या कुणिकका जन्म हुआ। वह बडा तेजस्वी और प्रतापी था। बडा होनेपर ई० पू० ५३५ मे वह चम्पाका शासक नियुक्त हुआ और षड्यन्त्रद्वारा श्रेणिकको बन्दीगृहमे बन्दी बनाकर ई० पू० ५२६-५०३ मे मगधका शासक बना।

श्रेणिक : मिथ्यात्व-तिमिरका ध्वंस : सम्यक्त्वका प्रकाश

बिम्बसारको बौद्धधर्मका अहकार था और वह जैन साधुओको कष्ट पहुँचाने-मे आनन्दका अनुभव करता था। एक दिन पाँच-सौ शिकारी कुत्तोको लेकर एक वनमे आखेटके लिए गया। वहाँ उसे एक साधु ध्यान-सलग्न दिखाई पडा। वह जैन साधु थे और नाम था यमधर। बिम्बसारके मनमे जैन साधुओके प्रति पहलेसे ही द्वेषाग्नि प्रज्वलित थी। यमधरको देखते ही उसका क्रोध बढ गया। उसने अपने सभी कुत्तोको सकेत किया और वे यमधरकी ओर झपटे। पर यमधर वीतराग थे, उन्हे किसीसे राग-द्वेष क्या? वे अपने कर्मावरणको तोडने-मे सचेष्ट थे। उनकी वीतरागताकी साधना उत्तरोत्तर बढती जाती थी। वे गम्भीरतापूर्वक अपने आत्म-निरीक्षणमे रत थे।

शिकारी कुत्तोके झपटनेपर भी वह अपने स्थानपर हिमालयकी भाँति अडिग थे। उनके ऊपर न किसीका भय था और न आतक ही। निर्भय होकर ध्यानमे लीन थे। महान् आश्चर्यकी घटना घटित हुई कि शिकारी कुत्ते यमधरके पास पहुँचकर पूँछ हिला-हिलाकर धरतीपर लोटने लगे। यमधरकी अहिसा और क्षमाशीलताके समक्ष शिकारी कुत्ते भी सरल सीधे हो गये। उनके हृदयमे विषके स्थानपर अमृत उत्पन्न हो गया। वे अपनी खूँखारता भूल गये तथा मुनिके चरणोमे नतमस्तक हो गये।

बिम्बसारने इस घटनाको विस्मयकी दृष्टिसे देखा, पर क्षमा और शान्तिके स्थानपर उसके हृदयमे मुनिराजके प्रति द्वेषाग्नि और अधिक उद्दीप्त हो गयी। वह मन-ही-मन सोचने लगा कि यह साधु अवश्य ही मायावी है। इसने माया करके

शिकारी कुत्तोको अपने वशमे कर लिया है। अब मैं इसकी खबर लिये बिना नही मानूँगा।

इस प्रकार विचारकर बिम्बसारने तरकशसे बाण निकाला और यमधर मुनिपर चलाना आरम्भ किया। पर यहाँ भी अत्यन्त विस्मयकारी घटना घटित हुई। बिम्बसारके बाण यमधर मुनिराज तक पहुँचते ही नही थे। बलपूर्वक चलाये गये बाण भी उनकी प्रदक्षिणा देकर वापस लौट आते। बाणोंसे मुनिराजकी कुछ भी हानि नही हुई।

इस घटनासे बिम्बसारका मन कोपज्वालासे जल उठा। उसकी द्वेषाग्नि और अधिक भभक उठी। अतएव उसने एक मृत सर्प यमधर मुनिके गलेमे डाल दिया। सर्पके डाल देनेपर भी मुनिराज पहलेके समान ही गम्भीर और अटल बने रहे।

बिम्बसार जब लौटकर अपने राजभवनमे पहुँचा, तो उसने बड़े गर्वके साथ राजमहिषी चेलनाको बतलाया कि आज उन्हे किस प्रकार एक मुनिका दर्शन हुआ। अपने शिकारी कुत्तोको छोड़ा, पर वे मुनिकी प्रदक्षिणा कर शान्त हो गये। मुनिको आहत करनेके लिए उसने बाण चलाये, पर वे भी विफल हो गये। जब मुनिको प्रत्यक्ष रूपसे किसी प्रकारका कष्ट न पहुँचा सका तो मृतसर्प उनके गलेमे डालकर वहाँसे वापस चला आया। राजमहिषी चेलनासे अहकारपूर्वक उक्त बातें कहते हुए वे बोले "देवी! लगता है कि तुम्हारा गुरु बडा मायावी या मान्त्रिक है। उसने कुत्तोको तो वशमे कर ही लिया, मेरे बाणोको भी असफल कर दिया।"

राजमहिषी चेलना "स्वामिन्! अहिंसाकी पूर्ण साधना करनेवाले जैन मुनि वीतराग होते है। राग-द्वेषसे रहित होनेके कारण उनके समक्ष हिंसाकी क्रियाएँ असफल हो जाती हैं। शरीरसे ममत्वका त्याग करनेके कारण ये समदर्शी होते हैं। आपने इन्हे दुःख देकर बड़ा पाप किया है। आपको अपने बुरे आचरणके लिए प्रायश्चित्त करना चाहिए।

बिम्बसारने राजमहिषी चेलनाकी बातोको हँसीमे उडा देना चाहा, पर जब चेलनाने अपने तर्कों द्वारा राजाको प्रभावित किया तो उन्हे मुनिराज यमधरकी सेवामे उपस्थित होनेके लिए बाध्य होना पडा।

यमधर ध्यानमे सलग्न थे। उनके मुँहपर दिव्य तेजकी छटा विद्यमान थी। शरीरपर लाखो चीटियाँ चढी हुई थी। चीटियोने काट-काटकर उनके शरीरको क्षत-विक्षत कर दिया। किन्तु शरीरसे इतने अनासक्त थे कि उन्हे इस वेदनाका तनिक भी अनुभव नही हो रहा था। उनकी चेतना अखण्ड अनन्त आनन्दसे परिपूर्ण थी। उनके आध्यात्मिक विकासके समक्ष भौतिक विकास

नगण्य और श्रीहीन थे। सयमकी साधनाने उनकी आत्मामे अपूर्व तेज उत्पन्न कर दिया था।

मुनिराजको चीटियोंके उपसर्गसे आक्रान्त देखकर चेलनाकी आँखे सजल हो उठी। उसने अपने हाथोसे यमधरके शरीरपर चढी हुई चीटियोको हटाया और उनके शरीरपर चन्दनका लेप किया। उपसर्गके दूर होते ही मुनिने आँखे खोल दी। विम्वसार अपनी राजमहिषी चेलनाके सामने खडे थे। मुनिने एक साथ दोनोको धर्मवृद्धिका आशीर्वाद दिया, अत उनकी दृष्टिसे उपकार और अपकार करनेवालेमे कोई अन्तर नही था।

मुनिराजके इस व्यवहारसे विम्बसार वहुत प्रभावित हुए। उनके हृदयकी ग्रन्थि खुल गयी। हृदय परिवर्त्तित हो गया। प्रतिहिंसाकी अग्नि शान्त हो गयी और अर्जित मिथ्यात्व विगलित होने लगा। आत्म-कल्याणका दुर्द्धर्ष मार्ग दृष्टिगोचर होने लगा। जीवनका मँगलघट आत्मसौरभसे भरने लगा। विम्बसारको आज ऐसा अनुभव हुआ मानो उसका नया जन्म हुआ हो। उनका अज्ञान-तम ढल चुका था और सच्चे ज्ञानकी किरणे फूट रही थी। उनके जीवनके इतिहासमे यह घडी सदा अविस्मरणीय रहेगी।

मगल-प्रभातका दर्शन होते ही बिम्वसारकी आत्मा मृदुल हो गयी और उसमे उपदेश ग्रहण करनेका पात्रत्व विकसित हो गया। यमधर मुनि कहने लगे "वत्स। यह संसार नाशवान है, शरीर क्षणस्थायी है, आत्मा अजर-अमर है। जो अनन्त चैतन्यको प्रवुद्ध करनेकी साधना करता है, उसीका मानव-शरीर प्राप्त करना सार्थक है। जीवनमे कुछ ऐसे प्रसग आते हैं, जो जीवनकी धाराको मोड देते हैं। अतएव अव तुम तीर्थंकर महावीरके समवशरणमे जाओ। वह समवशरण विपुलाचलपर स्थित है।"

महावीरके दर्शन-मात्रसे विम्वसारका जीवन कृतार्थ हो गया। वह महावीरके उपदेशोका प्रमुख श्रोता था। उसने साठ हजार जीवन और जगत्-सम्वन्धी प्रश्न पूछे, जिनका महावीरने उत्तर देकर श्रेणिकको सन्तुष्ट किया।

इतिहासकारोकी दृष्टिमे श्रेणिक

इतिहासकारोने श्रेणिकका उल्लेख बिम्बसारके नामसे किया है। बौद्ध-ग्रन्थोमे भी श्रेणिकका विस्तृत जीवन-परिचय प्राप्त होता है। बताया गया कि २२ वर्षकी अवस्थासे ५२ वर्ष तक श्रेणिकने राज्य-शासन किया था। गिलगिटसे प्राप्त मैन्युस्क्रिप्टमे श्रेणिकका उल्लेख है।[१] बौद्धसाहित्यमे श्रेणिक-

१ दीपवंश ३-५६-१०

का वृत्त उसी अवस्था तक है; जब तक वह बौद्धधर्मावलम्बी रहा था। जैनधर्म-को ग्रहण करनेके पश्चात्‌की घटनाओंका उल्लेख बौद्धसाहित्यमे नही मिलता है।

सुप्रसिद्ध इतिहासज्ञ विसेन्ट स्मियने 'ऑक्सफोर्ड हिस्ट्री ऑफ इण्डिया' मे श्रेणिकका निर्देश किया है तथा इनके राज्य-विस्तारका भी वर्णन दिया है।[1] श्रीकाशीप्रसाद जायसवालने बिहार रिसर्च सोसाइटीके जर्नल भाग एकमे बताया है कि श्रेणिकका राज्यकाल ५१ वर्षका था। कौशाम्बीके परन्तप शतानीक और श्रावस्तीके प्रसेनजित इनके समकालीन राजा थे।[2] श्रीजयचन्द्र विद्यालकारने अपने 'भारतीय इतिहासकी रूपरेखा' ग्रन्थमे श्रेणिकका विशेष वर्णन किया है। इन्होने बौद्ध एव जैन ग्रन्थोंके आधारपर मगध-साम्राज्यका सर्वप्रथम शासक श्रेणिकको ही स्वीकार किया है। बताया गया है कि चेटक, बिम्बसार आदि राजाओंके समकालीन महात्मा बुद्ध थे। श्रेणिकका उत्तरा-धिकारी अजातशत्रु हुआ, जिसने अपने राज्यका बहुत विस्तार किया।

डॉ० रमाशकर त्रिपाठीने लिखा है "बिम्बसार एक सामान्य सामन्त भट्टियका पुत्र था और उसका विरुद सेनिय अथवा श्रेणिक था। पहले तो उसकी राजधानी भी प्राचीन गिरिव्रज थी, पर बादमे अपने नये राजप्रासादके चतुर्दिक् राजधानी बसाकर उसने उसका 'राजगृह' नाम सार्थक किया। बिम्बसारने आरम्भमे अपने प्रभावको वैवाहिक सम्बन्धोकी नीतिसे बढाया। उसकी प्रधान महिषी कोशलदेवी राजा 'पसेनदि'की भगिनी थी, दूसरी रानी चेलना विख्यात लिच्छवि राजा 'चेटक' की कन्या थी और तीसरी रानी क्षेमा मद्र (मध्य पजाब) की राजकुमारी थी। इन विवाहोसे न केवल बिम्बसारका समसामयिक राज-कुलोपर प्रभाव विदित होता है, वरन् यह भी सत्य है कि इन्हीकी पृष्ठभूमिपर मगधके प्रसारकी अट्टालिका खड़ी हुई। उदाहरणत. केवल कोशलदेवीके विवाह-दहेजमे ही काशीकी एक लाखकी वार्षिक आय मगधको प्राप्त हुई। बिम्बसारने अपनी विजयोसे भी राज्यका विस्तार किया। अगके राजा ब्रह्मदत्तको परास्त कर उसके जनपद-राज्यको मगधमे मिला लिया"।[3]

श्रेणिक : प्रधान श्रोता

तीर्थंकर महावीरके समवशरणका वैभव अनिर्वचनीय था। मुनिराज यमधर-के उपदेशसे और महारानी चेलनाके कार्यो द्वारा हृदय परिवर्तित होनेसे श्रेणिक विपुलाचलपर स्थित समवशरणमे प्रधान श्रोता थे। वे इन्द्र द्वारा लाये गये

१ Oxford History of India P 45.

२ Journal of Bihar Research Society VI,P 114

३ प्राचीन भारतका इतिहास, सन् १९५६, बनारस, पृ० ७३-७४.

इन्द्रभूति गौतम, अग्निभूति, वायुभूति, आदिकी अभ्यर्थनाके हेतु उपस्थित थे। वज्जि और लिच्छवी राजा भी समवशरणमे श्रोताके रूपमें उपस्थित थे। चारो ओर हर्ष और उल्लासकी लहर व्याप्त थी। यो तो समवशरणकी व्यवस्था ही ऐसी थी कि सभी श्रोता जीव-जन्तु अपने-अपने नियत स्थानपर बैठते चले जा रहे थे। पर महाराज श्रेणिक अपनी औपचारिकता प्रदर्शित करनेके लिये सभीकी भावभीनी अभ्यर्थना करते हुए यथास्थान बैठनेका निवेदन कर रहे थे।

श्रेणिक युगविभूति तीर्थंकर महावीरके प्रति अपनी अपार भक्ति दिखला रहे थे। इस समय श्रेणिकको देखकर ऐसा तनिक भी आभास नही होता था कि ये कभी मिथ्यादृष्टि रहे है। श्रेणिकके हृदयमे भक्तिके साथ आत्म-चिन्तनकी आकुलता भी समाहित थी। उनके मनमे त्रिषष्टिशलाका-पुरुषोके जीवन-वृत्तको अवगत करनेकी प्रवल इच्छा थी। अतएव उन्होने समवशरणमे त्रिषष्टिशलाका-पुरुषोके चरितको ज्ञात करनेकी इच्छा व्यक्त की। आज जितने जैन पुराण उपलब्ध हैं, वे सभी श्रेणिकके प्रश्नोके उत्तरके रूपमे ग्रथित किये गये हैं। समवशरणमे यो तो सभी श्रोताओको प्रश्न करनेका अधिकार था, पर श्रेणिकको यह अधिकार सबसे अधिक प्राप्त था। जिस प्रकार इन्द्रभूति गौतमको महावीरके पट्टगणधर होनेका सौभाग्य प्राप्त है, उसी प्रकार श्रेणिकको प्रधान श्रोता होनेका गौरव उपलब्ध है।

समवशरणमे दिव्यध्वनिके प्रादुर्भावहेतु गौतम गणधर जैसे व्याख्याताकी आवश्यकता थी, उसी प्रकार जनहितके लिये श्रेणिक जैसे प्रश्नकर्त्ताकी भी। तीर्थंकर महावीरके उपदेश जनकल्याणके हेतु सरल और सुबोध शैलीमें होते थे। उनमें न आडम्बर था, न ढकोसला था, न दुराव था, न कोई छल-कपट ही।

रोहा : बदला जीवन एक प्रवचनने

रोहाका पिता मृत्यु-शय्यापर पडा है। वह अन्तिम घड़ियाँ गिन रहा है। पर न मालूम किस आशामें उसके प्राण अटके हुए हैं। रोहा पिताकी सेवामे उपस्थित हुआ और करबद्ध प्रार्थना करता हुआ कहने लगा। "पूज्य तात! आपकी अन्तिम इच्छा क्या है? पुत्रका कर्त्तव्य है कि वह पिताकी इच्छाओको पूर्ण करे। अतएव मै आपकी अन्तिम इच्छाको पूर्ण करनेके लिये प्रस्तुत हूँ।"

पिता "वत्स! मैं तो कुछ ही क्षणोका मेहमान हूँ, पर तुझे मेरी अन्तिम इच्छा पूर्ण करनी है।"

रोहा "तात! शीघ्र आज्ञा दीजिये। मै सभी तरहसे तैयार हूँ।"

पिता "वत्स! तीर्थंकर महावीर नामका एक अद्भुत जादूगर है। उसकी वाणीका प्रभाव विचित्र रूपमे पडता है। वह सदाचार, धर्म और ज्ञानका उपदेश देता है, उसके उपदेशने मेरे कितने ही साथियोके हृदय परिवर्तित कर

दिये हैं। वे चौर-कर्म छोडकर सद्गृहस्थका जीवन व्यतीत करने लगे है। अतएव तुम तीर्थंकर महावीरका उपदेश सुननेके लिये कभी मत जाना और जिस रास्तेमे उनकी समवशरण-सभा जुटी हो, उस रास्तेसे भी अलग रहना।"

रोहा "पूज्यचरण! आपकी आज्ञा स्वीकार है।"

पिताकी मृत्युके अनन्तर रोहा अपने पैतृक-व्यवसाय चौर्य-कर्मको सुचारु रूपसे सम्पादित करने लगा। एक दिन वह किसी गाँवसे चोरी करके लौट रहा था कि मार्गमे तीर्थंकर महावीरका समवशरण दृष्टिगोचर हुआ। वह सोचने लगा "कोई दूसरा मार्ग भी नही है। मैं कहाँ आकर फँस गया हूँ। दिव्यध्वनिका एक भी शब्द सुनायी न पड़े, इस उद्देश्यसे उसने अपने कान बन्द कर लिये और तेजीसे दौड़ने लगा। दौड़ता हुआ जब वह समवशरणके समीप पहुँचा, तो उसके पैरमे एक काँटा गड़ गया। अब तो उसका चलना ही बन्द हो गया। अत कानोपरसे हाथ हटाकर काँटा निकालने लगा। इसी समय तीर्थंकर महावीरकी दिव्यध्वनि द्वारा देवलोकका वर्णन किया जा रहा था "देवोकी प्रतिच्छाया नही पडती। उनके नेत्रोके पलक नही गिरते। वे धरतीपर पाँव नही रखते। चार अगुल ऊपर आकाशमे ही चलते हैं। उनकी पुष्पमाला म्लान नही होती।"

बिना इच्छाके रोहाके कानोमे ये प्रवचन प्रविष्ट हो गये और वह इन प्रवचनोको भूलनेके लिये नाना प्रकारकी गालियाँ बकने लगा। किन्तु संसारका यह नियम है कि जिस बातको भूलनेका प्रयास किया जाता है, वह बात और अधिक याद आती है। रोहाने भी महावीरके प्रवचनोंको भूलनेका पूरा प्रयास किया, पर वह उन्हे भूल न सका।

रोहाके चौर्य-कृत्योसे राजगृह-निवासी बहुत तग हो गये थे। चोरीसे परेशान नागरिकोने सम्राट् श्रेणिकके समक्ष प्रार्थना प्रस्तुत की और श्रेणिकने मत्री अभयकुमारको चोरको पकडने और उचित दण्ड देनेका अधिकार दे दिया। अभयकुमारने गुप्तरूपसे चोरोंके अड्डोका निरीक्षण किया और चन्द्रसेना नामक वेश्याको चोरके पकड़नेके लिये षड्यन्त्रहेतु तैयार किया।

रोहा वेश्या-गमनके हेतु चन्द्रसेनाके यहाँ गया। चन्द्रसेना रोहाकी भाव-भगिमासे समझ गयी कि यह चोर है। अत. उसने मदिरा-पान द्वारा रोहाको बेहोश कर अभयकुमारको सूचना दी। अभयकुमारके आदेशानुसार रोहाके रहस्यका पता लगानेके लिये उसे एक सुवासित भवनमे सुला दिया गया और उसके चारो ओर चार सुन्दरियाँ दिव्य वस्त्रालकार धारणकर खड़ी हो गयी। जब रोहाकी मूर्च्छा दूर हुई, तो अपनेको एक सज्जित, सुवासित और दिव्यभवनमे प्राप्तकर उसे आश्चर्य हुआ। वे चारो सुन्दरियाँ हाथ

जोड़कर कहने लगी "यह स्वर्ग है और हमलोग देवाङ्गनाएँ है। आपकी सेवाके लिये प्रस्तुत हुई हैं।"

रोहा सोचने लगा "तीर्थंकर महावीरने बतलाया था कि देवांगनाओकी प्रतिच्छाया नही पड़ती। नेत्रोके पलक नही झपकते। धरतीपर पाँव नही पडते। पर इन सुन्दरियोमे ये लक्षण नही घटित हो रहे हैं। अवश्य ही मुझे पकडनेके लिये यह षड्यन्त्र किया गया है। अत मुझे कपटपूर्वक उत्तर देना चाहिये। वह बोला मै अत्यन्त धर्मात्मा हूँ। मैने दान-पुण्यके अनेक कार्य किये हैं। उन्हीके फलस्वरूप यह स्वर्ग मिला है।"

प्रमाण न मिलनेसे अभयकुमारने लाचार होकर रोहाको छोड दिया। बन्धनमुक्त होनेपर रोहा विचारने लगा "यह ससार स्वार्थी है। मेरे पिताने स्वार्थसे प्रेरित होकर ही तीर्थंकर महावीरका उपदेश न सुननेके लिये प्रतिज्ञा करायी थी। आज मेरे प्राणोकी रक्षा महावीरके प्रवचनोसे ही हुई है। महावीर सर्वज्ञ, हितोपदेशी और वीतराग हैं। अत मेरे लिये उनका शरण ही कल्याण-कारक हो सकता है। मैंने उनके प्रति अपशब्दोका व्यवहारकर पाप-बन्ध किया है। अत मै क्षमा याचनाकर इस चौर्य-कर्मको त्यागकर दिगम्बर-दीक्षा ग्रहण करूँगा। इस ससारमे कोई किसीका नही है। सब स्वार्थवश हितैषी बनते हैं।"

इस प्रकार ऊहापोहकर रोहा चोर महावीरके समवशरणमे उपस्थित हुआ। पश्चात्तापके कारण उसका हृदय शुद्ध तथा निर्मल बन गया और उसने दिगम्बर-दीक्षा ग्रहण कर ली।

वास्तवमे महावीर ऐसे पारसमणि थे, जिनके सम्पर्कसे रोहा चोर जैसे कितने ही पापी स्वर्ण बन गये। उनके प्रवचनमे हृदय-परिवर्तनकी अपूर्व क्षमता थी। दुष्ट-से-दुष्ट और दुराचारी-से-दुराचारी भी उनके निकट सम्पर्कमे आनेपर परिवर्तित हुए बिना नही रह सकता था। उनकी वाणीका प्रभाव जादू जैसा था। उन्होने अपनी अहिंसाकी मधुर वीणाद्वारा लोगोके हृदयको द्रवीभूत कर दिया। वे अपने युगके सर्वश्रेष्ठ धर्मनायक और जनहितैषी थे।

मेघकुमार : विलासका विराग

कहा जाता है कि मेघकुमारका जीवन बडा ही विलासी था। उसे भोगोपभोगकी वस्तुओंसे विशेष रुचि थी। सुस्वादु और सुन्दर भोजन करना, नृत्यका अवलोकन करना और सगीतद्वारा चित्तका अनुरजन करना उसका प्रतिदिन-का कार्य था। जिसने भी मेघकुमारके वैभव और विलासको देखा, उसने कभी यह कल्पना भी नही कि यह व्यक्ति कभी विरक्त हो सकता है। विलासका परिणमन वीतरागतामे शायद ही कभी होता है। जो इन्द्रिय-सुखोका

दास बन चुका है, क्या वह कभी आत्माका आराधक हो सकता है ? दाससे स्वामी बनना सहज नही है। मानवताके इतिहासमे मेघ कुमारका ऐसा उदाहरण है, जो जीवनको परिवर्तित करनेकी क्षमता रखता है।

श्रेणिकके साथ मेघकुमार भी महावीरके समवशरणमे पहुँचा। उसने बड़े भक्तिभावसे प्रभुका चरण-वन्दन किया और अपने स्थानपर बैठकर तीर्थंकर महावीरका उपदेश श्रवण करने लगा। दिव्यध्वनि द्वारा सम्यक्त्वका विवेचन किया जा रहा था। आत्मोत्थानका साधन सम्यग्दर्शनको प्रतिपादित किया जा रहा था। प्रत्येक आत्मामे परमात्मज्योति विद्यमान है और प्रत्येक चेतनमे परमचेतन सामाहित है। चेतन और परमचेतन दो नही है, एक हैं। कर्मावरणके कारण यह आत्मा ससारमे परिभ्रमण कर रही है, पर जब यह ससारके बन्धनोसे मुक्त हो जायगी, तो सिद्धावस्थाको प्राप्त कर लेगी तथा यही भिखारीसे भगवान् बन जायगी।

सम्यग्दर्शनके उक्त माहात्म्यको सुनकर मेघकुमार सोचने लगा "कामनाओकी दासता ही सबसे बडी दासता है। इन्द्रिय-सुखोंके अधीन रहनेवाला व्यक्ति कभी निराकुल नही हो सकता है। मैंने अपनी इस युवावस्थामे सभी प्रकारके इन्द्रिय-सुखोको एकत्र किया है, पर मुझे कभी इन सुखोसे तृप्ति प्राप्त नही हुई है। दिव्यध्वनिमे आत्मनिष्ठाका और ससारके विषयोकी असारताका सतर्क विवेचन किया गया है। अतएव मै शुद्ध निरजन निर्विकारी पद प्राप्त करनेके लिए प्रभुचरणोमे दिगम्बर-दीक्षा ग्रहण करूँगा। अब न तो मुझे राज्य करनेकी इच्छा है और न राजसी वैभवको भोगनेकी ही आकाक्षा है। यह जगत् मुझे धधकती चिताके समान सन्ताप-कारक प्रतीत हो रहा है। अतएव मै माता-पिताकी अनुमति लेकर अब दिगम्बर-दीक्षा धारण करूँगा।"

समवशरणसे लौटनेके पश्चात् मेघकुमारने माता-पितासे अनुरोध किया "मेरा मन ससारके विषयोसे ऊब गया है और मुझे यह निश्चय हो गया है कि ये विषयचाहकी दाह बढानेवाले है। जैसे अग्निमे जितना अधिक ईंधन डालते जाइये, अग्नि उतनी ही अधिक प्रज्वलित होती जायगी। अग्निको शाति करनेके लिए जलकी आवश्यकता होती है। इसी प्रकार इन्द्रिय-विषयोको शमन करनेके लिए त्याग और वैराग्यकी आवश्यकता है। सयम ही एक ऐसा साधन है, जो भोगेच्छाओको नियन्त्रित कर सकता है। पूज्यवर! आप दोनोंके उपकार मेरे ऊपर अधिक हैं। आपने मेरी समस्त सुख-सुविधाओका ध्यान रखा है तथा मेरा भरण-पोषण सभी प्रकारसे किया है।

अब मेरी अन्तरग इच्छा दिगम्बर-दीक्षा धारण करनेकी है। मेरी विल-

सितामे वीतरागताका गुणात्मक परिवर्त्तन हो गया है। विगत विलासी-जीवनका स्मरण आते ही मेरा मन पश्चात्तापसे भर जाता है। अतएव आप महानुभाव मुझे दीक्षा ग्रहण करनेकी अनुमति प्रदान कीजिए; जिससे मैं तीर्थंकर महावीरकी शरणमे जाकर व्रत ग्रहण कर सकूँ।"

श्रेणिक मेघकुमारकी उदासीनता और उक्त भावनाको अवगत कर अत्यत आश्चर्य चकित हुए और उन्हे इस बातकी चिन्ता हुई कि मेघकुमारके दीक्षित होनेसे त्रुटि आयेगी और शासन-व्यस्था सम्यक्रूपसे नही चल पायेगी। वह सोचने लगे

"मेघकुमार सुकुमार प्रकृतिके हैं, इनसे क्या कठोर दिगम्बर-दीक्षाका निर्वाह हो सकेगा ? तपस्या करना बडा कठिन है। क्षुधा, तृष्णा, शीत, उष्ण आदिकी बाधाओको सहन करना सरल नही है। इन्द्रिय और मनका निग्रह करनेके हेतु बडे साहस और धैर्यकी आवश्यकता है। अत मेघकुमार दिगम्बर मुनिके असिधारा-व्रतका पालन किस प्रकार कर सकेगा ?"

बहुत सोच-विचार करनेके पश्चात् श्रेणिकने मेघकुमारको सम्बोधित कर कहा "वत्स ! त्याग और सयमके कठोर मार्गका तुम अनुसरण कर सकोगे ? अभी तुम्हे घरमे रहकर ही आत्म-साधना करनी चाहिए। इसके साथ चिन्तन, मनन, प्राणिमात्रकी हितैषिता एव सर्वप्राणि-समभावकी उदात्तवृत्तियोको भी आत्मसात् करना चाहिए। परिग्रह और ममताके घटने या नष्ट होनेपर ही गृहत्याग करना उचित होगा।"

मेघकुमार "पूज्यवर तात ! आपका उक्त कथन यथार्थ है। पर मैने यह अनुभव कर लिया है कि पाप कभी सुखका कारण नही बन सकते। इनके सेवनसे अन्तरात्मा कलुषित हो जाती है और व्यक्ति अपने निज स्वरूपको भूले रहता है। यह मोहोदयका परिणाम है कि आपके मुखसे इस प्रकारकी बातें निकल रही हैं। सात्त्विक वृत्तिको प्रत्येक समझदार व्यक्ति सुखप्रद मानता है। पापका सेवन करनेवालेको लोक, परलोकमे सभी प्रकारकी यातनाएँ भोगनी पडती हैं। अत मेरा निश्चय अटल है। आप सयम ग्रहण करनेकी अनुमति दीजिए।"

मेघकुमारके उक्त कथनको सुनकर माताकी ममता उमड पडी और वह कहने लगी "वत्स ! तुम मेरी आँखोके तारा हो। तुम्हारे बिना मैं कैसे प्राण धारण कर सकूँगी। क्या मछली जलसे विमुक्त होनेपर जीवित रह सकती है ? अत माँका आग्रह स्वीकार कर तुम्हे अभी गृहवास ही करना चाहिए।

ज्येष्ठपुत्र होनेके कारण तुम्ही राज्यके अधिकारी हो, अत राज्यसुखका उपभोग किये बिना तुम्हे दीक्षा धारण नही करनी चाहिए।"

उपर्युक्त कथनसे प्रभावित हो श्रेणिक कहने लगा "वत्स! तुमने यदि दिगम्बरी दीक्षा ग्रहण करनेका निश्चय कर लिया है, तो कोई बात नही। पर मेरा एक अनुरोध स्वीकार करो तुम ज्येष्ठ पुत्र हो, अत एक दिनके लिए राज्य-शासन स्वीकार करो, तदनन्तर दीक्षा ग्रहण करना।"

मेघकुमारने पिता श्रेणिकका आदेश स्वीकारकर एक दिनके लिए मगधका राज्यशासन ग्रहण किया और बडी सतर्कता एव कुशलतापूर्वक राज्यका सचालन किया। इसके द्वारा की गयी राज्यव्यवस्थाने श्रेणिकको आश्चर्य चकित कर दिया। एक अनुभवी सम्राट् जिस प्रकार राज्यशासनकी व्यवस्था करता है, उसी प्रकार मेघकुमारने राज्यकी व्यवस्था की। मन्त्रिवर्ग भी उसकी बुद्धि एव राजनीतिज्ञताको देखकर प्रभावित था।

जब दिन समाप्त हो गया तो श्रेणिकने मेघकुमारसे प्रश्न किया कि अब क्या विचार है? श्रमण-दीक्षा ग्रहण करोगे अथवा राज्य-सचालन? मेघकुमारने विनीत भावसे उत्तर दिया "तात! मै अपने निश्चयपर अटल हूँ। मुझे राज्य-सुख नीरस प्रतीत हो रहा है। इन भयकर विषय-भोगरूपी सर्पोकी फुफकारसे मैं जला जा रहा हूँ। अतएव अब मुझे शीघ्र ही दीक्षा ग्रहण करनेकी अनुमति मिलनी चाहिए।"

श्रेणिकको मेघकुमारके दृढ निश्चयका बोध हो गया। अत उसने प्रसन्नतापूर्वक दीक्षा धारण करनेकी अनुमति प्रदान की।

माता-पितासे अनुमति प्राप्तकर मेघकुमार अपनी आठ पत्नियोके मध्य दीक्षाकी स्वीकृति लेनेके लिए उपस्थित हुआ। उसने अपनी पत्नियोसे माता पिताकी अनुमति प्राप्तिकी चर्चा की और कहा- "तीर्थंकर महावीरकी देशना सुननेसे मेरे हृदयकी कालिमा दूर हो गयी है। मेरा हृदय चन्द्रमाके समान निर्मल और धवल हो गया है। सत्यकी वास्तविकता और ससारकी असारताका चित्र नेत्रोके समक्ष साकार हो उठा है। अतएव अब आप लोग भी मुझे आत्म-कल्याण करनेके लिए अनुमति दीजिए।"

पत्नियाँ कहने लगी "नाथ! हम लोग आपके वियोगमे जीवित भी नही रह सकेंगी। आपके यहाँसे चले जानेके पश्चात् हमारे प्राण भी आपके साथ ही चले जायेंगे। शरीरका चलना तो हमारे हाथमे नही है, पर प्राणोका चलना तो हमारी इच्छाके अधीन है। आप जानते ही हैं कि नारीके लिए पति ही गति है, पति ही शरण है और पति ही सर्वस्व है। पतिके न रहने पर नारीका

जीवन विपन्न हो जाता है। अत अभी हम लोग आपको दीक्षित होनेकी अनुमति नही देंगी।"

मेघकुमारके विरक्तिमय भावोको परिवर्तित करनेकी दृष्टिसे वे नानाप्रकारके हाव-भाव और कटाक्षोसे उसे पथ-विचलित करने लगी। जितेन्द्रिय मेघकुमारके मनपर इस प्रकारके विकारी भावोका कुछ भी प्रभाव नही पड़ा। लाख चेष्टाएँ करनेपर भी वे उन्हे पथभ्रष्ट न कर पायी।

जब मेघकुमारकी रानियोको उसकी दृढताका परिचय प्राप्त हो गया, तो वे भी लाचार हो गयी और उन्हे भी पराभूत होकर मेघकुमारको अनुमति देनी पड़ी।

परिवारके सभी सदस्योंसे स्वीकृति प्राप्तकर मेघकुमार अत्यधिक प्रसन्न हुआ और वह सीधे चलकर राजगृहमे अवस्थित महावीरके समवरणमे पहुँचा। उसने गौतम स्वामीसे निवेदन किया "प्रभो! मैंने दिगम्बरी दीक्षा ग्रहण करनेकी अपने परिवारसे अनुमति प्राप्त कर ली है। अतएव अब मुझे भी आत्म-कल्याण करनेका अवसर दिया जाय। तीर्थंकर महावीरकी शरण ही मेरे लिए सर्वस्व है।"

मेघकुमारने दिगम्बरी दीक्षा ग्रहण कर ली और वह अन्य मुनियोके समान आत्म-शोधनमे प्रवृत्त हुआ।

मेघकुमार विहारमे अन्य मुनियोके साथ भूमिपर शयन करते थे। सबसे बादमे दीक्षित होनेके कारण ये लघुमुनि कहलाते थे। इन्हे सोनेके लिए द्वारके पास स्थान प्राप्त होता था। द्वारसे होकर मुनियोका आवागमन लगा ही रहता था। इससे मेघकुमारको प्राय. अन्य मुनियोके टकरा जानेका कष्ट उठाना पडता था इनकी नीद समाप्त हो गयी थी और मनमे पश्चात्तापकी भावना उत्पन्न हो गयी थी।

जब मेघकुमार राजकुमारके पदपर प्रतिष्ठित थे, उस समय सभी मुनि उनका आदर-सत्कार करते थे। पर आज वे ही अपने पैरोकी धूलि उडाते हुए उनके पाससे निकल जाते हैं। आदर-सम्मान प्रकट करनेकी कौन कहे, कोई उनकी ओर आँख उठाकर भी नही देखता, मेघकुमारके हृदयमे विचारोका तूफान उठ रहा था। उनके हृदयमे राग, द्वेष और अमर्षके भाव जागृत हो उठे थे। अत उन्होने निश्चय किया कि अब इस सघमे रहकर अपमान सहना उचित नही। इन्द्रभूति गौतम गणधरको सूचितकर और उनसे अनुमति लेकर यहाँसे चले जाना ही श्रेयस्कर है।

मेघकुमार तीर्थंकर महावीर और उनके प्रमुख गणधर इन्द्रभूतिकी सेवा-

मे उपस्थित हुए। मन पर्ययज्ञानी गौतमने मेघकुमारके अन्तस्‌को जान लिया और कहा–"मेघकुमार, तुम मुनियोके व्यवहारसे उदासीन होकर घर जाना चाहते हो ? तुम्हे मुनियोके आवागमनसे कष्ट हो रहा है ? तुम्हारे सोनेका स्थान सबके अन्तमे है, द्वारके पास यह सब तुम्हारे लिए अपमानका कारण है। जब तुम राजकुमार अवस्थामे थे, तब सभी मुनि तुम्हारा आदर करते थे, पर अब दीक्षामे लघु होनेके कारण समस्त मुनियोको तुम्हे ही 'नमोऽस्तु' कहना पड़ता है। सभी साधुवर्ग मौन होकर साधनामे सलग्न हैं, अत तुमसे कोई बात-चीत भी नही करता। तुम्हे इन सब बातोके कारण आन्तरिक वेदना हो रही है।"

मेघकुमार उक्त बातोका क्या उत्तर देता ? तीर्थंकर महावीर और गौतम गणधरके समक्ष उनका मस्तक नत हो गया। इन्द्रभूति द्वारा कही गयी सभी बाते यथार्थ थी।

इन्द्रभूति तीर्थंकर महावीरकी दिव्यध्वनिका आधार ग्रहणकर कहने लगे "वत्स, सभी मुनि तुम्हारे साथी हैं, साधनापथमे वे सभी तुम्हारे सहयात्री हैं। साधना-कालमे मौन रहना आवश्यक होता है और यह भी अनिवार्य माना जाता है कि व्यर्थकी बात-चीतकर समय नष्ट न किया जाय। विकथाओकी चर्चा करना हेय माना गया है।"

"साधना-व्रतीके लिए मौन सबसे बडा बल माना गया है। मौनसे हृदयके भीतर एक ऐसी आग उत्पन्न होती है, जिसमे मनकी कलुषता जलकर भस्म हो जाती है। मौन मनके विकारभावोको नियन्त्रित करनेका साधन है।"

"अन्य मुनिवर्ग तुम्हारे प्रति इसीलिए उदासीन रहते हैं कि तुम अपने हृदयमे समभावको स्थिर रख सको। तुमने दीक्षा ग्रहण की है और तुम साधना-पथपर चल रहे हो। अत तुम्हारा किसीके द्वारा सम्मान किया जाय या न किया जाय, इससे क्या बनता-बिगडता है। आत्म-साधकको तो अपने प्रति सदा जागरूक रहना चाहिए। जिसे मान-अपमानका खयाल है, उससे आत्मसाधना सभव नही है। साधनाका उद्देश्य वीतरागताकी प्राप्ति है। वीतराग ही निर्वाण-लाभ करता है।"

इन्द्रभूति गणधरके उक्त वचनोको सुनकर मेघकुमारके नेत्र खुल गये। उन्हे अपनी भूल ज्ञात हो गयी। उनकी वाणीने मेघकुमारके भीतर अमृत-रस घोल दिया और वे मन-ही-मन पश्चात्ताप करने लगे।

इन्द्रभूति पुन कहने लगे "वत्स! तुम नही जानते कि तुम कौन हो ? क्या थे ? पर मैं तुम्हारी पूर्वपर्यायोको भलीभाँति जानता हूँ। आजसे तीसरे भवमे तुम एक हाथी थे।

एक दिन सहसा आकाशमें वादल छा गये। बडे जोरका तूफान आया। धरती-आकाश सभी कुछ धूलसे भर गये। चारो ओर अन्धेरा छा गया। जीव-जन्तु व्याकुल होकर इधर-उधर भागने लगे। तुम्हे भी अपने प्राणोकी चिन्ता हुई। तुम भी उस अन्धेरेमे भाग खडे हुए। कहाँ जा रहे थे, कुछ पता नही, यत सभी दिशाएँ तिमिराच्छन्न थी। हाथो-हाथ दिखलायी नही पडता था।"

"आखिर तुम एक दल-दलमे जा फँसे। तुमने उस दलदलसे बाहर निकलनेका अथक प्रयत्न किया, पर तुम निकल न सके। अब वर्षा वन्द हो गयी, वादल छूट गये और आँधी शात हो गयी, तब दिशाएँ स्वच्छ हुईं। अब तुम्हे ज्ञान हुआ कि तुम वडी कठिनाईमे फँस गये हो। यहाँ उद्धार होना भी सम्भव नही। वनके हिंसक जीव-जन्तुओने जव तुम्हे दल-दलमे फँसा हुआ निरसहाय देखा, तो वे तुम्हारे ऊपर टूट पड़े। तुम्हारा सारा शरीर उन्होने नख और दाँतोसे क्षत-विक्षत करदिया। तुमने प्राणोका त्याग किया और यह दुर्भावना उत्पन्न की कि इन शत्रुओसे प्रतिशोध लिया जाय। इस निदानके फलस्वरूप तुम पुन विन्ध्याचलपर्वतपर हाथीके रूपमे उत्पन्न हुए।"

"तुम्हारा शरीर भारी-भरकम था। तुम्हारे पदाघातसे धरती काँपती थी। वनके वडे-वडे हिंसक जीव-जन्तु भी तुम्हे देखते ही भयभीत हो जाते थे और तुम्हारा मार्ग छोडकर एक ओर खड़े हो जाते थे। एक दिन तुम पुन. महाविपत्तिके आवर्तमे फँस गये। उस वनमे भीषण दावाग्नि लग गयी। पेड-पौधे जलकर भस्म होने लगे। वनके साथ-साथ सहस्रो जीव-जन्तु भी समाप्त होने लगे।"

"दावाग्निके कारण वनके जीव-जन्तु अपनी रक्षाके लिए सुरक्षित स्थान ढूँढने लगे। तुम भी प्राणभयसे भागकर एक सुरक्षित स्थानपर खडे हो गये। यह स्थान तुमने पहलेसे ही निरापद वनाया था। यहाँके पेड-पौधे उखाड़कर सूँडसे जल छीटकर चौरस वना दिया था। अत दावाग्निका प्रभाव इस स्थानपर नही था। यहाँ पर वहुतसे पशु पहलेसे ही एकत्र थे। इस समय सभी पारस्परिक वैर-विरोध भाव छोडकर अपने-अपने प्राण वचानेके लिए उपस्थित थे।"

"तुम भी उस निरापद स्थानपर पहुँचकर एक ओर खड़े हो गये। वनके लघुकाय जीव तुम्हारे विशाल शरीरको आश्चर्यके साथ देख रहे थे। तुम हिमालयके कूटके समान खड़े हुए थे। तुम्हे देखकर भी वे प्राणी भयभीत नही हुए और न तुम्हारे मनमे ही अहकार उत्पन्न हुआ। यत उस समय सभीकी स्थिति समान थी।"

"अग्निदाहके कारण सहसा तुम्हारे एक पैरमे खाज पैदा हो उठी और तुम झुककर दूसरे पैरको खुजलाने लगे। जब खुजला चुके, तो फिर उठे हुए पैरको धरती पर रखने लगे, तो देखा कि एक खरगोशका छोटा-सा बच्चा तुम्हारे पैर-की भूमिपर स्थित है। यदि इस समय तुम पृथ्वीपर पैर रख देते, तो निश्चय ही उस निरीह खरगोशका प्राणान्त हो जाता।"

वह कांप रहा था, भयभीत दृष्टिसे इधर-उधर देख रहा था। उसे देखकर तुम्हारे मनमे दया उत्पन्न हो गयी, अत तुम धरतीपर अपना पैर न रख सके और तूफान शान्त होने तक अपने पैरको ऊपर उठाकर तीन पैरोपर ही खड़े रहे। दावाग्निके शान्त होनेपर जब वनके जीव-जन्तु अपने-अपने स्थानपर चले गये, तो उनके साथ ही वह खरगोशका बच्चा भी चला गया। अब तुमने अपने पैरको धरतीपर रखा। बहुत समय तक तीन पैरोसे खडे रहनेके कारण तुम्हारे अग जकड उठे। समस्त शरीरमे पीडा हो रही थी और अब खड़ा रहना भी सम्भव नही था। अत तुम गिर पडे और तुम्हारा प्राणान्त हो गया।"

"मृत्युके समय तुम्हारे परिणाम शान्त थे और तुम आत्म-चिन्तनमे लीन थे, अत तुम्हे यह मनुष्य-पर्याय प्राप्त हुई। पशु-योनिमे खरगोश-शिशुके प्रति कष्ट उठाकर तुमने दया प्रदर्शित की थी, अतएव तुम्हे राजकुमारका पद प्राप्त हुआ तथा तुम्हारे हृदयमे उज्ज्वल भावनाएँ उत्पन्न हुईं।"

अब तुम कल्याण-मार्गके निकट आकर क्यो पीछेकी ओर मुड़ना चाहते हो? पशुयोनिमे तुमने जो समभाव रखा और खरगोशके शिशुके प्रति जो दया दिखलायी, उससे तुम्हे यह फल प्राप्त हुआ। तुम्हारा नाम मेघ है, जिस प्रकार मेघ समानरूपसे बिना किसी भेदभावके जलकी वर्षा करते हैं, उसी प्रकार तुम्हे भी सभीको समान समझना चाहिए। इस विश्वमे न कोई प्राणी बड़ा है और न कोई छोटा। ऊँच-नीच, उन्नत-अवनत, छोटे-बड़े सभी अपने-अपने कर्मोंसे ही बनते हैं। अत. सत्कर्मोके प्रति अनुराग रखना आवश्यक है।"

"देवानुप्रिय! तुम सयमके महत्त्वको समझ गये होगे। भवरोगोसेछूटनेके लिए सयम ही सजीवनी-बूटी है। जिस व्यक्तिने अपने जीवनमे सयमका अव-लबन ग्रहण कर लिया है, वह नियमतः इस भव-बन्धनसे छुटकारा प्राप्त कर लेता है।"

मान-अपमान, आपत्ति-विपत्तिसे भयभीत होना तो कायरपुरुषोका कर्म है। जो क्षात्रतेजसे सम्पन्न हैं, वे कभी किसी भी सासारिक बातसे घबड़ाते नही। जीवनका लक्ष्य त्याग है, भोग नही। भोग तो अनादिकालसे प्राप्त होते

आ रहे हैं, पर उनसे कभी तृप्ति नही हुई। अत: तुम अपनी महत्ताको समझकर शाश्वत सत्यको प्राप्त करनेका प्रयास करो।"

मेघकुमारके ज्ञान-चक्षु उद्घाटित हो गये। उसे अपनी पूर्वभवावली स्मृत हो गयी। जातिस्मरणके कारण उसका चचल मन स्थिर हो गया। वह सोचने लगा "जो मानव सच्चे मनसे धर्माचरण करता है, अपने भीतरकी विकृतियोपर विजय प्राप्त कर लेता है, अपने सोये हुए दिव्य भावको जगा लेता है, वह स्वर्गके देवताओके द्वारा भी वन्दनीय हो जाता है। अहिसा, सयम और तपकी ज्योति ही जीवनको आलोकित कर सकती है। निस्सन्देह भोगसे त्याग पराजित नही होता, त्यागसे ही भोग पराजित होते हैं।"

इस प्रकार स्थिर विचार होकर मेघकुमारने तीर्थंकर महावीरके पादमूलमे रहकर आत्म-साधना की और कर्म कालिमाको नष्ट कर निर्वाण-लाभ किया। महावीरके सान्निध्यसे अनेक भव्य-जीवोने अपने भीतर ज्ञान-दीप प्रज्वलित किया।

वारिषेण : सौरभ

तीर्थंकर महावीरके उपदेशसे कल्याण करनेवालोमे वारिषेणकी भी गणना है। वारिषेण थे तो राजकुमार, पर श्रद्धा और विवेकमे वे बहुत आगे थे। सम्राट् श्रेणिक इनके पिता और महारानी चेलना इनकी माता थी। ये अत्यन्त गुणी और सम्यग्दृष्टि थे। नि शक होकर व्रत-उपवासमे रत रहते थे। ये लौकिक कार्योसे दूर और आत्म-चिन्तनमे समय यापन करते थे।

चतुर्दशीको श्याम रात्रि थी। चारो ओर घना अन्धकार आच्छादित था। वारिषेण उपवास ग्रहण कर श्मशानमे सामायिक करनेके लिये इसी काली रात्रिमे पहुँच गये और एकान्त स्थानपर बैठकर आत्म-ध्यानमे लीन हो गये।

इसी रात्रिमे नगरमे ऐसी घटना घटित हुई, जिससे वारिषेणकी जीवनधारा ही परिवर्तित हो गयी। बात यह हुई कि नगरमे विद्युत नामका चोर रहता था। विद्युतकी एक प्रेमिका थी वारवधू। विद्युत उसे हृदयसे प्रेम करता था। वह जो कुछ कहती, विद्युत प्राण देकर भी, उसे पूर्ण करनेका प्रयत्न करता था।

सयोगकी बात, उस दिन रातमे जब वारवधूके घर गया, तो वह हावभाव प्रकट करती हुई कहने लगी "यदि तुम मुझसे सच्चा प्यार करते हो, तो आज ही महारानी चेलनाका रत्नजटित स्वर्णहार चुराकर मेरे लिये ला दो। उस हारके विना मेरा गला सूना है।"

महारानीका स्वर्णहार! विद्युतके शरीरसे पसीना निकलने लगा। स्वर्णहारको चुराकर लाना असम्भव है। राजभवनमे दिन-रात सतरियो और सिपा-

हियोका पहरा रहता है। सतरियो और सिपाहियोकी आँख बचाकर वह राजभवनमे कैसे प्रवेश कर सकेगा ? यदि कही वह पकडा गया, तो अवश्य ही उसे प्राण-दण्ड प्राप्त होगा।

विद्युतके प्राण काँप उठे। उसने वारवधूको बहुत समझाया कि वह उसके लिये अच्छे-से-अच्छा हीरक-जटित स्वर्णहार ला देगा। महारानीके स्वर्णहारका हठ वह छोड दे। पर वारवधू उसकी बातको स्वीकार ही नही करती। उसने स्पष्ट कह दिया कि यदि वह महारानीका स्वर्णहार लाकर न देगा, तो वह उससे अपना सवन्ध तोड लेगी।

विद्युत हर मूल्यपर वारवधूको प्रसन्न रखना चाहता था। वह उसके लिये सभव-असभव सब कुछ करनेको तैयार था। आखिर वह प्राण हथेलीपर रख-कर राजभवनकी ओर चल पडा। रात्रिका समय था। चारो ओर सन्नाटा छाया हुआ था। विद्युत बडे साहस और कौशलके साथ राजभवनमे प्रविष्ट हुआ। वह धीरे-धीरे महारानीके कमरेमे घुसा और स्वर्णहार लेकर राजभवनसे बाहर निकल गया। राजपथपर उसे जाते हुए नगर-कोतवालने देख लिया। हारकी चमक-दमकने विद्युतको आलोकित कर रखा था। अत नगर-कोतवालने उसे डपटते हुए कहा "खडा रह, कहाँ जा रहा है, तेरे हाथमे क्या है ?"

विद्युतने सोचा कि कोतवालने महारानीका स्वर्णहार देख लिया है। अत वह भाग खडा हुआ। कोतवालने सिपाहियो सहित चोरका पीछा किया। विद्युत भागता-भागता श्मशानमे पहुँचा और ध्यानमे लीन वारिषेणके पास स्वर्णहार फेककर चलता बना। नगर-कोतवाल भी कुछ क्षणोके पश्चात् वारिषेणके पास जा पहुँचा। वारिषेण ध्यानमे मग्न थे और स्वर्णहार उनके पास पड़ा हुआ था। कोतवालने स्वर्णहार उठा लिया और साथमे वारिषेणको भी वन्दी बना लिया। कोतवाल सोचने लगा "अवश्य ही इसने स्वर्णहार चुराया है और अपनी चोरीको छिपाने लिये तपस्याका ढोग रचे हुए है। चोर अनेक प्रकारके अभिनय करते हैं। यह भी इसी कोटिका चोर है।"

नगर-कोतवालने स्वर्णहारके साथ वारिषेणको न्यायालयमे उपस्थित किया। श्रेणिक बिम्बसार स्वयं न्यायके आसनपर विराजमान थे। महारानी चेलनाके स्वर्णहारके चोरके रूपमे अपने पुत्र वारिषेणको देखकर वे विचारमग्न हो उठे। क्या यह सभव हो सकता है कि वारिषेण जैसा निर्लिप्त राजकुमार अपनी माताके ही स्वर्णहारकी चोरी करेगा ? कुमार वारिषेणकी यह प्रवृत्ति तो रही नही, पर जितनी गवाहियाँ वहाँ प्रस्तुत की गयी, वे सब वारिषेणके विरुद्धमे थी। सभी प्रमाणो और साक्षियोसे यही सिद्ध होता था कि वारिषेणने ही स्वर्ण-

हार चुराया है। फलत श्रेणिक बिम्बसारने विवश होकर वारिषेणको अपराधी घोषित किया और उसे मृत्यु-दण्डकी आज्ञा दी।

चाण्डाल वारिषेणको लेकर श्मशान-भूमिमे पहुँचे और उसे वधस्थलपर खडा करके उसपर शस्त्र-प्रहार करना चाहा। पर यह क्या, चाण्डलोके शस्त्र ही नही उठ रहे थे। उन्होने अनेक प्रयत्न किये, पर वे सभी विफल रहे। सहसा वारिषेणपर अकाशसे पुष्पवर्षा होने लगी। चारो ओर यह वृत्तान्त बिजलीकी शक्तिके समान व्याप्त हो गया। जनताके झुण्ड के-झुण्ड वारिषेणके दर्शनार्थ उमड पडे। श्रेणिक बिम्बसार भी रानी चेलना सहित वहाँ उपस्थित हुए और कहने लगे "वत्स! मैं पहले ही यह जानता था कि तुम निरपराध हो, पर मैं क्या करता? मै न्यायके आसनपर था और था अपने कर्त्तव्यसे विवश। भूल जाओ पिछली बातोको। अब चलो, घर लौट चलो। यह तुम्हारे सत्यकी विजय है।"

वारिषेण लौटकर घर न गया। उसने उत्तर दिया "घर? कौन-सा घर? मेरा कोई घर नही। न मै किसीका पुत्र हूँ और न मेरा कोई पिता है। ये लौकिक सम्बन्ध हैं। यह समस्त जगत-प्रपच है। सब कुछ नश्वर है। मै सब कुछ त्यागकर तीर्थंकर महावीरकी शरणमे जाऊँगा और मुनिजीवन व्यतीत करूँगा।"

वारिषेणके उक्त विचारोको सुनकर श्रेणिक बिम्बसार अत्यन्त प्रसन्न हुए। महारानी चेलना और बिम्बसार दोनोने ही पुत्रको दीक्षा-ग्रहण करनेकी अनुमति दे दी। वारिषेण तीर्थंकर महावीरके समवशरणमे आया और इन्द्रभूति गौतम गणधरको अपने मुनि बननेकी इच्छा प्रकट की। वारिषेणका धर्म-सौरभ महावीरके पादपद्मोमे विकसित हुआ।

जिस प्रकार पावस-कालमे मेघ-पटल जलकी वर्षा करते हैं, उसीप्रकार तीर्थंकर महावीरकी वाणीकी अमृत-वर्षा भी होती थी और त्रस्त भव्य जीव इस वाणीका पानकर आनन्दानुभव प्राप्त करते थे। धर्मदेशनाके श्रवणसे परिणामोके परिवर्तनमे विलम्ब नही होता था। जो भी तीर्थंकर वाणीका श्रवण करते वे व्रत-उपवास ग्रहणकर आत्म-कल्याणमे प्रवृत्त हो जाते। वारिषेण भी तीर्थंकर महावीरके सम्पर्कसे आत्म-साधक बन गये।

पुरानी स्मृतियाँ . नयी व्याख्याएँ

एक दिन वारिषेण चर्याके हेतु पोलासपुरकी ओर जा रहे थे कि उन्हे राजमत्रीका पुत्र सोमदत्त, जो उनका बालसखा था, मिला। मुनि वारिषेणको

देखकर उसका सखाभाव जागृत हो उठा। उसने बडे भक्ति-भावपूर्वक उन्हे आहार दिया। वारिषेणने भी मित्रका सच्चा हित साधा। उनके उपदेशसे वह साधु हो गया। सोमदत्त मुनि तो बन गया और दिगम्बर-दीक्षा भी उसने ग्रहण कर ली, पर उसका मन ममतामे फँसा रहा। वह बोला "मित्र! स्मरण है यह लता-कुज, जहाँ हम और आप मिलकर केलि करते थे। मधुर-सगीत आलाप कर आनन्द-विभोर हो जाते थे। क्या महावीरके सघमे केलि-क्रीडा-जन्य आनन्द है ?"

वारिषेण मुस्कुराकर कहने लगे "सोमदत्त! यह तो तुम अभी कलकी बात कह रहे हो। पर याद करो, न जाने कितने अनन्त जन्मोमे श्रोत्र-इन्द्रियको प्रिय लगनेवाली सगीत-लहरी हमने-तुमने सुनी होगी। क्या उससे तृप्ति हुई? नही, उसको सुननेसे ही केवल तृष्णा बढी है। आशा और तृष्णा ही तो ससार-परिभ्रमणका कारण है। इन्हीसे मन दूषित होता है और दूषित वस्तुमे आनन्द कहाँ?"

"महावीरका सघ कल्याण-धाम है, शान्ति-निकेतन है और है जन्म-मरणकी परम्परासे छुडानेका साधन। वे दोनो मुनि तीर्थंकर महावीरके समवशरणमे लौट आये। सोमदत्तका मन पवित्र हो गया। उसके विकार क्षीण होने लगे, मोह गलने लगा और आत्म-शान्तिकी प्रतीति होने लगी। वह सोचने लगा। वारिषेणका कथन यथार्थ था। वीरप्रभुकी निकटता ससार-तापको दूर करने-वाली है।"

"दोनो मुनियोने बडे भक्ति-भावसे तीर्थंकर महावीरकी वन्दना, स्तुति की और सघके समस्त साधुओको 'नमोस्तु' किया। वारिषेण अपने योग्य आसन-पर आसीन हुए और सोमदत्त भी उनके पास ही बैठ गया। एक वरिष्ठ साधुने सोमदत्तको सम्बोधित करते हुए कहा "तुम बडे पुण्यात्मा और विशुद्धहृदय हो, जो तुम्हे तीर्थंकर महावीरका समवशरण प्राप्त हुआ। महती तपस्या करनेकी तुम्हारी इच्छा पूर्ण हो!"

"पार्श्वमे स्थित एक अन्य साधुको यह कथन असह्य प्रतीत हुआ। अत वह क्रुद्ध होकर कहने लगा "यह मूढ क्या तपस्या करेगा? इसे आगमका सामान्य ज्ञान भी नही है। यह तो अपनी काली-कलूटी स्त्रीकी यादमे दुबला होता जा रहा है। विषय-वासनाओके विकारका त्याग किये बिना कोई साधु नही हो सकता है। जिस प्रकार केंचुलका त्यागकर देनेपर भी विष-विकारके अस्तित्वके कारण सर्प शान्त नही माना जा सकता है, उसी प्रकार बहिरग परिग्रहका त्याग कर देनेपर भी अन्तरग विकारोके सद्भावके कारण कोई

मुनि नहीं माना जा सकता है।" इसी बीच कहीसे किन्नर-किन्नरीकी गीत-ध्वनि सुनायी पडी, जिससे सोमदत्तका मन चचल हो उठा और उसे रह-रहकर अपनी पत्नीकी याद सताने लगी। राग और मोहने उसके विवेकको अन्धा बना दिया। घर जानेके लिये उसका मन मचल उठा।

वारिषेणने जब सोमदत्तको विह्वल देखा, तो उसने उसे रोका नही। बल्कि कहा "सोमदत्त! घर जाना चाहते हो, तो चलो, पर पहले हमारे घर होकर, तुम्हे अपने घर जाना होगा। सोमदत्तने वारिषेणकी बात स्वीकार कर ली। राजप्रासादमे दोनो मुनि पहुँचे। महारानी चेलना मुनियोको आया हुआ जानकर आश्चर्य चकित हुई। यत दिगम्बर मुनि आहार-बेलाके अतिरिक्त किसी भी गृहस्थके घर नही जाते। परीक्षाके लिये चेलनाने दो आसन बिछाये एक प्रासुक और दूसरा रत्न-जटित। वारिषेण प्रासुक आसनपर स्थित हो गये, पर सोमदत्तके पास यह विवेक नही था। अत वह रत्नजटित आसन-पर स्थित हो गया। अनन्तर वारिषेणने कहा "माँ! हमारी पत्नियोको शृगार करके यहाँ बुलाइये।" चेलनाने हाँ तो किया, परन्तु उसका हृदय सशक हो धडकने लगा—क्या उसका पुत्र मुनिधर्मसे पतित हो रहा है?

चेलनाने धर्ममे दृढ करनेके हेतु वारिषेणको धर्म-कथा सुनायी। वह कहने लगी "सुभद्रा ग्वालिनका पुत्र सुभद्र था। वह गाय चराकर अपनी आजीविका सम्पन्न करता था। एक दिन उसके साथी ग्वालोने उसे खीर खिलायी। सुभद्र-को यह खीर बहुत अच्छी लगी। उसने घर आकर अपनी माँसे आग्रह किया कि मैं खीर अवश्य खाऊँगा। गरीब माँने पुत्रके दुराग्रहको पूरा करनेके लिये इधर-उधरसे सामान एकत्र किया और खीर बनायी। रसनालोलुपी सुभद्रने खूब खीर खायी और इतनी अधिक खायी, जिससे उसे वमन होने लगा। वह खीर खाता जाता और वमन करता जाता था। जब खीर समाप्त हो गयी और माँके पास खिलानेके लिये अवशिष्ट न रही, तो वमन की गयी खीरको ही उसके सामने रख दिया। रसना-लम्पटीने उसे भी खा लिया। मुनिवर! क्या सुभद्रने यह ठीक किया?"

वारिषेण चेलनाके अभिप्रायको समझ गया। उसकी धार्मिकता और विनय-भावनासे प्रसन्न होकर वारिषेण कहने लगा "उज्जयिनीमे वसुपाल राजा रहता था और वसुमती नामकी उसकी रानी थी। दोनोमे प्रगाढ प्रेम था। एक दिन रानीको सर्पने डस लिया। मत्रवादी बुलाये गये। एक मत्रवादीने उस सर्पको बुला लिया, जिसने रानीको डसा था। परन्तु वह सर्प इतना क्रोधी था कि उसने रानीको निर्विष नही किया। उसने स्वय अग्निमे जल मरना उचित

समझा। अब विचार कीजिये कि उस सर्पका हठ कहाँ तक उचित था ? धर्म-पालनके लिये दृढता दिखलाना तो उचित है, पर विकारोकी वृद्धिके लिये हठ करना कहाँ तक उचित है ?"

महारानी चेलना और वारिषेणका कथा-प्रसंग चल रहा था, इसी समय अन्त पुरसे श्रृंगार किये हुए वारिषेणकी सभी पत्नियाँ आ गयी। वे अनुपम सुन्दरी थी। पति-आगमनकी प्रसन्नताने उनके सौन्दर्यको कई गुणा विकसित कर दिया था। वे आयी और नमस्कार कर बैठ गयी। वारिषेणने सोमदत्तसे कहा "मित्र देखते हो, ये रमणियाँ कैसी सुन्दर हैं ? ये तुम्हारी पत्नीसे अधिक सुन्दर हैं या नही ? यदि प्रणय वासना जागृत हो गयी है, तो इन्होके साथ रमणकर तुम अपने कषायभावको शान्त करो। घर जाकर क्या करोगे ? इतनी सौन्दर्य-राशि तुम्हे घरमे नही मिल सकती है।" वारिषेणका तीर काम कर गया। सोमदत्तके पैरो तलेसे धरती खिसकने लगी। वह लज्जा और पश्चात्तापसे गलने लगा। वारिषेणके त्यागने उसके विवेक-नेत्रोको खोल दिया। वह बोला "आप धन्य हैं। आपका धैर्य और त्याग श्रेष्ठ है। आप सत्यवीर हैं, शीलसम्पन्न हैं और हैं इन्द्रियजयी। आप जैसे मित्रने आज मेरे हृदयके कपाट खोल दिये हैं। मेरी ममता-मूर्च्छा गल गयी और मेरा मिथ्यात्व नष्ट हो गया। अब मुझे सम्यकत्वकी प्राप्ति हो गयी है। मेरा चचल मन स्थिर हो गया है। अब आप शीघ्र ही यहाँसे चलिये। एक क्षण भी यहाँ ठहरना कठिन है।"

दोनो मुनि तीर्थंकर महावीरके समवशरणमे आये और वहाँ उन्होने वारिषेणके स्थितिकरणकी कथा सुनी। नवदीक्षित मुनि सोमदत्त अपना विवेक खो बैठे, यह कोई नयी बात नही। इन्द्रियोके विषय इन्द्रायनफल जैसे सुन्दर और मोहक होते हैं। परन्तु उनका परिपाक कटु होता है। मूढबुद्धि तत्वको नही पहचान पाता है और विषयोमे आसक्त हो जाता है। वारिषेणने धर्मका आदर्श रूप उपस्थित किया है। उन्होने गिरतेको गिरनेसे रोका है और गिरे हुएको उठाया है। यही सम्यक्दृष्टिका लक्षण है। स्थितिकरण और उपबृंहण सम्यक्त्वके अग हैं। सम्यक्दृष्टि पापसे घृणा करता है, पापीसे नही। उसके हृदयमे साधर्मीके प्रति अपार वात्सल्य रहता है। लोक-कल्याणकी भावना भी उसीमे रह सकती है, जिसका हृदय उदार और विशाल है।

सोमदत्तने गुरुदेवसे प्रायश्चित्त ग्रहण किया और मुनिधर्मके पालन करनेमें वह दृढ हो गया।

तीर्थंकर महावीरके समवशरणने अनेक राजा-महाराजा और सम्भ्रान्त

व्यक्तियोको प्रभावित किया। जो भी उनके समवशरणमे सम्मिलित होता, वही उनसे प्रभावित हो जाता। उनका यह समवशरण विहार और मगधके विभिन्न प्रदेशोमे परिभ्रमण करता रहा। तीर्थंकर महावीरकी दिव्यध्वनिने लोक-हृदयको एक अपूर्व दिव्यता प्रदान की और जन-जनके ज्ञानचक्षु खोल दिये। अज्ञानके बादल फट गये और ज्ञानका सूर्योदय हो गया। रुढियाँ, दुराग्रह एव हठवादिता समाप्त होने लगी। इनके समवशरणके प्रभावसे सघर्ष समाप्त हुए और शान्तिकी जलधारा प्रवाहित हुई।

अभयकुमार

अभयकुमार अपने बुद्धिकौशलके कारण अपूर्व ख्याति प्राप्त कर चुके थे। उनका प्रत्युत्पन्नमतित्व अनुपम था। बडी-से-बडी समस्याओका समाधान चुटकियोमे कर दिया करते थे। ये शान्तप्रकृतिके तो थे ही, पर एकान्तप्रिय भी थे। ये निरन्तर चिन्तनमे ही लगे रहते थे और गूढ तत्त्व-चर्चायें भी किया करते थे। तत्त्व-सम्बन्धी बडी-से-बडी शकाएँ तत्त्वजिज्ञासु उनसे करते और बातों-ही-बातोमे उनका समाधान कर देते थे। मेधावी अभयकुमार ससारकी स्वार्थपरताओ और छल-छिद्रोसे ऊब गये थे तथा शान्तिका मार्ग प्राप्त करनेके लिए सचेष्ट थे। रोहा चोरके हृदय-परिवर्तनकी घटनाका प्रभाव उनके हृदयपर बहुत गहरा पडा था और ये सत्योपलब्धिके लिए सचेष्ट थे।

तीर्थंकर महावीरका समवशरण विपुलाचलसे इधर-उधर ग्राम और नगरोमे हुआ करता था। यह एक प्रकारसे चलता-फिरता विश्वविद्यालय था और जहाँ भी होता, जनकल्याणका अमृतवर्षण करता। समवशरणके प्रभावसे चारो ओर बहुत दूर तक करुणा और मैत्रीकी दुन्दुभि बजने लगी। लोकमानस उनके अभिनन्दनके लिए पलक पाँवड़े बिछाने लगा। भारतकी अन्तरात्मा निर्मल हो गयी। इतिहासका कालुष्य धुल गया और उज्ज्वलताकी लेखनी द्वारा अहिसा एव सत्यके पृष्ठोपर भारतका नया इतिहास लिखा जाने लगा।

महावीरका समवशरण पुन तीसरी बार राजगृहमे अनुमानत ई० पू० ५३०–३२ मे हुआ तथा उनके उपदेशामृतकी चर्चा सर्वत्र व्याप्त हो गयी। जनसाधारणके साथ सेठ, साहूकार और सामन्त भी समवशरण-सभामे सम्मिलित होने लगे।

अभयकुमार भी समवशरणमे दिव्यध्वनि सुननेके लिए उपस्थित हुआ। वे विरक्त तो पहलेसे ही थे, पर तीर्थंकर महावीरके वीतराग प्रवचनको सुनकर उनका वैराग्य कई गुना बढ़ गया। वे सोचने लगे "मनुष्य जीवनकी उपयोगिता

इसी बातमे है कि इसे प्राप्त कर जन्म-मरणसे छुटकारा प्राप्त किया जाय। मानव-जीवन दुर्लभ है, अनुपम है और है यह मूल्यवान पर्याय। तीर्थंकरके पादमूलको प्राप्तकर भी यदि इस जीवनमे साधना नही की गई, तो फिर शायद ही कभी अवसर प्राप्त होगा। जो व्यक्ति वासनासक्त है, वह अपने स्वरूपको नही समझ सकता है। उसे आत्मबोध और आत्मविवेक प्राप्त होना कठिन है। अतएव मुझे क्रोध, मान, माया, आदि विकारोको जीतनेके लिए सचेष्ट होना चाहिए।"

अभयकुमारने ससार, शरीर और भोगोसे विरक्त हो दिगम्बर-दीक्षा ग्रहण करनेके लिए प्रभुके चरणोमे प्रार्थना की। महावीरने अभयके पूर्वजन्मोंका वृत्तान्त प्रकटकर उसके हृदयकी गाँठ खोल दी। उन्होने बतलाया· "अभय पूर्व जन्ममे एक ब्राह्मण-पुत्र था, वेदाध्ययनकी ओर उसकी विशेष रुचि थी; पर विद्वान् होनेपर भी वह मूढताओमे आबद्ध था। उसकी मिथ्याभिरुचि उसे पथभ्रष्ट कर रही थी।"

"पॉच मूढताएँ प्रमुख थी

(१) पाखण्ड मूढता।
(२) देवमूढता सभी प्रकारके देवोमे अन्धविश्वास।
(३) तीर्थमूढता तीर्थोमे अन्धभक्ति।
(४) जाति-बन्धन।
(५) क्रियाकाण्ड एव हिंसकधर्ममे विश्वास।"

"इन मूढताओमे जकडे हुए इस ब्राह्मण-पुत्रका एक श्रावकसे साक्षात्कार हुआ। श्रावकने उसे सत्यज्ञानका उपदेश दिया। बतलाया कि मनुष्य अपने सत्कर्मसे ही उन्नत होता है। अत सत्कर्म ही पूजा है, सत्कर्म ही तीर्थ और सत्कर्म ही महान् है। सत्कर्म वही है, जो जगत्के समस्त प्राणियोको सुख और शान्ति प्रदान कर सके। जातिवाद अतात्त्विक है। ससारके सभी मनुष्य समान हैं, न कोई छोटा और न कोई बड़ा है। मनुष्यकी श्रेष्ठता आचारमूलक है। जिस व्यक्तिका अहिसामूलक आचार रहता है, वही व्यक्ति अपना और ससारका हित-साधन करता है।"

"श्रावकके उक्त उपदेशसे ब्राह्मण-पुत्र प्रभावित हुआ और वह अहिसाके आचरणमे सलग्न हो गया। मृत्युके पश्चात् सत्कार्योके परिणामस्वरूप उसने राजाके यहाँ जन्म ग्रहण किया और राजकुमार-पद प्राप्त किया। यह राजकुमार ही अभयके रूपमें उपस्थित है।"

अभयकुमार अपने पूर्वजन्मके वृत्तान्तको सुनकर अधिक प्रभावित हुआ।

उसके मनमे उत्पन्न हुई विरक्ति और सबल हो गयी। वह सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्रकी प्राप्तिके लिये लालायित हो गया। उसका मन आत्मनिष्ठासे भर गया तथा उसकी दृष्टि निर्मल और उज्ज्वल हो गयी। अत: उसने प्रार्थना की--"प्रभो! मुझे दीक्षा देकर आत्म-साधनाका अवसर दीजिये।"

इन्द्रभूति गौतम गणधरने अभयकुमारको सम्बोधित करते हुए कहा "तुम्हारी तभी दिगम्बर-दीक्षा हो सकती है, जब तुम अपने माता-पिताकी अनुमति प्राप्त कर लो। यत तुम राज्यके एक उत्तरदायी पदपर प्रतिष्ठित हो।"

अभयकुमार गौतम गणधरके अदेशानुसार अपने पितासे अनुमति प्राप्त करनेके लिए राजसभामे उपस्थित हुआ। उसने सिंहासनासीन श्रेणिकको बडी श्रद्धासे प्रणाम किया। अपनी इच्छा पिताके सम्मुख व्यक्त करनेके पूर्व भूमिकाके रूपमे तत्त्वोका विवेचन किया। उसके सारगर्भित विवेचनको सुनकर श्रेणिक और राजसभाके अनेक विद्वान् आश्चर्य चकित हो गये।

अभयकुमारने अपनी भूमिका समाप्त करनेके अनन्तर अपना मन्तव्य भी पिताके समक्ष प्रस्तुत किया। उसने विनीत शब्दोमे निवेदन किया "पूज्यवर तात! ससारके ये विषय-सुख मुझे नीरस प्रतीत हो रहे है। राजनीतिक दॉव-पेच और षड्यन्त्र मुझे अब नागफनी जैसे प्रतीत हो रहे हैं। मेरी अन्तरात्मा ज्ञानज्योतिसे आलोकित हो गयी है। अतएव अब मै दिगम्बर-दीक्षा ग्रहण कर महावीरके सघमे सम्मिलित हो आत्मकल्याण करना चाहता हूँ।"

अभयकुमारके उक्त विचारोको सुनकर सम्राट् श्रेणिक स्तब्ध हो गये। वे नही चाहते थे कि अभयकुमार घर-द्वार, राज्य, धन, दौलत आदि छोडकर मुनिपद ग्रहण करे। वह अभयकुमारको समझाते हुए कहने लगे "वत्स! मगधका यह विशाल राज्य तुम्हारे बुद्धिकौशलसे ही चल रहा है। तुम्हारे कारण राज्यकी सीमाका विस्तार हुआ है और कई राजाओने अधीनता प्राप्त की हे अभी तुम्हारी वय ही क्या है? दीक्षाके लिये अवसर आने दीजिये, तब दीक्षा-ग्रहण करनेमे किसी प्रकारकी कठिनाई नही है। अभी मेरा मन तुम्हे अनुमति देनेके लिये तैयार नही है।"

अभयकुमार "तात! अब सत्कर्ममे मुझे रस आ गया है, आनन्दकी उपलब्धि हो गयी है और ससारके विषय-सुख नीरस प्रतीत हो रहे हैं। अतएव दीक्षा ग्रहण करनेके लिये अवश्य अनुमति दीजिये।"

श्रेणिकने जब अभयकुमारका दृढ निश्चय ज्ञात कर लिया, तो उन्हे अनु-

मति देनी पड़ी। अभयकुमारने अपनी मातासे भी अनुमति प्राप्त कर ली। अतः वह गौतम गणधरके निर्देशानुसार तीर्थंकर महावीरके समवशरणमे पहुँचा और वहाँ दिगम्बर-दीक्षा ग्रहण कर ली। श्रेणिक भी पुत्रके दीक्षित होनेसे प्रसन्न हुआ और उसने राजगृहमे उत्सव सम्पन्न किया।

अभयकुमारने दिगम्बर-दीक्षा धारण कर उग्र तप किया। उसने विकार और वासनाओका निरोधकर कर्मोंकी निर्जरा की। साक्षात् तीर्थंकर महावीरका उपदेश श्रवणकर अभयकुमारने अपने कर्मोकी अनन्तगुणी निर्जरा आरम्भ की। उन्होने चार घातियाकर्मोंको नष्टकर वीतराग हो। अर्हन्तपद प्राप्त किया। समवशरणमे जीव और कर्मके सम्बन्धमे ज्ञात्त कर अपनेको शुद्ध-बुद्ध और ज्ञान-स्वरूप बनाया। ध्यानके प्रभावसे अनन्तज्ञान, अनन्तदर्शन, अनन्तसुख और अनन्तवीर्यकी उपलब्धि की। जो आत्मा बन्धका कर्त्ता है, वही आत्मा बन्धनसे मुक्ति प्राप्त करनेवाला है। पर इस मुक्तिकी प्राप्ति तभी होती है, जब अपने भीतरके परमात्मासे साक्षात्कार हो जाता है। इस परमात्मा पदके प्राप्त होते ही आत्मा सुख-दुःख, पुण्य-पाप आदिसे मुक्त हो जाती है।

आर्यिका-संघकी प्रमुख आचार्या : चन्दना

महावीरके संघमे मुनि और श्रावकोके साथ आर्यिका और श्राविकाओंके भी संघ थे। वीरसंघकी व्यवस्था महिलाओके सहयोगके बिना सम्भव नही थी। महावीरके संघमे छत्तीस हजार आर्यिकाएँ और तीन लाख श्राविकाएँ थी। महाराज चेटककी पुत्री चन्दना कौशाम्बीमे व्रात्य जीवन व्यतीत कर रही थी और वह वीर-तीर्थप्रवर्त्तनकी आशा लगाये हुई थी। जब महावीरका धर्म-प्रवर्त्तन आरम्भ हुआ, तो चन्दना समवशरण-भूमिमे पहुँची और अनुरोध करने लगी "स्त्री-पर्यायकी माया प्रसिद्ध है। इस मायाका विनाश आर्यिका बनकर साधनाद्वारा नारी भी कर सकती है। पुरुष-पर्याय हो या नारी-पर्याय, सभी बन्धन है। सोनेका बन्धन लोहेके बन्धनसे अच्छा नही हो सकता है। दोनो ही प्रकारके बन्धन व्यक्तिकी स्वतन्त्रतामे बाधक है। जो भव्य हैं, अपना और परका हित चाहते हैं, वे किसीसे द्वेष नही रखते, किसीको बुरा नही कहते। व्यक्तिके शुभ और अशुभ संस्कार ही द्रष्टव्य है। अच्छे संस्कार उपादेय होते हैं और बुरे संस्कार हेय। जो व्यक्ति अपने संस्कारोका निर्माण करता है, वही साधनाका अधिकारी बनता है।"

चन्दनाके अनुरोधका समर्थन इन्द्रभूति गौतमने भी किया और कहा "संघका संचालन प्रमुख विदुषी आर्यिकाके अभावमें संभव नही है। अतः चन्दनाके विरक्त भावोका समादर होना आवश्यक है।"

चन्दनाको आर्यिका-दीक्षा ग्रहण करनेकी अनुमति प्राप्त हो गयी। उसने

द्वादश अनुप्रेक्षाओंका चिन्तन किया और पञ्चमुष्टि लोचकर श्वेत शाटिका धारण की।

चन्दनाकी दीक्षा होते ही हर्ष-ध्वनि हुई और देवोंने भी इसका अनुमोदन किया। चन्दना तीर्थंकर महावीरके आर्यिका-संघकी गणिनी बन गयीं।

चेलना : भक्ति और त्याग

वीरसंघकी साध्वी-रमणियोंमें चेलनाकी भी गणना की गयी है। इनका धर्माचरण दैनिक जीवनमें अनुस्यूत था। चेलनाने ही सम्राट् श्रेणिक बिम्बसारको महावीरका अनुयायी बनाया था। इनका भवन मुनि और त्यागियोंकी चरण-रजसे पवित्र होता रहता था। यह चारों प्रकारका दान देती, देवार्चन करती और स्वाध्यायद्वारा अपने अन्तरंगको पावन बनाती। धर्ममार्गसे च्युत होनेवाले व्यक्तियोंके स्थितिकरणमें संलग्न रहती।

एक समयकी घटना है कि चेलना द्वारापेक्षण कर रही थी। सौभाग्यवश एक कृशकाय द्विमासोपवासी तपस्वी विशाख चर्याके लिए पधारे। रानीने भक्तिपूर्वक मुनिराजको पड़गाहा और आहार-दान देनेकी तैयारी करने लगी। इसी समय उसने देखा कि कोई अदृश्य शक्ति मुनिराजपर उपसर्ग कर रही है-उनका इन्द्रिय-वर्द्धन होता जा रहा है। यदि मुनिराज अपने इस इन्द्रिय-वर्द्धनको देखते तो अन्तराय मानकर बिना आहार लिए लौट जाते। अत चेलनाने मुनिराजका निरन्तराय आहार सम्पन्न करानेके हेतु ऐसा उपाय किया, जिससे मुनिराजको उक्त उपसर्गका अनुभव ही नहीं हुआ।

मुनिराज आहार-ग्रहणकर विपुलाचलपर्वतपर गये और ध्यानस्थ हो गये। उन्होंने शुक्लध्यान आरम्भ किया, जिससे घतियाकर्म नष्ट होने लगे। गुणस्थानारोहणके क्रमसे उन्होंने सयोगकेवली गुणस्थानमें पहुँचकर अनन्तचतुष्टयकी प्राप्ति की और केवलज्ञान उपलब्ध किया। सुर, असुर, नर, नारी, सभी केवलीकी वन्दनाके लिए आने लगे। चेलना भी वहाँ उपस्थित हुई और उसने केवलीसे उस परोक्ष उपसर्गका कारण पूछा।

केवली "मुनि होनेके पहले मैं पाटलिपुत्रका राजकुमार था मेरा नाम विशाख था। मेरी पत्नी कनकश्री अत्यन्त रूप-लावण्ययुक्त थी। मेरा विवाह हुए अभी एक महीना भी नहीं हुआ था कि मैंने अपने बालसखा मुनिराज मुनिदत्तको देखा। वे अपनी चर्याके लिए भ्रमण कर रहे थे। मैंने भक्तिभावपूर्वक मुनिदत्तको आहार दिया। मुनिराजने मुझे संसारका स्वरूप बतलाया-तथा आत्मोत्थानके लिए प्रेरणा दी। महाराजके उपदेशसे मुझे बड़ी शान्ति

मिली तथा मेरे मनमे ससारके प्रति अरुचि उत्पन्न हो गयी। फलत सर्वारम्भ-परिग्रहका त्यागकर मैं भी मुनि बन गया।"

'कनकश्रीको मेरा मुनि बनना अच्छा न लगा। अत वह क्रोधावेशमे मुझे गालियाँ देने लगी तथा उसकी स्थिति उन्मत्त जैसी हो गयी और कुछ ही दिनोमे उसका शरीर छूट गया। कनकश्री कुभावनाके प्रभावसे व्यन्तरी हुई। उसने विभगावधिसे मेरे सम्बन्धमे जानकारी प्राप्त की और प्रतिशोधके रूपमे उसने मेरी तपस्यामे विघ्न करना आरम्भ किया। मैं जब चर्याके लिए निकलता वह मेरी इन्द्रिय-वृद्धि कर देती, जिससे अन्तरायके कारण मैं बिना आहार लिए ही लौट जाता। इस प्रकार अन्तराय होनेसे मैंने द्विमासोपवास ग्रहण किया। जब मैं चर्याके लिए राजगृहमे आया, तो कनकश्रीके जीव उस व्यन्तरीने पुन: अन्तराय उपस्थित करनेका प्रयास किया, किन्तु तुमने उस उपसर्गकी जानकारी मुझे नही होने दी। मैं तुम्हारे द्वारा शुद्धरूपसे दिये गये आहारको ग्रहण कर यहाँ आया और मुझे उत्कृष्ट ध्यानकी प्राप्ति हुई, जिसके फलस्वरूप केवलज्ञान मिला।''

हुआ आत्मोदय

चेलनाने उपगूहन अगका पालनकर अपने सम्यक्त्वको दृढ किया। चेटककी पुत्री ज्येष्ठा आर्यिका बनकर धर्मसाधना कर रही थी और इनके पति सात्यकि भी मुनिपद ग्रहण कर आत्म-साधना कर रहे थे। चारित्रमोहोदयसे ये दोनो तपसे भ्रष्ट हुए। चेलनाने इनका स्थितिकरण कर इन्हे पुन धर्माराधनमे प्रवृत्त किया और तीर्थंकर महावीरके समवशरणमे इन्हे प्रविष्ट कराया। प्रायश्चित्त कर ये दोनो आर्यिका और मुनि व्रत पालन करनेमे दृढ़ हुए।

चेलना आर्यिका चन्दनाकी वन्दनाके लिए गयी। चन्दनाके धर्मोपदेशका उसपर 'जादू' जैसा प्रभाव पडा। फलत उसके परिणाम भी विरक्ततसे आप्लावित हो गये। श्रेणिकके अभावके कारण उसका मन भी सासारिक कार्योमे नही लग रहा था। उसे ससारकी असारताकी अनुभूति हो गयी। फलत. चेलनाने भी चन्दनासे आर्यिका-दीक्षा धारण कर ली।

चेलना तीर्थंकर महावीरके सघमे रहकर आत्म-साधना करने लगी। वह स्त्री-पर्यायका छेदकर पुरुष-पर्याय द्वारा कैवल्य प्राप्तिके लिए सचेष्ट थी। तीर्थंकर महावीरके दर्शन-वन्दनसे चेलना और ज्येष्ठाका कल्याण हुआ।

अन्य अनेक राजाओद्वारा महावीरकी भक्ति-वन्दना

तीर्थंकर महावीरकी वन्दना अनेक राजा-महाराजाओने की और उनके

दर्शन-अर्चनसे अपनेको धन्य बनाया। वैशालीनरेश चेटक, मगधनरेश कुणिक अजातशत्रु, हस्तिशीर्षनरेश अदीनशत्रु, सौगन्धिका-नरेश अप्रतिहत, वाराणसी-नरेश जितशत्रु, सिन्धुसौवीर-नरेश उद्रायण, श्रावस्ती-नरेश जितशत्रु, चम्पा-नरेश दधिवाहन, उज्जयिनी-नरेश चण्डप्रद्योत एव कौशाम्बी-नरेश शतानीक प्रसिद्ध हैं। इन सभी नरेशोने तीर्थंकर महावीरके समवशरणमे पहुँचकर शान्ति-लाभ किया था। देशनामे आत्मशुद्धिके हेतु कर्मोसे संघर्ष करनेका संकेत विद्यमान था। जीवन जितना कठोर एव सयमी होता है, व्यक्ति उतना ही ऊँचा उठ जाता है। जो विषय-वासनाओमे पडा रहता है, तपस्याके लिए प्रयास नहीं करता, वह जीवनमे कभी भी आगे नही बढ सकता है। नदी, सरोवर और गड्ढोमे पड़ा भूतलका जल सघर्ष करता है सूर्य-किरणोसे सतप्त होता है, तो वह रश्मियोके सहारे ऊपर उठ जाता है, सारी गन्दगी और मैल नीचे रह जाते हैं। राजा हो या रक, ब्राह्मण हो या शूद्र, विद्वान् हो या मूर्ख जो श्रम करता है, तपश्चरण करता है, वह महान् बन जाता है।

महावीरके उपदेशने कितने ही व्यक्तियोके हृदय परिवर्तित कर दिये। उनके उपदेशसे प्रभावित होकर किसीने अणुव्रत ग्रहण किये और किसीने महाव्रत। समाज-व्यवस्था और राष्ट्र-व्यवस्थाकी महत्त्वपूर्ण बातोकी जानकारी भी प्राप्त हुई।

दिव्यध्वनि या देशनाकी भाषा

तीर्थंकरकी दिव्यध्वनि अनक्षरात्मक होती है या अक्षरात्मक, इस सम्बन्धमे आगम-ग्रन्थोमे विस्तारपूर्वक विचार किया गया है। कसायपाहुड और तिलोय-पण्णत्तीमे दिव्यध्वनिको तालु, दन्त, ओष्ठ तथा कण्ठके हलन-चलनरूप व्यापारसे रहित होकर एक ही समयमे भव्यजनोको आनन्द देनेवाली बताया है[1]। हरिवंश-पुराणसे भी उक्त तथ्य पुष्ट होता है। इस ग्रन्थमे लिखा है कि ओठोको बिना हिलाये ही निकली हुई तीर्थंकर-वाणीने तिर्यञ्च, मनुष्य और

१ अट्ठारस महाभासा खुल्लयभासा वि सत्तसयसखा।
अक्खरअणक्खरप्पय सण्णीजीवाण सयलभासाओ ॥
एदासिं भासाण तालुवदतोट्ठकठवावार।
परिहरिय एक्ककालं भव्वजणाणदकरभासो ॥
तिलोयपण्णत्ती १।६१-६२

देवोका दृष्टिमोह नष्ट कर दिया।[1]

तत्त्वार्थवार्त्तिकमे मुखसे दिव्यध्वनिकी उत्पत्ति बतलायी गयी है। बताया है कि सकलज्ञानावरणके क्षयसे उत्पन्न अतीन्द्रिय केवलज्ञान से युक्त केवली जिह्वाइन्द्रियके आश्रयमात्रसे वक्तृत्वरूपमे परिणत होकर सकल-श्रुतविषयक अर्थोका उपदेश करता है।[2]

हरिवंशपुराणमे भी बताया गया है कि दिव्यध्वनि चारो दिशाओमे दिखनेवाले चारो मुखोसे निकलती है।[3]

महापुराणके आधारपर कहा जा सकता है कि भगवान्‌के मुखरूप कमलसे बादलोकी गर्जनाका अनुकरण करनेवाली अतिशययुक्त महादिव्यध्वनि निकल रही थी और वह भव्यजीवोके मनमे स्थित मोहरूपी अन्धकारको नष्ट करती हुई सूर्यके समान सुशोभित हो रही थी। इस दिव्यध्वनिमे सभी अक्षर स्पष्ट थे और ऐसी प्रतीति हो रही थी, मानो गुफाके अग्रभागसे प्रतिध्वनि ही निकल

१ (क) जिनभाषाऽधरस्पन्दमन्तरेण विजृम्भिता।
तिर्यग्देवमनुष्याणा दृष्टिमोहमनीनशत् ॥
—हरिवंशपुराण २।११३.

(ख) त्रैलोक्ये जिनशासनोरुपदवीशुश्रूषयावस्थिते,
सम्पृष्ट. प्रथमेन तत्र गणिना विश्वार्थविद्योतन।
भूयो भेदविवृत्तयाधरपरिस्पन्दोज्झितस्वात्मना।
मोहध्वान्तमपकरोदय जिनो भानु स्वभापाश्रिया ॥
वही, ३।२२४.

(ग) भाषाभेदस्फुरन्त्या स्फुरणविरहितस्वाधरोद्भापया च।
हरिवंशपुराण ५६।११७

२ सकलज्ञानावरणसक्षयाविर्भूतातीन्द्रियकेवलज्ञान रसनोपष्टम्भमात्रादेव वक्तृत्वेन परिणत सकलान् श्रुतविषयानर्थानुपदिशति।
तत्त्वार्थवार्त्तिक २।१९।१०, पृ० १३२ (—ज्ञानपीठ-संस्करण)

३ तत्प्रश्नानन्तरं धातुश्चतुर्मुखविनिर्गता।
चतुर्मुखफला सार्था चतुर्वर्णाश्रमाश्रया ॥
हरिवंश ५८।३

रही हो[1]।

दिव्यध्वनिके सम्बन्धमे कुछ आचार्योका अभिमत है कि यह सर्वहित करनेके कारण वर्णविन्याससे रहित है[2]। पर कुछ आचार्य इसे अक्षरात्मक ही मानते है, यत. अक्षरोंके समूहके विना लोकमे अर्थका परिज्ञान नही हो सकता है। भाषात्मक शब्द दो प्रकारके माने गये है (१) अक्षरात्मक और (२) अनक्षरात्मक। अक्षरात्मक शब्द संस्कृतादि भाषाके हेतु हैं और अनक्षरात्मक शब्द द्वीन्द्रियादिके शब्दरूप होते हैं।[3]

दिव्यध्वनिको अनक्षरात्मक इसलिए कहा जाता है कि वह जबतक सुननेवालेके कर्णप्रदेशको प्राप्त नही होती, तबतक अनक्षरात्मक है और जब कर्णप्रदेशको प्राप्त हो जाती है, तब अक्षररूप होकर श्रोताके सशयादिको दूर करती है। अत' अक्षरात्मक कही जाती है।[4]

वस्तुत दिव्यध्वनि शब्दतरगरूप होती है। तरगें सप्रेषित होती हैं और श्रोता अपनी-अपनी योग्यताके अनुसार उन्हे ग्रहण कर लेता है। अत अनक्षरात्मक होते हुए भी अक्षरात्मक दिव्यध्वनि मानी जाती है। आजका विज्ञान भी कहता है कि ध्वनिमात्र प्रकम्पनकी प्रक्रिया है। शब्दोत्पादक सभी वस्तुएँ कम्पन करती हैं। कम्पनके अभावमे ध्वनि पैदा नही होती। केवली वोलनेका प्रयत्न नही करते, अपितु तीर्थंकरनामकर्मोदयके कारण कण्ठ, तालु आदिको प्रकम्पित किये विना ही शब्द-वर्गणाओके कम्पनके साथ ध्वनि होती है। यह ध्वनि पौद्गलिक है। काययोगसे आकृष्ट कर्म-पुद्गलस्कन्ध स्वय शब्दका आकार लेते हैं, भाषारूपमे परिणत होते हैं।

१ (क) दिव्यमहाध्वनिरस्य मुखाब्जान्मेघरवानुकृतिर्निरगच्छत्।
भव्यमनोगतमोहतमोघ्नन्नद्युतदेष यथैव तमोऽरि ॥
—महापुराण २३।६९

(ख) ताल्वोष्ठमपरिस्पन्दि नच्छायान्तरमानने।
अस्पृष्टकरणा वर्णा मुखादस्य विनिर्ययुः ॥
स्फुरद्गिरिगुहोद्भूतप्रतिश्रुद्ध्वनिसन्निभ ।
प्रस्पष्टवर्णो निरगाद् ध्वनि स्वायम्भुवान्मुखात् ॥
वही, २४।८२-८३.

२. पञ्चास्तिकायन्तात्पर्यवृत्ति १।४।९
३. वही, ७९।१३५।६.
४. गोम्मटसार-जीवकाण्ड—जी० प्र० २२७।४८८।१५.

शब्दोत्पत्तिकी प्रक्रिया दो प्रकारकी है—प्रायोगिक और वस्रसिक। प्रयत्न-जन्य शब्दोको प्रायोगिक कहा जाता है और सहज निष्पन्न शब्द वैस्रसिक कहलाते है। शब्द ध्वन्यात्मक होते हैं, पर सभी शब्द भाषात्मक नही होते। वैस्रसिक शब्द अभाषात्मक माने जाते हैं। मेघकी गर्जना सहज उत्पन्न होती है, पर उसमे कोई भाषा नही। प्रायोगिक शब्द अभाषात्मक और भाषात्मक दोनो प्रकारके होते हैं। भाषात्मक ध्वनि अर्थविशेषको अभिव्यक्त करती है, अभाषात्मक ध्वनि अर्थशून्य होती है। तीर्थंकरकी दिव्यध्वनि प्रयोगकालमे अनक्षरात्मक होते हुए श्रोताके श्रवणके समय अक्षरात्मक रूपमे परिवर्तित हो जाती है। इस दिव्यध्वनिकी यह प्रमुख विशेषता है। दिव्यध्वनि जिन पुद्गलस्कन्धोको प्रेषित करती है; वे गतिशील होते हैं। उनमे शब्दरूप-परिणमन करनेकी क्षमता होती है। आवर्त्तन-परावर्त्तन और विवर्त्तनकी क्रियाएँ भी होती रहती हैं। यह ध्वनि चलनेमे किसीको माध्यम नही बनाती। साधारणतः ध्वनि-प्रसारके लिये वायुका माध्यम अपेक्षित होता है। पर तीर्थंकरकी ध्वनिमे ऐसी सहज स्वाभाविक शक्ति विद्यमान रहती है, जिससे वह सभी जातिके श्रोताओंके कर्णप्रदेशमे पहुँचकर तत्तद् भाषारूपमे परिणत हो जाती है।

हरिवंशपुराणके एक पद्यमे बताया गया है कि जिस प्रकार आकाशसे वर्षाका पानी एकरूप होता है, परन्तु पृथ्वीपर पडते ही वह नानारूपोमे दिखलायी पड़ने लगता है। उसी प्रकार तीर्थंकरकी दिव्यध्वनि एकरूपमे रहते हुए भी सभामे स्थित पशु-पक्षी, देव-गधर्व, मनुष्य आदिको अपनी-अपनी भाषामे अवगत होती है।[1]

दिव्यध्वनि : सर्वभाषा

दिव्यध्वनिको सर्वभाषात्मक माना गया है। आचार्य समन्तभद्रने अपने स्वयभू-स्तोत्रमे तीर्थंकर महावीरकी दिव्यध्वनिको सर्वभाषात्मक कहा है[2] और

१ अनानात्मापि तद्वृत्तं नाना पात्रगुणाश्रयम्।
समाया दृश्यते नाना दिव्यमम्बु यथावनौ॥

हरिवंशपुराण ५८।१५

× × × ×

एकरूपापि तद्भाषा श्रोतॄन् प्राप्य पृथग्विधान्।
भेजे नानात्मतां कुल्याजलस्रुतिरिवाङ्घ्रिपान्॥

आदिपुराण ११।१८७.

२. स्वयंभू-स्तोत्र, पद्य ९७.

बतलाया है कि तीर्थंकरका वचनामृत संसारके समस्त प्राणियोंको अपनी-अपनी भाषामें तृप्त करता है। अलंकार-चिन्तामणिमें भी इसे सर्वभाषात्मक, असीम सुखप्रद और समस्त नयोंसे युक्त बतलाया है।[1]

धवलाटीकामें आचार्य वीरसेनने लिखा है "योजनान्तरदूरसमीपस्थाष्टादशभाषा - सप्तशतकुभाषायुत-तिर्यग्देवमनुष्यभाषाकारन्यूनाधिक-भावातीतमधुरमनोहरगम्भीरविशदवागतिशयसम्पन्न भवनवासिवाणव्यन्तर-ज्योतिष्क-कल्पवासीन्द्र - विद्याधर-चक्रवर्ति-बल-नारायण-राजाधिराज-महाराजार्धमहामण्डलीकेन्द्राग्नि-वायु-भूति-सिंह-व्यालादि-देव - विद्याधर-मनुष्यर्षि - तिर्यगिन्द्रेभ्यः प्राप्तपूजातिशयो महावीरोऽर्थकर्त्ता[2]।"

अर्थात् एक योजनके भीतर दूर अथवा समीपमें बैठे हुए अठारह महाभाषा और सात-सौ लघु भाषाओंसे युक्त तिर्यंच, मनुष्य और देवोंकी भाषाके रूपमें परिणत होनेवाली तथा न्यूनता और अधिकतासे रहित मधुर, मनोहर, गम्भीर और विशद भाषाके अतिशयोंसे युक्त तीर्थंकरकी दिव्यध्वनि होती है।

महापुराणमें आचार्य जिनसेनने भी इसे अशेषभाषात्मक कहा है। अतिशयविशेषके कारण यह दिव्यध्वनि समस्त भाषारूपमें परिणमन करती है। स्याद्वादरूपी अमृतसे युक्त होनेके कारण समस्त प्राणियोंके हृदयान्धकारको नष्ट करती है[3]।

महापुराणमें यह भी बताया गया है कि दिव्यध्वनि एकरूपमें होती हुई भी तीर्थंकर-प्रकृतिके पुण्य-प्रभावसे समस्त मनुष्यों और पशु-पक्षियोंकी संकेतात्मक भाषामें परिणत हो जाती है[4]।

निष्कर्ष यह है कि दिव्यध्वनि, ध्वनिरूप होती है और अठारह महाभाषा तथा सात-सौ कुभाषारूप परिणमन करती है। यह अक्षर और अनक्षर स्वरूप

१ अलंकार-चिन्तामणि, भारतीय ज्ञानपीठ-संस्करण १।१०२

२ षट्खण्डागम, धवलाटीका-समन्वित, प्रथम जिल्द, पृ० ६१

३ त्वद्दिव्यवागियमशेषपदार्थगर्भा भाषान्तराणि सकलानि निदर्शयन्ती।
तत्त्वावबोधमचिरात् कुरुते बुधानां स्याद्वादनीतिविहतान्धमतान्धकारा॥
आदिपुराण २३।१५४।

४, एकतयोऽपि च सर्वनृभाषाः सोऽन्तरनेष्टबहूश्च कुभाषाः।
अप्रतिपत्तिमपास्य च तत्त्वं बोधयति स्म जिनस्य महिम्ना॥
——आदिपुराण २३।७०.

बीजपदोंसे युक्त है। अतः सभी प्राणियोंको अपनी-अपनी भाषामें प्रवचन सुनायी पड़ता है।

कहा जाता है कि तीर्थंकर महावीरकी दिव्यध्वनि अर्धमागधी-भाषामें होती थी[1]। वैयाकरणोंने इसे आर्ष प्राकृत कहा है। अर्धमागधीशब्दकी व्युत्पत्ति 'अर्धं मागध्याः' अर्थात् जिसका अर्धांश मागधी हो और शेष अर्द्धांश अन्य भाषाओंसे निर्मित हो, वह अर्धमागधी है। इस व्युत्पत्तिका समर्थन ई० सन् सातवीं शताब्दीके विद्वान् जिनदासगणि महत्तरके 'निशीथचूर्णि' नामक ग्रन्थमें उल्लिखित "पोराणद्धमागहभासा नियय हवइ सुत्तं" द्वारा भी होता है। अर्ध-मागधीशब्दकी व्याख्या "मगहद्धविसयभासानिबद्धं अद्धमागही" अर्थात् मगधदेशके अर्धप्रदेशकी भाषा अर्धमागधी कही जाती है। अर्धमागधीमें अठारह देशीभाषाओंका मिश्रण माना गया है। बताया है "अट्ठारस देसी भासा नियय वा अद्ध-मागहं"। जिनसेनने भी इसे सर्वभाषात्मक कहा है।[2]

अर्धमागधीका मूल उत्पत्तिस्थान मगध और शूरसेन (मथुरा) का मध्यवर्ती प्रदेश है। तीर्थंकरोंके उपदेशकी भाषा अर्धमागधी ही मानी गयी है। आदितीर्थंकर ऋषभदेव अयोध्याके निवासी थे। अतः अयोध्याके पार्श्ववर्ती प्रदेशकी भाषा अर्धमागधी रही होगी।

एक धारणा यह भी प्रचलित है कि भगवान् महावीर अर्धमागधीमें उपदेश देते थे। इनका जन्मस्थान वैशाली था, इनके विहार और प्रचारका मुख्य क्षेत्र पूर्वमें राढ भूमिसे लेकर पश्चिममें मगधकी सीमा तक, उत्तरमें वैशालीसे लेकर दक्षिणमें राजगृह और मगधके दक्षिणी किनारे तक था। यों तो महावीरका समवशरण देशके प्रत्येक भागमें गया था, पर उनकी तपस्या और वर्षावासोंका सम्बन्ध उक्त प्रदेशके साथ विशेषरूपसे है। अतः अर्धमागधी इसी क्षेत्रकी भाषा रही होगी। यह भी ज्ञातव्य है कि इन क्षेत्रोंमें बोली जानेवाली अन्य बोलियोंका प्रभाव भी अवश्य पड़ा होगा। आर्यभाषाके अतिरिक्त इन क्षेत्रोंमें मुण्डा एवं द्रविड़वर्गकी भाषाएँ भी प्रचलित थीं। अतः इन दोनों वर्गोंकी भाषाओंका प्रभाव भी अर्धमागधीपर अवश्य पड़ा है। अर्धमागधीमें संस्कृतके

१ सर्वार्धमागधीं सर्वभाषासु परिणामिनीम्।
सर्वेषां सर्वतो वाचं सार्वज्ञीं प्रणिदध्महे॥ वाग्भट-काव्यानुशासन, पृ० २

× × × ×

"भगवं च णं अद्धमागहीए भासाए धम्ममाइक्खइ" समवायाङ्गसूत्र, पद्य ६०

२ महापुराण ३३।१२०, ३३।१४८.

स्वार्थिक 'क' प्रत्ययके स्थानपर 'ह' प्रत्यय भी पाया पाया जाता है। यह 'ह' प्रत्यय मुण्डा-वर्गकी भाषासे गृहीत है। 'अरिहा' शब्द उदाहरणार्थ लिया जा सकता है। 'आर्य' शब्दसे प्राकृतमे 'अय्य' और 'अरिया' शब्द निष्पन्न होगे। तब यह 'अरिहा' शब्द किस प्रकार बनेगा। आर्यशब्दसे स्वार्थिक 'क' प्रत्यय जोडकर 'अरिय' या 'अरिया' बन सकते है। पर 'अरिहा' शब्दका बनना सम्भव नही है। यहाँ मुण्डा भाषाका स्वार्थिक 'ह' प्रत्यय विद्यमान है। यही कारण है कि उत्तरकालीन प्राकृतवैयाकरणोने इस समस्याके समाधानार्थ 'क'-के स्थानपर 'ह' प्रत्ययका विधान स्वीकार किया।

तीर्थंकर महावीर अर्धमागधीमे उपदेश देते थे और उनकी वह दिव्य-ध्वनि मनुष्य, पशु आदिकी भाषामे परिणत हो जाती थी। समवायाग-सूत्रमे लिखा है "भगव च ण अद्धमागहीए भासाए धम्म आइक्खइ। सा वि य ण अद्धमागहीभासभासिज्जमाणी तेसिं सव्वेसिं आरियमनारियाण दुप्पयचउप्पयमियपसुपक्खिसरिसिवाण अप्पप्पणो हियसिवसुहदायभासत्ताए परिणमइ[1]।"

अर्थात् भगवान् महावीरकी देशना अर्धमागधीमे होती थी। यह शान्ति, आनन्द और सुखदायिनी भाषा आर्य, अनार्य, द्विपद, चतुष्पद, मृग, पशु-पक्षी और सरिसृपोके लिये उनकी अपनी-अपनी बोलीमे परिणत हो जाती थी।

ओववाइयसुत्तसे भी उक्त तथ्यकी पुष्टि होती है "तए ण समणे भगव महावीरे कूणियस्स रण्णो भिंभिसारपुत्तस्स अद्धमागहए भासाए भासइ। अरिहा धम्म परिकहेइ। सा वि य ण अद्धमागहा भासा तेसिं सव्वेसिं आरियमणारियाण अप्पणो सभासाए परिणामेण परिणमइ।"

उपर्युक्त उद्धरणसे यह स्पष्ट है कि अर्धमागधी-भाषामे आर्य और आर्येत्तर भाषाओका सम्मिश्रण है।

सर्वमान्य सिद्धान्त है कि अर्धमागधीका रूप-गठन मागधी और शौरसेनीसे हुआ है। हार्नलेने समस्त प्राकृतभाषाओको दो वर्गोमे बाँटा है[2]। एक वर्गको उसने शौरसेनी प्राकृत बोली और दूसरे वर्गको मागधी प्राकृत बोली कहा है। इन बोलियोके क्षेत्रोके बीचो-बीचमे उसने एक प्रकारकी एक रेखा खीची, जो उत्तरमे खालसीसे लेकर वैराट, इलाहाबाद और फिर वहाँसे दक्षिणको रामगढ होती

१. समवायाङ्ग (अहमदाबाद, सन् १९३८ ई०), सूत्र ९८.
२. कम्परेटिव ग्रामर, भूमिका, पृ० १७ तथा उसके बादके पृष्ठ।

हुई जौगढ तक गयी है[1]। ग्रियर्सन[2] उक्त मतसे सहमत होते हुए लिखते हैं कि उक्त रेखाके पास आते-जाते शनैः-शनैः ये दोनो प्राकृतें आपसमे मिल गयी और इसका परिणाम यह हुआ कि इनके मेलसे एक तीसरी बोली उत्पन्न हुई, जिसका नाम अर्धमागधी पडा।

इस कथनसे यह निष्कर्ष निकलता है कि भाषाकी सहज प्रवृत्तिके अनुसार अडोस-पडोसकी बोलियोके शब्द धीरे-धीरे आपसमे एक दूसरेकी बोलीमे घुल-मिल जाते है और उन बोलियोके भीतर इतना घर कर लेते है कि बोलनेवाले यह नही समझ पाते कि वे किसी दूसरी बोलीके शब्दोका प्रयोग कर रहे है। अत शौरसेनी और मागधीके सयोगसे अर्धमागधीके रूपका गठित होना कोई आश्चर्यकी बात नही है।

वस्तुत प्राचीन भारतमे दो ही प्रकारकी प्राकृत भाषाएँ मान्य थी शौर-सेनी और मागधी। शौरसेनी पश्चिम प्रदेशकी भाषा थी और मागधी पूर्वकी।

वर्तमानमे श्वेताम्बर आगम-साहित्यके जो ग्रन्थ अर्धमागधीमे उपलब्ध होते है, वह अर्धमागधी तीर्थंकर महावीरकी दिव्यध्वनिकी भाषा नही हैं। इसका रूप तो चौथी-पाँचवी शताब्दीमे गठित हुआ है। तीर्थंकर महावीरकी दिव्यध्वनिका अध्ययन करनेपर उसके स्वरूपके सम्बन्धमे निम्नलिखित निष्कर्ष उपलब्ध होते है

(१) दिव्यध्वनि ध्वन्यात्मक होती है और ध्वनिके अक्षरात्मक और अनक्ष-रात्मक दोनो ही भेद है। तरग रूपमे परिणत होती हुई ध्वनि श्रोताओके कर्ण-प्रदेशमे भाषात्मक रूपमे उपस्थित होती है।

(२) दिव्यध्वनिका यह भाषात्मक रूप आर्य-अनार्य आदि वर्गकी विभिन्न भाषाओ द्वारा ग्रथित होता है। यही कारण है कि आचार्योने अठारह भाषाओ और सातसौ कुभाषाओका मिश्रण इसमे माना है। भाषाका यह रूप सभी स्तरके प्राणियोको बोध्य था। पशु-पक्षी सकेतात्मक भाषाको समझते है। उनके पास वाणी नही होती, पर वे अनुभव सभी बातोका करते हैं। तीर्थंकरोकी यह दिव्यध्वनि अनुभवके तलपर पशु-पक्षियोको भी उद्बोधित करती थी। पशु-पक्षियोका अनुभव मूक रूपमें होता है। वे भाषासे दूर रहकर भी अनुभूति-के स्तरपर तरगरूप ध्वनियोको सकेतात्मक रूपमे ग्रहण करते हैं। अतः अनु-भव और भावके रूपमे पशु-पक्षी दिव्यध्वनिसे लाभान्वित होते हैं। मानव-

१ चण्डके प्राकृत-लक्षणकी भूमिका, पृ० २१

२ सेवन ग्रामर्स ऑफ दी डाइलेक्ट्स एण्ड सब डाइलेक्ट्स ऑफ दी बिहारी लैंग्वेज, खण्ड १, पृ० ५, (कलकत्ता १८८३ ई०).

जगतके प्राणी अनेक बोलियोंके बोलनेवाले होते हैं। अत उन्हे लाभान्वित करनेके लिये ऐसी वाणी कार्यकारी हो सकती है, जो सभी भाषाओंका मिश्रण हो। जिस प्रकार आजकल एक ही भाषा विभिन्न अनुवादक-यन्त्रोंके द्वारा अनेक भाषाओमे सुनी जाती है, उसी प्रकार दिव्यध्वनि भी अपनी विशेषताओंके कारण समस्त मानव-जगतको अपनी-अपनी बोलीमे सुनायी पड़ती थी।

देव भी दिव्यध्वनिको समझते थे। इस जगतकी भाषाका क्या रूप है, यह तो अभी तक निर्धारित नही हो पाया है। दिव्यध्वनिका देव-जगतके भावोंके साथ सीधा सम्बन्ध है। भाव-सम्प्रेषणके लिये किसी माध्यमकी आवश्यकता नही थी। उदाहरणार्थ आजके वायरलेसको लिया जा सकता है। वायरलेसमे कोई माध्यम नही है। विचारोका सीधा सम्प्रेषण होता है। दिव्यध्वनि इसी कारण अनक्षरात्मक मानी गयी है कि देव-जगतके साथ तरंगावली या भाव-धाराका सीधा सम्प्रेषण हो। कहा जाता है कि मौनरूपमे स्थित रहकर अनु-भवका जितना ज्यादा और सीधा सम्प्रेषण होता है उतना वाणीके द्वारा नही।

दिव्यध्वनिकी तरगे देव-जगतके तलपर पहुँचती हैं। यह अनुभवकी बात है कि मनुष्य जिस तथ्यको शब्दोंके द्वारा प्रतिपादित नही कर पाता है, उस तथ्यको वह मौन साधना द्वारा व्यक्त कर देता है।

(३) दिव्यध्वनिको भाषात्मक मानकर ही उसे अर्धमागधी कहा गया है और यह अर्धमागधी आर्य एव आर्येत्तर भाषाओका सम्मिलित रूप थी।

समवशरण-विहार

तीर्थंकर महावीरने धर्मामृतकी वर्षा केवल राजगृहके आस-पास ही नही की, अपितु उनके समवशरणका विहार भारतके सुदूरवर्ती प्रदेशोमे भी हुआ। हरिवश-पुराणमे[1] बताया गया है कि जिस प्रकार भव्यवत्सल तीर्थंकर ऋषभ-

१ काशिकौशलकौशल्यकुसन्ध्यास्वष्टनामकान्।
साल्वत्रिगर्तपञ्चालभद्रकारपटच्चरान्॥
मौकमत्स्यकनीयाश्च सूरसेनवृकार्थपान्।
मध्यदेशानिमान् मान्यान् कलिंगकुरुजागलान्॥
कैकेयाऽत्रेयकाम्बोजवाह्लीकयवनश्रुतीन्।
सिन्धुगान्धारसौवीरसूरभीरुदेसरुकान्॥
वाडवानभरद्वाजक्वाथतोयान् समुद्रजान्।
उत्तरास्तार्णकार्णाश्च देशान् प्रच्छालनामकान्॥

देवने अनेक देशोमे विहारकर उन्हे धर्मसे युक्त किया था, उसी प्रकार अन्तिम तीर्थंकर महावीरने भी वैभवके साथ विहारकर मध्यके काशी, कौशल, कौशल्य, कुसन्ध्य, अस्वष्ट, शाल्व, त्रिगर्त, पांचाल, भद्रकार, पटच्चर, मोक, मत्स्य, कनीय, शूरसेन एव वृकार्थक नामके देशोमें, समुद्र-तटके कलिंग, कुरु-जागल, कैकेय, आत्रेय, काम्बोज, वाल्हिक, यवनश्रुति, सिन्धु, गान्धार, सूर-भीरु, दशेरुक, वाडवान, भारद्वाज और क्वाथतोय देशोमे एव उत्तर दिशामे तार्ण, प्रच्छाल आदि देशोमे विहारकर उन्हे धर्मकी ओर उन्मुख किया था। तीर्थंकर महावीरका यह समवशरण-विहार विभूतिसहित होता था, जिसके कारण मानवताका विशेष प्रचार हुआ। महावीरने वैशाली, वणिय-ग्राम, राजगृह, नालन्दा, मिथिला, भद्रिका, अलाभिका, श्रावस्ती और पावामे विशेष रूपसे धर्मामृतकी वर्षा की थी। विपुलाचल और वैभारगिरिपर महावीरकी दिव्यध्वनि कई बार हुई थी। अनेक राजा-राजकुमार और राजकुमारियोने आत्म-कल्याणका मार्ग ग्रहण किया।

भगवती-सूत्रमे तीर्थंकर महावीरके नालन्दा, राजगृह, पणियभूमि, सिद्धार्थग्राम, कूर्मग्राम आदि स्थानोमे पधारनेका उल्लेख है। उवासगदसा-सूत्रमे वणिजग्राम, चम्पा, वाराणसी, आलभी, काम्पिल्यपुर, पोलासपुर, राज-गृह और श्रावस्तीमे तीर्थंकर महावीरके समवशरण-विहारका कथन आया है। वाणिज-ग्रामकी धर्मसभामे आनन्द श्रावक और उसकी भार्या शिवानन्दा इनके उपासक बने थे। चम्पामे श्रावक कामदेव और श्राविका भद्रा; वारा-णसीमे श्रावक चूलनिप्रिय एव सूरदेव तथा श्राविका श्यामा और धन्या; आलभीमे श्रावक चुल्लशतक और श्राविका बहुला, कम्पिल्यपुरमे कुण्डको-लिय और पुष्पा दम्पति, पोलासपुरमे सद्दलमित्र और अग्निमित्रा, राजगृहमे श्रावक महाशतक और विजय एव श्रावस्तीमे नन्दिनीप्रिय और शलतिप्रिय उपासक बने थे।

महावीरके वचनामृतने ऊँच-नीच और जाति-पातिके भेद-भावको मिटा-कर मानवताकी प्रतिष्ठा की थी। हम यहाँ तीर्थंकर महावीरके समवशरण-विहारका सक्षिप्त निर्देश प्रस्तुत करेंगे।

वैशाली : चेटक एवं सेनापति सिहका धर्म-श्रवण

राजगृहसे भगवान् महावीरके समवशरणने वैशालीमे विहार किया। यहाँके गणनायक महाराज चेटक थे, जिनकी रानीका नाम सुभद्रा था। चेटक

धर्मेणायोजयद् वीरो विहरन् विभवान्वित ।
यथैव भगवान् पूर्वं वृषभो भव्यवत्सल ॥ हरिवंशपुराण ३।३-७

ऋषभदेव आदि तर्यंकरोके धर्मके आराधक थे। जिनेन्द्रप्रभुकी पूजा और अर्चामे विशेष भाग लेते थे। इनके धनदत्त, धनभद्र, उपेन्द्र, सुदत्त, सिंहभद्र, सुकुम्भोज, अकम्पन, सुपतंगक, प्रभंजन और प्रभास ये दश पुत्र थे[1]।

सिंहभद्र वृजिगण-सेनाका पराक्रमी सेनापति था। चेटक वीर, पराक्रमी और रणकुशल था। जब चेटकको वैशालीमे महावीरके समवशरणके पधारनेका समाचार प्राप्त हुआ तो वह परिवार-सहित तीर्थंकर महावीरकी वन्दना करनेके लिये गया। उसने महावीरके मुखसे सुना "मनुष्य सहस्रो दुर्दान्त शत्रुओंपर सरलतासे विजय प्राप्त कर सकता है, पर अपने ऊपर विजय प्राप्त करना कठिन है, बाह्य शत्रुओसे लडना जितना मुकर है अन्तरग काम, क्रोधादि शत्रुओसे लडना उतना ही कठिन है। शत्रुओके परास्त करनेसे सुख-शान्ति प्राप्त नही हो सकती। सुख-शान्ति तो अहिंसामय वातावरणमे ही उपलब्ध होती है।" महावीरने जिनदत्त और सूरदत्तका इतिवृत्त सुनाकर संसार-विरक्तिकी ओर उन्हे आकृष्ट किया। महावीरने आध्यात्मिक उत्क्रान्तिका विवेचन करते हुए गुणस्थान और मार्गणाओका स्वरूप बतलाया। चेटकके अधीन नौ लिच्छवो, नौ मल्ल इस प्रकार काशी-कोशलके अठारह गणराजा थे। इनके चेटक नाम होनेका कारण यही था कि ये शत्रुओको अपना चेटक सेवक बनाते थे। हरिषेण-कृत कथाकोशमे इनके पिताका नाम केक और माताका नाम यशोमती बताया गया है[2]।

महावोरके उपदेशसे चेटक विरक्त हुआ और वह उनका भक्त हो गया तथा उनके चरणोमे दाक्षा ग्रहण कर ली। कहा जाता है कि चेटकने दिगम्बर-दीक्षा धारणकर विपुलाचल पर्वतपर तपश्चरण किया। चेटकके मुनि होनेपर वैशालीका आधिपत्य उनके पुत्रको प्राप्त हुआ[3]।

किसी समय सेनापति सिंहभद्र भी तीर्थंकर महावीरकी वन्दनाके लिये समवशरणमे पहुँचा और विनयपूर्वक बोला "प्रभो! लिच्छवी-राजकुमार शाक्य मुनि गौतमबुद्धकी प्रशसा करते हैं, उनके मतको अच्छा बताते है, इसका क्या कारण है?"

१. उत्तरपुराण ७५।३.

२. अथ वज्रविषे देमे विशालीनगरीनृप।
अस्या ककोऽस्य भार्याऽऽसीत् यशोमितिरिनप्रभा।।
बृहत्कथा-कोश. पृ० ८३, श्लोक १६५

३ सो चेडवो सावओ। —आवश्यकचूर्णि, उत्तरार्द्ध, पत्र १६४

तीर्थंकर महावीरकी वाणीकी व्याख्या करते हुए इन्द्रभूति गणधर कहने लगे "गौतमबुद्धके वचन मनको लुभानेवाले इन्द्रायण फलके समान सुन्दर है। पर तुम तो कर्म-सिद्धान्तके श्रद्धालु हो। तुम्हे अक्रियावादी गौतमके मतसे क्या प्रयोजन ? मुग्ध लिच्छवी-कुमार इस भेदको नही जानते, जो कर्मों के फल-को भोगनेवाली आत्माके अस्तित्वको भी स्पष्टत· स्वीकार नही करते। वे पुन-र्जन्म और कर्मफलकी व्यवस्था स्वीकार करनेमे असमर्थ हैं। जिसे आत्माके अस्तित्वमे विश्वास है, वही हिंसाका त्यागी हो सकता है। सहृदय व्यक्ति कभी किसी-के प्राणोका वध नही कर सकता। अतएव द्रव्यहिंसा और भावहिंसाके स्वरूप-को ज्ञात कर ही व्यक्ति अहिंसा-धर्मका पालन कर सकता हैं। जो प्रमादवश क्रोध, मान, माया, लोभके वशीभूत है, वह प्राणिवध न करनेपर भी हिंसाका भागी है। इन्द्रभूति गणधरने सकल्पी, आरम्भी, उद्योगी और विरोधी हिंसाओ-का स्वरूप सेनापति सिहभद्रको वतलाया। साथ ही यह भी कहा कि देशरक्षाके हेतु प्राणियोका वध भी हिंसाके अन्तर्गत नही है। जो भावहिंसक है, वह द्रव्य-हिंसा न करनेपर भी हिंसाका पातकी वनता है। भावोकी पवित्रता और लोको-पकारिताकी वृत्ति अहिंसामे सम्मिलित है। जो सग्राम स्वार्थ, द्वेष, लोभ और अहकारवश किया जाता है, वह सग्राम अहिंसा-धर्मकी दृष्टिसे वर्जित है, पर देशोत्थानकी कामनाकी दृष्टिसे किया जानेवाला सग्राम अहिंसा-धर्ममे बाधक नही है।" सिह सेनापति तीर्थंकर महावीरके समवशरणमे इन्द्रभूति गणधरके वचनोसे अधिक प्रभावित हुए और उन्होंने श्रावकके व्रत स्वीकार किये।

वाणिज्यग्राम जितशत्रुका नमन

वैशालीके निकट ही वाणिज्यग्राम अवस्थित था। तीर्थंकर महावीरका समवशरण यहाँ भी आया। जितशत्रु राजा उनकी वन्दनाके लिये चला। वह महावीरकी दिव्यध्वनिको सुनकर वहुत प्रभावित हुआ तथा उनका भक्त वन गया[1]।

पोलासपुर विजयसेन और सद्दालपुत्रका मोहभंग

उत्तर भारतका यह भी एक प्रसिद्ध नगर है। इस नगरके वाहर सहस्राम्र नामक उद्यान था। यहाँके राजाका नाम विजयसेन था। राजा विनय और श्रीदेवीके पुत्र अतिमुक्तक राजकुमारने वाल्यावस्थामे ही मुनिदीक्षा ग्रहण

१ वाणियगामे नयरे जियसत्तू नामं राया होत्था उवासगदसाओ (पी० एल० वैद्य सम्पादित), पृ० ४

कर ली थी। विजयसेनने जब तीर्थंकर महावीरके मुखसे धर्मामृत सुना और आत्माके अहितकारक विषय-कषायोंका परिज्ञान हुआ, तो उसने विरक्त हो श्रावकके व्रत ग्रहण कर लिये।

इसी नगरमे सद्दालपुत्त नामक एक प्रसिद्ध कुम्भकार भी निवास करता था। जिसने तीन करोड़ स्वर्ण-मुद्राएँ मिट्टीके वर्तन बनाकर अर्जित की थी। इसकी पाँच सौ दुकानें अनेक नगरोमे चलती थी। यह भारतका प्रसिद्ध शिल्पी था। महवीरके उपदेशसे प्रभावित होते ही इसके मोहका भग हो गया और मुनि-दीक्षा ग्रहण कर ली। इस प्रकार पोलासपुरमें तीर्थंकर महावीरके समवशरण द्वारा अनेक प्राणियोका कल्याण हुआ। कुछ व्यक्ति पोलासपुरकी अवस्थिति मगध और विदेहके मध्य मानते है। इसमे सन्देह नही कि पोलासपुर उस समयका प्रसिद्ध नगर था। इस नगरमे तीर्थंकर महावीरका समवशरण कई वार आया था।

चम्पा : कुणिक अजातशत्रु, दधिवाहन और करकण्डुकी दीक्षा

चम्पाको अगदेशकी राजधानी बताया गया है। तीर्थंकर महावीरका समवशरण यहाँ भी आया था। यहाँके समय-समयपर होनेवाले कई राजा महावीरके समवशरणसे प्रभावित हुए हैं। तीर्थंकर महावीरका समवशरण जब चम्पामे पहुचा तो उस समय चम्पाका राजा कुणिक अजातशत्रु था। इसने भक्ति-भाव-पूर्वक महावीरकी वन्दना की। कहा जाता है कि आरम्भमे अजातशत्रु उदार और सहिष्णु था, पर बादमे देवदत्तके बहकानेसे उसकी श्रद्धा बौद्धधर्मकी ओर हो गयी। इसने जैनधर्मके प्रचार और प्रसारके लिए जो कार्य किए है, वे इतिहासमे अजर-अमर है।

वन्दना करनेके अनन्तर सम्राट् अजातशत्रुने पूछा "प्रभो! विश्वके लोग लाभके हेतु ही कोई उद्योग करते हैं। साधु भी किसी अच्छे लाभके लिए ही घर छोडते होगे? इस सम्बन्धमे ससारके विभिन्न विचारकोमे मत-भिन्नता है। कौन-सा मत सत्य है? यह बतलानेकी कृपा कीजिए।"

उत्तरमे धर्मदेशना हुई "राजन्! यह सत्य है कि मनुष्यका उद्योग लाभके लिए होता है। परतु लाभ दो प्रकारका है लौकिक और पारलौकिक। लौकिक लाभ धन,सम्पत्ति, पुत्र, स्त्री-विषयक हैं और यह नाशवान है। ये सब प्रकट पदार्थ है और पुद्गलाणोसे इनका निर्माण हुआ है। इनके द्वारा शाश्वत सुख किसीको प्राप्त नही हो सकता है। इनमे स्वय सुख है ही नही। अतएव साधु शाश्वत सुख प्राप्तिके लिए मोक्ष-पुरुषार्थकी साधना करते हैं।

उन्हे लौकिक सुखकी चाह नही है। उनका लाभ अनन्त कालके लिए स्थायी होता है। यह मोक्ष-सुख ही सर्वदा आनन्ददायक है। निर्ग्रन्थ श्रमण संवर और निर्जरा द्वारा अपने पापोको दूर करते हैं।"

अजातशत्रुने उपर्युक्त धर्मामृतको सुनकर अपना जन्म कृतार्थ समझा। वह जिज्ञासुके रूपमे पुन निवेदन करने लगा "आपका कहना यह सत्य है कि मोक्ष-सुख सर्वोत्तम सुख है, पर इस सुखका क्या स्वरूप है, कैसा है? यह तो ज्ञात नही। आत्मा और मोक्ष-सुखका भी अस्तित्व कैसे जाना जा सकता है?"

व्यवस्था करते हुए गौतम गणधरने कहा "राजन् मोक्षका सुख आकाश-कुसुमवत् नही है और न यह इन्द्रियोके द्वारा ग्राह्य ही है। यह तो जीवन मुक्तावस्था है। निरपद और शाश्वत सुखरूप है। आत्माकी स्वतन्त्रता ही सुखदायक है और मोक्षमे यही स्वतत्रता उपलब्ध होती है। आत्म-सुख अनुभूतिगम्य है। इसकी तुलना सासारिक सुखोसे नही की जा सकती है।" इतना ही नही, अनेकान्तवादकी व्याख्या भी प्रस्तुत की गयी। अजातशत्रु कुणिक इस देशनाको सुनकर प्रभावित हुआ और उसने इन्द्रभूति गौतमके निकट श्रावकके व्रत ग्रहण किये।[1]

चम्पा : अनेकवार समवशरणका सौभाग्य

चम्पा नगरीमे दूसरी वार जव भगवान् महावीरका समवशरण पहुँचा, तो उस समय जितशत्रु राज्य करता था। उनका यह समवशरण पूर्णभद्र उद्यानमे स्थित हुआ। समवशरणके पहुँचते ही सभी दिशाओमे तुमुल जयघोष आरम्भ हो गया। धनी-मानी राजा-महाराजाओके साथ सामान्य और उपेक्षित जनता भी उनका धर्म श्रवण करनेके लिए पहुँचने लगी। जिसके भी कानोमे तीर्थंकर महावीरकी वाणी पड जाती थी, वही धन्य हो जाता था। राजा जितशत्रु भी तीर्थंकर महावीरकी वन्दनाके लिए चल पडा और उनकी देशना सुनकर अत्यधिक प्रभावित हुआ। उसे अनुभव हुआ कि समाज, देश और राष्ट्र-व्यवस्थापकके रूपमे तीर्थंकर महावीरसे वढकर अन्य कोई व्यक्ति नही है। ये जन्म, जरा और मरण-रोगके चिकित्सक तो हैं ही, पर समाजमे उत्पन्न हुए अर्थजन्य वैषम्यको भी मिटानेवाले हैं। यज्ञवाद, जातिवाद, वहुदेववाद आदिकी समीक्षाकर समाजको नई क्रान्ति देनेवाले हैं। इन्होने भारतकी सांस्कृतिक विरासतको ऊर्ध्वमुखी वनानेके लिए पूरा प्रयास किया है।

१ तेणं कालेणं तेण समएणं भगव महावीरे जाव समोसरिए। परिसा निग्गमा। कूणिए राया जहा तहा जितसत्तू निग्गच्छइ—निग्गच्छइत्ता जाव पज्जुवासइ।
उवासगदसाओ (पी० एल० वैद्य सम्पादित); पृ० २५.

इस प्रकार विचार-विनियम करते हुए राजा जितशत्रुने तीर्थंकर महावीरको शरण स्वीकार की और श्रावकके व्रत ग्रहण किये।[1]

करकेण्डु जन्म और दीक्षा

तीसरी बार जब महावीरका समवशरण चम्पामे पहुँचा, तो उस समय इस नगरीके राजा दधिवाहन अपने पुत्र करकण्डुको राज्य देकर दीक्षित हो गये। बताया जाता है कि दधिवाहनकी पत्नीका नाम पद्मावती था। यह वैशालीके महाराज चेटककी पुत्री थी। दधिवाहनकी दूसरी पत्नीका नाम धारिणी था। पद्मावती जब गर्भवती हुई, तो उस समय गर्भके प्रभावसे उसे यह दोहद हुआ। "मैं पुरुषवेश धारणकर, हाथीपर चढ़ूँ और राजा मेरे मस्तकपर छत्र लगाये। मन्द-मन्द वर्षा हो। इस प्रकार मैं आराम आदिका परिभ्रमण करूँ।[2]"

रानी लज्जावश अपने इस दोहदकी चर्चा किसीसे न कह सकी। फलत. वह दिनानुदिन कृपकाय होने लगी। एक दिन राजाने बड़े आग्रहके साथ उससे पूछा, तो रानीने अपने मनकी बात कह दी।

दधिवाहनने कृत्रिम वर्षाकी योजना की और रानीको हाथीपर बैठाकर, उसके मस्तकपर छत्र लगा सेनाके साथ नगरसे बाहर निकला। वर्षा आरम्भ की। मन्द-मन्द फुहार पड रही थी और शीतल हवा चल रही थी। अत. हाथीको विन्ध्य-क्षेत्रकी अपनी जन्मभूमिका स्मरण हो आया और वह वनकी ओर भागा। सैनिकोने रोकनेकी चेष्टा की, पर निष्फल रहे।

हाथी वनकी ओर भागा जा रहा था कि राजाको एक वटवृक्ष दिखलायी पड़ा। राजाने रानीसे कहा "सामने वटवृक्ष आ रहा है, जब हाथी वहाँ पहुँचे, तो तुम उसकी शाखा पकड लेना।" हाथी वृक्षके नीचेसे निकला। राजाने तो वृक्षकी डाल पकड़ ली, पर रानी उसे पकड़नेमें चूक गयी।

१ (अ) तेणं कालेण तेण समएण चंपा नाम नगरी होत्था। जियसत्तू राया।

- उवासगदसाओ, (पी० एल० वैद्य सम्पादित), पृ० २२.

(आ) चम्पा नाम नयरी · जियसत्तू नाम राया।

णायाधम्मकहाओ, अध्ययन १२, पृ० १३५ (एन०वी० वैद्य) सम्पादित.

२. चपाए नयरीए दहिवाहणो राया। तस्य चेडग-धूया पउमावई देवी। अन्नया य तीसे दोहलो जाओ। किहाह राय नेवत्थेण नेवत्थिया महारायाधरीय-छत्ता। उज्जाणकाणणाणि हत्थि-खंधवरगया विहरेज्जा। सा ओलुग्गा जाया। राइणा पुच्छिया। कहिओ सब्भावो। ताह राया साय जयहत्थिम्मि आरूढाई। उत्तराध्ययन सुखबोध-टीका, करकण्डुकथा।

स्वस्थ मन होने पर राजा दधिवाहन तो चम्पा लौट आये, पर हाथी रानी-को एक निर्जन जंगलमें लेकर प्रविष्ट हुआ। सरोवरमें अवसर देखकर रानी किसी प्रकार हाथीपरसे उतर आयी और तैरकर किनारे आ गयी। रानी उस वनकी भयंकरता देखकर विलाप करने लगी। पर अपनी असहाय अवस्था जान-कर साहस बाँध एक ओर चल पड़ी। कुछ दूर जानेपर उसे एक तापस मिला। रानीने तापसको प्रणाम किया और उसके पूछनेपर अपना परिचय दिया। ताप-सने रानीको आश्वासन देते हुए कहा "मैं चेटकका सगोत्री हूँ। अतः अब चिन्ता करनेकी आवश्यकता नहीं।" उस तापसने वनके फल खिलाकर रानीकी क्षुधा शान्त की और उसे कुछ दूर जाकर गाँवका मार्ग दिखला दिया और कहने लगा "पुत्री! हल चली भूमिपर मैं नहीं चल सकता। अतः तुम अकेले सीधी चली जाओ। आगे दन्तपुर नामक नगर है। वहाँ दन्तवक्र नामक राजा है। वहाँसे किसीके साथ चम्पा चली जाना।"

पद्मावती रानी दन्तपुर पहुँची और साध्वियोंके उपाश्रयकी तलाश करती हुई भ्रमण करने लगी। रानी साध्वियोके उपदेशसे विरक्त हुई और उसने क्षुल्लिका-दीक्षा ग्रहण कर ली। रानीका गर्भ वृद्धिगत होने लगा। उसने प्रमुख साध्वीको अपना समाचार कह सुनाया। जब प्रसव हुआ, तो नवजात शिशुको रत्नकम्बलमें लपेटकर पिताकी नाम-मुद्राके साथ श्मशानमें छोड दिया। बच्चे-की रक्षाके लिये रानी श्मशानमें ही एक जगह छिपकर बैठ गयी। इतनेमें श्मशान-का मालिक चाण्डाल आया, उसने बच्चेको उठा लिया और अपनी पत्नीको पालन-पोषण करनेके लिये सौंप दिया। रानीने छिपकर चाण्डालका घर देख लिया। रानीने उपाश्रयमें आकर साध्वियोंसे कहा "मृत पुत्र हुआ था, उसे मैंने छोड़ दिया।" रानी पुत्रस्नेहके कारण चाण्डालके घर जाती और भिक्षामें मिली अच्छी वस्तुओंको पुत्रको देती।

जब बालक बडा हुआ, तो अपने समवयस्क बच्चोंमें राजा बनता। एक दिन वह श्मशानमें था कि दो साधु चले जा रहे थे। एक साधुने एक बाँसको दिखाकर कहा कि चार अंगुल बडा हो जानेपर जो इसे धारण करेगा, वह राजा बनेगा।

एक ब्राह्मण भी इस कथनको सुन रहा था। उसने वह बाँस जमीनसे नीचे चार अंगुलतक खोदकर काट लिया। जब चाडालके घरमें पले-पुसे लड़केने ब्राह्मणको बाँस काटते देखा तो वह उससे झगड़ पडा और अन्तमें उसे राज्य मिलनेपर एक गाँव देनेका वचन देकर वह बाँस ले लिया। ब्राह्मणने बाँस तो दे दिया, पर षड्यन्त्रकर उस चाडाल-परिवारको मारनेका प्रयास करने लगा।

अत. वह चाडाल-परिवार काचनपुर चला गया। जिस दिन यह परिवार वहाँ पहुँचकर विश्राम कर रहा था, उसी दिन वहाँके राजाका स्वर्गवास हो गया था। उसका कोई पुत्र नही था। अतः राजा निर्वाचन करनेके निमित्त अभिमन्त्रित अश्व छोड़ा गया। अश्वने करकण्डुकी प्रदक्षिणा की और उसके निकट ठहर गया। करकण्डु कांचनपुरका राजा बन गया और जब यह समाचार उस ब्राह्मणको प्राप्त हुआ, जिसने बाँस काटा था, तो वह करकण्डुकी सेवामें उपस्थित हुआ और उससे चम्पामे एक ग्राम देनेका अनुरोध किया। करकण्डुने दधिवाहनके नाम एक पत्र लिखा और चम्पामे से कोई एक गाँव उस ब्राह्मणको देनेका निवेदन किया तथा इसके बदलेमे काञ्चनपुरसे अन्य गाँव देनेका आश्वासन दिया।

दधिवाहन इस पत्रको पढकर अत्यन्त कुपित हुआ और कहने लगा "चाडाल-पुत्रका इतना साहस कि वह मुझे चम्पाके राज्यसे एक गाँव देनेके लिये लिखता है। अत. उसने स्पष्ट रूपमे ग्राम देनेसे इनकार कर दिया।"

करकण्डु दधिवाहनका समाचार प्राप्त कर क्रोधित हुआ और दधिवाहनकी उद्दण्डता समझकर चम्पापर आक्रमण करनेकी तैयारी की।

करकण्डुने चम्पा नगरीको चारो ओरसे घेर लिया और दोनो नरेशोकी सेनाके बीच तुमुल युद्ध होने लगा। पिता-पुत्र दोनो ही परस्परमे अपरिचित रहकर तीव्र बाण-वर्षा कर रहे थे। रानी पद्मावतीको जब इस आक्रमणका समाचार मिला, तो वह पिता-पुत्रका पारस्परिक परिचय करनेके हेतु वहाँ उपस्थित हुई। उसने महाराज दधिवाहनसे हाथी द्वारा अपहृत किये जानेसे लेकर चम्पा-आक्रमण तककी समस्त कथा कह सुनायी और पिता-पुत्रका परिचय कराया।

परिचय प्राप्त होते ही युद्ध बन्द कर देनेकी घोषणा की गयी। राजा दधिवाहनको विरक्ति हुई और वह तीर्थंकर महावीरके समवशरणमे उपस्थित हुआ। चम्पाका राज्यभार वह करकण्डुको सौंप चुका था। दधिवाहनने इन्द्रभूति गौतमसे निवेदन किया "प्रभो! मै इस ससारके दु खोसे ऊब गया हूँ। अतएव मुझे शाश्वत सुख-प्राप्तिका मार्ग बतलाइये। मैं दिगम्बर-दीक्षा ग्रहण करनेके लिये लालायित हूँ। अतएव शीघ्र ही मुझे दीक्षित कीजिये।"

इस प्रकार राजा दधिवाहनने तीर्थंकर महावीरके समवशरणमे दीक्षा धारण की। कालान्तरमें करकण्डु भी विरक्त होकर दीक्षित हो गया।

श्रावस्ती : प्रसेनजितकी भक्ति

कोशलदेशकी राजधानी श्रावस्ती थी[1]। आजकल इस नगरीके खंडहर

१ 'सावत्थी नयरी जियसत्तू राया उवासगदसाओ (पी०एल० वैद्य), पृ० ६९.

गोंडा-बहराइच जिलोकी सीमापर 'सहेत-महेत' नामसे बडे विस्तारमें बिखरे पडे हैं। श्रावस्ती नगरीकी स्थापना श्रावस्त नामक सूर्यवंशी राजाने की थी। इस नगरीमें संभवनाथ तीर्थंकरका जन्म हुआ था। महावीरका समवशरण चम्पासे श्रावस्तीको गया था। यहाँ उनकी देशना प्राणिमात्रको आत्मवत् समझना, अपने-परायेको समान दृष्टिसे देखना, आत्म-नियन्त्रण करना, अहिंसा-संयम-तपके महत्त्वको स्वीकार करना आदि तथ्योंपर प्रकाश डाल रही थी। श्रोतागण मन्त्रमुग्ध होकर तीर्थंकरके उपदेशामृतका पान कर रहे थे। जब कोशलाधिपति प्रसेनजितको तीर्थंकर महावीरके समवशरणका समाचार ज्ञात हुआ, तो वह भी भक्ति-विभोर हो गया। वह विचार करने लगा "निष्काम-भक्ति ही सुख-शांतिका साधन है। वीतरागकी उपासना करनेसे आत्मामें वीतरागता जागृत होती है। सच्ची सुख-शांति निराकुलतामें है। आकुलतासे क्रोध, मान, माया और लोभ आदि वृत्तियोंका प्रादुर्भाव होता है। ये वृत्तियाँ हमारे मनमें जितनी गहराईमें प्रविष्ट होती जाती हैं, हमारा मन उतना ही अधिक अशांत हो जाता है। अतएव तीर्थंकर महावीरकी शरण स्वीकारकर आत्म-कल्याणमें प्रवृत्त होना ही उपादेय है।"

प्रसेनजित भक्तिभावपूर्वक तीर्थंकरके समवशरणमें प्रविष्ट हुआ और भाव-विभोर होकर उनकी स्तुति करने लगा। उसने नियति या भाग्यवादके संबंध-में अपनी शंकाएँ उपस्थित कीं। भगवान्‌के दिव्योपदेशसे प्रसेनजितकी शंकाओं-का निराकरण हुआ और इसे अपने पुरुषार्थपर विश्वास हो गया। देशनामें एकान्तरूपसे भाग्य एवं पुरुषार्थवादकी समीक्षा की गयी थी और अनेकान्तद्वारा भाग्य एवं पुरुषार्थका समर्थन विद्यमान था। प्रसेनजित तीर्थंकर महावीरका भक्त बनकर धर्मपुरुषार्थी हो गया। शंख भी तीर्थंकर महावीरका भक्त बन गया।

कौशाम्बी : रानी मृगावतीकी दीक्षा एवं वृषभसेनका दिगम्बरत्व

तीर्थंकर महावीरका समवशरण विभिन्न जनपदोंसे होता हुआ, कौशाम्बी[1]-में आया। उस समय कौशाम्बी संकट-ग्रस्त थी। उज्जयिनीके राजा चण्ड-प्रद्योतने अपनी विशालवाहिनीके साथ कौशाम्बीपर आक्रमण कर दिया था। उसके पास अनुपम सैन्यबल था। राजा उदयन अभी बालक था, अत शासन-का संचालन महारानी मृगावती कर रही थी। सभी भयभीत थे। अत्यधिक क्रोधी होनेके कारण ही उज्जयिनीनरेश चण्डप्रद्योत कहलाते थे। युद्धका कारण यह था कि वह रानी मृगावतीको अपनी पत्नी बनाना चाहता था। वासना-

1 त्रिषष्ठिशलाकापुरुषचरित, १०।८।१७६

की पूर्तिके लिए उसने निर्दोष प्रजाका रक्त बहानेके हेतु कौशाम्बीपर आक्रमण किया था।

मृगावती अपने चातुर्यसे इस युद्धको टालना चाहती थी। उसने अपनी शील-रक्षा एव युद्धको रोकनेका एक उपाय सोचा। उसने प्रद्योतके पास अपना सन्देश भेजा "अभी पतिशोक ताजा है। मुझे राज्य-व्यवस्था भी करनी है तथा बालक उदयनकी अवस्था छोटी है। अतएव सोचने-समझनेके लिए अवसर दीजिए।"

प्रद्योत रानी मृगावतीके इस सन्देशको अवगतकर प्रसन्न हुआ और वह अपनी सेनाको व्यवस्थितकर उज्जयिनी लौट गया।

प्रद्योत मृगावतीके निमन्त्रणकी प्रतीक्षा करते-करते थक गया। उसने कौशाम्बी कई पत्र लिखे, पर कोई उत्तर नही मिला। आखिर क्रोधित हो उसने कौशाम्बीपर पुन आक्रमण कर दिया। रक्तपात होने ही वाला था कि महावीरके समवशरणकी धूम मच गयी। आबाल-वृद्ध सभी कौशाम्बी-निवासी समवशरणमे धर्मोपदेश सुननेके लिए जाने लगे। समवशरण कौशाम्बीके बाहर उद्यानमे अवस्थित था।

रानी मृगावतीने विचार किया कि करुणासागर तीर्थंकर महावीरके समवशरणकी शरण ही इस युद्धकी विभीषिकासे रक्षा कर सकती है। अत उसने नगरके द्वार खोल दिये और उनके दर्शनार्थ चल पडी।

समवशरणमे देशना हो रही थी। महाराज प्रद्योत भी तीर्थंकरकी वाणी सुन रहे थे। महावीरने वातावरणको शात बनानेका सामयिक उपदेश दिया। क्रोध, मान आदि आन्तरिक शत्रुओपर विजय पाना ही सच्चा विजेता बनना है और यह विजय ही आत्माकी विजय है। ससारमे अमृत और विष दोनो हैं, यह हमपर निर्भर है कि किसे ग्रहण करे। धर्म अमृत प्राप्तिमे सहायक है, किन्तु आज धर्म और सस्कृतिकी बातको पाखण्डने आवृत कर दिया है। क्रियाकाण्ड, हिंसा, शोषण या जाति-वर्गभेद कभी धर्मके अंग नही हो सकते। धर्मका कार्य शाति और सुख प्रदान करना है।

इस उपदेशका प्रभाव महारानी मृगावतीपर भी पडा और उसके हृदयमे त्यागवृत्ति जागृत हुई। उसने खड़े होकर राजा प्रद्योतसे सयमाराधनाकी अनुमति मांगी। महाराजने सहर्ष आर्यिका-दीक्षा ग्रहण करनेकी अनुमति प्रदान की। रानी हर्षविभोर हो कहने लगी "आप मुझे प्रसन्नतापूर्वक अनुमति दे रहे है, तो मेरे पीछे मेरे पुत्र उदयनका दायित्व भी आपको लेना

होगा। वह अभी अबोध है। अत उसको शिक्षा-दीक्षा आपको अपने पुत्रके समान करनी होगी तथा राज्यशासनके सचालनमे भी सहयोग देना होगा।"

तीर्थंकर महावीरकी वाणीके सुननेसे प्रद्योतकी आत्म-परिणति निर्मल हो चुकी थी, अत उन्होने रानी मृगावतीकी सभी बातोकी स्वीकृति प्रदान की। रानीने आर्यिका-दीक्षा ग्रहण की। मृगावती वैशालीनरेश चटेककी पुत्री थी और इसका विवाह कौशाम्बीनरेश शतानीकसे हुआ था। कहा जाता है कि शतानीक भी तीर्थंकर महावीरके उपदेशसे प्रभावित हुआ था, पर इसकी मृत्यु रोगविशेषके कारण हो गयी थी।

इस नगरका सेठ वृषभसेन विपुल सम्पत्तिका स्वामी था। चन्दनाको प्रश्रय इसीके यहाँ प्राप्त हुआ और यही पर महावीरका अभिग्रह पूर्ण हुआ तथा उन्होने आहार ग्रहण किया। महावीरकी देशनासे प्रभावित होकर वृषभसेन अनेक व्यापारियो सहित मुनि बन गया। वत्सदेशकी कौशाम्बी नगरीमे तीर्थंकर महावीरका समवशरण कई बार आया था।

हस्तिशीर्ष : अदीनशत्रुके[1] पुत्र सुबाहुका व्रतग्रहण

सभवत यह नगर कुरुदेशके पश्चिमोत्तर प्रदेशमे कही अवस्थित था[2]। इस नगरके बाहर पुष्पकरण्डक नामका उद्यान था, जहाँ कृतवनमालप्रिय यक्षका मन्दिर था। इस नगरमे अदीनशत्रु नामक राजा राज्य करता था। इसकी पट्ट-महिषोका नाम धारिणीदेवी था। धारिणीदेवीने एक रात्रिके अन्तिम प्रहरमे स्वप्नमे सिंह देखा। समय आनेपर उसे पुत्रलाभ हुआ और उसका नाम सुबाहु रखा।

सुबाहुकुमार जब युवा हुआ तो उसका विवाह पुष्पचूला नामक कन्यासे सम्पन्न हुआ। एक बार तीर्थंकर महावीरका समवशरण विहार करता हुआ हस्तिशीर्षनगरमे आया और नगरके उत्तर-पश्चिम स्थित उद्यानमे सभामण्डप निर्मित हुआ। देव, मनुष्य, पशु, पक्षी आदि सभी तीर्थंकरकी वाणी सुननेके लिए आने लगे। राजा अदीनशत्रु भी समवशरणमे गया और धर्मोपदेश सुनकर आनन्दित हुआ।

राजकुमार सुबाहु भी रथपर आरूढ होकर समवशरणमे सम्मिलित हुआ। परिषद्‌के सदस्य देशना सुनकर चले गये, पर सुबाहुकुमार वही स्थित रहा।

१. विपाकसूत्र (पी० एल० वैद्य सम्पादित), श्रु० २ अ० ५, पृ० ७५-७८
२. श्रमण भगवान् महावीर मुनि कल्याणविजय, पृ० ९८

वह 'स्व' की उपलब्धि और स्वनिष्ठ आनन्दका चिन्तन करने लगा "जीवन महत्त्वपूर्ण है, उसका कोई विशिष्ट प्रयोजन है। यह आधि-व्याधिके दु खो और क्लेशोसे नष्ट होनेके लिए नही है और न भोग-विलासके पकमे लिप्त होनेके लिए ही है। इसका महान् उद्देश्य है। अतएव मुझे इस उद्देश्यकी पूर्त्तिके लिए प्रयास करना चाहिए।"

उसने इन्द्रभूति गौतम गणधरसे निवेदन किया "प्रभो! मै घरमे रहकर ही अभी साधना करना चाहता हूँ। अतएव मुझे अणुव्रत और शिक्षाव्रतोके नियम देनेकी कृपा कीजिए। तीर्थंकर महावीरके चतुर्विध सघमे 'श्रावक' भी एक संघ है। श्रावक-धर्मके अभावमे मुनिधर्मका निर्वाह नही हो सकता है।"

इन्द्रभूति गौतमने सुबाहुकुमारको तीर्थंकर महावीरके समक्ष श्रावकके द्वादश व्रतोके नियम दिये।

कालान्तरमे एक बार मध्यरात्रिमे जाग जानेके कारण सुबाहुकुमारके मनमे यह सकल्प उठा कि वे राजा और राजकुमार धन्य है, जो दिगम्बर-दीक्षा ग्रहण कर आत्म-साधनापथपर विचरण करते है। अत अबकी बार तीर्थंकर महावीर-का समवशरण आनेपर मै मुनिदीक्षा ग्रहण करूँगा।

महावीरका समवशरण पुन हस्तिशीर्षमे आया और पुष्पकरण्डक उद्यानमे धर्मसभा हुई। राजा अदीनशत्रु एव सुबाहुकुमार आदि भी धर्मपरिषद्मे सम्मिलित हुए और सुबाहुकुमारने विरक्त होकर अपने पितासे मुनिदीक्षा धारण करनेकी अनुमति मागी। अनुमति प्राप्त होते ही उसने दिगम्बरी-दीक्षा ग्रहण कर द्वादशाग-वाणीका अध्ययन आरम्भ किया। अनशन, ऊनोदर, व्रत्तिसख्या, रसपरित्याग आदि बारहव्रतोका आचरण करते हुए वह कर्मनिर्जरामे प्रवृत्त हुआ।

सौगन्धिका नगरी[1] : अप्रतिहतकी जागी सुषुप्तचेतना

सौगन्धिका नगरीके समीप नीलाशोक उद्यान था, जिसमे सुकालयक्षका चैत्य था। महावीरके समयमे इस नगरीमे अप्रतिहत राजा राज्य करता था। इसकी महारानी सुकृष्णा थी। इनका पुत्र महाचन्द्र हुआ। महाचन्द्र अत्यन्त प्रतिभाशाली और निकटभव्य था। वह आरम्भसे ही ससारसे विरक्त था। वह सोचता "मनुष्य स्वय अपने भाग्यका विधाता है। समाजमे ऊँच-नीच, आर्थिक सघर्ष एव राजनीतिक दासताका अन्त आवश्यक है। मनुष्य अपनी आत्माका पूर्ण विकास कर सकता है और इस विकासका आधार अहिसा है, जो जितना अहिसक है, उसकी आत्मा उतनी ही विकसित है।"

उसने अपने मनमे निश्चय किया कि तीर्थंकर महावीरके समवशरणमे जाकर सयम ग्रहण करनेकी इच्छा व्यक्त करूँगा।

१ विपाकसूत्र—पी० एल० वैद्य-सम्पादित, श्रु० २ अ० ५, पृ० ८२

सौभाग्यसे तीर्थंकर महावीरका समवशरण सौगन्धिकामे आ पहुँचा। सभी आबालवृद्ध उनकी वन्दनाके लिए जाने लगे। मालीद्वारा राजा अप्रतिहतको भी समवशरणके आनेका समाचार मिला। राजा अप्रतिहत भी आसन्नभव्य था। अत वह भी अपने परिवारसहित समवशरणमे सम्मिलित हुआ। वह तीर्थंकरकी स्तुति करता हुआ निवेदन करने लगा "प्रभो! आपका जीवन मानव-समाजका आमूलचूल सुधार करनेके लिए है। आप घोरतपस्वी हैं, वीतराग हैं, हितोपदेशी हैं। आपका उपदेशामृत सामाजिक, शारीरिक, मानसिक और आध्यात्मिक उन्नतिका प्रबल साधन है। बडे भाग्योदयके होनेपर ही मनुष्य आपकी धर्मपरिषद्मे सम्मिलित होता है। आपके दर्शनमात्रसे मेरे मानसचक्षु उद्घाटित हो गये हैं और मेरी आत्माकी मूर्छित चेतना जागृत हो गयी है। अतएव आपके उपदेशके फलस्वरूप मैं कल्याणमार्ग ग्रहण करनेके लिए प्रस्तुत हूँ।"

राजा अप्रतिहतने इन्द्रभूति गणधरसे व्रत ग्रहण करनेकी इच्छा व्यक्त की। कुमार महाचन्द्र तो पहलेसे ही संसारके प्रति अनासक्त था। कामिनी और काञ्चन इन दोनोके आकर्षणका पहलेसे ही त्याग कर चुका था। वह अपनी भोगतृष्णाको सयमितकर श्रावकके व्रताचरणमे निरत था। वह ससारके वैभव और विषयसुखोको विष मान रहा था। अत महाचन्द्रने वैराग्य भावनाके उदित होते ही ससारकी मोह-ममतासे अपना नेह तोड दिया। उसने दिगम्बरी दीक्षा धारण करनेकी अपनी इच्छा व्यक्त की। फलत. माता-पितासे अनुमति लेकर वह दीक्षित हो गया और पूर्ण सयमकी आराधना करने लगा।

सौगन्धिकाकी धर्मसभाने अप्रतिहतके जागरणके साथ महाचन्द्रको भी आत्म-शोधनमे प्रवृत्त किया। माया, मिथ्यात्व और निदानका वमनकर समत्वभावको प्राप्त हो महाचन्द्र आत्महितका पथिक बना।

हेमाङ्गद देश : जीवन्धर . निर्वाणमार्गके पथिक

तीर्थंकर महावीरका समवशरण हेमागद देशमे पहुँचा। यह प्रदेश वर्तमान मे दक्षिणभारतमे कर्णाटकमे अवस्थित है। यहाँके सुरमलय उद्यानमे धर्म-सभा जुडी थी[1]। जीवन्धरने आनन्द-भेरी बजवाकर अत्यन्त समारोह पूर्वक

[1] जिनपूजा विधायानु वर्धमानविशुद्धिक।
सुरादिमलयोद्यानायान वीरजिनेशितुः॥
श्रुत्वा विभूतिमद् गत्वा सपूज्य परमेश्वरम्।
महादेवीतनूजाय दत्वा राज्य यथाविधि॥
वसुन्धरकुमाराय वीतमोहो महामना।
मातुलादिमहीपालैर्नन्दाद्यमधुरादिभि॥—उत्तरपुराण ७५।६७९-६८१.

वीरसंघका स्वागत किया। तीर्थंकरके समवशरणमें भव्यजीव धर्मामृतका पान करनेके लिए जाने लगे। जीवन्धर भी गन्धर्वदत्ता आदि देवियोके साथ समवशरणमे प्रविष्ट हुए। तीर्थंकर महावीरके उपदेशसे इतने अधिक प्रभावित हुए कि उन्होने महारानी गन्धर्वदत्ताके पुत्र वसुन्धरकुमारको राज्य देकर नन्दाढ्य, मधुर आदि भाइयो और मामाके साथ दिगम्बर-दीक्षा धारण की। समवशरणमे पहुँचते ही जीवन्धरकुमारका मोह शान्त हो गया, मन निर्मल वन गया और सम्यक्त्व सुदृढ हो गया। इस प्रसगमे जीवन्धरकुमारका सक्षिप्त जीवनवृत्त देना भी अप्रासंगिक नही होगा।

हेमागददेशकी राजपुरीमे सत्यन्धर राजा अपनी रानी विजया सहित शासन करता था। राजा विषयासक्त हो अन्त पुरमे अपना समय यापन करता था। अत. उसने काष्ठागार नामक मन्त्रीको राज्यका अधिकारी वना दिया। रानी विजया गर्भवती हुई और उसे एक रात्रिके पिछले भागमे तीन स्वप्न दिखलाई पड़े। सत्यन्धरसे उसने स्वप्नोका फल पूछा। प्रथम स्वप्नका अनिष्ट फल जानकर राजा कुछ सावधान हुआ और उसने एक मयूराकृति यन्त्र वनाया। काष्ठागारने एक दिन वगावतकर राजा सत्यन्धरको मारनेके लिए सेना भेजी। राजाने वशरक्षाके लिए गर्भवती महारानीको यन्त्रमे वैठाकर आकाशमे उड़ा दिया और स्वयं युद्ध करते करते मारा गया। चालकके अभावमें यन्त्र राजपुरीकी श्मशान भूमिमे गिरा। रानीने वही पुत्रको जन्म दिया। पुत्रके पालन-पोषणका साधन न देखकर उस पुत्रको राजनामाकित मुद्रिका पहनाकर श्मशानके एक हिस्सेमे रख दिया।

उस नगरीके सेठ गन्धोत्कटके यहाँ उसी दिन पुत्र जन्म हुआ, पर थोड़ी देरके अनन्तर उसकी मृत्यु हो गयी। फलतः वह मृतसस्कारके लिए उस पुत्रको वहाँ लाया और यही उसे वह नवजात शिशु मिला। उसने उसे उठा लिया। पासमे छिपी विजयाने पुत्रको आशीर्वाद दिया 'जीव', अत' इस शब्दके आधारपर 'जीवक' या 'जीवन्धर' नाम रखा गया। गन्धोत्कटने घरपर जाकर पत्नीसे कहा "तुमने जीवित पुत्रको मृत कैसे घोषित कर दिया।" सुनन्दा सेठानी पुत्रको प्राप्तकर वडी प्रसन्न हुई और अपना ही पुत्र समझ सावधानीपूर्वक पालन करने लगी। गन्धोत्कटने पुत्रप्राप्तिके उपलक्ष्यमे वहुत वड़ा उत्सव सम्पन्न किया। महारानी विजया पुत्र-व्यवस्थाके पश्चात् दण्डकवनमे तपस्वियोके आश्रममे पहुँची। कुछ दिनोके पश्चात् सुनन्दाको एक पुत्र और हुआ जिसका नाम 'नन्द' रखा गया। पाँच वर्षकी अवस्थामे जीवन्धरका विद्यारम्भ सस्कार सम्पन्न हुआ।

जीवन्धरने आर्यनन्दी गुरुसे समस्त विद्याओंका अध्ययन किया। आर्यनन्दीने एक अपना आत्मवृत्तान्त जीवन्धरको सुनाया और इसी प्रसगमे उससे यह भी कहा कि तुम सत्यन्धर महाराजके पुत्र हो और तुम्हारा राज्य काष्ठागारने हडप लिया है। जीवन्धरद्वारा क्रोध प्रदर्शित किये जानेपर उन्होने एक वर्ष तक युद्ध न करनेकी प्रतिज्ञा करायी। राजपुरी नगरीके नन्दगोपकी गायोको एक दिन वनमे व्याधोने रोक लिया। नन्दगोपने राजा काष्ठागारसे प्रार्थना की कि गाये वापस दिलानेकी व्यवस्था करें। काष्ठागारने व्याधोंसे लडनेके लिए सेना भेजी, पर सेना कुछ न कर सकी। फलत नन्दगोपने नगरमे घोषणा करायी कि जो व्यक्ति भीलोसे गायोको छुडा लायेगा, उसे स्वर्णकी सात पुत्तलियाँ दहेजमे देकर अपनी गोविन्दा नामक पुत्रीका विवाह कर दूँगा। जीवन्धर भीलोसे गायोको छुडा लाया और अपने मित्र पद्मास्यके साथ गोविन्दाका विवाह करा दिया।

राजपुरी नगरीका श्रीदत्त सेठ जहाजी बेडा लेकर व्यापारके लिए गया। वह सामान लेकर लौट रहा था कि उसका जहाज समुद्रमे डूबने लगा। उसे वहाँ एक स्तूप मिला, जहाँ एक व्यक्ति छिपा हुआ था, उसने कहा "यह गान्धार देश है। यहाँ की नीलालोक नगरीमे गरुडवेग विद्याधर राजा रहता है। इसकी पुत्री गन्धर्वदत्ता है। जन्मके समय ज्योतिषियोने भविष्यवाणी की है कि राजपुरी नगरीमें जो इसे वीणावादन कर पराजित करेगा, वही इसका पति होगा। आपका जहाज डूबा नही है, यह भ्रम है। आप गन्धर्वदत्ताको अपने जहाजमे बैठाकर राजपुरी ले जाइये।" श्रीदत्तने गन्धर्वदत्ताको अपने जहाजमे बैठा लिया और राजपुरीमे आ गया। यहाँ काष्ठागारकी स्वीकृतिसे स्वयवर योजना की गयी, जिसमे राजकुमारोने वीणावादन किया। पर सभी राजकुमार गन्धर्वदत्तासे हार गये। अन्तमे जीवन्धरने अपनी घोषवती वीणा बजायी और गन्धर्वदत्ताको पराजित कर उसके साथ विवाह किया।

वसन्त ऋतुमे जलक्रीडा सम्पन्न करनेके लिए नगरवासियोके साथ जीवन्धरकुमार भी गया। वहाँ वैदिकोंके द्वारा घायल किये गये एक कुत्तेको उन्होने 'णमोकार' मत्र सुनाया, जिससे उसने यक्ष-पर्याय प्राप्त की। कुत्तेके जीव उस यक्षने अपने ज्ञानबलसे उपकारीको जान लिया, अत. वह जीवन्धरके समक्ष अपनी कृतज्ञता प्रकट करने आया। वह समय पडनेपर सेवामे उपस्थित होनेका वचन देकर चला गया। इस उत्सवमे गुणमाला और सुरमजरी नामकी दो सखियाँ भी सम्मिलित हुई थी। उन्होंने 'स्नानीय चूर्ण' तैयार किये। उनके चूर्णोंकी परीक्षा जीवन्धरकुमारने की और गुणमालाके चूर्णको श्रेष्ठ सिद्ध किया। इससे

सुरमंजरी रूठकर चली आयी और जीवन्धरकुमारसे विवाह करनेका अनुबन्ध किया। गुणमाला स्नानकर उत्सवसे लौट रही थी कि काष्ठागारके मदोन्मत्त हाथीने उसे घेर लिया। प्रियवदा सखीको छोड अन्य सभी व्यक्ति भाग गये। जीवन्धरने हाथीको भगा दिया। गुणमालाका जीवन्धरके साथ विवाह भी हो गया।

हाथीको ताड़ित करनेके कारण राजा काष्ठागार जीवन्धरपर बहुत रुष्ट हुआ और उसे अपनी सभामे पकड़वाकर बुलाया। गन्धोत्कटने कुमारको सभामे उपस्थित कर दिया। राजा काष्ठागारने उसके वधका आदेश दिया। कुमारने यक्षका स्मरण किया। यक्ष कुमारको चन्दोदय पर्वतपर ले गया। वहाँ उसने उनको तीन मन्त्र दिये और एक वर्षमे राजा होनेकी भविष्यवाणी की। जीवन्धरकुमार वहाँसे चलकर एक वनमे आया, जहाँ दावाग्निसे बहुतसे हाथी जल रहे थे। कुमारने जिनेन्द्र-स्तवनद्वारा मेघवृष्टिकर दावाग्निको शान्त किया। तीर्थवन्दना करते समय कुमार चन्द्रप्रभा नगरीमे आया, यहाँ धनमित्रकी पुत्री पद्मासे विवाह किया।

चन्द्रप्रभा नगरीसे चलकर कुमार दक्षिण देशके सहस्रकूट चैत्यालयमे आया और वहाँ चैत्यालयके बन्द किवाड़ोको अपने स्तुतिबलसे खोला, जिससे क्षेमपुरीके सुभद्र सेठकी पुत्री क्षेमश्रीके साथ उसका विवाह सम्पन्न हुआ।

क्षेमपुरीमे कुछ दिनो तक रहनेके पश्चात् कुमार जीवन्धर मायानगरीके समीप पहुँचा और वहाँके दृढमित्र राजाके पुत्रोको धनुर्विद्या सिखलायी। राजाने प्रसन्न होकर अपनी कन्या कनकमालाका विवाह जीवन्धरके साथ कर दिया।

क्षेमपुरीमे जीवन्धरका साक्षात्कार नन्दभाईसे हुआ। वह सुनाता है कि गन्धर्वदत्ताने अपने विद्याबलसे मुझे यहाँ भेजा है तथा वह गन्धर्वदत्ताका पत्र भी देता है। इसी समय पद्मास्य आदि मित्र भी कुमारसे मिलते हैं और दण्डकारण्यमे माता विजयाके निवास करनेका समाचार देते है। कुमार माताजीके दर्शन करता है और उन्हे अपने मामाके यहाँ भेज देता है। वह राजपुरीमे लौट आता है और वहाँ सागरदत्तकी कन्या विमलाके साथ विवाह करता है।

कुमारका मित्र बुद्धिषेण कहता है "पुरुषोकी छायासे घृणा करनेवाली सुरमजरीके साथ विवाह करो, तभी तुम्हारी विशेषता मानी जा सकती है।" कुमार यक्षद्वारा प्रदत्त विद्याबलसे वृद्ध ब्राह्मणका वेश धारणकर सुरमजरीके

वहाँ गया और उसे प्रभावित कर कामदेवके मन्दिरमें ले आया। वहाँ कामदेवकी पूजा करते समय उसने कुमार जीवन्धरको प्राप्त करनेकी याचना की। कुमारने अपना वास्तविक रूप प्रकट किया और सुरमंजरीका कुमारके साथ विवाह सम्पन्न हो गया।

सुरमञ्जरीसे विवाह होनेके उपरान्त कुमार अपने धर्ममाता-पिता सुनन्दा और गन्धोत्कटके यहाँ आया और परिवारसे मिलकर प्रसन्न हुआ। जीवन्धरने राज्यप्राप्तिके लिए उनसे सलाह की। पश्चात् वह धरणीतिलका नगरीके राजा अपने मामा गोविन्दराजके पास गया। मामा गोविन्दराजने राजपुरीको ससैन्य प्रस्थान किया और वहाँ नगरके बाहर मण्डप तैयारकर चन्द्रक यन्त्र बनवाकर घोषणा की कि जो व्यक्ति इस यन्त्रका भेदन करेगा, उसके साथ लक्ष्मणाका विवाह किया जायगा। अनेक राजकुमारोंने प्रयास किया, पर सभी असफल रहे। अन्तमें जीवन्धरने यन्त्रका भेदन किया। गोविन्दराजने समस्त व्यक्तियोंको कुमार जीवन्धरका परिचय कराया। काष्ठांगार जीवन्धरकुमारसे बहुत अप्रसन्न हुआ और उसने युद्धके लिए कुमारको ललकारा। काष्ठांगार युद्धमें मारा गया। जीवन्धरकुमार राजा हो गया और उसने अपने धर्मभाई से०पुत्र नन्दकुमारको युवराज नियत किया। कुमारका विवाह भी लक्ष्मणाके साथ सम्पन्न हो गया।

जीवन्धरकुमार अपनी आठों स्त्रियों सहित जलक्रीडाके लिए गया। वहाँ एक वानर-वानरीके प्रेमकलहको देखकर उसके मनमें विरक्ति हुई। तीर्थंकर महावीरके समवशरणका सम्पर्क प्राप्तकर जीवन्धरकुमारने मुनिदीक्षा धारण की[1]।

महावीरकी धर्मसभाने उसके जीवनमें मंगल-प्रभातका उदय किया। सम्यक् श्रद्धा, सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चारित्रकी उपलब्धि हुई। तीर्थंकरके निर्वाणपट्टपर जीवन्धरके नये हस्ताक्षर शोभित हो रहे थे। जीवन-संग्राममें जूझनेकी जिस कलाका अनुभव जीवन्धरकुमारने किया था, उसीका क्रियात्मक प्रयोग तपस्याकालमें किया। अहिंसा, मैत्री, अपरिग्रह और सत्यकी उदात्त भावनाएँ उनके जीवनको उत्तरोत्तर निर्मल बनाती रहीं।

हेमपुरीका यह समवशरण जीवन्धरकुमारके आत्मोत्थानका प्रबल साधन बना।

---

१. गद्यचिन्तामणि और जीवन्धरचम्पू सम्पादक पं० पन्नालाल, भारतीय ज्ञानपीठ, काशी, उत्तरपुराणान्तर्गत जीवन्धरचरित्र, अध्याय ७५, पं० दौलतरामकृत 'जीवन्धरचरित, वीरवाणी, जयपुर, अंक ३-४, सन् १९६६

कलिंग : वीरश्रेणी और चित्रश्रेणीका व्रतग्रहण

तीर्थंकर महावीरका कलिंगदेशमे विहार हुआ। यह कलिंग राज्य पूर्वी समुद्रतटपर तामलुकसे गजम पर्यन्त व्याप्त था। इसकी उत्तरी सीमा गगा नदीको स्पर्श करती थी। दक्षिणमे मध्य गंजमके उपरान्त घने वन फैले हुए थे। पूर्वमे भारतीय महासागर था और पश्चिमी सीमा मध्यप्रान्तकी अमर-कटक पर्वतमाला तक फैली थी। दक्षिण कोसल या महाकोसल प्रदेश भी इसीके भीतर था। कलिंगको त्रिकलिंगदेश भी कहा गया है, क्योकि इसमे उत्कल, कगोद और कोसल ये तीन देश सम्मिलित थे। कलिंगमे तीर्थंकर महावीरके समवशरणका विहार हुआ और कुमारीपर्वतपर समवशरण स्थित हुआ[1]। कुमारीपर्वत आजकल उदयगिरि कहलाता है[2]। डॉ० ज्योति-प्रसादने भी लिखा है "तीर्थंकर पार्श्वका विहार कलिंगदेशमे हुआ था। भगवान् महावीर भी वहाँ पधारे थे और राजधानी कलिंग नगरके निकट कुमारीपर्वतपर उनका समवशरण लगा था। उपर्युक्त घटनाओकी स्मृतिमे उक्त स्थानपर स्तूपादि स्मारक बने थे और मुनियोके निवासके लिये गुफाएँ भी निर्मित हुई थी, जो खारवेलके समयके बहुत पहलेसे वहाँ विद्यमान थी।[3]"

तीर्थंकर महावीरके समय कलिंगदेशपर जितशत्रु नामका राजा राज्य करता था जो महावीरके पिता राजा सिद्धार्थका मित्र और बहनोई था। इन्हीकी कन्या यशोदाके साथ महावीरके विवाहकी बात चली थी, पर महा-वीरने विवाह करनेसे इनकार कर दिया और वे आजन्म ब्रह्मचारी बने रहे।

जब कलिंगनरेश जितशत्रुको तीर्थंकर महावीरके समवशरणके आगमन-का समाचार मिला, तब वह प्रसन्नतापूर्वक जय-जयध्वनि करता हुआ कुमारी-पर्वतपर धर्मसभामे सम्मिलित हुआ। महावीरके धर्मामृतका उसपर अपूर्व प्रभाव पड़ा और उसकी आत्मा ससारके प्रपचोसे दूर हटकर कल्याणके हेतु मचल उठी। वह चेतन-आनन्दकी खोजमे सलग्न होनेके लिये चिन्तन करने लगा। निजानुभूतिकी गहराईमे उतरते ही उसका मिथ्यात्व गल गया, मोह नष्ट हो गया और वह दिगम्बर-दीक्षा ग्रहण करनेके लिये कृतसकल्प हो गया। जितशत्रुने निर्ग्रन्थ मुनि-दीक्षा ग्रहणकर कर्मक्षपणका प्रयास किया[4]।

१ महावीर जयन्ती-स्मारिका, सन् १९७३, पृ० ३९
२ हाथी गुम्फा अभिलेख, पक्ति १४
३. भारतीय इतिहास एक दृष्टि, प्रथम सस्करण पृ० १८१
४ बाबू कामता प्रसाद जैन, भगवान् महावीर, प्रथम सस्करण, पृ० १३३

कलिंग देशके वसन्तपुर नगरके राजा वीरश्रेणीका राजकुमार चित्रश्रेणी इतना सुन्दर था कि उसके रूपको देखकर उस नगरकी स्त्रियाँ अपनेको भूल-कर उसपर मोहित हो जाती थी। जनताने राजासे निवेदन किया कि कुमार-का नगर-परिभ्रमण स्त्रियोंके कष्टका कारण होता है, अतएव कुमारके नगर-परिभ्रमणपर वन्धन लगा देना चाहिये। कुमारका अपराध न होनेपर भी राजाने प्रजाको सतुष्ट करनेके हेतु राजकुमारको देशसे निष्कासित कर दिया। वह रत्नपुर नगरीमे आया। वहाँके राजाकी पुत्री पद्मावती[1] अनिन्द्य सुन्दरी थी। अतएव अनेक राजकुमार उसके साथ परिणय करनेके हेतु वहाँ आते, पर वे सभी निराश होकर लौट जाते। पद्मावतीने यह सकल्प किया था कि जो रूप-लावण्यमे उससे अधिक सुन्दर होगा, उसीके साथ वह विवाह करेगी।

जब कुमार चित्रश्रेणी रत्नपुर नगरीमे पहुँचा तो उसके सौन्दर्यकी चर्चा समस्त नगरमे व्याप्त हो गयी और नगरवासी युवक-युवतियाँ उसे देखनेके लिये आने लगे। चित्रश्रेणीको देखकर पद्मावतीका पिता वहुत प्रसन्न हुआ और अपनी रूपसी कन्या पद्मावतीका विवाह चित्रश्रेणीके साथ कर दिया। चित्रश्रेणी कुछ दिनो तक सासारिक ऐश्वर्य और भोग-विलासोंका उपभोग करता रहा, पर जब उसे कुमारीपर्वतपर तीर्थंकर महावीरके समवशरणके पधारनेका समाचार प्राप्त हुआ, तो वह उनके समवशरणमे धर्मामृत सुननेके लिये पहुँचा। सयोगवश महाराज वीरश्रेणी भी वहाँ उपस्थित थे। वीरश्रेणी-ने चित्रश्रेणीके विरक्त भावोको अवगतकर स्वय भी दीक्षित होनेकी इच्छा व्यक्त की। वे धर्मोपदेश सुनकर नगरमे पधारे और चित्रश्रेणीका राज्याभिषेक-कर पुन तीर्थंकर महावीरके निकट जाकर मुनि-दीक्षा ग्रहण की[2]।

चित्रश्रेणी और पद्मावतीने प्रभुके पादमूलमे श्रावकव्रत ग्रहण किये। वहुत समयतक प्रजाका पालनकर चित्रश्रेणी और पद्मावतीने भी मुनि एवं आर्यिका दीक्षाएँ धारण की।

कलिंगकी ओरसे ही पुण्ड्र, वग और ताम्रलिप्त आदि देशोमे भी तीर्थंकर महावीरके समवशरणका विहार हुआ और वहाँकी जनताको अहिंसा-धर्मका उपासक वनाया। महावीरका समवशरण जिस स्थानपर जाता, उसी स्थानका

१ कथानकके लिये देखिये, चित्रश्रेणी पद्मावती चरित तथा Dr Kamata prasad द्वारा लिखित Religion of Tirhankaras' (world jain mission, Ali G Jurg पृ० १५१

२ जैन सिद्धान्त-भास्कर, भाग १२, किरण १, पृ० १६-२२

प्राणीवर्ग परस्परके वैर-विरोधको छोड़कर शान्ति और सुखका अनुभव करता।
महावीरके प्रभावसे चारो ओर सुभिक्ष और शान्ति व्याप्त हो जाती थी।

वंगदेश : सिंहरथ-जातिस्मरण एवं नग्गतिका प्रत्येकबुद्धत्व

तीर्थंकर महावीरका समवशरण वगदेशके पुण्ड्रवर्द्धन[1] नगरमे पधारा। इस नगरकी स्थिति वर्त्तमानमे मालदह जिलेमे मालदहसे छह मील उत्तरकी ओर वगालमे मानी जाती है। वर्त्तमानका पाण्डुआ अथवा पाडुआ, पुण्ड्रका अपभ्रंश रूप है। पुराने पुण्ड्रवर्द्धनमे दीनाजपुर, रगपुर, नदिया, वीरभूमि, जगलमहल और चुनार जिले शामिल थे।

इस नगरमे सिंहरथ नामका राजा राज्य करता था। एक बार उत्तरापथके किसी राजाने सिंहरथको अश्व भेट किये। उनमे एक अश्व वक्रशिक्षावाला था। राजा उस वक्रशिक्षावाले अश्वपर सवार हुआ और उनका कुमार दूसरे अश्वपर। इस प्रकार राजा सिंहरथ अपनी सेनाके साथ नगरके वाहर क्रीडा करनेके लिये चल पड़ा।

घोडेकी चाल तेज करनेके लिये राजाने उसे चावुक लगाया। घोडा तेजीसे भागा। राजा घोडेको रोकनेके लिये जितनी ही लगाम खीचता, घोडा उतना ही तेज होता जाता। इस प्रकार भागता-भागता घोडा राजाको वारह योजन दूर तक जगलमे ले गया। लगाम खीचनेसे राजा थक गया था। अत उसने घोड़ेकी लगाम ढीली कर दी। रास ढीली होते ही घोडा रुक गया। घोडेके रुक जानेसे राजाको यह ज्ञात हो गया कि यह अश्व वक्रशिक्षावाला है। राजाने घोडाको वृक्षसे वाध दिया और फल-पुष्प खाकर अपनी क्षुधा शान्त की। रात्रि व्यतीत करनेकी दृष्टिसे राजा पहाडके ऊपर चढा। उसे सातमंजिल ऊँचा भवन दिखलायी पड़ा। राजा उस भवनमे भीतर गया और उसे एक अत्यन्त रूपवती कन्या मिली। कन्याने राजाको उच्चासन दिया और उसका परिचय पूछा। राजाने भी कन्याके सम्वन्धमे जिज्ञासा व्यक्त करते हुए कहा "तुम कौन हो और यहाँ एकान्त स्थानमे क्यो रहती हो?"

कन्याने उत्तर दिया "पहले मेरे साथ आपका विवाह हो जाय, तत्पश्चात् मैं आपको सारी वात वताऊँगी।" विवाहके अनन्तर उस कन्याने कहना आरम्भ किया।

"क्षितिप्रतिष्ठ नामक नगरमे जितशत्रु नामका राजा रहता था। एक समय

१. श्रमण भगवान् महावीर, मुनि कल्याणविजय, पृ० ३७६ तथा तीर्थंकर महावीर, भाग २, पृ० ५६९.

उसने अपनी चित्रशाला बनवायी और नगरके चित्रकारोंको बुलाकर सबको बराबर भाग बाँटकर, उस चित्रसभाको चित्रित करनेका आदेश दिया। चित्रकारोंमे चित्रांगद नामका एक अत्यन्त वृद्ध चित्रकार था। इसे पुत्र नही था, केवल एक कनकमंजरी नामकी कन्या थी। वह प्रतिदिन अपने पिताके लिये चित्रसभामे भोजन लेकर आती। एक दिन वह भोजन लेकर चित्रसभाकी ओर आ रही थी कि राजमार्गपर घोडेके दौडनेसे वह भयभीत हो गयी और कुछ विलम्बसे भोजन लेकर पिताके पास पहुँची। जब पिता भोजन कर रहा था, तब कनकमंजरीने एक मयूर-पिच्छ बना दिया। उस दिन सभागार देखने राजा आया और मयूर-पिच्छ देखकर उसे उठाने लगा, पर वह तो चित्र था, आघातसे उँगलीका नख टूट गया।

राजाको ध्यानपूर्वक चित्र देखते हुए देखकर कनकमंजरी कहने लगी "अबतक तीन पाव वाला पलंग था। आज चतुर्थ मूर्खके मिल जानेसे पलंगके चारो पाव पूरे हो गये।"

राजा कहने लगा। "शेष तीन कौन है? और मैं चौथा किस प्रकार हूँ?" कन्या कहने लगी "मै चित्रांगद नामक चित्रकारकी पुत्री हूँ। मैं सर्वथा अपने पिताके लिये भोजन लेकर आती हूँ। आज जब मैं राजमार्गसे भोजन लेकर आ रही थी, तो एक घुडसवार बड़ी तेजीसे घोड़ेको दौड़ाता हुआ राजपथसे आ रहा था। भीड-भाडकी जगहमे तेजीसे घोड़ा चलाना बुद्धिमानी नही है। अत वह मूर्खरूपी पलंगका पहला पावा है।

दूसरा मूर्ख इस नगरका राजा है, जिसने चित्रकारोकी शक्ति और योग्यताको बिना जाने ही सभी चित्रकारोको समानभाग चित्र बनानेको दिया है। घरमे अन्य सहयोगी होनेसे दूसरे चित्रकार तो अपने कार्यको अल्प समयमे समाप्त करनेमे समर्थ हैं, पर मेरे पिता तो पुत्र रहित है, वृद्ध है। वे अकेले दूसरोके समान कैसे काम कर सकते हैं? अतएव मूर्खरूपी पलंगका दूसरा पावा यहांका राजा है।

तीसरे मूर्ख मेरे पिता हैं। उनका अर्जित धन समाप्त हो चुका है, जो बचा है उससे ही किसी प्रकार भोजन बनाकर नित्य मै लाती हूँ। जब मैं भोजन लेकर आती हूँ, तब वे शौचादि क्रियाओसे निवृत्त होनेके लिये जाते है। मेरे आनेके पूर्व वे इन क्रियाओको सम्पन्न नही करते। इतनेमे भोजन ठण्डा और नीरस हो जाता है। अतएव मूर्खरूपी मचेके वे तीसरे पावे हैं।

चतुर्थ मूर्ख आप है। जब यहाँ मोरके आनेकी कोई सम्भवना नही, तब फिर

मयूर-पंख यहाँ कहाँसे आयेगा ? यदि कोई मयूर-पख ले भी आये, तो उसे हवा-से उड जाना चाहिये। इनकी जानकारीके बिना आप उसे लेनेके लिये तैयार हो गये। अत चौथे पावे आप है।"

राजाने उस चतुर सुन्दरी कन्यासे विवाह कर लिया और जन्मान्तरमे वह कनकमजरी तोरणपुर नामक नगरमे दृढशक्ति राजाकी पुत्री हुई और उसका नाम कनकमाला रखा गया। वह चित्रकार मरकर व्यन्तरदेव हुआ। कनकमालाने उस देवसे पूछा "इस भवमे मेरा पति कौन होगा ?" देवने कहा "पूर्वमे जो जितशत्रु नामक राजा था, वही इस भवमे सिंहरथ नामक राजा होगा और घोडेपर सवार होकर यहाँ आयेगा।"

इस आख्यानको सुनकर सिंहरथको भी जाति-स्मरण हो गया। कुछ दिनो तक राजा वहाँ रहा और पश्चात् राजधानीमे लौट आया। वह प्रायः पर्वतपर कनकमालाके यहाँ जाया करता था और वहाँ रहनेके कारण ही उसका नाम नग्गति पडा।[1]

कार्तिक मासकी पूर्णिमाके दिन राजा ससैन्य भ्रमण करने निकला और वहाँ नगरके बाहर एक आम्रवृक्षको देखकर वह प्रतिबोधको प्राप्त हुआ और प्रत्येकबुद्ध हो गया।

नग्गति प्रत्येकबुद्ध होनेपर भी तीर्थंकर महावीरके समवशरणमे गये और वहाँ ही उन्होने प्रत्येकबुद्धत्वकी योग्यता अर्जित की। सिंहरथको तीर्थंकर महावीरके सम्पर्कने ही जितशत्रुकी पर्यायमे प्रत्येकबुद्धत्वप्राप्तिकी योग्यता समाहित की।

सुरम्यकदेश[2] (दक्षिणभारत) विद्रदाजकी दीक्षा

इस देशकी राजधानी पोदनपुर थी। तीर्थंकर महावीरका समवशरण यहाँ आया। समवशरणके आनेका समाचार प्राप्त करते ही सभी नर-नारी उनकी वन्दनाके लिये समाहित होने लगे। राजा विद्रदाज भी अपने मन्त्रियो सहित तीर्थंकरकी वन्दनाके लिये गया। महावीरका कल्याणकारी उपदेश सुनकर उसकी आत्म-ज्योति प्रज्वलित हो गयी। वह मानव-जीवनके महत्त्वको समझने लगा "जो मानव सच्चे मनसे धर्माचरण करता है, वह अपने भीतरकी

१ तओ कालेण जम्हा नगे अईइ तम्हा 'नग्गइ एस' त्ति पइट्ठिय नाम लोएण राइणो।
उत्तराध्ययन (नेमिचन्द्र-टीका), पत्र १४४२

२. महावीर जयन्ती-स्मारिका सन् १९७३, पृ० ४०

विकृतियोंपर विजय प्राप्त कर लेता है, अपने सोये हुए दिव्यभावको जागृत कर लेता है तथा स्वर्गके देवताओंके लिये भी वन्दनीय हो जाता है। अहिंसा, संयम और तपकी ज्योति आत्माको आलोकित कर देती है।" अतएव उसने अपने पुरुषार्थको जागृतकर दिगम्बर-दीक्षा धारण करनेका संकल्प लिया। वह अपने प्रधान अमात्य सहित मुनि वन गया।

मत्स्यदेश : नन्दिवर्द्धनका अर्चन-वन्दन

मत्स्यदेशकी स्थिति वर्त्तमानमें अलवर, धौलपुर, भरतपुर और जयपुरके प्रदेशोंमें सीमित हैं। साढे पच्चीस आर्यदेशोंमें इसकी गणना की गयी है। मत्स्य-देशकी राजधानी विराटनगरी थी। जो वर्तमान जयपुरसे उत्तर-पूर्वमें वयालीस मील पर है। मत्स्य-जनपद कुरुराजके दक्षिण और यमुनाके पश्चिममें था। तीर्थंकर महावीरका समवशरण यहाँ आया और यहाँके राजाओंने अत्यन्त हर्षो-ल्लासके साथ उनके धर्मोपदेशको सुना। तीर्थंकर महावीरके यहाँ पहुँचनेका प्रभाव आज भी विद्यमान है।

प्रसिद्ध इतिहासकार ओझाजीके शब्दोंमें मेवाड राज्यमें सूर्यास्तके अनन्तर रात्रि-भोजनकी आज्ञा न थी[1]। टॉड साहवका कथन है कि कोई भी जैन यति उदयपुरमें पधारे, तो रानी महोदया आदरपूर्वक राजमहलमें लाकर सम्मान-पूर्वक ठहराती और आहारका प्रबन्ध करती थी[2]।

आवूके राजा नन्दिवर्द्धनने जब महावीरके समवशरणकी चर्चा सुनी, तो उसका मनमयूर भी हर्षोन्मत्त हो नृत्य करने लगा। वह सोचने लगा कि तीर्थं-करोंका सम्पर्क भव्यव्यक्तियोंको ही प्राप्त होता है। जो जन्म-मरणके दुःखोंसे छुटकारा प्राप्त करना चाहता है, उसके लिये तीर्थंकर-वाणी ही कल्याणप्रद है। संसारके शत्रुओंसे युद्ध करना सरल है, पर इन्द्रियोंके साथ युद्ध करना कठिन है। जो इन्द्रियजयी हैं, वही संसारमें महान् हैं। ज्ञान मानवताका सार है। पर ज्ञानका भी सार सम्यक्त्व या सच्ची श्रद्धा है। ज्ञान, दर्शन और चारित्रके परिपूर्ण होनेसे ही आत्मा शाश्वत सुखको प्राप्त कर सकती है। जिसने मनुष्य शरीर प्राप्तकर, सद्धर्मका श्रवण नहीं किया, और सद्धर्म श्रवणकर भी जिसने संयम और तप धारण नहीं किया, उसका धर्म-श्रवण कोई महत्त्व नहीं रखता। अनादिकालसे यह प्राणी मनोरम काम-भोगोंमें आसक्त है। स्वर्गका वैभव सहजमें प्राप्त हो सकता है, पुत्र-मित्रादिका संयोग भी सुलभ है, पर एक धर्मकी

१ ओझाजीकृत अनूदित, टॉड राजस्थान, जागीर-प्रथा, पृ० ११.

२. रा० रा० वासुदेव गोविन्द आप्टे, जैनधर्मका महत्त्व, सूरत, भाग १, पृ० ३७.

प्राप्ति होना दुर्लभ है। मुझे इस समय वहुत ही अच्छा सयोग प्राप्त हुआ है। इस सयोगका लाभ उठाना चाहिये।

इस प्रकार विचारकर राजा नन्दिवर्द्धन तीर्थंकर महावीरके समवशरणमे गया और वहाँ उसने श्रावकके द्वादश व्रत ग्रहण किये। महावीरकी स्मृतिमे उसने एक विशाल जिनमन्दिर वनवाया[1]। जिसका पता खुदाईसे प्राप्त एक अभिलेख द्वारा मिलता है[2]।

अवन्ती : चण्डप्रद्योतका नमन

तीर्थंकर महावीरका समवसरण विभिन्न स्थलोपर विहार करता हुआ अवन्तिदेशकी उज्जयिनी नगरीमे पहुँचा। यहाँ चण्डप्रद्योत शासन करता था। यह प्रतापशाली और क्रोधी स्वभावका था। वताया गया है कि इसके पास चार रत्न थे : १ लोहजंघ नामक लेखवाहक, २ अग्निभीरु नामक रथ, ३ अनलगिरि नामक हस्ति और ४ शिवा नामक देवी।[3] शिवा देवी वैशालीके राजा चेटककी वेटी थी। चण्डप्रद्योतकी आठ रानियाँ थी। उनमे एकका नाम अगारवती था। यह अगारवती सुसुमारपुरके राजा धुन्धुमारकी पुत्री थी। इस अगारवतीको प्राप्त करनेके लिए प्रद्योतने सुसुमारपुरपर घेरा डाला था। अगारवती श्राविकाके व्रतोका पूर्णतया पालन करती थी।

चण्डप्रद्योतका सम्वन्ध राजगृह, वत्स, वीतभय और पाचाल आदि देशोके साथ भी था। चण्डप्रद्योत अपने समयका प्रसिद्ध राजनीतिज्ञ, पुरुषार्थी, शूरवीर और वासना-प्रिय था।

जव तीर्थंकर महावीरका समवशरण उज्जयिनीमे पहुँचा, तो उज्जयिनी-के सभी नर-नारी उपदेशामृत पान करनेके लिये समवशरणमे सम्मिलित हुए। राजा प्रद्योत भी धर्म-श्रवणकी इच्छासे समवशरणमे सम्मिलित हुआ। वह सोचने लगा कि तीर्थंकरका दर्शन सौभाग्योदयसे ही होता है। मैंने अपने जीवन-मे अनेक युद्धकर विजयलाभ किये हैं। अव तकके जीवनपर दृष्टिपात करने-से ज्ञात होता है कि मैंने जो कुछ भी किया है वह शरीर और ससारके लिये किया है, आत्माके लिये कुछ नही किया है। अब समय आ गया है अत आत्म-शोधनके लिये प्रवृत्त होना आवश्यक है।

१ जैनमित्र (सूरत) १५।३।१९३१.

२ मूर्तिका प्राचीन इतिहास (फलोधि), पृ० १३६ तथा महावीर जयन्ती-स्मारिका, सन् १९७३, पृ० ४०

३. आवश्यकचूर्णि, भाग २, पत्र १६० तथा त्रिषष्ठिशलाकापुरुषचरित, १०।११।१७३

महावीर क्रियाकाण्ड और यज्ञका विरोध, धार्मिक जडता एव आर्थिक अपव्ययको रोकनेके लिए ही कर रहे हैं। मनुष्य-मनुष्यके बीच भेद-भावकी खाई जातिवादके कारण उत्पन्न हो रही है। ईश्वरके नामपर जनता पुरुषार्थ-को भुली हुई है। यही कारण है कि तीर्थंकर महावीरने आत्माको ही ईश्वर बताया है और आत्माके लिए जोर दिया है। सतुलित और सघर्ष-विहीन जीवन-यापनके लिये आचार, विचार-सहिष्णुता एव वाणीकी उदारता आवश्यक है। मानव-जीवनके मूल्योमे शाति, सयम, क्षमा और सुखको प्रधान स्थान दिया गया है। अतएव मैं तीर्थंकर महावीरके चरणोमे नमनकर धार्मिक आचार-व्यवहारको ग्रहण करूँगा। तीर्थंकर महावीरकी सुदृढ भक्ति ही आत्मोत्थानका कारण है।[1] इस प्रकार विचारकर चण्डप्रद्योतने इन्द्रभूति गौतम गणधरसे श्रावकके व्रत ग्रहण किये।

पांचाल जनपद जन-अभिनन्दन

पाचाल जनपदकी राजधानी काम्पिल्य नगरी थी। यह नगरी गगाके तट पर बसी हुई थी। काम्पिल्यके नामकरणके सम्बन्धमे कई मत हैं। पाचालके राजा भृम्यश्वके एक पुत्रका नाम कपिल या काम्पिल्य था। इसीके नामपर नगरीका नाम कम्पिल्य पडा होगा। पौराणिक इतिवृत्तोसे ज्ञात होता है कि पचाल राज्य दो भागोमे विभक्त था। इन दोनो भागोकी सीमा गगा नदी थी। गगाके उत्तरका भाग उत्तरी पचाल कहलाता था, जिसकी राजधानी अहिच्छत्रा थी। दक्षिणवाला भाग दक्षिण पचालके नामसे प्रसिद्ध था, जिसकी राजधानी काम्पिल्य थी। पचालके निर्बल हो जानेपर कौरववशी शासकोने यहाँ आधिपत्य जमाया।

काम्पिल्य जैन तीर्थंकरोकी विहारभूमि रहा। भारतवर्षकी प्रसिद्ध दस राजधानियोमे काम्पिल्यकी गणना है।[2]

१. Malva was blessed by the auspicious visit of Tirthankar Mahavira, in whose time king pradyota was rules of ujjain a gr eat devotee of the lord in deed. The religion of Tirthankaras, P 167.

२ जम्बूदीवे भरहवासे दस रायहाणिओ पं० त० चपा १, महुरा २, वाराणसी ३, य सावत्थी ४, तहत सातेतं ५, हत्थिणाउर ६, कपिल्ल ७, मिहिला ८, कोसबि ९, रायगिहं ठाणागसूत्र, ठाणा १०, उद्देश ३, सूत्र ७१९, पत्र ४७७-२.

अत्थि इहेव जबुद्दीवे दक्खिण भारह खण्डे पुव्वदिसाए पचाला नाम जणवओ। तत्थ गगानाम महानई तरगमगिपक्खालिज्जमाण पायारभित्तिअ कपिल्लपुर नाम नयर विविधतीर्थकल्प, पृ० ५०.

काम्पिल्य नगरमे संजय या जय नामक एक राजा राज्य करता था।[1] एक दिन वह सेना और वाहन आदिसे सज्जित होकर आखेट आदिके लिए निकला और घोडेपर आरूढ राजा केसर नामक उद्यानमे मृगोका शिकार करने लगा। इस उद्यानमे एक परमतपस्वी मुनि द्राक्षा और नागवल्ली आदि लताओंके मण्डपमे ध्यानस्थ थे। राजा मुनिके समीप पहुँचा और घोडेसे उतरकर मुनिराजके चरणोमे 'नमोऽस्तु' कर अपने अपराधकी क्षमा-याचना करने लगा। मुनिराज कहने लगे--"हे पार्थिव! तुझे अभय है। तुम भय और आतक उत्पन्न करना छोड अभय देनेवाले बनो और हिंसाके मार्गको छोडो। प्राणियोको दुर्गतिमे ले जानेवाली हिंसा है। जो व्यक्ति यह लोक और परलोकके सुखकी कामना करता है उसे हिंसाका त्याग कर देना चाहिए। स्त्री, पुत्र, मित्र, धन, धान्य आदि पदार्थ क्षणविध्वसी है। जो आत्मोत्थानका इच्छुक है वह ससारके विषय-सुखोमे आसक्त नही रहता। अतएव हे राजन्! आपको आत्म-कल्याणके लिये प्रवृत्त होना चाहिए।"

संजय तीर्थंकर महावीरके समवशरणमे प्रविष्ट हुआ और वहाँ उसने निर्ग्रन्थ-दीक्षा ग्रहण की। इसी नगरका कुण्डकोली भी अपनी पत्नी सहित महावीरके समवशरणमे धर्मसाधनमे प्रवृत्त हुआ। काम्पिल्य नगरीके जन-समुदायने बड़े भक्ति-भावके साथ तीर्थंकर महावीरका अभिनन्दन किया और उनके प्रति अपार भक्ति प्रदर्शित की।

अहिच्छत्रामे भी तीर्थंकर महावीरका समवशरण पहुँचा था और वहाँके निवासियोने धर्मामृतका पानकर अपनेको कृतार्थ माना था।

सम्भवत पजाबमे ही गान्धारदेशकी राजधानी तक्षशिला भी भगवान् महावीरके समवशरणसे पवित्र हुई थी। यहाँके निकटमे कोटेरा ग्रामके पास एक पहाडीपर तीर्थंकर महावीरके शुभागमनको सूचित करनेवाला एक ध्वस्त मन्दिर अवशिष्ट है। जैन साहित्यमे पचालकी गणना सोलह जनपदोमे की गयी है। इसमे सन्देह नही कि तीर्थंकर महावीरके समवशरणसे पचालके सभी नगर पवित्र हुए हैं।

१ तीर्थंकर महावीर, भाग २, पृ० ६६०, श्रवण भगवान महावीर, प्रथम सस्करण, पृ० ३६१ तथा भगवान् महावीर, कामता प्रसाद, प्रथम सस्करण, पृ० १३५ विशेप जाननेके लिए देखे उत्तराध्ययन, सुखबोधटीका, अध्ययन १८, २२८।१, २५९।२

दशार्ण : दशार्णभद्रका[1] निर्ग्रन्थत्व

भोपाल राज्य सहित पूर्व मालव प्रदेश पहले दशार्ण कहलाता था। मौर्य-कालमे इसकी राजधानी चैतगिरिमे और उसके पश्चात् विदिशा या भेलसामे थी। जैन सूत्रोमे इस देशकी गणना आर्यदेशोमे की गई है और इसकी राजधानीका नाम मृत्तिकावती लिखा गया है। मृत्तिकावती वत्सभूमिके दक्षिणमे प्रयागके पार्वतीय प्रदेशोमे अवस्थित थी।

यहाँका राजा दशार्णभद्र था। उसे एक दिन चरपुरुषोद्वारा यह सूचना प्राप्त हुई कि कल प्रात. दशार्णपुरमे तीर्थंकर महावीरका समवशरण आनेवाला है। चरपुरुषकी बात सुनकर राजा अत्यन्त प्रसन्न हुआ और उसने अपनी सभाके समक्ष निवेदन किया "कल प्रात काल मै तीर्थंकर महावीरकी वन्दना ऐसी समृद्धिसे करना चाहता हूँ जैसी समृद्धिसे कभी किसीने न की हो।"

वह अन्त पुरमे गया और अपनी रानियोसे भी तीर्थंकर-वन्दनाकी बात करने लगा। दसार्णभद्र रात्रिभर तीर्थंकर महावीरके स्वागतके लिये कल्पनाएँ करता रहा। सूर्योदयसे पूर्व ही नगरके अध्यक्षको बुलाकर नगर सजानेका आदेश दिया। नगर ऐसा सजाया गया, जैसे वह स्वर्गका एक खण्ड ही हो। राजाने स्नान किया, अगराग लगाया, पुष्पमालाएँ पहनी, उत्तमोत्तम वस्त्रा-भूषण धारण किये और उत्तम गजपर सवार होकर तीर्थंकर महावीरके समव-शरणकी ओर ऋद्धिपूर्वक चल पड़ा।

उसका अहकार देखकर इन्द्रके मनमे दशार्णभद्रके गर्वहरणकी इच्छा व्याप्त हुई। अत इन्द्रने जलमय एक विमान बनाया। उसे नाना प्रकारके स्फटिक मणियोसे सुशोभित किया। उस विमानमे कमल आदि पुष्प विकसित थे और नानाप्रकारके पक्षी कलरव कर रहे थे। उस विमानमे बैठकर इन्द्र अपने देव-समुदायके साथ समवशरणकी ओर चला।

इन्द्र अतिसज्जित ऐरावत हाथीपर बैठकर पृथ्वीपर पहुँचकर देव-देवियोंके साथ समवशरणमे आया। इन्द्रकी इस ऋद्धिको देखकर दशार्णभद्रके मनमे अपनी ऋद्धि-समृद्धि क्षीण लगने लगी और उसने वस्त्राभूषण उतारकर दिगम्बर-दीक्षा धारण कर ली।

१ दसण्णरज्ज मुइय, चइत्ताण मुणीचरे।
दसण्णभद्दो निक्खतो, सक्ख सक्केण चोइओ॥
उत्तराध्ययन, शान्त्याचार्य-टीका, अध्ययन १८, श्लोक ४४, पत्र ४४७-२.
दशार्णभद्रो दशार्णपुरनगरवासी विश्वभराविभु यो भगवन्त महावीरं दशार्णकूट-नगरनिकटसमवसृतमुद्यान—ठाणागसूत्र सटीक, पत्र ४८३-२.

दशार्णभद्रको दीक्षित होते देखकर इन्द्रने अपने पराजयका अनुभव किया। वह दशार्णभद्रके पास गया और उसके त्याग और वैराग्यकी पुनः पुनः प्रशंसा करने लगा। दशार्णभद्रने तीर्थंकर प्रभुके समवशरणमे अपने मिथ्यात्व और मोहका दलनकर सम्यक्त्व लाभ किया।

सुह्म : कण-कण पुलकित

वर्तमानमे हुगली और मिदनापुरके बीचके प्रदेशको 'सुह्म' माना जाता है। यह उडीसाकी सीमापर फैला हुआ दक्षिण बगका प्रदेश है। कुछ विद्वान् 'दक्षिण बगको' सुह्म मानते है और इसकी राजधानी ताम्रलिप्ति बतलाते हैं। एक अन्य मान्यताके अनुसार हजारीबाग, सथालपरगनाके जिलोको गणना सुह्मके अन्तर्गत है। वैजयन्तीकार सुह्मको राढका ही नामान्तर मानते हैं।

तीर्थंकर महावीरका समवशरण ताम्रलिप्त, राढ और सुह्मकी भूमिमे पहुँचा था। प्राकृत चरितकाव्योमे समुद्रतटवर्ती ताम्रलिप्तिमे समवशरणके पहुँचनेका निर्देश आया है। महावीरके धर्मोपदेशसे यहाँकी भूमिका कण-कण आनन्दसे विभोर था। प्रजा दर्शनके लिए नदी-नालोके समान उमड़कर जा रही थी। महावीर धर्मका स्वरूप प्रतिपादित कर रहे थे और जनता उत्सुक होकर धर्मामृत पान कर रही थी। विश्वबन्धुत्व और विश्वमैत्रीका उपदेश सभीको प्रभावित कर रहा था। इस धरतीकी मानसिक और सास्कृतिक पङ्गुता समाप्त हो रही थी। स्वस्थ चिन्तनकी सुमधुर और सुरभित वायु लोक-जीवनको आनन्दित कर रही थी। सुह्म देशकी भूमि आज कृतार्थ हो गयी थी, उसका कण-कण पुलकित था।

अस्मक-पोतनपुर प्रसन्नचन्द्रकी दीक्षा

अस्मक देशकी राजधानी पोतनपुर थी। बौद्ध ग्रन्थोमे भी पोत नगरको अश्मककी राजधानी बताया गया है। जातक-ग्रन्थोसे ज्ञात होता है कि पहले अस्सक और दन्तपुरके राजाओमे परस्पर युद्ध हुआ करता था। यह पोतन कभी काशीराज्यका अंग भी रह चुका था। वर्तमान पैठनकी पहचान पोतनसे की जाती है।[1] सातवाहनकी राजधानी प्रतिष्ठान यही पोतनपुर है।

एक बार महावीरका समवशरण विहार करता हुआ पोतनपुर नगरमे पधारा। इस नगरके बाहर मनोरम नामक उद्यानमे धर्मपरिषद् एकत्र हुई। समवशरणके आनेका समाचार प्राप्त करते ही पोतनपुरनरेश प्रसन्नचन्द्र[2] तत्काल

१. ज्यागरैफी ऑव अर्ली बुद्धिज्म, पृ० २१

२ त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित, पर्व १०, सर्ग ९, पद्य २१–५०

तीर्थंकरकी वन्दनाके लिए चल दिया। यहाँ वह महावीरकी देशनासे अत्यधिक प्रभावित हुआ और उसके राग-द्वेष विभाजित होने लगे। उसके हृदयमे विभिन्न प्रकारकी अनुभूतियोका सघर्ष हो रहा था। कभी वह अपने विशाल राज्यकी ओर सोचता और अपने उत्तराधिकारीकी अल्पवयका चिन्तनकर मोहाभिभूत हो जाता। 'मेरे द्वारा दीक्षा ग्रहण कर लेनेपर इतने विशाल साम्राज्यका सचालन कैसे हो ? अभी मेरा पुत्र छोटा है, मन्त्रियोके ऊपर इतने बडे राज्यका दायित्व सौप देना उचित नही है।' अत उसके दीक्षाके भावोपर मोहके पयोधर आच्छादित हो जाते।

कुछ क्षणके पश्चात् वह सासारिक सम्बन्धो, अस्थिरताओ, वासना-जन्य विकृतियो और जगत्‌के प्रपञ्चोके विषयोमे सोचता, तो उसका हृदय विरक्तिसे परिपूर्ण हो जाता। ससारके सभी सयोगीभाव उसे कष्टकर प्रतीत होने लगते।

शुभ परिणामोकी तीव्रता और सघनताने उसके मिथ्यात्वभावको गला दिया और सम्यक्त्वके सूर्योदयने आत्माको अलोकित कर दिया। अत उसने दिगम्बर-दीक्षा धारण करनेका निश्चय किया।

द्वादश अनुप्रेक्षाओके चिन्तनसे परिणामोमे निर्मलता बढती जाती और वह आरम्भ एव परिग्रहका त्याग करनेके लिए कृत-सकल्प होता जाता। फलत समस्त वस्त्रोका त्यागकर केशलुञ्चन करनेके लिए वह प्रवृत्त हुआ। पञ्चमुष्टी केश-लुञ्च करते ही मनकी ग्रन्थियाँ खुल गयी। राजा प्रसन्नचन्द्रका चारो ओर जयघोष सुनायी पड रहा था। इन्द्रभूति गौतम गणधरके तत्त्वावधानमे और अन्तिम तीर्थंकर महावीरके पादमूलमे सम्पन्न यह दीक्षा सभीकी चर्चाका विषय थी।

प्रसन्नचन्द्रने अपने अल्प-वयस्क पुत्रको प्रधान अमात्यके सरक्षणमे राज्यभार सौप दिया। प्रसन्नचन्द्र दीक्षित होकर महावीरके सघमे उग्र तपश्चरण करने लगा।

एक दिन समवशरणमे श्रेणिकने प्रसन्नचन्द्रके सम्बन्धमे प्रश्न किया। इन्द्र-भूतिने प्रसन्नचन्द्रके परिवारकी कथा सुनायी।[1] कालक्रमानुसार प्रसन्नचन्द्रने केवलज्ञान प्राप्त किया।

केकयार्द्धजनपद-श्वेताम्बिका : प्रदेशीका मोह-ग्रन्थि-भेदन

जैन ग्रन्थोमे प्रतिपादित साढे पच्चीस आर्यदेशोमे इसकी गणना की गई है। केकयराज्यका उपनिवेश होनेके कारण यह केकयार्द्ध कहलाता था।

१ परिशिष्ट पर्व, याकोबी-सम्पादित द्वितीय, सस्करण, सर्ग १, पद्य ९२-१२८

श्वेताम्बिका इस जनपदकी राजधानी थी। इसके ईशान-कोणमे नन्दनवनके समान मृगवन नामक उद्यान था। यहाँका राजा प्रदेशी[1] अधार्मिक, नास्तिक और अधर्मानुकूल आचरण करनेवाला था। उसके शील-आचारमे धर्मका किञ्चिन्मात्र भी स्थान नही था। एक दिन प्रदेशीका साक्षात्कार पार्श्वापत्य केशीकुमारसे हुआ। केशीकुमारने अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह-सम्बन्धी विचारोका महत्त्व बतलाते हुए प्रदेशीको आस्तिक बनानेका प्रयास किया। प्रदेशी केशीकुमारके आचार-सम्बन्धी विचारोसे अत्यधिक प्रभावित हुआ और उसे मानव-जीवनके रहस्यका बोध हो गया। जीवनमूल्योकी पहचान उसे प्राप्त हो गयी।

प्रदेशीने यह अनुभव कर लिया कि भौतिक शरीरसे ज्ञान-दर्शनरूप आत्मा भिन्न है आत्मा देह या पञ्चभूतरूप नही है। जो पृथ्वी, जल, अग्नि और वायुरूप चतुर्भूतसे आत्माको उत्पन्न मानते है, वे अज्ञानी है आत्म-स्वरूपके बोधसे रहित है। प्रदेशीने अपनी शकाका समाधान करनेके लिए केशीसे प्रश्न किया- "मेरे पिता निर्दयी थे और मरकर नरक गये, जहाँ वह दुख भोग रहे हैं, फिर वह उन दुखोसे बचनेके लिए मुझे क्यो सम्बोधित नही करते?"

केशीकुमार "राजा अपराधीको दण्ड देता है, उस दण्डको भोगते समय जैसे अपराधी अपने पुत्र-कलत्रके पास नही जा सकता, उसी प्रकार नारकी जीव अपने अशुभ कृत्योका फल भोगते समय वहाँसे तब तक नही निकल सकता है, जब तक सम्पूर्ण कर्मोका फल भोग नही लेता।"

प्रदेशी "अच्छा यह मान लिया, पर यह बतलाइये कि मेरी धर्मात्मा दादी स्वर्ग गयी है, वह मुझे सम्बोधित करने क्यो नही आती?"

केशी "जो मनुष्य देवदर्शनके लिए शुद्ध होकर मन्दिर गया है, वह अशुद्धिके भय से दूसरे कामके लिए बुलाये जानेपर भी नही आता। देवगतिके जीव शुद्ध है, उन्हे मनुष्यगतिकी अशुचिता असह्य है। अत उपर्युक्त भक्तके समान वे नही आते। पर जिन जीवोका पारस्परिक मोह प्रबल होता है और वे इष्टमित्रोका उपचार करना चाहते हैं, वे कष्ट सहकर भी आते हैं। आगम-ग्रन्थोमे इस प्रकारके उदाहरण मिलते हैं। सीताजीका जीव अपने एक बन्धुको सम्बोधित करनेके लिए नरक गया था।"

प्रदेशीको जिज्ञासा अभी भी शान्त नही हुई। उसके मनमे आत्माके अस्तित्वके सम्बन्धमे अभी भी आशका अवशिष्ट थी। अत वह कहने लगा।

१ पएसिकहा, रायपसेणी सटीक, पत्र २७३.

"एक मरनेवाले व्यक्तिको सन्दूकमे वन्द कर दिया जाता है तथा सन्दूकको भी चारो ओरसे इस प्रकार वन्द कर दिया जाता है, जिससे उसमे हवा भी नही जाती। पर मरते समय वह आत्मा न तो सन्दूकके भीतर दिखलायी पडती है और न कही वाहर ही। यदि आत्मा है, तो उसे अवश्य दिखना चाहिए।"

केशी "राजन्! भवनके भीतर सव दरवाजो और खिडकियोको वन्द करके जव सगीतकी मधुरध्वनि आरम्भ होती है, तव उसे भवनके वाहर निकलते हुए कोई नही देखता, पर वह निकलकर श्रोताओके कानोसे टकराती है और उन्हे आह्लादित करती है। सूक्ष्म शब्द तो पौद्गलिक है, फिर भी नेत्रोसे नही दिखते। अव विचार कीजिए कि अरूपी यह आत्मा नेत्रोसे किस प्रकार दिखलायी पडेगी?"

प्रदेशीकी जिज्ञासा अभी शान्त नही हुई थी। अत' वह पुन प्रश्न करता हुआ कहने लगा। "मनुष्य-शरीरके टुकडे-टुकडे करके उन्हे एक ऐसे सन्दूकमे भर दिया जाय, जिसमे कोई दूसरी वस्तु प्रवेश न कर सके। यहाँपर शरीरके वे टुकडे सड जाते हैं और उनमे कीडे उत्पन्न हो जाते हैं। अव प्रश्न यह है कि जीव यहाँपर कहाँसे आता है?"

केशी "राजन्! जव आत्मा निकलते हुए नही दिखलायी पडती तो प्रवेश करते हुए किस प्रकार दिखलायी पड़ेगी? अमूर्त्तिक आत्माका दर्शन नही होता, अनुभूति होती है।"

इस प्रकार केशीकुमारने प्रदेशीको आत्माके अस्तित्वका वोध कराया और उसके परिणामोमे परिवर्त्तन किया।

ग्रामानुग्राम विहार करता हुआ तीर्थंकर महावीरका समवशरण केकेयी[1]-को राजधानी श्वेताम्बिकामे आया। प्रदेशी परिजन-पुरजन सहित महावीरकी वन्दनाके लिए गया। भगवान्की दिव्यध्वनि प्रारम्भ हुई, सभी श्रोता धर्म-श्रवणकर आनन्दित हो रहे थे। अवसर प्राप्तकर प्रश्न किया "ससारका कारण क्या है? और मुक्ति किस प्रकार प्राप्त की जाती है? लोकके प्राणी किस प्रकार सुखी होते हैं?"

इन्द्रभूति गणधरके निमित्तसे धर्मको प्रतिपादित करते हुए तीर्थंकर महावीर-ने कहा "षट् द्रव्योमेसे जीव और पुद्गल द्रव्यमे दो प्रकारकी परिणमन शक्तियाँ हैं (१) स्वभाव और (२) विभाव। शेष द्रव्योका परिणमन स्वभाव

१ केकेयऽऽत्रेय हरिवंशपुराण ३।५

रूप ही होता है। ये दोनो द्रव्य विभावरूप परिणमन करनेके कारण अनादि कालसे सम्बद्ध हैं। शरीरमे बधा हुआ जीव शुभाशुभ कर्म कर रहा है। जीवने पूर्व जन्ममे कर्म किये है और इस जन्ममे भी कर्म सचित कर रहा है। इन सचित कर्मोके शुभाशुभ फलको भोगता हुआ जीव सुखी-दु खी होता है। यदि व्रतोपवास, सयम, तपस्या आदिके द्वारा इन कर्मोकी निर्जरा कर ले, तो शरीर-बन्धनसे मुक्त हुआ जा सकता है। मन, वचन, काय द्वारा आस्रव निरोधकर सवरका पालन किया जाय, तो नवीन कर्मोका बन्धन नही होता और तपस्या-से सचित कर्मोका नाश हो जानेपर भवभ्रमणका अन्त हो जाता है। निरस-न्देह कर्मक्षयसे ही दु.खक्षय होता है।"

तीर्थंकर महावीरके कार्य-कारण सिद्धान्तपर आधृत उपदेशने अन्य श्रोताओंके साथ राजा प्रदेशीको बहुत प्रभावित किया। इस सन्दर्भमे सप्ततत्त्व, नवपदार्थ, पञ्चास्तिकाय, छ द्रव्य, चार कषाय और अष्टकर्मोके स्वरूपको समझा। आत्म-परिणतिके निर्मल होते ही प्रदेशीके राग-द्वेष गल गये, उसकी आत्मा आलोकसे आपूरित हो गयी और उसने मुनिदीक्षा धारण कर ली।

कुरुदेश-हस्तिनापुर : शिवराजर्षि द्रवीभूत

हस्तिनापुरकी अवस्थिति मेरठसे २२ मील पूर्वोत्तर और विजनौरसे नैऋर्त्यमे बूढी गगाके दक्षिण तटपर मानी जाती है। इस नगरके बाहर उत्तर-पूर्व दिशामे सहस्राम्रवन नामका उद्यान था। वह उद्यान सब ऋतुओंके फल-पुष्पोसे समृद्ध था और नन्दनवनके समान रमणीय था।

उस समय हस्तिनापुरमे शिव नामका राजा राज्य करता था। इसकी पट्टरानीका नाम धारिणी था। इस दम्पतिके शिवभद्र नामक पुत्र था।

एक दिन राजाके मनमे रात्रिके पिछले प्रहरमे विचार आया कि हमारे पास जो विपुल धनसम्पत्ति है, वह सब पूर्वोपार्जित पुण्यका फल है। अत पुन पुण्यार्जनके लिए प्रयत्न करना चाहिए। अपने उक्त विचारको कार्यरूपमे परिणत करनेके उद्देश्यसे उसने अपने पुत्र शिवभद्रको राज्यपदपर प्रतिष्ठित कर दिया और स्वय तापस दीक्षा लेकर गगातटपर व्रतोपवास करना आरम्भ किया।

शिवराजर्षिने घोर तपश्चरण किया और दिक्चक्रवाल तपके प्रभावसे उसने विभगावधि प्राप्त किया। उसे अपने इस कुअवधिके कारण अधिकाश वस्तुएँ विपरीत दिखलायी पडने लगी। उसे सात द्वीप और सात समुद्र दिखलायी पडने लगे।

तीर्थंकर महावीरका समवशरण हस्तिनापुरके निकटवर्ती सहस्राम्रवनमे पहुँचा। समवशरणके प्रभावसे इस आम्रवनका सौन्दर्य कई गुना बढ गया। समवशरणसभाकी चर्चा समस्त कुरुदेशमे व्याप्त हो गयी। नर-नारियाँ विभिन्न प्रकारकी वेश-भूषामे सजकर महावीरके समवशरणमे सम्मिलित हुई। स्वार्थी, भोगी, उच्छृखल पुरुष अपनी विभिन्न-लालसाओसे विवश होकर इस धर्मसभा-मे सम्मिलित न हो सके, पर विभिन्न दिशाओ और विदिशाओसे अगणित नर-नारी धर्म-प्रवचनके श्रवणके लिये एकत्र हुए। समवशरण हरित-श्याम वर्णकी मणियोसे सुशोभित था और स्थान-स्थानपर मणि-मुक्ताओके झालर-तोरण लगे थे। उद्यानकी उपत्यकामे विभिन्न प्रकारके पक्षी कलरव कर रहे थे। विभिन्न सरोवरोमे कमल विकसित थे और मगलवाद्योकी उछाहभरी रागि-नियोसे विशाल उद्यान-प्रान्त गूजित था। तोरण, द्वार, गोपुर, मण्डप और वेदिकाओसे तटभूमि रमणीय थी। जब देशना आरम्भ हुई, तो किसीने प्रश्न किया "प्रभो! शिवराजर्षि इस लोकमे सात ही द्वीप और सात ही समुद्र बत-लाता है। क्या उनका यह कथन सत्य है?"

महावीरने कहा 'गौतम! इस तिर्यक् लोकमे स्वयभूरमण समुद्र पर्यन्त असख्यात द्वीप और समुद्र है। शिवका उक्त कथन सत्य नही है।"

आजकी दिव्यध्वनिका विषय लोक-वर्णन था। लोकका स्वरूप, विस्तार, द्वीप, समुद्र, क्षेत्र आदिके सम्बन्धमे उपदेश हो रहा था। जब शिवराजर्षिको तीर्थंकरके उपदेशका परिज्ञान हुआ, तो उसका विभगज्ञान नष्ट हो गया और वह सोचने लगा कि काय-क्लेश सहनकर मैंने जो पुण्यार्जन किया है, वह तो ससार-परिभ्रमणका ही कारण है। राग-द्वेषकी निवृत्तिके बिना जन्म-मरणके दु खोसे छुटकारा प्राप्त नही किया जा सकता है। वह जितना अधिक अपना आत्मालोचन करता, उतना ही उसकी आत्मामे प्रकाश फैलता जाता। राशि-राशि सौन्दर्य उसके चरणोके समक्ष विद्यमान था। अतएव वह तीर्थंकर महावीरके समवशरणमे आकर जिन-दीक्षा धारण करना चाहता था। मोहका परदा हटते ही, उसकी आत्मा द्रवीभूत हो गयी। मिथ्यात्वका पक धुल गया और सम्यक्त्वकी ज्योति प्रज्वलित हो गयी।

शिवराजर्षिने त्रिवार 'नमोस्तु' किया और गौतम गणधरके निकट बैठकर अपनी श्रद्धा और भक्ति प्रकट की। उसकी आत्मासे ज्ञान और दर्शनकी किरणे नि सृत होने लगी। उसने अनुभव किया कि कर्मावरणकी सघनता छूट रही है और आध्यात्मिक अनुभूति बढती जा रही है। सम्यक्त्वके साथ सम्यक् विवेक भी उत्पन्न हो गया है और आत्मा चारित्र ग्रहण करनेके लिये उत्सुक है।

शिवराजर्षिने इन्द्रभुति गौतमसे निवेदन किया "स्वामिन्! अज्ञानतापूर्वक तो मैंने बहुत तप किया है, पर अब मैं ज्ञानपूर्वक तीर्थंकर महावीरकी शरणमे रहकर सयम और तपकी आराधना करना चाहता हूँ। कृपया मुझे निर्ग्रन्थ मुनिके व्रत दीजिए।"

शिवराजर्षिने पचमुष्टि लोचकर दिगम्बर-दीक्षा ग्रहण की।[1]

पुरिमताल : महाबलका[2]-वन्दन

प्रयागका ही प्राचीन नाम पुरिमताल बतलाया जाता है। जैन ग्रन्थोंके आधारपर यह अयोध्याका एक शाखानगर रहा होगा। यह नि'सन्देह है कि पुरिमताल प्राचीन नगर था। इस नगरके शकटमुख उद्यानमे वग्गुर श्रावकने तीर्थंकर महावीरकी अर्चा की थी। पुरिमतालके अमोघदर्शी उद्यानमे तीर्थंकर महावीरका समवशरण आया हुआ था। भव्य नर-नारी इस समवशरणमे सम्मिलित होकर धर्मामृतका पान कर रहे थे।

जब इस नगरके नृपति महाबलको तीर्थंकर महावीरके समवशरणके पधारनेकी सूचना प्राप्त हुई, तो वह भी अपने दल-बल सहित वन्दनाके लिये चला। जब वह समवशरणमे प्रविष्ट हुआ, तो उसे विजयचौर सेनापतिके पुत्र अभग्नसेनके पूर्व भवोका वर्णन सुनायी पडा। इस पूर्व भवावलिको सुनकर महाबल प्रभावित हुआ और उसे ससार, शरीर एव भवोसे विरक्ति होने लगी। पर उसके मनमे राज्य-सचालनकी आकाक्षा अवशिष्ट थी। अत धार्मिक प्रवृत्तिके रहते हुए भी, वह तीर्थंकर महावीरकी केवल वन्दना कर नगरमे लौट आया। महाबल अपने समयका प्रसिद्ध शासक था और तीर्थंकर महावीरके प्रति अपार श्रद्धा रखता था।

वर्द्धमानपुर : विजयमित्रका धर्मश्रवण

वर्द्धमानपुरकी स्थिति आधुनिक बगालमे होनी चाहिये। यदि इसका सम्बन्ध आधुनिक बर्दवान नगरसे जोडा जाय, तो आश्चर्य नही। इस नगरके बाहर विजयवर्द्धन नामक उद्यान था। यहाँ मणिभद्र यक्षका विशाल मन्दिर

१ समणेण भगवता महावीरेण अट्ठ रायाणो मुडे भवेत्ता आगारातो अणगारित पव्वाविता, त० वीरगय, सजय एणिज्जते य रायरिसी। सेय सिवे उदायणे [तह सखे कासिवद्धणे] स्थानागसूत्र, सटीक, स्थान ८, सूत्र ६२१ पत्र (उत्तरार्द्ध) ४३०-२

२ विपाकसूत्र (पी० एल० वैद्य द्वारा सम्पादित) सू० १, अ० ३, पृ० २६-२७

था। इस नगरमें विजयमित्र[1] नामक राजा राज्य करता था। तीर्थंकर महावीरका समवशरण ग्रामानुग्राम विहार करते हुए वर्द्धमानपुरमें आया। अन्य जनताके समान विजयमित्र भी तीर्थंकर महावीरके समवशरणमें धर्मश्रवण करनेके लिए गया। वहाँ उसने देखा कि विश्वकल्याणके हेतु तीर्थंकर महावीरका धर्म-प्रवचन हो रहा है। वह मनोयोगपूर्वक उनके उपदेशको सुनता रहा। उसे तीर्थंकर महावीरका व्यक्तित्व विकसित पुष्पके सौरभके समान प्रतीत हुआ और ऐसा लगा कि चारों ओरका वातावरण सुगन्धित हो रहा है। सरलता, सत्यनिष्ठा, संयम, इन्द्रिय-निग्रह आदि जीवनमूल्य विविध प्रकारसे जीवनको प्रेरित कर रहे थे। वह तीर्थंकरकी वाणीसे भक्ति-विभोर हो गया और विनय-पूर्वक उनकी वन्दना की।

वाराणसी : जितशत्रुका नमन

प्राचीन समयमें काशीराष्ट्र अत्यन्त प्रसिद्ध था। इस राष्ट्रकी राजधानी वाराणसी[2] नगरी थी। इसके बाहर कोष्ठक नामक चैत्य था। यहाँ कई बार तीर्थंकर महावीरका समवशरण आया। यहाँके तत्कालीन राजाका नाम जितशत्रु[3] था। इस नगरीके चुलनी पिता और सुरादेव नामक धनाढ्य गृहस्थ महावीरके दश श्रमणोपासकोंमें थे। यहाँके राजा लक्षको काममहावन चैत्यमें तीर्थंकर महावीरने अपना शिष्य बनाया था।

तीर्थंकर महावीरके समवशरणका समाचार अवगतकर जितशत्रु उनकी वन्दनाके लिये पहुँचा और उसने अत्यन्त भक्ति-भाव-विभोर होकर उनकी अर्चा की।

काकन्दी : धन्य एवं सुनक्षत्रका मोह छिन्न

काकन्दी[4] उत्तर भारतकी प्राचीन और प्रसिद्ध नगरी थी। यह नूनखार स्टेशनसे दो मील और गोरखपुरसे दक्षिणपूर्व तीस मील किष्किन्धा अथवा खुखुन्दके नामसे प्रसिद्ध है।

१ विपाकसूत्र, पी० एल० वैद्य-सम्पादित, श्रु० १, अ० १०, पृ० ७२

२-३ वाराणसी नाम नगरी ... जियसत्तू राया। उवासगदसाओ, पी० एल० वैद्यसम्पादित, पृ० ३२.

४ श्रवण भगवान् महावीर, मुनि कल्याणविजय, पृ० ३६१

काकन्दी नाम नयरी होत्था। ... जियसत्तू राया।

अणुत्तरोववाइयदसाओ, एन० वी० वैद्य सम्पादित, पृ० ५१.

बताया जाता है कि काकन्दीके बाहर सहस्राम्रवन नामक उद्यान था। इस उद्यानमे तीर्थंकर महावीरका समवशरण एकाधिक बार आया था। राजा जितशत्रुने भक्ति-भावसे तीर्थंकरकी वन्दना की थी। जब समवशरणमे गृहस्थ-धर्मका वर्णन किया जा रहा था, तब क्षेमक और धृतिधरने इन्द्रभूति गौतम गणधरसे श्रावकके द्वादश व्रत ग्रहण किये थे।

जिस समय तीर्थंकर महावीर आत्म-धर्मका प्रवचन कर रहे थे और कषाय एव विकारोको पर-सयोगजन्य होनेके कारण हेय बतला रहे थे, उस समय भद्रा सार्थवाहीके पुत्र धन्य और सुनक्षत्र बहुत प्रभावित हुए। वे सोचने लगे कि "आत्मा अपने स्वरूपका अनुभव, परिज्ञान और शुद्धाचरण न कर शरीर, धन, सम्पत्ति, परिवार, मित्र आदि पदार्थोको अपना समझ उनसे राग-मोह करती है। राग-मोह और द्वेषके कारण ही ससारका सारा जजाल जीवके समक्ष उपस्थित होता है। अतएव राग-द्वेषका त्यागकर ज्ञान-दर्शनरूप चैतन्य आत्माकी अनुभूति करना ही आत्महितका साधन है।"

धन्य और सुनक्षत्रने आत्म-प्रकाश प्राप्तकर इन्द्रभूति गौतमसे दिगम्बर-दीक्षा ग्रहण करनेकी अभिलाषा प्रकट की। वास्तविक विरक्ति अवगतकर गौतम गणधरने इन दोनोको दिगम्बर-प्रव्रज्या प्रदान की।

तीर्थंकर महावीरका समवशरण बम्बईके भरुच नगरमे भी गया और यहाँ का तत्कालीन राजा वसुपाल अधिक प्रभावित हुआ। नगरसेठ जिनदत्त तथा उसकी पत्नी जिनदत्ता एव पुत्री नीलीने श्रावकके व्रत ग्रहण किये।

सिन्धु-सौवीर . उदायनका सम्यक्त्व-बोध

जैन आगम-ग्रन्थोमे साढे पच्चीस देशोमे सिन्धु-सौवीरका नाम भी सम्मिलित है[1]। महावीरके समयमे यह एक सयुक्त राज्य था, पर बादमे सिन्धु-सिन्धके नामसे और सौवीर पृथक् नामसे प्रयुक्त होने लगा। भारतीय साहित्यमे सिन्धु-सौवीरका विशेष महत्त्व दिखलायी नही पडता। बौद्धायनमे सिन्धु सौवीरको अस्पृश्य देश कहा गया है और वहाँ जानेवाले ब्राह्मणको पुन सस्कारके योग्य बताया है। बौद्ध साहित्यमे गान्धार और कम्बोज राज्योके उल्लेख तो हैं, पर सिन्धु-सौवीरके नही।

१. से ण उदायणे राया सिंधुसोवीरप्पमोक्खाण सोलसण्ह जणवयाण वीतीभयप्पामोक्खाण तिण्ह तेसट्ठीण नगरागरसयाण सहसेणाप्पमोक्खाण दसण्हराइण बद्धमउडाण—भगवतीसूत्र सटीक, शतक १३, उद्देस ६, पत्र ११३५

तीर्थंकर महावीरका समवशरण इस जनपदमे आया था। उस समय इस जनपदका राजा उदायन था और इसकी रानी प्रभावती महाराज चेटककी पुत्री थी[1]। तीर्थंकर महावीरके उपदेशोसे उदायन बहुत प्रभावित हुआ और वह उनका भक्त बन गया। उसने महावीरके जीवनकालमे ही उनका मन्दिर बनवा कर चन्दनकी प्रतिमा स्थापित की थी और वे दोनो ही उस प्रतिमाकी पूजा किया करते थे[2]।

इस अतिशयपूर्ण प्रतिमाके चमत्कारोको सुनकर उज्जयिनी-नरेश महाराज चण्डप्रद्योतने उसे चोरीसे अपने यहाँ मगा लिया। उदायनने मूर्तिको वापस करनेके लिये कहा, पर चण्डप्रद्योतने मूर्ति लौटानेसे इनकार कर दिया। उदायन विशाल सेना लेकर उससे लड़ने गया। घमासान युद्ध हुआ। चण्डप्रद्योतको वन्दी बनाकर कारागृहमे बन्द कर दिया और तीर्थंकर महावीरकी उस चन्दनकी प्रतिमाको सिन्धके मन्दिरमे प्रतिष्ठित कर दिया गया। उदायन सम्यक्-दृष्टि श्रावक था और उसकी रानी प्रभावती भी धर्मश्रद्धालु थी। किसी पर्वके अवसरपर रानी प्रभावतीके कहनेसे उदायनने चण्डप्रद्योतको कारागृहसे मुक्त किया और उसे उसका राज्य भी वापस कर दिया।

महावीरका समवशरण जब सिन्धमे आया, तो महाराज उदायन और रानी प्रभावती इस समवशरणमे प्रसन्नतापूर्वक सम्मिलित हुए। उनके धर्मोपदेशसे प्रभावित होकर उदायन और प्रभावतीने श्रमणव्रत ग्रहण कर लिया। राजा उदायन दिगम्बर मुनि बन गया और प्रभावती आर्यिका।

कुसन्ध्य

हरिवशपुराणमे तीर्थंकर महावीरके समवशरण-विहारका निर्देश करते हुए कुसन्ध्य देशका वर्णन किया गया है। इसी पुराणमे एक कुशोदय देश भी आया है, जिसकी राजधानी शौर्यपुर थी। आजकल यह स्थान आगरा जिलेके बटेश्वरके अन्तर्गत है। सम्भव है कुसद्य और कुसन्ध्य देश एक ही है। शौर्यपुर और कान्यकुब्जके मध्यमे शकासा (शकास्या) नगरी है। यह फर्रूखाबाद जिलेमे पड़ती है। ऐसा अनुमान होता है कि यह समस्त प्रदेश कुसद्य या कुसन्ध्यके नामसे प्रसिद्ध रहा है। सक्षेपमे आगरासे कन्नोज तक फैला हुआ प्रदेश कुसन्ध्य या कुसद्य है।

१. उदायणस्स रन्नो महादेवी चेडगरायधूया समणोवासिया पभावई।
उत्तराध्ययन, नेमिचन्द्राचार्यकी टीका सहित, पत्र २५३–१.

२ वीर, वर्ष ९, पृ० ११३-११५.

अश्वष्ट

इस नामसे सादृश्य रखनेवाले दो स्थान उपलब्ध हैं (१) अश्वक और (२) अष्टकप्र। अश्वक प्रदेश पश्चिमोत्तर सीमाप्रान्तसे परे काबुल नदीके उत्तर-भागमे स्थित था। यूनानियोने इसे 'Aspasioi' नामसे बताया है।[१]

अश्वष्टसे अश्वकका सादृश्य अधिक है। अष्टकप्रका उल्लेख टौलमीने किया है, जो हस्तकवप्रका अपभ्रंश है। यह गुजरातमे था।[२]

शाल्व

इस प्रदेशके सम्बन्धमे निश्चित रूपसे कोई जानकारी नही है। दक्षिण भारतके राजाओमे सालुव नामक एक राजवशका उल्लेख मिलता है। साल्व-मल्ल जिनदास तुलुवदेशपर शासन करते थे[3]।

दक्षिणके एक अभिलेखमे बताया गया है कि सालुव राजा पूर्वी प्रदेशसे वहाँ आये थे। अत साल्व देशकी स्थिति दक्षिण भारतमे कही सम्भव है[४]।

त्रिगर्त

आचार्य हेमचन्द्रने अभिधानचिन्तामणिमे त्रिगर्तका उल्लेख जालन्धरके साथ किया है। रावी, व्यास और सतलज नदियोका मध्यवर्ती प्रदेश त्रिगर्त कहलाता था। इसके जालन्धर और कोटकागड़ा प्रमुख नगर थे[५]।

पाटच्चर

निश्चित रूपसे इस नगरके सम्बन्धमे कुछ नही कहा जा सकता है। यूनानियोने पाटलिनके नामसे सिन्धुका उल्लेख किया है। बहुत सभव है कि पाटच्चर सिन्धुका पार्श्ववर्ती प्रदेश हो[६]।

मौक

कनिंघमने पजाबमे जलालपुरके पास राजा मोघ द्वारा स्थापित मोगका निर्देश किया है। यदि यह मोग ही मौक हो, तो जलालपुरके पास इसकी स्थिति मानी जा सकती है[७]।

१ कनिंघम ऐन्शिएन्ट जौग्राफी ऑफ इन्डिया, पृ० ६६७
२ कनिंघम Ancient Geography of India, Page 699
३. Jainism and Karnataka culture (Dharwar) Page 52
४ Mysore and Kurga, Page 152-53
५ कनिंघम—ऐन्शिएट जागरफी ऑव इण्डिया, पृ० ६८२
६ जैनसिद्धान्त-भास्कर, भाग १२, किरण १, पृ० २०.
७. वही, पृ० २०

कम्बोज

यह गान्धारका पार्श्ववर्ती प्रदेश था। आजकल कवारके निकटवर्ती प्रदेशको कम्बोज माना जाता है। अशोकके पञ्चम अभिलेखमे वताया गया है कि उसने अपने धर्ममहामात्योको यवन और कम्बोज लोगोके साथ-साथ गन्धार-निवासियोके प्रदेशमे भी नियुक्त किया था। यह जनपद गन्धारसे लगा हुआ, सभवतः उसके पश्चिमका प्रदेश था। डॉ० राधाकुमुद मुकर्जीने इसे कावुल नदीके तटपर स्थित प्रदेश माना है[1]। पर वस्तुत इसे विलोचिस्तानसे लगा ईरानका प्रदेश मानना ही अधिक उचित है।

वौद्ध साहित्यसे अवगत होता है कि यवन और कम्बोजमे आर्य और दास दो ही वर्ण थे। डॉ० मोतीचन्द्रने कम्बोजको पामीर प्रदेश मानकर द्वारकाको आधुनिक दरवाज नामक नगरसे मिलाया है, जो वदखशांके उत्तरमें स्थित है। जातककथाओमे कम्बोजके सुन्दर घोडोका उल्लेख आया है।

वाल्हीक

इस जनपदकी अवस्थितिके सम्बन्धमे दो मत हैं (१) कुछ विद्वान् इसकी अवस्थिति उत्तरापथमे और कुछ (२) वैकट्रियन देशकी राजधानी वलखके रूपमे स्वीकार करते हैं। पाणिनिके "वाहीकग्रामेभ्यश्च" (४।२।११७) तथा "आयुधजीविसघाञ्ञ्यड्वाहीकेष्वब्राह्मणराजन्यात्" (५।३।११४) मे वाहीक जनपदका उल्लेख आया है। इसे भाष्यकार पतञ्जलि पजावमे स्थित मानते हैं। इसकी अवस्थिति व्यास और सतलज नदियोंके वीच निश्चित की गयी है। इस वाहीक राष्ट्रको शतपथ ब्राह्मणमे (१२।९।३।१-३) वाल्हीक कहा गया है। वाल्हीक लोग मूलत वैक्ट्रियाकी राजधानी वलखके निवासी थे तथा भारतमे चिनाव और सतलज नदियोके वीचके मैदानमे वस गये थे। महाभारतके सभापर्वमे भी वाल्हीक लोगोका वर्णन आया है और उनके प्रदेशको भी मूलत वलख और वादमे भारतके उत्तर-पश्चिम भाग तथा पजावको माना है[2]।

कुछ विचारक वाल्हीकको अफगानिस्तानके उत्तरमे वतलाते हैं। पालि साहित्यमे वाहिय राष्ट्रका जो वर्णन आता है, उसकी दृष्टिसे इस राष्ट्रको व्यास और सतलज नदियोके वीचके प्रदेश तक सीमित नही रख सकते। इस वर्णनसे यह राष्ट्र सिन्धु नदीके इस पार या उस पार भी सभव है[3]। महारौलीके लौह-

१ अशोक (गायकवाड लैक्चर्स), पृ० १६८.

२ डॉ० मोतीचन्द्र ज्योग्रेफीकल एण्ड इकोनोमिक स्टडीज़ इन दि महाभारत, पृ० ९१.

३. भरतसिह उपाध्याय वुद्धकालीन भारतीय भूगोल, प्रयाग स० २०१८, पृ० ४८०.

स्तम्भ-लेखमे चन्द्रद्वारा सिन्धुके सात मुहानोको पारकर वाल्हीकको जीतनेका निर्देश किया गया है।

आदिपुराणमे प्रतिपादित वाल्हीककी स्थितिसे भी यह स्पष्ट है कि सिन्धुके पार उत्तर-पश्चिममे वाल्हीक जनपद रहा है।[1]

तीर्थंकर महावीरका समवशरण इस जनपदमे गया था और यहाँकी जनताने उनका उदार हृदयसे स्वागत किया था।

यवनश्रुति

यह प्रदेश यूनान और उसके पार्श्ववर्ती भूभागका द्योतक है। यूनानी लोग प्राचीन भारतमे 'यवन' नामसे उल्लिखित होते थे।[2] पश्चिमी भागोमे यवन जनपदकी स्थिति सम्भव है। यो तो 'यवन' शब्दका प्रयोग आधुनिक यूनानके लिए पाया जाता है। महाभारतमे बताया गया है कि नन्दिनीने योनिदेशसे यवनोको प्रकट किया तथा उसके पार्श्वभागमे यवन जातिकी उत्पत्ति हुई[3]। कर्णने दिग्विजयके समय पश्चिममे यवनोको जीता था[4]। काम्बोजराज सुदक्षिण यवनोके साथ एक अक्षौहिणी सेनाके लिए दुर्योधनके पास आया था।

यवन भारतीय जनपद है। यवन पहले क्षत्रिय थे, परन्तु ब्राह्मणोसे द्वेष रखनेके कारण शूद्रभावको प्राप्त हो गये थे[5]। आदिपुराणमे जिनसेनने (आदिपु० १६।१५५) बताया है कि तीर्थंकर ऋषभदेवने यवन देशकी प्रतिष्ठा की थी।

हरिवंशपुराणके अनुसार महावीरका समवशरण यवन प्रदेशमे गया था। सत्य, अहिंसा, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रहके सिद्धान्तोका प्रतिपादन किया गया था। इस जनपदकी जनताने श्रद्धा और भक्तिके साथ तीर्थंकर महावीरका उपदेश सुना था।

गान्धार

प्राचीन भारतके सोलह जनपदोमे गान्धारका उल्लेख आया है। इस जनपदका निर्देश अशोकके पञ्चम अभिलेखमे भी पाया जाता है। मज्झिम-निकायकी अट्ठकथामे गान्धार जनपदको सीमान्त जनपद कहा गया है[6]। गान्धारकी

१ डॉ० नेमिचन्द्र शास्त्री आदिपुराणमें प्रतिपादित भारत, वर्णीग्रन्थमाला, वाराणसी, पृ० ६७

२. हिस्टॉरीकल लीड्ग्-विस्, पृ० ७०–७८

३ महाभारत, आदिपर्व १७४।३६–३७

४. वही, वनपर्व २५४।१८।१५०

५ वही, अनुशासन पर्व ३५।१८।१५२

६. मज्झिमनिकाय, जिल्द दूसरी, पृ० ९८२ (पपचसूदनी).

स्थिति स्वात नदीसे झेलम नदी तक थी। इस प्रकार इस जनपदमें पश्चिमी पंजाब और पूर्वी अफगानिस्तान सम्मिलित थे। गान्धारकी राजधानी तक्षशिला नगरी थी। तक्षशिला शिक्षा और व्यापार इन दोनों ही दृष्टियोंसे महत्त्वपूर्ण थी। जीवकवैद्य तक्षशिलाका प्रसिद्ध स्नातक था। छान्दोग्य उपनिषद्[1] और शतपथ ब्राह्मणमें गान्धारका उल्लेख आया है।

तीर्थंकर महावीरका समवशरण सिन्धुसे गान्धार गया था और वहाँकी जनताने उनका स्वागत-अभिनन्दन किया था। वीतरागवाणीका श्रवणकर अगणित व्यक्तियोंने आत्मोत्थानकी प्रेरणा प्राप्त की थी।

सूरभीरु

यह समुद्रतटवर्ती प्रदेश था, जो सम्भवतः 'सुरभि' नामक देशका बोधक है। यह सुरभि देश मध्य एशियाके क्षीरसागर (Caspian sea)के निकट (Oxus) ऑक्सस नदीके उत्तरकी ओर स्थित था। आजकल खीव (Khiva) प्रान्तका खनन अथवा खरिज्म प्रदेश है[2]। हरिवंशपुराणके वर्णनानुसार यहाँ भी महावीरका समवशरण गया था।

क्वाथतोय

समुद्रके किनारे होनेके कारण अथवा समुद्रसे वेष्टित होनेसे इस जनपदका नाम यह पड़ा होगा। यह जनपद उस समुद्रके तटपर अवस्थित था, जिसका जल क्वाथ काढ़े (अनेक औषधियोंको जलमें डालकर गर्म करनेपर हुए लाल वर्ण)के समान था। बहुत सम्भव है कि यह लाल समुद्र (Red sea) के निकट रहा होगा। इस लाल समुद्रके तटपर अवीसीनिया, अरब, इथ्यूपिआ आदि देश अवस्थित हैं। इन प्रदेशोंमें जैनधर्मका प्रचार हुआ था[3]। अतः हरिवंश-पुराणमें प्रतिपादित क्वाथतोय लाल समुद्र (Red sea) का तटवर्ती प्रदेश है।

तार्ण

सम्भवतः यह तूरानके लिए व्यवहृत है।

कार्ण

हरिवंशपुराणमें इस जनपदको उत्तर दिशामें बताया गया है। सम्भवतः यह काफिरिस्तान है।

---

१. छान्दोग्य उपनिषद् (गीताप्रेस) ६।१४।११८.
२. इण्डियन हिस्टॉरीकल क्वारटर्ली, भाग २, पृ० २९
३. भगवान् पार्श्वनाथ, पृ० १७३-२०२

तीर्थंकर महावीर उनतीस वर्ष, पाँच माह और बीस दिन तक अपनी देशना द्वारा जन-जनको ज्ञान देते रहे। उनकी देशना सुनते ही मिथ्यात्व भग हो जाता, मोह छिन्न हो जाता और हृदयकी समस्त गाँठे खुल जाती। उन्होने मुनि-आर्यिका, श्रावक और श्राविकाओके साथ विहार किया। गृहस्थ, नृपति, राजकुमार, राजकुमारियाँ, श्रेष्ठि, सार्थवाह, विद्वान् एव बुद्धिजीवी-वर्गको प्रतिबोधित किया। उनकी धर्मामृत-वर्षा काशी, कर्मभार-ग्राम, कोल्लाग-सन्निवेश, मोराक-सन्निवेश, नालन्दा, चम्पा, श्रावस्ती, वैशाली, विपुलाचल, वैभारगिरि, मगधके विभिन्न ग्राम-नगर, कोशाम्बी, मिथिला, विदेह, पचाल, वग, पुण्ड्र, ताम्रलिप्ति, हस्तिनापुर, साकेत, मथुरा, हेमागद, कम्बोज, कुसन्ध्य, अम्बष्ठ, शाल्व, त्रिगर्त, भद्रकार, पट्टच्चर, मौक, मत्स्य, कनीय, व्रकार्थक, कुरु-जागल, कैकेय, आत्रेय, वाल्हीक, यवन, सिन्ध, गान्धार, सौवीर, सूरभीरु, दशेरुक, वाडवान, भरद्वाज, क्वाथतोय, तार्ण, कार्ण एव प्रच्छाल आदि देशो और नगरोमे हुई थी।

राजगृह, विपुलाचल, वैभार, चम्पा, वैशाली और नालन्दाको तो एकाधिक बार धर्मामृत-श्रवणका अवसर प्राप्त हुआ था। महावीरने अपनी देशना द्वारा लोक-हृदयको अपूर्व दिव्यता प्रदान की और जन-जनके ज्ञानचक्षु उन्मीलित कर दिये। अज्ञानका सघन अन्धकार समाप्त हो गया और ज्ञानका सूर्योदय अपनी भास्वर रश्मियोसे आलोक प्रदान करने लगा। रूढिग्रस्त धर्म और समाजने मुक्तिकी सास ली। जनताका सदेह और भ्रम समाप्त हो गया।

उनका समवशरण चलता-फिरता एक विश्वविद्यालय था, जो स्पष्ट और प्राञ्जल ज्ञान-विज्ञानका प्रसार करता था। जहाँ भी उनका समवशरण जाता वहाँ करुणा और मैत्रीकी सरिताएँ प्रवाहित होने लगती। अन्तरात्माका कालुष्य धुल जाता। इतिहासकी गरिमा व्यक्त हो जाती और सस्कृतिपर उत्पन्न हुए दुराग्रह छिन्न हो जाते। उज्ज्वलताकी लेखनीसे मानवताका इतिहास लिखा जाने लगा। अहिंसा, सत्य, अस्तेय, अपरिग्रह, ब्रह्मचर्य, समत्व, सयम, मैत्री, पारस्परिक विश्वास एव प्राणीमात्रकी समता अनेकान्तसिद्धान्तके रूपमे प्रतिपादित हो रहे थे। उनका लोक-कल्याणकारी समवशरण पूर्वोक्त प्रदेशोमे भ्रमणकर राजभवनसे जन-सामान्यकी झोपडी तक पहुँच चुका था। भारतका कोनाकोना तो उनके उपदेशसे आलोकित हुआ ही, पर ईरान, फारस, अफगानिस्तान, कम्बोडिया, अरब आदि देशोकी प्रजाने भी उनकी उपदेश-सुधाका पान किया था। जहाँ भी तीर्थंकर महावीर पहुँचे, जन-जनके हृदयसे उनके प्रति श्रद्धाकी मन्दा-

किरणें फूट पड़ी। कोटि-कोटि जन उन्हें भगवान्, तीर्थंकर, पुरुषोत्तम, सर्वज्ञ, अर्हन्, जिन, स्वयंभू आदि मानकर अपनी श्रद्धाके सुमन उनके चरणोंमें अर्पित करते थे।

निश्चयतः तीर्थंकर महावीर लोकभाषामें हित-मित-प्रिय देशना देते हुए ग्राम और नगरोंमें विचरण कर रहे थे। उनकी दिव्य देशना उत्तरसे दक्षिण और पूर्वसे पश्चिम इन चारों दिशाओं तथा चारों ही विदिशाओंमें प्रकाश-पुञ्ज-का सृजन कर रही थी। सभी ओर उपदेशामृतकी धूम थी। युगोंसे चली आयी शारीरिक और मानसिक दासतासे मुक्ति प्राप्त हो रही थी। धर्मके नामपर प्रचलित रूढ़ियाँ और दर्शनके नामपर पनपते हुए दुराग्रह शान्त हो रहे थे। स्याद्वादमय यह दिव्यध्वनि विश्वधर्म और मानव-धर्मका ऐसा रूप प्रस्तुत कर रही थी, जिसकी आवश्यकता मानवमात्रको थी। अहिंसा और करुणाका मधुर संगीत प्राणिमात्रको आह्लादित और निर्भय बना रहा था। मानव सदियोंसे भूले हुए अपने पुरुषार्थको जागृत कर रहा था। जाति-पाँतिकी झूठी मर्यादाएँ टूट रही थीं और यज्ञ-यागादिके, बोझिल कर्मकाण्ड समाप्त हो रहे थे।

तीर्थंकर महावीरने धर्मकी समस्त विकृतियोंको चुनौती दी। इतना ही नहीं उन्होंने धार्मिक जड़ता और आर्थिक अपव्ययको रोकनेके लिये यज्ञ-विधियोंका विरोध किया। मनुष्यको मनुष्यके समीप बैठानेके लिये जन्मना वर्ण-व्यवस्था का विरोध किया और गुण-कर्मके आधारपर समाज-व्यवस्था प्रचलित की। सुखपूर्वक शान्तिकी श्वास लेनेके लिये अनेकान्तकी वर्णमाला और व्रतोंके आचार-विचार प्रस्तुत किये। मनुष्यको स्वावलम्बी और स्वतन्त्र बनानेके हेतु नियतिवाद और ईश्वरवाद जैसे सिद्धान्तोंकी समीक्षा की। उन्होंने बताया कि ईश्वर कहीं बाहर नहीं, वह प्रत्येक आत्माके भीतर है, जो अपने आपको पह-चान लेता है, वही ईश्वर बन जाता है।

उनकी दिव्यध्वनिका मधुर संगीत प्राणिमात्रको अपनी ओर आकृष्ट कर रहा था और 'आत्मवत् सर्वभूतेषु' का उद्घोष भी जनताके लिए सरल-सहज मार्गका प्रतिपादन कर रहा था। लोक-जीवन और लोक-आसन पावनताका अनुभव कर अपनेको निर्विकार और स्वतन्त्र समझ रहे थे।

महावीर वस्तुतः महान् थे, मानव थे, तीर्थंकर थे और थे पक्षपात एवं परिग्रह रहित। अतः उन्होंने अपने अनेकान्त-सिद्धान्त द्वारा जनताके वैषम्य-को दूर किया और अहिंसाकी भावनाको जागृत किया। उनके उपदेशने [illegible] मनस्तापोंको [illegible] स्पष्ट किया। उनका उपदेश प्राणि-मात्रके लिए हितकारी था। अहिंसाका [illegible] जनताने अन्तरंग और

बहिरंग शौर्यका अनुभव किया। जो पलायनवादी हैं, जीवन-संग्राममे भागनेवाले है, वे अहिंसक नही हो सकते। अहिंसक निर्भय होकर जीवनसे जूझता है। कमियोको दूर करता है और बनाता है सशक्त अपनी आध्यात्मिक उपलब्धियोको। वैर-विरोध, घृणा, हिंसा आदि पतनके कारण है। इन्ही विकारोसे एक व्यक्ति दूसरे व्यक्तिका शत्रु बनता है, विरोधी बनता है और बनता है समाजका विघटन-कर्त्ता।

तीर्थंकर महावीरके धर्मामृतने जन-जनमे नये प्राण फूँक दिये। लोक-चेतनाका कायाकल्प हो गया। अहकारजन्य भेद-भावका विसर्जन किया और आत्मस्वरूपको समझने-अनुभव करनेके लिये नये क्षितिज उद्घाटित किये। उनका उपदेश प्राणिमात्रके लिये समान रूपसे हितकर था।

उन्होने गाँव-गाँव, नगर-नगर, जनपद-जनपदकी धरतीके एक-एक कणको पुलकित किया। जहाँ भी लोकभाषामे उनका प्रवचन होता, दम्भ और मिथ्यात्व वहाँसे लुप्त हो जाता था। वीतरागता मनके कालुष्यको धो डालती थी। मनके सारे विकार समाप्त हो जाते थे और हृदय पावनता एव नम्रतासे भर जाता था। ज्ञानामृतकी अपूर्व वर्षा मन-श्रवण और मन-चक्षुका उद्घाटन कर देती थी। उनके उपदेशोमे न आडम्बरका समावेश था और न औपचारिकताका ही। वे इतने सरल, सुबोध और हृदयग्राही थे कि जिससे विज्ञ और अविज्ञ, अन्ध और बधिर, विकसित और अविकसित, ऋजु और वक्र एव मानी और अमानी सभी समान रूपसे अपने कालुष्यको प्रक्षालित करते थे।

तीर्थंकर महावीरके मगलकारी उपदेशको प्राणिमात्र श्रद्धापूर्वक नतमस्तक हो श्रवण करता था। उनकी उपकारी वाणी प्राणियोके हृदयका सहज कालुष्य दूर करती थी और विश्वास, सहयोग और सहकारिताकी भावना वृद्धिगत होती जा रही थी। जनताने सहस्राब्दियोके बाद पहलीबार धर्मकी व्यापक लोकोपयोगिता समझी थी। तीर्थंकर पार्श्वनाथने जिस अहिंसा-मार्गका निरूपण किया था, महावीरने उसी धरातलपर स्थित हो लोकमानसको क्रान्तिका एक अभिनव मोड दिया। शोषण और वर्गभेदकी प्रवृत्ति समाप्त हो गयी तथा अहिंसा और सयमकी अपराजित शक्तियाँ विकसित हुईं। चारो ओर सर्वोदयकी सम्भावनाएँ स्पष्ट होने लगी।

इस प्रकार तीर्थंकर महावीरने लगभग तीस वर्षो तक धर्मामृतका वर्षणकर तत्कालीन समाजको उर्वर किया।

निर्वाणकी ओर

मानव जीवनका चरम लक्ष्य है निर्वाण प्राप्त करना। आत्माको परमात्मा

बना देना। पर प्रश्न यह है कि मनुष्य निर्वाणको प्राप्त किस प्रकार करे? उसे अपने स्वरूपकी उपलब्धि कैसे हो? अनुष्ठान-विधान, तीर्थ-यात्रा, मन्दिर-मूर्तियोके दर्शन एव अन्य आडम्बरपूर्ण क्रियाएँ क्या मन और आत्माको परिष्कृत कर सकती हैं? क्या वाह्य साधन कुछ सहायता कर सकते हैं? यदि मनमे कालुष्य हो, आत्मा मलिन हो और अपने स्वरूपकी पहचान न हो, तब क्या वाह्य साधनोसे निर्वाण प्राप्त हो सकता है?

तीर्थंकर महावीरने बताया कि यह आत्मा ही कर्त्ता और भोक्ता है। यही अपना मित्र भी है और अपना शत्रु भी है। आत्मापर अनुशासन करनेसे स्वय-पर विजय प्राप्त होती है और जो स्वयपर विजय प्राप्त करनेवाला है, वह सभी प्रकारके दुःख-बन्धनोसे मुक्त हो जाता है।

आध्यात्मिक सम्पदासे सम्पन्न होनेकी अभिलाषासे धर्म-रुचि जागृत होती है और इस प्रकारकी रुचिसे सम्पन्न व्यक्ति धर्मके व्यावहारिक भेदो, अहिसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह, क्षमा-मार्दव, आर्जव प्रभृतिको जीवनमे उतारनेकी चेष्टा करता है और अभ्यासपरायण रहकर धीरे-धीरे व्रती हो जाता है। व्रतोका नियम-निष्ठासे पालन, उनमे शुचिता, सम्यक्त्व और आत्मो-द्धारकी भावनाको उत्कट करनेसे सहायता प्राप्त होती है। इस प्रकार सयम और धर्मको अग्रगामी बनाकर आहार-विहार, गमन-आसन, मौन-भाषण आदि समस्त क्रिया-कलापोका निर्वहन व्यक्तिको चारित्रके समीप लाता है। चारित्र-का बहिरग व्यवहाररूप है और अन्तरग निश्चयपरक। जब सम्यक् चारित्र-की उपलब्धि हो जाती है, तो श्रद्धा और ज्ञानके सम्यक् रहनेके कारण व्यक्ति राग-द्वेष और मोहसे छूट जाता है।

तीर्थंकर महावीरने अथक तप, संयम और साधनाके मार्गपर चलकर योग और कषायोके निरोध द्वारा निर्वाणकी भूमिका तैयार की। निर्वाण प्राप्त करनेकी इन सीढियोको गुणस्थानारोहण कहा जाता है। ये सीढियाँ एक ही दिशाकी ओर इगित करती है कामनाओको जीतो, आत्माको निष्कलुष बनाओ। तीर्थंकर महावीरने मनुष्यको ऊँचा उठानेके लिये, जो कुछ कहा, जो कुछ किया, उसमे मन और आत्माको ही वशमे करनेकी प्रेरणा थी।

प्राय देखा जाता है कि जन-सामान्य बाह्य जगतमे बड़ी-बडी क्रान्तियाँ करके विश्वमे ख्याति प्राप्त करता है, पर अन्तर्जगतमे क्रान्तिका शखनाद करनेवाला कोई एकाध ही महावीर होता है। बल, पराक्रम और पुरुषार्थ दिखाकर वीर बन जाना सरल है, पर इन्द्रियो और मनपर विजय प्राप्त कर महावीर बनना कठिन है।

तीर्थंकर महावीर स्वयं कामनाओसे लड़े। विषय-वासनाओपर विजय प्राप्त की, हिंसाको पराजित किया। असत्यको पराभूत किया। जात्यभिमान, वर्णाभिमान एवं कर्माभिमानको पीछेकी ओर फेंककर निर्वाणका मार्ग तैयार किया। साधना द्वारा उन्होंने जो कुछ प्राप्त किया, उसे बड़ी उदारताके साथ जनकल्याणके हेतु मानव-समाजको दे डाला। मानव ही नहीं, समस्त प्राणी-वर्ग उनके द्वारा प्रदत्त आलोकमे सुख-शान्तिका मार्ग ढूँढने लगा। महावीर स्वयं सर्वज्ञ, वीतरागी और हितोपदेशी तो थे ही, पर वे समस्त प्राणीवर्गको अपने ही समान विकार और विषयोके विजेताके रूपमे देखना चाहते थे। उनके द्वारा निर्मित निर्वाणकी सीढियाँ प्राणिवर्गके लिये सहज और सुलभ थी। यहाँ यह ध्यातव्य है कि भौतिक कामनाओमे उलझे हुए मनुष्यमे इतना सामर्थ्य कहाँ कि वह उन सीढियोका आरोहण कर सके। यों तो उनकी दिव्य-देशना प्राणि-मात्रके लिये हितकर थी और प्राणिमात्रको ही सुख और शान्तिकी ओर इंगित करती थी। उन्होंने स्पष्ट घोषणा की कि धर्म वही है, जिसमे अहिंसाका आचरण हो, मन, वचन और कायकी क्रियाएँ अहिंसक होनेपर ही धर्मका रूप ग्रहण कर सकती है। अहिंसाकी साधना तितिक्षा और संयमके विना सम्भव नहीं है। अत जहाँ अहिंसा है, वहाँ सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह भी विद्यमान है। जो व्यक्ति सासारिक सुख-समृद्धिके लिये अथवा पूजा-प्रतिष्ठाके लिये धर्माचरण करता है, वह अहिंसक नहीं। धर्माचरणका उद्देश्य आत्माकी पवित्रता होना चाहिये। जिसकी दृष्टिमे समता और विचारोमे उदारता समाहित हो गयी है, वही व्यक्ति निर्वाण-मार्गका पथिक बनता है। आत्माकी शुद्धि न गाँवमे होती है, न नगरमे होती है और न वनमे। इसकी शुद्धि तभी होती हैं, जब स्वयं आत्मा अपनेको अनुभूति कर ले। सुख-दु ख अपने ही द्वारा अर्जित है। स्वर्ग और नरक भी मनुष्यके हाथमे है। शुभोपयोग द्वारा सम्पादित कर्म अच्छा फल देते है और अशुभोपयोग द्वारा सम्पादित कर्म अनिष्ट फल। जो इन दोनो प्रकारके उपयोगोसे ऊपर उठकर शुद्धोपयोगका आचरण करता है, उसे ही निर्वाण प्राप्त होता है, उसीकी आत्मा शुद्ध होती है और वही धर्मात्मा माना जाता है।

जिस प्रकार शरत्ऋतुके निर्मल जलमे रहनेपर भी कमल, जलसे पृथक् और अलिप्त रहता है, उसी प्रकार शुद्धोपयोगमे विचरण करनेवाली आत्मा संसारसे अलिप्त और बन्धनरहित रहती है। राग-द्वेष कर्मके बीज है और मोह उनका जनक है। जिसके राग-द्वेष और मोह विगलित हो गये हैं, वही शुद्धोपयोगका आचरण कर सकता है।

मुक्तिका अर्थ है मोक्ष, बन्धनोका विगलन, निर्बन्ध होना, छुटकारा प्राप्त

करना। ससारके कोटि-कोटि जनको यह मुक्ति या आत्माकी स्वतन्त्रता तो अभीष्ट है, पर स्वतन्त्रताको प्राप्त करनेकी चेष्टा या प्रयत्न अभीप्सित नही है। चाहनेपर भी पुरुषार्थकी ओर प्रवृत्ति नही होती। परमत्वकी उपलब्धिके लिये शील, सयम, तप, त्यागरूप सम्यक्चारित्रका आचरण करना होगा। जिसके हाथमे सम्यक्श्रद्धा और ज्ञानके साथ सम्यक्चारित्र-पालनरूपी तीक्ष्ण खग है, वही प्रलोभनो और विकारोपर विजय प्राप्त कर सकता है। अत. मुक्तिप्राथीके अभिलाषीको सम्यग्ज्ञान-दर्शनपूर्वक सम्यक्चारित्रकी डोर थामनी होगी। वस्तुत चारित्र नौका है, और सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान ये दो केवट हैं, जो चारित्रकी नौकापर आरूढ है, उसे भवसागर पार करनेमे विलम्ब नही है। पर चारित्रकी सफलता तब है, जब वह आत्माका सर्वस्व बन जाय। ऊपरसे ओढा हुआ चारित्र तो किसी भी समय उतारकर फेका जा सकता है। अग्नि और उष्णताके समान चारित्र और चारित्रवान्मे तादात्यभाव होना चाहिये। उष्णता अग्निसे अविभाज्य है, चारित्र भी चारित्रवान्से अपृथक् है।

मुक्तिपर्व पावापुरकी ओर

तीर्थंकर महावीर इस धरतीपर ज्ञानका अमृत प्रवाहित करने आये थे। उन्होने निरन्तर तीस वर्षों तक विहारकर धरतीके क्लेशोका अपहरण किया। मानव-समाजको दु खोसे छुडाया, उसके हृदयमे ज्ञानदीप प्रज्ज्वलितकर सुख, शान्ति और कल्याण-मार्गको आलोकित किया।

यो तो ससारके रगमचपर अनेक क्रान्तियाँ हो चुकी हैं, पर उन सभी क्रान्तियोका प्रभाव बाह्य जगत तक सीमित रहा है। तीर्थंकर महावीरने अपनी क्रान्ति द्वारा सक्लिष्ट मनको उद्बुद्ध किया। वे जाति, सम्प्रदाय एव वर्गकी सीमाके घेरेको तोड़कर बाहर निकले। उन्होने देश और जनपदोके सीमाबन्धन-को भी अतिक्रान्त किया और विश्वके समस्त मानवोको विषमताकी खाइयोसे निकालकर समताके धरातलपर उपस्थित किया। उन्हे जो दिव्यज्ञान प्राप्त हुआ था, उसे उन्होने विश्वके प्राणि-जगतमे बाँट दिया।

महावीर इस धरतीको ज्ञानामृतसे सिंचन करते हुए पावापुर[1] नामक स्थान-

१ जिनेन्द्रवीरोऽपि विबोध्य सन्तत समन्ततो भव्यसमूहसन्ततिम्।
प्रपद्य पावानगरी गरीयसी मनोहरोद्यानवने तदीयके॥

हरिवशपुराण, ज्ञानपीठ-संस्करण, ६६।१५

क्रमात्पावापुर प्राप्य मनोहरवनान्तरे।
बहूना सरसा मध्ये महामणिशिलातले॥

मे पधारे और वहाँके मनोहर नामक वनके मध्य अनेक सरोवरोके बीचमे मणि-मय शिलापर विराजमान हुए। विहार छोड़कर उन्होंने कर्मोकी निर्जराको वृद्धिगत किया।

यहाँपर मन, वचन और काय योगका निरोधकर क्रियारहित हो मोक्षके लिए आवश्यक अघातियाकर्मोको नष्ट करनेवाले प्रतिमायोगको धारण किया। दिव्यध्वनि बन्द हो गयी और वचनयोगका भी पूर्णतया निरोध हो गया।

इस योगद्वारा देवगति, पाँच शरीर, पाँच सघात, पाँच बन्धन, तीन अगो-पाग, छह सस्थान, छह संहनन, पाँच वर्ण, दो गन्ध, पाँच रस, आठ स्पर्श, देवगत्यानुपूर्व्य, अगुरुलघु, उपघात, परघात, उच्छ्वास, दो विहायोगतियाँ, अपर्याप्ति, प्रत्येकशरीर, अस्थिर, शुभ, अशुभ, दुर्भग, दु स्वर, सुस्वर, अनादेय, अयश-कीर्ति, असातावेदनीय, नीचगोत्र एव निर्माण इन बहत्तर कर्मप्रकृतियोका अयोगी गुणस्थानके उपान्त्यमे क्षय किया। अपने शक्तिबलसे शुक्लध्यानके चतुर्थ भेद व्युपरतक्रियानिवर्तिका आलम्बनकर आदेय, मनुष्यगति, मनुष्य-गत्यानुपूर्व्य, पञ्चेन्द्रियजाति, मनुष्य-आयु, पर्याप्ति, त्रस, बादर, सुभग, यश-कीर्ति, सातावेदनीय, उच्चगोत्र एव तीर्थंकर नामकम इन तेरह प्रकृतियोका अन्त समयमे क्षपण किया।

महावीरने योगनिरोधार्थ षष्ठोपवास धारण किया और कायोत्सर्ग द्वारा कर्म-प्रकृतियोका विनाश किया।[1]

अन्य आगम-ग्रन्थोसे भी अवगत होता है कि तीर्थंकर महावीरने आयुके

स्थित्वा दिनद्वय वीतविहारो वृद्धनिर्जर ।
कृष्णकार्तिकपक्षस्य चतुर्दश्या निशात्यये ॥
स्वातियोगे तृतीयार्द्धे शुक्लध्यानपरायण ।
कृतत्रियोगसरोध समुच्छिन्नक्रिय श्रित ॥
हताघातिचतुष्क सन्नशरीरो गुणात्मक. ।
गन्ता मुनिसहस्रेण निर्वाण सर्ववाञ्छितम् ॥

—उत्तरपुराण, ज्ञानपीठ-सस्करण, ६७।५०९–५१२

१ एमि सम त्रिभुवनाधिपतिर्विहृत्य,
त्रिंशत्समा सकलसत्वहितोपदेशी।
पावापुरस्य कुसुमाचितपादपाना,
रम्य श्रियोपवनमाप ततो जिनेन्द्र ॥

दो दिन अवशिष्ट रहनेपर विहाररूप काययोग, धर्मोपदेशरूप वचनयोग एवं क्रियारूप मनोयोगका निरोधकर प्रतिमायोग धारण किया और पावापुरके बाहर अवस्थित सरोवरके मध्यमें कायोत्सर्ग ग्रहणकर अघातिया कर्मोकी पचासी कर्म-प्रकृतियोंका क्षय किया।[1] कार्तिक कृष्णा चतुर्दशीकी रात्रिके अन्तिम प्रहरमें स्वाति नक्षत्रके रहते हुए ई० पू० ५२७ में मोक्षपद प्राप्त किया।

श्वेताम्बर-ग्रन्थोंकी मान्यताके अनुसार तीर्थंकर महावीर पावा नगरीके राजा हस्तिपालके रज्जुक-सभा-भवनमें अमावस्याकी समस्त रात्रि धर्मदेशना करते हुए मोक्ष पधारे[2]।

अगणित देव-मानवों द्वारा निर्वाणकल्याणक-पूजन

कार्तिक कृष्णा चतुर्दशीकी पावन रात्रि अपना घूँघट उठाकर मानवताके उन्नायक तीर्थंकर महावीरका निर्वाणोत्सव मनानेके लिये सन्नद्ध थी। देव-मानवोंमें हर्षका सागर उमड़ पड़ा और सभी महावीरका निर्वाणोत्सव सम्पन्न करनेके लिये चल पड़े। पावापुरका कोना-कोना सज उठा। घर-घरमें मंगल-गान हुए। द्वार-द्वारपर मंगलदीप जलाये गये। जन-जनके हृदयसे आनन्दका स्रोत फूट पड़ा, उल्लासकी लहर दौड़ गयी और सभी निर्वाण-पूजनके लिये अर्चन-सामग्री लेकर प्रस्तुत हुए।

पौ फटने जा रही थी। चन्द्रमा स्वाति नक्षत्रके साथ विचरण कर रहा था और इन्द्रके जय-जयकारसे नभोमंडल ध्वनित था। यों तो महावीरके परि-निर्वाणसे शून्यता और स्तब्धता व्याप्त थी। पर मोक्ष-लक्ष्मीकी प्राप्तिके कारण देवगण उत्तमोत्तम सामग्री लेकर निर्वाण-कल्याणके अर्चन हेतु आ रहे थे।

कृत्वा योगनिरोधमुज्झितत्तम षष्ठेन तस्मिन्वने।
व्युत्सर्गेण निरस्य निर्मलरुचि कर्माण्यशेषाणि स ॥
स्थित्वेन्दावपि कार्तिकासितचतुर्दश्या निशान्ते स्थिते।
स्वातौ सन्मतिराससाद भगवान्सिद्धिं प्रसिद्धश्रियम् ॥

— असगकवि-विरचित वर्द्धमानचरित, सर्ग १८, पद्य ९७-९८

१. 'षष्ठेन निष्ठितकृतिर्जिनवर्धमान ।' टीका 'षष्ठेन दिनद्वयेन परिसंख्याते आयुषि सति निष्ठितकृति । निष्ठिता विनष्टा कृति द्रव्यमनोवाक्कायक्रिया यस्यासौ निष्ठित-कृति, जिनवर्धमान ।' पूज्यपादकृत सं० निर्वाण-भक्ति, श्लोक २६.

२. मुनिश्री कल्याणविजयगणि-लिखित श्रमण भगवान महावीर, पृ० २०६, २०७.

सुर-असुरोने मिलकर दीपपंक्तियाँ प्रज्वलित की, जिससे पावानगरीमें आलोक व्याप्त हो गया।[1] श्रेणिक आदि राजाओने प्रजाके साथ मिलकर निर्वाण-कल्याणकका महोत्सव सम्पन्न किया[2]। धरती-गगन सभी आलोकसे व्याप्त हो गये।

पावाकी शोभा निराली ही थी। नौ लिच्छवि, नौ मल्ल इस प्रकार अठारह काशी-कोशलके गणराजा तीर्थंकर महावीरके निर्वाणके समय उपस्थित थे। गाँव-नगर सर्वत्र दीपोकी जगमगाहट शोभित थी। उत्सवने प्रकाशपर्वका रूप ले लिया था और काली रात्रि पूर्णिमाके रूपमे परिवर्तित हो गयी थी। आध्यात्मिक आभा सर्वत्र छायी हुई थी। यह लोकविभूतिका ऐसा महान् पर्व था, जिसमे प्रकाशकी राशि दिखलाई पड रही थी। वैशालीके प्रागणमे क्रीडा करने वाले, माता त्रिशलाकी ममताको उभाडनेवाले तीर्थंकर महावीर आज प्रणम्योके भी प्रणम्य वन गये थे। वैषम्यको समतामे, विरोधको समन्वयमे और तमको प्रकाशमे परिवर्तित कर महावीरने सत्य-अहिसाकी एक नयी लिपि प्रदान की।

निर्वाण-तिथि

तीर्थंकर महावीरका निर्वाण मगलवार १५ अक्टूबर ई० पू० ५२७ या विक्रम-पूर्व ४७० तथा शक-पूर्व ६०५ प्रात काल सूर्योदयके पूर्व हुआ। इस तिथिकी प्रामाणिकताके सम्बन्धमे यह कहा जा सकता है कि इतिहासके क्षेत्रमे सम्राट् चन्द्रगुप्तका राज्यारोहण ई० पू० ३२२ माना जाता है[3] और इसी तिथिके आधारपर चन्द्रगुप्त मौर्यसे पूर्व एव उत्तरकालीन तिथियोकी प्रामाणिकताकी परीक्षा की जाती है। जैनपरम्परा अवन्तीमे चन्द्रगुप्तका राज्यारोहण महावीर-

१ ज्वलत्प्रदीपालिकया प्रवृद्धया सुरासुरै दीपितया प्रदीप्तया।
तदा स्म पावानगरी समन्तत प्रदीपिताकाशतला प्रकाशते ॥

हरिवशपुराण, ६६।१९

पावापुरस्य वहिरुन्नतभूमिदेशे पद्मोत्पलाकुलवता सरसा हि मध्ये।
श्रीवर्धमानजिनदेव इति प्रतीतो निर्वाणमाप भगवान् प्रविधूतपाप्मा ॥

स० निर्वाणभक्ति, श्लो० २४.

२ तथैव च श्रेणिकपूर्वभूभुज प्रकृत्य कल्याणमह सहप्रजा।
प्रजग्मुरिन्द्राश्च सुरैर्यथायथ प्रयाचमाना जिनवोधिमर्थिन ॥

हरिवशपुराण, ६६।२०.

३ Dr Radha Kumud Mukherjee, Chandragupta Maurya and his time, F 44–46. तथा श्रीनेत्रपाण्डेय, भारतका वृहत् इतिहास, प्रथम भाग, प्राचीन भारत, चतुर्थ सस्करण, पृ० २४२.

निर्वाणके २१५ वर्ष पश्चात् मानती है[1]। यह ऐतिहासिक तथ्य है कि चन्द्रगुप्त मौर्यने पाटलिपुत्र(मगध)-राज्यारोहणके १० वर्ष पश्चात् अवन्तीमे अपना राज्य स्थापित किया था। इस प्रकार इतिहास और जैन परम्पराके समन्वित आलोकमे महावीरका निर्वाण ई० पू० ३१२ + २१५ = ई० पू० ५२७ सिद्ध होता है।[2]

परम्पराके आधारपर निर्वाण-समयका समर्थन विक्रम, शक, गुप्त आदि सवत्सरोसे भी होता है। जैन ग्रन्थोमे बताया गया है कि महावीरके निर्वाण-कालसे ४७० वर्ष बाद विक्रम-सवत्का प्रचलन हुआ। इतिहासकी यह सर्वसम्मत धारणा है कि विक्रम-सवत्का प्रवर्तन ई० पू० ५७ से हुआ है। इस प्रकार महावीरका निर्वाण-सवत् ४७० + ५७ = ई० पू० ५२७ आता है।

प्रसिद्ध इतिहासकार डॉ० आर० सी० मजुमदार, डॉ० एच० सी० राय चौधरी और डॉ० के०के० दत्त द्वारा लिखित "एन एडवांस हिस्ट्री ऑव इण्डिया"-मे महावीरकी निर्वाण-तिथि ई० पू० ५२८ मानी गयी है। यद्यपि इन विद्वानोने इस तिथिको भी निर्विवाद नही बताया है और इसकी असंगतियोकी ओर इगित करते हुए हेमचन्द्रके उल्लेखोके साथ विरोध बतलाया है। हेमचन्द्रने चन्द्रगुप्त मौर्यके १५५ वर्ष पूर्व महावीरका निर्वाण बताया है, २१५ वर्ष पूर्व नही। इन सब विसगतियोके रहनेपर भी उक्त विद्वान् तीर्थंकर महावीरकी निर्वाणतिथि १५ अक्टूबर ई० पू० ५२७ ही मानते हैं।[3] इस तिथिका समर्थन इतिहास और परम्परा इन दोनो ही तथ्योसे होता है।

१. मुनिश्री नगराजजी : आगम और त्रिपिटक : एक अनुशीलन, पृ० ८८

२ The date 313 B C. for Chandragupta's accession, if it is based on correct tradition, May refer to his acquisition of Avanti in Malwa, as the Chronological datum is found in verse where the Maurya king finds mention in the list of succession of Palak, the king of Avanti

H C Ray Choudhuri Political History of Ancient India P. 295.

The jain date 313 B C if based on correct tradition, may refer to acquisition of Avanti (Malwa).

An Advanced History of India, P. 99

३. एन एडवान्स हिस्ट्री ऑव इण्डिया ऐंसिएन्ट इण्डिया खण्ड.

'तित्थोगालीयपयन्ना'[1] मे बताया गया है कि जिस रात्रिमे अर्हन् महावीर तीर्थंकरका निर्वाण हुआ, उसी रातमे अवन्तिमे पालकका राज्याभिषेक हुआ।

अत ६० वर्ष पालकके, १५० नन्दोके, १६० मौर्योंके, ३५ पुष्यमित्रके, ६० वल-मित्र-भानुमित्रके, ४० नभसेनके और १०० वर्ष गर्दभिल्लोके व्यतीत होनेपर शक राजाका शासन हुआ।

उपर्युक्त तथ्योकी पुष्टि 'तिलोयपण्णत्ती[2]', 'तिलोयसार[3]', 'धवलाटीका[4]' और 'हरिवंशपुराण'से[5] भी होती है। इन ग्रन्थोमे बताया गया है कि निर्वाणके ६०५ वर्ष ५ माह बीतनेपर शक राजा हुआ। इस आधारपर भी महावीर-निर्वाण ६०५ वर्ष, ५ माह–७८ वर्ष = ५२७ ई० पू० है। शक-सवत् और ईस्वी-सवत्मे ७८ वर्षका अन्तर है।

तपागच्छ-पट्टावलिमे[6] लिखा है ६० वर्ष पालक राजा, १५५ वर्ष नवनन्द,

---

१ ज रयणि सिद्धिगओ, अरहा तित्थकरो महावीरो।
त रयणिमवतीए, अभिसित्तो पालओ राया॥
पालगरण्णो सट्ठी, पुण पण्णसय वियाणि णदाण।
मुरियाण सट्ठिसय, पणतीसा पूसमित्ताण (त्तस्स)॥
वलमित्त-भाणुमित्ता, सट्ठा चत्ता य होंति नहसेणो।
गद्दभसयमेगं पुण, पडिवन्नो तो सगो राया॥
पच य मासा पच य, वासा छच्चेव होंति वाससया।
परिनिव्वुअस्सऽरिहतो तो उप्पन्नो (पडिवन्नो) सगो राया॥
तित्थोगालीयपयन्ना ६२०–६२३ गाथा तथा हरिवशपुराण ६०।४८७–४९०.

२. णिव्वाणे वीरजिणे छव्वास सदेसु पचवरिसेसु।
पणमासेसु गदेसु सजादो सगणिओ अहवा॥
तिलोयपण्णत्ती, भाग १, पृ० ३४१

३. पणछस्सयवस्स पणमासजुद गमिय वीरणिव्वुइदो।
सगराजो तो कक्की चदुणवतियमहिय सगमास॥ तिलोयसार, गाथा ८५०.

४. पच य मासा पच य वासा छच्चेव होंति वाससया।
सगकालेण य सहिया थावेयव्वो तदो रासी॥
धवलाटीका, जैनसिद्धान्त भवन आरा, पत्र ५३७.

५. वर्षाणा षट्शती त्यक्त्वा पञ्चाग्र मासपञ्चकम्।
मुक्ति गते महावीरे शकराजस्ततोऽभवत्॥
हरिवशपुराण, ज्ञानपीठ-सस्करण ६०।५५१.

६ ज रयणि कालगओ, अरिहा तित्थकरो महावीरो।
त रयणि अवणिवई, अहिसित्तो पालओ राजा॥

१०८ वर्ष मौर्यवंश, ३० वर्ष पुष्यमित्र, ६० वर्ष बलमित्र-भानुमित्र, ४० वर्ष नहपान, १३ वर्ष गर्दभिल्ल और ४ वर्ष शक-काल है। अतएव ६० + १५५ + १०८ + ३० + ६० + ४० + १३ + ४ = ४७० वर्ष—महावीर निर्वाण ४७० विक्रमादित्यका राज्यप्राप्तिकाल हुआ। इस आधारपर पूर्ववत् ४७० + ५७ = ५२७ ई० पू० महावीरका निर्वाण-काल आता है।

डॉ० वासुदेव उपाध्यायने 'गुप्तसाम्राज्यका इतिहास' ग्रन्थमे गुप्त-संवत्पर विचार करते समय जैन ग्रन्थोका आधार स्वीकार किया है। उन्होने लिखा है[1] "अलबेरुनीसे पूर्व शताब्दियोमे कुछ जैन ग्रन्थकारोंके आधारपर यह ज्ञात होता है कि गुप्त तथा शककालमे २४१ वर्षका अन्तर है। प्रथम लेखक जिन-सेन, जो ८ वी शताब्दीमे वर्त्तमान थे, उन्होने वर्णन किया है[2] कि भगवान् महावीरके निर्वाणके ६०५ वर्ष ५ माहके पश्चात् शक राजाका जन्म हुआ तथा शकके अनुसार गुप्तके २२१ वर्ष शासनके बाद कल्किराजका जन्म हुआ। द्वितीय ग्रन्थकार गुणभद्रने (८८९ ई०) उत्तरपुराणमे[3] लिखा है कि महावीर निर्वाणके १००० वर्ष बाद कल्किराजका जन्म हुआ। जिनसेन तथा गुणभद्रके कथनका समर्थन आचार्य नेमिचन्द्रके वचनोसे भी होता है।"

"नेमिचन्द्र त्रिलोकसारमे लिखते हैं 'शकराजमहावीर-निर्वाणके ६०५ वर्ष ५ मासके बाद तथा शककालके ३९४ वर्ष ७ माहके पश्चात् कल्किराज पैदा हुआ। इनके योगसे (६०५ वर्ष ५ माह + ३९४ वर्ष ७ माह =)१००० वर्ष होते हैं।'

सट्ठी पालयरण्णो पणवण्णसयं तु होइ नंदाण।
अट्ठसयं मुरियाणं तीसं च्चिअ पूसमित्तस्स॥
बलमित्त-भाणुमित्त सट्ठी वरिसाणि चत्त नहवाणे।
तह गद्दभिल्लरज्जं तेरस वरिस सगस्स चउ (वरिसा)॥

—तपागच्छ-पट्टावलि, पन्यास कल्याणविजय, पृ० ५०–५२.

1 गुप्तसाम्राज्यका इतिहास, भाग १, पृ० १८२, १८३

2 वीरनिर्वाणकाले च पालकोऽत्राभिषिच्यते।
लोकेऽवन्तिसुतो राजा प्रजाना प्रतिपालकः॥
भद्रवाणस्य तद्राज्यं गुप्ताना च शतद्वयम्।
एकविंशश्च वर्षाणि कालविद्भिरुदाहृतम्॥
द्विचत्वारिंशदेवात कल्किराजस्य राजता।
ततोऽजितञ्जयो राजा स्यादिन्द्रपुरसंस्थितः॥

हरिवंशपुराण, ज्ञानपीठ-संस्करण ६०।४८७, ४९१, ४९२

3 उत्तरपुराण, ज्ञानपीठ-संस्करण ७६।४२८–४३१

इन तीनो जैन ग्रन्थकारोके कथनानुसार शकराज तथा कल्किराजका जन्म निश्चित हो जाता है।"

विद्वान् लेखक डॉ० उपाध्यायने शक-सवत्-सम्बन्धी जैन धारणाओके आधारपर शक और गुप्त सवत्का सम्बन्ध व्यक्त करते हुए लिखा है "इस समयसे यह ज्ञात होता है कि गुप्तसवत्की तिथि २४१ जोडनेसे शक-कालमे परिवर्त्तन हो जाता है। इस विस्तृत विवेचनके कारण अलबेरुनीके कथनकी सार्थकता ज्ञात हो जाती है। यह निश्चित हो गया कि शक-कालके २४१ वर्ष पश्चात् गुप्त-सवत्का आरम्भ हुआ।"[1]

पूर्वोक्त अध्ययनसे यह निष्कर्ष निकलता है कि शकसवत्, गुप्तसवत्, विक्रम-सवत् आदिकी मीमासा महावीर-निर्वाण सवत्से की गयी है। अत

गुप्त-सवत्का प्रारम्भ	ई० सन् ३१९
महावीर-निर्वाण	गुप्त-सवत् पूर्व ८४६

अतएव ८४६ − ३१९ = ५२७ ई० पू० महावीर-निर्वाणकाल आता है।

सक्षेपमे तीर्थंकर महावीरको निर्वाण-तिथि कार्त्तिक कृष्णा चतुर्दशी रात्रिका अन्तिम प्रहर, स्वातिनक्षत्र, मगलवार, १५ अक्टूबर ई० पू० ५२७ है। इसी दिनसे यह तिथि 'दीपावलि' के रूपमे प्रचलित हो गयी।

निर्वाणस्थल

तीर्थंकर महावीरका निर्वाण मध्यमा पावा अथवा पावापुरीमे हुआ। इस पावापुरीकी स्थिति कहाँपर है, यह एक विचारणीय प्रश्न है। वर्त्तमानमे अनुसधानके नामपर कुछ व्यक्ति नये-नये स्थानोपर पुराने क्षेत्रोकी कल्पना कर प्रसिद्धि प्राप्त करनेके प्रयासमे हैं। तथ्य कहाँ तक इतिहाससे सम्मत है, यह शोधका विषय है। जैन-साहित्यके प्राचीन और अर्वाचीन सभी ग्रन्थोमे महावीरका निर्वाण-स्थान पावापुरीमे बताया गया है। कल्पसूत्रमे तीर्थंकर महावीरके निर्वाण-सम्बन्धी सन्दर्भ निम्नप्रकार उपलब्ध है

'तत्थ ण जे से पावाए मज्झिमाए हत्थिवालस्स रन्नो रज्जुगसभाए अपच्छिम अतरावास उवागए तस्स ण अतरावासस्स जे से वासाण चउत्थे मासे सत्तमे पक्खे कत्तियबहुले तस्स ण कत्तियबहुलस्स पन्नरसी पक्खेण जा सा चारिमारयणि त रयणि च ण समणे भगव महावीरे कालगये विइक्कते समुज्जाए छिन्नजाइजरामरणबधणसिद्धे बुद्धे मुत्ते अतगडे परिनिव्वुडे सव्वदुक्खपहीणे चदे नाम से दिवसे उवसमि त्ति पवुच्चइ देवाणदा नाम सा रयणी निरइ त्ति पवुच्चइ अच्चेलवे मुहुत्ते पाणू थोवे सिद्धे नागे करणे सव्वट्ठ-

१ गुप्तसाम्राज्यका इतिहास, भाग १, पृ० १८१

सिद्धे मुहुत्ते साइणा णक्खत्तेण जोगमुवागएणं कालगए विइक्कंते जाव सव्वदु-क्खप्पहीणे"[1]

अर्थात् महावीर अन्तिम वर्षावास करनेके हेतु मध्यमा पावाके राजा हस्तिपालके रज्जुकसभा धर्मगृहमे ठहरे हुए थे। चातुर्मासका चतुर्थ मास और वर्षाऋतुका सप्तम पक्ष चल रहा था। अर्थात् कार्तिक कृष्ण अमावस्याकी तिथि थी। रात्रिका अन्तिम प्रहर था। श्रमण भगवान् महावीर कालधर्मको प्राप्त हुए संसारको त्याग कर चले गये। जन्म-ग्रहणकी परम्पराका उच्छेदकर चले गये। इनके जन्म, जरा और मरणके सभी बन्धन नष्ट हो गये। भगवान् सिद्ध, बुद्ध, मुक्त हो गये। सब दुखोका अन्तकर परिनिर्वाणको प्राप्त हुए।

तीर्थंकर महावीरके निर्वाणस्थलके सम्बन्धमे दिगम्बर-ग्रन्थोसे भी प्रकाश प्राप्त होता है। बताया है

पावाए मज्झिमाए हत्थवालिसहाए णमसामि।

- प्राकृतप्रतिक्रमण, पृ० ४६.

अर्थात् मध्यमा पावामे हस्तिपालकी सभामे स्थित महावीरको नमस्कार करता हूँ।

आशाधरजीने अपने क्रियाकलापमे लिखा है

पावाया मध्यमाया हस्तिपालिकामण्डपे नमस्यामि।

संस्कृत-क्रियाकलाप, पृ० ५६

अतएव यह स्पष्ट है कि तीर्थंकर महावीरका निर्वाण मध्यमा पावामे राजा हस्तिपालको रज्जुक-शालामे हुआ था। अभिलेखोसे ज्ञात होता है कि यह रज्जुक-शाला धर्मायतनके रूपमे होती थी। यहाँपर धर्मोपदेश अथवा प्रवचन होनेके लिए पर्याप्त स्थान रहता था। सहस्रो व्यक्ति इस स्थानपर बैठ सकते थे। रज्जुकशालामे चौरस मैदानके साथ एक किनारे भवन स्थित रहता था। अत. दिगम्बर-परम्पराके उल्लेखानुसार भी महावीरका निर्वाण-स्थल मध्यमा पावा है। यह हस्तिपाल राजा कोई बडा राजा नही था, सामन्त या जमीदार जैसा था। यत उस युगमे नगराधिपति भी राजा द्वारा उल्लिखित किया जाता था। अतएव यह आशका सभव नही है कि मगध नृपति श्रेणिकके रहते हुए निकटमे ही हस्तिपाल राजाका अस्तित्व किस प्रकार सभव है? महावीरके समयमे प्राय प्रत्येक बडे नगरका अधिपति राजा कहा जाता था।

१. कल्पसूत्र, सूत्र १२३, पृ० १९८. श्रीअमर जैन आगम शोध संस्थान, शिवाना (राजस्थान)

इस आलोकसे ध्वनित होता है कि पावापुरका हस्तिपाल राजा था और उनकी रज्जुकशालामे महावीरका अन्तिम समवशरण हुआ था ।

महावीर जिस समय कालधर्मको प्राप्त हुए, उस समय चन्द्र नामक द्वितीय संवत्सर चल रहा था, प्रीतिवर्द्धन मास, नन्दिवर्द्धन पक्ष, अग्निवेश दिवस, देवानन्दा नामक रात्रि, अर्थ नामक क्षण, सिद्ध नामक स्तोक, नाग नामक करण, सर्वार्थसिद्धि मुहूर्त्त एवं स्वाति नक्षत्रका योग था । ऐसे समयमें तीर्थंकर महावीर निर्वाणको प्राप्त हुए ।

महावीरके निर्वाणके समय सुर-असुरके साथ अनेक राजा भी उपस्थित थे। बताया है

'जं रयणिं च णं समणे भगवं महावीरे कालगए जाव सव्वदुक्खप्पहीणो सा णं रयणी बहूहिं देवेहिं य देवीहिं य ओवयमाणेण य उप्पयमाणेहिं य उज्जोविया यावि होत्था ॥१२४॥'

'जं रयणिं च णं समणे जाव सव्वदुक्खप्पहीणे तं रयणिं च णं नव मल्लइ नव लिच्छई कासीकोसलगा अट्ठारस वि गणरायाणो अमावसाए पाराभोयं पोसहोववासं पट्ठवइंसु, गते से भावुज्जोए दव्वुज्जोवं करिस्सामो ॥१२७॥'[1]

अर्थात्, जिस रात्रिमे श्रमण भगवान् महावीर कालधर्मको प्रप्त हुए, सम्पूर्ण दुःखसे छुटकारा प्राप्त किया, उस रात्रिमे बहुतसे देव और देवियाँ नीचे आ जा रही थी, जिससे वह रात्रि उद्योतमयी हो गयी थी ॥१२४॥

जिस रात्रिमे श्रमण भगवान् महावीर कालधर्मको प्राप्त हुए, सम्पूर्ण दुःखोसे मुक्त हुए, उस रात्रिमे नौ मल्ल-संघके, नौ लिच्छवी-संघके अर्थात् काशी-कोशलके अठारह गणराजा अमावस्याके दिन आठ प्रहरका प्रोषधोपवास कर वहाँ स्थित थे । उन्होने यह विचार किया कि भावोद्योत ज्ञानरूपी प्रकाश चला गया है । अतः अब हम द्रव्योद्योत दीपावलि प्रज्वलित करेगे।

कल्पसूत्रके उपर्युक्त उद्धरणोसे निम्नलिखित निष्कर्ष प्रस्तुत होते हैं.

(१) तीर्थंकर महावीरका निर्वाण, राजा हस्तिपालकी नगरी पावापुरीमे हुआ ।

(२) निर्वाणके समय नौ मल्लगण, नौ लिच्छवीगण इस प्रकार काशी-कोशलके अट्ठारह गणराजा विद्यमान थे ।

(३) अन्धकारके कारण दीपावलि प्रज्वलित की ।

१ कल्पसूत्र, सूत्र १२४ और १२७. (श्रीअमर आगम शोध संस्थान, शिवाना, राजस्थान)

(४) यह पावा मध्यमा पावा कहलाती थी।

प्राचीन भारतमे पावा नामकी तीन नगरियाँ थी। जैन सूत्रोंके अनुसार एक पावा भंगदेशकी राजधानी थी। यह देश पारसनाथ पर्वतके आस-पासके भूमि भागमे अवस्थित था। वर्तमान हजारीबाग और मानभूमिके जिले इसीमे शामिल है। जैन आगम-ग्रन्थोंमे भंगि जनपदकी गणना साढे पच्चीस आर्य देशोमे की गयी है।

बौद्ध साहित्यमे इसे मलय देशकी राजधानी बताया है। मल्ल और मलयको एक मान लेनेसे ही पावाकी गणना भ्रातिवश मलय देशमे की गयी है।

दूसरी पावा कोशलसे उत्तर-पूर्वमे कुशीनाराकी ओर मल्ल राज्यकी राजधानी था। मल्ल जातिके राज्यकी दो राजधानियाँ थी एक कुशीनारा और दूसरी पावा। सठिआँव फाजिलनगरवाली पावा सम्भवत यही है।

तीसरी पावा मगधमे थी। यह उक्त दोनो पावाओंके मध्यमे थी। पहली पावा इसके आग्नेय कोणमे और दूसरी इसके वायव्य कोणमे लगभग सम अन्तरपर थी। इसी कारण यह पावा मध्यमाके नामसे प्रसिद्ध थी।

इस पावाका सम्बध राजा हस्तिपालकी सभासे भी है। पावामे जैन सूत्रोंके अनुसार महावीरका दो बार अवश्य आगमन हुआ था। उनकी दो महत्वपूर्ण घटनाएँ इस नगरीके साथ सम्बद्ध हैं। प्रथम बार केवलज्ञानकी प्राप्तिके अनन्तर अगले हो दिन यहाँ पधारे। देवोने समवशरणकी रचना की, पर विरति-रूप सयमका लाभ किसीको नही हो सका। बात यह है कि उन दिनो मध्यम पावामे, जो जृम्भक ग्रामसे लगभग बारह योजन दूर थी, आर्य सोमिल बड़ा भारी यज्ञ कर रहा था। इस यज्ञमे देश-देशान्तरके अनेक विद्वान् सम्मिलित हुए थे। महावीरने जाना यज्ञमे आये हुए विद्वान् पण्डित यदि सम्बोधित हो जायँ, तो वे धर्मके आधार-स्तम्भ बन जा सकते है। अत मध्यमा पावाके महासेन उद्यानमे वैशाख शुक्ला एकादशीके दिन उनका दूसरा समवशरण लगा। उनका उपदेश एक प्रहर तक हुआ। उपदेशकी चर्चा समस्त नगरमे व्याप्त हो गयी। आर्य सोमिलके यज्ञमे सम्मिलित हुए इन्द्रभूति आदि ग्यारह विद्वान् ज्ञानमदसे उन्मत्त हो अपने विद्वान् शिष्योंके साथ महावीरसे शास्त्रार्थ करने पहुँचे। इनका उद्देश्य महावीरसे विवाद करके उन्हे पराजितकर अपनी प्रतिष्ठा बढाना था, पर वहाँ पहुँचते ही उनका ज्ञानमद विगलित हो गया और उन्होने श्रमण-दीक्षा स्वीकार की। इसी दिन महावीरने मध्यमा पावाके महासेन उद्यानमे चतुर्विध सघकी स्थापना की।

द्वितीय घटना महावीरके निर्वाणकी है। महावीर चम्पासे विहारकर मध्यमा पावा या अपापा पधारे। इस वर्षका वर्षावास हस्तिपालकी रज्जुक-सभामे ग्रहण किया। चातुर्मासमे दर्शनोके लिए आये हुए, राजा पुण्यपालने भगवान्से दीक्षा ली। कार्तिक अमावस्याके प्रात काल अपने जीवनकी समाप्ति निकट समझकर अन्तिम उपदेशकी अखण्ड धारा चालू रखी। जो अमावस्या-की पिछली रात तक चलती रही। गौतम गणधर उस समय महावीरकी आज्ञा-से निकटवर्ती ग्राममे देवशर्मा ब्राह्मणको उपदेश करनेके लिए गये हुए थे। जब वे लौटकर आये, तो उन्हे देवताओसे ज्ञात हुआ कि भगवान् कालगत हो गये। इन्द्रभूति गौतमको तत्क्षण केवलज्ञान प्राप्त हो गया।

श्वेताम्बर वाड्मयके आधारपर प्रस्तुत किये गये उपर्युक्त विवेचनसे मध्यमा पावाकी भौगोलिक स्थिति स्पष्ट हो जाती है। पहली घटना चतुर्विध सघ-स्थापनकी है। मध्यमा पावा और जृम्भक ग्राममे इतना अन्तर होना चाहिए, जिससे एक दिन-रातमे जृम्भक ग्रामसे मध्यमा पावा पहुँचा जा सके। यह अतर अधिक-से-अधिक बारह योजन दूरीका हो सकता है। हम पूर्वमे तीर्थंकर महावीरके केवलज्ञान-स्थान जम्भिय ग्रामकी अवस्थितिका निर्देश कर चुके है। यह ऋजुकूला नदीके तटपर स्थित जमुई गाँव है, जो वर्तमान मुगेरसे पचास मील दक्षिणकी दूरीपर स्थित है। यहाँसे राजगृहकी दूरी तीस मील या पद्रह कोस है। पावापुर और राजगृहकी दूरी भी अधिक-से-अधिक पच्चीस मील है। इस प्रकार जमुईसे पावापुरकी दूरी दस योजनसे अधिक नही है। यदि सठि-आँव वाली पावाको मध्यमा पावा माना जाय, तो जम्भिय गाँवसे यह पावा कम-से-कम सौ-डेढसौ मीलकी दूरीपर स्थित है। इतनी दूरीको वैशाखशुक्ला दशमीके अपराह्न कालसे वैशाख शुक्ला एकादशीके पूर्वाह्न काल तक तय करना सम्भव नही है।

दूसरी विचारणीय बात यह है कि श्वे० सूत्र-ग्रन्थोमे बताया गया है कि तीर्थंकर महावीर चम्पा नगरीमे चातुर्मास पूर्णकर जम्भीय गाँवमे पहुँचे। वहाँसे मेढीय होते हुए छम्माणि गये। यहाँ एक ग्वालेने महावीरके कानोमे काठके कीले ठोककर उपसर्ग दिया था। छम्माणिसे महावीर मध्यमा पावा आये। महावीर-के इस विहार-क्रमका भौगोलिक अध्ययन करनेसे दो तथ्य प्रसूत होते है

(१) छम्माणि ग्रामकी स्थिति चम्पा और मध्यमा पावाके मध्य मार्गपर स्थित है। मेढीय ग्रामकी दो स्थितियाँ मानी जाती हैं। एक स्थिति तो राजगृह और चम्पाके मध्यकी और दूसरी श्रावस्ती और कौशाम्बीके मध्यकी है। यदि महावीरने चम्पासे चलकर श्रावस्ती और कौशाम्बीके मध्यवाले मेढीय ग्राममे धर्मसभा की हो, तो कोई आश्चर्य नही है। कहा जाता है कि गोशा-

लककी तेजोलेश्याके प्रयोगके पश्चात् महावीर श्रावस्ती और कौशाम्बीके मध्यवर्ती मेढिय ग्रामके शालि-कोष्ठक चैत्यमे पधारे थे। महावीरके विहार-वर्णनमे आता है कि मध्यमा पावासे वे जम्भिय गाँव गये और वहाँ उन्हे केवलज्ञान हुआ और वहाँसे राजगृह आये।

(२) विहार-वर्णनसे पावाकी स्थिति चम्पा और राजगृहके मध्यमे होनी चाहिए। अतः चम्पासे मध्यमा पावा होते हुए राजगृह गये और वहाँसे वैशाली। अतएव तीर्थंकर महावीरकी निर्वाणस्थली पावा चम्पा और राजगृहके मध्यमे होनी चाहिये।

कल्पसूत्रमे आया है कि तीर्थंकर महावीरके निर्वाणोत्सवमे नव मल्ल और नव लिच्छिवियोने भाग लिया। और अठारह गणराजा काशी-कोशलवर्गके थे। नवमल्ल, नवलिच्छिवि और अठारह काशी-कोशलके गणराजा इस प्रकार कुछ विद्वानोने समस्त गणराजाओकी सख्या छत्तीस निश्चित की है। पर जैन सूत्रोके टीका-ग्रन्थोके अध्ययनसे उक्त अर्थ भ्रान्त सिद्ध हो जाता है। महावीरके निर्वाणोत्सवमे सम्मिलित होनेवाले कुल अठारह ही गणराजा थे, जो वैशालीके अधीन थे। कल्पसूत्रकी सदेह-विषौषधि टीकामे लिखा है

> 'नवमल्लई' इत्यादि काशीदेशस्य राजानो मल्लकी जातीया नव कोशलदेशस्य राजानो लेच्छकी जातीया नव ' अर्थात् नवमल्ल काशी देशके राजाओकी जाति थी और नवलिच्छिवि कोशल देशके राजाओकी जाति थी।

भगवती-सूत्र (सात ऊ० ९, सूत्र २९९, पत्र ५७६)मे युद्धका प्रसग आया है। इस प्रसगको यहाँ अभयदेवसूरिकी टीकाके साथ प्रस्तुत किया जा रहा है

> "नवमल्लई नवलेच्छई कासी-कोसलगा अट्ठारस वि गणरायाणो।"

> 'नव मल्लई त्ति मल्लकिनामानो राजविशेषा, 'नव लेच्छइ' त्ति लेच्छकीनामानो राजविशेषा एवं 'कासीकोसलग' त्ति काशी-वाराणसी तज्जनपदोऽपि काशी तत्सम्बन्धिन आद्या नव, कोशला अयोध्या तज्जनपदोऽपि कोशला तत्सम्बन्धिन नव द्वितीया। 'गणरायाणो' त्ति समुत्पन्ने प्रयोजने ये गण कुर्वन्ति ते गणप्रधाना राजानो गणराजा इत्यर्थ, ते च तदानी चेटकराजस्य वैशालीनगरीनायकस्य साहाय्याय गण कृतवत इति ' पत्र ५७९-५८०.

अर्थात् नवमल्ल मल्लकी नामक राजाविशेष और नवलिच्छिवि लेच्छकी नामक राजाविशेष ये अठारह काशी-कोशलके गणराजा कहलाते थे। इनमे प्रथम नौ कोशल अर्थात् अयोध्या जनपदसे सम्बन्धित थे और द्वितीय नौ मल्ल

ये काशीसे सम्बद्ध थे। अठारह गणराजा वैशालीके नायक चेटककी सहायता करते थे।

उपर्युक्त टीकासे यह स्पष्ट है कि वैशालीके अधीन अठारह गणराजा थे। इनमे ही काशी-कोशलकी भी गणना सम्मिलित थी। हमारे इस कथनकी पुष्टि निरयावलिकाके एक अन्य सन्दर्भसे भी होती है। इस सन्दर्भमे बताया गया है कि जब चेटक युद्ध करनेके लिये चला तो अठारह गणराजा भी अपनी सेनाओके साथ चले। सन्दर्भ निम्न प्रकार है

'तते ण ते चेडए राया तिहि दति सहस्सेहिं जहा कूणिए जाव वेसालि नगरि मज्झमज्झेण निग्गच्छति निग्गच्छित्ता जेण•वे नवमल्लई नवलेच्छई काशीकोसलगा अट्ठारस वि गणरायाणो तेणवे उवागच्छति ...

तते ण चेडए राया सत्तावन्नाए दतिसहस्सेहिं सत्तावन्नाए आसस-हस्सेहि सत्तावन्नाए रहसहस्सेहिं सत्तावन्नाए मणुस्स कोडीएहि [1]'

चेटकके अठारह गणराजा थे, यह बात आवश्यकचूर्णिसे भी सिद्ध होती है। बताया है

'चेडएणवि गणरायाणो मेलिता देसप्पते ठिता, तेसिपि अट्ठारसण्ह रायीण सम चेडएण तओ हत्थिसहस्सा रहसहस्सा मणुस्स कोडीओ तहा चेव, नवरि सखेवो सत्तावण्णो सत्तावण्णो[2]'

विचार-रत्नाकरमे आया है, **'चेटकेनाऽप्यष्टादशगणराजानो मेलिता'**, स्पष्ट है कि नौ मल्ल और नौ लिच्छिवि ये अठारह गणराजा ही काशी-कोशल वशज कहलाते थे। जेकोबीका मत है कि उक्त नव जन लिच्छिवि क्षत्रिय काश्यप गोत्रीय महावीरके मातुल वैशाली-राज चेटकके सामन्त थे।[3]

जैन ग्रन्थोंके प्रमाणोसे यह सिद्ध है कि लिच्छिवि क्षत्रिय थे और वे अयोध्यासे वैशाली आये थे। भगवान् महावीरका गोत्र काश्यप था और काश्यप गोत्र तीर्थंकर ऋषभदेवसे प्रारम्भ हुआ। इसी प्रकार मल्लोका सम्बन्ध काशीके साथ है।

इन गणराजाओके वर्णनसे पावापुरीकी वास्तविक स्थितिके सम्बन्धमे निम्नलिखित निष्कर्ष प्राप्त होते हैं

१ महावीरके निर्वाणमे नौ मल्ल और नौ लिच्छिवि ये अठारह गणराजा

१. श्रीविजेन्द्र सूरि, तीर्थंकर महावीर, भाग २, पृ० ३१६ पर उद्धृत
२ आवश्यकचूर्णि, उत्तरार्द्ध, पत्र १७३
३ उपेन्द्र महारथी, वैशालीके लिच्छिवि, पृ० ४ पर उद्धृत

वैशालीसे पावापुरमे सम्मिलित हुए होगे। यदि सठियाँव वाली पावामे सम्मिलित होते तो दूरी इतनी अधिक हो जाती कि उनका निर्वाणोत्सवमे सम्मिलित होना असम्भव था।

२ हस्तिपाल पावापुरका शासक था और यह राजा सिहका पुत्र था। यदि इसे हम मल्ल गणके अन्तर्गत मान ले तो भी अनुचित नही है। यत. चेटककी सहायता नवमल्लोने की थी और यह भी उसी मल्लगणके अन्तर्गत था।

३. बुद्धने जिस पावामे भोजन ग्रहण किया था और जो कुशीनगरके पास सठियाँवके रूपमे मान्य है, उसका नृपति हस्तिमल्ल नही है। हस्तिमल्लका किसी भी बौद्ध ग्रन्थमे उल्लेख नही आता। जैन ग्रन्थोमे हस्तिमल्ल महावीरके प्रथम समवशरणमे भी उपस्थित होता है, जिसका सयोजन पावापुरी (नालन्दाके निकटवर्ती) मे हुआ था। निर्वाण-लाभ करनेके समय महावीरने अपना अन्तिम चातुर्मास इसी पावामे हस्तिमल्लके रज्जुगगृहमे किया था। अतः जैन साहित्यके प्रचुर प्रमाणोके आधारपर वर्त्तमान पावापुरी ही तीर्थंकर महावीरकी निर्वाणभूमि है।

जो यह प्रश्न उठाया जाता है कि मगधवासी होनेपर भी अजातशत्रु मगध जनपदमे स्थित मध्यम पावामे महावीरके निर्वाणोत्सवमे क्यो सम्मिलित नही हुआ ? इसका समाधान सीधा और स्पष्ट है। तीर्थंकर महावीरके निर्वाणोत्सवके अवसरपर श्रेणिक जीवित था। अतएव उसीने मगधका प्रतिनिधित्व किया। हरिवशपुराणमे[1] स्पष्ट उल्लेख है कि श्रेणिक इस उत्सवमे सम्मिलित हुआ। इस पुराणकी रचना शक-संवत् ७०५ वि० स० ८४० ई० सन् ७८३मे हुई है। हरिषेणरचित वृहत्कथाकोशसे भी उक्त तथ्य पुष्ट होता है। इस ग्रन्थमे आयी हुई श्रेणिक-कथामे बताया गया है कि श्रेणिककी मृत्यु महावीरके निर्वाणके पश्चात् हुई। श्रेणिक निर्वाण-प्राप्तिके कई वर्ष पश्चात् परलोकवासी हुआ।[2] श्रेणिक-चरितमे महावीरके निर्वाणके पूर्व श्रेणिकके देहावसानकी सूचना दी गयी है। पर ये दोनो तथ्य पूर्वोत्तरवर्ती होनेके कारण विरोधी नही है। श्रेणिकचरितकी रचना पन्द्रहवी शताब्दीकी है। अत उसकी अपेक्षा हरिवशपुराण और हरिषेण-कथाका कथन पूर्ववर्ती होनेसे अधिक प्रामाणिक है।

१. तथैव च श्रेणिकपूर्वभूभुज प्रकृत्य कल्याणमह सहप्रजा ।
प्रजग्मुरिन्द्राश्च सुरैर्यथाथ प्रयाचमाना जिनबोधिमर्थिन ॥ ह० ६६।२१.

२ वृहत्कथाकोश-हरिषेणकृत, श्रेणिककथा, कथा ५५

दिगम्बरसाहित्यके आलोकमे ईस्वीकी पाँचवी शताब्दीसे ही नालन्दाकी निकटवर्तिनी पावा ही महावीरकी निर्वाणभूमि मानी गयी है। पूज्यपादने लिखा है

पद्मवनदीर्घिकाकुलविविधद्रुमखण्डमण्डिते रम्ये।
पावानगरोद्याने व्युत्सर्गेण स्थित स मुनि ॥
कार्तिककृष्णस्यान्ते स्वातावृक्षे निहत्य कमरज ।
अवशेप सम्प्रापद् व्यजरामरमक्षय सौख्यम् ॥
परिनिर्वृत जिनेन्द्र ज्ञात्वा विबुधा ह्ययाशु चागम्य ।
देवतरुरक्तचन्दनकालागुरुसुरभिगोशीर्षै ॥
अग्नीन्द्राज्जिनदेह मुकुटानलसुरभिधूपवरमाल्यै ।
अभ्यर्च्य गणधरानपि गता दिव ख च वनभवने ॥

अर्थात् तीर्थंकर महावीर कमलवनसे भरे हुए और नानावृक्षोसे सुशोभित पावानगरके उद्यानमे कायोत्सर्ग ध्यानमे आरूढ हो गये। उन्होने कार्तिक कृष्णाके अन्तमे स्वाति नक्षत्रमे सम्पूर्ण अवशिष्ट कर्म-कलकका नाश करके अक्षय, अजय और अमर सौख्य प्राप्त किया। देवताओने जैसे ही जाना कि भगवान्का निर्वाण हो गया, वे अविलम्ब वहाँ पर आये और उन्होने पारिजात, रक्त चन्दन, कालागुरु तथा अन्य सुगन्धित पदार्थ और धूपमालाएँ एकत्र की। अग्निकुमार देवोके इन्द्रने अपने मुकुटसे अग्नि प्रज्वलितकर जिनेन्द्रप्रभुकी देहका सस्कार किया। देवोने गणधरोकी भी पूजा की और अपने-अपने स्थानपर चले गये।

हरिवशपुराण, जयधवला टीका, तिलोयपण्णत्ती, उत्तरपुराण आदि सभी ग्रन्थोसे यह सिद्ध होता है कि तीर्थंकर महावीरका निर्वाण मगध देशकी पावा नगरीमे हुआ है।

बौद्ध साहित्यके आधारपर श्रीकन्हैयालाल सरावगीने कुशीनगरके समीपवर्ती सठियाँवको तीर्थंकर महावीरकी निर्वाणभूमि पावा सिद्ध करनेका प्रयास किया है। उन्होने सठियाँवकी जो व्युत्पत्ति पावाके साथ घटित की है उसे पढकर महान् आश्चर्य होता है। उन्होने लिखा है "श्रीका प्राकृत रूप सरि या सठि होता है। पावाका कालान्तरमे यावा याँवा हो गया। इस प्रकार श्रीपावा > सिरिपावा > सठियावा > सठियाँवा बन गया।"[1]

श्रीका सरि रूप बनता है पर प्राकृतके किसी भी नियमके आधारपर 'र' का 'ठ' और 'प' का 'य' नही होता। पावाका याँवा रूप और श्रीके सठि रूपकी कल्पना करना भाषा-विज्ञानके समस्त नियमोकी अवहेलना करना है।

१. पावा-समीक्षा, पृ० ४२

अत श्रीपावाका सठियांवा सम्भव नही है। पूर्वाग्रह लेकर किसी भी शब्द-को कही भी घसीटा जा सकता है। यहाँ श्रीसरावगीजीका पूर्वाग्रह ही प्रतीत होता है।

श्रीसरावगीजीकी एक नयी सूझ भी विचारणीय है। उन्होंने 'मज्झिमा'-का मध्यवर्ती अर्थ न कर मध्यदेशवर्त्ती किस आधारपर किया है? 'मज्झिमा' विशेषणका सीधा सम्बन्ध 'पावा' के साथ है, अत: देश शब्दका अध्याहार किस प्रकार सम्भव हुआ? 'मज्झिमा' को विशेपार्थक विशेषण माना जाय अथवा साभिप्राय विशेषण माना जाय, इन दोनो ही स्थितियोमे 'पावा' विशेष्यके रहते हुए 'देश' को बीचमे नही डाला जा सकता है।

प्राचीन टीका-ग्रन्थोमे 'पावाए मज्झिमाए' का अर्थ सर्वत्र 'मध्यमा पावा' ही प्राप्त है, मध्यदेशवर्त्तिनी पावा नही। अपने कथनकी पुष्टिके लिए उन्होने हरिवशपुराणमे वर्णित 'मध्यदेश' को 'मज्झिम' का बोधक लिखा है। पर इसकी सिद्धिके लिए प्रमाण नही दिया है। एक अन्य तर्क यह है कि 'मज्झिमाए पावाए' मे मज्झिमा विशेषण स्त्रीलिङ्ग है, इसके 'मध्य' पुल्लिङ्ग 'देश' शब्दका किस प्रकार अध्यहार सभव है? अध्याहार साभिप्राय विशेषणके होनेपर लिङ्ग, वचन और विभक्तिके नियमानुसार ही होता है। शब्द-गठनमे अनियमित व्यवहार नही पाया जाता है।

शब्दरूपकी दृष्टिसे 'मज्झिमा'- मध्यमाका रूपान्तर है, 'मध्य' का नही। 'मज्झ' से मध्य बनता है, यह विशेषण है और इसकी निष्पत्ति 'मन् + यत् नस्यध' से सम्भव है। मज्झिमा मध्यमा भव अर्थमे 'म' प्रत्यय होनेसे 'मध्ये भव मध्य + म' मध्यम + स्त्रीत्व टाप् मध्यमा मज्झिमा रूप निष्पन्न है। अतएव 'पावाए मज्झिमाए' का अर्थ मध्यमा पावा अथवा मध्यवर्ती पावा है, मध्यदेशवर्त्तिनी पावा नही।

उल्लिखित तीनो पावाओकी अवस्थिति पौराणिक भूगोलकी दृष्टिसे मध्य-देशमे है। मनुस्मृति, विष्णुपुराण, वामनपुराण आदिके आधारपर मध्यदेशका विस्तार हेमाद्रिसे लेकर सह्याद्रि तक माना गया है। तीर्थंकर महावीरकी निर्वाणभूमि 'मध्यमा पावा' थी, जिसकी स्थिति भगि प्रदेशकी पावा और गोरखपुर जिलेमे कुशीनाराकी निकटवर्त्तिनी पावाके मध्य थी।

बौद्ध साहित्यमे अनेक प्रसगोमे पावाका निर्देश आया है। वर्त्तमानमे कई विद्वान् बुद्धकी अन्तिम यात्रामे वर्णित पावाको ही तीर्थंकर महावीरकी निर्वाण-भूमि बतलाते हैं। भयंकर बीमारीके अनन्तर[1] बुद्ध वैशालीसे भण्डग्राम, अम्बग्राम

१. दीघनिकाय २।३ महापरिनिव्वाणसुत्त।

(आम्रग्राम), जम्बुग्राम, भोगनगर होते हुए पावा पहुँचे। यहाँ चुन्द कर्मारपुत्रके आम्रवनमे निवास किया। उसने दूसरे दिन बुद्धको भोजनके लिए आमन्त्रित किया और सूकर-मद्दव तथा अन्य भोजन-सामग्री तैयार करायी। बुद्धने भिक्षु-सघके साथ जाकर भोजन किया। सूकर-मद्दव खानेसे बुद्धको रक्त गिरने लगा। थोडी दूर चलकर वे थक गये। उन्हे मरणान्तक कष्ट हुआ।

बुद्ध कुशीनाराकी ओर जा रहे थे। मार्गमे श्रान्त होनेपर वे एक वृक्षके नीचे विश्राम करने लगे। बुद्धने आनन्दसे जल मागा। आनन्द समीपवर्त्तिनी ककुत्थासे जल भरकर लाये और बुद्धको पीनेके लिए दिया।

पावासे कुशीनारा छ गव्यूति था, किन्तु इतनी दूरीमे बुद्धको पच्चीसवार बैठना पडा, मध्याह्नसे चलकर सूर्यास्तके समय कुशीनारा पहुचे। पावासे चल-कर ककुत्था नदी पार की। आगे हिरण्यवती नदी मिली, उसके परले तटपर स्थित कुशीनाराके मल्लोके शालवनमे गये और दो घने शालवृक्षोके बीचमे उत्तरकी ओर सिरहाना करके लेट गये और यही निर्वाण प्राप्त किया।

इस सन्दर्भसे यह स्पष्ट है कि महात्मा बुद्ध पावासे कुशीनगर पहुँचे थे तथा पावा और कुशीनगरकी दूरी १२ मील रही होगी। ककुत्था नदी भी पावाके निकट थी, जिससे जल लाकर आनन्दने उनको पिलाया था। यह पावा मल्लोकी पावा है, तीर्थंकर महावीरकी निर्वाण-भूमि मध्यमा पावा नही। इतिहासज्ञोने, बुद्धको जहाँ भोजन कर साघातिक रोग हुआ, पावाकी खोज की। कपिलवस्तुसे लेकर कुशीनारा, पडरौना, फाजिलनगर, सठियाँव, सरेया, कुक्कुरपाटी, नन्दवा, दनाहा, आसमानपुर डोह, मीर विहार, फरमटिया और गागीटिकार तक प्राचीन भवनो, मन्दिरो और स्तूपोके ध्वसावशेष बिखरे पडे है। इन अवशेषोके देखनेसे ऐसा अनुमान होता है कि आततायी राजाओ अथवा प्रकृतिके बहुत बडे प्रकोपके कारण ये ध्वसावशेष हुए होगे।

इतिहास बतलाता है कि श्रावस्तीके राजसिंहासनपर आसीन होकर विदूडभने अपने पिता प्रसेनजितको मरवाकर शाक्यो और उनके नगरोको ध्वस्त कर दिया। श्रेणिकके पुत्र अजातशत्रु कुणिकने भी अपने पिताको बन्दी बनाकर मगधका सिंहासन अधीन किया और अपने ननिहाल वैशाली-गणसघ और उनके मित्र मल्लसघको नष्ट कर दिया। इन दो महत्त्वाकाक्षी राजाओके प्रतिशोधके परिणाम स्वरूप ही यहाँ डीह-टीले विद्यमान हैं। बुद्धकी मृत्युके पश्चात् उनकी अस्थियोके आठ भाग किये गये, इनमेसे एक भाग शाक्योने और दो भाग पावा एव कुशीनगरके मल्लोने ग्रहण किये। दोनो सघोने उन अस्थि-भस्मोपर स्तूपोका निर्माण कराया। इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि

कपिलवस्तु, कुशीनारा और पावाका विनाश बुद्धकी मृत्युके आस-पास हुआ और स्तूप इसके उत्तर कालमे ध्वस्त किये गये। अतएव ध्वंसावशेष सठियाँवकी प्राचीनताके सूचक हैं।

वर्तमान सठियाँवमे तालाब और स्तूपोके ध्वंसावशेष प्रचुर रूपमे विद्यमान हैं। पावा वैशाली-कुशीनारा मार्गपर अवस्थित थी। अत वह कुशीनारासे दक्षिण-पूर्व होनी चाहिए। पडरौना उत्तर और उत्तर-पूर्वमे बारह मीलकी दूरी-पर है, पर यह वैशाली-कुशीनारा मार्गपर स्थित नही है। इस विवेचनके अनुसार फाजिलनगर सठियाँव ही पुरानी पावा है।

लकाकी बौद्ध अनुश्रुतियोके अनुसार पावा कुशीनारासे बारह मील दूर गण्डक नदीकी ओर सभव है। यह कुशीनारासे पूर्व या दक्षिण-पूर्वमे अवस्थित है। इस अनुश्रुतिमे कुशीनारा और पावाके बीचमे एक छोटी नदी भी बतायी गयी है, जो 'ककुत्था' कहलाती थी। यही बुद्धने स्नान और जलपान किया था। इस नदीका वर्त्तमान नाम 'घागी' है। यह कसियासे पूर्व, दक्षिण-पूर्वकी ओर छ मील दूर है।

फाजिलनगरके भग्नस्तूपसे डेढ फर्लांग उत्तर-पूर्वमे बहनेवाली 'भोनुआ' 'सोनावा' या 'सोनारा' नामकी नदी है। यही नदी ककुत्था है, यह पावा और कुशीनगरके मध्य बहती है। वर्त्तमानमे सठियाँवसे डेढ मील पश्चिमकी ओर प्राचीन नदीके चिह्न मिलते है, जो अन्हेया, सोनिया और सोनाका कही जाती है। इससे दो मील पश्चिममे 'घागी' नामकी एक बडी नदी है। पडरौनासे दस मील उत्तर-पश्चिममे सिघा गाँवके पास एक झील है, 'घागी' नदी इसीसे निकलती है। अतएव सक्षेपमे महात्मा बुद्धकी राजगृहसे कुशीनगर तककी यात्राका अध्ययन करनेपर पावा भोगनगर (बदराँव) और कुशीनगरके मध्य सठियाँव-फाजिलनगर हैं। परन्तु यह मध्यमा पावा नही है।

निर्वाणस्थल-सम्बन्धी बौद्धागम प्रमाण

बौद्ध वाङ्मयमे महावीरकी निर्वाणभूमि पावाके सम्बन्धमे 'सामगामसुत्तन्त', 'पासादिकसुत्त', 'सगीतिपरियायसुत्त' आदि ग्रन्थोमे उल्लेख आये है। ये निर्देश विद्वेषपूर्ण साम्प्रदायिक सकीर्णताके परिचायक हैं। यहाँ मूल सन्दर्भ प्रस्तुतकर निर्वाणभूमिसे सबद्ध निष्कर्ष अकित किये जायँगे। बताया है

> एव मे सुत। एक समय भगवा सक्केसु विहरति सामगामे। तेन खो पन समयेन निगण्ठो नातपुत्तो पावाय अधुना कालकतो होति। तस्स कालङ्किरियाय भिन्ना निगण्ठा द्वेधिकजाता भण्डनभिन्ना निगण्ठा द्वेधिक-जाता- 'पे० भिन्नथूपे अप्पटिसरणे' ति। एव कुत्ते आयस्मा आनदो चुन्दं

समणुद्देसं एतदवोच 'अत्थि खो इदं आवुसो चुन्द, कथा पामन्त भगवन्तं दस्सनाय। अयाम आवुसो चुन्द, येन भगवा तेनुपसङ्कमिस्साम। उपसङ्कमित्वा एतमत्थं भगवतो आरोचेस्साम' ति। 'एवं भन्ते' ति खो चुन्दो समणुद्देसो आयस्मतो आनन्दस्स पच्चस्सोसि।[1]

अर्थात् एक बार भगवान बुद्ध शाक्य देशके सामगाममें विहार करते थे। निगंठ नातपुत्रकी कुछ समय पर्व ही पावामे मृत्यु हुई थी। उनकी मृत्युके अनन्तर ही निगंठोमे फूट हो गयी, दो पक्ष हो गये, वे कलह करते हुए एक दूसरेको मुखरूपी शक्तिसे छेदते विहर रहे थे 'तू इस धर्म-विनयको नही जानता, मैं इस धर्म-विनयको जानता हूँ। तू भला इस धर्म-विनयको क्या जानेगा? तू मिथ्यारूढ है, मै सत्यारूढ हूँ।'

निगण्ठ नातपुत्रके श्वेतवस्त्रधारी गृहस्थ शिष्य भी नातपुत्रीय निगंठोमे वैसे ही विरक्त चित्त हैं, जैसे कि वे नातपुत्रके दुराख्यात (अस्पष्ट), दुष्प्रवेदित (अज्ञात), अनैर्याणिक (पार न लगानेवाले), अनुपशम सवर्तनिक (न शान्ति गामी), असम्यक् सम्बुद्ध प्रवेदित (किसी बुद्धसे न जाने गये), प्रतिष्ठा (आधार) रहित, भिन्नस्तूप, आश्रमरहित धर्मविनयमे थे।

चुन्दसमणुद्देस पावामे वर्षावास समाप्त कर सामगाममे आयुष्मान आनन्दके पास आये और उन्हे निगण्ठ नातपुत्रकी मृत्यु तथा निगंठोमे हो रहे विग्रहकी सूचना दी। आयुष्मान् आनन्द "आवुस चुन्द! भगवान्के दर्शनके लिए यह बात भेट रूप है। आओ आवुस चुन्द! जहाँ भगवान् है, वहाँ चले। चलकर यह बात भगवान्को कहे अच्छा भन्ते! चुन्द समणुद्देसने कहकर आयुष्मान् आनन्दका समर्थन किया।

उपालि-सवादमे बताया गया है कि नातपुत्र नालन्दावासी होनेपर भी पावामे कालगत हुए। उन्होने सत्यलाभी उपालि गृहपतिको दस गाथाओसे भाषित बुद्धके गुणोको सुनकर उष्ण रक्त उगल दिया। अस्वस्थ अवस्थामे ही उन्हे पावा ले गये और वही कालगत हुए।[2]

इन सन्दर्भोके अध्ययनसे निम्नाङ्कित तथ्य प्रसूत होते है

१ तीर्थंकर महावीरका निर्वाण पावामे हुआ।

२ उनकी मृत्युके समय ही जैनसघमे फूट पड गयी।

३ इसी समय श्वेताम्बर और दिगम्बर भेद प्रकट हुए।

१. मज्झिमनिकाय, सामगाम-सुत्तन्त ३।९।४

२. मज्झिमनिकाय अट्ठकथा, सामगाम-सुत्तवण्णना, खण्ड ४, पृ० ३४.

४ महावीरकी मृत्यु रक्तपित्त रोगसे हुई।

५. अस्वस्थावस्थामे नालन्दासे उन्हे पावामे ले जाया गया।

इन तथ्योपर क्रमशः विचार करनेपर अवगत होता है कि महावीरका निर्वाण पावामे हुआ, यह सत्य है। पर यह पावा कौन-सी है? यह स्पष्ट नही होता। मल्ल गणराज्यकी पावा तो यह हो नही सकती, क्योकि जैन ग्रन्थोमे महावीरको निर्वाणभूमि मध्यमा पावा बतलायी गयी है।

महावीरके निर्वाण-समयमे ही जैनसघमे फूट पड गयी, यह नितान्त भ्रामक है। दिगम्बर और श्वेताम्बर दोनो ही परम्पराएँ यह स्वीकार करती हैं कि उक्त सघभेद मौर्य सम्राट् चन्द्रगुप्तके समयमे हुआ। जब मगध जनपदमे बारह वर्ष-का दुष्काल पड गया तो श्रुतकेवली भद्रबाहु अपने नेतृत्वमे बारह हजार मुनि-सघको लेकर दक्षिण भारतकी ओर चले गये। कुछ मुनि यहाँ भी रह गये, वे समयके प्रभावसे श्वेतवस्त्रधारी बन गये। फलत श्वेताम्बर और दिगम्बर सघ-भेद ई० पू० ३००के लगभग उत्पन्न हुआ। अतएव बौद्ध वाङ्मयमे निर्ग्रन्थोके सम्बन्धमे जो फूटकी चर्चा की गयी है, वह बुद्धके समयकी नही हो सकती है। ऐसा मालूम पड़ता है कि साम्प्रदायिक विद्वेषवश यह सन्दर्भ बादमे जोडा गया है।

कैम्ब्रिज हिस्ट्री, ऐनशियेन्ट इण्डिया, भारतके प्राचीन राजवंश आदि ग्रन्थो-मे एक मतसे श्वेताम्बर और दिगम्बर भेदका मगधके दुर्भिक्षके पश्चात् माना गया है। कैम्ब्रिज हिस्ट्रीमे भद्रबाहुके दक्षिण गमनका निर्देश करते हुए लिखा गया है 'यह समय जैनसघके लिये दुर्भाग्यपूर्ण प्रतीत होता है और इसमे कोई सन्देह नही कि ई० पू० ३०० के लगभग महान् सघभेदका उद्गम हुआ, जिसने जैन सघको श्वेताम्बर और दिगम्बर सम्प्रदायोमे विभाजित कर दिया। दक्षिणसे लौटे हुए साधुओने, जिन्होने दुर्भिक्ष कालमे बडी कड़ाईके साथ अपने नियमोका पालन किया था, मगधमे रह गये, अन्य अपने साथी साधुओके आचारसे असन्तोष प्रकट किया तथा उन्हे मिथ्याविश्वासी और अनुशासनहीन घोषित किया[1]।"

आर० सी० मजुमदारने भी अपने इतिहासमे सघभेदका समय मगधके दुर्भिक्षको ही इंगित किया है। उन्होने लिखा है "जब भद्रबाहुके अनुयायी मगधमें लौटे, तो एक बडा विवाद उठ खडा हुआ। नियमानुसार जैन साधु नग्न रहते थे, किन्तु मगधके जैन साधुओने सफेद वस्त्र धारण करना प्रारम्भ

१ कैम्ब्रिज हिस्ट्री (सन् १९५५), पृ० १४७.

कर दिया। दक्षिण भारतसे लौटे हुए जैन साधुओने इसका विरोध किया, क्योकि वे पूर्ण नग्नताको महावीरकी शिक्षाओका आवश्यक भाग मानते थे। विरोधका शान्त होना असम्भव पाया गया और इस तरह श्वेताम्बर और दिगम्बर सम्प्रदाय उत्पन्न हुए[1]।"

'भारतके प्राचीन राजवश' ग्रन्थमे पण्डित श्रीविश्वेश्वर नाथ रेऊने उपर्युक्त तथ्य जैसा ही विवेचन किया है। उन्होने लिखा है "कुछ समय बाद जब अकाल निवृत्त हो गया और कर्नाटकसे जैन लोग वापस लौटे, तब उन्होने देखा कि मगधके जैन साधु पोछेसे निश्चित किये गये धर्म-ग्रन्योके अनुसार स्वेतवस्त्र पहनने लगे हैं। परन्तु कर्नाटकसे लौटनेवालोने इस बातको नही माना। इससे वस्त्र पहननेवाले जैन साधु श्वेताम्बर और नग्न रहनेवाले दिगम्बर कहलाये[2]।"

अतएव बौद्ध साहित्यमें जो सघभेदकी समीक्षा की गयी है, वह उसकी प्रामाणिकतामे सन्देह उत्पन्न करती है।

साम्प्रदायिक विद्वेषवश बौद्ध साहित्यमे महावीरके रक्त-पित्त रोगका कथन और नालन्दासे उनका पावामे ले जाना ये दोनो ही बाते भी भ्रान्त हैं। यदि मज्झिमनिकाय, अट्ठकथा और सामगामसुत्तवण्णनामे महावीरकी निर्वाणभूमिके लिये आये हुए सन्दर्भपर विचार करें, तो दो तथ्य प्रस्फुटित होते है।

(१) किसी भी रोगीको मरणासन्न स्थितिमे बहुत दूर नही ले जाया जा सकता है और साथ ही रोगी ऐसा हो, जो साधु, त्यागी, व्रती है और जिसका संसारमे कही कोई सम्बन्धी नही है, उसे उतनी अधिक दूर ले जाना बुद्धिमत्ता नही है। अत कुशीनगरके निकटवर्ती सठियाव पावा तक महावीर नही गये होगे। यह पावा तो नालन्दाकी निकटवर्त्तिनी ही सम्भव है। अत बौद्ध वाङ्मयके उक्त तर्कसे नालन्दाकी समीपवर्त्तिनी पावा ही निर्वाणभूमि सिद्ध होती है।

(२) जैन वाङ्मयमे महावीरके अन्तिम समयकी ऐसी कोई घटना नही मिलती, जिससे यह सिद्ध होता हो कि महावीर अन्तिम समयमे नालन्दासे पावा गये। जैन आगमोमे स्पष्ट उल्लेख है कि चम्पामे वर्षावास समाप्त कर महावीर भ्रमण करते हुए पावाके गणराज्य हस्तिपालकी रज्जुकशालामे आये और यही अन्तिम चातुर्मास किया।

१ एनशियेन्ट इण्डिया, पृ० १७९

२. भारतीय प्राचीन राजवश, भाग २, पृ० ४१.

उपालि द्वारा बुद्धकी प्रशसा सुनकर महावीरका उष्ण रक्त वमन करना इतिहास विरुद्ध मिथ्या कल्पना है। अतएव सक्षेपमे यही कहा जा सकता है कि बौद्ध साहित्यके आधारपर महावीरकी निर्वाणभूमि नालन्दाकी समीपवर्तिनी पावा ही है, सठियाँव वाली पावा नही। यदि जैनागमके सवल प्रमाण उपलब्ध हो जायँ, तो इस मन्यताको परिवर्तित करनेमे तनिक भी सकोच नही होगा।

वर्त्तमान पावा-सम्बन्धी सामग्री

कुछ विद्वान् मगध जनपदकी अन्तर्वर्तिनी पावामे प्राचीन जैन चिह्नोका अभाव देखकर इसे निर्वाण-भूमि माननेके पक्षमे नही हैं। वहाँ निर्मित मन्दिर एव सास्कृतिक चिह्न आधुनिक हैं। पर इतिहास इस बातका साक्षी है कि १२ वी-१३ वी शताब्दीमे जैनधर्मका केन्द्र उत्तरी विहारसे हटकर दक्षिणी विहार-मे स्थापित हो गया था। राजगृह और पावापुर तो महावीरके समयमे ही जैनतीर्थ वन चुके थे। पावापुरीमे ई० सन्‌की १३ वी शताब्दीमे एक जैन सम्मेलन हुआ। ई० सन् १२०३ मे यहाँ भगवान महावीरकी मूर्ति विराजमान की गयी[1]। इसके पहले भी यहाँ मूर्तियोकी प्रतिष्ठा हुई हो, तो इसमे कोई अतिरजना नही है। मदनकीर्त्तिने अपने समयके छब्बीस तीर्थोका वर्णन किया है। मदनकीर्तिका समय ई० सन्‌की १३वी शतीका उत्तरार्द्ध है[2]। इन्होने पावापुरीके वीर जिनका वर्णन किया है। अत १२वी शताब्दीके पहले ही मगधवाली पावाकी प्रतिष्ठा महावीरकी निर्वाणभूमिके रूपमे हो चुकी थी। 'तीर्थकल्प' मे भी जिन-प्रभसूरिने 'पावापुरी' या 'अपापा' के नामसे इस तीर्थका महत्त्व प्रतिपादित किया है। अतएव यह निश्चित है कि वर्त्तमान पावापुरीको मान्यता जिनसेन प्रथमके पहले ही प्राप्त हो चुकी थी। जिनसेनने इसी कारण श्रेणिकको निर्वाणोत्सवमे सम्मिलित किया है।

अभी गाँवके मन्दिरकी मरम्मतके समय खुदायीमे एक प्राचीन मन्दिरका अवशेष नीवमे प्राप्त हुआ है। इस ध्वसावशेषके सम्बन्धमे विशेष जानकारी तो नही, पर इतना अवश्य है कि यह ध्वस्त मन्दिर जिसकी बुनियादपर नया मन्दिर निर्मित है, पर्याप्त प्राचीन रहा है। सम्भवत खुदायीमे अन्य सामग्री भी उपलब्ध हो जाय। अतएव उपलब्ध प्रमाणोके आलोकमे वर्तमान पावापुरी ही महावीरकी निर्वाणभूमि है।

जैन प्रमाणोकी अवहेलना कर नवीनताके व्यामोहमे कोई भले ही सठियाँव फाजिलनगरको तीर्थंकर महावीरकी निर्वाणभूमि वतलाये, पर यथार्थता

१ श्री पूर्णचन्द्र नाहर, जैन लेख-सग्रह, भाग २ (कलकत्ता १९२७), पृ० २६३

२. सम्पा० डॉ० दरबारीलाल कोठिया, शासनचतुस्त्रिंशिका, वीर सेवा मदिर, दिल्ली

इससे दूर है। इसमे सदेह नही कि राजगृहसे कुशीनगरकी यात्रा करते समय बुद्धने जिस पावामें भोजन ग्रहण किया था, वह पावा सठियाँव है। सठियाँव-का बौद्ध सस्कृतिसे घनिष्ठ सम्बन्ध है और यहाँ अनेक स्तूपावशेष भी है। पर जैन सस्कृतिसे इस स्थानका तनिक भी लगाव नही है। न एक भी ऐसा जैन प्रमाण उपलब्ध है, जिसका साक्ष्य देकर इस स्थानको तीर्थंकर महावीरकी निर्वाणभूमि माना जा सके।

उत्तराधिकार

तीर्थंकर महावीरके चतुर्विध सघके सदस्य पाच लाख नर-नारी थे। मुनि-सघ ग्यारह गणधरोकी अध्यक्षतामे नौ गणो या वृन्दोमे विभक्त था। श्रावक-श्राविका सघमे सभी वर्ग और जातिके व्यक्ति सम्मिलित थे। भारतके कोने-कोनेमे तो उनके अनुयायी विद्यमान थे ही, पर भारतके बाहर गान्धार, कपिशा और पारसीक आदि देशोमे भी उनके भक्त थे।

महावीरके निर्वाणोपरान्त उनका उत्तराधिकार जैनसंघका नायकत्व उनके प्रधान गणधर इन्द्रभूति गौतमको प्राप्त हुआ। जिस दिन तीर्थंकर महा-वीरका निर्वाण हुआ, उसी दिन उनके प्रधान शिष्य गौतम गणधर केवलज्ञानी हुए[1]। उनके मुक्त होनेपर सुधर्म स्वामी केवलज्ञानी हुए और इनके मुक्त होने-पर जम्बूस्वामी केवलज्ञानी हुए। जम्बूस्वामीके मुक्त होनेपर कोई अनुबद्ध केवली नही हुआ। इन तीनोके धर्मप्रवर्त्तनका सामूहिक काल ६२ वर्ष है।

इन्द्रभूति गौतम गणधरने महावीरके उपदेशोको शृखलाबद्ध, व्यवस्थित एव वर्गीकृत रूपमे संकलितकर उनकी वाणीको स्थायित्व प्रदान किया[2]। इन्द्रभूतिने बारह वर्षो तक सघका सचालन किया। ये भी अर्हत्, केवली और सर्वज्ञ थे। इनसे अगणित प्राणियोने आलोक प्राप्त किया।

१ जादो सिद्धो वीरो तद्दिवसे गोदमो परमणाणी।
जादो तस्सि सिद्धे सुधम्मसामी तदो जादो॥
तम्मि कदकम्मणासे जबूसामि त्ति केवली जादो।
तत्थ वि सिद्धिपवण्णे केवलिणो णत्थि अणुबद्धा॥
वासट्ठी वासाणि गोदमपहुदीण णाणवंताण।
धम्मपयट्टणकाले परिमाण पिंडरूवेण॥

तिलोयपण्णत्ती ४।१४७६-१४७८

२ पुणो तेणिंदभूदिणा भाव-सुद-पज्जय-परिणदेण बारहगाण चोद्दसपुव्वाण च गथाण-मेक्केण चेव मुहुत्तेण कमेण रयणा कदा।

धवलाटीका, १ पुस्तक, पृ० ६५.

इनका निर्वाण वी० नि० स० १२ ई० पू० ५१५ मे हुआ। इनके पश्चात् लोहाचार्य या सुधर्माचार्य सघनायक हुए। ये भी अर्हत्, सर्वज्ञ और केवली थे। इन्होने बारह वर्षो तक सघका सचालन किया।

धवलाटीकामे बतलाया गया है कि इन्द्रभूति गौतम गणधरने दोनो प्रकारका श्रुतज्ञान लोहाचार्यको दिया[1]। लोहाचार्य सात प्रकारकी ऋद्धियोसे युक्त और समस्त श्रुतज्ञानके पारगामी थे। लोहाचार्य या सुधर्माचार्यने अपने उपदेशामृत द्वारा जनसमूहका अज्ञानान्धकार छिन्न किया। इनका निर्वाण विपुलाचलपर[2] वी० नि० स० २४ ई० पू० ५०३ मे हुआ।

सुधर्माचार्यने जिस दिन निर्वाणलाभ किया, उसी दिन जम्बूस्वामीको केवलज्ञान हुआ। जम्बूस्वामी चम्पा नगरीके सेठ अर्हद्दासके पुत्र थे और इनकी माताका नाम जिनदासी था। इनके गर्भमे आनेके पहले माताने गज, सरोवर, शालिक्षेत्र, निर्धूमाग्निशिखा और जम्बूफल ये पाँच स्वप्न देखे तथा माता इन स्वप्नोका फल ज्ञातकर अत्यधिक प्रसन्न हुई। कुमार जम्बू शैशवकालसे भविष्णु, पराक्रमी और वीर थे। इन्होने एक मदोन्मत्त हाथीको वश किया, जिससे इनकी वीरता और साहससे प्रभावित होकर सागरदत्त सेठने अपनी कन्या पद्मश्री, कुबेरदत्तने कनकश्री, वैश्रवणदत्त सेठने विनयश्री एव धनदत्त सेठने रूपश्रीका विवाह जम्बूके साथ कर देनेका निश्चय किया।

जम्बूकुमार एक मुनिका उपदेश सुनकर विरक्त हो गये और दीक्षा ग्रहण करनेका विचार किया। माता-पिता पुत्रको परिवारके बन्धनमे बाध रखनेके उद्देश्यसे उनका विवाह कर देते हैं। चारो रूपवती पत्नियाँ उन्हे अपनी ममतामे जकडकर रखना चाहती है, और विभिन्न प्रकारकी कथाएँ सुनाकर उनके हृदयके विकारोको उभाडती हैं, पर जम्बूकुमार हिमालयके समान अडिग रहते हैं। माता जिनदासी कुमारको विषयासक्त बनानेके लिए विद्युच्चोरकी सहायता भी लेती है, किन्तु विजय जम्बूकुमारकी ही होती है और वह विद्युच्चोरके साथ महावीरकी धर्मसभामे दीक्षित हो जाता है।

१. जयधवला, तिलोयपण्णत्ती और इन्द्रनन्दिकृत श्रुतावतारमें लोहाचार्यके स्थानपर सुधर्माका नाम आता है। यथा -

तदो तेण गोअमगोत्तेण इदभूदिणा अतोमुहुत्तेणावहारियदुवालसगत्थेण तेणेव कालेण कयदुवालसगगथरयणेण गुणेहि सगसमाणस्स सुहुमाइरियस्स गथो वक्खाणिदो। जयध० अ० पृ० ११.

२ विउलइरिसिहरे विसुद्धगुणि निव्वाणु पत्तु सोहम्मु मुणि जबूसामिचरिउ १०।२३.

जैनमुनि वनकर मथुरा नगरीके चौरासी नामक स्थानपर जम्बूकुमारने तपश्चरण किया। महावीरकी शिष्यपरम्परामे जम्बूस्वामी अन्तिम केवली थे। इनका निर्वाण राजगृहके विपुलाचल पर्वतसे वी० नि० स० ६२ ई० पू० ४६५ मे हुआ[1]। अड़तीस वर्ष तक जम्बूस्वामी धर्मका प्रवचन करते रहे।

जम्बूस्वामीके मुक्त होनेके पश्चात् कोई अनुबद्ध केवली नही हुआ। इन तीनो केवलियोके धर्मप्रवर्त्तन का काल ६२ वर्ष है।

इन केवलियोके पश्चात् नन्दि, नन्दिमित्र, अपराजित, गोवर्द्धन और भद्रबाहु ये पाच श्रुतकेवली महावीरके तीर्थमे हुए[2]। इन पाँचो का सम्मिलित काल सौ वर्ष है। कुछ आगम-ग्रन्थोमे नन्दिके स्थानपर विष्णुका उल्लेख है। वहुत सभव है कि विष्णु और नन्दि भी एक ही आचार्य हो। इनका कही नाम विष्णु लिखा गया हो और कही नन्दि। पूरा नाम विष्णुनन्दि रहा होगा।

जम्बूस्वामी केवलीके पश्चात् श्रुतकेवली भद्रबाहु सघनायक हुए। ये युगप्रधानाचार्य थे तथा दिगम्बर और श्वेताम्बर दोनो ही सम्प्रदायोमे इन्हें मान्यता प्राप्त थी। इन्हीके समयमे सघभेद हुआ। निस्सन्देह भद्रबाहुका स्थान अखण्ड जैनपरम्पराकी दृष्टिसे बहुत महत्त्वपूर्ण है। ये मौर्यसम्राट् चन्द्रगुप्तके समकालीन हैं। इनका जन्म स्थान पुण्ड्रवर्धन देश और गुरुका नाम गोवर्धन बताया गया है। श्री कैलाशचन्द्रजी शास्त्रीने लिखा है[3] "समस्त दिगम्बर जैन साहित्यमे तथा शिलालेखोमे गोवर्द्धनको चतुर्थ श्रुतकेवली बतलाया है और उन्हे भद्रबाहु श्रुतकेवलीका पूर्वज बतलाया है। तथा भद्रबाहुको पुण्ड्रवर्धन देशके कोटिमत नगरका निवासी बतलाया है। अत यह निर्विवाद है कि वृहत्कथाकोषमे जिस भद्रबाहुका आख्यान दिया है, वे श्रुतकेवली भद्रबाहु ही हैं और उनके समयमे चन्द्रगुप्त नामका यदि कोई राजा हुआ है तो वह मौर्यसम्राट् चन्द्रगुप्त ही है। चन्द्रगुप्त नामक अन्य राजा तो बहुत समय

१. विउलइरिसिहरि कम्मट्ठचत्तु सिद्धालय सासयमोक्खपत्तु।

जबूसामिचरिउ, १०।२४

२. णदी य णदिमित्तो विदिओ अवराजिदो तइज्जो य।
गोवद्धणो चउत्थो पचमओ भद्दबाहु त्ति॥
पच इमे पुरिसवरा चउदसपुव्वी जगम्मि विक्खादा।
ते वारस अगधरा तित्थे सिरिवड्ढमाणस्स॥
पचाण मेलिदाण कालपमाण हवेदि वाससद।
वीदम्मि पचमए भरहे सुदकेवली णत्थि॥ तिलोयपण्णत्ती ४।१४८२-१४८४

३. जैनसाहित्यका इतिहास, पूर्वपीठिका, प्रथम सस्करण, पृ० ३४३.

पश्चात् हुए हैं। अत उनके श्रुतकेवली भद्रबाहुके समकालीन होनेका प्रश्न ही नही है।"

मगधमे जब बारह वर्षका महादुर्भिक्ष पडा तो भद्रबाहुके नेतृत्वमे जैनसघ दक्षिणकी ओर गया और कर्णाटक देशके श्रवणबेलगोल नामक स्थानको अपना केन्द्र बनाया। श्रुतकेवली भद्रबाहुने दक्षिण भारतमे ही समाधिमरण ग्रहण किया।

पश्चात् एकसौ तेरासी वर्षमे ग्यारह मुनि दश पूर्वके धारक हुए। अनन्तर दोसौ बीस वर्षमे पाँच मुनि ग्यारह अगके धारी हुए। तदनन्तर एकसौ अठारह वर्षमे सुभद्रगुरु, जयभद्र, यशोबाहु और महापूज्य लोहार्य ये चार मुनि आचारागके धारी हुए।[1]

इनके पश्चात् महातपस्वी विनयन्धर, गुप्तश्रुति, गुप्तऋषि, मुनीश्वर शिवगुप्त, अर्हद्वलि, मन्दरार्य, मित्रवीरवि, बलदेव, मित्रक, सिंहबल वीरवित्, पद्मसेन, व्याघ्रहस्त, नागहस्ती, जितदण्ड, नन्दिषेण, दीपसेन, धरसेन, सुधर्मसेन, सिंहसेन, सुनन्दिषेण, ईश्वरसेन, सुनन्दिषेण, अभयसेन, सिद्धसेन, अभयसेन, भीमसेन, जिनसेन और शान्तिसेन आचार्य हुए। अनन्तर षट्खण्डागमके ज्ञाता, इन्द्रियजयी जयसेन नामक आचार्य हुए। इनके शिष्य प्रसिद्ध वैयाकरण, प्रभावशाली और सिद्धान्तपारगामी अमितसेन गुरु हुए। ये पवित्र पुन्नाट गणके अग्रणी अग्रेसर आचार्य थे।

जिनेन्द्र शासनके स्नेही परमतपस्वी, सौ वर्षकी आयुके धारक एव दाताओमे मुख्य इन अमितसेनआचार्यने शास्त्रदानके द्वारा पृथिवीमे अपनी वदान्यता दानशीलता प्रकट की थी। इन अमितसेनके अग्रज धर्मबन्धु कीर्तिषेण नामक मुनि थे, जो शान्त, बुद्धिमान और तपस्वी थे। इनके शिष्य जिनसेन प्रथम हुए[2]। इस प्रकार पुन्नाटसघी आचार्योकी परम्परा चली।

धवलाटीकाके उल्लेखानुसार पाच श्रुतकेवलियोंके पश्चात् विशाखाचार्य, प्रोष्ठिल, क्षत्रिय, जयाचार्य, नागाचार्य, सिद्धार्थदेव, धृतिसेन, विजयाचार्य, बुद्धिल, गगदेव और धर्मसेन ये ग्यारह आचार्य एकादश अग और उत्पादपूर्व आदि दश पूर्वोके धारक तथा शेष चार पूर्वोके एकदेश धारक हुए।

इसके पश्चात् नक्षत्राचार्य, जयपाल, पाण्डुस्वामी, ध्रुवसेन और कसाचार्य ये पाच अचार्य सम्पूर्ण ग्यारह अग और चौदह पूर्वोके एकदेश धारक हुए। अनन्तर

१ हरिवशपुराण ६६।२३-२४
२. वही, ६६।२५-३३

सुभद्र, यशोभद्र, यशोबाहु और लोहार्य आचारांगके धारक तथा शेष अंग एवं पूर्वोंके एकदेश धारक हुए। इसके अनन्तर धरसेन, भूतबली, पुष्पदन्त आदि आचार्य हुए।[1]

इस प्रकार संघका विकास देश, काल एवं परिस्थितियोंके अनुसार होता गया। निर्ग्रन्थ-संघके प्रधान केन्द्र श्रवणबेलगोला, मथुरा आदि स्थान तथा श्वेताम्बर-संघके उज्जयिनी, वलभी, प्रतिष्ठान प्रभृति स्थान बने। यद्यपि समय-के प्रभावके कारण अनेक विकृतियाँ उत्पन्न हुईं, पर तीर्थंकर महावीरके सिद्धान्त अक्षुण्ण रहे।

आचार्योंकी पट्टावली कई रूपोंमें मिलती है। इन पट्टावलियोंमें समानताके साथ कई विषमताएँ भी उपलब्ध होती हैं।[2]

१ धवलाटीका, १ पुस्तक, पृ० ६६-६७

२ विशेषके लिए देखें आचार्यपरम्परा, द्वितीय तृतीय भाग।

अष्टम परिच्छेद

देशना ज्ञेयतत्त्व

विरासतकी उपलब्धि और वितरण

तीर्थंकर महावीरके पूर्व तेईस अन्य तीर्थंकर हो चुके थे, जिनकी विरासत उन्हे सहजरूपमे उपलब्ध हुई थी। तेईसवे तीर्थंकर पार्श्वनाथको हुए अभी अधिक समय नही व्यतीत हुआ था। अत उनकी परम्परा धर्मदेशनाके रूपमे प्राप्त थी। पार्श्वनाथ महावीरसे केवल २५० वर्ष पूर्व हुए थे। पार्श्वनाथके जनकल्याणकारी उपदेशके सम्बन्धमे कोई निश्चित विवरण प्राप्त नही होता, पर जैन और बौद्ध ग्रन्थोंसे यह ज्ञात होता है कि इन्होने चातुर्याम धर्मका उपदेश दिया था। पार्श्वनाथके समयमे बालतप और यज्ञीय हिंसाकी समस्याएँ ज्वलन्त थी, अत इन्होने केवलज्ञान प्राप्त कर अपने उपदेश द्वारा उनका समाधान प्रस्तुत किया।

पार्श्वनाथ अन्य तीर्थंकरोंके समान अचेल थे। अत महावीरको उनसे अचेल-धर्म उपलब्ध हुआ था। यदि पार्श्वनाथ स्वय सचेलक होते और उनकी परम्परामे साधुओके लिए वस्त्रकी स्वीकृति होती, तो महावीर स्वय न तो दिगम्बर रहकर साधना ही करते और न नग्नताको साधुत्वका अनिवार्य अग मानकर उसे व्यावहारिक रूप ही देते। सुप्रसिद्ध विद्वान् प० बेचरदास दोशीने "जैन साहित्यमे विकार" ग्रन्थमे स्पष्ट लिखा है "किसी वैद्यने सग्रहणीके रोगीको दवाके रूपमे अफीम सेवन करनेकी सलाह दी थी, किन्तु रोग दूर होनेपर भी जैसे उसे अफीमकी लत पड जाती है और वह उसे नही छोडना चाहता, वैसी ही दशा इस आपवादिक वस्त्र की हुई[1]।"

अत यह सभव है कि पार्श्वनाथकी परम्पराके साधु मृदुमार्गको स्वीकार कर वस्त्र धारण करने लगे हो और इस आपवादिक वस्त्रको उत्सर्ग मार्गमे ग्रहण कर लिया हो। उत्तराध्ययनके केशी-गौतम सवादमे इस आपवादिक वस्त्रकी गन्ध प्राप्त होती है। वस्तुत महावीरको पार्श्वनाथका सर्वसावद्यत्याग-रूप दिगम्बर-मार्ग उपलब्ध हुआ। अहिंसा, सत्य, अचौर्य और अपरिग्रह रूप चातुर्यामधर्ममे सर्वप्राणिहितकी भावना समाहित थी। ब्रह्मचर्यका अन्तर्भाव अपरिग्रहमे किया गया था।

तीर्थंकर महावीरने भगवान् पार्श्वनाथके इस धर्ममार्गको आगे बढाया। महावीरके समयमे राजनीतिका आधार धर्म बना हुआ था। वर्ग-स्वार्थियोने धर्मकी आडमे अपने वर्गके सरक्षण हेतु बहुत प्रकारके नियम-कानून बना डाले थे। ईश्वरके नामपर अभिजात वर्ग विशेप प्रभुसत्ता लेकर उत्पन्न होता था। इसके जन्मजात उच्चत्वका अभिमान स्ववर्गके सरक्षण तक ही नही फैला था, किन्तु शूद्र प्रभृति निम्न वर्गके व्यक्तियोके मानवोचित अधिकार भी अपहृत किये जा चुके थे। स्वर्गलाभके लिए बडे-बडे यज्ञोका अनुष्ठान किया जाता था। जो धर्म प्राणिमात्रके लिए सुख-शान्तिका कारण था, वही हिंसा, विपमता, प्रताडन और शोषणका अस्त्र बना हुआ था। अतएव तीर्थंकर महावीरने धर्म-समाजके क्षेत्रमे मानवमात्रको समान अधिकार दिये। धर्मसाधनमे जाति, कुल, शरीर और आकारके बन्धनको स्वीकार नही किया।

महावीरने अपनी तप, सयम और ध्यानकी साधना द्वारा स्वय दिव्यज्योति प्राप्त की और तदनन्तर उपलब्ध उस ज्योतिके प्रकाशको जनतामे बाँट दिया। उनकी साधनाका आरम्भिक और अन्तिम बिन्दु वीतरागता थी। अन्तर केवल

१. जैन साहित्यमें विकार, पृ० ४०

पूर्णता और अपूर्णताका है। वीतरागताकी चरम परिणति ही पूर्णता है और देशना पूर्णताकी स्थितिमे ही संभव होती है। साधनाके समयमे तो महावीर प्राय मौन रहे। उन्होने मौन रहकर ही विभिन्न प्रकारके उपसर्ग और परीषहो-को जीता। मौन साधना ही आत्माके आवरणोको हटानेमे समर्थ होती है।

काम, क्रोध, मद, लोभ और मोहादि अनन्त विकृतियोके मूल वीज हैं राग और द्वेष। साधना इसी राग-द्वेषसे मुक्त होनेकी दिशामे पुरुषार्थ है। जब आत्मा विकृतियोसे मुक्त होकर अपने विशुद्ध मूलस्वरूपमे पहुँच जाती है, तो वह सदाके लिए परमशुद्ध वन जाती है। समस्त पदार्थोंकी त्रिकालवर्ती गुण-पर्याएँ प्रतिभासित होने लगती है। यही अवस्था तीर्थंकर, सर्वज्ञ और वीतरागकी होती है। महावीरने केवलज्ञान प्राप्त कर विरासतके रूपमे मिले धर्मका अनन्त गुणात्मक रूपमे प्रवचन किया।

ज्ञेयस्वरूप प्रवचन

तीर्थंकर महावीर अपने समयके महान् तपस्वी ही नही थे, वल्कि एक उच्चकोटिके विचारक तत्त्वान्वेषी थे। उन्होने धर्म, और दार्शनिक विचारोको साधु-जीवनके चरमोद्देश्य मुक्तिके साथ निवद्ध कर क्रियात्मक रूप दिया। वतलाया कि ससारके वन्धनमे पडा हुआ जीव अपने पुरुपार्थ द्वारा कर्मोके भारसे पूर्ण मुक्त होकर शाश्वत सुख मोक्षको प्राप्त कर सकता है।

महावीरके समयमे मुक्तिके साथ जीवस्वरूप, जीवका अस्तित्व, जगत्का नित्यत्व-अनित्यत्व, आत्माका शरीरसे भिन्न-अभिन्नत्व, लोकस्वरूप, आदि प्रश्नो-की चर्चा विद्यमान थी। अत उन्होने धर्म-आचारके निरूपण के पूर्व वस्तुस्वरूप-का विवेचन आवश्यक समझा, यत ज्ञेय या वस्तुके स्वरूप परिज्ञानके विना ज्ञेयको ग्रहण नही किया जा सकता। हेयोपादेयकी प्रवृत्ति ज्ञेयस्वरूपके परिज्ञान-से ही होती है। अहिसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रहका आचरण भी ज्ञेयकी जानकारीके अभावमे सभव नही। अतएव ज्ञेयस्वरूप, ज्ञेयके भेद-प्रभेद, उनका सर्वाङ्ग विवेचन तथा लोकव्यवस्था आदिके सम्वन्धमे देशना हुई। जन-साधारणके सम्मुख उठनेवाले जीवादि-सम्वन्धी प्रश्नोका समाधान भी ज्ञेयके अन्तर्गत समाहित है। अत तीर्थंकर महावीरके मुखसे पहला वाक्य "उप्पन्नेइ वा विगमेइ वा धुवेइ वा" निकला। अर्थात् वस्तु-प्रतिक्षण उत्पन्न होती है, नष्ट होती है और ध्रुव रहती है। ये तीनो ही अवस्थाएँ जिसमे रहती हैं, वही ज्ञेय है, वस्तु है, पदार्थ है।

आशय यह है कि जो उत्पाद, व्यय और ध्रौव्यसे युक्त है, वही सत् है और

जो सत् है वही द्रव्य है। उत्पाद उत्पत्तिको, व्यय विनाशको और ध्रौव्य अवस्थितिको कहते हैं। इन तीनोका परस्परमे अविनाभाव है उत्पादके विना व्यय नही होता, व्ययके विना उत्पाद नही होता और ध्रौव्य या स्थितिके विना उत्पाद और व्यय नही होते[1]। दूसरे शब्दोमे जो उत्पाद है, वही व्यय है, जो व्यय है वही उत्पाद है और जो उत्पाद-व्यय हैं, वही स्थिति है तथा जो स्थिति है वही उत्पाद-व्यय है। उदाहरणार्थ यो कहा जा सकता है कि जो घटकी उत्पत्ति है, वही मिट्टीमे पिण्डका विनाश है, यत भाव अन्य भावके अभावरूपसे दृष्टि-गोचर होता है। जो मिट्टीके पिण्डका विनाश है, वही घडेका उत्पाद है, क्योकि अभाव अन्य भावके भाव रूपसे दिखलायी पडता है और जो घटका उत्पाद तथा मिट्टीके पिण्डका विनाश है, वही मिट्टीकी स्थिति है, क्योकि व्यतिरेक अन्वय-का अतिक्रमण नही करता।[2]

यदि उपर्युक्त स्थितिको स्वीकार नही किया जाय, तो उत्पत्ति अन्य, विनाश अन्य और स्थिति अन्य प्राप्त होगे। वस्तुमे व्यय और ध्रौव्यके विना केवल उत्पादको ही माना जाय तो घटकी उत्पत्ति सभव नही होगी, क्योकि मिट्टीकी स्थिति और उसकी पिण्ड-पर्यायके विनाशके विना घट उत्पन्न नही हो सकेगा। यदि उत्पन्न होगा तो असत्का उत्पाद मानना पडेगा। एक बात यह भी होगी कि जिस प्रकार घट उत्पन्न नही होगा, उसी प्रकार अन्य पदार्थ भी उत्पन्न नही होगे।

असत्का उत्पाद माननेपर आकाशकुसुम जैसी असभव वस्तुओका भी उत्पाद मानना होगा।

१. ण भवो भगविहीणो भगो वा णत्थि सभवविहीणो।
उप्पादो वि य भगो ण विणा धोव्वेण अत्थेण॥

प्रवचनसार, गाथा १००.

२. न खलु सर्ग सहारमन्तरेण, न सहारो वा सर्गमन्तरेण, न सृष्टिसहारौ स्थितिमन्तरेण, न स्थितिः सर्गसहारमन्तरेण। य एव हि सर्ग स एव सहारः, य एव सहार स एव सर्गः, या वेव सर्गसहारौ सैव स्थिति, यैव स्थितिस्तावेव सर्गसंहाराविति। तथा हि य एव कुम्भस्य सर्ग स एव मृत्पिण्डस्य सहार, भावस्य भावान्तराभाव-स्वभावेनावभासनात्। य एव च मृत्पिण्डस्य सहार स एव कुम्भस्य सर्ग, अभावस्य भावान्तरभावस्वभावेनावभासनात्। यौ च कुम्भपिण्डयोः सर्गसहारौ सैव मृत्तिकाया. स्थिति, व्यतिरेकमुखेनैवान्वयस्य प्रकाशनात्। यैव च मृत्तिकाया स्थितिस्तावेव कुम्भपिण्डयो सर्गसहारौ, व्यतिरेकाणामन्वयानतिक्रमणात्। प्रवचनसार, गाथा १०० की अमृतचन्द्राचार्य-टीका

इसी प्रकार उत्पाद और ध्रौव्यके विना केवल व्यय माननेपर व्ययके कारणका अभाव होनेसे मिट्टीके पिण्डका विनाश नही हो सकेगा। यदि उक्त स्थितिमें विनाश होगा तो सत्के उच्छेदका भी प्रसग आएगा।

मिट्टीके पिण्डका विनाश होनेपर सभी पदार्थोंका विनाश नही होगा और सत्का उच्छेद होनेसे चैतन्यादिका भी उच्छेद हो जायगा। उत्पाद और व्ययके विना केवल स्थिति माननेपर व्यतिरेक सहित स्थितिरूप अन्वयका अभाव होनेसे मिट्टीकी स्थिति ही नही रहेगी अथवा केवल क्षणिकत्वको प्राप्त हो जायगा। मिट्टीकी स्थिति नही होनेपर सभी पदार्थोंकी स्थिति नही होगी। क्षणिकनित्यतामे बौद्धसम्मत चित्तक्षण भी नित्य हो जायगे। अत पूर्व-पूर्व पर्यायोंके विनाश, उत्तरोत्तर पर्यायोके उत्पाद तथा अन्वयरूप ध्रौव्य स्थितिसे अविनाभूत त्रैलक्षण्य ही ज्ञेय-पदार्थका स्वरूप है[1]। यही सत् है और सत् ही द्रव्य है।

उक्त त्रिलक्षणात्मक पदार्थ या द्रव्यके माननेसे वैशेषिक आदि अन्य दर्शनोंके समान गुण, कर्म, सामान्य, विशेष, समवाय और अभाव नामक पृथक् पदार्थ माननेकी आवश्यकता नही है, ये सव द्रव्यकी अवस्थाएँ हैं।

तीर्थंकर महावीरने अपने इस त्रिपदी मातृका-वाक्य द्वारा वस्तुके एकान्तरूप नित्यत्व और अनित्यत्व क्षणिकत्वकी समीक्षा की। उन्होने उद्घोषित किया कि इस विश्वमे न कोई वस्तु सर्वथा नित्य है और कोई सर्वथा क्षणिक ही। दोनो समस्वभाव हैं। जैसे आकाश द्रव्यरूपसे नित्य है, उसी प्रकार दीपक भी नित्य है और जिस प्रकार पर्यायरूपमे दीपक क्षणिक है, उसी प्रकार आकाश भी

१ यदि पुनर्नेदमेवमिष्येत तदान्य सर्गोऽन्य सहार अन्या स्थितिरित्यायाति। तथा सति हि केवल सर्ग मृगयमाणस्य कुम्भस्योत्पादनकारणाभावादभवनिरेव भवेत्, असदुत्पाद एव वा। तत्र कुम्भस्याभवनौ सर्वेषामेव भावानामभवनिरेव भवेत्। असदुत्पादे वा व्योमप्रसवादीनामप्युत्पाद स्यात्। तथा केवल सहारमारभमाणस्य मृत्पिण्डस्य सहारकारणाभावादसहरणिरेव भवेत्, सदुच्छेद एव वा। तत्र मृत्पिण्डस्यासहरणौ सर्वेषामेव भावानामसहरणिरेव भवेत्। सदुच्छेदे वा सदादीनामप्युच्छेद स्यात्। तथा केवला स्थितिमुपगच्छन्त्या मृत्तिकाया व्यतिरेकाक्रान्तस्थित्यन्वयाभावादस्थानिरेव भवेत्, क्षणिकनित्यत्वमेव वा। तत्र मृत्तिकाया अस्थानौ सर्वेषामेव भावानामस्थानिरेव भवेत्। क्षणिकनित्यत्वे वा चित्तक्षणानामपि नित्यत्वं स्यात्। तत उत्तरोत्तरव्यतिरेकाणा सर्गेण पूर्वपूर्वव्यतिरेकाणा सहारेणान्वयस्यावस्थानेनाविनाभूतमुद्योतमाननिर्विघ्नत्रैलक्षण्यलाञ्छन द्रव्यमवश्यमनुमन्तव्यम्। प्रवचनसार, गाथा १००की अमृतचन्द्र-टीका।

क्षणिक है। यत प्रत्येक सत् उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यात्मक है[1]। अतएव आकाश भी उत्पाद, व्यय और ध्रौव्यरूप है, उसमे भी प्रतिक्षण उत्पाद, व्ययकी धारा चल रही है। पर इस धाराके चलनेपर भी आकाशका स्वभाव कभी नष्ट नही होता। वस्तुके प्रतिक्षण परिवर्त्तनशील होते हुए भी उसमे एकरूपता प्रवाहित रहती है। इसे ही द्रव्यरूप कहते हैं और परिवर्त्तनको पर्यायरूप। अत वस्तु या पदार्थ द्रव्यपर्यायात्मक है।

उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य पर्यायोमे होते है और पर्यायें द्रव्यमे स्थित है।[2] तथ्य यह है कि किसी भाव अर्थात् सत्यका अत्यन्त नाश नही होता और किसी अभाव अर्थात् असत्का उत्पाद नही होता। सभी पदार्थ अपने गुण और पर्याय-रूपसे उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य युक्त रहते है। विश्वमे जितने सत् है, वे त्रैकालिक सत् हैं। उनकी संख्यामे कभी परिवर्तन नही होता; पर उनके गुण और पर्यायोमे परिवर्तन अवश्य होता है, इसका कोई अपवाद नही हो सकता है।

प्रत्येक सत् परिणामशील होनेसे उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य युक्त है। वह पूर्व पर्यायको छोडकर उत्तर पर्याय धारण करता है। उसके पूर्व पर्यायोके व्यय और उत्तर पर्यायोके उत्पादकी यह धारा अनादि-अनन्त है, कभी भी विच्छिन्न नही होती। चेतन अथवा अचेतन सभी प्रकारके सत् उत्पाद, व्यय और ध्रौव्यकी परम्परासे युक्त है। यह त्रिलक्षण पदार्थका मौलिक धर्म है, अत. उसे प्रतिक्षण परिणमन करना ही चाहिए। ये परिणमन कभी सदृश होते हैं और कभी विस-दृश तथा ये कभी एक दूसरेके निमित्तसे भी प्रभावित होते हैं। उत्पाद, व्यय और ध्रौव्यकी परिणमन-परम्परा कभी भी समाप्त नही होती। अगणित और अनन्त परिवर्त्तन होनेपर भी वस्तुकी सत्ता कभी नष्ट नही होती और न कभी उसका मौलिक द्रव्यत्व ही नष्ट होता है। उसका गुणपर्यायात्मक स्वरूप बना रहता है।

साधारणत गुण नित्य होते हैं और पर्याय अनित्य। अत. द्रव्यको नित्या-नित्य कहा जाता है। उत्पाद, व्यय और ध्रौव्यात्मक सत् ही द्रव्य है।

सत्के सम्बन्धमे चार मान्यताएँ प्रचलित है

१ सत् एक और नित्य है।

१. उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्त सत् तत्त्वार्थसूत्र ५।३०

२. उप्पादट्ठिदिभगा विज्जते पज्जएसु पज्जाया।
दव्वे हि संति णियदं तम्हा दव्व हवदि सव्वं ॥

प्रवचनसार-गाथा १०१.

२. सत् नाना और उत्पाद-व्यय विशरणशील है।

३ सत् और असत् दोनो हैं तथा सत् कारणद्रव्योंकी अपेक्षा नित्य और कार्यद्रव्योंकी अपेक्षा अनित्य है।

४. सत्के चेतन और अचेतन दो भेद है। चेतन नित्य है और अचेतन परिणामी नित्य है।

तीर्थंकर महावीरने सत् या पदार्थके सम्बन्धमे प्रचलित उक्त धारणाओंकी समीक्षा करते हुए पदार्थ या सत्को न तो सर्वथा नित्य कहा और न सर्वथा अनित्य ही। कारणद्रव्यको सर्वथा नित्य माननेसे अर्थक्रियाकारित्वका विरोध आयगा और वस्तु निष्क्रिय सिद्ध हो जायगी। कार्यद्रव्यकी अपेक्षा सर्वथा अनित्य माननेसे भी वस्तु-उच्छेदका प्रसग आयेगा। अतएव अपनी जातिका त्याग किये बिना नवीन पर्यायकी प्राप्ति उत्पाद है, पूर्व पर्यायका त्याग व्यय है और अनादि पारिणामिक स्वभावरूपसे अन्वय बना रहना ध्रौव्य है। ये उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य सत् या द्रव्यके निज रूप हैं।

तथ्य यह है कि प्रत्येक वस्तु परिवर्त्तनशील है और उसमे वह परिवर्त्तन प्रतिसमय होता है। उदाहरणार्थ एक नन्हें शिशुको लिया जा सकता है। इस शिशुमे प्रतिक्षण परिवर्त्तन हो रहा है, अत कुछ समय बाद वह युवा होता है और तदनन्तर वृद्ध। शैशवसे युवकत्व और युवकत्वसे वृद्धत्वकी प्राप्ति एकाएक नही हो जाती है। ये दोनो अवस्थाएँ प्रतिक्षण होनेवाले सूक्ष्म परिवर्तनका ही परिणाम हैं। यह यहाँ ध्यातव्य है कि प्रतिक्षण होनेवाला यह परिवर्तन इतना सूक्ष्म होता है कि हम उसे देखनेमे असमर्थ हैं। पर इस परिवर्तनके होनेपर भी उस शिशुमे एकरूपता बनी रहती है, जिसके फलस्वरूप वह अपनी युवा और वृद्ध अवस्थामे भी पहचाना जाता है। यदि त्रिलक्षणात्मक न मानकर द्रव्यको केवल नित्य मानें, तो उसमे कूटस्थ नित्यता आ जायगी और किसी भी प्रकारका परिणमन नही हो सकेगा। यदि अनित्य मान लिया जाये तो आत्माके सर्वथा क्षणिक होनेसे पूर्वमे ज्ञात किये गये पदार्थोंका स्मरण आदि व्यापार भी नही बन सकेगा।

द्रव्यमे गुण ध्रुव होते हैं और पर्याय उत्पाद-विनाशशील। अत. उत्पाद-व्ययध्रौव्यात्मकका अभिप्राय गुणपर्यायात्मकसे है। द्रव्यके इन तीनो लक्षणोमेसे एकके कहनेसे शेष दो लक्षण स्वत व्यक्त हो जाते है, क्योंकि जो सत् है, वह उत्पाद, व्यय और ध्रौव्ययुक्त है और गुण-पर्यायका आश्रय भी है तथा जो गुण-पर्यायात्मक है, वह सत् है और उत्पाद, व्यय तथा ध्रौव्यसे सयुक्त है।

महावीरने तत्त्वको त्रयात्मक बताया है। इस त्रयात्मकताकी सिद्धि निम्न-लिखित उदाहरण द्वारा होती है

एक राजाके एक पुत्र और एक कन्या थी। राजाके पास एक स्वर्णकलश है। कन्या उस कलशको चाहती है, किन्तु राजपुत्र उस कलशको तोडकर मुकुट बनवाना चाहता है। राजा पुत्रकी हठ पूरी करनेके लिए कलशको तुडवाकर उसका मुकुट बनवा देता है। कलशनाशसे कन्या दुःखी होती है, मुकुटके उत्पादसे पुत्र प्रसन्न होता है। पर राजा तो स्वर्णका इच्छुक है, जो कलश टूटकर मुकुट बन जानेपर भी मध्यस्थ रहता है, उसे न शोक होता है और न हर्ष। अतः वस्तु त्रयात्मक है।[1]

एक अन्य उदाहरण भी मननीय है

जिसने केवल दूध ही सेवन करनेका व्रत लिया है, वह दही नही खाता। जिसने केवल दही खानेका व्रत लिया है, वह दूध नही खाता और जिसने गोरसमात्र न खानेका व्रत लिया है, वह न दूध खाता है और न दही, क्योंकि दूध और दही दोनो गोरसकी पर्याये हैं, अत गोरसत्व दोनोमे है। अतएव सिद्ध होता है कि वस्तु उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यात्मक है।[2]

इस प्रकार तीर्थंकर महावीरने पदार्थका स्वरूप त्रयात्मक कहा। वस्तुतः प्रत्येक पदार्थ अनन्तधर्मात्मक है। इसे सक्षेपमे सामान्यविशेषात्मक भी माना जा सकता है।

स्वरूपास्तित्व और त्रयात्मकता

अस्तित्व दो प्रकारका है (१) स्वरूपास्तित्व और (२) सादृश्यास्तित्व। प्रत्येक द्रव्य या पदार्थको अन्य सजातीय अथवा विजातीय द्रव्यसे असकीर्ण रखनेवाला और उसके स्वतन्त्र व्यक्तित्वका प्रयोजक स्वरूपास्तित्व है।[3] इसी

१. घटमौलिसुवर्णार्थी नाशोत्पादस्थितिष्वयम्।
शोकप्रमोदमाध्यस्थ्यं जनो याति सहेतुकम्॥

आप्तमीमासा, पद्य ५९

२ पयोव्रतो न दध्यत्ति न पयोऽत्ति दधिव्रत।
अगोरसव्रतो नोभे तस्मात्तत्त्वं त्रयात्मकम्॥

वही, पद्य ६०.

३ सब्भावो हि सहावो गुणेहिं सगपज्जएहिं चित्तेहिं।
दव्वस्स सव्वकाल उप्पादव्वयधुवत्तेहिं॥

अस्तित्व हि किल द्रव्यस्य स्वभाव, तत्पुनरन्यसाधननिरपेक्षत्वादनाद्यनन्ततया हेतुकयैकरूपतया वृत्त्या नित्यप्रवृत्तत्वाद्विभावधर्मवैलक्षण्याच्च, भावभाववद्भावान्ना-

अस्तित्वके कारण प्रत्येक द्रव्यकी पर्यायें अपनेसे भिन्न किसी भी सजातीय या विजातीय द्रव्यकी पर्यायोसे असंकीर्ण बनी रहती है, जिससे उनका पृथक् अस्तित्व पाया जाता है। यह स्वरूपास्तित्व दो कार्य सम्पन्न करता है

(१) प्रत्येक द्रव्यको इतर द्रव्योंसे व्यावृत्त पृथक् करता है।
(२) अपने कालक्रमसे होनेवाली पर्यायोमे अनुगत रहता है।

स्वरूपास्तित्वके कारण अपनी पर्यायोमे अनुगतप्रत्यय अनुगताकारप्रतीति, उत्पन्न होती है और इतर द्रव्योसे व्यावृत्त प्रत्यय भी। इस स्वरूपास्तित्वको ऊर्ध्वता सामान्य और अवान्तर सत्ता भी कहा जाता है। आशय यह है कि प्रत्येक द्रव्यके जितने अखण्ड प्रदेश हैं, वह द्रव्य उतने प्रदेशोके साथ अपनी सत्ताको दूसरे द्रव्यसे पृथक् रखता है तथा उसकी इस अवान्तर अथवा पृथक् सत्तामे ही गुण-पर्यायत्व या उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यत्व रहते हैं। जहाँ द्रव्यका अस्तित्व है, वही उसके गुण-पर्याय है और वही उनके उत्पाद, व्यय एव ध्रौव्य है। न कोई द्रव्य कभी अपनी सत्ताको छोडता है, न गुण-पर्यायोको और न उत्पाद, व्यय, ध्रौव्यको ही। यही द्रव्य है, यही अपने क्रमिक पर्यायो द्वारा द्रवित प्राप्त होता है।

स्वरूपास्तित्वको ही ध्रौव्य माना जाता है। किसी एक द्रव्यके प्रतिक्षण परिणमन करते रहनेपर भी उसका किसी सजातीय या विजातीय द्रव्यान्तररूपसे परिणमन नही होना ध्रौव्य है। इस स्वरूपास्तित्वके ही द्रव्य, ध्रौव्य अथवा गुण नामान्तर हैं। स्वरूपास्तित्व अथवा ध्रौव्य गुणके कारण ही प्रतिक्षण पर्यायरूपसे परिवर्तन होनेपर भी उसकी अनाद्यनन्त स्वरूपस्थिति बनी रहती है और इसी कारण द्रव्यका समूलोच्छेद नही हो पाता। यह काल्पनिक नही है, परमार्थ सत्य है।

सादृश्यास्तित्व और नैयात्मकता

नाना द्रव्योंमे अनुगत व्यवहार करनेवाला सादृश्यास्तित्व होता है। इसे तिर्यक् सामान्य या सादृश्यसामान्य कहते हैं[1]। अनेक स्वतन्त्र सत्तावाले द्रव्योमे

नात्वेऽपि प्रदेशभेदाभावाद् द्रव्येण सहैकत्वमवलम्बमान द्रव्यस्य स्वभाव एव कथं न भवेत्। तत्तु द्रव्यान्तराणामिव द्रव्यगुणपर्यायाणा न प्रत्येक परिसमाप्यते। यतो हि परस्परसाधितसिद्धियुक्तत्वात्तेषामस्तित्वमेकमेव, कार्तस्वरवत्।

प्रवचनसार, गाथा ९६ तथा अमृतचन्द्राचार्य-टीका

१. इह विविहलक्खणाण लक्खणमेग सदिति सव्वगय।
उवदिसदा खलु धम्मं जिणवरवसहेण पण्णत्त॥

प्रवचनसार, गाथा ९७

अनुगत प्रत्ययकी कल्पना सम्भव नही, यतः स्वतन्त्र सत्तावाले द्रव्योमे अनुस्यूत कोई एक पदार्थ हो ही नही सकता। इसे पृथक् सत्तावाले द्रव्योकी सयुक्त पर्याय तो माना नही जा सकता, क्योकि एक पर्यायमे दो अतिभिन्नक्षेत्रवर्ती द्रव्य उपादान नही होते। जिस व्यक्तिने अनेक मनुष्योमे बहुतसे अवयवोकी समानता देखकर सादृश्यकी कल्पना की है, उसीको उस सादृश्यके संस्कारके कारण 'मनुष्यः मनुष्यः' इस प्रकारकी अनुगत प्रतीति होती है। अतएव दो विभिन्न द्रव्योमे अनुगत प्रतीतिका कारणभूत सादृश्यास्तित्व मानना पड़ता है, इसे ही महासत्ता कहा जाता है।

अभिप्राय यह है कि एक द्रव्यकी दो पर्यायोमे अनुगतप्रत्यय ऊर्ध्वता सामान्यसे होता है और व्यावृत्तप्रत्यय पर्यायनामके विशेषसे। दो विभिन्न द्रव्योमे अनुगत-प्रत्यय तिर्यक् सामान्य सादृश्यास्तित्वसे तथा व्यावृत्तप्रत्यय व्यतिरेकनामक विशेषसे होता है। तिर्यक् सामान्यरूप सादृश्यकी अभिव्यक्ति यद्यपि पर-सापेक्ष है, किन्तु उसका आधारभूत प्रत्येक द्रव्य अलग-अलग है। यह उभयनिष्ठ न होकर प्रत्येकमे परिसमाप्त है।

सामान्यविशेषात्मक अथवा अनन्तधर्मात्मक वस्तु या पदार्थमे ध्रौव्यांशको ऊर्ध्वतासामान्य और उत्पाद-व्ययको पर्याय नामक विशेष कहा जाता है। यदि केवल स्वरूपास्तित्वरूप ऊर्ध्वतासामान्यको ही स्वीकार किया जाय, तो वस्तु त्रिकालमे सर्वथा एकरस, अपरिवर्तनशील और कूटस्थ बनी रहेगी। इस प्रकारके पदार्थमे कोई परिणमन न होनेसे जगत्के समस्त व्यवहार उच्छिन्न हो जायँगे। कोई भी क्रिया कार्यकारी नही हो सकेगी। पुण्य, पाप, बन्ध, मोक्ष आदिकी व्यवस्था भी नष्ट हो जायगी। अतः वस्तु या पदार्थमे परिवर्तन स्वीकार करना होगा।

इसी प्रकार यदि पदार्थको पर्यायनामक विशेषके रूपमे ही स्वीकार किया जाय अर्थात् क्षणिक माना जाय, तो पूर्वक्षणका उत्तरक्षणके साथ कोई सम्बन्ध ही घटित नही हो सकेगा।

अतएव पदार्थ या वस्तु सामान्य-विशेष, एक-अनेक, विधि-निषेध आदि परस्परविरुद्ध प्रतीत होनेवाले समस्त धर्मोके समन्वयका पिण्ड है। वस्तुको सर्वथा नित्य माननेपर उसमे उत्पाद-व्यय सम्भव नही है, अतएव क्रिया-कारककी योजना भी नही बन सकती है। इसी प्रकार जो सर्वथा असत् है, उसका कभी जन्म नही होता और जो सत् है, उसका कभी नाश नही होता। दीपकके बुझ जानेपर भी उसका सर्वथा नाश नही माना जाता, यतः उस समय अन्धकार-

रूप पुद्गल-पर्यायके रूपमे उसका अपना अस्तित्व रहता है।[1]

द्रव्य : लक्षण

जो मौलिक पदार्थ अपनी पर्यायोको क्रमश प्राप्त होता है, वह द्रव्य है। अथवा अनेक गुणोके अविष्वग्भावविशिष्ट अखण्ड पिण्डको द्रव्य कहते है। द्रव्यके नामान्तर पदार्थ, वस्तु और तत्त्व भी है। द्रव्यके 'सद्द्रव्यलक्षण' और 'गुणपर्ययवद्' ये दो लक्षण प्रसिद्ध हैं। इन दोनो लक्षणोमे परस्पर-विरोध नही है, किन्तु अपेक्षाविशेषसे दोनो एक ही अभिप्रायके समर्थक हैं।

द्रव्य एक अखण्ड पदार्थ है और वह अनेक कार्य करता है। इस कारण-कार्यसे अनुमित कारणरूप शक्त्यंशोकी कल्पना की जाती है तथा इन शक्त्यंशो-को ही गुण कहते है। ये गुण उस अखण्ड पिण्ड स्वरूप द्रव्यसे भिन्न सत्तावाले कोई भिन्न पदार्थ नही हैं। इन गुणोका समुदाय ही द्रव्य है और जो द्रव्य है, वही गुण हैं। द्रव्यसे भिन्न गुण नही और गुणोसे भिन्न द्रव्य नही है।

उक्त दोनो द्रव्यलक्षणोका अभिप्राय द्रव्यका कथञ्चित् नित्यानित्यात्मक होना है। उत्पाद, व्यय और ध्रौव्यरूप सत्मे ध्रौव्य नित्यका और उत्पाद, व्यय उत्पत्ति तथा नाशके सूचक है। जिसमे उत्पत्ति और नाश होते है, वह अनित्य तथा ध्रौव्यके रहनेसे नित्य माना जाता है। इस प्रकार द्रव्य कथञ्चित् नित्यानित्य सिद्ध होता है। 'गुणपर्ययवद्द्रव्य' लक्षणमे भी गुण नित्य धर्मके सूचक और पर्याय अनित्य धर्मका बोधक है। अतएव दोनो लक्षणोका तात्पर्य एक है।

गुण : स्वरूप और भेद

शक्तिविशेषको गुण कहते हैं, इसमे अन्य शक्तिका वास नही रहता, इस-लिए इसे निर्गुण कहा जाता है। गुणका पर्याय स्वभाव और विशेषको भी माना जाता है। जिस प्रकार आम्रफलमे भिन्न-भिन्न इन्द्रियगोचर स्पर्श, रस, गन्ध, वर्ण आदि अनेक गुण दृष्टिगोचर होते है, उसी प्रकार जीव, पुद्गल आदि प्रत्येक द्रव्यमे अनेक गुण विद्यमान रहते है। ये गुण द्रव्यसे भिन्न नही है। उदाहरणार्थ यो समझा जा सकता है कि जिस प्रकार मूल, स्कन्ध, शाखा, पत्र, पुष्प और फलोके समुदायको वृक्ष कहते है, तथा मूल, स्कन्ध आदि वृक्षसे भिन्न पदार्थ नही है, उसी प्रकार गुणोका जो समुदाय है, वही द्रव्य है। गुणोसे द्रव्य कोई भिन्न पदार्थ नही है।

१. न सर्वथा नित्यमुदेत्यपैति न च क्रियाकारकमत्र युक्तम्।
   नैवासतो जन्म सतो न नाशो दीपस्तम पुद्गलभावतोऽस्ति ॥ स्वयम्भूस्तोत्र, पद्य २४

द्रव्यमे अनन्त गुण विद्यमान हैं। इन्हे साधारणत. दो वर्गोंमे विभक्त किया जा सकता है (१) सामान्यगुण और (२) विशेषगुण।

जो गुण अनेक द्रव्योमे पाये जाते हैं, वे सामान्य गुण हैं। सामान्यगुणके मुख्य छ भेद है (१) अस्तित्व, (२) वस्तुत्व, (३) द्रव्यत्व, (४) प्रमेयत्व, (५) अगुरुलघुत्व और (६) प्रदेशवत्व।

जिस शक्तिके निमित्तसे द्रव्यका कभी भी अभाव नही होता, सदा अस्तित्व बना रहता है, उसे अस्तित्व कहते हैं।

जिस शक्तिके निमित्तसे द्रव्यमे अर्थक्रियाकारित्व विद्यमान रहता है, उसे द्रव्यत्व कहते हैं। इस गुणके कारण ही द्रव्यमे अर्थक्रियाकी प्रवृत्ति होती है।

जिस शक्तिके निमित्तसे द्रव्य अर्थात् उसके समस्त गुण प्रतिक्षण एक अवस्थाको त्यागकर अन्य अवस्थाको प्राप्त होते हैं, उसे द्रव्यत्व गुण कहते है। इस गुणके कारण द्रव्य परिणामान्तर अर्थात् पर्यायरूप परिणमन करता है।

जिस शक्तिके निमित्तसे द्रव्य किसी न किसी ज्ञानका विषय हो, उसे प्रमेयत्व कहते है। इस गुणके सद्भावसे द्रव्य प्रमाणका विषय बनता है।

जिस शक्तिके निमित्तसे द्रव्यकी अनन्त शक्तियाँ एक पिण्डरूप रहती हैं तथा एक शक्ति दूसरी शक्तिरूप परिणमन नही करती, उस शक्तिको अगुरु-लघुत्व गुण कहते है।

जिस शक्तिके निमित्तसे द्रव्यमे आकारविशेष होता है, उसे प्रदेशवत्व गुण कहते है।

ये छ गुण सामान्य है, क्योकि सभी द्रव्योमे पाये जाते हैं। चेतनत्व, मूर्त्तत्व और अमूर्त्तत्व आदि विशेषगुण हैं, क्योकि ये गुण खास द्रव्योमे ही पाये जाते हैं। गुण द्रव्यका सहभावी विशेष है। गुण द्रव्यसे पृथक् नही पाये जाते है। इन्हे भी द्रव्यके समान कथञ्चित् नित्य और कथञ्चित् अनित्य माना गया है। उदा-हरणार्थ यो कहा जा सकता है कि जीवमे ज्ञान, पुद्गलमे मूर्त्तत्व और धर्मद्रव्यमे अमूर्त्तत्व गुणोका अन्वय सदा दृष्टिगोचर होता है। ऐसा समय कभी न तो प्राप्त हुआ है और न प्राप्त होगा, जिसमे ज्ञानादि गुणोका अभाव रहे। इससे ज्ञात होता है कि ज्ञानादि गुण नित्य है और उनकी यह नित्यता प्रत्यभिज्ञानसे सिद्ध है। विषय-भेदसे जीवका ज्ञानगुण परिवर्तित हो सकता है। जब वह घटको जानता है, तब ज्ञान घटाकार हो जाता है और जब पटको जानता है, तो पटा-कार परिणत हो जाता है। पर ज्ञानकी धारा कभी भी विच्छिन्न नही होती।

अतएव ज्ञानसन्तानकी अपेक्षा ज्ञान गुण नित्य है। इसी नित्यको ध्रौव्य भी कहा जाता है। अपरिणामी ध्रुवत्व इष्ट नहीं है। फलितार्थ यह है कि गुण विविध अवस्थाओंमे रहकर भी अपने स्वभावको नहीं छोडता, इसी कारण वह नित्य कहा जाता है। यथा हरा आम पकने पर पीत हो जाता है, तो भी उससे रंग पृथक् नहीं रहता है। इससे स्पष्ट है कि वर्ण, नित्य है यही सिद्धान्त समस्त गुणोंके सम्बन्धमे है।

यहाँ यह ज्ञातव्य है कि नित्यताका अर्थ सर्वदा एक-सा बना रहना नहीं है, अपितु परिणमनशीलतायुक्त सततप्रवहमान रहना भी है। किसी भी वस्तु या गुणमे विजातीय परिणमन नहीं होता। जीव बदल कर पुद्गल या अन्य द्रव्यरूप नहीं होता और पुद्गल या अन्य द्रव्य बदलकर जीवरूप नहीं होता। जीव सदा जीव ही बना रहता है और पुद्गल पुद्गल ही। जो द्रव्य जिस रूपमे है, उसी रूपमे बना रहता है। जीव चीटीसे हाथी या मनुष्य हो सकता है, पर जीवत्वको कभी नहीं छोड सकता। अतएव प्रत्येक वस्तु या गुणमे सजातीय परिणमन निरन्तर होता रहता है। प्राय देखा जाता है कि हमारी बुद्धि विषयके अनुसार सदा परिवर्तित होती है। जो बुद्धि वर्त्तमानमे पटको जान रही है, वह कालान्तरमे घटको जानने लगती है। इस प्रकार हरा आम कालान्तरमे पीला हो जाता है। अत इस प्रकार परिणमनोंकी भिन्नताके कारण ही गुणोंको सर्वथा नित्य नहीं माना जा सकता। इससे सिद्ध है कि गुण कथञ्चित् अनित्य भी है।

तत्त्वत गुण और पर्याय सर्वथा पृथक्-पृथक् सिद्ध नहीं होते, ये कथञ्चित् भेदाभेदात्मक है। यदि गुणोंको सर्वथा नित्य और पर्यायोंको सर्वथा अनित्य माना जाय, तो अर्थक्रियाकारित्वका विरोध आता है। गुण और पर्यायोंसे पृथक् द्रव्य नाम की कोई वस्तु नहीं है।

जिस प्रकार वस्तु परिणमनशील है, उसी प्रकार गुण भी परिणमनशील है, अत निश्चयत गुणमे भी उत्पाद और व्यय ये दोनों होते हैं उनमे ध्रौव्यकी स्थिति गुणसन्ततिकी अपेक्षा प्रत्यभिज्ञानसे सिद्ध है। अतएव गुण स्वयसिद्ध और परिणामी भी हैं, इसलिए नित्य और अनित्यरूप होनेसे उनमे उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यात्मकता भी सिद्ध है।

सक्षेपमे द्रव्यमे भेद करनेवाले धर्मको गुण कहते है अथवा जो द्रव्यको द्रव्यान्तरसे पृथक् करता है, वह गुण है। वस्तुकी सहभावी विशेषताका वाचक भी गुण है। द्रव्यके विस्तार-विशेषको भी आचार्योंने गुण माना है। गुणके अन्य प्रकारसे तीन भेद है. १. साधारण, २. असाधारण, ३ साधारणासाधारण।

वस्तुस्वरूप-विवेचनकी दृष्टिसे गुणोके चार भी भेद है. १ अनुजीवी, २ प्रतिजीवी, ३. पर्यायशक्तिरूप, ४ आपेक्षिक धर्मरूप।

गुणोके स्वभाव और विभावकी अपेक्षासे भी भेद सभव है।

भावस्वरूप गुण अनुजीवी कहलाते है। यथा सम्यक्त्व, चारित्र, सुख, चेतना, स्पर्श, रस, गन्ध, वर्ण आदि। वस्तुके अभावस्वरूप धर्मको प्रतिजीवी कहा जाता है। यथा नास्तित्व, अमूर्त्तत्व, अचेतनत्व आदि। प्रागभाव, प्रध्वसाभाव, अत्यन्ताभाव और अन्योन्याभाव ये प्रतिजीवी गुणस्वरूप अभावाश होते है।

प्रकारान्तरसे सामान्यगुणके दस भेद है (१) अस्तित्व, (२) वस्तुत्व, (३) द्रव्यत्व, (४) प्रमेयत्व, (५) अगुरुलघुत्व, (६) प्रदेशत्व, (७) चेतनत्व, (८) अचेतनत्व, (९) मूर्त्तत्व और (१०) अमूर्त्तत्व। इन दस गुणोमेसे प्रत्येक द्रव्यमे आठ-आठ गुण रहते है। यत जीवद्रव्यमे अचेतनत्व और मूर्त्तत्व नही है तथा पुद्गलमे चेतनत्व और अमूर्त्तत्व नही है। धर्म, अधर्म, आकाश और कालद्रव्योमे चेतनत्व और मूर्त्तत्वगुणका अभाव है। इस प्रकार प्रत्येक द्रव्यमे आठ-आठ गुण पाये जाते है। आपेक्षिक गुणोमे नास्तित्व, एकत्व, अन्यत्व, कर्तृत्व, अकर्तृत्व, भोक्तृत्व और अभोक्तृत्वकी गणना की जाती है।

गुणोके साधारणत्व और असाधारणत्वका निर्देश करते हुए बतलाया है कि ज्ञानादि गुण स्वजातिकी अपेक्षा साधारण होते हुए भी विजातिकी अपेक्षा असाधारण है। ये गुण जीवद्रव्यके प्रति साधारण है और शेष द्रव्योमे न पाये जानेसे उनके प्रति असाधारण है। अमूर्त्तत्व गुण पुद्गल द्रव्यके प्रति असाधारण है, परन्तु आकाशादि अन्य द्रव्योके प्रति साधारण है। प्रदेशत्व गुण कालद्रव्य और पुद्गल परमाणुके प्रति असाधारण है, परन्तु शेष द्रव्योके प्रति साधारण है।

पर्याय : स्वरूपनिर्धारण और भेद

द्रव्यकी परिणत्तिको पर्याय कहते है। पर्याय[1] का वास्तविक अर्थ वस्तुका अंश है। अशके दो भेद है (१) अन्वयी और (२) व्यतिरेकी। अन्वयी अशको गुण और व्यतिरेकीको पर्याय कहते है। व्युत्पत्तिकी दृष्टिसे जो स्वभाव, विभाव-

१. परि समन्तादाय' पर्याय जो सब ओरसे भेदको प्राप्त करे, वह पर्याय है।

रूपसे परिणमन करती है, वह पर्याय है।[1] प्रतिसमयमे गुणोकी होनेवाली अवस्थाका नाम पर्याय है। व्यवहार, विकल्प, भेद और पर्याय एकार्थक हैं।

पर्याय क्रमवर्ती, अनित्य, व्यतिरेकी, उत्पाद-व्ययरूप और कथञ्चित् ध्रौव्यात्मक होती हैं।[2] पर्यायके व्यञ्जनपर्याय और अर्थपर्यायकी अपेक्षा दो भेद हैं। प्रदेशत्व गुणकी अपेक्षा किसी आकारको लिए हुए द्रव्यको जो परिणति होती है, उसे व्यञ्जनपर्याय कहते है और अन्य गुणोकी अपेक्षा षड्गुणी हानि-वृद्धिरूप जो परिणति होती है, उसे अर्थपर्याय कहते हैं। इन दोनों पर्यायोके स्वभाव और विभागकी अपेक्षा दो-दो भेद होते हैं। स्वनिमित्तकपर्याय स्वभाव-पर्याय है और परनिमित्तकपर्याय विभावपर्याय है। जीव और पुद्गलको छोडकर शेष चार द्रव्योका परिणमन स्वनिमित्तक होता है, अत. उनमे स्वभाव-पर्याय सर्वदा रहती है। जीव और पुद्गलकी जो पर्याय परनिमित्तक है, वह विभावपर्याय कहलाती है। परका निमित्त दूर हो जानेपर जो पर्याय होती है, वह स्वभावपर्याय कही जाती है।

प्रकारान्तरसे विचार करनेपर द्रव्यकी अंश-कल्पनाको पर्याय कहा जाता है। यह अंश-कल्पना दो प्रकारकी होती है (१) तिर्यगंशकल्पना और (२) ऊर्ध्वांशकल्पना। एक समयमे द्रव्यके अखण्ड देशमें विष्कम्भक्रमसे जो देशांशो-की कल्पना होती है, उसे तिर्यगंशकल्पना कहते है और इसीको द्रव्यपर्याय कहते है। अनेक समयोमे प्रत्येक गुणकी कालक्रमसे तरतमरूप गुणांशकल्पना-को ऊर्ध्वांशकल्पना कहते है और यही गुणपर्याय है।

शक्ति गुण दो प्रकारकी होती है -एक भाववती शक्ति और दूसरी क्रिया-वती शक्ति। द्रव्यके ज्ञानादिक स्वभावोको भाववती शक्ति कहते है। द्रव्यकी उस शक्तिको, जिसके निमित्तसे द्रव्यमे प्रदेशपरिस्पन्दन—चलन होकर आकार-विशेषकी प्राप्ति होती है, क्रियावती शक्ति कहते हैं। इसका ही दूसरा नाम प्रदेशत्व है। गुणके परिणमनको गुणपर्याय कहा जाता है। गुणके दो भेद होनेसे गुणपर्यायके भी दो भेद हैं (१) अर्थगुणपर्याय और (२) व्यञ्जनगुण-

---

१. स्वभावविभावरूपतया याति पर्येति परिणमतीति पर्याय इति।

आलापपद्धति अ ६

२ क्रमवर्त्तिनो ह्यनित्या अथ च व्यतिरेकिणश्च पर्याया।
उत्पादव्ययरूपा अपि च ध्रौव्यात्मका कथञ्चिच्च॥

पञ्चाध्यायी, प्रथम अध्याय, पद्य १६५.

पर्याय। भाववती शक्तिके परिणमनको अर्थगुणपर्याय और क्रियावती शक्तिके परिणमनको व्यञ्जनगुणपर्याय कहते हैं।

प्रदेशवत्व गुणके परिणमनका नाम द्रव्य या व्यञ्जनपर्याय है और शेष गुणोंके परिणमनको गुणपर्याय या अर्थपर्याय कहा जाता है।[1]

संसारका प्रत्येक पदार्थ द्रव्य, गुण और पर्यायसे तन्मयीभावको प्राप्त हो रहा है। क्षणभरके लिए भी न तो द्रव्य पर्यायसे रहित मिलता है और न पर्याय द्रव्यसे रहित। यद्यपि पर्याय क्रमवर्ती है,[2] तो भी सामान्यरूपसे कोई न कोई पर्याय प्रत्येक समयमें रहती है। इसी द्रव्यपर्यायात्मक पदार्थको सामान्यविशेषात्मक या अनेकान्तात्मक कहा जाता है।

अतएव ज्ञेय उत्पादादि त्रयात्मक, गुणपर्यायात्मक है। ज्ञानका विषय होनेसे यह ज्ञेय कहलाता है। ज्ञेय अर्थ द्रव्यरूप है और द्रव्य गुण-पर्यायरूप है। इस प्रकार द्रव्य, गुण और पर्यायका त्रिक ही ज्ञानका विषय होनेसे ज्ञेय कहा गया है।

जीवादि द्रव्य अपना-अपना स्वत सिद्ध अस्तित्व रखते हैं और लोकाकाशमे एक क्षेत्रावगाहरूपसे स्थित होनेपर भी अपनी-अपनी स्वतन्त्र सत्ताको नही छोडते हैं।

द्रव्य-निरूपण

गुण और पर्यायोको प्राप्त होनेवाले द्रव्यके मूल छ भेद है (१) जीव, (२) पुद्गल, (३) धर्म, (४) अधर्म, (५) आकाश और (६) काल। ये छ द्रव्य ज्ञेय या प्रमेय कहलाते हैं। इनमे जीव, पुद्गल और काल अनेक भेदस्वरूप

१ तन्न यतोऽस्ति विशेष सति च गुणाना गुणत्ववत्वेऽपि।
चिदचिद्यथा तथा स्यात् क्रियावती शक्तिरथ च भागवती॥
तत्र क्रिया प्रदेशो देशपरिस्पन्दलक्षणो वा स्यात्।
भाव शक्तिविशेषस्तत्परिणामोऽथवा निरंशाशै॥
यतरे प्रदेशभागास्ततरे द्रव्यस्य पर्यायनाम्ना।
यतरे च विशेषाशास्ततरे गुणपर्यया भवन्त्येव॥
पञ्चाध्यायी, १।१३३-१३५.

२. विष्कम्भ क्रम इति वा क्रम' प्रवाहस्य कारणं तस्य।
न विवक्षितमिह किञ्चित्तत्र तथात्व किमन्यथात्व वा॥
क्रमवर्तित्वं नाम व्यतिरेकपुरस्सरं विशिष्ट च।
स भवति भवति न सोऽय भवति तथाथ च तथा न भवति॥ वही, १।१७४-७५.

हैं और धर्म, अधर्म एव आकाश ये तीन द्रव्य अनेक भेदस्वरूप न होकर एक-एक अखण्ड द्रव्य हैं। जो गुण अपने समस्त भेदोमे रहकर अन्य द्रव्यमे न पाया जाय वही विशेषगुण लक्षणस्वरूप होता है, तथा इसीके द्वारा द्रव्यकी पहचान होती है।

इन छः द्रव्योमे जीव और अजीव द्रव्य प्रधान है, यत सभी द्रव्य किसी न किसी रूपमे इन दोनो द्रव्योके हेतु कार्यरत रहते हैं। प्रथमत जीवद्रव्यका विवेचन किया जाता है

जीवद्रव्य स्वरूप

जीव और अजीवका सम्पर्क ही ऐसी विभिन्न शक्तियोका निर्माण करता है, जिनके कारण जीवको नाना प्रकारकी अवस्थाओका अनुभव करना पडता है। यदि यह सम्पर्क-धारा अवरुद्ध हो जाय और उत्पन्न हुए बन्धनोको जर्जरित या नष्ट कर दिया जाय, तो जीव अपनी शुद्ध-बुद्ध और मुक्त अवस्थाको प्राप्त हो सकता है।

जीव इन्द्रिय-अगोचर ऐसा तत्त्व है, जिसकी प्रतीति अनुभूति द्वारा ही सम्भव है। जीवको ही आत्मा कहा जाता है। प्राणियोके अचेतन तत्त्वसे निर्मित शरीरके भीतर स्वतन्त्र आत्मतत्त्वका अस्तित्व है और यह आत्मतत्त्व ही चेतन या उपयोगरूप है। आत्मा स्वतन्त्र और मौलिक है। उपयोग जीवका लक्षण है और उपयोगका अर्थ चैतन्य-परिणति है। चैतन्य जीवका असाधारण गुण है, जिसके कारण वह समस्त जड द्रव्योसे अपना पृथक् अस्तित्व रखता है। बाह्य और आभ्यन्तर कारणोसे इस चैतन्यके ज्ञान और दर्शन रूपसे दो परिणमन होते हैं। जब चैतन्य स्वसे भिन्न किसी ज्ञेयको जानता है, उस समय वह ज्ञान कहलाता है और जब चैतन्य मात्र ज्ञेयाकार रहता है, तब वह दर्शन कहलाता है। जीव असख्यात प्रदेशवाला है और अनादिकालसे सूक्ष्म कार्मण-शरीरसे सम्बद्ध है। अत चैतन्य युक्त जीवकी पहचान व्यवहारमे पॉच इन्द्रिय, मन-वचन-कायरूप तीन बल तथा श्वासोच्छ्वास और आयु इस प्रकार दश प्राणरूप लक्षणोकी हीनाधिक सत्ताके द्वारा ही की जा सकती है।[1]

यो तो जीवमे अनेक गुण हैं, पर उसकी कर्तृत्व और भोक्तृत्व शक्तियाँ प्रधान हैं। (१) जीव जीव है, (२) उपभोगरूप है, (३) अमूर्तिक है, (४) कर्त्ता है,

१. पंच वि इंदियपाणा मनवचकायेसु तिण्णि बलपाणा।
आणप्पाणप्पाणा आउगपाणेण होंति दस पाणा॥ गो० जी० १२९

(५) स्वदेह परिमाण है, (६) भोक्ता है, (७) ससारी है, (८) सिद्ध है और (९) है स्वभावसे उर्ध्व गमन करनेवाला।[1]

ससारमे जीवोकी सख्या अनन्त है। प्रत्येक शरीरमे विद्यमान जीव अपना स्वतन्त्र अस्तित्व रखता है और इस अस्तित्वका कभी ससार अथवा मोक्षमे विनाश नही होता। जीवमे रूप, रस, गध और स्पर्श ये चार पुद्गलके धर्म नही पाये जाते हैं। अतएव वह स्वभावसे अमूर्तिक है, फिर भी प्रदेशोमे सकोच और विस्तार होनेसे वह अपने छोटे-बडे शरीरके परिमाण हो जाता है।

आत्मसिद्धि

यह प्रश्न निरन्तर उठाया जा रहा है कि आत्मा शरीरके अतिरिक्त और कोई तत्त्व नही है। जब आत्म-तत्त्व नही, तो फिर ससार, बन्ध और मोक्षकी आवश्यकता ही क्या है ? अतएव पृथ्वी, जल, वायु और आकाशके अतिरिक्त आत्म-तत्त्व नहीं है। इन चारो भूतोके सयोगसे ही चैतन्यशक्तिकी उत्पत्ति होती है, जिस प्रकार गुड, जौ, आदिके सयोगसे मादकशक्ति उत्पन्न हो जाती है, उसी प्रकार इन चारो भूतोके सयोगसे इस शरीररूपी यन्त्रका सचालन उत्पन्न हो जाता है।

देहात्मवाद या अनात्मवादके अनुसार शरीर ही आत्मा है, इससे भिन्न कोई आत्मा नही। अतएव पुनर्जन्म और परलोकका अभाव है। यदि शरीरसे भिन्न कोई आत्मा है और मरनेपर यह आत्मा परलोक चली जाती है, तो बन्धु-बान्धवोंके स्नेहसे आकृष्ट हो, वह वहाँसे लौट क्यो नही आती है। हमे इन्द्रियातीत कोई आत्मा दिखलायी नही पडती। अत भूतचतुष्टयके सयोगसे उत्पन्न शक्ति-विशेष ही आत्मा है।

प्रत्यक्ष द्वारा भौतिक जगत्का ज्ञान प्राप्त होता है। यह जगत् चार प्रकारके भौतिक तत्त्वोसे बना हुआ है। वायु, अग्नि, जल और पृथ्वी ये चारही भौतिक तत्त्व हैं। इन तत्त्वोका ज्ञान हमे इन्द्रियोके द्वारा प्राप्त होता है। ससारके जितने द्रव्य हैं, वे सभी इन चार तत्त्वोसे बने हुए हैं।

उत्तरपक्ष

यह जीव अपने शरीरमे सुखादिककी तरह स्वसवेदनसे जाना जाता है। क्योंकि उसके स्व-सविदित होनेमे कोई भी बाधक कारण नही है और दूसरी

१ जीवो उवओगमओ अमुत्ति कत्ता सदेह-परिमाणो।
भोत्ता ससारत्थो मुत्तो सो विस्ससोड्ढगई॥ द्रव्यसग्रह, गा० २.

बात यह है कि बुद्धिपूर्वक कार्य व्यापार देखा जाता है। अत जिस प्रकार अपने शरीरमे जीव है, उसी प्रकार दूसरेके शरीरमे भी जीव है, यह अनुमानसे जाना जाता है। तत्काल उत्पन्न हुआ बालक जो माताके स्तन पीता है, उसे पूर्वभवका सस्कार छोडकर अन्य कोई भी सिखानेवाला नही है। आत्मा अमूर्तिक है और ज्ञानके द्वारा ही जानी जाती है।

भूतचतुष्टयके सयोगसे जीव उत्पन्न होता है, यह कथन भी निराधार है, क्योकि बटलोहीमे दाल बनाते समय जल, अग्नि, वायु और पृथ्वी इन चारो तत्त्वोका सयोग है, पर चेतनकी उत्पत्ति नही होती है। गुड आदिके सम्बन्धसे होनेवाली जिस अचेतन उन्मादिनी शक्तिका कथन किया है, वह उदाहरण चेतनके विषयमे लागू नही होता।

भूतचतुष्टयरूप आत्मतत्त्वकी सिद्धि सम्भव नही है। यत पृथ्वी, अप, तेज और वायु ये तत्त्व है। इनके समुदायसे शरीर, इन्द्रिय और विषयाभिलाप अभिव्यक्त होती है। यह अभिव्यक्ति किसकी है ? सत्‌की या असत्‌की अथवा सद्-असद्‌रूपकी ? प्रथम पक्षमे अनादि और अनन्त चैतन्यकी सिद्धि हो जायगी। दूसरी बात यह है कि सद् चैतन्यकी अभिव्यक्ति माननेपर 'परलोकिनोऽभावात्परलोकाभावः' यह भी स्वत खण्डित हो जायगा। असद् चैतन्यकी अभिव्यक्ति तो मानी नही जा सकती, क्योकि किसी असद् वस्तुकी अभिव्यक्ति नही देखी जाती। कथचित् सद्-असद् माननेपर परमतका प्रवेश हो जायगा।

भूतचतुष्टयको चैतन्यके प्रति उपादानकारण माना जाय, या सहकारीकारण ? उपादानकारण तो कहा नही जा सकता, क्योकि चैतन्यके साथ भूतचतुष्टयका अन्वय ही नही। जिस वस्तुका जिसके साथ अन्वय रहता है, वही वस्तु उसका उपादान होती है। जैसे मुकुटका निर्माण स्वर्णके होनेपर होता है, अत स्वर्णका मुकुटके साथ अन्वय माना जायगा, पर भूतचतुष्टयके रहनेसे तो आत्माकी उत्पत्ति नही होती। अत भूतचतुष्टयको आत्माका उपादान नही माना जा सकता। दूसरी बात यह है कि ससारमे सजातीय कारणसे सजातीय कार्यकी उत्पत्ति देखी जाती है, विजातीयकी नही। जब भूतचतुष्टय स्वयं अचेतन है, तो चैतन्यकी उत्पत्तिमे वह कारण कैसे हो सकता है ? और यह कहना भी भ्रान्त है कि चैतन्यशक्ति भी शरीरके नाशके साथ ही नष्ट हो जाती है, क्योकि पूर्वभवकी स्मृति आनेसे पुनर्जन्मकी सिद्धि होती है।

चैतन्य आत्माका धर्म नही, शरीरका है, यह कथन भी निराधार है। जो यह कहा जाता है कि पचेन्द्रिय विषयोका उपभोग ही जीवन-सर्वस्व है, स्वर्ग-नरक आदिकी स्थिति सिद्ध ही नही होती, अत. शरीरसे भिन्न आत्मा नामका

कोई पदार्थ अनुभवमे नही आता है। यह सब कथन भी मिथ्या है, क्योकि जन्मसे पूर्व और पश्चात् भी आत्माका अस्तित्व सिद्ध है। चेतन आत्माका अस्तित्व सिद्ध हो जानेपर पुण्य-पाप, सुख-दुःख, स्वर्ग-नरक आदि सभी सिद्ध होते हैं। आत्माके कर्त्ता और भोक्ता होनेसे भोगवादका समर्थन स्वयं निरस्त हो जाता है।

मनुष्य विषय और कषायोंके अधीन होकर जैसा शुभाशुभ कर्म करता है, उसीके अनुसार वह पुण्य और पाप अर्जन करता है। जब अशुभका उदय आता है, तो प्रतिकूल सामग्रीके मिलनेसे दु खानुभूति होती है और जब शुभका उदय आता है, तो अनुकूल सामग्रीके मिलनेसे सुखानुभूति होती है। सुख और दुःखका कर्त्ता एव भोक्ता यह आत्मा स्वय ही सिद्ध है। यदि ससारमे पुण्य, पाप और शुभाशुभकी स्थिति न मानी जाय, तो एक व्यक्ति सुन्दर, रूपवान और प्रिय होता है, तो दूसरा व्यक्ति कुरूप, अप्रिय और नाना विकृतियोसे पूर्ण होता है, यह कैसे सभव होगा? एक ही माता-पिताकी विभिन्न सन्तानोमे विभिन्न गुणोका समावेश पाया जाता है। एक पुत्र प्रतिभाशाली और सच्चरित्र है, तो दूसरा निर्बुद्धि और दुराचारी। एक धनी है, तो दूसरा दरिद्र है। एक दु खी है, तो दूसरा सुखी है। इस प्रकारकी भिन्नता कर्म-वैचित्र्यके बिना सम्भव नही है। जिसका जिस प्रकार अदृष्ट होता है, वह उसी प्रकार-की भोगसामग्री प्राप्त करता है। अतएव जिस प्रकार कृषक खेतमे उत्पन्न हुई फसलमेसे कुछ धान्य बीजके लिए रख छोडता है और शेषको उपभोगमे ले आता है, उसी प्रकार शुभोदयके फलको भोगनेके अनन्तर इस शरीर द्वारा तपश्चरण आदिकर पुन शुभोदयका अर्जन करना आवश्यक है। भोगोका त्याग किये बिना साधना सम्भव नही और न बिना साधनाके उत्तम भोगोका मिलना ही सम्भव है। अतएव पुण्य-पाप, स्वर्ग-नरक आदिका विश्वास करना और पुनर्जन्म मानना अनुभव-सगत है।

तर्क द्वारा भी जीवकी सिद्धि होती है। जीवित शरीर आत्म-सहित है, क्योकि श्वासोच्छ्वास वाला है। जो आत्म सहित नही है, वह पूजा श्वासोच्छ्-वास सहित भी नही है, जैसे घटादिक। अथवा जीवित शरीर आत्म-सहित है, क्योकि वह प्रश्नोका उत्तर देता है, जो आत्मसहित नही है प्रश्नोका उत्तर भी नही देता, जैसे घटादिक। इस प्रकार केवलव्यतिरेकी अनुमान-प्रमाणसे भी जीवका अस्तित्व सिद्ध होता है।

जीव अनादिनिधन है। यत यह अस्तित्ववान होनेपर कारणजन्य नही। जो जो पदार्थ अस्तित्ववान होनेपर कारणजन्य नही होते, वे वे अनादिनिधन होते हैं, जैसे पृथ्वी-आदि। और जो अनादिनिधन नही होते वे अस्तित्ववान

होनेपर कारणजन्य होते हैं जैसे घटादिक। इस प्रकार अनुमान-प्रमाणसे जीव पदार्थ अनादिनिधन सिद्ध है।

यदि भूतचतुष्टयसे जीवकी उत्पत्ति मानते हैं, तो यह भूतचतुष्टय जीवका निमित्त कारण है या उपादान कारण? यदि निमित्तकारण है, तो भूतचतुष्टयसे भिन्न उपादानकारण कोई दूसरा ही होगा और वह उपादानकारण जीव ही हो सकता है। यदि भूतचतुष्टय जीवका उपादानकारण है, तो ये चारो मिलकर जीवके उपादानकारण है, अथवा पृथ्वी, अप, तेज और वायु ये चारो पृथक्-पृथक् उपादान कारण है? यदि पृथक्-पृथक् जीवके उपादानकारण हैं, तो पृथ्वीके बने हुए जीव अन्य, जलसे निर्मित अन्य, पवनसे निर्मित अन्य और अग्निसे निर्मित अन्य, इस प्रकार चार तरहके जीव होने चाहिए। पर चार तरहके जीव प्रतीत नही होते। अतएव भूतचतुष्टय भिन्न-भिन्न रीतिसे उपादान कारण नही है। चारो मिलकर भी जीवके उपादानकारण नही हो सकते, क्योकि घट-पटादि कार्योका उपादानकारण सजातीय होता है। तथा यदि जीवका उपादानकारण भूतचतुष्टय है, तो भूतचतुष्टयके स्पर्श, रस, गंध, वर्णगुण जीवमे आने चाहिए। पर ये चारो गुण जीवमे नही होते। यदि ये चारो गुण जीवमे होते, तो जीव भी इन्द्रियगोचर होता। परन्तु जीव इन्द्रियगोचर नही है। इसलिये जीव भूतचतुष्टयजन्य नही है।

जीवकी स्वतन्त्रसिद्धि

जीव या आत्माका अस्तित्व सिद्ध हो जानेके पश्चात् जीवका स्वतन्त्र अस्तित्व स्वीकार करना आवश्यक है। जो स्वतन्त्र अस्तित्व नही मानते, उनसे यह पूछा जाय कि जो जीव द्रव्य नही है, तो वह जीव गुण है या पर्याय? इनके अतिरिक्त कोई वाच्य हो नही सकता। अत जितने बाह्य पदार्थ हैं, वे द्रव्य, गुण, और पर्याय इन तीनोमेसे किसी न किसीके वाच्यमे अन्तर्भूत हैं। यदि जीव गुण है, तो उसका गुणी कौन है? गुणीके विना गुण नही होता। यदि यह माना जाय कि जीवगुणका गुणी जीवद्रव्य है तो जीवद्रव्य स्वतन्त्र सिद्ध होता है। यदि यह कहा जाय कि जीवगुण पुद्गलद्रव्यका है, तो गुण नित्य होता है। इसलिये घट-पटादिक समस्त पुद्गल द्रव्योमे उसकी प्रतीति होनी चाहिये। परन्तु प्रतीति होती नही। अतएव जीव पुद्गलका गुण नही है।

यदि जीव पर्याय है, तो पर्याय किसी गुणकी अवस्था-विशेष कही जाती है। अत. जीवपर्याय पुद्गलके किस गुणकी अवस्था-विशेष है और उस गुणका नाम क्या है? तथा उसका लक्षण क्या है? न तो कोई ऐसा गुण ही है और न कोई उसका लक्षण ही है, जिसके आधारपर जीवपर्याय पुद्गलगुणकी मानी जा सके। अतएव सक्षेपमे जीव पदार्थका अस्तित्व स्वतन्त्र रूपमे सिद्ध

होता है। आत्मा स्वतन्त्र है और ज्ञान-दर्शनादि गुण उसकी निजी सम्पत्ति है। आनन्द और सौन्दर्यानुभूति उसके स्वतन्त्र अस्तित्वके सवल प्रमाण है। राग और द्वेषका होना तथा उनके कारण हिंसा आदिके आरम्भमे जुट जाना भौतिक यन्त्रका काम नही है। कोई भी यन्त्र अपने आप चले, स्वय बिगड जाय और बिगडनेपर अपने-आप मरम्मत हो जाय, यह सम्भव नही है। अतएव इच्छा, सकल्पशक्ति और भावनाएँ केवल भौतिक मस्तिष्ककी उपज नही है, अपितु चैतन्यके विभाव-शक्तिजन्य विकार हैं।

अवस्थाके अनुसार वढना, जीर्ण होना आदि ऐसे धर्म हैं, जिनका समाधान भौतिकतासे सम्भव नही है। अनुभवसिद्ध कार्य-कारणभावके द्वारा आत्माका स्वतन्त्र अस्तित्व सिद्ध होता है।

आत्माको शरीर-परिणाम माननेपर भी देखनेकी शक्ति नेत्रोमे रहनेवाले आत्म-प्रदेशोमे ही नही, सूँघनेकी शक्ति घ्राणमे रहनेवाले केवल आत्म-प्रदेशोमे ही नही, अपितु शरीरान्तर्गत समस्त आत्म-प्रदेशोमे ये शक्तियाँ समाहित रहती है। आत्मा पूर्ण शरीरमे सक्रिय रहती है। वह इन्द्रियोके उपकरणोके झरोखो द्वारा गन्धादिका परिज्ञान करती है। वासनाओ और कर्म-सस्कारोके कारण आत्माको अनन्तशक्ति छिन्न-भिन्न रूपमे अभिव्यक्त होती है। जब कर्मवासनाओ और सूक्ष्म कर्म-शरीरका सम्पर्क छूट जाता है, तव यह आत्मा अपने अनन्त चैतन्य-स्वरूपमे लीन हो जाती है। उस समय इस आत्माके प्रदेश अन्तिम शरीरके आकार रह जाते है। क्योकि उनके फैलने और सिकुडनेका कारण कर्म-सस्कार नष्ट हो चुका है। अतएव आत्म-प्रदेशोका अन्तिम शरीरके आकार रह जाना स्वाभाविक और युक्ति-सगत है।

व्यापक एवं अणु आत्मवाद

आत्माको अमूर्त और व्यापक माना जाता है। व्यापक होनेपर भी शरीर और मनके सम्बन्धसे शरीरावच्छिन्न आत्म-प्रदेशोमे ज्ञानादि विशेषगुणोकी उत्पत्ति होती है। अमूर्त होनेसे यह आत्मा निष्क्रिय और गतिहीन है। शरीर और मनके गतिशील होनेसे सम्बद्ध आत्म-प्रदेशोमे ज्ञानाधिकको अनुभूति होती है। व्यापक आत्मवादमे निम्नलिखित दोष घटित होते है।

(१) समस्त आत्माओका सम्बन्ध समस्त शरीरोके साथ होनेसे अपने-अपने सुख-दु ख और भोगका नियम घटित नही होगा।

(२) एक अखण्ड द्रव्यमे सगुण और निर्गुणके भेद सम्भव नही है।

(३) अमूर्तत्व हेतुके द्वारा आत्माको व्यापक सिद्ध नही किया जा सकता

है, मनके साथ दोष आनेसे मन भी अमूर्त है, अतएव उसे भी व्यापक मानना पडेगा।

(४) नित्य होनेमे भी आत्माको व्यापक माननेमे दोष है। यहाँ भी मनके साथ व्यभिचार आता है।

(५) आत्माके व्यापक होनेसे एक व्यक्ति भोजन करेगा, तो समस्त नगर, ग्राम, देश एव राष्ट्रवासियोकी तृप्ति हो जायगी। इस प्रकार व्यवहार-साकर्य उत्पन्न होगा। मन और शरीरके सम्बन्धसे विभिन्नताकी व्यवस्था भी सम्भव नही है।

(६) जहाँ गुण पाये जाते है, वही उसके आधारभूत द्रव्यका सद्भाव रहता है। गुणोके क्षेत्रसे गुणीका क्षेत्र न वड़ा होता है और न छोटा। सर्वत्र आकृतिमे गुणीके वरावर ही गुण होते हैं। अतएव आत्मा शरीरके बाहर व्यापकरूपमे उपलब्ध नही है।

जिस प्रकार आत्माका व्यापकत्व सिद्ध नही, उसी प्रकार आत्माका अणुत्व भी सिद्ध नही है। अणुरूप आत्माको माननेपर अगुलीके कट जानेसे समस्त शरीरके आत्म-प्रदेशोमे कम्पन और दु खका अनुभव होना सम्भव नही। अणु-रूप आत्माके माननेपर भी आलात-चक्रवत् उसकी गति स्वीकार करलेनेसे उक्त दोष नही आता। पर जिस समय अणु आत्माका चक्षु-इन्द्रियके साथ सवध होगा, उस समय भिन्न क्षेत्रवर्ती रसना आदि इन्द्रियोके साथ युगपत् सम्बन्ध होना असम्भव है। जब हम किसी सुन्दर वस्तुको आँखोसे देखते हैं, तो अन्य इन्द्रियाँ भी उस वस्तुको पानेके लिये गतिशील हो जाती है। इससे स्पष्ट है कि सभी इन्द्रियोके प्रदेशोमे आत्माका युगपत् सम्बन्ध है। आपादमस्तक अणुरूप आत्माके चक्कर लगानेमे कालभेद होना स्वाभाविक है तथा सर्वांगीण रोमा-चादि कार्योसे ज्ञात होनेवाली युगपत् सुखानुभूतिके विरुद्ध भी है। अतएव आत्माके प्रदेशोमे सकोच और विस्तारकी शक्ति रहनेके कारण ससारावस्थामे यह शरीरप्रमाण है। सकोच और विस्तारकी शक्ति आत्मामे स्वाभाविक रूपसे विद्यमान है।

आत्माके सकोच और विस्तारकी दीपकके प्रकाशसे तुलना की जा सकती है। खुले आकाशमे रखे हुए दीपकका प्रकाश विस्तृत परिमाणमे होता है, उसी दीपकको यदि कोठरीमे रख दे, तो वही प्रकाश कोठरीमे समा जाता है। घडेमे रखते हैं, तो वह प्रकाश घड़ेमे समा जाता है और ढकनीके नीचे रखनेसे ढकनीमे समा जाता है। इसी प्रकार कार्मणशरीरके आवरणसे आत्मप्रदेशोका भी संकोच और विस्तार होता है।

जो आत्मा शिशु-शरीरमे रहती है, वही आत्मा युवा-शरीरमे रहती है और वही वृद्ध-शरीरमे भी। स्थूलशरीरव्यापी आत्मा कृशशरीरव्यापी हो जाती है।

आत्माको शरीरपरिमाण माननेसे वह अवयव सहित होनेके कारण अनित्य नही हो सकती है। यत. यह कोई नियम नही है कि जो अवयव सहित होता है, वह विशरणशील ही होता है। आकाश सावयव होनेपर भी नित्य है। जो अविभागी अवयव हैं, वे अवयवीसे कभी पृथक् नही हो सकते।

जीव या आत्मा : ज्ञान-स्वरूप

यह अनुभव सिद्ध है कि जो जीव है, वह ज्ञानवान् है और जो ज्ञानवान् है, वह जीव है। जिस प्रकार उष्णत्वके बिना अग्निका अस्तित्व सभव नही, उसी प्रकार ज्ञान गुणके बिना जीवका अस्तित्व भी असभव है। एकेन्द्रियसे मुक्तात्माओं तकमे ज्ञानगुणकी हीनाधिकता पायी जाती है। जीवका यह ज्ञानगुण ही जड पदार्थोंसे उसे भिन्न सिद्ध करता है। अत ज्ञान जीव या आत्माका निज स्वरूप है।

ज्ञान और ज्ञानीको परस्परमे सर्वदा एक दूसरेसे भिन्न माना जाय तो दोनो ही अचेतन हो जायँगे। यदि यह कहा जाय कि ज्ञानसे भिन्न होनेपर भी आत्मा ज्ञानके समवायसे ज्ञानी होता है, तो ज्ञानके समवायसम्बन्धके पूर्व आत्मा ज्ञानी था या अज्ञानी ? समवायसम्बन्धके पूर्व आत्माको ज्ञानी माननेसे ज्ञानका समवायसम्बन्ध मानना व्यर्थ है, यत इस सम्बन्धकी कोई आवश्यकता नही। अज्ञानीमे ज्ञानका समवाय बन नही सकता है। क्योकि अज्ञानीमे ज्ञानके मिलनेसे भी अज्ञानता बनी ही रहेगी तथा अज्ञान और ज्ञानके मिश्रणको क्या कहा जायगा ?[1]

यह भी नही कहा जा सकता है कि जिस प्रकार देवदत्त अपने शरीरसे भिन्न रहनेवाले दात्र हँसियाके द्वारा तृणादिका छेदक हो जाता है, उसी प्रकार जीव भी भिन्न रहनेवाले ज्ञानके द्वारा पदार्थोंका ज्ञायक हो सकता है। यत छेदनक्रियाके प्रति दात्र बाह्य उपकरण है और वीर्यान्तराय कर्मके क्षयोपशमसे

१. णाणी णाण च सदा अत्थंतरिदो दु अण्णमण्णस्स।
दोण्ह अचेदणत्त पसजदि सम्म जिणावमद ॥
ण हि सो समवायादो अत्थंतरिदो दु णाणदो णाणी।
अण्णाणीति य वयण एगत्तप्पसाधग होदि ॥

पञ्चास्तिकाय, गाथा ४८-४९.

उत्पन्न हुई पुरुषकी शक्तिविशेष आभ्यन्तर उपकरण है। इस आभ्यन्तर उपकरणके अभावमे दात्र तथा हस्तव्यापार आदि बाह्य उपकरणके रहनेपर भी ज्ञानरूप आभ्यन्तर उपकरणके अभावमे जीव पदार्थोका ज्ञाता नही हो सकता। वाह्य उपकरण कर्त्तासे भिन्न रहता है, पर आभ्यन्तर उपकरण उससे अभिन्न रहता है। अतएव ज्ञान-ज्ञानीके प्रदेश भिन्न नही है। जो आत्माके प्रदेश हैं, वे ही प्रदेश ज्ञानादि गुणोके भी हैं, इसलिए उनमे प्रदेशभेद नही है।

ज्ञान ही आत्मा है। यत ज्ञान आत्माके विना नही रहता, अत ज्ञान आत्मा ही है।[1] आत्माके अनेक गुणोमे ज्ञानगुण प्रधान है, यह आत्माका असाधारण गुण है। यह आत्माके अतिरिक्त अन्यत्र नही पाया जाता, अतएव गुण-गुणीमे अभेद विवक्षाकर ज्ञानको ही आत्मा कह दिया जाता है। यो तो आत्मा जिस प्रकार ज्ञानगुणका आधार है, उसी प्रकार अन्यगुणोका भी आधार है। ज्ञानगुणके आधारकी अपेक्षा आत्मा ज्ञानरूप है।

कर्तृत्व विवेचन

परिणमन करनेवालेको कर्त्ता, परिणामको कर्म और परिणतिको क्रिया कहते हैं। ये तीनो वस्तुत भिन्न नही हैं, एक द्रव्यकी ही परिणति हैं। जीवमे कर्तृत्वशक्ति स्वभावत पायी जाती है। आत्मा असद्भूतव्यवहारनयसे ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय आदि पुद्गलकर्मो तथा भवन, वस्त्र आदि पदार्थोका कर्त्ता है। अशुद्धनिश्चयनयसे अपने राग-द्वेष आदि चैतन्यकर्मो भावकर्मोका और शुद्धनिश्चयनयकी दृष्टिसे अपने शुद्ध चैतन्यभावोका कर्त्ता है।[2]

जीव और अजीव अनादिकालसे सम्बद्ध अवस्थाको प्राप्त हैं, अत यह प्रश्न होना स्वाभाविक है कि इन दोनोके अनादि सम्बन्धका क्या कारण है? जीवने कर्मको किया या कर्मने जीवको किया? यदि यह माना जाय कि जीवने विना किसी विशेषताके कर्मको किया, तो सिद्धावस्थामे भी कर्म करनेसे कोई विप्रतिपत्ति नही होगी। यदि कर्मने जीवको किया, तो कर्ममे ऐसी विशेषता

१ णाणं अप्पत्ति मदं वट्टदि णाणं विणा ण अप्पाणं।
तम्हा णाणं अप्पा अप्पा णाणं व अण्णं वा॥

प्रवचनसार, गाथा २७

२ पुग्गलकम्मादीणं कत्ता ववहारदो दु णिच्चयदो।
चेदणकम्माणादा, सुद्धणया सुद्धभावाणं॥

द्रव्यसंग्रह, गाथा ८

कहाँसे आई कि वे जीवको कर सकें उसमे रागादिभाव उत्पन्न कर सकें। यदि कर्म विना किसी वैशिष्टयके रागादिक करते हैं, तो कर्मके अस्तित्वकालमे सदा रागादि उत्पन्न होने चाहिए।

इन प्रश्नोका समाधान विभिन्न दृष्टियोके समन्वय द्वारा सभव है। यत जीवके रागादि परिणामोसे पुद्गलद्रव्यमे कर्मरूप परिणमन होता है और पुद्गलके कर्मरूप परिणमनसे उनकी उदयावस्थाका निमित्त पाकर आत्मामे रागादिभाव उत्पन्न होते हैं। यद्यपि इस समाधानमे अन्योन्याश्रय दोष दिखलायी पडता है, पर अनादि सयोग माननेसे इस दोषका निराकरण हो जाता है।

कर्तृ-कर्मभावकी व्यवस्थाके स्पष्टीकरणके लिए कारकव्यवहारका विचार कर लेना आवश्यक है।

ससारमे अनादिकालसे समस्त द्रव्य प्रतिक्षण पूर्व-पूर्व अवस्था पर्यायको त्यागकर उत्तरोत्तर अन्य अवस्थाको प्राप्त होते हैं, इसी परिणमनको क्रिया कहा जाता है। अनन्तर पूर्वक्षणवर्ती परिणामविशिष्ट द्रव्य उपादानकारण है और अनन्तर उत्तरक्षणवर्ती परिणामविशिष्ट द्रव्य कार्य है। इस परिणमन अवस्थापरिवर्तनमे सहकारीस्वरूप अन्य द्रव्य निमित्तकारण है। निमित्तकारणके दो भेद हैं (१) उदासीन निमित्तकारण और (२) प्रेरक निमित्तकारण। इन्ही कारणोमे कारकव्यवहार होता है। क्रियानिष्पादकत्व कारकका लक्षण है और इसके कर्त्ता, कर्म, करण, सम्प्रदान, अपादान और अधिकरण ये छ भेद हैं। क्रियाका उपादानकारण कर्त्ता, जिसे क्रिया प्राप्त हो वह कर्म, क्रियामे साधकतम अन्य पदार्थ करण, कर्म जिसको प्राप्त हो वह सम्प्रदान, दो पदार्थोके लिये वियुक्त होनेमे जो ध्रुव रहे, वह अपादान एव आधारको अधिकरण कहा जाता है। इस कारक-प्रक्रियाका अभिप्राय यह है कि ससारमे जितने पदार्थ हैं, वे अपने-अपने भावके कर्त्ता हैं, परभावका कर्त्ता कोई पदार्थ नही है।

वास्तवमे कर्त्ता-कर्मभाव उसी द्रव्यमे घटित होता है, जिसमे व्याप्य-व्यापक भाव अथवा उपादान-उपादेयभाव रहता है। जो कार्यरूपमे परिणत होता है, उसे व्यापक या उपादान कहते हैं और जो कार्य होता है उसे व्याप्य या उपादेय। मिट्टीसे घडा बना, यहाँ मिट्टी व्यापक या उपादान है और घट व्याप्य या उपादेय है। यह व्याप्य-व्यापकभाव या उपादान-उपादेयभाव सर्वदा एक द्रव्यमे ही होता है, दो द्रव्योमे नही, यत एक द्रव्यका दूसरे द्रव्यरूप त्रिकालमे भी परिणमन नही होता है।

जो उपादानके कार्यरूप परिणमनमे सहकारी है, वह निमित्त है। यथा-

मिट्टीके घटाकार परिणमनमें कुम्भकार और उसके दण्ड-चक्रादि । इन निमित्त-की सहायतासे उपादानमें जो कार्य होता है, वह नैमित्तिक कहलाता है, जैसे कुम्भकार आदिकी सहायतासे मिट्टीमें हुआ घटाकार परिणमन । यहाँ यह ज्ञातव्य है कि निमित्त-नैमित्तिकभाव दो विभिन्न द्रव्योंमें भी घटित होता है, पर उपादानोपादेय या व्याप्य-व्यापकभाव एक ही द्रव्यमें सम्भव है ।

पुद्गलद्रव्य जीवके रागादि परिणामोंका निमित्त पाकर कर्मभावको प्राप्त होता है, इसी प्रकार जीव द्रव्य भी पुद्गल कर्मोंके विपाककालरूप निमित्तको पाकर रागादि भावरूप परिणमन करता है । इस प्रकारका निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध होनेपर भी जीवद्रव्य कर्ममें किसी गुणका उत्पादक नहीं, अर्थात् पुद्गल द्रव्य स्वयं ज्ञानावरणादिभावको प्राप्त होता है । इसी तरह कर्म भी जीवमें किन्हीं गुणोंको नहीं करता है, किन्तु मोहनीय आदि कर्मके विपाकको निमित्तकर जीव स्वयमेव रागादिरूप परिणमता है । इतना होनेपर भी पुद्गल और जीव-का परिणमन परस्परनिमित्तक है । इससे स्पष्ट है कि आत्मा अपने भावोंके द्वारा अपने परिणमनका कर्त्ता होता है, पुद्गलकर्मकृत भावोंका कर्त्ता नहीं है । तथ्य यह है कि पुद्गलके जो ज्ञानावरणादि कर्म हैं, उनका कर्त्ता पुद्गल है और जीवके जो रागादि भाव हैं, उनका कर्त्ता जीव है ।[1]

आत्मा और पुद्गल इन दोनोंमें वैभाविकी शक्ति है । इस शक्तिके कारण ही आत्मा मिथ्यादर्शनादि विभावरूप परिणमन स्वयं करती है और पुद्गल ज्ञानावरणादि कर्मरूप परिणमन करता है । इस प्रकारके परिणमनका ही निमित्त-नैमित्तिकभाव कहा जाता है ।

निमित्त-नैमित्तिकभाव एवं कर्तृ-कर्मभाव स्वीकार करनेपर द्विक्रिया-कारित्वका दोष नहीं आता है । यतः निमित्त अपने परिणमनके साथ उपादान-परिणमनका कर्त्ता नहीं है ।

जीव न तो घटका कर्त्ता है, न पटका कर्त्ता है और न शेष अन्य द्रव्योंका

१. जीवपरिणामहेदुं कम्मत्तं पुग्गला परिणमंति ।
पुग्गलकम्मणिमित्तं तहेव जीवो वि परिणमइ ॥
णवि कुव्वइ कम्मगुणे जीवो कम्मं तहेव जीवगुणे ।
अण्णोण्णणिमित्तेण दु परिणामं जाण दोण्हंपि ॥
एएण कारणेण दु कत्ता आदा सएण भावेण ।
पुग्गलकम्मकयाणं ण दु कत्ता सव्वभावाणं ॥
—समयसार-गाथा ८०-८२

ही । जीवके योग और उपयोग ही उनके कर्त्ता हैं।[1]

आत्मा घटादि और क्रोधादिपरद्रव्यात्मक कर्मोका कर्त्ता न तो व्याप्य-व्यापकभावसे है और न निमित्त-नैमित्तिकभावसे हो, पर अनित्य योग और उपयोग ही घट-पटादि द्रव्योके निमित्तकर्त्ता हैं। जब आत्मा ऐसा विकल्प करती है कि मैं घटको बनाऊँ, तब काययोगके द्वारा आत्म-प्रदेशोमे चञ्चलता आती है और चञ्चलताको निमित्तता पाकर हस्तादिके व्यापार द्वारा दण्डसे चक्रका परिभ्रमण होता है और इससे घटादिकी निष्पत्ति होती है। ये विकल्प और योग अनित्य हैं, अज्ञानवश आत्मा इनका कर्त्ता हो भी सकती है, परन्तु परद्रव्यात्मके कर्मोका कदापि सभव नही।

तथ्य यह है कि निमित्तके दो भेद है (१) साक्षात् निमित्त और (२) परम्परा निमित्त। कुम्भकार अपने योग और उपयोगका कर्त्ता है, यह साक्षात् निमित्तकी अपेक्षा कथन है। यत इनके साथ कुम्भकारका साक्षात् सम्बन्ध है और कुम्भकारके योग एव उपयोगसे दण्ड-चक्रादि द्वारा घटकी उत्पत्ति परम्परा-निमित्तकी अपेक्षा है। जब परम्परा-निमित्तसे होनेवाले निमित्त-नैमित्तिकको गौण कर कथन किया जाता है, तब जीवको घट-पटादिका कर्त्ता नही माना जाता। किन्तु जब परम्परा-निमित्तसे होनेवाले निमित्त-नैमित्तिक भावको प्रमुखता दी जाती है, तब जीवको घट-पटादिका कर्त्ता कहा जाता है।

घटका कर्त्ता कुम्भकार, पटका कर्त्ता कुविन्द और रथका कर्त्ता वढईको न माना जाय तो लोकविरुद्ध कथन हो जायगा। पर यथार्थमे वे अपने-अपने योग और उपयोगके ही कर्त्ता होते हैं। लोकमे उनका कर्तृत्व परम्परा-निमित्तकी अपेक्षा ही सगत होता है।

अभिप्राय यह है कि ससारके सभी पदार्थ अपने-अपने भावके कर्त्ता है, परभावका कर्त्ता कोई पदार्थ नही। कुम्भकार घट बनानेरूप अपनी क्रियाका कर्त्ता है। व्यवहारमे जो कुम्भकारको घटका कर्त्ता कहते हैं, वह केवल उपचार मात्र है। घट बनने रूप क्रियाका कर्त्ता घट है। घटको बननेरूप क्रियामे कुम्भकार सहायक निमित्त है। इस सहायक निमित्तको ही उपचारसे कर्त्ता कहा जाता है। वस्तुत कर्त्ताके दो भेद हैं (१) वास्तविक कर्त्ता और (२) उपचारित कर्त्ता। क्रियाका उपादान ही वास्तविक कर्त्ता है। अत कोई भी क्रिया वास्तविक कर्त्ताके विना सभव नही। उपचरित कर्त्ताके लिए यह नियम नही है। यथा,

१ जीवो ण करेदि घड णेव पड णेव सेसगे दव्वे।
जोगुवओगा उप्पादगा य तेसिं हवदि कत्ता॥

समय०, गाथा १००

घटरूप कार्यके बननेमे उपचरित कर्त्ताकी आवश्यकता है, पर नदीके बहनेरूप कार्यमे उपचरित कर्त्ताकी आवश्यकता नही है।

जीव परपदार्थोंका कर्त्ता अपनेको नही मानता, यत कर्त्ता माननेसे 'अहं' भावकी उत्पत्ति होती है तथा परकी इष्टानिष्ट परिणतिमे हर्ष-विषादकी अनुभूति होती है और इस अनुभूतिके रहनेपर जीव अपने ज्ञाता-द्रष्टा स्वभावमे स्थिर नही हो पाता तथा मोहके प्रभावके कारण अपने स्वरूपसे च्युत हो जाता है। अतएव निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्धको सर्वथा अस्वीकृत नही किया जा सकता है।

यह सत्य है कि सब द्रव्य स्वभावसे परिणामी-नित्य हैं। प्रत्येक समयमे द्रव्यकी एक पर्यायका व्यय होना और नवीन पर्यायका उत्पाद होना ही उसका परिणाम-स्वभाव है। उत्पाद, व्यय निमित्तके रहनेपर तथा शुद्धावस्थामे निमित्तके नही मिलने पर भी होते रहते हैं। पर्यायरूपसे प्रत्येक द्रव्यका उत्पन्न होना और नष्ट होना यह उसका अपना स्वभाव है। इसमे षड्स्थानपतित हानि और षड्स्थानपतित वृद्धिरूपसे वर्त्तमान अनन्त अगुरुलघुगुण प्रयोजक हैं। इस प्रकार अशुद्धद्रव्योंमे निमित्तपूर्वक पर्यायमे परिवर्तन होता है और शुद्ध द्रव्योंमे षड्गुणहानिवृद्धिकी अपेक्षा पर्याय-परिवर्तन होता है। आत्मा शुद्धनिश्चयनयकी अपेक्षा स्वभावका कर्त्ता और निमित्त-नैमत्तिककी अपेक्षा रागादिकभाव और पुद्गलद्रव्यके कर्मरूप परिणमनका कर्त्ता संभव है। अतएव निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्धकी सर्वथा अवहेलना नहीकी जा सकती है। नयदृष्टिका अवलम्बन ग्रहण कर ही कर्तृत्वयभावका निश्चय करना उपादेय है।

भोक्तृत्वशक्ति विवेचन

आत्मा फलोंका स्वयं भोक्ता है। यह असद्भूतव्यवहारनयकी अपेक्षा पुद्गलकर्मफलोंका भोक्ता है। अन्तरंगमे साता, असाताका उदय होनेपर सुख-दुखका यह अनुभव करता है। इसी साता-असाताके उदयसे बाहरमे उपलब्ध होनेवाले सुख-दुखके साधनोंका उपभोग करता है। अशुद्ध निश्चयनयकी अपेक्षा चेतनाके विकार रागादिभावोंका भोक्ता है और शुद्ध निश्चयनयकी अपेक्षा शुद्ध चैतन्यभावोंका भोक्ता है।[1]

वस्तुत आत्माके ही कर्त्ता और भोक्ता होनेके कारण संसारकी कोई भी परोक्ष शक्ति जीवके लिये किसी प्रकारका कार्य नही करती है। जीव स्वयं अपने भावोंका कर्त्ता-भोक्ता है। किसी दूसरी शक्तिके द्वारा इसे फलकी प्राप्ति

१ ववहारा सुहदुक्ख पुग्गलकम्मप्फलं पभुंजेदि।
आदा णिच्छयणयदो चेदणभाव खु आदस्स ॥ द्रव्यसंग्रह, गाथा ९.

नही होती। आत्मा स्वयं ही अपने किये गये भावोके अनुसार कर्मोको बांधता है और स्वय ही अपने प्रयाससे कर्मसे मुक्त होता है। बन्धन और मुक्तिमे परका किंचित् भी कर्तृत्व नही है। अत स्वभावसे अपने रूपमे चलनेवाले इस जगतका न कोई नियन्ता है और न कोई स्रष्टा है। किसी भी देवी-देवताकी कृपासे इष्टानिष्ट फल प्राप्त नही हो सकता। सबसे बडा आत्मदेव है। इससे शक्तिशाली अन्य कोई भी नही है। हानि-लाभ, सुख-दु ख, अपने ही हाथमे है, अन्य किसीके हाथमे नही। जब आत्मा अपनी कर्तृत्व-भोक्तृत्वशक्तिका अनुभव करने लगता है, अपने स्वरूपको पहचान लेता है, उस समय जगतके देवी-देवता सभी आत्माके चरणोमे नतमस्तक हो जाते हैं। अतएव यह जीव स्वतन्त्र है तथा स्वय ही कर्ता और भोक्ता है।

जीव : भेद-प्रभेद

जीवके मूलत दो भेद हैं (१) ससारी जीव और (२) मुक्त जीव। कर्म-बन्धनसे बद्ध एक गतिसे दूसरी गतिमे जन्म और मरण करनेवाले ससारी जीव कहलाते हैं। जो ससारसे बन्धनमुक्त हो चुके हैं, वे मुक्त जीव कहलाते हैं। ससारी जीवके ज्ञान, दर्शन, सुख, बल आदि गुणोपर कर्मका आवरण चढा हुआ है, जिससे उनके ज्ञान-दर्शन, सुख आदि गुण हीनाधिक रूपमे अभिव्यक्त होते हैं। जब तक जीवके साथ क्रोध, मान, माया और लोभ रूप कषायभाव रहते हैं, तबतक जीवके अनन्त ज्ञानादि गुण विकसित नही हो पाते। जब ससारी जीवको यह प्रतीति हो जाती है कि यह मेरी दु खित अवस्था पर-पदार्थके संयोगसे है, तो उस सयोगको हटानेके लिये प्रयत्न करता है। आर्त्त और रौद्र-ध्यानको छोडकर धर्मध्यान और शुक्लध्यानका आराधन करता है। अन-शनादि तप द्वारा अपनी अन्तरग मलिनताको दूर करता है। जिस प्रकार सोनेको तपानेसे उसमे मिले हुए रजत, ताम्र आदि परसयोगरूप मैल और कालिमा नष्ट हो जाते हैं और वह सौ टचका शुद्ध सोना हो जाता है। इसी-प्रकार आत्मध्यान आदि तपोके द्वारा यह जीव भी अपनी शुद्धि कर लेता है तथा इसके भी क्रोध, मान, अज्ञान आदि असंयमरूपी मैल समाप्त हो जाते हैं।

बाहरी गन्ध, रग आदिकी तनिक भी मिलावट न होनेपर वर्षाका जल एक समान रहता है, उसी प्रकार पूर्ण शुद्ध आत्मा मुक्त जीव भी सब परस्परमे समान होते हैं। मुक्त जीवके ज्ञान-दर्शन, सुख और वीर्य पूर्णतया विकसित रहते हैं। पर ससारी जीवमे इन गुणोकी हीनाधिक रूपमे अभिव्यक्ति देखी जाती है।

मुक्त जीव सभी प्रकार आकुलताओ और व्याकुलताओसे छूटकर

आत्माके ज्ञान, सुख आदि गुणोमे लीन रहते है। इन्हे वचनातीत सुख प्राप्त होता है।

ससारी जीव क्षुधा-तृषा, रोग-शोक, वध-बन्धन आदिके दु खोसे व्याकुल रहते हैं और कर्मानुसार उन्हे अनेक प्रकारकी आकुलताएँ प्राप्त होती रहती है। कर्म-वन्धके कारण जीवकी परतन्त्र दशा ही ससार है। यह जीव अपने ही राग-द्वेष, मोहभावोसे अपने लिये कर्मोका वन्धन निर्मित करता है और इस कर्म-चक्रके अनुसार भिन्न-भिन्न योनियोमे भिन्न-भिन्न शरीरोको धारण करता है। वालक, युवक, वृद्ध होता हुआ अनेक प्रकारसे दु ख उठाता है। ससारी जीव आवागमन जन्म-मरणजन्य दु खोमे लिप्त रहता है।

मुक्त जीव कर्म-वन्धनसे पूर्णतया निवृत्त होकर आत्म-स्वातन्त्र्यको प्राप्त कर लेता है। यहाँ यह ध्यातव्य है कि पूर्ण स्वातन्त्र्य ही सवसे वडा सुख है। जव कर्मजन्य जीवकी परतन्त्रता छूट जाती है, तो मुक्त जीव लोकाग्रभावमे स्थित होकर शाश्वत सुखका अनुभव करता है। इस प्रकार कर्म-वन्धन और कर्म-मुक्तिकी दृष्टिसे जीवके उक्त दो भेद हैं।

ससारी जीव : भेद-प्रभेद

ससारी जीवके मूल दो भेद हैं (१) त्रस और (२) स्थावर। द्वीन्द्रिय जीवसे लेकर पचेन्द्रिय पर्यन्त सभी त्रस कहलाते हैं। जीवविपाकी त्रसनाम-कर्मके उदयसे उत्पन्न वृत्ति-विशेषवाले जीव त्रस हैं। अपने रक्षार्थ स्वय चलने-फिरनेकी शक्ति त्रसजीवोमे रहती है। त्रसजीव लोकके मध्यमे एक राजू विस्तृत और चौदह राजू लम्बी त्रसनालीमे निवास करते हैं।

त्रसजीवोके दो भेद है—(१) विकलेन्द्रिय और (२) सकलेन्द्रिय। दो-इन्द्रिय, तीन-इन्द्रिय और चतुरिन्द्रिय जीवोको विकलेन्द्रिय माना जाता है। पचेन्द्रिय जीवोकी गणना सकलेन्द्रियमे है। द्वीन्द्रिय जीवोमे स्पर्शन और रसना ये दो इन्द्रियाँ, तीन इन्द्रिय जीवोमे स्पर्शन, रसना और घ्राण ये तीन इन्द्रियाँ और चतुरिन्द्रिय जीवोमे स्पर्शन, रसना, घ्राण और चक्षु ये चार इन्द्रियाँ होती हैं। लट, शख आदि जीव द्वीन्द्रिय, चींटी आदि त्रीन्द्रिय और भ्रमर आदि चतुरिन्द्रिय माने गये हैं।

सकलेन्द्रिय जीवोके स्पर्शन, रसना, घ्राण, चक्षु और श्रोत्र ये पाँच इन्द्रियाँ होती है। इनके भी दो भेद हैं (१) सज्ञी और (२) असज्ञी। जिनके मन है और सोचने-विचारनेकी विशिष्ट शक्ति है, वे सज्ञी कहलाते हैं और जिनके मन या सोचने-विचारनेकी शक्ति नही है, वे असज्ञी कहलाते है। सभी त्रसजीव वादर

होते हैं, पर अनन्तानन्त विस्रसोपचयोसे उपचित औदारिक नवकर्म-स्कन्धोसे रहित वे विग्रहगतिमे सूक्ष्म होते हैं।

स्थावरजीव एकेन्द्रिय होते है। स्थावरनामकर्मके उदयसे स्थावरजीव-पर्याय प्राप्त होती है। स्थावरजीवोके केवल एक स्पर्शन इन्द्रिय होती है। इनके पाँच भेद है:

(१) पृथ्वीकायिक जिनका शरीर पार्थिव पृथ्वीरूप होता है। यथा पत्थर, लोहा, सोना, चाँदी आदि खनिज पदार्थ।

(२) जलकायिक या अप्कायिक जलके रूपमे जिनका शरीर होता है। यथा जल, वर्फ, ओस, ओला आदि।

(३) अग्निकायिक अग्निरूप जिनका शरीर होता है। यथा विद्युत्, दीपक, अगारा इत्यादि।

(४) वायुकायिक वायु या पवनके रूपमे जिनका शरीर रहता है।

(५) वनस्पतिकायिक जिन जीवोका शरीर वनस्पतिके रूपमे हो। यथा वृक्ष, लता, वीरुध आदि।

पृथ्वीकायिक जीवोकी सिद्धि प्रत्यक्षद्वारा होती है। पर्वत पहले पृथ्वीके तुल्य थे। पश्चात् वढते-वढते ऊँचे होते गये और ये निरन्तर वृद्धिगत हो रहे हैं। खानोमेसे पत्थर निकालते रहते है, पर जव उन खानोको खोदना वन्द कर दिया जाता है, तो उन खानोके पत्थर पुन वढने लगते है। शरीरकी वृद्धि उसी पदार्थकी होती है, जिसमे जीव रहता है। खानसे पृथक् कर देनेपर पत्थरोका वढना भी रुक जाता है। अत प्रमाणित होता है कि खनिज पदार्थ खानमे रहते हुए सजीव रहते हैं, अन्यथा उनकी शारीरिक वृद्धि और ह्रास सम्भव नही था। जव पत्थरो या लोहादि अन्य पदार्थोको खोदकर खानसे वाहर निकाल लिया जाता है, तव वे निर्जीव हो जाते हैं।

इसी प्रकार जल जवतक अपने शीतल रूपमे कुएँ, तालाव आदिमे रहता है, सजीव होता है और अग्निसे गर्मकर लेनेपर निर्जीव हो जाता है। अग्नि और वायुके भी इसी प्रकार सजीव और निर्जीव दो-दो रूप है।

पेड-पौधे, लता आदि जवतक हरे रहते हैं, उनके शरीरमे वृद्धि होती रहती है। वीजसे अकुर, अकुरसे पौधा और पौधेसे वृक्ष बन जाता है। समय पाकर वह वृक्ष सूख भी जाता है। इस प्रकार वनस्पतिकायके भी सजीव और निर्जीव दो भेद हैं। जव वनस्पतिकायिक निर्जीव हो जाता है, तो गेहूँ, जौ, चना आदि अन्न प्राप्त होते हैं। ये स्थावर जीव स्पर्शन (त्वचा), कायबल शरीर

बल, श्वासोच्छ्वास और आयु इन चार प्राणोसे युक्त है। जीवके दश प्राण माने जाते है (१) स्पर्शन, (२) रसना, (३) घ्राण, (४) चक्षु, (५) कर्ण, (६) कायबल, (७) वचनबल, (८) मनोबल, (९) आयु और श्वासोच्छ्वास। इन दश प्राणोमेसे एकेन्द्रिय जीवके चार प्राण, दो इन्द्रियके छह प्राण, तीन इन्द्रियके सात प्राण, चार इन्द्रियके आठ प्राण, असज्ञी पचेन्द्रियके नव प्राण और और सज्ञी पचेन्द्रियके दश प्राण होते हैं। असज्ञी या असैनी पचेन्द्रिय जीव मनशक्तिके अभावमे शिक्षा-उपदेश आदिको ग्रहण करनेमे असमर्थ रहते है और सज्ञी पचेन्द्रिय जीव शिक्षा उपदेश आदिको ग्रहण करते है।

ये सभी त्रस और स्थावर जीव अपने-अपने शरीरके प्रमाण होते है। जिस जीवको हाथीका शरीर प्राप्त हुआ है, वह जीव उस शरीरमे फैलकर रहता है। यदि वह हाथी मरकर चीटी हो जाये, तो वह जीव सिकुड कर चीटीके शरीरमे समाहित हो जाता है। जीवका समस्त शरीर आत्मप्रदेशोसे व्याप्त रहता है। न तो आत्माके प्रदेश शरीरसे बाहर रहते है और न शरीरका कोई भी अश आत्मप्रदेशोसे खाली रहता है।

यो तो जीवसमासकी अपेक्षा जीवोके एकाधिक अनेक भेद है, पर गतिकी अपेक्षा जीवके भेदोका विचार करना आवश्यक है। जीवकी संसारदशा चार गतियोकी अपेक्षासे जानी जाती है। वे चार गतिया हैं - (१) मनुष्यगति, (२) देवगति, (३) तिर्यंचगति और (४) नरकगति।

जिस समय जीव मनुष्य पुरुष या स्त्रीके शरीरमे रहता है, उस समय उसकी मनुष्यगति होती है। मनुष्य घोर पापकर नरक भी जा सकता है, शुभकर्म करके देव भी हो सकता है। अल्प पाप करके पशुशरीर भी प्राप्त कर सकता है और अल्प शुभकर्म करके पुन मनुष्यभव प्राप्त कर सकता है। प्रबल तपस्या द्वारा कर्म-बन्धन नष्टकर मुक्ति भी प्राप्त कर सकता है। आशय यह है कि मनुष्यगति वह चौरस चतुष्पथ है, जहाँसे समस्त गतियोकी ओर यात्रा की जा सकती है। इसी कारण मनुष्यभवको सबसे उत्तम माना गया है।

जीव जब देव-शरीरको प्राप्त करता है, तब उसकी देवगति होती है। देवको जन्मसे ही अवधिज्ञान इन्द्रिय सहायताके बिना मूर्तिक पदार्थोको जाननेकी शक्ति होता है। उनका शरीर सुन्दर, स्वस्थ, विक्रियाऋद्धि-सम्पन्न और सुखी होता है। देव यदि पाप सचय करे, तो तिर्यंच योनिमे जन्म लेते है और शुभ कर्मोदयसे उनको मानव शरीर प्राप्त होता है। देवगतिसे च्युत जीव न तो नरकमे जन्म ग्रहण करता है और न पुन देव होता है।

नरकमे उत्पन्न होना नरकगति है। नरक दुःखमय स्थान है। यहाँका

वातावरण सब प्रकारसे दु खदायक है । यहाँकी प्रकृति भी दु खदायी रहती है । शीत-उष्णता भयकर होती है । नारकी जीव परस्परमे सदा युद्ध और कलह करते रहते है तथा आपसमे मार-पीट करते रहते है । इस प्रकार नरकमे एक क्षणको भी जीवको शान्ति नही मिलती है । यहाँ क्षुधा-तृषाजन्य अपार वेदना भी रहती है । नरकसे निकलकर जीव तिर्यंच या मनुष्यगति ही प्राप्त करता है । नारकी जीव न तो देवगति ही प्राप्त कर सकता है और न पुन नरकगति ही प्राप्त करता है । एकाध भवके पश्चात् उसे नरक या देवगतिकी प्राप्ति होती है । इन तीनो गतियोमे सभी प्राणी सज्ञी पचेन्द्रिय ही होते है ।

उक्त तीनो गतियोके अतिरिक्त अन्य जितने प्राणी हैं वे तिर्यंच गतिके है । एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय, असैनी पचेन्द्रिय जीव तो तिर्यचगतिमे ही होते हैं, अन्य किसी गतिमे नही । सैनी पचेन्द्रिय पशुओमे मगर, मत्स्य, घड़ियाल आदि जीव जलचर, तोता, कबूतर, मयूर, चिडिया आदि आकाशमे उड़नेवाले जीव नभचर एव गाय-घोडा, बदर, चूहा, साँप, कुत्ता आदि जीव थलचर कहलाते है । तिर्यंचगतिके सज्ञी पचेन्द्रिय जीवोंके जलचर, नभचर और थलचर ये तीन भेद किये गये हैं । जीवोका विचार और भी विस्तारके साथ किया जा सकता है, पर संक्षेपमे जीवोकी यही मीमासा है । इस जीव-विज्ञानका उपयोग अहिसा आचरणमे किया जाता है । जो प्राणी उपयोगिताकी दृष्टिसे जितना अधिक विशिष्ट होता है, उसकी हिसामे उतना ही अधिक पापार्जन होता है। यो तो हिसा और अहिसाका सबध भावोके साथ है। पर प्राणियोकी उपयोगिताकी दृष्टि भी अध्ययनीय है ।

पुद्गल : निरूपण

जिसमे 'पूरण' बाहरी अश मिलनेकी शक्ति और 'गलन' गल जानेकी शक्तिकी क्रिया होती रहती है । अर्थात् जो टूटता-फूटता और मिलता रहता है, उसे पुद्गल कहते हैं । पुद्गलमे रूप-रस-गध और स्पर्श ये चार गुण अवश्य होते हैं । जो द्रव्य स्कध अवस्थामे 'पूरण' अन्य-अन्य परमाणुओसे मिलना और 'गलन'—कुछ परमाणुओका बिछुडना, इस प्रकार उपचय और अपचयको प्राप्त होता है, वह पुद्गल कहलाता है । यह समस्त दृश्य जगत् पुद्गलका ही विस्तार है । मूलदृष्टिसे पुद्गल परमाणुरूप है । अनेक परमाणुओसे मिलकर जो स्कध तैयार होता है, वह सयुक्त द्रव्य कहलाता है । पुद्गलपरमाणु जब-तक अपनी बन्धशक्तिसे शिथिल या निविडरूपमे एक-दूसरेसे जुटे रहते हैं, तब-तक स्कंध कहलाते हैं । इन स्कधोका बनाव और बिगाड परमाणुओकी बन्ध-शक्ति और भेदशक्तिके कारण होता है। परमाणुओकी बन्ध-व्यवस्थाकी निम्नलिखित स्थितियाँ हैं

(१) स्निग्ध और रूक्षका संयोग इसे विषम वैद्युत् प्रकृतिजन्य कारण माना जाता है।

(२) जघन्य या शून्य वैद्युत् प्रकृतिके परमाणुओंमे बन्धाभाव। जघन्य गुण-वाले परमाणुओंमे बन्ध नही होता।

(३) सदृश परमाणुओंका गुण साम्य होनेपर बन्धाभाव रहता है।

पुद्गलबन्ध-प्रक्रिया

पुद्गलकी बन्ध-व्यवस्था बहुत ही विस्तृत है। गुणशब्द शक्ति अंशका पर्यायवाची है। पुद्गलके प्रत्येक गुणकी पर्याय एक-सी नही रहती, प्रतिसमय परिवर्तित होती रहती है। अतएव बन्धकी योग्यतापर विचार करना आवश्यक है। जिन परमाणुओंमे स्निग्ध और रूक्ष पर्याय जघन्य हो, उनका बन्ध नही होता। वे तबतक परमाणु दशामे ही बने रहते हैं, जबतक उनकी जघन्य पर्याय परिवर्तित नही हो जाती। इससे स्पष्ट है कि जिनकी जघन्य पर्याय नही होती, उन परमाणुओंका बन्ध हो सकता है। बन्धकी योग्यता रहनेपर भी समान शक्ति अंशवाले परमाणुओंका बन्ध नही होता। संक्षेपमे असमान शक्ति अंश-वाले सदृश परमाणुओंका और समान शक्ति अंशवाले विसदृश परमाणुओंका बन्ध सम्भव है। यो तो दो शक्ति-अंश अधिक होनेपर एक पुद्गलका दूसरे पुद्गलसे बन्ध होता है। उदाहरणके लिये यो कहा जा सकता है कि एक पर-माणुमे स्निग्ध या रूक्ष गुणके दो शक्ति-अंश हैं और दूसरे परमाणुमे चार शक्ति-अंश हैं, तो इन दोनो परमाणुओंका बन्ध सम्भव है। एक परमाणुमे स्निग्ध या रूक्ष गुणके तीन शक्ति-अंश हैं और दूसरे परमाणुमे पाँच शक्ति-अंश हैं, तो इन दोनो परमाणुओंका भी बन्ध हो सकता है। प्रत्येक अवस्थामे बंधनेवाले पुद्-गलोमे दो शक्ति-अंशोंका अन्तर होना चाहिये। इससे न्यून या अधिक अंतरके होनेपर बन्ध नही होता। बन्ध सदृश और विसदृश दोनों प्रकारके पुद्गलोंका परस्परमे होता है। सदृशका अर्थ समान जातीय और विसदृशका अर्थ असमान जातीय है। एक रूक्ष पुद्गलके प्रति दूसरा रूक्ष पुद्गल समान जातीय है और स्निग्ध पुद्गल असमान जातीय है। इसी तरह एक स्निग्ध पुद्गलके प्रति दूसरा स्निग्ध पुद्गल समानजातीय है और रूक्ष पुद्गल असमानजातीय है। इस प्रकार परमाणुकी बन्ध-व्यवस्था अवगत करनी चाहिए।

प्रत्येक परमाणुमे स्वभावत एक रस, एक रूप, एक गंध और दो स्पर्श-गुण हैं। पुद्गलके बीस गुण माने गये हैं—पाँच रूप, पाँच रस, दो गंध और आठ स्पर्श। पाँच रूपोंमे काला, नीला, पीला, श्वेत और लालकी गणना है। तिक्त—चरपरा, आम्ल—खट्टा, कटुक—कडुवा, मधुर—मीठा और कषाय—कसैला ये पाँच

रस हैं। सुगंध और दुर्गंध दो प्रकारके गंध है। कठिन, मृदु, गुरु, लघु, शीत, उष्ण, स्निग्ध और रूक्ष ये आठ स्पर्श हैं।

पुद्गलकी परमाणु अवस्था स्वाभाविक पर्याय है और स्कन्ध-अवस्था विभाव-पर्याय है।

पुद्गलके भेद

पुद्गलके (१) स्कन्ध, (२) स्कन्धदेश, (३) स्कन्धप्रदेश और (४) परमाणु ये चार विभाग हैं। अनन्तानन्त परमाणुओसे स्कन्ध बनता है, उससे आधा स्कंध देश और स्कंधदेशका आधा स्कंधप्रदेश होता है। परमाणु सर्वत अविभागी होता है। शरीर, इन्द्रियाँ, मन, इन्द्रियोके विषय और श्वासोच्छ्वास आदि सब कुछ पुद्गलद्रव्यके ही विविध परिणाम है।

स्कन्धके भेद

अपने परिणमनकी अपेक्षा पुद्गल स्कन्धोके छ भेद है। स्कन्ध दोमे अधिक परमाणुओके सश्लेपसे बनता है। त्र्यणुक आदि स्कन्ध परमाणुओके सश्लेपसे भी बनते हैं तथा विविध स्कन्धोके सश्लेपसे भी। अन्त्य स्कंधके अतिरिक्त शेप सभी स्कंध परस्पर कार्यरूप भी है और कारणरूप भी। जिन स्कंधोसे बनते हैं उनके कार्य हैं और जिन्हे बनाते है, उनके कारण भी।

१ बादर-बादर स्थूल-स्थूल –जो स्कन्ध छिन्न-भिन्न होनेपर स्वय न मिल सकें, वे लकडी, पत्थर, पर्वत, पृथ्वी आदि बादर-बादर हैं। ऐसे ठोस पदार्थ जिनका आकार, प्रमाण और घनफल नही बदलता, बादर-बादर कहलाते हैं।

२ बादर-स्थूल जो स्कन्ध छिन्न-भिन्न होनेपर स्वय आपसम मिल जायँ, वे बादर-स्थूल स्कन्ध है। यथा—दूध, घी, जल, तैल आदि द्रवपदार्थ, जिनका केवल आकार बदलता है, घनफल नही, वे बादर कहलाते है।

३ बादर-सूक्ष्म स्थूल सूक्ष्म —जो स्कन्ध देखनेमे स्थूल हो, पर जिनका छेदन, भेदन और ग्रहण न किया जा सके, वे बादर-सूक्ष्म कहलाते है। यथा छाया, प्रकाश, अन्धकार आदि। आशय यह है कि जो केवल नेत्र इन्द्रियसे गृहीत हो सके और जिनका आकार भी बने, किन्तु पकडमे न आवे, वे बादर-सूक्ष्म पुद्गल कहलाते हैं।

४ सूक्ष्म बादर सूक्ष्म-स्थूल—जो सूक्ष्म होनेपर भी स्थूलरूपमे दिखलायी पडे, ऐसे पाँचो इन्द्रियोके विषय स्पर्श, रस, गन्ध, वर्ण और शब्द सूक्ष्म-बादर स्कन्ध हैं। जैसे ताप, ध्वनि आदि ऊर्जाएँ।

५. **सूक्ष्म** जो स्कन्ध सूक्ष्म होनेके कारण इन्द्रियोके द्वारा ग्रहण न किये जा सकते हो, वे कार्मण-वर्गणाएँ आदि सूक्ष्म स्कन्ध हैं।

६ **सूक्ष्म-सूक्ष्म**[1] कार्माणवर्गणासे भी छोटे द्वयणुक स्कन्ध तक सूक्ष्म-सूक्ष्म है।

परमाणु अत्यन्त सूक्ष्म है, वह अविभागी है, शब्दका कारण होकर भी स्वय अशब्द है और शाश्वत होकर भी उत्पाद और व्यय युक्त है। परमाणुमे भी त्रयात्मकता पायी जाती है।

पुद्गलपर्याय

शब्द, बन्ध, सूक्ष्मता, स्थूलता, सस्थान, भेद, अन्धकार, छाया, प्रकाश, उद्योत, और गर्मी आदि पुद्गलद्रव्यकी पर्यायें हैं।[2]

शब्द पुद्गलद्वारा ग्रहण किया जाता है, पुद्गलसे धारण किया जाता है, पुद्गलसे रुकता है, पुद्गलोको रोकता है और पौद्गलिक वातावरणमें अनु-कम्पन उत्पन्न करता है, अत शब्द पौद्गलिक है। स्कन्धोके परस्पर सयोग, सघर्षण और विभागसे शब्द उत्पन्न होता है। जिह्वा और तालु आदिके सयोगसे नाना प्रकारके भाषात्मक प्रायोगिक शब्द उत्पन्न होते हैं। शब्दके उत्पादक, उपादानकारण तथा स्थूल निमित्तकारण दोनो ही पौद्गलिक हैं।

दो स्कन्धोके सघर्षसे शब्द उत्पन्न होता है, वह आस-पासके स्कन्धोको अपनी शक्तिके अनुसार शब्दायमान कर देता है, अर्थात् सघर्षके निमित्तसे उन स्कन्धोमे भी शब्दपर्याय उत्पन्न हो जाती है। शब्द वीची-तरग न्यायसे श्रोता-के कर्णप्रदेशको प्राप्त होता है।

शब्द केवल शक्ति नही है, अपितु शक्तिमान् पुद्गलस्कन्ध है, जो वायुस्कन्ध-के द्वारा देशान्तरको जाता हुआ आस-पासके वातावरणको झनझनाता है। शब्दके पौद्गलिकत्वकी सिद्धि अनुभव द्वारा भी होती है। निश्छिद्र बन्द कमरेमे आवाज करनेपर वह वही गूँजती रहती है, बाहर नही निकलती। यन्त्रो द्वारा शब्द-तरगोको देखा जा सकता है। अत शब्द अमूर्त्त आकाशका गुण न होकर पौद्गलिक है।

१ बादरबादर बादर बादरसुहम च सुहमथूल च।
सुहम च सुहमसुहम च धरादिय होदि छब्भेयं॥

जीवकाण्ड, गाथा ६०२.

२. शब्दबन्धसौक्ष्म्यस्थौल्यसस्थानभेदतमश्छायातपोद्योतवन्तश्च।

तत्त्वार्थसूत्र, ५।२४.

शब्दके भाषात्मक और अभाषात्मक दो भेद हैं। भाषात्मक शब्दके अक्षरात्मक और अनक्षरात्मक ये दो भेद है। बोल-चालमे आनेवाली विविध प्रकारकी भाषाएँ, जिनमे ग्रन्थरचना होती है, वे अक्षरात्मक हैं। द्वीन्द्रिय आदि प्राणियोके जो ध्वनिरूप शब्द उच्चरित होते है, वे अनक्षरात्मक शब्द हैं। अभाषात्मक शब्दके वैस्रसिक और प्रायोगिक ये दो भेद हैं। मेघ आदिकी गर्जना वैस्रसिक शब्द हैं और प्रायोगिक शब्द चार प्रकारके हैं · तत, वितत, घन और सुषिर। चमडेसे मढे हुए मृदंग, भेरी और ढोल आदिका शब्द तत हैं। ताँतवाले वीणा, सारगी सादि वाद्योका शब्द वितत है। झालर, घण्टा आदिका शब्द घन है और शख, वाँसुरी आदिका शब्द सुषिर है।

विज्ञानके आलोकमे शब्दके दो भेद हैः—(१) कोलाहल और (२)सगीतध्वनि। इनमेसे कोलाहल वैस्रसिक वर्गमे गर्भित हो जाता है। सगीतध्वनिका उद्भव चार प्रकारसे माना जाता है (१) तन्त्रोके कम्पन, (२) तननके कम्पन, (३) दण्ड और पट्टिकाके कम्पन और (४) जिह्वालके कम्पनसे।

शब्द आकाशका गुण नही है, यह पौद्गलिक है इसे पुद्गलकी पर्याय माना जाता है। यह स्वय द्रव्यकी पर्याय है, और पर्यायका आधार पुद्गल स्कन्ध है। अमूर्त्त आकाशका गुण माननेपर शब्द भी अमूर्त्त हो जायगा।

बन्ध : पुद्गलपर्याय

एक दूसरेके साथ बधना भी पुद्गलकी पर्याय है। निरन्तर गतिशील और उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यात्मक परिणमनवाले अनन्तानन्त परमाणुओके परस्पर सयोग और विभागसे कुछ नैसर्गिक और कुछ प्रायोगिक परिणमन इस विश्वके रगमचपर प्रतिक्षण हो रहे हैं। इलेक्ट्रोन और प्रोटोन एटममे अविराम गतिसे चक्कर लगाते रहते हैं, वे सूक्ष्म या अतिसूक्ष्म पुद्गल स्कन्धमे बँधे हुए परमाणुओका ही गतिचक्र है। सब अपने-अपने क्रमसे जब जैसी कारणसामग्री प्राप्त कर लेते हैं, वैसा परिणमन करते हुए अपनी अनन्त यात्रा कर रहे है।

परस्पर श्लेषरूप बन्धके वैस्रसिक और प्रायोगिक ये दो भेद है। प्रयत्नके विना बिजली, मेघ, अग्नि और इन्द्रधनुष आदि सम्बन्धी जो स्निग्ध और रूक्ष गुणनिमित्तक बन्ध होता है, वह वैस्रसिक बन्ध है। प्रायोगिक बन्ध दो प्रकारका है (१) अजीवविषयक और (२) जीवाजीवविषयक। लाक्षा लाख, लकडी आदिका बन्धअजीव विषयक प्रायोगिक बन्ध है और कर्म तथा नोकर्मका बन्ध जीवाजीवविषयक प्रायोगिक है। यथार्थत वस्तुओका परस्पर मिलकर एक होना बन्ध है।

सूक्ष्मत्व और स्थूलत्व : पुद्गलपर्याय

सूक्ष्मता और स्थूलता भी पुद्गलकी पर्यायें हैं, यत इनकी उत्पत्ति पुद्गलसे ही होती है। जो वस्तु नेत्रसे दिखलायी न पडे अथवा कठिनाईसे दिखलायी पडे वह सूक्ष्म कहलाती है। इसके दो भेद है १ अन्त्य सूक्ष्मत्व और स्थूलत्व, २ आपेक्षिक सूक्ष्मत्व और स्थूलत्व।

परमाणु अन्त्य सूक्ष्मत्वका और जगद्व्यापी महास्कन्ध स्थूलत्वका उदाहरण हैं। बेल, आँवला, और बेर आपेक्षिक सूक्ष्मत्वके और इनके विपरीत बेर, आँवला और बेल आपेक्षिक स्थूलत्वके उदाहरण हैं। सूक्ष्मत्वके उदाहरणमे उत्तरोत्तर सूक्ष्मता और स्थूलत्वके उदाहरणमे उत्तरोत्तर स्थूलता हैं। ये दोनो पौद्गलिक हैं।

संस्थान : पुद्गलपर्याय

सस्थानशब्दका अर्थ आकार या आकृति है। आकार पुद्गलद्रव्यमे ही उत्पन्न होता है, अत इसे पुद्गलकी पर्याय कहा है। संस्थानके दो भेद हैं (१) इत्थलक्षण सस्थान, (२) अनित्थलक्षण सस्थान।

जिस आकारका 'यह इस तरहका' है, इस प्रकारसे निर्देश किया जा सके, वह 'इत्थलक्षण' सस्थान है और जिसका निर्देश न किया जा सके, वह 'अनित्थलक्षण' सस्थान है। गोल, त्रिकोण, चौकोर, आयताकार आदि सस्थानोके आकारोका निर्देश करना सम्भव है, अत यह 'इत्थलक्षण' सस्थान है। मेघ आदिका सस्थान आकार अवश्य है, पर उसका निर्धारण सभव नही, अत यह 'अनित्थलक्षण' सस्थान है।

सस्थान पुद्गलस्कन्धोमे ही सभव है, पुद्गलस्कन्धोके अभावमे सस्थानका-निर्धारण नही होता है। अतएव विभिन्न आकृतियाँ पुद्गलकी पर्याय हैं।

भेद : पुद्गलपर्याय

पुद्गल पिण्डका भग होना भेद है। पुद्गलके विभिन्न भग टुकडे उपलब्ध होते हैं, अत. भेदको भी पुद्गल-पर्याय कहा गया है। भेदके छह प्रकार हैं

१. उत्कर बूरादा लकडी या पत्थर आदिका करोत आदिसे भेद करना।

२. चूर्ण गेहूँ आदिका सत्तू या आटा।

३ खण्ड घट आदिके टुकडे-टुकडे हो जाना खण्ड है।

४ चूर्णिका—दालरूपमे टुकडे, उडद, मूँग आदिकी दाल।

५ प्रतर मेघ, भोजपत्र, अभ्रक और मिट्टी आदिकी तहे निकालना प्रतर है।

६ अणुचटन स्फुलिङ्ग गर्म लोहे आदिमे घन मारना अथवा शान धरते समय स्फुलिङ्गोका निकलना।

भगके और भी भेद सभव हो सकते है, ये सभी पुद्गलकी पर्यायोमे परिगणित हैं। वस्तुत. यह सारा संसार पुद्गलका ही क्रीडा-क्षेत्र है। पुद्गल अनेक रूपो और विभिन्न आकृतियोमे अपना कार्य सम्पादित करता है।

प्रकाश-अन्धकार : पुद्गलपर्याय

सूर्य, चन्द्र, विजली, दीपक आदिके सम्बन्धसे पुद्गल-स्कन्धोमे नेत्रोसे देखने योग्य जो परिणमन होता है, वह प्रकाश है और सूर्य आदिके अभावमे जो पुद्गल-स्कन्ध काले (अन्धकारके) रूपमे परिवर्त्तित होते है, वह अन्धकार है। प्रकाश और अन्धकार मूर्त्तिक हैं,) यत इनका अवरोध किया जा सकता है। तम और अन्धकार एकार्थक है और प्रकाशके प्रतिपक्षी हैं। क्योकि प्रकाशपथमे सघन पुद्गलोके आजानेसे अन्धकारकी उत्पत्ति होती है। अतएव ये दोनो पौद्गलिक हैं।

छाया : पुद्गल-पर्याय

सूर्य, दीपक, विद्युत् आदिके कारण आस-पासके पुद्गलस्कध भासुररूप धारण कर प्रकाशस्कन्ध वन जाते हैं। जव कोई स्थूलस्कन्ध इस प्रकाशस्कन्धको जितनी जगहमे अवरुद्ध रखता है, उतने स्थानके स्कन्ध काला रूप धारण कर लेते हैं, यही छाया है। छायाकी उत्पत्ति पारदर्शक अण्वीक्षोके प्रकाशपथमे आ जानेसे अथवा दर्पणमे प्रकाशके परावर्त्तनसे होती है। इस छायाके निम्नोक्त भेद हैं .

(१) वास्तविक प्रतिविम्व प्रकाश-रश्मियोके मिलनेसे वास्तविक प्रतिविम्व वनते हैं।

(२) अवास्तविक प्रतिबिम्व समतल दर्पणमे प्रकाशरश्मियोके परावर्त्तनसे वनते हैं।

छाया पुद्गलजन्य है, अत पुद्गलकी पर्याय है।

आतप-उद्योत पुद्गल-पर्याय

सूर्य आदिका उष्ण प्रकाश आतप कहलाता है और चन्द्र, मणि एव जुगुनू आदिका शीत प्रकाश उद्योत कहलाता है। अग्निसे इन दोनोमे अन्तर है।

अग्नि स्वय उष्ण होती है और उसकी प्रभा भी उष्ण होती है, किन्तु आतप और उद्योतके विषयमे यह बात नही है। आतप मूलमे ठडा होता है, पर उसकी प्रभा उष्ण होती है। उद्योतकी प्रभा भी ठंडी होती है और मूल भी। आतपमे ऊर्जाका अधिकाश तापकिरणोके रूपमे प्रकट होता है और उद्योतमे अधिकाश उर्जा प्रकाश-किरणोके रूपमे प्रकट होती है।

सक्षेपमे बधना, सूक्ष्मता, स्थूलता, चौकोर, तिकोन, आयताकार आदि विभिन्न आकृतियाँ, सुहावनी चाँदनी, मंगलमय उषाकी लाली आदि पुद्गल-स्कन्धोकी पर्याये है। निरन्तर गतिशील और उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यात्मक परिण-मनशील अनन्तानन्त परमाणुओके परस्पर सयोग और विभाग पुद्गलरूप हैं। पुद्गलके विभिन्न प्रकारके परिणमनोके कारण ही इस सृष्टिकी व्यवस्था चल रही है। अत पृथ्वी, अप, तेज, वायु, आदि भी पुद्गलके अन्तर्गत हैं। प्रकाश, गर्मी, उद्योत, आतप प्रभृति शक्तियाँ किसी ठोस आधारमे रहनेवाली हैं और यह आधार पुद्गल-स्कन्ध ही है। शक्तियाँ जिन माध्यमोसे गति करती हैं, उन माध्यमोको स्वय उस रूपसे परिणत कराती हुई हो जाती हैं। अतएव पुद्गल आधारके विना इनकी भी उत्पत्ति संभव नही है।

पुद्गलके अन्य भेद

पुद्गल जातीय स्कन्धोमे विभिन्न प्रकारके परिणमन होनेसे पुद्गलके २३ वर्गणात्मक भेद हैं[1] (१) अणुवर्गणा, (२) सख्याताणुवर्गणा, (३) असख्याताणु-वर्गणा, (४) अनन्ताणुवर्गणा, (५) आहारवर्गणा, (६) अग्राह्यवर्गणा, (७) तैजस-वर्गणा, (८) अग्राह्यवर्गणा, (९) भाषावर्गणा, (१०) अग्राह्यवर्गणा (११) मनो-वर्गणा, (१२) अग्राह्यवर्गणा, (१३) कार्मणवर्गणा, (१४) ध्रुववर्गणा, (१५) सान्तरनिरन्तरवर्गणा, (१६) शून्यवर्गणा, (१७) प्रत्येकशरीरवर्गणा, (१८) ध्रुवशून्यवर्गणा, (१९) वादरनिगोदवर्गणा, (२०) शून्यवर्गणा, (२१) सूक्ष्मनिगोद-वर्गणा, (२२) नभोवर्गणा और (२३) महास्कन्धवर्गणा।

इन तेईस वर्गणाओमे आहारवर्गणा, भाषावर्गणा, मनोवर्गणा और कार्मण-वर्गणा ये पाँच ग्राह्यवर्गणाएँ हैं।[2] इन वर्गणाओमे ऐसा नियम नही है कि जो परमाणु एक वार कर्मवर्गणारूप परिणत हुए हैं, वे सदा कर्मवर्गणारूप ही रहेगे, अन्यरूप नही होगे या अन्यपरमाणु कर्मवर्गणारूप न हो सकेंगे। प्रत्येक द्रव्यमे अपनी-अपनी मूल योग्यताओके अनुसार जिस-जिस प्रकारकी सामग्री एकत्र होती

१ गोम्मटसार-जीवकाण्ड, गाथा ५९३ और ५९४

२. वही, गाथा ५९५

जाती है, उस-उस प्रकारका परिणमन सम्भव है। जो परमाणु शरीर अवस्थामें नोकर्मवर्गणा बनकर शामिल हुए थे, वे ही परमाणु मृत्युके अनन्तर शरीरके भस्म कर देनेपर अन्य अवस्थाओंको प्राप्त हो जाते हैं। एकजातीय द्रव्यमे उस द्रव्यके विशेष परिणमनोपर बन्धन नही लगाया जा सकता। पुद्गलके स्कन्धोमे स्वभावत परिणमन होता रहता है, जिससे उनकी अवस्थाएँ निरन्तर परिवर्त्तित होती रहती है।

स्कन्ध और परमाणु उत्पत्ति-कारण

स्कन्धकी उत्पत्ति तीन प्रकारसे होती है

(१) सघात पृथक्-पृथक् द्रव्योकी एकत्व प्राप्तिसे।

(२) भेद खण्ड-खण्ड होनेसे।

(३) भेद-सघात एक ही साथ हुए भेद और सघात दोनोसे।

पृथक्-पृथक् द्रव्योकी एकत्व प्राप्ति परमाणुओ परमाणुओकी भी होती हैं, परमाणु और स्कन्धोकी भी होती है और स्कन्धो स्कधोकी भी। जब दो या दो से अधिक परमाणु मिलकर स्कध बनता है, तब परमाणुओके संघातसे स्कन्धकी उत्पत्ति मानी जाती है। दो स्कधोके मिलनेसे तृतीय स्कधका निर्माण होता है, तो स्कधके सघातसे स्कधकी उत्पत्ति मानी जाती है।

बडे स्कधके टूटनेसे छोटे-छोटे दो या दो से अधिक स्कध उत्पन्न होते है, ये भेदजन्य स्कन्ध कहलाते हैं। यथा पत्थरके तोडनेपर दो या दोसे अधिक टुकड़े होते हैं। इस प्रकारके स्कन्धोकी उत्पत्ति भेदसे होती है। भेदजन्य स्कध भी द्वयणुकसे लेकर अनन्ताणुक तक हो सकते है।

जब किसी स्कन्धके टूटनेपर टूटे हुए अवयवके साथ उसी समय अन्य स्कन्ध मिलकर नया स्कन्ध बनता है, तब वह स्कन्ध भेदसघातजन्य कहलाता है। भेदसघातजन्य स्कन्ध भी द्वयणुकसे अनन्ताणुक तक सभव हैं। अचाक्षुष स्कन्ध-भेद और सघातसे चाक्षुष हो जाते हैं।

अणु उत्पत्ति

अणुकी उत्पत्ति केवल भेदसे होती है, इसका कारण यह है कि अणु पुद्गल द्रव्यकी स्वाभाविक अवस्था है, अत इसकी उत्पत्ति सघात मिलनसे नही, भेद टूटनेसे ही सभव है।

परमाणु गतिशीलता

पुद्गलपरमाणु स्वभावत. क्रियाशील है। इसकी गति तीव्र, मन्द एव

मध्यम आदि अनेक प्रकारकी होती है। परमाणु या अणुमे वचन-भार भी होता है, पर उसकी अभिव्यक्ति स्कन्धावस्थामे ही होती है। जिस प्रकार स्कन्धोमे अनेक प्रकारके स्थूल, सूक्ष्म, प्रतिघाती और अप्रतिघाती परिणमन अवस्था-भेदके कारण सम्भव होते है, उसी प्रकार अणु भी अपनी बाह्याभ्यन्तर सामग्रीके अनुसार दृश्य और अदृश्यरूप अनेक प्रकारकी अवस्थाओको स्वयमेव धारण करता है। उसमे जो कुछ भी नियतता या अनियतता, व्यवस्था या अव्यवस्था है, वह स्वयमेव है। बीचके पडावमे पुरुषप्रयत्नका प्रभाव पडता है, पर योग्यताके आधारपर स्थूल कार्य-कारणभाव नियत है।

पुद्गल : कार्य

शरीर, वचन, मन और श्वासोच्छ्वासका निर्माण पुद्गल द्वारा होता है। शरीरकी रचना पुद्गल द्वारा हुई है। वचनके दो भेद है. (१) भाववचन, (२) द्रव्यवचन। भाववचन वीर्यान्तराय तथा मतिज्ञानावरण और श्रुतज्ञानावरण कर्मके क्षयोपशमसे एव अङ्गोपाङ्ग नामकर्मके उदयसे होता है। यह पुद्गल सापेक्ष होनेसे पौद्गलिक है। पूर्वोक्त सामर्थ्ययुक्त आत्माके द्वारा प्रेरित होकर पुद्गल ही द्रव्यवचनरूप परिणमन करते है, अत द्रव्यवचन भी पौद्गलिक है।

मनके दो भेद है.—(१) भावमन और (२) द्रव्यमन। लब्धि और उपयोग-रूप भावमन है, यह पुद्गल सापेक्ष होनके कारण पौद्गलिक है। ज्ञानावरण और वीर्यान्तरायके क्षयोपशमसे तथा आङ्गोपाङ्ग नामकर्मके उदयसे जो पुद्गल गुण-दोषका विचार और स्मरण आदि कार्योके सम्मुख हुए आत्माके उपकारक है, वे द्रव्यमनसे परिणत होते है, अतएव द्रव्यमन भी पौद्गलिक है।

वायुको बाहर निकालना प्राण और बाहरसे भीतर ले जाना अपान कह-लाता है। वायुके पौद्गलिक होनेसे प्राणापान भी पुद्गल द्वारा निर्मित है।

सुख, दुःख, जीवित और मरण भी पुद्गलोके उपकार है। सुख-दुःख जीव-की अवस्थाएँ है, इन अवस्थाओके होनेमे पुद्गल निमित्त है, अत ये पुद्गलके उपकार है। आयुष्कर्मके उदयसे प्राण, अपानका विच्छेद न होना जीवन है और प्राण-अपमानका विच्छेद हो जाना मरण है। प्राणापानादि पुद्गल स्कन्ध-जन्य है, अत ये भी पुद्गलके उपकार है।

धर्मद्रव्य स्वरूप-विश्लेषण

गतिशील जीव और पुद्गलोके गमन करनेमे जो साधारण कारण है, वह धर्मद्रव्य है। जीव और पुद्गलके समान यह भी स्वतन्त्र द्रव्य है। यह निष्क्रिय है। बहुप्रदेशी द्रव्य होनेके कारण इसे अस्तिकाय भी कहा जाता है।

यह धर्मद्रव्य पुण्यका वाची नही है। इसके असख्यात प्रदेश है। यह द्रव्यके मूल परिणामीस्वभावके अनुसार पूर्वपर्यायको छोडने और उत्तरपर्यायको धारण करनेका क्रम अपने प्रवाही अस्तित्वको बनाये रखते हुए अनादिकालसे चला आ रहा है और अनन्तकाल तक चालू रहेगा। धर्मद्रव्यके कारण ही जीव और पुद्गलोंके गमनकी सीमा निर्धारित होती है। इसमे न रस है, न रूप है, न गन्ध है, न स्पर्श है और न शब्द ही है।[1]

यह जीव और पुद्गलोको गमन करनेमे उसी प्रकार सहायक है, जैसे जल मछलीके गमन करनेमे। यह एक अमूर्तिक समस्त लोकमे व्याप्त स्वतन्त्र द्रव्य है।

अधर्म स्वरूप

जिस प्रकार धर्मद्रव्य जीव और पुद्गलोको गमन करनेमे सहायक है, उसी प्रकार अधर्मद्रव्य जीव और पुद्गलोके ठहरने या स्थितिमे सहायक है। धर्मद्रव्य जीव और पुद्गलोंके चलनेमे सहायता करता है और अधर्मद्रव्य ठहरनेमे। चलने और ठहरनेकी शक्ति तो जीव और पुद्गलोमे पायी जाती है, पर बाह्य सहायताके विना इस शक्तिकी अभिव्यक्ति नही हो पाती है।

सहायक होनेपर भी धर्म और अधर्मद्रव्य प्रेरक कारण नही है, न किसीको बलपूर्वक चलाते हैं और न किसीको ठहराते ही हैं, किन्तु ये दोनो गमन करते और ठहरते हुए जीव और पुद्गलोको सहायक होते हैं।[2]

आकाशद्रव्य : स्वरूप

जो जीवादि द्रव्योको अवकाश प्रदान करता है, वह आकाश है। आकाश अनन्त है, किन्तु जितने आकाशमे जीवादि अन्य द्रव्योकी सत्ता पायी जाती है, वह लोकाकाश कहलाता है और वह सीमित है। लोकाकाशसे परे जो अनन्त शुद्ध आकाश है, उसे अलोकाकाश कहा जाता है। उसमे अन्य किसी द्रव्यका अस्तित्व नही है, और न हो सकता है, क्योकि वहाँ गमनागमनके साधनभूत धर्मद्रव्यका अभाव है।

स्थिति, गमन और रुकावट ये तीनो क्रियाएँ आकाश द्वारा सम्भव नही है,

१ धम्मत्थिकायमरस अवण्णगध असद्दमप्फास।
लोगोगाढ पुट्ठ पिहुलमसखादियपदेस॥
पञ्चास्तिकाय-गाथा ८३

२ जह हवदि धम्मदव्व तह ण जाणेह दव्वमधम्मक्ख।
ठिदिकिरियाजुत्ताण कारणभूद तु पुढवीव॥
वही, गाथा ८६.

यत एक द्रव्य द्वारा अपने शुद्धरूपमें एक ही प्रकारकी क्रिया सम्भव मानी जा सकती है। क्रियाओंके परस्पर भिन्न होनेपर तो कारण और साधनभूत सामग्रीको भिन्न-भिन्न मानना पड़ेगा। अतएव लोकाकाशमे गमनके लिए धर्मद्रव्य कारण, स्थितिके लिए अधर्मद्रव्य और रुकावटके लिए आकाशद्रव्य साधन है। आकाश वही तक गति शील पदार्थोके गमनमे सहायक है, जहातक उन तत्त्वोकी सत्ता पायी जाती है, उसके आगे यह उनके गमनमे रुकावट उत्पन्न करता है।

आकाश समस्त जीवादि द्रव्योको स्थान देता है अर्थात् ये समस्त जीवादि द्रव्य आकाशमे युगपत् पाये जाते हैं। यो तो पुद्गलादि द्रव्योमे भी परस्परमे हीनाधिक रूपमे एक दूसरेको अवकाश देते देखा जाता है, किन्तु समस्त द्रव्योको एक साथ अवकाश देनेवाला आकाश ही सम्भव है। इसके अनन्तप्रदेश हैं। इसके मध्यभागमे चौदह राजू ऊँचा पुरुषाकार लोक है, इसके कारण ही आकाश लोकाकाश और अलोकाकाश रूपमे विभाजित है। लोकाकाश असख्यात प्रदेशी है और अलोकाकाश अनन्त।

यह निष्क्रिय और अमूर्तिक है। अवकाशदान इसका असाधारण गुण है। दिक्द्रव्य स्वतन्त्र नही है। आकाश-प्रदेशोमे सूर्योदयकी अपेक्षा पूर्व, पश्चिम आदि दिशाओकी कल्पना की जाती है। यह कोई पृथक् द्रव्य नही है। आकाश-प्रदेशपक्तियाँ सब ओर कपडेमे तन्तुकी तरह श्रेणीबद्ध हैं।

एक पुद्गल परमाणु जितने आकाशको रोकता है, उसे प्रदेश कहते हैं। इस नापसे आकाशके अनन्त प्रदेश हैं। यदि पूर्व, पश्चिम आदि व्यवहार होनेके कारण दिशाको स्वतन्त्र द्रव्य माना जाय, तो पूर्वदेश, पश्चिमदेश, उत्तरदेश आदि व्यवहारोसे 'देशद्रव्य' की सत्ता भी स्वतन्त्र स्वीकार करनी पडेगी। इस प्रकार प्रान्त, जिला और तहसील आदि भी पृथक् द्रव्य मानने पडेंगे।

आकाशमे शब्दगुणकी कल्पना भी सम्भव नही है। शब्द पौद्गलिक है, यह पहले ही बताया जा चुका है।

आकाशको प्रकृतिका विकार भी नही माना जा सकता, क्योकि एक ही प्रकृतिके घट, पट, पृथ्वी, जल, अग्नि, प्रभृति विकार सम्भव नही है। मूर्तिक-अमूर्तिक, रूपी-अरूपी, व्यापक-अव्यापक एव सक्रिय-निष्क्रिय आदि रूपसे विरुद्ध धर्मवाले एक ही प्रकृतिके विकार सम्भव नही हो सकते हैं।

आकाश अन्य द्रव्योके समान 'उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य' इस द्रव्य लक्षणसे युक्त हैं और इसमे प्रतिक्षण अपने अगुरुलघुगुणके कारण पूर्वपर्यायका

विनाश और उत्तरपर्यायका उत्पाद होते हुए भी सतत अविच्छिन्नता बनी रहती है। अत आकाश परिणामीनित्य है।

कालद्रव्य : स्वरूप-विश्लेषण

समस्त द्रव्योके उत्पादिरूप परिणमनमे सहायक 'कालद्रव्य' होता है। इसका लक्षण वर्त्तना है। यह स्वय परिवर्त्तन करते हुए अन्य द्रव्योके परिवर्त्तनमे सहायक होता है। कालद्रव्यके दो भेद है (१) निश्चयकाल, (२) व्यवहार-काल। निश्चयकाल अपनी द्रव्यात्मकसत्ता रखता है और वह धर्म और अधर्मद्रव्योके समान समस्त लोकाकाशमे स्थित है।

कालद्रव्य भी अन्य द्रव्योके समान उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य लक्षणसे युक्त है। रूप, रस, गन्ध और स्पर्श आदिसे रहित होनेके कारण अमूर्तिक है। प्रत्येक लोकाकाशके प्रदेशपर एक-एक कालद्रव्य अपनी स्वतन्त्र सत्ता रखता है। धर्म और अधर्म द्रव्यके समान वह लोकाकाशव्यापी एक द्रव्य नही है, क्योकि प्रत्येक लोकाकाशप्रदेशपर समयभेदसे अनेक द्रव्य स्वीकार किये बिना कार्य नही चल सकता है।

कालद्रव्यके कारण ही वस्तुमे पर्याय-परिवर्त्तन होता है। पदार्थोमे काल-कृत सूक्ष्मतम परिवर्त्तन होनेमे अथवा पुद्गलके एक परमाणुको आकाशके एक प्रदेशसे दूसरे प्रदेशपर जानेमे जितना काल या समय लगता है, वह व्यवहार कालका एक समय है। ऐसे असख्यात समयोकी आवलि, सख्यात आवलियोका एक उच्छ्वास, सात उच्छ्वासोका एक स्तोक, सात स्तोकोका एक लव, ३८½ लवोकी नाली, दो नालियोका एक मुहूर्त्त और तीस मुहूर्त्तका एक अहोरात्र होता है। इसी प्रकार पक्ष, मास, ऋतु, अयन, वर्ष, युग, पूर्वांग, पूर्व, नयुतांग, नयुत आदि सख्यातकालके भेद है। इसके पश्चात् असख्यातकाल प्रारम्भ होता है, इसके जघन्य, मध्यम और उत्कृष्ट ये तीन भेद है,

अनन्तकालके भी जघन्य, मध्यम और उत्कृष्ट भेद किये गये है। अनन्तका उत्कृष्ट प्रमाण अनन्तानन्त है।

साततत्त्व : स्वरूप-विचार और भेद

पदार्थ-व्यवस्थाकी दृष्टिसे यह विश्व षट्द्रव्यमय है। पर मुमुक्षुके लिए मुक्ति प्राप्त करनेके हेतु जिस तत्त्वज्ञानकी आवश्यकता होती है, वे तत्त्व सात है। विश्व-व्यवस्थाका ज्ञान होनेपर भी तत्त्वज्ञानके अभावमे मोक्ष-प्राप्ति सम्भव नही है।

जिस वस्तुका जो भाव है, वह तत्त्व कहलाता है। वस्तुके असाधारण स्वरूपभूत स्वतत्त्वको तत्त्व कहते हैं। तत्त्वशब्द भावसामान्यका वाचक[1] है, क्योंकि 'तत्' यह सर्वनाम पद है और सर्वनाम सामान्य अर्थमें रहता है, अतः उसका भाव तत्त्व कहा जाता है। तथ्य यह है कि जो पदार्थ जिस रूपसे अवस्थित है, उसका उस रूपमें होना, यही यहाँ तत्त्वशब्दका अर्थ है।

तत्त्व सात हैं

(१) जीव ज्ञान-दर्शन चैतन्यरूप।

(२) अजीव जड़ द्रव्य पुद्‌गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल।

(३) आस्रव कर्मागमनका द्वार।

(४) बन्ध कर्मागमनका बन्धरूपमें परिणमन।

(५) संवर आस्रवका निरोध।

(६) निर्जरा बंधे हुए कर्मोंका शनैः शनैः विनाश।

(७) मोक्ष समस्त कर्मोंका विनाश।

तत्त्वनिरूपण : प्रक्रिया और विधि

तत्त्वनिरूपणकी मुख्यतः दो शैलियाँ प्रचलित हैं (१) अनुयोगद्वारोंके आधारपर और (२) प्रयोजनीभूतपदार्थोंके आधारपर। सत्, संख्या, क्षेत्र आदि अनुयोगद्वारोंके अनुसार बीस प्ररूपणाओं द्वारा जीवादिका विश्लेषण-विवेचन करना प्रथम शैली है। यह शैली अत्यन्त विस्तृत है।

दूसरी प्रक्रिया आत्मकल्याणके लिए प्रयोजनभूतपदार्थोंके निरूपणकी है। ये प्रयोजनीभूत पदार्थ सात हैं, जिनका निर्देश पूर्वमें किया जा चुका है। अनादिकालसे जीव तथा कर्म-नोकर्मरूप अजीव मिलकर संयुक्त अवस्थाको प्राप्त हो रहे हैं। अतएव इस संयुक्त अवस्थामें जीव और अजीवको समझना सर्व प्रथम प्रयोजनभूत है।

ये तत्त्व अनादि हैं। जिस प्रकार काल अनादि, अनन्त है, उसी प्रकार ये तत्त्व भी अनादि हैं। पुण्य और पापका अन्तर्भाव आस्रवतत्त्वमें हो जाता है, अतः सात तत्त्व ही प्रमुख हैं। यों तो आस्रव, बन्ध, संवर, निर्जरा और मोक्ष ये पाँच तत्त्व भावरूपमें जीवकी पर्याय हैं और द्रव्यरूपमें पुद्‌गलकी। जिस

१. तत्त्वशब्दो भावसामान्यवाची। कथम् ? तदिति सर्वनामपदम्। सर्वनाम च सामान्ये वर्तते तस्य भावस्तत्त्वम्। तस्य कस्य ? योऽर्थो यथावस्थितस्तथा तस्य भवनमित्यर्थः
तथा राजवार्तिक २।१।६ सर्वार्थसिद्धि १।२।८

भेदविज्ञानसे आत्मा और परके विवेकज्ञानसे आचारकी साधना द्वारा केवलज्ञानकी प्राप्ति होती है, उस आत्मा और परमे ये सातो तत्त्व समाहित हो जाते हैं; पर तत्त्वव्यवस्थाको ज्ञात करनेके लिए सातकी जानकारी आवश्यक है।

जिस 'पर'की परतन्त्रताको हटाना है और जिस 'स्व'को स्वतन्त्र करना है, उन 'स्व' और 'पर'के ज्ञानमे ही तत्त्व-ज्ञानकी पूर्णता है। यत मुक्तिका साधन 'स्व-पर-विवेकज्ञान' है।

जीवका लक्ष्य दु खोसे छुटकारा प्राप्तकर शाश्वत सुख मोक्षको प्राप्त करना है और इस दु खसे छूटनेके हेतु जिन पदार्थोकी जानकारी अपेक्षित है, वे पदार्थ तत्त्व कहलाते है। दु ख और दु खनिवृत्ति करनेके सम्बन्धमे सात प्रकारकी जिज्ञासाएँ उत्पन्न होती हैं

(१) स्वतत्रता प्राप्त करनेवालेका क्या स्वरूप है ?

(२) परतन्त्रता आवरण करनेवाली वस्तु कौन है और उसका क्या स्वरूप है ?

(३) आवरण करनेवाली वस्तु स्वतन्त्रता प्राप्त करनेवाले जीव तक कैसे पहुँचती है ?

(४) पहुँचकर वह किस प्रकार बधती है ?

(५) नवीन कर्मबन्धको रोकनेका क्या उपाय है ?

(६) पूर्वार्जित कर्मोको कैसे नष्ट किया जा सकता है ?

(७) मुक्तिका क्या स्वरूप है ?

पूर्वोक्त सात तथ्योकी जानकारी प्रत्येक मुमुक्षुके लिए आवश्यक है। जिज्ञासाके फलस्वरूप उत्तरमे प्राप्त सात तत्त्व ही प्रयोजनभूत है।

आत्मतत्त्व : निरूपण

आत्महित-साधन करना ही जीवका लक्ष्य है और यह लक्ष्य है मोक्षप्राप्ति। पर मोक्षकी प्राप्ति प्रधानकारणोके जाने बिना सभव नही है। आत्माके यथार्थ स्वरूपका निरूपण किये बिना विकारी आत्माका परिज्ञान नही हो सकता है। जिस प्रकार रोगीको जबतक अपने मूलभूत आरोग्य स्वरूपका ज्ञान न हो, तब तक उसे यह निश्चय ही नही हो सकता है कि मेरी यह अस्वस्थ अवस्था रोग है। रोगके विकारको यथार्थ जानकारी तभी सभव है जब उसे अपनी आरोग्य अवस्थाका परिज्ञान हो जाय।

इस विश्वमे अनन्त आत्माएँ हैं और उनकी अपनी स्वतन्त्र सत्ता है। आत्माएँ किसी विराट् सत्ताका अश नही हैं। सभी आत्माओका मूल स्वभाव समान है, उसमे कोई विलक्षणता नही, भेद नही। सभी आत्माओका स्वतन्त्र अस्तित्व सिद्ध है।

प्रत्येक आत्माका मौलिक स्वरूप एक होनेपर भी ससारकी आत्माओमे जो भिन्नता दृष्टिगोचर होती है, वह औपपाधिक है। कर्मोंके आवरणकी तारतम्यताके कारण ही आत्माओमे पारस्परिक भेद दिखलायी पडता है। आवरणकी तारतम्यता अनन्त प्रकारकी हो सकती है, अत आत्माके स्वाभाविक गुणोके विकास और ह्रासकी अवस्थाएँ भी अनन्त हैं।

स्वानुभवसे आत्माके ज्ञान-दर्शन-चैतन्यरूप अस्तित्वकी सिद्धि होती है। पदार्थों को जाननेवाली आत्मा है, इन्द्रियाँ नही। इन्द्रियाँ तो केवल साधनमात्र है। आत्माके चले जानेपर इन्द्रियाँ कुछ भी नही जान पाती। इन्द्रियोके नष्ट हो जानेपर भी उनके द्वारा जाने हुए विषयोका आत्माको स्मरण रहता है।

जड और चेतनमे अन्त्यन्ताभाव है, अत. त्रिकालमे भी आत्मा अचेतन नही हो सकती। जिस वस्तुका विरोधी तत्त्व न मिले, उसका अस्तित्व सिद्ध नही होता। चेतनका विरोधी अचेतन पदार्थ है, अत चेतनका अस्तित्व सिद्ध है।

जिस प्रकार आकाश तीनो कालोमे अक्षय, अनन्त और अतुल होता है, उसी प्रकार आत्मा भी तीनो कालोमे अविनाशी और अवस्थित है। इसका ग्रहण ज्ञान-दर्शन गुणके द्वारा होता है।

चैतन्य आत्माका विशिष्ट गुण है। यह आत्माके अतिरिक्त अन्य किसी पदार्थमे प्राप्त नही होता। अत आत्मा स्वतन्त्र द्रव्य है और उसमे पदार्थके व्यापक लक्षण अर्थक्रियाकारित्व और सत् दोनो घटित होते हैं। आत्मामे जाननेकी क्रिया निरन्तर होती रहती है। ज्ञानका प्रवाह एक क्षणके लिए भी नही रुकता।

आत्म-भेद

विकासदशाकी दृष्टिसे आत्माके तीन भेद हैं
१. बहिरात्मा मिथ्यादृष्टि–मिथ्यादर्शी,
२ अन्तरात्मा सम्यग्दृष्टि सम्यग्दर्शी,
३. परमात्मा सर्वदर्शी सर्वज्ञ।

बहिरात्मा · स्वरूप

जो मिथ्यात्वभावके कारण शरीर, इन्द्रिय, मन आदिके साथ स्त्री, पुत्र आदि पर-पदार्थोको अपना समझता है, वह बहिरात्मा है। बहिरात्मा मिथ्यादृष्टि होता है और वह शरीर एव इन्द्रियोको ही आत्मा समझता है।

आत्माके ज्ञान, ध्यान और अध्ययनरूप सुखामृतको छोड़कर इन्द्रियोके

सुखको भोगता है, वह बहिरात्मा है[1]। देह, कलत्र, पुत्र और मित्रादिक चेतनाके वैभाविक रूप है, इनमे अपनेपनकी भावना करनेवाला बहिरात्मा होता है। मिथ्या-दर्शनसे मोहित जीव अपने परमात्माको नही समझता[2] और न उसे निजात्माकी ही प्राप्ति होती है। फलस्वरूप वह परपदार्थोंमे आत्मबुद्धि करता है।

जो मद, मोह और मानसहित है, राग-द्वेषसे नित्य सन्तप्त रहता है, विषयोमे अति आसक्त है, वह बहिरात्मा है।[3]

बहिरात्मामे निम्नलिखित तत्त्व विद्यमान रहते हैं:

१ मिथ्यात्वोदय,

२ तीव्रकषायविष,

३ आत्मा-शरीरके एकत्वकी अनुभूति,

४ हेयोपादेय-विचारशून्य।

मिथ्यात्वगुणस्थानमे जीव उत्कृष्ट बहिरात्मा है, सासादन गुणस्थानमे मध्यम बहिरात्मा और मिश्रगुणस्थानमे जघन्य बहिरात्मा कहलाता है। यह बहिर्मुख होता है।

अन्तरात्मा विवेचन

जिन्हे स्व-पर-विवेक या भेदविज्ञान उत्पन्न हो गया है, जिनकी शरीर आदि बाह्य पदार्थोंसे आत्मदृष्टि हट गयी है, वे सम्यग्दृष्टि अन्तरात्मा हैं। जब जीव-की दृष्टि बाह्य विषयसे हटकर अन्तरकी ओर झुक जाती है, तब वह अन्तरात्मा कहलाता है। यह अन्तरात्मा सभी प्रकारसे जल्पोसे रहित होता है और देहादि-को अपनेसे भिन्न समझता है तथा निजानुभूतिका पान करता है। अन्तरात्माके निम्नलिखित गुण होते हैं

१. अप्पाणाणज्झाणज्झयणसुहमियरसायणप्पाण।
मोत्तूणक्खाणसुह जो भुंजइ सो हु वहिरप्पा॥
देहकलत्त पुत्त मित्ताइ विहावचेदणारूव।
अप्पसरूवं भावइ सो चेव हवेइ वहिरप्पा॥

रयणसार-गाथा १३५, १३७

२. मिच्छा-दसण-मोहियउ परु अप्पा ण मुणेइ।
सो वहिरप्पा जिण भणिउ पुण संसार भमेइ॥

योगसार, पद्य ७

३. मदमोहमानसहितः रागद्वेषैर्नित्यसन्तप्तः।
विषयेषु तथा शुद्ध वहिरात्मा भण्यते ह्येष॥

ज्ञानसार, पद्य ३०

१ धर्मध्यानका ध्याता,
२ आत्मोन्मुखी प्रवृत्ति,
३ शरीर और आत्माके भिन्नत्वकी प्रतीति,
४ आत्मनिष्ठाका पूर्ण सद्भाव,
५ जिनवचनोका विज्ञता।

अन्तरात्मा भेद

अन्तरात्माके तीन भेद हैं। इन भेदोकी कल्पनाका आधार गुणोका विकास है। आत्मगुण जिस परिस्थितिमे विकसित होते हैं, उसी परिस्थितिके अनुसार अन्तरात्माके भेद निर्धारित किये जाते है

(१) उत्तम अन्तरात्मा क्षीणकषायगुणस्थानमे अवस्थित आत्मा उत्तम अन्तरात्मा है।

(२) मध्यम अन्तरात्मा अविरत और क्षीणकषायगुणस्थानोके बीचमे (५ से ११ मे) रहनेवाला मध्यम अन्तरात्मा है।

(३) जघन्य अन्तरात्मा अविरतगुणस्थानमे उसके योग्य अशुभलेश्यासे परिणत।

जो जीव पाँचो महाव्रतोसे युक्त होकर धर्मध्यान और शुक्लध्यानमे सदा स्थित रहते हैं तथा समस्त प्रमादोको जिन्होने जीत लिया है, वे उत्कृष्ट अन्तरात्मा हैं। श्रावकके व्रतोको पालनेवाले गृहस्थ और प्रमत्तगुणस्थानवर्त्ती मुनि 'मध्यम' अन्तरात्मा हैं। ये जिनवचनमे अनुरक्त, उपशमस्वभावी और महापराक्रमी होते हैं। अविरत सम्यग्दृष्टि जघन्य अन्तरात्मा कहलाते हैं।[1]

परमात्मा : स्वरूप

शुद्ध आत्मा ही परमात्मा है। जब आत्मा विशुद्ध ध्यानके बलसे कर्मरूपी ईन्धनको भस्म कर देती है, तो यही परमात्मा बन जाती है।

१ पचमहव्वय-जुत्ता धम्मे सुक्के वि सठिदा णिच्च।
णिज्जिय-सयल-पमाया, उक्किट्ठा अतरा होंति ॥
सावयगुणेहि जुत्ता पमत्तविरदा य मज्झिमा होंति।
जिणवयणे अणुरत्ता उवसमसीला महासत्ता ॥
अविरयसम्मादिट्ठी होंति जहण्णा जिणिदपयभत्ता।
अप्पाण णिदता गुणगहणे सुट्ठु अणुरत्ता ॥
स्वामिकार्त्तिकेयानुप्रेक्षा १९५-१९७

परमात्माके दो भेद है. (१) सकलपरमात्मा और (२) निकलपरमात्मा। अथवा (१) कारणपरमात्मा और (२) कार्यपरमात्मा।

जन्म, जरा, मरण रहित, आठ कर्म रहित, शुद्ध, ज्ञानस्वभाव, अक्षय और अविनाशी सुखका धारक, अव्याबाध, अतीन्द्रिय, अनुपम, पुण्य-पाप रहित, नित्य, अचल एव निरालम्ब कारणपरमात्मा होता है। औदयिक आदि चार भावो-के अगोचर होनेसे द्रव्यकर्म, भावकर्म और नोकर्मरूप उपाधिसे जनित विभाव गुणपर्यायोसे रहित एव सहज-शुद्ध परमपारिणामिकभावधारी कारणपरमात्मा है।

अष्ट कर्मोका नाश और समस्त देहादि परद्रव्योका त्यागकर केवल-ज्ञानमय आत्माको प्राप्त करना कार्यपरमात्मा है। केवलज्ञान, केवलदर्शन, अनन्तसुख और अनन्तवीर्य गुण इस परमात्मामे प्रकट हो जाते हैं। सिद्ध-परमेष्ठी कार्यपरमात्मा और अर्हन्तपरमेष्ठी कारणपरमात्मा कहलाते हैं।

सकलपरमात्माका अर्थ भी अर्हन्त है। यहाँ कल-शब्दका अर्थ शरीर है, जो शरीर सहित है, वह सकलपरमात्मा है और शरीर सहित होनेके कारण अर्हन्त सकलपरमात्मा है। जो शरीररहित समस्त कर्मकालिमासे मुक्त है, वह निकलपरमात्मा है। शरीररहित होनेके कारण निकलपरमात्मा कहलाते है।

इस प्रकार विकासक्रमकी दृष्टिसे आत्मस्वरूपको अवगत कर उसकी निष्ठा करना मोक्षमार्गकी ओर अग्रसर होना है।

जीवके भाव : स्वरूप और भेद

चेतन और द्रव्यके स्वभावको भाव कहते है। भावका अर्थ चित्तविकार, कर्मोदय सापेक्ष जीवपरिणति, गुण-पर्यायरूप अर्थ एव विशेष आत्मपरिणति है। वस्तुत पदार्थोके परिणामको भाव कहा जाता है।

आत्माकी दो अवस्थाएँ है (१) ससारावस्था और (२) मुक्तावस्था। इन दोनो प्रकारकी अवस्थाओमे आत्माकी जो विविध पर्यायें होती है, उनको समन्वित कर पाँच भेदोमे विभाजित किया जा सकता है। ये ही भाव अथवा आत्माके स्वतत्त्व कहलाते हैं, यतः आत्माके अतिरिक्त अन्य द्रव्यमे ये नही पाये जाते।

(१) औपशमिकभाव कर्मोके उपशमसे उत्पन्न होनेवाली परिणति।
(२) क्षायिकभाव कर्मोके क्षयसे उत्पन्न होनेवाली परिणति।
(३) क्षायोपशमिक कर्मोके क्षयोपशमसे उत्पन्न होनेवाली परिणति।
(४) औदयिक कर्मोके उदयसे उत्पन्न होनेवाली परिणति।

(५) पारिणामिक भाव कर्मोके उपशमादिके विना स्वभावरूपमे उत्पन्न होनेवाली परिणति।

जिस भावके उत्पन्न होनेमे कर्मका उपशम निमित्त होता है, वह औपशमिक भाव है। कर्मकी अवस्था विशेषका नाम उपशम है। जैसे कतक-निर्मली आदि द्रव्यके निमित्तसे जलमे मिश्रित मैल नीचे जम जाता है और स्वच्छ जल ऊपर निकल आता है, उसी प्रकार परिणामविशेषके कारण विवक्षित कालमे कर्मनिषेकोका अन्तर होकर उस कर्मका उपशम हो जाता है, जिससे उस कालके भीतर आत्माका निर्मल भाव प्रकट होता है। कर्मके उपशमसे होनेके कारण इसे औपशमिक कहा जाता है।

नीचे जमे हुए मैलके हिल जानेपर जिस प्रकार जल पुन गन्दा हो जाता है, उसी प्रकार उपशमके दूर होते ही कर्मोदयके पुन· आजानेसे भावमे परिवर्त्तन हो जाता है।

जिस भावके होनेमे कर्मका क्षय निमित्त हो, उसे क्षायिकभाव कहते हैं। जिस प्रकार जलमेसे मैलके निकाल देनेपर जल सर्वथा स्वच्छ हो जाता है, उसी प्रकार आत्मासे लगे हुए कर्मके सर्वथा दूर हो जानेसे आत्माका निर्मल-भाव प्रकट हो जाता है। अत यह भाव कर्मके सर्वथा क्षय होनेसे क्षायिक कहलाता है।

जिस भावके होनेमे कर्मका क्षयोपशम निमित्त है, वह क्षायोपशमिक भाव कहलाता है। जिस प्रकार जलमेसे कुछ मलके निकल जानेपर और कुछके बने रहनेपर जलमे मलकी क्षीणाक्षीण वृत्ति पायी जाती है, जिससे जल पूरा निर्मल न होकर समल बना रहता है। इसी प्रकार आत्मासे लगे हुए कर्मके क्षयोपशमके होनेपर जो भाव प्रकट होता है, उसे क्षायोपशमिक भाव कहते हैं।

कर्मोके उदयसे होनेवाले भावको औदयिक भाव कहते है।

कर्मके, उपशम, क्षय, क्षयोपशम और उदयके विना द्रव्यके परिणाममात्रसे उत्पन्न होनेवाला भाव पारिणामिक कहा जाता है। तात्पर्य यह है कि बाह्य निमित्तके विना द्रव्यके स्वाभाविक परिणमनसे जो भाव प्रकट होता है, वह पारिणामिक कहलाता है।

ससारी अथवा मुक्त आत्माकी जितनी पर्याये होती हैं, उन सबका अन्त-र्भाव इन पाँच भावोमे ही हो जाता है।

ससारी जीवोमेसे किसीके तीन, किसीके चार और किसी जीवके पाँच भाव होते हैं। तृतीय गुणस्थान तकके समस्त ससारी जीवोके क्षायोपशमिक,

औदयिक और पारिणामिक ये तीन ही भाव होते है। चार भाव औपशमिक सम्यक्त्व, क्षायिक सम्यक्त्व या क्षायिक चारित्रके प्राप्त होनेपर होते है और पाँच भाव क्षायिकसम्यग्दृष्टिके उपशमश्रेणिका आरोहण करनेपर होते है।

मुक्त जीवोके क्षायिक और पारिणामिक ये दो ही भाव होते है।

भावोके भेद-प्रभेद

औपशमिक भावके दो भेद है (१) औपशमिक सम्यक्त्व और (२) औपशमिक चारित्र।

कर्मकी दश अवस्थाओमे एक उपशान्त अवस्था है। जो कर्मपरमाणु उदीरणाके अयोग्य होते हैं, वे उपशान्त कहलाते हैं। अध करण आदि परिणामविशेषोसे दर्शनमोहनीयके उपशमसे औपशमिकसम्यक्त्व और चारित्रमोहनीयके उपशमसे औपशमिकचारित्र उत्पन्न होता है।

क्षायिकभावके नौ भेद हैं (१) केवलज्ञान, (२) केवलदर्शन, (३) क्षायिक दान, (४) क्षायिकलाभ, (५) क्षायिकभोग, (६) क्षायिक उपभोग, (७) क्षायिकवीर्य, (८) क्षायिकसम्यक्त्व और (९) क्षायिकचारित्र।

ज्ञानावरणके क्षयसे केवलज्ञान, दर्शनावरणके क्षयसे केवलदर्शन, पाँच प्रकारके अन्तरायके क्षयसे दान, लाभ, भोग, उपभोग और वीर्य ये लब्धियाँ, दर्शनमोहनीयकर्मके क्षयसे क्षायिकसम्यक्त्व और चारित्रमोहनीयकर्मके क्षयसे क्षायिकचारित्र प्रकट होते हैं।

क्षायोपशमिकभावके अठारह भेद हैं (१–४) चार ज्ञान मति, श्रुत, अवधि और मन पर्यय (५-७) तीन अज्ञान कुमति, कुश्रुत और कुअवधि, (८–१२) पाँच लब्धियाँ क्षायोपशमिक दान, क्षायोपशमिक लाभ, क्षायोपशमिक भोग, क्षायोपशमिक उपभोग और क्षायोपशमिक वीर्य, (१२–१५) तीन दर्शन चक्षुदर्शन, अचक्षुदर्शन और अवधिदर्शन, (१६) क्षायोपशमिक सम्यक्त्व, (१७) क्षायोपशमिक चारित्र एव (१८) सयमासयम।

यह ध्यातव्य है कि जिन अवान्तर कर्मोमे देशघाति और सर्वघाति दोनो प्रकारके कर्मपरमाणु पाये जाते है, क्षयोपशम उन्ही कर्मोका होता है। नोकषायोमे देशघाति कर्मपरमाणु ही पाये जाते है, अत उनका क्षयोपशम नही होता। तत्तत्कर्मके क्षयोपशमसे उपर्युक्त भाव प्रकट होते है।

औदयिकभावके इक्कीस भेद हैं. चार गति, चार कषाय, तीन वेद, मिथ्यादर्शन, अज्ञान, असयम, असिद्धभाव और षट् लेश्याएँ।

गतिनामकर्मके उदयसे नरक, तिर्यञ्च, मनुष्य और देव ये चार गतियाँ

होती हैं। कषायमोहनीयके उदयसे क्रोध, मान, माया और लोभ ये चार कषाय होते हैं। वेदनोकषायके उदयसे स्त्री, पुरुष और नपुसक ये तीन वेद होते है। मिथ्यात्वमोहनीयके उदयसे मिथ्यादर्शन, ज्ञानावरणके उदयसे अज्ञानभाव, चारित्रमोहनीयके सर्वघाति स्पर्धकोके उदयसे असयत भाव, सभी कर्मोदय-से असिद्ध भाव होते है। कषायके उदयसे अनुरजित योगप्रवृत्तिको लेश्या कहते हैं।

पारिणामिक भावके तीन भेद हैं (१) जीवत्व, (२) भव्यत्व और (३) अभव्यत्व।

जीवत्वका अर्थ चैतन्य है। यह शक्ति आत्माकी स्वाभाविक है। इसमे कर्मके उदयादिकी अपेक्षा नही रहती, अतएव पारिणामिक भाव है। यही बात भव्यत्व और अभव्यत्वके सम्बन्धमे भी कही जा सकती है। जिस आत्मामे रत्नत्रयके प्रकट होनेकी योग्यता है वह भव्य है और जिसमे इस प्रकारकी योग्यताका अभाव है। वह अभव्य है।

जीवमे अस्तित्व, अन्यत्व, नित्यत्व और प्रदेशवत्व आदि अन्य पारिणामिक भाव भी पाये जाते हैं, पर जीवके असाधारण भावकी दृष्टिसे उक्त तीन ही पारिणामिक भाव हैं।

इस प्रकार जीवके मूल भाव पाँच और अवान्तर तिरेपन होते है।

यह ज्ञातव्य है कि आत्माएँ अखण्ड और मूलत प्रत्येक आत्मा स्वतन्त्र समान शक्तिवाली है। कर्मावरणके कारण आत्माकी शक्ति हीनाधिक रूपमे विकसित दिखलायी पडती है।

अजीवतत्त्व स्वरूप

अजीवके सम्बन्धसे आत्मा विकृत होती है, उसमे विभाव परिणति उत्पन्न होती है, अतएव अजीवके स्वरूपकी जानकारी आवश्यक है। अजीवसे ही आत्मा बँधती है, यही आत्माकी परतन्त्रताका कारण है। अजीवतत्त्वके अन्तर्गत धर्म, अधर्म, आकाश, काल और पुद्गल इन पाँचकी गणना की जाती है। पूर्वके चार तत्त्व आत्माका इष्ट, अनिष्ट नही करते। पुद्गल द्रव्य ही आत्माके बन्धका कारण है। इसीसे शरीर, मन, इन्द्रिय, श्वासोच्छ्वास और वचन आदिका निर्माण होता है।

मुमुक्षुके लिए शरीरकी पौद्गलिकताका ज्ञान अत्यन्त आवश्यक है। जीवनकी आसक्तिका मुख्य केन्द्र यही है। आत्माका विकास प्राय शरीराधीन है, शरीरके किसी भी अगके बिगडते ही वर्त्तमान ज्ञानका विकास रुक जाता है

और शरीरके नाश होनेपर वर्त्तमान शक्तियाँ प्राय. समाप्त हो जाती है, तो भी आत्माका अपना स्वतन्त्र अस्तित्व तेल-बत्तीसे भिन्न ज्योतिके समान पृथक् है।

अतएव पुद्गलकी प्रकृतिका परिज्ञान अत्यन्त आवश्यक है, इसके यथार्थ उपयोगसे ही आत्माका विकास किया जा सकता है। आहार-विहारके उत्तेजक होनेपर पवित्र विचारोंकी उत्पत्ति सभव नही होती। इसलिए अशुभ सस्कार और विचारोका शमन करनेके लिए प्रबल निमित्तभूत शरीरकी स्थिति आदिका परिज्ञान आवश्यक है। जिन परपदार्थो से आत्माको विरक्त होना है और जिन्हे 'पर' समझकर उनकी छीना-झपटीकी द्वन्द्वदशासे ऊपर उठना है उनका त्याग करनेके लिए अजीव तत्त्वको समझना है।

आत्मा और अनात्मा दोनो द्रव्य हैं। दोनो अनन्त गुण और पर्यायोसे अविच्छिन्न समुदाय हैं। सामान्यगुणकी अपेक्षा दोनो अभिन्न और विशेषगुणकी अपेक्षा भिन्न है। आत्मा ज्ञानसे सर्वथा भिन्न भी नही और सर्वथा अभिन्न भी नही है। कथञ्चित् भिन्नाभिन्न है।

वस्तुत शरीर और चेतन दोनो भिन्नधर्मक हैं। इनका अनादिप्रवाही सम्बन्ध है। चेतन और अचेतन चैतन्यकी दृष्टिसे अत्यन्त भिन्न हैं। अत वे सर्वदा एक नही हो सकते। चेतन शरीरका निर्माता है और शरीर उसका अधिष्ठान, इसलिए दोनोपर एक दूसरेकी क्रिया-प्रतिक्रिया होती है। यह ध्यातव्य है कि शरीरकी रचना चेतन-विकासके आधारपर होती है। जिस जीवके जितने इन्द्रिय-मन विकसित होते हैं, उसके उतने ही इन्द्रिय-मनके ज्ञान-तन्तु बनते हैं। वे ज्ञान-तन्तु ही इन्द्रिय एव मानसज्ञानके साधन होते है। अतएव शरीर और आत्माके सम्बन्धका परिज्ञान और उसकी अनुभूति प्रत्येक मुमुक्षुके लिए आवश्यक है। भूत और चेतनमे अत्यन्ताभाव है त्रिकालवर्त्ती विरोध है। चेतन कभी अचेतन और अचेतन कभी चेतन नही हो सकता है।

आशय यह है कि जीवके लिए उपयोगी आत्म और अनात्म दोनो ही तत्त्व हैं, यत जीव और पुद्गलका बन्ध अनादिसे है और यह बन्ध जीवके अपने राग-द्वेष आदिके कारण उत्तरोत्तर बढता है। जब ये रागादिभाव क्षीण होते हैं, तब यह बन्ध आत्मामे नये विभाव उत्पन्न नही कर सकता और शनै शनै: या एक ही झटकेसे ही समाप्त हो जाता है।

आस्रवतत्त्व स्वरूपविवेचन

जीवके द्वारा मन, वचन और कायसे जो शुभाशुभप्रवृत्ति होती है, उसे भावास्रव और उसके निमित्तसे विशेष प्रकारकी पुद्गलवर्गणाएँ आकर्षित

होकर उसके प्रदेशोमे प्रवेश करती है, वह द्रव्यास्रव है। सर्वसाधारणके यह आस्रव कषायवश होनेके कारण बन्धका हेतु होनेसे साम्परायिक कहलाता है। वीतरागव्यक्तियोके आगामी कर्मबन्धका हेतु न होनेसे ईर्यापथ कहा जाता है।

जीवमे कर्ममलके आनेकी सूचना आस्रव द्वारा प्राप्त होती है। यत: जीव और कर्मका बन्ध तभी सम्भव है, जब जीवमे कर्मपुद्गलोका आगमन हो। अत कर्मोके आनेके द्वारको आस्रव कहते है। जिस प्रकार नौकामे छेदके द्वारा पानी आता है, अत' वह छेद आस्रव कहा जाता है, उसी प्रकार मन, वचन और कायकी प्रवृत्ति द्वारा कर्मोका आगमन होता है, तथा यह प्रवृत्ति या शक्ति ही योग कहलाती है। आशय यह है कि हम मनके द्वारा जो कुछ सोचते है, वचन-द्वारा जो कुछ बोलते हैं और शरीर द्वारा जो कुछ हलन-चलन करते हैं, वह सब हमारी ओर कर्मोके आनेमे कारण होता है।

मन, वचन और कायकी क्रियाको योग कहा जाता है और योग ही आस्रव-का कारण होनेसे आस्रव कहा जाता है। योगो मन, वचन और कायकी प्रवृत्तियो द्वारा आत्मपरिस्पन्दन होता है और इस परिस्पन्दनसे कर्मोका आस्रव होता है। साराश यह है कि ससारी जीवके मध्यके आठ प्रदेशोको छोड़कर शेष सब प्रदेश प्रति समय उद्वेलित होते रहते हैं। जो आत्मप्रदेश प्रथम समयमे आस्रवके पास थे, वे ही उत्तरक्षणमे पैरोके पास या पैरोके पाससे मस्तकके पास पहुँचते है। ससारावस्थामे यह प्रदेशकम्पन व्यापार क्रिया प्रति समय होती रहती है। इसी कम्पन व्यापारसे कर्म और नोकर्मवर्गणाओका ग्रहण होता है। इस क्रियाका नाम ही योग है और योग ही आस्रव है।

शुभयोगसे पुण्यकर्मका और अशुभयोगसे पापकर्मका आस्रव होता है। जिन कर्मोका रस अनुभाग शुभप्रद है, वे पुण्यकर्म और जिन कर्मोका अनुभाग अशुभप्रद है, वे पापकर्म कहे जाते है।

काययोग, वाग्योग और मनोयोगके द्वारा आत्माके प्रदेशोमे एक परिस्पन्दन होता है, जिसके कारण आत्मामे एक ऐसी अवस्था उत्पन्न होती है, जिसमे उसके आसपास भरे हुए सूक्ष्मातिसूक्ष्म पुद्गलपरमाणु आत्मासे आ चिपटते है। आत्मा और पुद्गलपरमाणुओके इसी सम्पर्कका नाम आस्रव है।

आस्रवभेद और स्वरूप

इस आस्रवके मूलत दो भेद हैं (१) साम्परायिक और (२) ईर्यापथिक। क्रोध, मान, माया और लोभरूप इन चार तीव्र मनोविकाररूप कषायोके वेगसे प्रेरित अवस्थामे उत्पन्न हुआ आस्रव साम्परायिक एव इन विकारोकी प्रेरणासे रहित साधारण अवस्थामे होनेवाला आस्रव ईर्यापथिक मार्गगामी कहा जाता

है। इसके द्वारा आत्मा और कर्मप्रदेशोका कोई स्थिर बन्ध उत्पन्न नही होता। जिस प्रकार सूखे वस्त्रपर लगी हुई धूल शीघ्र ही झड़ जाती है, बहुत समय तक वस्त्रपर चिपटी नही रहती, उसी प्रकार कषायके अभावमे होनेवाला आस्रव कर्मबन्धको स्थिरता प्रदान नही करता है। पर जब जीवकी मानसिक आदि क्रियाएँ कषायोंसे युक्त होती हैं, तब आत्मप्रदेशोमे एक ऐसी परपदार्थग्राहिणी दशा उत्पन्न हो जाती है, जिसके कारण उसके सम्पर्कमे आनेवाले कर्मपरमाणु शीघ्र उससे पृथक् नही होते।

आस्रवके मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग ये पाँच भेद है और ये पाँचो आस्रव प्रत्यय होनेके कारण बन्धके हेतु हैं।[1]

मिथ्यात्व

अपने स्वरूपको भूलकर शरीर आदि परद्रव्योमे आत्मबुद्धि करना मिथ्यात्व है। इसे विपरीत श्रद्धा भी कहा जा सकता है। मिथ्यादृष्टिकी समस्त क्रियाएँ और विचार शरीराश्रित व्यवहारोमे उलझे रहते हैं। लौकिक यशलाभ आदिको कामनासे ही धर्माचरण करता है। इसे स्वपरविवेक नही रहता और पदार्थोंके स्वरूपमे भ्रान्ति बनी रहती है।

यह मिथ्यात्व सहज और गृहीत दो प्रकारका होता है। इन दोनो ही मिथ्यादृष्टियोके तत्त्वरुचि जागृत नही होती। यह अनेक प्रकारके देव, गुरु और मूढताओको धर्म मानता है। अनेक प्रकारके ऊँच, नीच आदि भेदोको सृष्टिकर मिथ्या अहकारका पोषण करता है। ज्ञान, पूजा, कुल, जाति, बल, ऋद्धि, तप और शरीरके मदसे मत्त होकर अन्य व्यक्तियोको तुच्छ समझता है। आत्मनिष्ठाके अभावमे भय, स्वार्थ, घृणा, पर-निन्दा आदि दुर्गुणोका केन्द्र होता है।

सक्षेपमे आत्मशक्तिको न पहचानना और शरीर, इन्द्रिय आदिको आत्मा समझना मिथ्यात्व है। अहता और ममताके कारण आत्मा अपने निज स्वरूपको पहचान नही पाती। मिथ्यात्वके कारण आत्मबोध न होनेसे अपने स्वरूपसे विमुखता बनी रहती है। जिस प्रकार बालक मिट्टीके घरोंदे बनाते और बिगाड़ते रहते हैं, उसी प्रकार आत्मा ही इस ससारको बनाती रहती है। अतएव मिथ्यात्वका त्याग आवश्यक है। मिथ्यात्वके पाँच भेद हैं (१) एकान्त, (२) विपरीत, (३) वैनयिक, (४) सशय और (५) अज्ञान।

१ मिच्छत्ताविरदिपमादजोगकोहादओथ विण्णेया।
पण पण पणदस तिय चदु कमसो भेदा दु पुव्वस्स ॥

द्रव्यसग्रह ३०

अविरति

सदाचार या चारित्रधारण करनेकी ओर रुचि या प्रवृत्ति नही होना अविरति है। कषायके तीव्रोदयसे देशचारित्र और सकलचारित्रको धारण करनेकी प्रवृत्ति उत्पन्न नही होती है। अविरतिके पाच व बारह भेद है[1]:- (१) हिंसा, (२) असत्य, (३) स्तेय चोरी, (४) अब्रह्म और (५) परिग्रह-इच्छा अथवा (१-६) इन्द्रियोके और मनके विषयोमे प्रवृत्ति, (७) पृथ्वीकायिक प्राणियोकी हिंसा, (८) जल-कायिक प्राणियोकी हिसा, (९) तेजकायिक प्राणियोकी हिंसा, (१०) वायुकायिक प्राणियोकी हिसा, (११) वनस्पतिकायिक प्राणियोकी हिंसा और (१२) त्रस-कायिक प्राणियोकी हिंसा।

प्रमाद

कुशल कर्मोमे अनादर होना प्रमाद है। साधारणत असावधानीको प्रमाद कहा जाता है। पचेद्रियविषयोमे लीन होनेसे, राजकथा, चोरकथा, स्त्रीकथा और भोजनकथा आदि विकथाओमे रस लेनेसे, क्रोध, मान माया और लोभ इन चार कषायोसे कलुषित होनेसे तथा निद्रा और प्रणयमे मग्न होनेसे कुशल कर्मोके प्रति अनादरभाव उत्पन्न होता है और इसी अनादरसे आत्माके प्रति अनास्था और हिंसाकी भूमिका निर्मित हो जाती है। हिंसाके मुख्य हेतुओमे प्रमादका प्रमुख स्थान है। प्राणीका घात हो या न हो, पर प्रमादीको हिंसाका दोष सुनिश्चित है। प्रयत्नपूर्वक प्रवृत्ति करनेवाले अप्रमत्त साधकके द्वारा बाह्य हिंसा होनेपर भी वह अहिंसक ही रहता है। अतएव प्रमाद हिंसाका मुख्य द्वार है।

कषाय

आत्मा स्वभावत ज्ञान, दर्शन और शान्तिरूप है। उसमे किसी भी प्रकार का विकार नही है। पर क्रोध, मान, माया और लोभ ये चार कषाएँ आत्मा-को कषती हैं और उसे स्वरूपसे च्युत करती हैं। कषायशब्दकी व्युत्पत्ति कष् धातुसे है और कष् धातुके दो अर्थ हैं कर्षण एव हिंसा[2]। जो जीवके सुख-दु ख आदि अनेक प्रकारके धान्यको उत्पन्न करनेवाले तथा जिसकी ससाररूप मर्यादा अत्यन्त दूर है, ऐसे कर्मरूपी क्षेत्रका' कर्षण' खोदकर या जोतकर

१. हिंसानृतस्तेयाब्रह्मपरिग्रहाकाङ्क्षारूपेणाविरति पञ्चविधा अथवा मनःसहित-पञ्चेन्द्रियप्रवृत्तिपृथिव्यादिषट्कायविराधनाभेदेन द्वादशविधा।

ब्रह्मदेव, द्रव्यसग्रहटीका गाथा ३०, पृ० ८९

२ गोम्मटसार-जीवकाण्ड, गाथा २८१-२८२.

उपजाऊ बनानेके कारण कषाय कहलाती है। दूसरी व्युत्पत्तिके अनुसार जो देशचारित्र और सकलचारित्रका घात करती है, वह कषाय है। ये चारो आत्माकी विभावदशाएँ हैं। क्रोधकषाय द्वेषरूप है और है द्वेषका कारण एव कार्य। मान क्रोधको उत्पन्न करनेके कारण द्वेषरूप है। माया लोभको जागृत करनेसे रागरूप है तथा लोभ भी राग है। इस प्रकार राग-द्वेष और मोहकी त्रिपुटीमे कषायका भाग मुख्य है। ये कषाएँ बडी प्रबल हैं। लोभ कषाय तो बडे-बडे त्यागियोको भी विचलित कर देती है। कषायका त्याग किये बिना आत्म-चेतना निर्मल नही हो सकती। ये इस प्रकारके विकार है, जो निरन्तर आत्माको कलुषित बनाते हैं।

वस्तुत. ये विकार ही आत्माके अन्तरग शत्रु है। इनके हटानेसे आत्म-दृष्टि प्राप्त होती है। कषायके २५ भेद है। सोलह कषाय और नव नो-कषाय हैं। सोलह कषायोके अन्तर्गत अनन्तानुबन्धी क्रोध, मान, माया, लोभ, अप्रत्याख्यान क्रोध, मान, माया, लोभ, प्रत्याख्यान क्रोध, मान, माया, लोभ और सज्वलन क्रोध, मान, माया, लोभकी गणना है। इन कषायोके अतिरिक्त हास्य, रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा, स्त्रीवेद, पुरुषवेद और नपुसकवेदकी गणना नोकषायोमे है। इन कषायोके कारण ही आत्मामे विकारपरिणति उत्पन्न होती है।

योग

मन, वचन और कायके निमित्तसे आत्म-प्रदेशोमे होनेवाले परिस्पन्द क्रियाको योग कहते हैं। आत्मा सक्रिय है। उसके प्रदेशोमे परिस्पन्द होता है। अत' मन, वचन और कायके निमित्तसे सदा उसमे क्रिया होती रहती है। जिस प्रकार लोहेका गर्म गोला पानीमे डाल देनेपर चारो ओर जलीय परमाणुओका आकर्षण करता है, उसी प्रकार योगके कारण आत्मा सभी ओरसे कर्म-वर्गणाओको खीचती है। योग कर्मपरमाणुओको लानेका कार्य करता है और कषाय उन कर्मपरमाणुओको सम्बद्ध कराती है। योगके पन्द्रह भेद हैं

(१) सत्य मनोयोग सामीचीन पदार्थको विषय करनेवाला मनोयोग।
(२) असत्य मनोयोग सत्यसे विपरीत मिथ्या पदार्थको विषय करनेवाला।
(३) उभय मनोयोग सत्य और मिथ्या दोनो प्रकारका मन दोनो प्रकारके पदार्थोको विषय करनेवाला मन।
(४) अनुभय मनोयोग न सत्य और न मृषा।
(५) सत्य वचनयोग सत्यार्थके वाचक वचन।
(६) असत्य वचनयोग असत्यार्थके वाचक वचन।
(७) उभय वचनयोग उभयार्थके वाचक वचन।

(८) अनुभयवचनयोग अनुभयार्थके वाचक वचन।
(९) औदारिककाययोग स्थूलशरीरजन्य काययोग।
(१०) औदारिकमिश्रकाययोग औदारिकशरीर पूर्ण होनेके पहले।
(११) वैक्रियिककाययोग विभिन्न प्रकारकी विक्रिया रूपान्तर करनेकी शक्ति।
(१२) वैक्रियिकमिश्रकाययोग वैक्रियिकशरीरके उत्पन्न होनेकी पूर्व स्थिति।
(१३) आहारककाययोग रसादि धातुरहित उत्कृष्ट सस्थान और सहनन सहित उत्तमाग सिरसे उत्पन्न।
(१४) आहारकमिश्रकाययोग आहारकशरीर पूर्ण होनेकी पूर्व स्थिति।
(१५) कार्मणकाययोग ज्ञानावरणादि अष्टकर्मोका समूह।

बन्ध

दो पदार्थोके विशिष्ट सम्बन्धको बन्ध कहा जाता है। बन्धके दो भेद हैं --(१) भावबन्ध और (२) द्रव्यबन्ध। जिन राग-द्वेष और मोहादि विकारी भावोसे कर्मका बन्ध होता है, उन भावोको भावबन्ध कहते हैं और कर्म-पुद्गलोका आत्म-प्रदेशोसे सम्बन्ध होना द्रव्यबन्ध है। द्रव्यबन्ध आत्मा और पुद्गलका सम्बन्ध है। कर्म और आत्माके एकक्षेत्रावगाही सम्बन्धको बन्ध कहा जाता है। यह बन्ध सभी आत्माओके नही होता है। जो आत्मा कषायवान है, वही आत्मा कर्मोको ग्रहण करती है। यदि लोहेका गोला गर्म न हो, तो पानीको ग्रहण नही कर पाता है। पर गर्म होनेपर वह जैसे अपनी ओर पानीको खीचता है, उसी प्रकार शुद्धात्मा कर्मोको ग्रहण करनेमे असमर्थ है, पर जब कषायसहित आत्मा प्रवृत्ति करती है, तो वह प्रत्येक समयमे निरन्तर कर्मोको ग्रहण करती रहती है। इस प्रकार कर्मोको ग्रहण करके उनसे संश्लेषको प्राप्त हो जाना ही बन्ध है। बन्धके योग और कषाय ये दो प्रधान हेतु हैं। भेद-विवक्षासे मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग ये पाँच हेतु बन्धके हैं।

यहाँ यह ध्यातव्य है कि यह बन्ध संयोगपूर्वक नही होता। यह तो एक ऐसा मिश्रण है, जिसमे रासायनिक परिवर्तन होता है। मिलनेवाली दोनो वस्तुएँ अपनी वास्तविक अवस्थाको छोडकर एक तीसरी अवस्थाको प्राप्त हो जाती है। उदाहरणार्थ दूध और पानीकी मिश्रित अवस्थाको लिया जा सकता है। इस मिश्रित अवस्थामे न तो दूध अपनी यथार्थ अवस्थामे रहता है और न पानी ही। बल्कि दूध और पानीकी मिश्रित एक तृतीय अवस्था होती है। इसी प्रकार जीव और कर्म परस्परमे सम्बन्धित होनेपर न तो जीव ही अपनी शुद्ध अवस्थामे

रहता है और न कर्मपुद्गल ही। दोनों दोनोसे ही प्रभावित होते हैं। यही बन्ध है। आस्रव और बन्ध ससारके कारण हैं। आस्रवको कर्मबन्धका कारण माना गया है।

संवर

आस्रवका निरोध सवर है। मुमुक्षु जीव कर्मोके आस्रवके कारणोको पहचान कर जब उनसे विरुद्ध वृत्तियोका अवलम्बन लेता है, तो आस्रव रुक जाता है और आस्रवका रुकना ही सवर है। कर्मास्रवका निरोध मन वचन, कायके अप्रशस्त व्यापारके रोकने, विवेकपूर्वक प्रवृत्ति करने, क्षमा आदि धर्मोंका आचरण करने, अन्त करणमे विरक्तिके जाग्रत होने और सम्यक्चारित्रका अनुष्ठान करनेसे होता है।

कोई भी साधक भोग-क्रियाका सर्वथा निरोध नही कर सकता। उठना, बैठना, सम्भाषण करना आदि जीवनके लिये अनिवार्य है। अतएव विवेकपूर्वक प्रवृत्ति करनेसे सवर होता है। वस्तुत आत्मसुरक्षाका नाम सवर है। जिन द्वारोसे कर्मोका आस्रव होता है, उन द्वारोका निरोध कर देना सवर कहलाता है। आस्रव योगसे होता है। अतएव योगकी निवृत्ति ही सवर है।

शारीरिक आवश्यकताओकी पूर्तिके लिये आहारादिका ग्रहण करना अनिवार्य रहता है, पर इन प्रवृत्तियोपर विवेकका नियत्रण रहता है।

सवरके छ हेतु हैं

(१) गुप्ति अकुशल प्रवृत्तियोसे रक्षा।

(२) समिति सम्यक् प्रवृत्ति।

(३) धर्म आत्मस्वरूप-परिणति।

(४) अनुप्रेक्षा आत्म-चिन्तन।

(५) परीषहजय स्वेच्छया क्षुधा, तृषा आदिकी वेदनाका सहना।

(६) चारित्र समताभावकी आराधना।

वस्तुत नवीन कर्मोका आत्मामे न आना ही सवर है। यदि नवीन कर्मोका आगमन सर्वदा जीवमे होता रहे, तो कभी भी कर्म-बन्धनसे छुटकारा नही मिल सकता है।

निर्जरा

निर्जराका अर्थ है जर्जरित कर देना या झाड़ देना। बद्ध कर्मोको नष्ट कर देना या पृथक् कर देना निर्जरातत्त्व है। निर्जरा दो प्रकारकी होती है. (१) औपक्रमिक या अविपाक निर्जरा और (२) अनौपक्रमिक या सविपाक निर्जरा।

तप आदि साधनाओके द्वारा कर्मोको बलात् उदयमे लाकर बिना फल दिये ही झडा देना अविपाक निर्जरा है। स्वाभाविक क्रमसे प्रतिसमय कर्मोंका फल देकर झडते जाना सविपाक निर्जरा है। यह निर्जरा प्रत्येक प्राणीको प्रतिक्षण होती रहती है। इसमे पुराने कर्मोका स्थान नवीन कर्म लेते जाते हैं। गुप्ति, समिति और तपरूपी अग्निसे कर्मोको फल देनेके पहले ही भस्म कर देना अविपाक निर्जरा है। यह मिथ्या धारणा है कि कर्मोकी गति टल नही सकती। पुराने सस्कार ही कर्म हैं। यदि आत्मामे पुरुषार्थ है, तप-साधना है, तो क्षणमात्रमे पुरातन वासनाएँ क्षीण हो सकती हैं।

विवश होकर, हाय-हाय करते हुए कर्मोका फल भोगना और उन्हे निर्जरित करना तो एक साधारण-सी बात है। अर्जित कर्म-सस्कार इच्छापूर्वक समभाव-से कष्ट सहने एव तपाचरण करने आदिसे ही नष्ट होते हैं। अत नवीन कर्मोके बन्धको रोकना और सचित कर्मोकी निजरा करना जीवका पुरुषार्थ है।

मोक्ष

कर्म-बन्धनोसे छुटकारा प्राप्त करना मोक्ष है। यहाँ कर्मोके नाशका अर्थ इतना ही है कि कर्मपुद्गल जीवसे भिन्न हो जाते हैं। कार्मणवर्गणाएँ आत्माके साथ सयुक्त होनेके कारण उस आत्माके गुणोका घात करनेसे कर्मत्व-पर्यायको धारण करती हैं और मोक्षमे यह कर्मपर्याय नष्ट हो जाती है। अर्थात् कर्मबन्धनसे छूटकर शुद्ध एव सिद्ध हो जाती है, उसी तरह कर्मपुद्गल भी अपनी कर्मत्वपर्यायसे उस समय मुक्त हो जाते हैं। अत आत्मा और कर्म-पुद्गलका सम्बन्ध छूट जाना ही मोक्ष है। मोक्षमे दोनो द्रव्य अपने निज स्वरूपमे स्थित हो जाते हैं। न तो आत्मा दीपककी तरह बुझ जाती है और न कर्म-पुद्गलका ही सर्वथा समूल नाश होता है। दोनोकी पर्यायान्तर हो जाती है। जीव शुद्ध दशाको प्राप्त हो जाता है और पुद्गल भी यथासम्भव शुद्ध या अशुद्ध स्थितिको प्राप्त होता है।

इन सप्त तत्त्वोके स्वरूप विवेचनके अनन्तर कर्म-सिद्धान्त या जीव और कर्मके सम्बन्धपर विचार करना परमावश्यक है। साधारणत कर्मके दो रूप हैं (१) कर्म और (२) नोकर्म। शरीर, परिवार, धन, सम्पत्ति आदि सब नोकर्म हैं। इन नोकर्मोके भी दो प्रकार बतलाये गये हैं बद्ध नोकर्म और अबद्ध नोकर्म। बद्धका अर्थ है बँधा हुआ और अबद्धका अर्थ है नही बँधा हुआ। ससारदशामे जहाँ शरीर है, वहाँ आत्मा है और जहाँ आत्मा है, वहाँ शरीर है। दोनो दूध और पानीकी तरह एक दूसरेसे बँधे हुए हैं। यद्यपि इन दोनोका स्वरूप और सत्ता पृथक्-पृथक् है, पर अनादि कालसे शरीरमे

आत्माका निवास रहा है। एक शरीर छोड़ा तो दूसरा प्राप्त हो गया, दूसरा छोड़ा तो तीसरा प्राप्त हो गया। एक शरीरको त्यागकर दूसरे शरीरकी ओर जाते समय विग्रहगतिमे तैजस और कार्मण शरीर साथ रहते हैं। ससारी आत्माके ऐसा एक भी क्षण नही है, जब वह बिना किसी भी प्रकारके शरीरके ससारावस्थामे स्थित रही हो। अत शरीर आत्माके साथ बद्ध नोकर्म है। अबद्ध नोकर्मो के अन्तर्गत धन, भवन, परिवार, स्त्री-पुत्रादि सदा साथ तो रहते हैं, पर वे सम्पृक्त नही हैं। अतएव आत्मा और कर्मके बन्धका, कर्म-फलका एवं कर्म-बन्धनसे छूटनेका विचार करना आवश्यक है।

कर्मस्वरूप

आत्मा अनादि कालसे कर्मबद्ध है। यह स्थूल-शरीर और सूक्ष्म कर्म-शरीरसे सम्बद्ध है। इसके ज्ञान, दर्शन, सुख, वीर्य आदि गुण बन्धके कारण विकृत हो रहे हैं। जीव और पुद्गलका बन्ध अनादिसे है और यह जीवके राग-द्वेष आदि भावोके कारण होता है। यह केवल सस्कारमात्र नही है। किन्तु वस्तुभूत पदार्थ है। इस विश्वमे पुद्गलकी तेईस वर्गणाएँ व्याप्त हैं। इन वर्गणाओमे एक कार्मण-वर्गणा भी है, जो सर्वत्र विद्यमान है। यह कार्मण-वर्गणा ही राग-द्वेषसे युक्त जीवकी प्रत्येक मानसिक, वाचनिक और कायिक-क्रियाके साथ एक द्रव्यके रूपमे जीवमे आती है, जो उसके राग-द्वेषरूप भावोका निमित्त पाकर जीवसे बँध जाती है और समय आनेपर शुभ और अशुभ फल देती है। साराश यह है कि जब राग-द्वेषसे युक्त आत्मा अच्छे या बुरे कामोमे प्रवृत्त होती है, तब कर्मरूपी रज ज्ञानावरणादि रूपसे उसमे प्रवेश करता है।[1] अत स्पष्ट है कि कर्म एक मूर्त पदार्थ है, जो जीवको राग-द्वेष-मोहरूप परिणतिके कारण बन्धको प्राप्त होता है।

कर्मकी पौद्गलिकता

कर्म न सस्काररूप है, न वासनारूप ही। यह तो पौद्गलिक है। यह जीवात्माके आवरण, पारतन्त्र्य और दुखोका हेतु है, गुणोका विघातक है। अतएव यह आत्माका गुण नही हो सकता। जिस प्रकार बेडीसे मनुष्य बँधता है, सुरापानसे पागल बनता है और क्लोरोफॉर्मसे बेसुध होता है; ये सब

१. परिणमदि जदा अप्पा सुहम्मि असुहम्मि रागदोसजुदो।
त पविसदि कम्मरय णाणावरणादिभावेहि॥

प्रवचनसार, ज्ञेयतत्त्वप्रज्ञापना, गाथा १८७

पौद्गलिक वस्तुएँ है। उसी प्रकार कर्मके सयोगसे भी आत्माकी विभिन्न अवस्थाएँ प्रकट होती है। अतएव यह भी पौद्गलिक है। वेड़ी आदि वन्धन आज वाहरी वन्धन है और अल्प सामर्थ्य वाले हैं। कर्म आत्माके साथ चिपके हुए तथा अधिक सामर्थ्य वाले सूक्ष्म स्कन्ध हैं। अतएव उनकी अपेक्षा कर्म-परमाणुओका जीवात्मापर गहरा और आन्तरिक प्रभाव पडता है।

शरीर पौद्गलिक है। उसका कारण कर्म है। अत कर्म पौद्गलिक हैं। पौद्गलिक कार्यका समवायी कारण भी पौद्गलिक होगा। आहार आदि अनुकूल सामग्रीसे सुखानुभूति और शस्त्र-प्रहारादिसे दु खानुभूति होती है। आहार और शस्त्र पौद्गलिक है, इसी प्रकार सुख-दु खके हेतुभूत कर्म भी पौदगलिक हैं।

वन्वकी अपेक्षा जीव और पुद्गल अभिन्न हैं, एकमेक है। लक्षणकी अपेक्षा वे भिन्न हैं। जीव चेतन है और पुद्गल अचेतन। जीव अमूर्त है और पुद्गल मूर्त। इन्द्रियोके विषय स्पर्शादि मूर्त हैं और इन विषयोको भोगने वाली इन्द्रियाँ भी मूर्त हैं। अत उनसे होनेवाला सुख-दु.ख भी मूर्त है। इस प्रकार कर्म पौद्गलिक सिद्ध होते है।

आत्मा और कर्मका सम्बन्ध

आत्मा अमूर्त है, तब उसका मूर्त कर्मसे कैसे सम्वन्ध हो सकता है ? यत. मूर्तिकके साथ मूर्तिकका वन्ध तो सम्भव है, पर अमूर्तिकके साथ मूर्तिकका वन्ध कैसे हो सकेगा ? अनादि कालसे कर्मवद्ध विकारी आत्मा ही दिखलाई पडती है। ये आत्माएँ कथचिद् मूर्त हैं, क्योकि स्वरूपत अमूर्त होते हुए भी ससारदशामे मूर्त हैं। जीव दो प्रकारके है रूपी और अरूपी। मुक्त जीव अरूपी है और ससारी रूपी। जो आत्मा शुद्ध हो जाती है, वह फिर कर्म-वन्धनमे नही पड़ती है। जीव और कर्मका अनादि सम्बन्ध है। यत जो जीव ससारमे स्थित है जन्म-मरणकी धारामे पडा हुआ है, उसके रागरूप और द्वेषरूप परिणाम होते हैं। इन परिणामोसे नये कर्म बँधते हैं। कर्मो से गतियोमे जन्म लेना पडता है। जन्म लेनेसे शरीर प्राप्त होता है, शरीरमे इन्द्रियाँ होती हैं, इन्द्रियोसे विषयोका ग्रहण होता है, विषयोको ग्रहण करनेसे इष्ट वस्तुओमे राग और अनिष्ट वस्तुओसे द्वेप होता है। इस प्रकार ससाररूपी चक्रमे पडे हुए जीवके भावोसे कर्मवन्ध और कर्म वन्धसे राग-द्वेषरूप भाव होते हैं। यह ससारचक्र अभव्य जीवकी अपेक्षासे अनादि अनन्त है और भव्य जीवकी अपेक्षासे अनादि-सान्त है।[1]

---

१ जो खलु ससारत्थो जीवो तत्तो दु होदि परिणामो।
परिणामादो कम्मं कम्मादो होदि गदिसु गदी ॥

सारांश यह है कि यह आत्मा अनादिसे अशुद्ध है और प्रयोग द्वारा शुद्ध हो सकती है। कर्म एक भौतिक पिण्ड है, यह विशिष्ट शक्तिका स्रोत है। जब यह आत्मासे सम्बद्ध होता है, तो उसकी सूक्ष्म और तीव्र शक्तिके अनुसार बाह्य पदार्थ भी प्रभावित होते हैं तथा प्राप्त सामग्रीके अनुसार उस संचित कर्मका तीव्र, मन्द और मध्यम आदि फल मिलता है। इस प्रकार यह कर्म-चक्र अनादिकालसे चल रहा है और तब तक चलता रहेगा, जब तक बन्ध-कारक मूल रागादि वासनाओंका विनाश नहीं होगा।

व्यवहारकी अपेक्षा यह जीव मूर्तिक है तथा राग-द्वेषादिवासनाएँ और पुद्गलकर्मबन्धकी धारा बीज-वृक्षसन्ततिकी तरह अनादिसे चालू है। पूर्व संचित कर्मके उदयसे राग-द्वेषादि उत्पन्न होते हैं और तत्कालमें जो जीवकी आसक्ति या लगन होती है, वह नूतन कर्मबन्ध कराती है।

समान क्षेत्रमें रहनेवाले जीवके विकारी परिणामको निमित्तमात्र करके कार्मणवर्गणाएँ स्वयमेव अपनी अन्तरंग शक्तिके कारण कर्मरूपमें परिणमित हो जाती हैं। लोकमें जीव और कर्मबन्धके योग्य पुद्गलवर्गणाएँ सर्वत्र हैं, जीवके जैसे परिणाम होते हैं, उसी प्रकारका कर्मबन्ध होता है।[1] अतएव अनादिसन्ततिरूप प्रवर्त्तमान देहान्तररूप परिवर्त्तनका आश्रय लेकर शरीर-का निर्माण होता है और इससे कर्मका बन्ध होता है।

कर्मके मूलभेद

कर्मके दो भेद है (१) द्रव्यकर्म और (२) भावकर्म। जीवसे सम्बद्ध कर्म-पुद्गलोंको द्रव्यकर्म कहते हैं और द्रव्यकर्मके प्रभावसे होनेवाले जीवके राग-द्वेषरूप भावोंको भावकर्म कहते हैं। द्रव्यकर्म और भावकर्ममें कारण-कार्यका सम्बन्ध है, द्रव्यकर्म कारण है और भावकर्म कार्य। न बिना द्रव्यकर्मके भाव-

गदिमधिगदस्स देहो देहादो इन्दियाणि जायंते।
तेहिं दु विसयग्गहणं तत्तो रागो व दोसो वा॥
जायदि जीवस्सेवं भावो संसारचक्कवालम्मि।
इदि जिणवरेहिं भणिदो अणादिणिधणो सणिधणो वा॥

—पंचास्तिकाय गाथा, १२८-१३०.

१ कम्मत्तणपाओग्गा खंधा जीवस्स परिणइं पप्पा।
गच्छंति कम्मभावं ण हि ते जीवेण परिणमिदा॥

प्रवचनसार गा० १६९.

कर्म होते है और न विना भावकर्मके द्रव्यकर्म ही। इन दोनोमे बीज-वृक्ष सन्ततिके समान कार्य-कारणभाव सम्बन्ध विद्यमान है।

द्रव्यकर्म पौद्गलिक है और भावकर्म आत्माके चैतन्यपरिणामात्मक हैं; क्योंकि आत्मासे कथंचित् अभिन्नरूपसे स्ववेद्य प्रतीत होते हैं और वे क्रोधादि रूप है।[1]

वस्तुत कर्मपरमाणुओको आत्मा तक लानेका कार्य जीवकी योगशक्ति और उसके साथ उनका बन्ध करानेका कार्य कषाय जीवके राग-द्वेषरूप भाव करते है। जीवकी परिस्पन्दनरूप योगशक्ति और रागद्वेषरूप कषाय बन्धका कारण है। कषायके नष्ट हो जानेपर योगके रहने तक जीवमे कर्मपरमाणुओका आस्रव आगमन तो होता है, पर कषायके न होनेके कारण वे ठहर नही सकते। उदाहरणार्थ योगको वायु, कषायको गोंद, आत्माको दीवाल और कर्मपरमाणुओको धूलकी उपमा दी जा सकती है। यदि दीवाल पर गोद लगी हो तो वायुके द्वारा उड़कर आनेवाली धूल दीवालसे चिपक जाती है, पर दीवाल स्वच्छ, चिकनी और सूखी हो, तो धूल दीवालपर नही चिपकती, बल्कि तुरन्त झड़ जाती है। धूलका हीन या अधिक परिमाणमे उडकर आना वायुके वेगपर निर्भर हैं। वायु तेज होगी, तो धूल भी अधिक परिमाणमे उडेगी और वायु मन्द होगी, तो धूल कम परिमाणमे उडेगी। धूलका कम या अधिक समय तक चिपका रहना गोद या आर्द्रताकी मात्रा पर निर्भर करता है। जितनी अधिक चिकनी चीज दीवालपर रहेगी, धूल उसी चिकनाहटकी मात्राके अनुसार कम या अधिक समय तक रहेगी। अतएव सक्षेपमे योग और कषाय ही बन्धके कारण हैं।

बन्धके भेद

बन्धके चार प्रकार हैं: (१) प्रकृतिबन्ध (२) प्रदेशबन्ध (३) स्थितिबन्ध और (४) अनुभागबन्ध। इनमे प्रकृतिबन्ध और प्रदेशबन्धका हेतु योग है तथा स्थितिबन्ध और अनुभागबन्धका हेतु कषाय है। इन दोनो कारणोसे ही कर्मका बन्ध होता है और अभावमे नही। बन्ध कर्म और आत्माके एक क्षेत्रावगाही सम्बन्धका नाम है। जो आत्मा कषायवान् है, वही कर्मोको ग्रहण कर बाँधतो है।

१. द्रव्यकर्माणि जीवस्य पुद्गलात्मान्यनेकधा।
भावकर्माणि चैतन्यविवर्त्तात्मानि भान्ति नु ॥
क्रोधादीनि स्ववेद्यानि कथञ्चिच्चिदभेदत ॥

आप्तपरीक्षा, ११३-११४।

प्रकृतिबन्ध और प्रदेशबन्ध

प्रकृतिका अर्थ स्वभाव है। कर्मका बन्ध होते ही उसमे जो ज्ञान और दर्शनको रोकने, सुख-दु ख देने आदिका स्वभाव पड़ता है, वह प्रकृतिबन्ध है। प्रदेशबन्धका अर्थ है कर्मपरमाणुओकी गणना। एक कालमे जितने कर्मपरमाणु बन्धको प्राप्त होते है, उनका वैसा होना ही प्रदेशबन्ध है। वस्तुत: कर्म-परमाणुओकी सख्याका नियत होना प्रदेशबन्ध है।

स्थिति और अनुभागबन्ध

स्थितिका अर्थ कालमर्यादा है। प्रत्येक कर्मका बन्ध होते ही उसका सम्बन्ध आत्मासे कब तक रहेगा, यह निश्चित हो जाता है। इस प्रकार कर्म-बन्धके समय उसकी कालमर्यादाका निश्चित होना स्थितिबन्ध है।

अनुभागका अर्थ फलदानशक्ति है, जो कर्मबन्धके समय ही पड जाती है। इस शक्तिका स्थित हो जाना ही अनुभागबन्ध है।

कर्मोमे विभिन्न प्रकारके स्वभावका पडना और उनकी सख्याका हीनाधिक होना योगपर निर्भर है तथा जीवके साथ कम या अधिक समय तक स्थित रहनेकी शक्तिका पडना और तीव्र, या मन्द फलदान शक्तिका स्थिर होना कषायपर निर्भर है।

प्रकृतिबन्धके भेद और स्वरूप

आत्माकी योग्यता और अन्तरग-बहिरग निमित्तोके अनुसार नाना प्रकारके परिणाम होते है। इन परिणामोसे ही बँधनेवाले कर्मोके स्वभावका निर्माण होता है। यो तो बँधनेवाले कर्मोके स्वभावोका विभाग किया जाय तो अनेक प्रकारका हो सकता है, पर सामान्यत विविध स्वभाववाले कर्मोको आठ भागोमे विभक्त किया जा सकता है और इससे प्रकृतिबन्धके मूल आठ भेद प्राप्त होते है

(१) ज्ञानावरण -आत्माकी बाह्य पदार्थोको जाननेकी शक्तिके आवरण करनेमे निमित्त।

(२) दर्शनावरण आत्माकी स्वयको साक्षात्कार करनेकी शक्तिके आवरण करनेमे निमित्त।

(३) वेदनीय बाह्य आलम्बनपूर्वक सुख-दु खके वेदन करानेमे निमित्त।

(४) मोहनीय राग, द्वेष और मिथ्यात्वके होनेमे निमित्त।

(५) आयु आत्माको नर-नरकादि पर्याय धारण करानेमे निमित्त।

(६) नाम जीवकी गति, जाति आदि पुद्गलकी शरीर आदि विविध अवस्थाओके होनेमे निमित्त।

(७) गोत्र आत्माके ऊच और नीच भाव होनेमे निमित्त।

(८) अन्तराय- आत्माके दानादिरूप भावोके न होनेमें निमित्त।

प्रकृतिबन्धके ये आठ भेद घातिकर्म और अघातिकर्म इन दो भागोमे विभक्त है। ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय और अन्तराय ये चार घातिकर्म कहलाते हैं और वेदनीय, आयु, नाम एव गोत्र ये चार अघातिकर्म कहलाते है।

आत्मामे अनुजीवी और प्रतिजीवी दो प्रकारकी शक्तियाँ है। जो शक्तियाँ या गुण भाव स्वरूप है, वे अनुजीवी कही जाती हैं और जो शक्तियाँ अभाव स्वरूप है, वे प्रतिजीवी मानी जाती हैं। इन दोनो प्रकारके गुणोमेसे जिनसे अनुजीवी गुणोका घात होता है, वे घातिकर्म हैं और प्रतिजीवी गुणोका घात करनेवाले अघाति कर्म हैं।

यहाँ यह ध्यातव्य है कि वेदनीय कर्म सुख-दुःखका वेदन करानेमे निमित्त है, पर यह मोहनीयसे मिलकर ही सुख-दुःखका वेदन कराता है।

आगममे घातिकर्मोंके भी दो भेद बतलाये हैं (१) सर्वघाति और देशघाति। जो कर्म जीवके स्वाभाविक अनुजीवी गुणोका पूर्णतया घात करते हैं, वे सर्वघाति और जो उनका एक देश घात करते हैं, वे देशघाति कहलाते हैं।

कर्मप्रकृतियोके उत्तर भेद

(१) ज्ञानावरणके पाँच भेद हैं (१) मतिज्ञानावरण (२) श्रुतज्ञानावरण (३) अवधिज्ञानावरण (४) मन पर्ययज्ञानावरण (५) केवलज्ञानावरण।

(२) दर्शनावरणके नौ भेद हैं (१) चक्षुदर्शनावरण (२) अचक्षुदर्शनावरण (३) अवधिदर्शनावरण (४) केवलदर्शनावरण (५) निद्रा (६) निद्रानिद्रा (७) प्रचला (८) प्रचला-प्रचला और (९) स्त्यानगृद्धि।

(३) वेदनीयके दो भेद है (१) सातावेदनीय और (२) असातावेदनीय।

(४) मोहनीयके अट्ठाईस भेद हैं (१) सम्यक्त्व, (२) मिथ्यात्व, (३) मिश्र, (४) अनन्तानुबन्धी क्रोध, (५) अनन्तानुबन्धी मान, (६) अनन्तानुबन्धी माया, (७) अनन्तानुबन्धी लोभ, (८) अप्रत्याख्यान क्रोध, (९) अप्रत्याख्यान मान, (१०) अप्रत्याख्यान माया, (११) अप्रत्याख्यान लोभ, (१२) प्रत्याख्यान क्रोध, (१३) प्रत्याख्यान मान, (१४) प्रत्याख्यान माया, (१५) प्रत्याख्यान लोभ, (१६) सज्वलन क्रोध, (१७) सज्वलन मान, (१८) सज्वलन माया, (१९) सज्वलन लोभ, (२०) हास्य, (२१) रति, (२२) अरति, (२३) शोक, (२४) भय, (२५) जुगुप्सा,

(२६) स्त्रीवेद, (२७) पुवेद और (२८) नपुंसकवेद। इन अट्ठाईस प्रकृतियोको मूलत चार वर्गोंमे विभक्त किया जा सकता है (१) दर्शनमोहनीय, (२) चारित्र-मोहनीय, (३) कषायमोहनीय और (४) अकषायमोहनीय।

५ आयु आयुकर्मके चार भेद है (१) नरकायु, (२) तिर्यंचायु, (३) मनुष्यायु, (४) देवायु।

६ नामकर्म अभेदापेक्षया इसके बयालीस भेद हैं और भेदापेक्षया तिरानवे। बयालीस भेदोकी गणना इस प्रकार है (१) गति, (२) जाति, (३) शरीर, (४) आगोपाग, (५) निर्माण, (६) बन्धन (७) सघात, (८) संस्थान, (९) सहनन, (१०) स्पर्श, (११) रस, (१२) गन्ध, (१३) वर्ण, (१४) आनुपूर्वी, (१५) अगुरुलघु, (१६) उपघात, (१७) परघात, (१८) आतप, (१९) उद्योत, (२०) उच्छ्वास, (२१) विहायोगति, (२२) साधारण शरीर, (२३) प्रत्येकशरीर, (२४) स्थावर, (२५) त्रस, (२६) दुर्भग, (२७) सुभग, (२८) दुस्वर, (२९) सुस्वर, (३०) अशुभ, (३१) शुभ, (३२) बादर, (३३) सूक्ष्म, (३४) अपर्याप्त, (३५) पर्याप्त, (३६) अस्थिर, (३७) स्थिर, (३८) आनादेय, (३९) आदेय, (४०) अयश'कीर्ति, (४१) यश कीर्ति, (४२) तीर्थकरत्व।

७ गोत्रकर्मके दो भेद है (१) उच्च गोत्र, (२) नीच गोत्र।

८. अन्तराय अन्तराय कर्मके पाँच भेद हैं –(१) दान-अन्तराय, (२) लाभ अन्तराय, (३) भोग-अन्तराय, (४) उपभोग-अन्तराय और (५) वीर्य-अन्तराय।

ज्ञानावरणकर्म मतिज्ञान, श्रुतज्ञान आदि ज्ञानोको आवृत करता है। जिस प्रकार जलते हुए विद्युत बल्बके ऊपर वस्त्र डाल देने से उसका प्रकाश आवृत हो जाता है, उसी प्रकार ज्ञानावरणकर्म ज्ञानको आच्छादित करता है। इस कर्मका जितना क्षयोपशम या क्षय होता जाता है, उसी रूपमे ज्ञान भी प्रादुर्भूत होता है।

दर्शनावरणके नव भेदोमे चार भेद तो चारो दर्शनोके आवरणमे निमित्त-भूत है। शेष निद्रादिक पाँच भेद हैं। जिस कर्मका उदय ऐसी नीदमे निमित्त हो, जिससे खेद और परिश्रमजन्य थकावट दूर हो जाती है, वह निद्रादर्शना-वर्ण कर्म है। जिस कर्मका उदय ऐसी गाढी नीदमे निमित्त है, जिससे जागना अत्यन्त दुष्कर हो जाय, उठाने पर भी न उठे, वह निद्रा-निद्रादर्शनावणकर्म है। जिस कर्मका उदय ऐसी नीदमे निमित्त हो, जिससे बैठे-बैठे ही नीद आ जाय, हाथ-पैर और सिर घूमने लगे, वह प्रचलादर्शनावरण कर्म है। जिस कर्म-का उदय ऐसी नीदमे निमित्त हो, जिससे खडे-खडे, चलते-चलते या बैठे-बैठे

पुन: पुनः नीद आवे और हाथ-पैर चले तथा सिर घूमे वह प्रचला-प्रचला दर्शनावरणकर्म है। जिस कर्मका उदय ऐसी नीदमे निमित्त है, जिससे स्वप्नमे अधिक शक्ति उत्पन्न हो जाती है और अत्यन्त गाढी नीद आती है, वह स्त्यानगृद्धिदर्शनावरणकर्म है।

जिस कर्मका उदय प्राणीके सुखके होनेमे निमित्त है, वह सातावेदनीय और जिसका उदय प्राणीके दुःखके होनेमे निमित्त है, वह असातावेदनीय कर्म है।

वस्तुत कर्मप्रकृतियोके दो भेद हैं (१) जीवविपाकी और (२) पुद्गलविपाकी। जिनका फल जीवमे जिन कर्मोका उदय जीवकी विविध अवस्थाओ और परिणामोके होनेमे निमित्त है, वे जीवविपाकी कर्म हैं और जिन कर्मोका उदय शरीर, वचन और मनरूप वर्गणाओके सम्बन्धमे शरीरादिकरूप कार्योके होनेमे निमित्त होता है, वे पुद्गल-विपाकी कर्म हैं। वेदनीय कर्म जीवविपाकी है। अत वह जीवगत सुख-दु खके होनेमे निमित्त होता है।

जिसका उदय तत्त्वोके यथार्थ स्वरूपके श्रद्धान न होनेमे निमित्त है, वह मिथ्यात्वमोहनीय कर्म है। जिसका उदय तात्त्विक रुचिमे बाधक न होकर भी उसमे चल, मलिन और अगाढ दोषके उत्पन्न करनेमे निमित्त है, वह सम्यक्त्वमोहनीयकर्म है। मिश्रमोहनीयकर्मके उदयसे जीवके सम्यक्त्व और मिथ्यात्वरूप परिणाम होते हैं।

जिसका उदय हास्यभावके होनेमे निमित्त है, वह हास्यकर्म, जिसका उदय रतिरूप भावके होनेमे निमित्त है, वह रतिकर्म, जिसका उदय अरतिरूप परिणाम होनेमे निमित्त है, वह अरतिकर्म, जिसका उदय शोकरूप परिणाम होनेमे निमित्त है, वह शोककर्म, जिसका उदय भयरूप परिणामके होनेमे निमित्त है, वह भयकर्म, जिसका उदय परिणामोमे ग्लानि उत्पन्न करनेमे निमित्त है, वह जुगुप्सा, जिसका उदय अपने दोषोको आच्छादित करने एव स्त्रीसुलभ भावोके होनेमे निमित्त है, वह स्त्रीवेद, जिसका उदय उत्तम गुणोके भोगनेरूप पुरुषसुलभ भावोके होनेमे निमित्त है, वह पुरुषवेद एव जिसका उदय स्त्री और पुरुषसुलभ भावोसे विलक्षण कलुषित परिणामोके होनेमे निमित्त है, वह नपुसकवेदकर्म है।

अनन्तानुबन्धी क्रोध, मान, माया, लोभके उदयके निमित्तसे सम्यक्त्वकी उपलब्धि नही होती और मिथ्यात्वरूप परिणति होती है। अप्रत्याख्यानावरण क्रोध, मान, माया, लोभके उदयके निमित्तसे जीवको देशव्रत धारण करनेमे बाधा पहुँचती है और प्रत्याख्यानावरण क्रोध, मान, माया, लोभके निमित्तसे

सर्वविरतिके धारण करनेमें बाधा होती है। संज्वलन क्रोध, मान, माया, लोभका उदय यथाख्यातपरिणतिको प्राप्त करनेमे बाधक है।

जिनका उदय नरक, तिर्यंच, मनुष्य और देवपर्यायमे जीवन व्यतीत करनेमे निमित्त हो, वे क्रमश नरकायु, तिर्यंचायु, मनुष्यायु और देवायु है।

जिसका उदय जीवके नारक आदिरूप भावके होनेमे निमित्त है, वह गति-नामकर्म है। इसके नरकगति, तिर्यंचगति, मनुष्यगति और देवगति ये चार भेद हैं। एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय आदि जातियोमे उत्पन्न होनेमे निमित्त कर्म जातिकर्म कहलाता है। औदारिक आदि शरीरोको प्राप्त करानेमे निमित्त शरीरनामकर्म है। शरीरके अग और उपागोके होनेमे निमित्त आगोपाग नामकर्म है। जिस कर्मका उदय शरीरके लिये प्राप्त हुए पुद्गलोका परस्पर बन्धन करानेमे निमित्त है, वह बन्धन नामकर्म है। सघात नामकर्मके उदयसे प्राप्त हुए पुद्गलोका बन्धन छिद्ररहित होकर एक-सा हो जाता है। जिस नाम-कर्मका उदय शरीरकी आकृति बननेमे निमित्त है, वह सस्थाननामकर्म है। सस्थाननामकर्मके कारण ही शरीर समचतुस्र, छोटा, बडा, कुबडा, लम्बा, बौना आदि होता है। सहनननामकर्मके उदयसे हाड और सधियोका बन्ध होता है। इस कर्मके निमित्तसे ही शरीरकी हड्डियाँ मजबूत, दृढ, कोमल, कठोर और कमजोर होती हैं। शरीरगत शीत आदि आठ स्पर्श, तिक्त आदि पाँच रस, सुरभि आदि दो गध और श्वेत आदि पाँच वर्णके होनेमे निमित्त-भूत कर्म अनुक्रमसे स्पर्श, रस, गध और वर्ण नामकर्म कहलाते है।

जिस कर्मका उदय विग्रहगतिमे जीवका आकार पूर्ववत् बनाये रखनेमे निमित्त है, वह आनुपूर्वी नामकर्म है। प्रशस्त और अप्रशस्त गतिका निमित्त-भूत कर्म विहायोगतिनामकर्म है। अगुरुलघुनामकर्मके निमित्तसे शरीर न तो भारी होता है और न हल्का होता है। जिस कर्मका उदय शरीरके अपने ही अवयवोसे अपना घात होनेमे निमित्त है, वह उपघात नामकर्म है। परघात नामकर्मके उदयके निमित्तसे दूसरोका घात करनेवाले अग निर्मित होते हैं। जिस नामकर्मका उदय जीवको श्वसोच्छ्वास लेनेमे निमित्त है, वह उच्छ्वास-नामकर्म है। आतप नामकर्मके निमित्तसे शरीरमे प्रकाश तेज उत्पन्न होता है। उद्योत नामकर्मके उदयसे शरीरमे शीत प्रकाश उद्योत उत्पन्न होता है। निर्माणनामकर्मोदयके निमित्तसे शरीरके अगोपाग यथास्थान होते है।

जिस नामकर्मका उदय जीवके तीर्थंकर होनेमे निमित्त है, वह तीर्थंकरत्व नामकर्म कहलाता है।

त्रसनामकर्मोदयके निमित्तसे त्रसपर्याय, स्थावरनामकर्मोदयके निमित्त-

से स्थावरपर्याय, बादरनामकर्मोदयके निमित्तसे बादरपर्याय और सूक्ष्मनाम-कर्मोदयके निमित्तसे सूक्ष्मपर्यायकी प्राप्ति होती है। जिनका निवास आधारके बिना नही पाया जाता, वे बादर जीव हैं और जिन्हे आधारकी आवश्यकता नही पड़ती, वे सूक्ष्म हैं।

पर्याप्तनामकर्मके उदयके निमित्तसे प्राणी अपने-अपने योग्य पर्याप्तियोको पूर्ण करते हैं। अपर्याप्तनामकर्मके उदयसे अपने-अपने योग्य पर्याप्तियोको पूर्ण नही करते है। प्रत्येकनामकर्मोदयके निमित्तसे प्रत्येकजीवका शरीर प्राप्त होता है और जिसका उदय अनन्त जीवोको एक साधारण शरीर प्राप्त करानेमे निमित्त है, वह साधारण नामकर्म है।

स्थिरनामकर्मोदयके निमित्तसे शरीरके रस, रुधिर, मेदा मज्जा, अस्थि, मास और वीर्य स्थिर होते है और जिसका उदय इनके क्रमसे परिणमनमे निमित्त है वह अस्थिर नामकर्म है। शुभनामकर्मोदयके निमित्तसे अगोपाग प्रशस्त और अशुभनामकर्मोदयके निमित्तसे अगोपाग अप्रशस्त होते है। स्त्री और पुरुषोके सौभाग्यमे निमित्त सुभग नामकर्म है, और दुर्भाग्यमे निमित्त दुर्भग नामकर्म ह। सुस्वर नामकर्मोदयके निमित्तसे मधुर स्वर, दुस्वर नाम कर्मोदयके निमित्तसे कटु स्वर, आदेय नामकर्मोदयके निमित्तसे बहुमान्य और अनादेय नामकर्मके उदयसे अमान्य होता है। यश कीर्ति नामकर्मोदयके निमित्तसे गुणप्रकाशनरूप यशकी प्राप्ति और अयश कीर्ति नामकर्मोदयके निमित्तसे अपयशकी प्राप्ति होती है।

जिस कर्मका उदय उच्चगोत्रके प्राप्त करनेमे निमित्त है, वह उच्चगोत्र और जिसका उदय नीचगोत्रके प्राप्त करनेमे निमित्त है, वह नीचगोत्र है। गोत्र, कुल, वश और सतान एकार्थवाचक शब्द हैं। गोत्रका आधार चारित्र है। जो प्राणी अपने वर्तमान जीवनमे चारित्रको स्वीकार करता है और जिसका सम्बन्ध भी ऐसे ही लोगोसे होता है, वह उच्चगोत्रीय है, और इसके विपरीत नीचगोत्रीय है। दान, लाभ, भोग, उपभोग और वीर्य अन्तरायके उदयके निमित्तसे दान करने, लाभ होने, भोगरूप परिणामोके होने, उपभोग-रूप परिणामोके होने एव आत्मवीर्यके प्रकट होनेमे बाधा आती है।

कर्मोकी स्थिति

मोहनीय कर्मकी उत्कृष्ट स्थिति सत्तर कोडा-कोडी सागरोपम है। नाम और गोत्रकी उत्कृष्ट स्थिति बीस कोड़ा-कोडी सागरोपम है। आयुकर्मकी उत्कृष्ट स्थिति तैंतीस सागरोपम है। ज्ञानावरण, दर्शनावरण, वेदनीय और

अन्तराय इन चार कर्मोंकी उत्कृष्ट स्थिति तीस कोडा-कोडी सागरोपम है। वेदनीय कर्मकी जघन्य स्थिति बारह मुहूर्त है। नाम और गोत्रकी जघन्य स्थिति आठ मुहूर्त है और शेष कर्मोंकी जघन्य स्थिति अन्तर्मुहूर्त है।

अनुभाग बंध

कर्मोंमे विविध प्रकारके फल देनेकी शक्तिका पडना ही अनुभाग है। जिस कर्मका जैसा नाम है, उसीके अनुसार फल प्राप्त होता है और फल प्राप्त हो जानेके पश्चात् कर्मकी निर्जरा हो जाती है। कर्मबन्धके समय जिस जीवके कषायकी जैसी तीव्रता या मन्दता रहती है और द्रव्य, क्षेत्र, काल, भव और भावरूप जैसा निमित्त मिलता है, उसीके अनुसार कर्ममे फल देनेकी शक्ति आती है। कर्मके बन्धके समय यदि शुभ परिणाम होते हैं, तो पुण्यप्रकृतियोमे प्रकृष्ट और पापप्रकृतियोमे निकृष्ट फलदानशक्ति प्राप्त होती है। यदि कर्म-बंधके समय अशुभ परिणामोकी तीव्रता होती है, तो पापप्रकृतियोंमे प्रकृष्ट और पुण्यप्रकृतियोमे निकृष्ट फलदानशक्ति रहती है। कर्मप्रकृतियोमे नामके अनुसार ही अनुभाग प्राप्त होता है। ज्ञानावरणप्रकृतिमे ज्ञानको और दर्शना-वरणमे दर्शनको आवृत करनेका अनुभाग प्राप्त होता है।

कर्मफलदान-प्रक्रिया

कर्म स्वयं ही अपना फल देते हैं। उनके फलदानहेतु किसी अन्य कर्त्ता या न्यायाधीशकी आवश्यकता नही है। जिस प्रकार मदिरा पान करनेसे उसकी मादक शक्ति स्वय अपना प्रभाव दिखलाती है, इस प्रभावके लिये किसी अन्य शक्तिकी आवश्यकता नही, इसी प्रकार यह जीव कर्मोंका बन्ध स्वय करता है और स्वय ही उन कर्मोके उदय होनेवाले अनुभाग फलोको प्राप्त करता है। जीवकी प्रत्येक कायिक, वाचिक और मानसिक प्रवृत्तिके साथ, जो कर्मपरमाणु जीवात्माकी ओर आकृष्ट होते है और राग-द्वेषका निमित्त पाकर उस जीवसे बध जाते है, उन कर्मपरमाणुओमे भी शुभ और अशुभ प्रभाव डालनेकी शक्ति रहती है। जो चैतन्यके सम्बन्धसे व्यक्त होकर जीवपर अपना प्रभाव डालते है और उसके प्रभावसे मुग्ध हुआ जीव ऐसे कार्य करता है, जो सुखदायक या दुःखदायक होते हैं। यदि कर्म करते समय जीवके भाव शुभ होते है, तो बधनेवाले कर्मपरमाणुओपर भी अच्छा प्रभाव पडता है और उनका फल भी अच्छा होता है।

गहराईमे प्रवेश करने पर अवगत होता है कि कर्मोका बन्ध आत्माके परिणामोके अनुसार होता है और उनमे जैसा स्वभाव और हीनाधिक फलदान-शक्ति पड जाती है तदनुसार कार्यके होनेमे वे निमित्त होते रहते हैं। जीव

स्वय ही ससारी होता है और स्वय ही मुक्त। राग-द्वेप आदिरूप अशुद्ध और केवलज्ञान आदिरूप शुद्ध जितनी भी अवस्थाएँ होती हैं, वे सव जीवकी ही होती हैं, जीवके सिवाय अन्य द्रव्यमे नही पायी जाती है। शुद्धता और अशुद्धताका भेद निमित्तकी अपेक्षासे किया जाता है। निमित्त दो प्रकारके हैः (१) साधारण और (२) विशेप। साधारण निमित्त सभी द्रव्योमे समानरूपसे कार्य करते हैं और विशेप निमित्त प्रत्येक कार्यके अलग-अलग होते हैं। यथा घटपर्यायकी उत्पत्तिमे कुम्हार निमित्त हैं और जीवकी अशुद्ध अवस्थामे कर्म-निमित्त है। जव तक जीवके साथ कर्मका सम्वन्ध है, तव तक राग-द्वेष, मोह आदि भाव उत्पन्न होते है। कर्मके अभावमे नही। अत. ससारका मुख्य कारण कर्म है। कर्म और ससारका अन्वय-व्यतिरेक सम्वन्ध है। इनकी सम-व्याप्ति भी मानी जा सकती है।

कर्मका भोग स्वय ही विविध प्रकारसे सम्पन्न होता है। अतएव सक्षेपमे जीव कर्म करनेमे भी स्वतन्त्र है और फल भोगनेमे भी। कर्मफलदाता ईश्वर नामक कोई शक्ति नही है। जीवके कर्मोमे ही स्वत फलदानशक्ति विद्यमान है। यत मनुष्यके वुरे कर्म उसकी वुद्धिपर इस प्रकारका सस्कार उत्पन्न करते हैं, जिससे वह क्रोधमे आकर दूसरोका घात कर डालता है और इस प्रकार उसके वुरे कर्म उसे वुरे मार्गकी ओर ही तवतक लिये जाते हैं, जव-तक वह उधरसे सावधान नही होता।

सक्षेपमे कर्मफलका नियामक ईश्वर नही है। कर्मपरमाणुओमे जीवात्मा-के सम्वन्धसे एक विशिष्ट परिणाम होता है। वह द्रव्य, क्षेत्र, काल, भव, भाव आदि उदयानुकूल सामग्रीसे विपाक-प्रदर्शनमे समर्थ हो जीवात्माके सस्कारोको विकृत करता है, उससे उनका फलोपभोग होता है। आत्मा अपने कियेका अपने आप फल भोगता है। कर्मपरमाणु सहकारी या सचेतकका कार्य करते हैं। विप और अमृत, अपथ्य और पथ्य भोजनको कुछ भी नही होता, फिर भी आत्माका सयोग प्राप्तकर उनकी वैसी परिणति हो जाती है। उनका परिपाक होते ही भोजन करनेवालेको इष्ट या अनिष्ट फल प्राप्त हो जाता है। वस्तुत कर्मपरमाणुओमे विचित्र शक्ति निहित है और उसके नियमनके विविध प्राकृतिक नियम भी विद्यमान हैं। अतएव कर्मोकी फलदानशक्ति स्वय ही प्राप्त होती है।

कर्मोके करण

कर्मोमे दश प्रकारकी मुख्य अवस्थाएँ या क्रियाएँ होती हैं, जिन्हे करण कहते हैं। करण दश है (१) वन्ध, (२) उत्कर्पण, (३) अपकर्पण, (४) सत्ता,

(५) उदय, (६) उदीरण, (७) संक्रमण, (८) उपशम, (९) निधत्ति और (१०) निकाचना।

बन्ध

कर्मवर्गणाओंका आत्म-प्रदेशोंसे सम्बद्ध होना बन्ध है। यह सबसे पहला करण है। उसके बिना अन्य कोई अवस्था सम्भव नही। बन्धके चार भेद है (१) प्रकृति, (२) स्थिति, (३) अनुभाग और (४) प्रदेश। जिस कर्मका जो स्वभाव है, वह उसकी प्रकृति है। यथा ज्ञानावरणका स्वभाव ज्ञानको आवृत करना है। स्थिति कर्मकी समय-मर्यादाको कहते हैं। अनुभाग फलदानशक्तिका नाम है। प्रत्येक कर्ममे न्यूनाधिक फल देनेकी योग्यता होती है। प्रतिसमय बधनेवाले कर्मपरमाणुओंकी परिगणना प्रदेशबधमे की जाती है।

उत्कर्षण

स्थिति और अनुभागके बढनेको उत्कर्षण कहते हैं। यह क्रिया बन्धके समय ही सम्भव है। जिस कर्मकी स्थिति और अनुभाग बढाया जाता है, उसका पुन बन्ध होनेपर पिछले बन्धे हुए कर्मका नवीन बन्धके समय स्थिति अनुभाग बढ सकता है। यह साधारण नियम है। अपवाद इसके अनेक हैं।

अपकर्षण

स्थिति और अनुभागके घटानेकी अपकर्षण संज्ञा है। कुछ अपवादोंको छोडकर किसी भी कर्मकी स्थिति और अनुभागको कम किया जा सकता है। यहाँ यह स्मरणीय है कि शुभ परिणामोसे अशुभ कर्मोंकी स्थिति और अनुभाग कम होता है तथा अशुभ परिणामोसे शुभ कर्मोंका स्थिति और अनुभाग कम होता है।

कर्मबन्धके पश्चात् दो क्रियाएँ होती है अशुभ कर्मोंका बन्ध करनेके पश्चात् यदि जीव शुभ कर्म करता है, तो उसके पहले बन्धे हुए अशुभ कर्मोंकी स्थिति और फलदानशक्ति शुभ भावोंके प्रभावसे घट जाती है। अशुभ कर्मोंका बन्ध करनेके पश्चात् यदि जीवके भाव और अधिक कलुषित हो जाते हैं, और वह भी अधिक अशुभ कार्य करने लगता है, तो अशुभ भावोंका प्रभाव प्राप्तकर प्रथम बान्धे हुए कर्मोंकी स्थिति और फलदानशक्ति और भी अधिक बढ जाती है। इस उत्कर्षण और अपकर्षणके कारण ही कोई कर्म शीघ्र फल देता है और कोई विलम्बसे। किसी कर्मका फल तीव्र होता है और किसीका मन्द।

सत्ता

बन्धनेके बाद कर्म तत्काल फल नहीं देता। कुछ समय बाद उसका फल प्राप्त होता है। जबतक वह अपना काम नहीं करता, तबतक उसकी वह अवस्था सत्ताके नामसे अभिहित की जाती है। जिस प्रकार मदिरापान करनेपर तुरन्त उसका प्रभाव दिखलायी नहीं पड़ता, कुछ समयके पश्चात् ही वह अपना नशा दिखलाता है। इसी प्रकार कर्म भी बन्धनेके बाद कुछ समय तक सत्तामें रहता है। इस कालको आबाधा काल कहते हैं। साधारणतया कर्मका आबाधाकाल उसकी स्थितिके अनुसार होता है। जिस कर्मकी जितनी स्थिति रहती है, उसका आबाधाकाल भी उतना ही अधिक होता है। एक कोड़ा-कोड़ी सागरकी स्थितिमें सौ वर्षका आबाधाकाल होता है। अर्थात्, यदि किसी कर्मकी स्थिति एक कोड़ा-कोड़ी सागर हो, तो वह कर्म सौ वर्षके पश्चात् फल देना आरम्भ करता है और तबतक फल देता रहता है, जबतक उसकी स्थिति पूरी नहीं हो जाती। आयु कर्मका आबाधाकाल उसकी स्थितिपर निर्भर नहीं है।

उदय

प्रत्येक कर्मका फल-काल निश्चित रहता है। इसके प्राप्त होनेपर कर्मके फल देनेरूप अवस्थाको उदयसंज्ञा है। फल देनेके पश्चात् उस कर्मकी निर्जरा हो जाती है। यह उदय दो प्रकारका है (१) फलोदय और (२) प्रदेशोदय। जब कर्म अपना फल देकर नष्ट होता है, तब वह फलोदय कहा जाता है और जब कर्म बिना फल दिये ही नष्ट होता है, तो उसे प्रदेशोदय कहते हैं।

उदीरणा

फलकालके पहले फल देने रूप अवस्थाको उदीरणा संज्ञा है। कुछ अपवादोको छोडकर साधारणत कर्मोके उदय और उदीरणावस्था सर्वदा होती रहती है। उदीरणामे नियत समयसे पहले कर्मका विपाक हो जाता है। उदीरणाके लिये अपकर्षण करण द्वारा कर्मकी स्थितिको कम कर दिया जाता है और स्थितिके घट जानेपर कर्म नियत समयसे पहले उदयमे आ जाता है। जिसप्रकार आम्र आदि फलोको जल्दी पकानेके हेतु पेडसे तोड़कर पालमे रख देते हैं, जिससे वे आम जल्दी ही पक जाते हैं। इसी प्रकार उदयमे आनेके पहले कर्मोकी उदीरणा कर देना उदीरणा करण है।

संक्रमण

एक कर्मका दूसरे सजातीय कर्मरूप हो जानेको सक्रमण करण कहते हैं। यह सक्रमण मूल प्रकृतियोमे नही होता। उत्तर प्रकृतियोमे ही होता है। आयु

कर्मके अवान्तर भेदोमे भी परस्पर संक्रमण नही होता और न दर्शनमोहनीयका चारित्रमोहनीयरूपसे अथवा चारित्रमोहनीयका दर्शनमोहनीयरूपसे सक्रमण होता है ।

एक कर्मका अवान्तर भेद अपने सजातीय अन्य भेद रूप हो सकता है। जैसे वेदनीय कर्मके दो भेदोमेसे सातावेदनीय असातावेदनीयरूप हो सकता है और असातावेदनीय सातावेदनीयरूप हो सकता है।

उपशान्त

कर्मकी वह अवस्था, जो उदीरणाके अयोग्य होती है, उपशान्त कहलाती है। उपशान्त अवस्थाको प्राप्त कर्मका उत्कर्षण-अपकर्षण और सक्रमण हो सकता है, किन्तु उसकी उदीरणा नही होती। वस्तुत कर्मको उदयमे आ सकनेके अयोग्य कर देना उपशम करण है।

निधत्ति

कर्मकी वह अवस्था, जो उदीरणा और सक्रमण इन दोनोके अयोग्य होती है, निधत्ति कहलाती है। निधत्ति अवस्थाको प्राप्त कर्मका उत्कर्षण और अपकर्षण हो सकता है, किन्तु इसका उदीरणा और सक्रमण नही होता। यथार्थत कर्मका सक्रमण और उदय न हो सकना निधत्ति है।

निकाचना

कर्मकी वह अवस्था, जो उत्कर्षण, अपकर्षण, उदीरणा और सक्रमण इन चारके अयोग्य है, निकाचना कहलाती है। इसका स्वमुखेन या परमुखेन उदय होता है।

कर्मकी इन विभिन्न दशाओके अतिरिक्त उसके स्वामी, स्थिति, उदय, सत्व, क्षय आदिको भी इसी प्रकार अवगत करना चाहिये।

पुनर्जन्म

पूर्व शरीरका त्याग कर नये शरीरका ग्रहण करना जन्म है। जब जीवकी भुज्यमान आयु समाप्त हो जाती है, तो वह नये भवको धारण करता है। स्थूल शरीरके नष्ट होनेपर भी आत्माका विनाश नही होता है, वह शाश्वतिक है और अपने ज्ञान-दर्शनादि गुणसे युक्त है। आत्मा अन्वयी है, पूर्व जन्म और उत्तर जन्म दोनो उसकी अवस्थाएँ हैं, आत्मा दोनोमे एक रूपमे निवास करती है। अतएव मृत्यु केवल पर्यायका विनाश है, द्रव्य आत्माका नही। जिस प्रकार वस्त्रके जीर्ण हो जानेपर नया वस्त्र धारण किया जाता है उसी प्रकार

पुरातन शरीरको छोड़कर मृत्युके अनन्तर नया शरीर आत्मा धारण करती है। कर्मसिद्धान्तके अनुसार यह जन्म-मरणकी परम्परा अनादिकालसे चली आ रही है।

वस्तुतः प्राणीके शरीर छोड़नेपर उसके जीवनभरके विचार, वचन-व्यवहार और अन्य प्रकारके संस्कार आत्मापर और आत्मामें चिरसंयुक्त कार्मण-शरीर-पर पड़ते हैं और इन संस्कारोंके कारण ही सूक्ष्म कार्मण शरीर द्वारा आत्मा नूतन जन्म ग्रहण करनेका अवसर प्राप्त कर लेती है। अर्थात् आत्मा पुराने शरीरके नष्ट होते ही अपने सूक्ष्म कार्मण-शरीरके साथ उस स्थान तक पहुँच जाती है। इस क्रियामें प्राणीके शरीर छोड़नेके समयके भाव और प्रेरणाएँ बहुत कुछ काम करती हैं। एक बार नया शरीर धारण करनेके बाद उस शरीर-की स्थिति तक प्रायः समान परिस्थितियाँ बनी रहनेकी सम्भावना रहती है।

सारांश यह है कि आत्मा परिणामी होनेके कारण प्रतिसमय अपनी मन, वचन और कायकी क्रियाओंसे उन-उन प्रकारके शुभ और अशुभ संस्कारोंमें स्वयं परिणत होती जाती है और वातावरणको भी उसी प्रकारसे प्रभावित करती है। ये आत्म-संस्कार अपने पूर्व बद्ध कार्मण शरीरमें कुछ नये कर्मपर-माणुओंका सम्बन्ध करा देते हैं, जिनके परिपाकसे वे संस्कार आत्मामें शुभ या अशुभ भाव उत्पन्न करते हैं। आत्मा स्वयं उन संस्कारोंका कर्त्ता और स्वयं ही उनके फलोंका भोक्ता है। जब आत्माकी दृष्टि अपने मूल स्वरूपकी ओर हो जाती है, तो शनैः शनैः कुसंस्कार नष्ट होकर स्वरूपस्थितिरूप मुक्ति प्राप्त कर लेता है। इस शरीरको धारण किये हुए भी स्वानुभूतिकर्त्ता, पूर्ण वीतराग और पूर्णज्ञानी बन जाता है।

स्वभावतः आत्मामें कर्तृत्व और भोक्तृत्व शक्तियाँ विद्यमान हैं। यह स्वयं अपने संस्कारों और बद्धकर्मों के अनुसार असंख्य जीव-योनियोंमें जन्म-मरणके भारको ढोता रहता है। आत्मा सर्वथा अपरिणामी और निर्लिप्त नहीं है, किन्तु प्रतिक्षण परिणामी है। वैभाविकी शक्तिके कारण अशुद्ध परिणमनके फलस्वरूप आत्मा जन्म-मरणकी परम्पराका आश्रय ग्रहण करती है। स्वाभाविक अवस्थाको प्राप्त करनेपर मुक्ति हो जाती है।

आत्माके पुनर्जन्ममें अन्य कोई व्यवस्थापक, नियन्त्रक या नियोजक नहीं है, आत्मा स्वयं ही परिणमनशीलताके कारण एक शरीरको त्यागकर अन्य शरीर धारण करती है। जीव पूर्व शरीर त्याग करके नूतन शरीरको ग्रहण करनेके लिए गति करता है, यह गति मोड़ेवाली होती है। अन्तरालमें कार्मण-शरीर रहता है और कार्मणवर्गणाओंका ग्रहण भी होता है। अतः जीवके आत्म-प्रदेशोंके परिस्पन्दमें कार्मणवर्गणाएँ निमित्तरूप होती हैं।

जीव और पुद्गल ये दोनों गतिशील हैं। इन दोनोमे गमनक्रियाकी शक्ति है, निमित्त मिलनेपर ये गमन करने लगते है। ससारी जीव और पुद्गलोकी गतिका कोई नियम नही हैं, पर जब जीव एक पर्याय त्यागकर दूसरी पर्यायको प्राप्त करनेके लिए गमन करता है, उस समय जीवकी सरल गति होती है। सरल गतिका आशय है कि जीव या पुद्गल आकाशके जिन प्रदेशोपर स्थित हो, वहाँसे गति करते हुए वे उन्ही प्रदेशोकी सरल रेखाके अनुसार ऊपर, नीचे या तिरछे गमन करते हैं। इसीको अनुश्रेणि गति पक्तिके अनुसार गति कहते हैं।

नया शरीर ग्रहण करनेके लिए दो प्रकारकी गतियाँ होती हैं (१) ऋजु और (२) वक्र। प्राप्य स्थान सरलरेखामे हो, वह ऋजु गति और जिसमे पूर्व स्थानसे नये स्थानको प्राप्त करनेके लिए सरल रेखा भग करनी पडे, वह वक्र गति है। ससारी जीवोका उत्पत्ति स्थान सरलरेखामे होता है और वक्ररेखामे भी। आनुपूर्वीकर्मोदयके अनुसार उत्पत्तिस्थानकी प्राप्ति होती है। अत जन्मान्तर ग्रहण करनेवाली आत्मा ऋजुगति और वक्रगति दोनोको धारण करती है।

अन्तराल गतिका काल जघन्य एक समय और उत्कृष्ट चार समय है। ऋजु गतिमे एक समय, पाणिमुक्तागतिमे दो समय, लाङ्गलिकागतिमे तीन समय और गोमूत्रिकागतिमे चार समय लगते है। मोड लेनेके अनुसार समयकी सख्या बढती जाती है। एक मोड लेनेपर दो समय, दो मोड लेनेपर तीन समय और तीन मोड लेनेपर चार समय लगता है।

जन्मके भेद

जन्मके तीन भेद हैं (१) सम्मूर्च्छन, (२) गर्भ और (३) उपपाद। माता-पिताकी अपेक्षा किये विना उत्पत्ति स्थानमे औदारिक परमाणुओको शरीर-रूप परिणमाते हुए उत्पन्न होना सम्मूर्च्छन जन्म है। माता-पिताके रज-वीर्यको शरीररूपसे परिणमाते हुए उत्पन्न होना गर्भ जन्म है। उत्पत्तिस्थानमे स्थित वैक्रियिक पुद्गलोको शरीररूपसे परिणमाते हुए उत्पन्न होना उपपाद जन्म है। जरायुज, अण्डज और पोत प्राणियोके गर्भ जन्म होता है, देव और नार-कयोके उपपाद जन्म होता है तथा पाँच स्थावरकाय, तीन विकलेन्द्रिय, सम्मू-र्च्छन मनुष्य और सम्मूर्च्छन पञ्चेन्द्रिय तिर्यञ्चोके सम्मूर्च्छन जन्म होता है।

योनि और शरीर

जिस आधारमे जीव जन्म लेता है, उसे योनि कहते है। योनिको प्राप्त जीव नूतन शरीरके हेतु ग्रहण किये गये पुद्गलोमे अनुप्रविष्ट हो जाता है और पश्चात्

शरीरकी वृद्धि और पुष्टि होने लगती है। योनियोके मूल भेद नौ है और उत्तर भेद चौरासी लाख है (१) सचित्त, (२) शीत, (३) सवृत, (४) अचित्त, (५) उष्ण, (६) विवृत, (७) सचित्ताचित्त, (८) शीतोष्ण और (९) सवृतविवृत।

जीवप्रदेशोमे अधिष्ठित योनि सचित्त योनि है। जीवप्रदेशोसे अधिष्ठित न होना अचित्त योनि है। जो योनि कुछ भागमे जीव प्रदेशोसे अधिष्ठित हो और कुछ भागमे जीवप्रदेशोसे अधिष्ठित न हो, वह मिश्र योनि है। शीत स्पर्शवाली शीत योनि, उष्ण स्पर्शवाली उष्ण योनि और मिश्रित स्पर्शवाली मिश्र योनि होती है। ढकी योनिको सवृत, खुलीको विवृत और कुछ ढकी तथा कुछ खुलीको सवृतविवृत योनि कहते है। योनि और जन्ममे आधार-आधेय-भावका सम्बन्ध है।

शरीर पाँच प्रकारके होते है (१) औदारिकशरीर (२) वैक्रियिकशरीर, (३) आहारकशरीर, (४) तैजसशरीर और (५) कार्मणशरीर। ये शरीर उत्तरोत्तर सूक्ष्म होते गये हैं। तैजस और कार्मण शरीर अप्रतिघाति है- न तो अन्य पदार्थोंको रोकते है और न अन्य पदार्थोंके द्वारा इनका अवरोध होता है। ये दोनो अनादिकालसे आत्मासे सम्बद्ध है। समस्त संसारी जीवोके ये दोनो शरीर पाये जाते हैं। औदारिकशरीर गर्भ और सम्मूर्च्छन जन्मसे उत्पन्न होता है, वैक्रियिक शरीर उपपाद जन्मसे, तैजस शरीर लब्धिके निमित्तसे और अहारक शरीर शुभ, विशुद्ध एव व्याघात रहित है। यो तो शरीर अनन्त प्रकारके हो सकते है, पर शरीरनामकर्मके मुख्य भेदोकी अपेक्षा विचार करनेसे शरीरके पाँच ही भेद है। स्थूल शरीर औदारिक कहलाता है। छोटा, बड़ा, हल्का भारी आदि अनेक रूपोको प्राप्त होनेवाला शरीर वैक्रियिक कहा जाता है। सूक्ष्म पदार्थोका निर्णय करनेके लिए प्रमत्तगुणस्थानवाले मुनिके मस्तिष्कसे निकलनेवाला एक हाथ प्रमाण शुभ पुतला आहारक शरीर है। तेजोमय शुक्ल प्रभाववाला तैजस शरीर और कर्मोका समूह कार्मण शरीर होता है।

लोकस्वरूप

आकाशके जितने भागमे जीव, पुद्गल आदि षड्द्रव्य पाये जायँ, वह लोक है[1] और उसके चारो ओर अनन्त अलोक है। इस अनन्त आकाशके मध्यमे

१. धम्माऽधम्मा कालो पुग्गलजीवा य सति जावदिये।
आयासे सो लोगो तत्तो परदो अलोगुत्तो॥

द्रव्यसंग्रह-गाथा, २०.

धर्माधर्मकालपुद्गलजीवाश्च सन्ति यावत्याकाशे स लोक। तथा चोक्तम् लोक्यन्ते

अनादि और अकृत्रिम रूपसे लोक अवस्थित है। यह लोक मनुष्याकार है तथा चारो ओर तीन प्रकारकी वायुओसे वेष्टित है। अर्थात् लोक घनोदधि-वातवलयसे, घनोदधि वातवलय घनवातवलयसे और घनवातवलय तनुवातवलयसे वेष्टित है। तनुवातवलय आकाशके आश्रय है और आकाश अपने ही आश्रय है, उसको दूसरे आश्रयकी आवश्यकता नही। यत आकाश सर्वव्यापी है।

घनोदधिवातवलयका वर्ण मूँगके सदृश, घनवातवलयका वर्ण गोमूत्रके सदृश और तनुवातवलयका वर्ण अव्यक्त है। इस लोकके मध्यमे एक राजू चौडी, एक राजू लम्बी और चौदह राजू ऊँची त्रसनाडी है। द्वीन्द्रियादि त्रस-जीव इसी त्रसनाडीमे रहते हैं, इसके बाहर त्रसजीवोका अस्तित्व नही है।

लोकके भेद

लोकके तीन भाग हैं (१) अधोलोक, (२) मध्यलोक और (३) ऊर्ध्वलोक। मूलसे सात राजूकी ऊँचाई तक अधोलोक है, सुमेरुपर्वतकी ऊँचाईके तुल्य मध्यलोक है और सुमेरुपर्वतसे ऊपर एक लाख चालीस योजन कम सात राजू प्रमाण ऊर्ध्वलोक है। लोकको धारण करनेवाला कोई व्यक्ति या परोक्ष शक्ति नही है। यह स्वभावत अवस्थित है।

अधोलोक स्वरूप और विस्तार

सुमेरुपर्वतकी जडसे नीचे सात राजू प्रमाण अधोलोक अवस्थित है। जिस पृथ्वीपर हमलोग निवास करते हैं, उस पृथ्वीका नाम चित्रा पृथ्वी है। इसकी मोटाई एक हजार योजन है और यह पृथ्वी मध्यलोकमे सम्मिलित है। सुमेरु-पर्वतकी जड एक हजार योजन चित्रा पृथ्वीके भीतर है, शेष निन्यानवे हजार योजन चित्रापृथ्वीके ऊपर है और चालीस योजनकी चूलिका है। सब मिलाकर एक लाख चालीस योजन ऊँचा मध्यलोक है। मेरुकी जडके नीचेसे अधोलोक प्रारम्भ होता है। सर्वप्रथम मेरुपर्वतकी आधारभूत रत्नप्रभा पृथ्वी है। इसका पूर्व-पश्चिम और उत्तर-दक्षिण दिशामे लोकके अन्त पर्यन्त विस्तार है। रत्नप्रभाकी मोटाई एक लाख अस्सी हजार योजन है। इसके आगे शर्कराप्रभा नामक दूसरी पृथ्वी है, जिसकी मोटाई बत्तीस हजार योजन है। शर्कराप्रभाके नीचे कुछ दूर तक केवल आकाश है, जिसके आगे अट्ठाईस हजार योजन मोटी

दृश्यन्ते जीवादिपदार्था यत्र स लोक इति। तस्माल्लोकाकाशात्परतो वहिर्भागे पुनरनन्ताकाशमलोक इति। स चानादिनिधन केनापि पुरुषविशेषेण न कृतो न हृतो न धृतो न च रक्षित ।

वृहद्द्रव्यसग्रह-सस्कृत-टीका २० गाथा, पृष्ठ ५९.

बालुकाप्रभा तीसरी पृथ्वी है। चौथी पंकप्रभा पृथ्वी चौबीस हजार योजन मोटी, पाँचवी धूमप्रभा बीस हजार योजन मोटी, छठी तमप्रभा सोलह हजार योजन मोटी और सातवी महातमप्रभा आठ हजार योजन मोटी है। सातवी पृथ्वीके नीचे एक राजू प्रमाण आकाश निगोदादिक जीवोंसे भरा हुआ है। वहाँ कोई पृथ्वी नहीं है। इन सातों पृथिवियोंको क्रमश धर्मा, वंशा, मेघा, अजना, अरिष्टा, मघवी और माघवी नामोंसे भी अभिहित किया जाता है।

पहली रत्नप्रभा पृथ्वीके तीन भाग है (१) खरभाग, (२) पंकभाग और (३) अब्बहुलभाग।

मुक्त जीव लोकके शिखरपर निवास करते हैं और ससारी जीवोका निवास समस्त लोक है। गतिकी अपेक्षा ससारी जीवोंके चार भेद है (१) देव, (२) मनुष्य, (३) तिर्यञ्च और (४) नारकी। देवोके भी चार भेद है: (१) भवनवासी (२) व्यन्तर (३) ज्योतिषी और (४) वैमानिक। भवनवासियोंके (१) असुरकुमार, (२) नागकुमार, (३) विद्युत्कुमार, (४) सुपर्णकुमार, (५) अग्निकुमार, (६) वातकुमार, (७) स्तनितकुमार, (८) उदधिकुमार, (९) द्वीपकुमार और (१०) दिक्कुमार ये दस भेद है। व्यन्तरोके (१) किन्नर, (२) किंपुरुष, (३) महोरग, (४) गन्धर्व, (५) यक्ष, (६) राक्षस, (७) भूत और (८) पिशाच ये आठ भेद है। खरभागमे असुरकुमारको छोडकर शेष नवप्रकारके भवनवासी देव और राक्षसके अतिरिक्त शेष सात प्रकारके व्यन्तरदेव निवास करते हैं। पंकभागमे असुरकुमार और राक्षसोके निवास स्थान हैं। अब्बहुलभाग और शेष छ पृथ्वियोमे नारकियोका निवास है।

नारकियोके निवासरूप सातो पृथिवियोमे कुल ४९ पटल हैं। पहली पृथिवीके अब्बहुल भागमे १३, दूसरीमे ११, तीसरीमे ९, चौथीमे ७, पाँचवीमे ५, छठोमे ३ और सातवी पृथ्वीमे १ पटल है। ये पटल इन भूमियोके ऊपर नीचेके एक-एक हजार योजन छोडकर समान अन्तरपर स्थित हैं।

पहले नरकमे एक सागर, दूसरेमे तीन सागर, तीसरेमे सात सागर, चौथेमे दस सागर, पाँचवेंमे सत्रह सागर, छठेमे बाईस सागर और सातवेंमे तेतीस सागरकी उत्कृष्ट स्थिति होती है। प्रथम नरकमे जघन्य आयु दस हजार वर्ष-की है और प्रथमादि नरकोकी उत्कृष्ट आयु ही द्वितीयादि नरकोमे जघन्य आयु होती जाती है।

पापोदयसे यह जीव नरकगतिमे जन्म ग्रहण करता है। यहाँ नाना प्रकारके भयानक तीव्र दु:ख भोगने पडते है। पहली चार पृथिवियो और पाँचवीके

तृतीयांश नरकोमे उष्णताकी तीव्र वेदना है तथा नीचेके नरकोमे शीतजन्य तीव्र वेदना है। तीसरे नरक पर्यन्त असुरकुमार जातिके देव आकर नारकियोको परस्पर लडाते हैं। नारकियोका शरीर अनेक रोगोसे ग्रस्त रहता है और परिणामोमे नित्य क्रूरता बनी रहती है। नरकोकी भूमि महादुर्गन्धयुक्त अनेक उपद्रवो सहित होती है। नारकियोमे परस्पर जातिविरोध होता है। वे परस्परमे एक दूसरेको भयानक दु ख देते है। छेदन, भेदन, ताडन, मारण आदि नाना प्रकारकी घोर वेदनाओको सहते हुए दारुण दु खका अनुभव करते हैं।

नारकी मरणकर नरक और देवगतिमे जन्म नही ग्रहण करते, किन्तु मनुष्य और तिर्यंच गतिमे ही जन्म लेते है। इसी प्रकार मनुष्य और तिर्यञ्च ही नरक गतिमे जन्म ग्रहण करते है। 'असज्ञी पञ्चेन्द्रिय जीव मरकर प्रथम नरक तक, सरीसृप जातिके जीव दूसरे नरक तक, पक्षी तीसरे नरक तक, सर्प चौथे नरक तक, सिंह पाँचवे नरक तक, स्त्री छठे नरक तक और कर्मभूमिमे उत्पन्न पुरुष तथा मत्स्य सातवें नरक तक जन्म ग्रहण करते हैं। भोगभूमिके जीव नरक नही जाते, किन्तु वे देव ही होते है। यदि कोई निरन्तर नरक जाय तो पहले नरकमे आठ बार तक, दूसरे नरकमे सात बार तक, तीसरे नरकमे छ बार तक, चौथे नरकमे पाँच बार तक, पाँचवे नरकमे चार बार तक, छठे नरकमे तीन बार तक और सातवें नरकमे दो बार तक निरन्तर जा सकता है, अधिक बार नही। सातवें नरकसे निकलकर तिर्यञ्च पर्याय ही प्राप्त होती है। छठे नरकसे निकले हुए जीव सयम धारण नही कर पाते। पञ्चम नरकसे निकले हुए जीव मोक्षको नही जा सकते। चतुर्थ नरकसे निकले जीव तीर्थंकर नही होते, पर प्रथम, द्वितीय और तृतीय नरकसे निकले जीव तीर्थंकर हो सकते हैं। नरकसे निकले हुए जीव बलभद्र, नारायण, प्रतिनारायण और चक्रवर्ती नही होते।

मध्यलोक : स्वरूप और विस्तार

अधोलोकसे ऊपर एक राजू लम्बा, एक राजू चौडा और एक लाख चालीस योजन ऊँचा मध्यलोक है। यह मध्यलोक उत्तर-दक्षिण सात राजू और पूर्व-पश्चिम एक राजू है। इसका आकार झालरके समान है। मध्यलोकके बीचमे गोलाकार एक लक्ष योजन व्यासवाला जम्बूद्वीप है। इस जम्बूद्वीपको घेरे हुए गोलाकार लवण समुद्र है। इस लवण समुद्रकी चौडाई सर्वत्र दो लाख योजन है। इसे घेरे हुए धातकीखण्ड द्वीप है, इसकी चौडाई चार लाख योजन है। इस द्वीपको घेरे हुए आठ लाख योजन चौडा कालोदधि समुद्र है। कालोदधि समुद्रको चारो ओरसे घेरे हुए सोलह लाख योजन चौड़ा पुष्करद्वीप है। इस प्रकारसे दूने-दूने विस्तारको लिए परस्पर एक दूसरेको वेडे हुए असख्यात द्वीप-समुद्र

हैं। अन्तमे स्वयभूरमण समुद्र है। चारो कोनोमे पृथ्वी है। पुष्करद्वीपके बीचो-बीच मानुषोत्तर पर्वत है, जिससे पुष्करद्वीपके दो भाग हो गये हैं। जम्बूद्वीप, घातकीखण्ड और पुष्करार्द्ध, इस प्रकार ढाई द्वीपमे मनुष्य रहते हैं, इससे बाहर मनुष्य नही है। स्थावर जीव समस्त लोकमे भरे हुए हैं। जलचर जीव लवणोदधि, कालोदधि और स्वयभूरमण इन तीन समुदोमे निवास करते हैं।

जम्बूद्वीप एक लाख योजन चौडा गोलाकार है। इसमे पूर्व और पश्चिम दिशामे लम्बायमान दोनो ओर पूर्व-पश्चिम समुद्रको स्पर्श करते हुए (१) हिमवत्, (२) महाहिमवान्, (३) निषध, (४) नील, (५) रुक्मि और (६) शिखरी ये छ कुलाचल हैं, इन्हे वर्षधर भी कहा जाता है। इनके निमित्तसे जम्बूद्वीपके सात भाग हो गये हैं। दक्षिण दिशाके प्रथम भागका नाम भरत क्षेत्र, द्वितीय भागका नाम हैमवत और तृतीय भागका नाम हरिक्षेत्र है। इसी प्रकार उत्तर दिशाके प्रथम भागका नाम ऐरावत, द्वितीय भागका नाम हैरण्यवत और तृतीय भागका नाम रम्यक क्षेत्र है। मध्य भागका नाम विदेह क्षेत्र है। भरत क्षेत्रकी चौडाई ५२६/६।१९ योजन अर्थात् जम्बूद्वीपकी चौडाईके एक लाख योजनके १९० भागोमेसे एक भाग प्रमाण है। हिमवत पर्वतकी चौडाई दो भाग, हैमवत क्षेत्रकी चार भाग, महाहिमवत् पर्वतकी आठ भाग, हरिक्षेत्रकी सोलह भाग और निषधकी बत्तीस भाग प्रमाण है। सब मिलाकर ६३ भाग प्रमाण हुए। इसी प्रकार उत्तर दिशामे ऐरावत क्षेत्रसे लेकर नीलपर्वत तक ६३ भाग है। मध्यका विदेह क्षेत्र ६४ भाग है। इस प्रकार कुल मिलाकर ६३ + ६३ + ६४ = १९० भाग प्रमाण है।

हिमवत् पर्वतकी ऊँचाई सौ योजन, महाहिमवत्की दो सौ योजन, निषधकी चार सौ योजन, नीलकी चार सौ योजन, रुक्मिकी दो सौ योजन और शिखरीकी सौ योजन हैं। इन सभी कुलाचलोकी चौडाई ऊपर, नीचे और मध्यमे समान है। इन कुलाचलोके पखवाडोमे अनेक प्रकारकी मणियाँ हैं। ये हिमवदादिक छहो पर्वत क्रमश. सुवर्ण, रजत, तप्तसुवर्ण, वैडूर्य, चाँदी और सुवर्णके वर्ण वाले हैं। इन कुलाचलोके ऊपर पद्म, महापद्म, तिगिंच्छ, केसरी, महापुण्डरीक और पुण्डरीक सज्ञक छ तालाब हैं। इन कुण्डोकी लम्बाई १०००। २०००।४०००।४०००।२००० और १००० योजन है। चौडाई ५००।१०००।२०००। २०००।१०००।५०० योजन है। गहराई १०।२०।४०।४०।२०।१० योजन है। इन तालाबोमे पार्थिव कमल हैं, जिनकी ऊँचाई और चौडाई १।२।४।४।२।१ योजन है। इन कमलोपर पल्योपम आयुवाली श्री, ह्री, धृति, कीर्त्ति, बुद्धि और लक्ष्मी जातिकी देवियाँ सामानिक और पारिषद् जातिके देवो सहित क्रमसे निवास करती है।

इन सात क्षेत्रोमेसे प्रत्येकमे दो-दो क्रमसे गगा-सिन्धु, रोहित-रोहितास्या, हरित-हरिकान्ता, सोता-सीतोदा, नारी-नरकान्ता, सुवर्णकूला-रूप्यकूला, और रक्ता-रक्तोदा ये चौदह नदियाँ प्रवाहित होती हैं।

विदेहक्षेत्रके बीचमे सुमेरु पर्वत है। सुमेरु पर्वतकी जड एक हजार योजन भूमिमे है तथा निन्यानवे हजार योजन भूमिके ऊपर ऊँचाई है और चालीस योजनकी चूलिका है। यह सुमेरु पर्वत गोलाकार भूमिपर दश हजार योजन चौडा तथा ऊपर एक हजार योजन चौडा है। सुमेरुपर्वतके चारो ओर भूमिपर भद्रशाल वन है। यह भद्रशाल वन पूर्व और पश्चिम दिशामे बाईस-बाईस हजार योजन और उत्तर-दक्षिण दिशामे ढाई-ढाई सौ योजन चौडा है। पृथ्वीसे पाँचसौ योजन जानेपर सुमेरुके चारो ओर प्रथम कटनीपर पाँचसौ योजन चौड़ा नन्दनवन है। नन्दनवनसे बासठ हजार पाँचसौ योजन ऊँचा चढनेपर सुमेरुके चारो ओर द्वितीय-कटनीपर पाँचसौ योजन चौडा सौमनस वन है। सौमनस वनसे छत्तीस हजार योजन ऊँचा चलनेपर सुमेरुके चारो ओर तीसरी कटनीपर चारसौ चौरानवे योजन चौडा पाण्डुक वन है। मेरुकी चारो विदिशाओमे चार गजदन्त पर्वत है। दक्षिण और उत्तरमे भद्रशाल तथा निषध और नील पर्वतके बीचमे देवकुरु और उत्तरकुरु हैं। मेरुकी पूर्व दिशामे पूर्व विदेह और पश्चिम दिशामे पश्चिम विदेह है। पूर्व विदेहके बीचमे होकर सीता और पश्चिम विदेहमे होकर सीतोदा नदी पूर्व और पश्चिम समुद्रको गयी हैं। इस प्रकार दोनो नदियोके दक्षिण और उत्तर तटकी अपेक्षासे विदेहके चार भाग हैं और प्रत्येक भागमे आठ-आठ देश है। इन आठो देशोका विभाग करनेवाले वक्षार पर्वत तथा विभँगा नदी है।

भरत और ऐरावत क्षेत्रके बीचमे विजयार्द्ध पर्वत है। भरत और ऐरावतके छ-छ खण्ड हैं। इनमेसे एक-एक आर्यखण्ड और पाँच-पाँच म्लेच्छ खण्ड हैं।

मनुष्यलोकके भीतर पन्द्रह कर्मभूमि और तीस भोगभूमियाँ हैं। जहाँ असि, मसि, कृषि, सेवा, शिल्प और वाणिज्यरूप षट्कर्मकी प्रवृत्ति हो, उसे कर्मभूमि कहते हैं और जहाँ कल्पवृक्षो द्वारा भोगोकी प्राप्ति हो, उसे भोगभूमि कहते हैं।

भोगभूमिके तीन भेद हैं (१) उत्तम, (२) मध्यम और (३) जघन्य। हैमवत और हैरण्यवत क्षेत्रोमे जघन्य भोगभूमि है। हरि और रम्यक क्षेत्रोमे मध्यम भोगभूमि एव देवकुरु और उत्तरकुरुमे उत्कृष्ट भोगभूमि है। मनुष्यलोकके बाहर सर्वत्र जघन्य भोगभूमिकी-सी रचना है, किन्तु अन्तिम स्वयभूरमणद्वीपके

उत्तरार्द्धमे तथा समस्त स्वयंभूरमण समुद्रमें तथा चारो कोनोकी पृथिवियोमे कर्मभूमिकी-सी रचना है। भोगभूमिमें द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय और चतुरिन्द्रिय जीव नही होते। समस्त द्वीप-समुद्रोमे भवनवासी और व्यन्तरदेव निवास करते हैं।

कल्पकाल : विवेचन

भोगभूमि और कर्मभूमिके साथ कल्पकालका घनिष्ठ सम्बन्ध है। मध्यलोकके रहस्यकी जानकारी भी कल्पकालके परिज्ञानके अभावमे सभव नही है।

वीस कोडाकोडी अद्धासागरके समयोके समूहको कल्प कहते हैं। कल्पकाल के दो भेद हैं अवसर्पण और (२) उत्सर्पण। इन दोनो कालोका प्रमाण दस-दस कोडाकोडी सागर है। अवसर्पण कालमें आयु, शरीर, ऐश्वर्य, विद्या, बुद्धि आदिकी उत्तरोत्तर हीनता और उत्सर्पणकालमे उक्त बातोकी उत्तरोत्तर वृद्धि होती है। अवसर्पणकालके छ भेद हैं (१) सुषम-सुषम, (२) सुषम, (३) सुषम दुःषम, (४) दुःषम-सुषम, (५) दुःषम और (६) दुःषम-दुःषम।

अवसर्पणके छहो काल व्यतीत हो जानेपर उत्सर्पणके छ काल आते हैं। इस प्रकार अवसर्पणके पश्चात् उत्सर्पण और उत्सर्पणके पश्चात् अवसर्पणका क्रम चलता रहता है।

सुषम-सुषमकालका प्रमाण चार कोडाकोडी सागर, सुषमका प्रमाण तीन कोडाकोडी सागर, सुषम-दुःषमका प्रमाण दो कोडाकोडी सागर, दुःषम-सुषमका प्रमाण बयालीस हजार वर्ष कम एक कोडाकोडी सागर, दुःषमका इक्कीस हजार वर्ष और दुःषम-दुःषमका इक्कीस हजार वर्ष प्रमाण है।

अनेक कल्पकाल बीतनेपर एक हुंडावसर्पणकाल आता है, जिसमें कई विचित्र बातें घटित होती हैं। यथा चक्रवर्तीका अपमान, तीर्थंकरके पुत्रीका जन्म एवं शलाकापुरुषोकी सख्यामे हानि आदि बातें घटित होती है।

पहले कालके आदिमे मनुष्योके शरीरकी ऊँचाई तीन कोश और अन्तमे दो कोश होती है। दूसरेके आदिमे दो कोश और अन्तमे एक कोश ऊँचाई होती है। तीसरेके आदिमे एक कोश, अन्तमे पाँचसौ धनुष, चौथेके आदिमे पाँचसौ धनुष और अन्तमे सात हाथ ऊँचाई होती है। पाँचवेंके आदिमे सात हाथ, अन्तमे दो हाथ और छठेके आदिमे दो हाथ और अन्तमे एक हाथ ऊँचाई रह जाती है।

षट्कालोमे भोगभूमि और कर्मभूमि : व्यवस्था

अवसर्पणके प्रथमकालमे उत्कृष्ट भोगभूमिकी रचना रहती है। इस कालमे

भोजन, वस्त्र, आभूषण आदि समस्त भोगोपभोगकी सामग्री दस प्रकारके कल्प-वृक्षोंसे प्राप्त होती है। पृथ्वी दर्पणके समान मणिमय छोटे-छोटे सुगन्धित तृण-युक्त होती है। भोगभूमिमे माताके गर्भसे युगपत् स्त्री-पुरुषका युगल उत्पन्न होता है। यह युगल ४९ दिनमे यौवन अवस्थाको प्राप्त हो जाता है। आयुके अन्तमे पुरुष छीक लेकर और स्त्री जंभाई लेकर मरणको प्राप्त होते हैं। उनका शरीर शरत्कालके मेघके समान विलुप्त हो जाता है। ये भोगभूमिके सभी जीव मरण कर देवगतिको प्राप्त होते है।

द्वितीयकालमे मध्यम भोगभूमि और तृतीयकालके आदिमे जघन्य भोग-भूमिकी स्थिति रहती है। तृतीयकालके अन्तमे कर्मभूमिका प्रवेश होता है। इस कालमे जब पल्यका अष्टमाग शेष रह जाता है तो क्रमश चौदह कुलकर उत्पन्न होते है। ये कुलकर जीवनवृत्ति एवं मनुष्योको कुलकी तरह इकट्ठे रहनेका उपदेश देते हैं। चतुर्थकालमे चौबीस तीर्थंकर, द्वादश चक्रवर्ती, नव नारायण, नव प्रतिनारायण और नव बलभद्र इन त्रेसठ शलाकापुरुषोका जन्म होता है। पञ्चमकाल पर्यन्त मुनि, आर्यिका, श्रावक और श्राविकारूप चतुर्विधसघका अस्तित्व बना रहता है। पञ्चमकालके अन्तमे धर्म, अग्नि और राजा इन तीनोका नाश हो जाता है। छठे कालमे मनुष्य पशुकी तरह नग्न, धर्मरहित और मासाहारी होते हैं। इस कालके जीव मरकर नरक और तिर्यञ्च गतिमे ही जन्म धारण करते है।

छठे कालमे वर्षा बहुत थोडी होती है तथा पृथ्वी रत्नादिक सारवस्तुसे रहित होती है। मनुष्य तीव्र कषाय युक्त होता है। इस कालके अन्तमे सवर्तक नामक पवन बडे जोरसे चलता है, जिससे पर्वत, वृक्षादि चूर-चूर हो जाते हैं। वसनेवाले जीव मृत्युको प्राप्त होते है अथवा मूर्च्छित हो जाते हैं। कुछ मनुष्य विजयार्ध पर्वतको गुफाओ और महागगा तथा महासिन्धु नदीको वेदियोमे स्वय प्रविष्ट हो जाते है। इस छठे कालके अन्तमे सात-सात दिन पर्यन्त क्रमश. (१) पवन, (२) अत्यन्त शीत, (३) क्षाररस, (४) विष, (५) कठोर अग्नि, (६) धूल और (७) धुँआकी वर्षा होती रहती है। इन उनचास दिनोमे अवशिष्ट मनुष्यादिक जीव नष्ट हो जाते हैं। विष और अग्निकी वर्षाके कारण पृथ्वी एक योजन नीचे तक चूर-चूर हो जाती है। इसीका नाम प्रलय है। प्रलय भरत और ऐरावत क्षेत्रोके आर्यखण्डोमे ही होती है, अन्यत्र नही। अत यह खण्ड-प्रलय कहलाती है।

उत्सर्पणके दु षम-दु पम नामक प्रथमकालमे सर्वप्रथम सात दिन जलवृष्टि, सात दिन दुग्धवृष्टि, सात दिन घृतवृष्टि और सात दिन तक अमृतवृष्टि होती

है, जिससे पृथ्वी निवास करने योग्य सचिक्कण हो जाती है। जलादिकी वर्षाके कारण वृक्ष, लता, औषध, गुल्म आदि वनस्पतियोंकी उत्पत्ति और वृद्धि होने लगती है। पृथ्वीकी शीतलता और सुगन्धताका अनुभव होते ही विजयार्द्ध तथा नदीकी वेदिकाओंमें छिपे हुए जीव निकल आते हैं और धर्मरहित नग्नरूपमें विचरण करते हैं। मृत्तिका आदिका आहार करते हैं। इस कालमें जीवोंकी आयु और शरीर आदि बढ़ने लगते हैं। उत्सर्पणके दूसरे दुःषमकालमें एक हजार वर्ष अवशिष्ट रहनेपर कुलकर उत्पन्न होते हैं। ये कुलकर मनुष्योंको क्षत्रिय आदि कुलोंका आचार एवं अग्निसे अन्नादि पकानेकी विधि सिखलाते हैं। इसके पश्चात् दुःषम-सुषम नामक तृतीय काल आता है, जिसमें त्रेसठ शलाकापुरुष जन्म ग्रहण करते हैं। तत्पश्चात् चतुर्थ, पञ्चम और षष्ठकालमें भोगभूमिका प्रवर्त्तन रहता है।

ज्योतिषीदेव वर्णन

ज्योतिषीदेवोंके अन्तर्गत सूर्य, चन्द्र, ग्रह, नक्षत्र और तारोंकी गणना की गई है। चित्राभूमिसे सात सौ नब्बे योजन ऊपर तारे हैं। तारोंसे दस योजन ऊपर सूर्य और सूर्यसे अस्सी योजन ऊपर चन्द्रमा है। चन्द्रमासे चार सौ योजन ऊपर नक्षत्र, नक्षत्रोंसे चार योजन ऊपर बुध, बुधसे तीन योजन ऊपर शुक्र, शुक्रसे तीन योजन ऊपर गुरु, गुरुसे तीन योजन ऊपर मंगल और मंगलसे तीन योजन ऊपर शनिश्चर हैं। बुधादि पाँच ग्रहोंके अतिरिक्त तिरासी अन्य ग्रह भी हैं। इस प्रकार कुल ग्रहोंकी संख्या अट्ठासी मानी गयी है।

राहुके विमानका ध्वजदण्ड चन्द्रमाके विमानसे और केतुके विमानका ध्वजदण्ड सूर्यके विमानसे चार प्रमाणांगुल नीचे है। तथ्य यह है कि ज्योतिष्क जातिके देव मध्यलोकके अन्तर्गत ही विमानोंमें निवास करते हैं। इस ज्योतिष्कपटलकी मोटाई उर्ध्व और अधोदिशामें एकसौ दस योजन है और पूर्व तथा पश्चिम दिशाओंमें लोकके अन्तमें घनोदधिवातवलय पर्यन्त है तथा उत्तर और दक्षिण दिशामें एक राजू प्रमाण है। सुमेरु पर्वतके चारों ओर ग्यारह सौ इक्कीस योजन तक ज्योतिष्क विमानोंका सद्भाव नहीं है। मनुष्य-लोक पर्यन्त ज्योतिष्क विमान नित्य सुमेरुकी प्रदक्षिणा करते हैं। जम्बूद्वीप-में ३६, लवण समुद्रमें १३९, धातुकी खण्डमें १०१०, कालोदधिमें ४११२०, और पुष्करार्धमें ५३२३० ध्रुव तारे हैं। मनुष्यलोकसे बाहर समस्त ज्योतिष्क विमान अवस्थित हैं।

इन ज्योतिष्क विमानोंमें तिर्यक् कुछ अन्तर है और ऊपरी भाग आकाश-

को एक ही सतहमे है। तारोंमे परस्पर जघन्य अन्तर एक कोशका सप्तमांश, मध्यम अन्तर ५० योजन और उत्कृष्ट अन्तर १००० योजन है। समस्त ज्योतिष्क विमानोका आकार आधे गोलेके समान है। इन विमानोके ऊपर ज्योतिषी देवोके नगर हैं। ये नगर अत्यन्त रमणीक और जिनमन्दिर सयुक्त है।

चन्द्रमाके विमानका व्यास ५६।६१ योजन है, सूर्यके विमानका व्यास ४१।६१ योजन, शुक्रके विमानका व्यास एक कोश, बृहस्पतिके विमानका व्यास कुछ कम एक कोश तथा बुध, मगल और शनिके विमानोका व्यास आधा-आधा कोश है। तारोके विमान १।४ कोश, क्वचित् १।२ कोश और क्वचित् ३।४ कोश है। नक्षत्रोके विमान एक-एक कोश चौडे हैं। राहु और केतुके विमान किंचित् ऊन एक योजन चौडे है। समस्त विमानोकी मोटाई, चौड़ाईसे आधी है। सूर्य और चन्द्रमाकी बारह हजार किरणे है। चन्द्रमाकी किरणें शीतल और सूर्यकी किरणें उष्ण हैं। शुक्रकी ढाई हजार प्रकाशमान किरणे हैं। शेष ज्योतिषी देव मन्द प्रकाश युक्त हैं।

चन्द्रमाके विमानका १६वॉ भाग कृष्णपक्षमे कृष्णरूप और शुक्ल पक्षमे शुक्लरूप प्रतिदिन परिणमन करता है। राहुके विमानके निमित्तसे छह मासमे एक बार पूर्णिमाको चन्द्रग्रहण होता है। सूर्यके नीचे चलनेवाले केतु विमानके निमित्तसे छह मासमे एक बार अमावस्याको सूर्यग्रहण होता है। ज्योतिष्क विमानोको नाना प्रकारके आकार धारण करनेवाले देव खीचते है। चन्द्रमा और सूर्यके सोलह-सोलह हजार वाहक देव हैं। ग्रहोके आठ-आठ हजार, नक्षत्रोंके चार-चार हजार और तारोंके दो-दो हजार वाहक देव है चन्द्रमा, सूर्य और ग्रह इन तीनोको छोडकर शेप ज्योतिषी देव एक ही मार्गमे गमन करते हैं।

जम्बूद्वीपमे दो, लवण समुद्रमे चार, धातकी खण्डमे बारह, कालोदधिमे बयालीस और पुष्करार्धमे बहत्तर सूर्य-चन्द्रमा हैं। प्रत्येक द्वीप या समुद्रके समान दो-दो खण्ड है और आधे-आधे ज्योतिष्क विमान गमन करते है। ग्रहोंका प्रमाण चन्द्रमाओके प्रमाणसे अट्ठासी गुणित है। नक्षत्रोका प्रमाण चन्द्रमाओके प्रमाणसे अट्ठाईस गुणित और तारोका प्रमाण चन्द्रमाओके प्रमाणसे छियासठ हजार नौ सौ पचहत्तर कोडा-कोडी गुणित है।

चन्द्रमा और सूर्यके गमन-मार्गको चारक्षेत्र कहा जाता है। इस समस्त चारक्षेत्रकी चौडाई ५१०/४८।६१ योजन है। इस चौडाईमे १८० योजन तो जम्बूद्वीपमे और शेप ३३०/४८।६१ योजन लवण समुद्रमे है। चन्द्रमाके गमन करनेकी पन्द्रह और सूर्यके गमन करनेकी एकसौ चौरासी गलियाँ है। इन सबमे समान अन्तर है। दो-दो सूर्य या चन्द्रमा प्रतिदिन एक-एक गलीको

छोड़कर दूसरी-दूसरी गलीमे गमन करते है, जिस दिन सूर्य भीतरी गलीमें गमन करता है, उस समय १८ मुहूर्तका दिन १२ मुहूर्तकी रात्रि होती है। तथा क्रमश घटते-घटते जिस दिन सूर्य बाहरी गली वीथिमे गमन करता है, उस दिन बारह मुहूर्तका दिन और १८ मुहूर्तकी रात्रि होती है। सूर्य कर्क-संक्रातिके दिन आभ्यन्तर वीथि भीतरी गलीमे गमन करता है। इस दिन दक्षिणायनका प्रारम्भ होता है और मकरसक्रान्तिके दिन बाह्य वीथिपर गमन करता है। इस दिन उत्तरायणका आरम्भ होता है। प्रथम वीथिसे एकसौ चौरासीवी वीथिमे आनेमे १८३ दिन, तथा अन्तिम वीथिसे प्रथम वीथि तक पहुँचनेमे १८३ दिन लगते हैं। दोनो अयनोके ३६६ दिन होते हैं। इसीको सूर्यवर्ष कहते हैं। सूर्य, चन्द्र और नक्षत्र आदि की गणितात्मक गति गगन-खण्डो द्वारा जानी जाती है। काल-विभाजन ज्योतिष्क देवोकी गति द्वारा ही होता है।

उर्ध्वलोक

मेरुसे ऊपर लोकके अन्त तकके क्षेत्रको उर्ध्वलोक कहते हैं। इसके दो भेद हैं (१) कल्प और (२) कल्पातीत। जहाँ इन्द्र, सामानिक आदिकी कल्पना होती है, वे कल्प हैं और जहाँ यह कल्पना नही हैं, वे कल्पातीत हैं। कल्पमें सोलह स्वर्ग हैं —(१) सौधर्म, (२) ईशान, (३) सनतकुमार, (४) माहेन्द्र, (५) ब्रह्म, (६) ब्रह्मोत्तर, (७) लातव, (८) कापिष्ठ, (९) शुक्र, (१०) महाशुक्र, (११) सतार, (१२) सहस्रार, (१३)आनत, (१४)प्राणत,(१५) आरण, (१६) अच्युत। इन १६ स्वर्गोमेंसे दो-दो स्वर्गो मे सयुक्त राज्य है। इस कारण सौधर्म, ईशान आदि दो-दो स्वर्गो का एक-एक युगल है। आदिके दो तथा अन्तके दो इस प्रकार चार युगलोमे आठ इन्द्र हैं और मध्यके चार युगलोमे चार ही इन्द्र हैं। अतएव इन्द्रोकी अपेक्षा स्वर्गो के बारह भेद हैं।

सोलह स्वर्गो से ऊपर कल्पातीत है। इनमे नव ग्रैवेयक, नव अनुदिश और पंच-अनुत्तर इन २३ की गणना की जाती है। सोलह स्वर्गो मे तो इन्द्र, सामा-निक, पारिषद आदि दस प्रकारकी कल्पना है और कल्पातीतोमे यह कल्पना नही है, वहाँ सभी अहमिन्द्र कहलाते हैं।

मेरुकी चूलिकासे एक बालके अन्तरपर ऋजु विमान है। यहीसे सौधर्म स्वर्गका आरम्भ होता है। मेरु तलसे डेढ राजूकी ऊँचाईपर सौधर्म-ईशान युगलका अन्त है। इसके ऊपर डेढ राजूमे सनतकुमार-माहेन्द्र युगल और उसके ऊपर आधे-आधे राज्यमे छह युगल है। इस प्रकार छह राजूमे आठ युगल है। सौधर्म स्वर्गमे बत्तीस लाख, ईशानमे बीस लाख, सनतकुमारमे बारह लाख,

माहेन्द्रमे आठ लाख, ब्रह्म-ब्रह्मोत्तर युगलमे चार लाख, लान्तव-कापिष्ठ युगलमे पचास हजार, शुक्र-महाशुक्र युगलमे चालीस हजार, सतार-सहस्रार युगलमे छह हजार तथा आनत, प्राणत, आरण और अच्युत इन चारो स्वर्गोमे सब मिलाकर सात सौ विमान हैं। अधोग्रैवेयकमे १११, मध्य ग्रैवेयकमे १०७ और अर्ध्वग्रैवेयकमे ९१ विमान है। अनुदिशमे ९ और अनुत्तरमे ५ विमान है। ये सब विमान ६३ पटलोमे विभाजित हैं। जिन विमानोका ऊपरी भाग एक समतलमे पाया जाता है, वे विमान एक पटलके कहलाते है और प्रत्येक पटलके मध्य-विमानको इन्द्रक-विमान कहते है। चारो दिशाओमे जो पक्ति रूप विमान हैं, वे श्रेणीवद्ध कहलाते है। श्रेणियोके वीचमे जो फुटकर विमान हैं उनकी प्रकीर्णक सज्ञा है।

सर्वार्थसिद्धि विमान लोकके अन्तसे वारह योजन नीचा है। ऋजु विमान ४५ लाख योजन चौडा है। द्वितीयादिक इन्द्रकोकी चौडाई क्रमश घटती गयी है और सर्वार्थसिद्धि नामक इन्द्रक विमानकी चौडाई एक लाख योजन है।

लोकके अन्तमे एक राजू चौडी, सात राजू लम्वी और आठ योजन मोटी ईषत्प्राग्भार नामक आठवी पृथ्वी हैं। इस पृथ्वीके मध्यमे रूप्यमयी छत्ताकार ४५ लाख योजन चौडी और मध्यमे आठ योजन मोटी सिद्धशिला है। इस सिद्धशिलाके ऊपर तनुवातमे मुक्त जीव विराजमान हैं। तथ्य यह है कि उर्ध्व-लोक मृदगाकार है, इसका आकार त्रिशरावसपुटसस्थान जैसा हैं।

लोकस्थिति

आकाश, पवन, जल और पृथ्वी ये विश्वके आधारभूत अग हैं। विश्वकी व्यवस्था इन्हींके आधार-आधेयभावसे निर्मित हैं। लोक भी उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यात्मक है। इसकी व्यवस्था तर्कके आधारपर प्रतिष्ठित है। जीवादि सभी द्रव्य लोकमे निवास करते हैं और अलोकमे केवल आकाश ही आकाश रहता है। वस्तुत लोककी स्थिति अनेकान्तवादके आलोकमे घटित होती है।

आध्यात्मिकदृष्टि : ज्ञेय

आध्यात्मिकदृष्टिसे पदार्थोका तीन विभागोमे वर्गीकरण किया गया है.- (१) हेय (२) उपादेय और (३) ज्ञेय। हेयका अर्थ है त्याज्य। जो आत्मामे आकुलता उत्पन्न करनेवाला हो वह हेय हैं। इस दृष्टिसे ससार और ससारके कारणीभूत आस्रव एव बन्ध हेय पदार्थ हैं। मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान और मिथ्या चारित्र भी हेयके अन्तर्गत है। उपादेय वे पदार्थ हैं, जिनसे अक्षय, अविनाशी और अनन्त सुख प्राप्त हो। निश्चयसे विशुद्ध ज्ञान-दर्शनरूप निज आत्मा

ही उपादेय है तथा सम्यक्‌श्रद्धान, सम्यक्ज्ञान और सम्यग्आचरणरूप निश्चय रत्नत्रय तथा उस निश्चयरत्नत्रयका साधक व्यवहाररत्नत्रय भी उपादेय है। मोक्षके कारणीभूत संवर और निर्जरा तत्त्वकी गणना भी उपादेयमें की गयी है।[1] ज्ञेय यों तो सभी पदार्थ हैं, पर आध्यात्मिकदृष्टिसे सप्त तत्त्व और नव पदार्थोंमेसे हेयोपादेयके अतिरिक्त समस्त पदार्थ ज्ञेय हैं।

प्रवचनसारमें आचार्य कुन्दकुन्दने ज्ञेयके वर्णनके पूर्व बतलाया है कि गुण-पर्यायात्मक ज्ञेय है और जो पर्यायोंमें आसक्त हैं, वह परसमय अर्थात् मूढ-दृष्टि है। आत्म-स्वभावमें स्थित स्वसमय और पर्यायोंमें स्थित परसमय कहा जाता है।[2] शुद्ध ज्ञानदर्शनात्मक आत्मा ही उपादेय है और यही यथार्थमें ज्ञेय है।

इस प्रकार हेय, उपादेय और ज्ञेयका परिज्ञान प्राप्तकर आत्माके निजी स्वरूपकी अनुभूति करनी चाहिये। इस त्रिपुटीसे ही तत्त्वका निर्देशन प्राप्त होता है। वस्तुमात्र ज्ञेय है और अस्तित्वकी दृष्टिसे ज्ञेयमात्र सत्य है। सत्य ही जीवनका सर्वस्व है।

१ कथयति उपादेयतत्त्वमक्षयानन्तसुखं, तस्य कारणं मोक्षो, मोक्षस्य कारणं संवरनिर्जराद्वयं, तस्य कारणं विशुद्धज्ञानदर्शनस्वभावनिजात्मतत्त्वसम्यक्‌श्रद्धान-ज्ञानानुचरणलक्षणं निश्चयरत्नत्रयस्वरूपं, तत्साधकं व्यवहाररत्नत्रयरूपं चेति। इदानीं हेयतत्त्वं कथ्यते- आकुलत्वोत्पादकं नारकादिदुःखं निश्चयेनेन्द्रियसुखं च हेयतत्त्वम्। तस्य कारणं संसारः, संसारकारणमास्रवबन्धपदार्थद्वयं, तस्य कारणं पूर्वोक्तव्यवहारनिश्चयरत्नत्रयाद्विलक्षणं मिथ्यादर्शनज्ञानचारित्रत्रयमिति। बृहद्-द्रव्यसंग्रहटीका, द्वितीय अधिकार, गाथा-संख्या १–२ चूलिका, पृ० ८२-८३

२ जे पज्जयेसु णिरदा जीवा परसमयिग त्ति णिद्दिट्ठा।
आदसहावम्मि ठिदा ते सगसमया मुणेदव्वा॥

प्रवचनसार, गाथा ९४, पृ० ११०.

नवम परिच्छेद

ज्ञानतत्त्व-मीमांसा

ज्ञानका स्वरूप और व्युत्पत्ति

ज्ञानशब्दकी व्युत्पत्ति √ज्ञा + ल्युट्से निष्पन्न है। इस शब्दका व्युत्पत्तिगत अर्थ "जानाति ज्ञायतेऽनेन ज्ञप्तिमात्रं वा ज्ञानम्"[1] अर्थात् जो जानता है वह ज्ञान है, जिसके द्वारा जाना जाय वह ज्ञान है अथवा जानने मात्रको ज्ञान कहते है।

जो आत्मा है वह जानता है और जो जानता है वह आत्मा है। आत्मा और अनात्मामे अत्यन्ताभाव है। आत्मा कभी अनात्मा नही बनती और अनात्मा कभी आत्मा नही बनती। आत्मा ज्ञानसे कथञ्चित् भिन्नाभिन्न है। ज्ञान गुण है और आत्मा गुणी है। आत्मा पदार्थों को जानती है और ज्ञान जाननेका साधन है। यही कारण है कि आत्मा ज्ञानप्रमाण है और ज्ञान ज्ञेयप्रमाण है। ज्ञेय लोका-

१ सर्वार्थसिद्धि (सोलापुर-संस्करण), अ० १, सूत्र १, पृ० ३

लोक है, अतएव ज्ञान सर्वगत अर्थात् व्यापक है।[1] संक्षेपमे 'स्व' और 'पर' को जाननेका साधन ज्ञान ही है। पूर्वमे जिस ज्ञेयकी चर्चा की गई है, उसका सम्यक् बोध ज्ञानद्वारा ही सम्भव है।

ज्ञानोत्पत्ति : प्रक्रिया

ज्ञेय और ज्ञान दोनो स्वतन्त्र है। ज्ञेय है द्रव्य, गुण और पर्याय। ज्ञान आत्माका गुण है। न तो ज्ञेयसे ज्ञान उत्पन्न होता है और न ज्ञानसे ज्ञेय। हमारा ज्ञान पदार्थको जाने अथवा न जाने, पर पदार्थ अपने स्वरूपमे अवस्थित है। पदार्थ भी ज्ञानका विषय वने या न बने, तो भी हमारा ज्ञान हमारी आत्मामे स्थित है। यदि ज्ञानको पदार्थकी उपज माना जाय तो वह पदार्थका धर्म हो जायगा। हमारे साथ उसका तारतम्य नही हो सकेगा। पदार्थको जाननेकी क्षमता हमारे भीतर सदा विद्यमान रहती है। पर ज्ञानकी आवृत अवस्थामे हम माध्यमके विना पदार्थको नही जान पाते। हमारे ज्ञानावरणीय कर्मके क्षयोपशम, अथवा क्षय द्वारा जितनी क्षमता हमे प्राप्त होती है उसी क्षमताके अनुसार इन्द्रिय और मन द्वारा पदार्थका ज्ञान प्राप्त करते है। आशय यह है कि सस्कार जिस पदार्थको जाननेके लिए ज्ञानको प्रेरित करते है, तव ज्ञेय ज्ञात होते हैं। यह ज्ञानकी उत्पत्ति नही, अपितु प्रवृत्ति है। उदाहरणार्थ यो समझा जा सकता है कि शत्रुको देखकर बन्दूक चलानेकी इच्छा हुई और बन्दूक चलाई भी, यह शक्तिकी उत्पत्ति नही, किन्तु उसका प्रयोग है। इसी प्रकार मित्रको देखकर प्रेमका उमड आना प्रेमकी उत्पत्ति नही, उसका प्रयोग है। यही स्थिति ज्ञानके सम्बन्धमे भी है।

विषयके सामने आनेपर ज्ञाता उसे ग्रहण कर लेता है। यह प्रवृत्ति मात्र है। ज्ञानके आवरणके क्षयोपशम या क्षयके अनुसार जैसी क्षमता होती है, उसीके अनुसार वह विषयोको जाननेमे सफल होता है। वस्तुत पदार्थोको ग्रहण करनेकी अन्तरग क्षमता आवरणके विलयनपर ही निर्भर है। इसीको क्षयोपशम या क्षयजन्य अन्तरगक्षमता कहा जाता है। इसी क्षमताके कारण ज्ञानमे तारतम्यकी उत्पत्ति होती है।

अल्पज्ञका ज्ञान इन्द्रिय और मनके माध्यमसे ज्ञेयको जानता है। इन्द्रियोकी शक्ति सीमित है। वे अपने-अपने विषयोको मनके साथ सम्बन्ध स्थापित कर जान सकती है। मनका सम्बन्ध एक साथ अनेक इन्द्रियोसे नही होता है।

१ आदा णाणपमाण णाण णेयप्पमाणमुद्दिट्ठ ।
णेय लोयालोय तम्हा णाण तु सव्वगय ॥ प्रवचनसार गाथा २३

अतएव एक कालमें एक पदार्थकी एक पर्याय ही जानी जा सकती है। अत ज्ञानको ज्ञेयाकार माननेकी आवश्यकता नही है। यह सीमा आवृत ज्ञानकी है, अनावृतकी नही। निरावरण ज्ञान तो एक साथ समस्त पदार्थोंको जान सकता है।

साराश यह है कि ज्ञान स्वपरावभासक है। इसके मूलत दो भेद है. (१) पूर्णत निरावरण और (२) अशत क्षयोपशमजन्य तारतम्यरूप निरावरण। आत्माके ज्ञानगुणको ज्ञानावरणकर्म रोकता है और इसके क्षयोपशमके तारतम्य-से ज्ञान प्रादुर्भूत होता है। यह ज्ञान मन और इन्द्रियोके माध्यमसे पदार्थों को जानता है।

अतीन्द्रिय ज्ञानकी क्षमता

ससारमे अनन्त पदार्थ है और उन अनन्त पदार्थों की अनन्त पर्याएँ है। अत क्षयोपशमजन्य इन्द्रियज्ञान एक कालमे अनन्त पदार्थों मे अनन्त पर्यायोको नही जान सकता। न वह सूक्ष्म, अन्तरित और दूरवर्ती पदार्थोंको ही ग्रहण कर पाता है। पर जो ज्ञान समस्त आवरणके नष्ट होनेसे उत्पन्न हुआ है वह अतीन्द्रियज्ञान त्रिकालवर्ती समस्त पदार्थोंको जाननेवाला है। आत्मामे अनन्त ज्ञेयोको जाननेकी शक्ति है। अत निरावरण-ज्ञान एक ही कालमे अनन्त ज्ञेयोको जान लेता है। वस्तुत आत्मामे समस्त पदार्थों के जाननेका पूर्ण सामर्थ्य है। ससारी अवस्थामे उसके ज्ञानका ज्ञाना-वरणसे आवृत होनेके कारण पूर्ण प्रकाश नही हो पाता, पर जब चैतन्यके प्रति-बन्धक कर्मो का पूर्ण क्षय हो जाता है तब इस अप्राप्यकारी ज्ञानको समस्त पदार्थों को जाननेमे किसी प्रकारकी बाधा नही रहती। यदि अतीन्द्रिय पदार्थोंका ज्ञान न हो सके तो सूर्य-चन्द्र आदि ज्योतिर्ग्रहोकी ग्रहण आदि भविष्य दशाओ-का उपदेश कैसे सम्भव होगा। ज्योतिर्ज्ञानोपदेश अविसवादी और यथार्थ देखा जाता है। अतएव अतीन्द्रियज्ञानको समस्त पदार्थ और उनकी पर्यायोको ग्रहण करनेवाला मानना होगा।

यो तो केवलज्ञान ही आत्माका स्वभाव है। यह ज्ञान ज्ञानावरणकर्मसे आवृत रहता है और आवरणके क्षयोपशमके अनुसार मतिज्ञान आदि उत्पन्न होते है। जब हम मतिज्ञान आदिका स्वसवेदन करते है, तब उस रूपसे अशी केवलज्ञानका भी अशत स्वसवेदन होता है। यथा पर्वतके एक अशको देखनेपर भी पूर्ण पर्वतका व्यवहारत प्रत्यक्ष माना जाता है। इसी प्रकार मतिज्ञानादि अवयवोको देखकर अवयवीरूप केवलज्ञान ज्ञानसामान्यका प्रत्यक्ष भी स्वस-वेदनसे होता है। यहाँ केवलज्ञानको ज्ञानसामान्यरूप माना गया है और उसकी सिद्धि स्वसवेदनप्रत्यक्षद्वारा की गई है। सक्षेपमे अतीन्द्रियज्ञानकी क्षमता त्रिकाल और त्रिलोकमे स्थित समस्त पदार्थों को जाननेकी है।

ज्ञान और ज्ञेयका सम्बन्ध

ज्ञान और ज्ञेयमे विषय-विषयीभावका सबन्ध है। ज्ञान स्वपर-प्रकाशक है। जिस प्रकार अपने ही कारणसे उत्पन्न होनेवाले पदार्थ ज्ञेय होते हैं; उसी प्रकार अपने कारणसे उत्पन्न होनेवाला ज्ञान भी स्वत ज्ञानात्मक है।[1] ज्ञानका सामान्यधर्म अपने स्वरूपको जानते हुए परपदार्थोको जानना है। अत ज्ञान और ज्ञेयमे विषय-विषयीभावका सम्बन्ध है। यथार्थत —

(१) ज्ञान अर्थमे प्रविष्ट नही होता और अर्थ ज्ञानमे।

(२) ज्ञान अर्थाकार नही है।

(३) ज्ञान अर्थसे उत्पन्न नही होता।

(४) ज्ञान अर्थरूप नही है।

प्रमाता ज्ञानस्वभाव होता है, अत वह विषयी है। अर्थ ज्ञेयस्वभाव होता है, अत वह विषय है। दोनो स्वतन्त्र है तो भी ज्ञानमे अर्थको जाननेकी और अर्थमे ज्ञानके द्वारा ज्ञात किये जानेकी क्षमता विद्यमान है। यही क्षमता दोनोके कथञ्चित् अभेदका हेतु है। चैतन्यके प्रधानरूपसे तीनकार्य है: (१) जानना, (२) देखना और (३) अनुभूति करना। चक्षु द्वारा देखा जाता है और शेष इन्द्रियो एव मनके द्वारा पदार्थोको जाना जाता है। दर्शनका अर्थ देखना ही नही है अपितु एकता और अभेदकी ज्ञानानुभूति है। जो अर्थ और आलोक-को ज्ञानकी उत्पत्तिमे कारण मानते हैं उनकी यह मान्यता इसीसे निराकृत हो हो जाती है।

तदाकारता, अर्थ और आलोकके कारणत्वका विचार

ज्ञानको पदार्थाकार मानना तदाकारता है। इसका अर्थ है ज्ञानको ज्ञेया-कार कहना। पर वस्तुत अमूर्तिक ज्ञान मूर्तिक पदार्थके आकार नही हो सकता। ज्ञानके ज्ञेयाकार होनेका अभिप्राय यही हो सकता है कि उस ज्ञेयको जाननेके लिए ज्ञान अपना व्यापार कर रहा है। किसी भी ज्ञानकी वह अवस्था, जिसमे ज्ञेयका प्रतिभास हो रहा है, निश्चित रूपसे प्रमाण नही कही जा सकती। सीपमे चाँदीका प्रतिभास करानेवाला ज्ञान यद्यपि उपयोगकी दृष्टिसे पदार्थाकार हो रहा है, पर प्रतिभासके अनुसार बाह्यार्थकी प्राप्ति न होनेके कारण उसे प्रमाणकोटिमे नही रखा जा सकता। अतएव ज्ञानको पदार्थाकार मानना उचित नही।

1. स्वहेतुजनितोऽप्यर्थ परिछेद्य स्वतो यथा। तथा ज्ञान स्वहेतूत्थ परिच्छेदात्मक स्वत:॥ —परीक्षामुख ५९

अर्थ भी ज्ञानोत्पत्तिका कारण नही है क्योकि वह ज्ञानका विषय है। जो ज्ञानका विषय होता है वह ज्ञानका कारण नही होता है, यथा अन्धकार[1]। यहाँ अन्धकार ज्ञानका विषय तो है क्योकि उसे सभी जानते हैं और सभी कहते है कि अन्धकार है पर वह ज्ञानका कारण नही। यदि पदार्थों को ज्ञानका कारण माना जाय तो विद्यमान पदार्थों का ही ज्ञान होगा। अनुत्पन्न और विनष्ट हुए पदार्थों का नही। यत नष्ट और अनुत्पन्न पदार्थ इस समय विद्यमान नही हैं। वे जाननेमे कारण कैसे हो सकने हैं ?

इसी प्रकार आलोक भी ज्ञानोत्पत्तिका कारण नही है, क्योकि आलोकका ज्ञानोत्पत्तिके साथ अन्वय-व्यतिरेकसम्बन्ध नही है। जो कार्य जिस कारणके साथ अन्वय और व्यतिरेक नही रखता वह उसका कार्य नही होता। यथा केशमे होनेवाला उण्डुकका ज्ञान अर्थके साथ अन्वयव्यतिरेक नही रखता। रात्रिमे विचरण करनेवाले नक्तचर मार्जार आदिको आलोकके अभावमे भी ज्ञान होता है। अतएव आलोक भी ज्ञानोत्पत्तिका हेतु नही है।

ज्ञान और अर्थमे तदुत्पत्ति सम्बन्ध नही है किन्तु योग्यतालक्षण सम्बन्ध है। इस सम्बन्धके कारण ही ज्ञान समकालीन अथवा भिन्नकालीन अर्थको ग्रहण करता है। यह अनुभवगम्य नही कि समस्त ज्ञान अपने आकारको ही जानते हैं वल्कि अपनेसे भिन्न पदार्थके अभिमुख होकर ही वे पदार्थोंको जानते है। यह लौकिक प्रतीति है। लोकव्यवहारका उल्लड्घन करनेसे पदार्थकी व्यवस्था सम्भव नही है। ज्ञान साकार भी नही है, यहाँ साकारसे अभिप्राय अर्थके आकारको धारण करनेसे है, क्योकि नील आदि आकार ज्ञानमे सक्रान्त नही होते। ये तो जडके धर्म हैं। जो जडका धर्म होता है वह ज्ञानमे सक्रान्त नही हो सकता, यथा जडता। यदि ज्ञानको साकार माना जाय तो अथके साथ ज्ञानका पूरी तरहसे सारूप्य है अथवा एकदेशसे ? पूरी तरहसे सारूप्य माननेपर अर्थकी तरह ज्ञान भी जड हो जायगा और ज्ञानरूप न रह-कर प्रमेयरूप हो जायगा। एकदेश सारूप्य माननेसे चैतन्य ज्ञान द्वारा अर्थको जडताकी प्रतीति नही हो सकेगी, क्योकि ज्ञान जडाकार नही है और जो जिसके आकार नही होता वह उसको ग्रहण नही कर पाता। दूसरी बात यह है कि आकार ज्ञानसे भिन्न है अथवा अभिन्न ? यदि भिन्न है तो ज्ञान निराकार ही रहेगा और अभिन्न है तो ज्ञान और आकारमेसे कोई एक ही शेप रहेगा।

---

१. नार्थालोकौ कारण परिच्छेद्यत्वात्तमोवत् ॥

नन्‍ु वाह्यालोकाभाव विहाय तमसोऽन्यस्याभावात् साधनविकलो दृष्टान्तः इति ?

प्रमेयरत्नमाला २।६

अतएव ज्ञान और आकारको कथञ्चित् भिन्नाभिन्न मानना होगा। संक्षेपमें ज्ञानकी उत्पत्तिमें अर्थ और आलोक हेतु नही हैं। आत्मामें जाननेकी क्षमता है और यह क्षमता आवारक कर्मोंके क्षयोपशमपर निर्भर हैं। जिस वस्तुविषयक ज्ञानका आवरण दूर हो जाता है, आत्मा उसे बाहरी अर्थ, आलोक आदि कारणोंके बिना तथा तदुत्पत्ति और तदाकारताके बिना ही स्वत. जानने लगती है। अत. ज्ञानावरण और वीर्यान्तराय कर्मोंके क्षयोपशमरूप योग्यता ही प्रतिनियत विषयका नियामक है।

ज्ञान और अनुभूति

स्पर्शन, रसना और घ्राण ये तीन इन्द्रियाँ भोगी हैं और चक्षु और श्रोत्र कामी हैं। कामी इन्द्रियोंके द्वारा विषय जाना जाता है। उसको अनुभूति नही होती। भोगी इन्द्रियोंके द्वारा अनुभूति और ज्ञान दोनो होते हैं। इन्द्रियोंके द्वारा हम बाहरी वस्तुओंको जानते हैं। जाननेकी यह प्रक्रिया सबकी एक-सी नही होती। चक्षुकी ज्ञानशक्ति शेष इन्द्रियोसे अधिक पटु होती है। श्रोत्रकी ज्ञानशक्ति चक्षुसे कम है और शेप तीन इन्द्रियोसे अधिक है। बाह्य-जगतकी जानकारी इन्द्रियोंके माध्यमसे होती है और इस जानकारीका संवर्धन मनसे होता है। प्रत्येक इन्द्रिय अपने-अपने विषयको क्षयोपशमरूप योग्यता द्वारा जानती है और इन्द्रिय द्वारा प्राप्त ज्ञानका विस्तार मन द्वारा होता है। इन्द्रियाँ स्पर्श, रस, गध, रूप और शब्दको ग्रहण करती हैं। उनके ग्रहण करनेकी शक्ति निम्नलिखित तथ्योपर आधारित है

(१) निर्वृत्ति द्रव्य-इन्द्रिय, पौद्गलिक रचना।
(२) उपकरण शरीराधिष्ठान इन्द्रिय।
(३) लब्धि भाव-इन्द्रिय।
(४) उपयोग आत्माधिष्ठान।

जिससे ज्ञान और दर्शनका लाभ हो सके या जिससे आत्माके अस्तित्वकी सूचना प्राप्त हो उसे इन्द्रिय कहते हैं। इन इन्द्रियोंके द्रव्य और भावरूपसे दो-दो भेद हैं। इन्द्रियाकार पुद्गल और आत्म-प्रदेशोकी रचना द्रव्येन्द्रिय है और क्षयोपशमविशेषसे होनेवाला आत्माका ज्ञानदर्शनरूप परिणाम भाव-इन्द्रिय है।

द्रव्य-इन्द्रियके दो भेद हैं निर्वृत्ति और उपकरण। निर्वृत्तिका अर्थ रचना है अर्थात् इन्द्रियाकार रचना होना निर्वृत्ति है। यह बाह्य एवं आभ्यन्तरके भेदसे दो प्रकारकी है। बाह्य निर्वृत्तिसे इन्द्रियाकार पुद्गल रचना और आभ्यन्तर निर्वृत्तिसे इन्द्रियाकार आत्म-प्रदेश ग्रहण किये जाते है। यद्यपि प्रतिनियत इन्द्रिय-

सम्बन्धी ज्ञानावरण और दर्शनावरण कर्मका क्षयोपशम सर्वाङ्ग होता है, तो भी आङ्गोपाङ्ग नामकर्मके उदयसे जहाँ पुद्गलप्रचयरूप जिस द्रव्येन्द्रियकी रचना होती है वहीके आत्मप्रदेशोमे उस इन्द्रियके कार्य करनेकी क्षमता रहती है।

उपकरणका अर्थ है उपकारका प्रयोजक साधन। यह भी बाह्य एव आभ्यन्तरके भेदसे दो प्रकारका है। नेत्र इन्द्रियमे कृष्ण एव शुक्ल मण्डल आभ्यन्तर उपकरण है और अक्षिपत्र आदि बाह्य उपकरण है। निर्वृत्ति और उपकरण ये दोनो ही द्रव्येन्द्रियके अन्तर्गत है।

लब्धि और उपयोग भाव इन्द्रियके भेद है। मतिज्ञानावरण, चक्षुदर्शनावरण और अचक्षुदर्शनावरणका क्षयोपशम होकर जो आत्मामे ज्ञान और दर्शनरूप शक्ति उत्पन्न होती है, वह लब्धि इन्द्रिय है। यह आत्माके समस्त प्रदेशोमे पाई जाती है, क्योकि क्षयोपशम सर्वाङ्ग होता है। लब्धि, निर्वृत्ति और उपकरण इन तीनोके होनेपर जो विषयोमे प्रवृत्ति होती है वह उपयोगेन्द्रिय है। वस्तुत उपयोग ज्ञानशक्तिके व्यापारका नाम है। प्रत्येक इन्द्रियमे ज्ञानके हेतु निम्नलिखित चार बातें हैं

(१) इन्द्रियाकार पुद्गलोकी रचना।
(२) इन्द्रियकी ग्राहकशक्ति।
(३) इन्द्रियकी ज्ञानशक्ति।
(४) इन्द्रियकी ज्ञानशक्तिका व्यापार।

उदाहरणार्थ यो कहा जा सकता है कि चक्षुका आकार हुए विना रूपदर्शन नही होता। उपकरणके अभावमे चक्षुका आकार ठीक रहनेपर भी ग्राहकशक्तिके न होनेसे रूप-दर्शन नही होता। ज्ञानशक्तिके अभावमे आकार और ग्राहक शक्तिके होते हुए भी तत्काल मृत व्यक्तिको रूप-दर्शन नही होता है। अतएव पदार्थोंके जाननेके हेतु इन्द्रियोका शक्ति सम्पन्न होना आवश्यक है।

इन्द्रियप्राप्तिका क्रम

इन्द्रियोका विकास सभी प्राणियोमे समान नही होता है। जिस प्राणीके शरीरमे जितनी इन्द्रियोका अधिष्ठान आकार सृजन होता है, वह प्राणी उतनी ही इन्द्रियोवाला माना जाता है। आकार-वैषम्यका आधार लब्धिका विकास है। जिस जीवके जितनी ज्ञानशक्तियाँ लब्धि-इन्द्रियाँ निरावरण विकसित होती हैं, उस जीवके उतनी ही इन्द्रियोकी आकृतियाँ निर्मित होती हैं।

जो जीव जिस जातिमे उत्पन्न होता है, उसके उस जातिके अनुकूल इन्द्रिया-

वरणका क्षयोपशम होता है और उसी जातिके अङ्गोपाङ्गका उदय होता है। फलस्वरूप प्रत्येक ससारी जीवके द्रव्येन्द्रिय और भावेन्द्रिय एक समान पायी जाती हैं। एकेन्द्रियजीवके एक स्पर्शन इन्द्रिय; द्वीन्द्रियजीवके स्पर्शन और रसना इन्द्रिय, त्रीन्द्रियजीवके स्पर्शन, रसना और घ्राण इन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय-जीवके स्पर्शन, रसना, घ्राण, और चक्षु एव पञ्चेन्द्रियजीवके स्पर्शन, रसना, घ्राण चक्षु और श्रोत्र ये पाँच इन्द्रियाँ होती हैं। ये पाँचो इन्द्रियाँ क्षायोपशमिक हैं, अत इनका विषय मूर्त्त पदार्थ ही है। स्पर्शन इन्द्रिय स्पर्शको विषय करती है, रसना इन्द्रिय रसको, घ्राण इन्द्रिय गन्धको, चक्षुरिन्द्रिय रूपको और श्रोत्र-इन्द्रिय शब्दको विषय करती है।

इन्द्रियोकी शक्ति पृथक् पृथक् होनेसे वे पृथक्-पृथक् रूपसे विषयोको जानती है, अत एक इन्द्रियका विषय दूसरी इन्द्रियमे सक्रान्त नही होता। इन्द्रियोके इन पाँचो विषयोमेसे स्पर्श आदि चार गुणपर्याय हैं और शब्द व्यजन द्रव्य पर्याय।

यो तो प्रत्येक पुद्गलमे स्पर्शादिक सभी गुण पाये जाते है, पर जो पर्याय अभिव्यक्त होती है, उसीको इन्द्रिय ग्रहण करती है। सक्षेपमे इन्द्रियाँ मनके सहयोगसे पदार्थोको जानती हैं। मन समस्त इन्द्रियोके साथ युगपत् सम्बन्धित नही होता। एक कालमे एक इन्द्रियके साथ ही सम्बन्ध करता है। आत्मा उपयोगमय है, वह जिस समय जिस इन्द्रियके साथ मनोयोग कर जिस वस्तुमे उपयोग लगाती है, तब वह तन्मय हो जाती है। अत युगपत् इन्द्रियद्वयका उपयोग नही होता। देखना, चखना और सूँघना भिन्न-भिन्न क्रियाएँ हैं, इनके साथ मनकी गति एक साथ नही होती।

मनकी ज्ञानशक्ति तीव्र होती है, अत उसका क्रम जाना नही जाता। युगपत् सामान्य विशेषात्मक वस्तुका ज्ञान तो सभव है, पर दो उपयोग एक कालमे एक साथ नही होते।

मन · स्वरूप एवं कार्य

मनन करना मन है अथवा जिसके द्वारा मनन किया जाता है, वह मन है। इसे अनिन्द्रिय भी कहते हैं। जिस प्रकार पाँचो इन्द्रियोका विषय नियमित है, उस प्रकार मनका विषय नियमित नही है। वह वर्त्तमानके समान अतीत और भविष्यके विषयको भी जानता है। अतीतकी घटनाओका स्मरण भी मन द्वारा होता है, अत मनका विषय मूर्त्त और अमूर्त्त दोनो प्रकारके पदार्थो को जानना है।

मुख्यरूपसे मनका कार्य चिन्तन करना है। वह इन्द्रियोके द्वारा गृहीत वस्तुओके सम्बन्धमे तो सोचता ही है, पर इससे आगे भी सोचता है। इन्द्रिय-ज्ञानका प्रवर्त्तक होनेपर भी मनको सर्वत्र इन्द्रियज्ञानकी अपेक्षा नही होती।

यह इन्द्रियद्वारा ज्ञात रूप, रस आदिका विशेष पर्यालोचन करता है। इन्द्रियों-की गति पदार्थ तक है, पर मनकी गति पदार्थ और इन्द्रिय दोनों तक है। मन-के दो भेद हैं: (१) द्रव्यमन और (२) भावमन।

हृदयस्थानमे अष्टपाखुडीके कमलके आकाररूप पुद्गलोको रचनाविशेष द्रव्यमन है[1]। संकल्प-विकल्पात्मक परिणाम तथा विचार, चिन्तन आदि-रूप ज्ञानकी अवस्थाविशेष भावमन है। द्रव्यमन पुद्गलविपाकी नामकर्म-के उदयमे होता है। रूपादि युक्त होनेके कारण द्रव्यमन पुद्गलद्रव्यकी पर्याय है।

भावमन ज्ञानस्वरूप है। यह वीर्यान्तराय और नोइन्द्रियावरणकर्मके क्षयोपशमकी अपेक्षा आत्मविशुद्धिरूप है।[2] लब्धि और उपयोगलक्षणयुक्त है। इन्द्रियोका समस्त व्यापार मनके अधीन है। मन जिस-जिस इन्द्रियकी सहायता करता है, उसी-उसी इन्द्रियके द्वारा क्रमश ज्ञान और क्रिया होती है।

मनको कथचित् अवस्थायी और कथचित् अनवस्थायी माना जाता है। द्रव्यार्थिकनयसे अवस्थायी और पर्यायार्थिकनयसे अनवस्थायी है। जन्मसे मरण पर्यन्त जीवका क्षयोपशमरूप सामान्य भावमन तथा कमलाकार द्रव्यमन ज्यो-के-त्यो रहते है, अत अवस्थायी हैं और प्रत्येक उपयोगके साथ विवक्षित आत्म-प्रदेशोमे ही भावमनको निर्वृत्ति होती है तथा उस द्रव्यमनको मनपना प्राप्त होता है, जो उपयोगके अनन्तर एक समयमे ही नष्ट हो जाता है, अत वे दोनो अनवस्थायी है।

शरीर और मनका सम्बन्ध

शरीरपर मनका प्रभाव पडता है। आत्मा अरूपी है, इसे हम देख नही सकते। शरीरमे आत्माकी क्रियाओकी अभिव्यक्ति होती है। उदाहरणार्थ आत्माको विद्युत् और शरीरको वल्व मान सकते है। ज्ञानशक्ति आत्माका गुण है और उसके साधन शरीरके अवयव है।

तथ्य यह है कि संसारी आत्माओकी शक्तिका उपयोग पुद्गलोकी सहायताके विना नही होता। हमारा मानस चिन्तनमे प्रवृत्त होता है और उसे पौद्गलिक मनके द्वारा पुद्गलोको ग्रहण करना ही पडता है, अन्यथा उसकी प्रवृत्ति नही होती। हमारे चिन्तनमे जिस प्रकारके इष्ट-अनिष्ट भाव आते हैं,

१ हिदि होदि हु दव्वमण वियसियअट्ठच्छदारविंद वा,
अगोवगुदयादो मणवग्गणखधदो णियमा ॥ गोम्मटसार जीवकाण्ड गाथा ४४२

२ वीर्यान्तरायमनोइन्द्रियावरणक्षयोपशमापेक्षयात्मनो विशुद्धिर्भावमन ।
सर्वार्थसिद्धि २।११ पृ० १७०.

उसी प्रकारके इष्ट या अनिष्ट पुद्गलोंको द्रव्यमन ग्रहण करता चलता है। मनरूपमें परिणत हुए अनिष्ट पुद्गलोंसे शरीरको हानि होती है और मन-रूपमें परिणत इष्ट पुद्गलोंसे शरीरको लाभ पहुँचता है। इस प्रकार शरीरपर मनका प्रभाव सिद्ध होता है।

यह ध्यातव्य है कि मनका शारीरिक ज्ञानतन्तुके केन्द्रोंके साथ निमित्त-नैमित्तिक-सम्बन्ध है। जबतक ज्ञानतन्तु प्रौढ नही होते, तबतक पूर्ण बौद्धिक विकास नही होता है। वस्तुओंकी ज्ञानप्राप्तिके लिए मन और शरीर इन दोनोका प्रौढ होना आवश्यक है।

सक्षेपमे ज्ञानोत्पत्तिके प्रमुख दो साधन है (१) इन्द्रिय और (२) मन।

सन्निकर्ष-विचार

अर्थका ज्ञान करानेमे इन्द्रिय और पदार्थका सन्निकर्ष कारण नही है। जो ज्ञानोत्पत्तिकी यह प्रक्रिया मानते है कि आत्मा मनसे सम्बन्ध करती है, मन इन्द्रियसे और इन्द्रिय अर्थसे, वह समीचीन नही है। यत. वस्तुका ज्ञान करानेमे सन्निकर्ष साधकतम नही है। जिसके होनेपर ज्ञान हो और नही होनेपर न हो, वह उसमे साधकतम माना जाता है, पर सन्निकर्षमे यह बात घटित नही होती। कही-कही सन्निकर्षके होनेपर भी ज्ञान नही होता। घटकी तरह अकाश आदिके साथ चक्षुका सयोग रहता है, फिर भी आकाशका ज्ञान नही होता। अत जो जहाँ बिना किसी व्यवधानके कार्य करता है, वही वहाँ साधकतम होता है। यथा घरमे स्थित पदार्थोंको प्रकाशित करनेमे दीपक। ज्ञान ही एक ऐसा हेतु है, जो बिना किसी व्यवधानके अपने विषयको जानता है। अत ज्ञानोत्पत्तिमे क्षयोपशमजन्य शक्ति ही कारण है, सन्निकर्ष नहीं।

यथार्थत ज्ञाताकी अर्थको ग्रहण कर सकनेकी शक्ति या योग्यता ही वस्तुका ज्ञान करानेमे साधकतम है और यह योग्यता 'स्व' और 'अर्थ' को ग्रहण करनेकी शक्तिका नाम है। ज्ञानकी उत्पत्ति तभी होती है, जब ज्ञातामे उस अर्थको ग्रहण करनेकी शक्ति रहती है। अतएव शक्तिरूप योग्यता ज्ञानोत्पत्तिमे साधकतम है और ज्ञान 'स्व' तथा 'अर्थ' की परिच्छित्ति करानेमे साधकतम है।

यह मान्यता भी सदोष है कि इन्द्रिय जिस पदार्थसे सम्बन्ध नही करती, उसे नही जानती, क्योंकि वह कारक है, यथा बढईका वसूला लकडीसे दूर रहकर अपना काम नही करता। सभी जानते है कि स्पर्शन इन्द्रिय पदार्थको छूकर ही जानती है, बिना स्पर्श किये नही। यह सिद्धान्त समस्त इन्द्रियोके

विषयमे भी चरितार्थ है। पर विचार करनेसे ज्ञात होता है कि रूपादि गुण अमूर्त होनेसे इन्द्रियोके साथ उनका सन्निकर्ष सभव नही है। यत चक्षु इन्द्रिय पदार्थका स्पर्श किये बिना भी रूपको ग्रहण कर लेती है।

चक्षुका प्राप्यकारित्व-विमर्श

इन्द्रियोमे चक्षु और मन अप्राप्यकारी है। अर्थात् ये पदार्थोको प्राप्त किये विना ही दूरसे ही ज्ञान प्राप्त कर लेते हैं। स्पर्शन, रसना और घ्राण ये तीन इन्द्रियाँ पदार्थोसे सम्बद्ध होकर उन्हे जानती है। कान शब्दको स्पृष्ट होनेपर सुनता है। स्पर्शनादि इन्द्रियाँ पदार्थोके सम्बन्धकालमे उनसे स्पृष्ट और बद्ध होती है। यहाँ बद्धका अर्थ इन्द्रियोकी अल्पकालिक विकारपरिणति है। उदाहरणके लिये कहा जा सकता है कि अत्यन्त शीत जलमे हाथके डुवानेपर कुछ समय पश्चात् हाथ ऐसा ठिठुर जाता है कि उससे दूसरा स्पर्श शीघ्र गृहीत नही होता। इसी प्रकार किसी तीक्ष्ण पदार्थके खा लेनेपर रसना भी विकृत हो जाती है, पर श्रवणसे किसी भी प्रकारके शब्द सुननेपर ऐसा कोई विकार प्राप्त नहीं होता।

चक्षु इन्द्रियको कुछ विचारक प्राप्यकारी मानते है। उनका अभिमत है कि चक्षु तैजस पदार्थ है। अत. उसमेसे किरणे निकलकर पदार्थोसे सम्बन्ध करती हैं और तब चक्षुके द्वारा पदार्थका ज्ञान होता है। चक्षु पदार्थके रूप, रस, गध आदि गुणोमेसे केवल रूपको ही प्रकाशित करती है। अत चक्षु तैजस है। मन व्यापक आत्मासे सयुक्त होता है और आत्मा जगतके समस्त पदार्थोसे सयुक्त हैं। अत मन किसी भी बाह्य वस्तुको सयुक्तसयोग आदि सम्बन्धोसे जानता है। मन अपने सुखका साक्षात्कार सयुक्तसमवाय सम्बन्धसे करता है। मन आत्मासे सयुक्त है और आत्मामे सुखका समवाय है। अत चक्षु और मन दोनो प्राप्यकारी है।

उपर्युक्त तर्क विचार करनेपर सदोष प्रतीत होता है। यदि चक्षु पदार्थका स्पर्श कर पदार्थको जानती होती, तो आँखमे लगे हुए अजनको भी जान लेती। किन्तु दर्पणमे देखे विना अजनका ज्ञान नही होता। अत वह अप्राप्यकारी है। चक्षुको प्राप्यकारी सिद्ध करनेके लिये जो यह कहा जाता है कि चक्षु ढकी हुई वस्तुको नही देख सकती, अत' प्राप्यकारी है, यह कथन भी उचित नही है। काँच, अभ्रक और स्फटिकसे ढके हुए पदार्थोको भी चक्षु देख लेती है। चुम्बक दूरसे ही लोहेको खीच लेता है, फिर भी वह किसी चीजसे आच्छादित हुए लोहेको नही खीच पाता है। अतएव जो ढकी हुई वस्तुको ग्रहण न कर सके, वह प्राप्यकारी है, ऐसा नियम बनाना सदोष है।

चक्षुको तेजोद्रव्य मानना भी प्रतीतिविरुद्ध है। यत. तेजोद्रव्य स्वतन्त्र द्रव्य नही है। दूसरी बात यह है कि तेजोद्रव्यमे उष्ण स्पर्श और भास्वर रूप अवश्य पाये जाते है। पर चक्षुमे उष्ण स्पर्श और भास्वर रूप नही है। ऐसा तेजो द्रव्य तो सम्भव है, जिसमे उष्ण स्पर्श प्रकट नही रहता, किन्तु भास्वर रूप रहता है, जैसे दीपककी प्रभा। और ऐसा भी तैजस द्रव्य देखा जाता है, जिसमे उष्ण स्पर्श रहता है, किन्तु भास्वरता नही रहती, यथा गर्म जल। किन्तु ऐसा तैजस द्रव्य नही देखा जाता है, जिसमे रूप और स्पर्श दोनो ही प्रकट न हो। अतएव चक्षुको न तो तैजस द्रव्य ही माना जा सकता है और न उससे निकलनेवाली किरणोकी ही कल्पना की जा सकती है। नक्तचर मार्जारका उदाहरण भी दोषपूर्ण है। यत मार्जारकी आँखोमे किरणे होनेमे समस्त प्राणियोकी आँखोमे किरणें रहनेका नियम नही बनाया जा सकता है।

चक्षुको प्राप्यकारी माननेपर पदार्थमे दूर और निकट व्यवहार सम्भव नही है। इसी प्रकार संशय और विपर्यय ज्ञान भी उत्पन्न नही हो सकेंगे। वस्तुत आँख एक कैमरा है, जिनमे पदार्थोंकी किरणे प्रतिबिम्बित होती है। किरणोके प्रतिबिम्ब पडनेसे ज्ञानतन्तु उद्बुद्ध होते है और चक्षु उन पदार्थोको देख लेती है। चक्षुमे पडे हुए प्रतिबिम्बका कार्य केवल चेतनाको उद्बुद्ध करना है। अतएव चैतन्य मनकी प्रेरणासे चक्षु योग्य देशमे स्थित पदार्थको ही जानती है, अपनेमे पडे हुए प्रतिबिम्बको नही। पदार्थोके प्रतिबिम्ब पडनेकी क्रिया केवल स्विचको दबानेकी क्रियाके तुल्य है। अतः चक्षु अप्राप्यकारी है। यह अपने प्रदेशोमे स्थित रहकर मनोयोगकी सहायतासे पदार्थो के रूपका अवलोकन करती है। चक्षुको प्राप्यकारी मानना अनुभव और तर्क दोनोके विरुद्ध है।

श्रोत्रका अप्राप्यकारित्व-विमर्श

कतिपय दार्शनिक चक्षुके समान श्रोत्रको भी अप्राप्यकारी मानते है। उनका अभिमत है कि शब्द भी दूरसे ही सुना जाता है। यदि श्रोत्र प्राप्यकारी होता, तो शब्दमे दूर और निकट व्यवहार सम्भव नही होना चाहिये था। किन्तु जब हम कानमे घुसे हुए मच्छरके शब्दको सुन लेते है, तो उसे अप्राप्यकारी कैसे कहा जा सकता है ? प्राप्यकारी घ्राण इन्द्रियके विषयभूत गन्धमे भी कमलकी गन्ध दूर है, मालतीकी गन्ध पास है, इत्यादि व्यवहार देखा जाता है। यदि चक्षुके समान श्रोत्र भी अप्राप्यकारी होता, तो जैसे रूपमे दिशा और देशका संशय नही रहता, उसी प्रकार शब्दमे भी नही होना चाहिये था। किन्तु शब्दमे यह किस दिशासे आया है, इस प्रकार का संशय देखा जाता है। अत.

श्रोत्र प्राप्यकारी है। जब शब्द वातावरणमे उत्पन्न होता है, तो कानके भीतर पहुँचता है, तब सुनायी पड़ता है।

वस्तुत श्रोत्र स्पृष्ट शब्दको सुनता है, अस्पृष्ट शब्दको भी सुनता है। नेत्र अस्पृष्ट रूपको भी देखता है। घ्राण, रसना और स्पर्शन इन्द्रियाँ क्रमश. स्पृष्ट और अस्पृष्ट गन्ध, रस और स्पर्शको जानती हैं।[1]

ज्ञानके भेद

सामान्यत ज्ञानके दो भेद है (१) सम्यग्ज्ञान और (२) कुज्ञान। ज्ञान आत्माका विशेष गुण है, यह आत्मासे पृथक् उपलब्ध नही होता। जिस ज्ञान द्वारा प्रतिभासित पदार्थ यथार्थ रूपमे उपलब्ध हो, उसे सम्यग्ज्ञान कहते हैं। वस्तुत. जिस-जिस रूपमे जीवादि पदार्थ अवस्थित है, उस-उस रूपमे उनको जानना सम्यग्ज्ञान है। सम्यक्पदसे सशय, विपर्यय, अनध्यवसायकी निराकृति हो जाती है। यत ये ज्ञान सम्यक् नही हैं। सम्यग्ज्ञानका सबध आत्मोत्थानके साथ है। जिस ज्ञानका उपयोग आत्म-विकासके लिये किया जाता है और जो पर-पदार्थोसे पृथक् कर आत्माका बोध कराता है, वह सम्यग्ज्ञान है। सम्यग्ज्ञानके पाँच भेद हैं

(१) मतिज्ञान इन्द्रिय और मनके द्वारा यथायोग्य पदार्थोको जाननेवाला।

(२) श्रुतज्ञान श्रुतज्ञानावरणकर्मके क्षयोपशम होनेपर, मन एव इन्द्रियोके द्वारा अधिगम।

(३) अवधिज्ञान परिमित रूपी पदार्थको इन्द्रियोकी सहायताके बिना जाननेवाला।

(४) मन पर्ययज्ञान परके मनमे स्थित पदार्थोंको जाननेवाला।

(५) केवलज्ञान समस्त पदार्थोको अवगत करनेवाला ज्ञान।

कुज्ञान तीन है (१) कुमति, (२) कुश्रुत और (३) कुअवधि।

ज्ञान और प्रमाण-विमर्श

यथार्थ ज्ञान प्रमाण है। ज्ञान और प्रमाणमे व्याप्य-व्यापक सम्बन्ध हैं। ज्ञान व्यापक है और प्रमाण व्याप्य। ज्ञान यथार्थ और अयथार्थ दोनो प्रकारका होता है। सम्यक् निर्णायक ज्ञान यथार्थ होता है। सशय, विपर्यय और अनध्य-वसाय आदि अयथार्थ ज्ञान है। अतएव ये प्रमाणभूत नही है।

१. पुट्ठं सुणेदि सद्दं अपुट्ठं चेव पस्सदे रूअ।
गध रस च फास पुट्ठमपुट्ठ वियाणादि॥
सर्वार्थसिद्धि १–१९ उद्धृत

प्रमाका करण प्रमाण है और जो वस्तु जैसी है, उसको उसी रूपमे जानना प्रमा है। करणका अर्थ साधकतम है। एक अर्थकी सिद्धिमे अनेक सहयोगी होते है, किन्तु सभी करण नही कहलाते हैं। फलकी सिद्धिमे जिसका व्यापार अव्यवहित होता है, वही करण कहलाता है। यथा लिखनेमे कलम और हाथ दोनो चलते है, किन्तु करण कलम ही कहलाती है, हाथ नही। क्योकि लिखनेका निकटतम सम्बन्ध लेखनीसे है। हाथका सम्बन्ध निकटतम नही है। व्याकरणकी भाषामे हाथको साधक और लेखनीको साधकतम कहा जा सकता है।

प्रमाणके इस लक्षणमे सामान्यत कोई विप्रतिपत्ति नही है। विप्रतिपत्तिका विषय तो केवल 'करण' शब्द है। अन्य दर्शनोमे करणकी मान्यता विभिन्न प्रकार है। बौद्धदर्शन सारूप्य और योग्यताको करण मानता है, तो नैयायिक दर्शन सन्निकर्ष और ज्ञानको। पर यथार्थमे ज्ञान ही करण है। वस्तुके जाननेरूप व्यापारके साथ उसका निकटका सम्बन्ध है।

ज्ञान या अधिगमके साधनोमे प्रमाण और नयकी गणना है। प्रमाण समग्र वस्तुको अखण्डरूपसे ग्रहण करता है और नय खण्डरूपसे। प्रमारूप क्रिया चेतन है। अत उसमे साधकतम उसीका गुण ज्ञान ही हो सकता है।

यह निर्विवाद सत्य है कि जाननेरूप क्रियाका अव्यवहित करण ज्ञान ही है। अतएव प्रतीतिका करण चेतनरूप ज्ञान ही हो सकता है, अन्य जडादि पदार्थ नही। जिस प्रकार अन्धकारकी निवृत्तिमे दीपक ही साधकतम है, तेल-बत्ती और दीया आदि नही। उसी प्रकार जाननेरूप क्रियामे साधकतम ज्ञान है, ज्ञानकी उत्पादक सामग्री अवश्य इन्द्रिय और मन आदि हैं।

ज्ञानका सामान्य धर्म है अपने स्वरूपको जानते हुए पर-पदार्थको जानना। ज्ञान अवस्थाविशेषमे 'पर' को जाने या न जाने, पर अपने स्वरूपको तो वह अवश्य जानता है। ज्ञान प्रमाण हो, सशय हो, विपर्यय हो या अनध्यवसाय हो, वह बाह्य अर्थमे विसवादी होनेपर भी 'स्व' स्वरूपको अवश्य जानता है और 'स्व' स्वरूपके सम्बन्धमे अविसवादी होता है। यदि ज्ञानको 'स्व' स्वरूपका ज्ञाता न माना जाय, तो वह 'पर' अर्थका बोधक भी नही हो सकता है। जो ज्ञान अपने स्वरूपका प्रतिभास करनेमे असमर्थ है, वह परका अवबोधक कैसे हो सकता है? 'स्व' स्वरूपकी दृष्टिसे तो सभी ज्ञान प्रमाण हैं। प्रमाणता और अप्रमाणताका विभाग बाह्य अर्थकी प्राप्ति और अप्राप्तिसे सम्बद्ध है। स्वरूपकी दृष्टिसे तो कोई ज्ञान न प्रमाण है और न प्रमाणाभास।

प्रमाणस्वरूपका विकास

प्रमाणके स्वरूपका विकास निरन्तर होता रहा है। आरम्भमे आत्मज्ञानको

प्रमाण माना जाता था। पश्चात् स्व-परावभासी[1] ज्ञानको प्रमाण कहा जाने लगा। वस्तुतः स्वपरावभासी एव बाधारहित ज्ञान प्रमाण है। इस लक्षणमे व्यवसायात्मक, अनधिगतार्थक और अविसवादी पदोका जोडना भी आवश्यक है। जो ज्ञान अनधिगत अर्थको जानते हुए विसवादसे रहित निश्चयात्मक स्व-परावभासी होता है, वह प्रमाण है।

ज्ञान मात्र प्रमाण नही है, किन्तु जो तत्त्व-निर्णय करानेमे साधकतम ज्ञान है, वही प्रमाण है। जो पदार्थका निश्चय करानेवाला ज्ञान है, वह प्रमाणभूत है। ज्ञानकी प्रमाणतामे कोई अन्य कारण नही होता। किन्तु जो अर्थको सम्यक् निश्चयात्मक रूपसे जानता है, वह ज्ञान प्रमाण है। निष्कर्ष रूपमे 'स्व' और 'पर' को निश्चयात्मकरूपसे ग्रहण करनेवाला ज्ञान प्रमाण है।

प्रमाणकी सामान्य व्युत्पत्ति है 'प्रमीयते येन तत् प्रमाणम्' अर्थात् जिसके द्वारा पदार्थोका ज्ञान हो, उस द्वारका नाम प्रमाण है। प्रमाणभूत ज्ञान ही उपादेय है, क्योकि इसीके द्वारा अज्ञानकी निवृत्ति, इष्ट वस्तुका ग्रहण और अनिष्ट वस्तुका त्याग होता है।

प्रामाण्य-विचार

प्रमाण जिस पदार्थको जिस रूपमे जानता है, उसका उसी रूपमे प्राप्त होना, अर्थात् प्रतिभात विषयका अव्यभिचारी होना प्रामाण्य कहलाता है। यह प्रमाणका धर्म है। इसकी उत्पत्ति उन्ही कारणोसे होती है, जिन कारणोसे प्रमाण ज्ञान उत्पन्न होता है। प्रामाण्य हो या अप्रामाण्य, उनकी उत्पत्ति परत ही मानी जाती है।

प्रमाणकी ज्ञप्ति अभ्यासदशामे स्वत और अनभ्यासदशामे परत होती है। जिन स्थानोका हमे परिचय है, उन स्थानोमे रहनेवाले जलाशयादिका ज्ञान अपने आप अपनी प्रमाणता या अप्रमाणताको प्रकट कर देता है, किन्तु अपरिचित स्थानोमे होनेवाले जलज्ञानकी अप्रमाणता या प्रमाणताका ज्ञान पनिहारियोका पानी भरकर लाना, मेढकोका टर्राना या कमलकी गन्धका आना आदि जलके अविनाभावी लक्षणोका ज्ञान परत प्रमाणभूत ज्ञानोसे ही होता है।

प्रमाणके प्रामाण्यकी उत्पत्ति परत ही होगी[2]। जिन कारणोसे प्रमाण

१ स्वपरावभासक यथा प्रमाण भुवि बुद्धिलक्षणम्। वृ० स्व० ६३.

२. प्रामाण्यमुत्पत्तौ परत एव, विशिष्टकारणप्रभवत्वाद्विशिष्टकार्यस्येति। ननूत्पत्तौ विज्ञानकारणातिरिक्तकारणान्तरसव्यपेक्षत्वमसिद्ध प्रामाण्यस्य, तदितरस्यैवाभावात्। प्रमेयरत्नमाला १।१३, पृ० ३०-३१

या अप्रमाणज्ञान उत्पन्न होगा, उन कारणोसे उनकी प्रमाणता और अप्रमाणता उत्पन्न होती है। प्रमाण और प्रमाणताकी उत्पत्तिमे समयभेद नही है। ज्ञानको उत्पन्न करनेवाले जो कारण है, उनसे भिन्न कारणोसे प्रमाणता उत्पन्न होती है। यत प्रमाण और प्रामाण्यकी उत्पत्तिमे दीपक और प्रकाशके समान, समयभेद नही है।

ज्ञप्ति और प्रवृत्ति अभ्यासदशामे स्वत और अनभ्यासदशामे परत सिद्ध होती है[1]। परिचित अवस्थाको अभ्यासदशा और अपरिचित अवस्थाको अनभ्यास दशा कहा जाता है। अपने गाँवके जलाशय, नदी, बावडी आदि परिचित है, अत उनकी ओर जानेपर जो जलज्ञान उत्पन्न होता है, उसकी प्रमाणता स्वत होती है। पर अन्य अपरिचित ग्रामादिकमे जानेपर 'यहाँ जल होना चाहिए', इस प्रकार जो जलज्ञान उत्पन्न होगा, वह शीतल वायुके स्पर्शसे, कमलोकी सुगधिसे, या जल भरकर आते हुए व्यक्तियोके देखने आदि पर-निमित्तोसे ही होगा। अत उस जलज्ञानकी प्रमाणता अनभ्यासदशामे परत मानी जायगी। उत्पत्तिमे परत प्रमाणता कहनेका तात्पर्य यह है कि अन्तरग-कारण ज्ञानावरणकर्मका क्षयोपशम होनेपर भी बाह्यकारण इन्द्रियादिकके निर्दोष होनेपर ही नवीन प्रमाणतारूप कार्य उत्पन्न होता है, अन्यथा नही। अतएव उत्पत्तिमे परत प्रमाणता स्वीकार की गयी है।

प्रमाणके भेद

प्रमाणके दो भेद है (१) प्रत्यक्ष और (२) परोक्ष। आगमिक परिभाषामे आत्ममात्र सापेक्ष ज्ञानको प्रत्यक्ष और जिन ज्ञानोमे इन्द्रिय, मन और प्रकाश आदि पर-साधनोकी अपेक्षा होती है, वे परोक्ष है।[2] जितने परनिमित्तक परिणमन हैं, वे सब व्यवहारमूलक हैं। जो मात्र स्वजन्य हैं, वे ही परमार्थ है और निश्चयके विषय है।

प्रत्यक्ष शब्दमे 'अक्ष' विचारणीय है। अक्षका अर्थ आत्मा है। बताया है कि अक्ष, व्याप् और ज्ञा ये धातुएँ एकार्थक हैं। अत. अक्षका अर्थ आत्मा होता है। इस प्रकार क्षयोपशमवाले या आवरणरहित केवल आत्माके प्रति जो नियत है अर्थात् जो ज्ञान बाह्य इन्द्रिय आदिकी अपेक्षासे न होकर केवल क्षयोपशम-वाले या आवरण रहित आत्मासे होता है. वह प्रत्यक्ष ज्ञान कहलाता है।

१ विषयपरिच्छित्तिलक्षणे प्रवृत्तिलक्षणे वा स्वकार्ये अभ्यासेतरदशापेक्षया क्वचित् स्वत परतश्चेति निश्चीयते। प्रमेयरत्नमाला १।१३, पृ० ३१.

२ ज परदो विण्णाण त तु परोक्ख त्ति भणिदमट्ठेसु।
जदि केवलेण णाद हवदि हि जीवेण पच्चक्ख ॥
प्रवचनसार गाथा ५८

इन्द्रियोके निमित्तसे होनेवाला ज्ञान प्रत्यक्ष नही माना जाता है, क्योकि इस प्रकारके ज्ञानसे आत्मामे सर्वज्ञता नही आ सकती है। अतएव अतीन्द्रिय ज्ञान परनिरपेक्ष होनेके कारण प्रत्यक्ष है। जो ज्ञान सर्वथा स्वावलम्बी है, जिसमे बाह्य साधनोकी आवश्यकता नही है, वह प्रत्यक्ष है और जिसमे इन्द्रिय, मन, आलोक आदिकी आवश्यकता रहती है, वह परोक्ष है।[1]

तर्ककी दृष्टिसे निर्मल और स्पष्ट ज्ञानको प्रत्यक्ष कहा जा सकता है। इसका अनुमान यो कर सकते हैं कि प्रत्यक्षविषयक ज्ञान विशदरूप है, क्योकि वह प्रत्यक्ष है। जो विशदज्ञानात्मक नही, वह प्रत्यक्ष नही, यथा परोक्ष ज्ञान। यहाँ विशद या निर्मलका अर्थ दूसरे ज्ञानके व्यवधानसे रहित और विशेषतासे होनेवाला प्रतिभास है अर्थात् अन्य ज्ञानके व्यवधानसे रहित निर्मल, स्पष्ट और विशिष्ट ज्ञान वैशद्य कहलाता है। प्रत्यक्षके दो भेद है १ साव्यवहारिक और २ पारमार्थिक।

पॉच ज्ञानोमेसे इन्द्रिय और अनिन्द्रियकी अपेक्षा मति और श्रुतज्ञानको परोक्ष कहा जाता है। अवधि, मन पर्यय एव केवलज्ञानको प्रत्यक्ष माना जाता है। तर्ककी दृष्टिसे इन्द्रिय और मनके निमित्तसे उत्पन्न आशिक विशद ज्ञान भी प्रत्यक्ष है। अतएव लोक-व्यवहारका निर्वाह करनेके हेतु साव्यवहारिक प्रत्यक्षकी भी कल्पना की गई है। सक्षेपमे प्रमाणके भेद मूलत प्रत्यक्ष और परोक्ष ये दो हैं और प्रत्यक्षके साव्यवहारिक और पारमार्थिक ये दो भेद है। परोक्ष प्रमाणके स्मृति, प्रत्यभिज्ञान, तर्क, अनुमान और आगम ये पॉच भेद किये गये है।
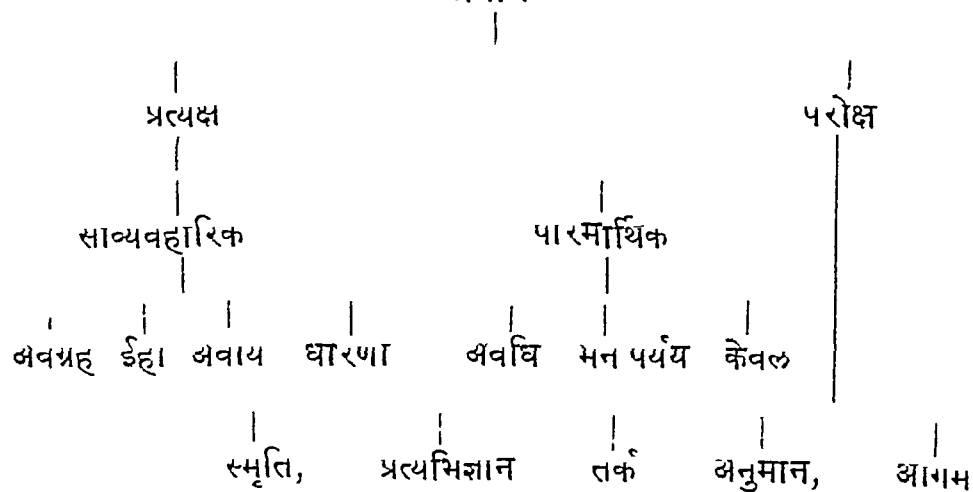
१ अक्ष्णोति व्याप्नोति जानातीत्यक्ष आत्मा। तमेव प्राप्तक्षयोपशम प्रक्षीणावरण वा नियत प्रत्यक्षम्। सर्वार्थसिद्धि १।१२

पुरातन मान्यतामे मतिज्ञान और श्रुतज्ञानको परोक्ष एव स्मृति, सज्ञा, चिन्ता और अभिनिबोधको मतिज्ञानका पर्याय कहा गया है। अतएव आगमकी शब्दावलीमे सामान्यरूपसे स्मृति, सज्ञा प्रत्यभिज्ञान, चिन्ता- तर्क, अभिनिबोध अनुमान और श्रुत आगमको परोक्ष माननेका विधान है। इन्द्रिय और मनसे उत्पन्न होनेवाला प्रत्यक्ष—केवल मतिज्ञानको परोक्ष माननेमे लोकविरोध आता है, क्योकि इन्द्रियोके द्वारा भी वस्तुओका प्रत्यक्ष दर्शन होता है। अत इन्द्रिय और मनसे गृहीत होनेवाले पदार्थोंके ज्ञानको परोक्ष किस प्रकार कहा जाय ? इस समस्याके समाधानहेतु मति, स्मृति, चिन्ता आदि ज्ञानोको शब्द-योजनाके पहले साव्यवहारिक प्रत्यक्ष और शब्द-योजनाके पश्चात् उन्ही ज्ञानोको श्रुत माना जा सकता है। इस प्रकार मतिज्ञानको परोक्षकी सीमामे सम्मिलित करनेपर भी उसके एक अगको साव्यवहारिक प्रत्यक्ष माना जा सकता है। जो ज्ञान अपनी उत्पत्तिमे किसी दूसरे ज्ञानकी अपेक्षा रखता हो, अर्थात् जिसमे ज्ञानान्तरका व्यवधान हो, वह ज्ञान अविशद है। पॉच इन्द्रिय और मनके व्यापारसे उत्पन्न होनेवाल इन्द्रियप्रत्यक्ष और अनिन्द्रियप्रत्यक्ष अन्य किसी ज्ञानान्तरकी अपेक्षा नही रखनेके कारण अशत विशद होनेसे प्रत्यक्ष हैं। जब कि स्मरण अपनी उत्पत्तिमे पूर्वानुभवकी, प्रत्यभिज्ञान अपनी उत्पत्तिमे स्मरण और प्रत्यक्षकी; तर्क अपनी उत्पत्तिमे स्मरण, प्रत्यक्ष और प्रत्यभिज्ञानकी; अनुमान अपनी उत्पत्तिमे लिङ्गदर्शन और व्याप्तिस्मरणकी तथा श्रुतज्ञान अपनी उत्पत्तिमे शब्द-श्रवण और सकेत-स्मरणकी अपेक्षा रखते हैं। अतएव स्मरण, प्रत्यभिज्ञान, तर्क, अनुमान और आगम ये ज्ञान ज्ञानान्तर सापेक्ष होनेके कारण अविशद अर्थात् परोक्ष हैं।

मतिज्ञानके भेद ईहा, अवाय और धारणा ज्ञान अपनी उत्पत्तिमे पूर्व-पूर्वकी प्रतीतिकी अपेक्षा तो रखते हैं, पर नवीन-नवीन इन्द्रियव्यापारसे उत्पन्न होते हैं और एक ही पदार्थकी विशेष अवस्थाओको ग्रहण करते है। अत किसी भिन्नविषयक ज्ञानसे व्यवहित नही होनेके कारण साव्यवहारिक प्रत्यक्ष ही है। एक ही ज्ञान भिन्न-भिन्न इन्द्रिय-व्यापारोसे अवग्रह आदि अतिशयोको प्राप्त करता हुआ अनुभवमे आता है। अत ज्ञानान्तरका व्यवधान नही आने पाता।

यहॉ निश्चयात्मक सविकल्पज्ञान ही प्रमाणरूपमे मान्य है और विशदज्ञान प्रत्यक्षकोटिके अन्तर्गत है। विशदता और निश्चयपना सविकल्पकज्ञानका धर्म है और वह ज्ञानावरणके क्षयोपशमके अनुसार उसमे पाया जाता है। वस्तुत.

अनुमानादिकसे अधिक नियत देश, काल और आकार रूपमें प्रचुरतर विशेषोके प्रतिभासनको वैशद्य माना है। दूसरे शब्दोमे यो कहा जा सकता है कि जिस ज्ञानमे किसी अन्य ज्ञानकी सहायता अपेक्षित न हो, वह ज्ञान विशद है। जिस प्रकार अनुमान आदि ज्ञान अपनी उत्पत्तिमे हेतु, व्याप्ति-स्मरण आदिकी अपेक्षा रखते हैं, उसी प्रकार प्रत्यक्ष अपनी उत्पत्तिमे अन्य किसी ज्ञानकी आवश्यकता नही रखते।[1]

सारांश यह है कि जिस ज्ञानमे अन्य किसीका व्यवधान नही है, वह प्रत्यक्ष है और जिसमे अन्यका व्यवधान पाया जाता है उसे परोक्ष कहा जाता है। इन्द्रिय और मनोजन्य ज्ञानको सव्यवहार प्रत्यक्ष माना है। लोकव्यवहारमें इसे प्रत्यक्ष कहा भी गया है। यो तो आध्यात्मिक दृष्टिसे ये ज्ञान परोक्ष ही हैं। मतिज्ञानके मति, स्मृति, सज्ञा, चिन्ता और अभिनिबोध इन पर्यायोका निर्देश मिलता है। इनमे मति इन्द्रिय और मनसे उत्पन्न होनेवाला ज्ञान है। इसकी उत्पत्तिमे ज्ञानान्तरकी आवश्यकता नही होती, पर स्मृति, सज्ञा, चिन्ता आदि ज्ञानोमें पूर्वानुभव, स्मरण, प्रत्यक्ष, लिङ्गदर्शन एव व्याप्ति-स्मरण आदि ज्ञानान्तरोकी अपेक्षा रहती है। इसी कारण इन्हे परोक्ष कहा जाता है। लोकमें प्रसिद्ध इन्द्रियप्रत्यक्ष और मानसप्रत्यक्षका अन्तर्भाव साव्यवहारिक प्रत्यक्षमे किया जा सकता है।

सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष

ज्ञान आत्मामे समाहित रहता है और आत्मापर कर्मका आवरण पडा रहता है, जिससे ज्ञानका स्पष्ट आभास नही होता। कर्मका आवरण जितने अशमे हटता जाता है, उतने ही अशमे ज्ञानका प्रादुर्भाव होता जाता है। यो तो आत्माका समस्त ज्ञान कभी भी आवृत नही होता। यत. ज्ञानके अभावमे आत्माका अस्तित्व ही सिद्ध नही हो पाता। अतएव आवरणके क्षयोपशमानुसार ज्ञानकी उत्पत्ति होती है।

साव्यवहारिक प्रत्यक्षके भी दो भेद माने जा सकते है १ इन्द्रिय साव्यवहारिक प्रत्यक्ष और २ अनिन्द्रियसाव्यवहारिक प्रत्यक्ष। अनिन्द्रियप्रत्यक्ष केवल मनसे उत्पन्न होता है, पर इन्द्रियप्रत्यक्षमे इन्द्रियोके साथ मन भी कारण रहता है। इन्द्रियसाव्यवहारिक प्रत्यक्षको चार भागोमे विभाजित किया जा सकता है १ अवग्रह, २ ईहा, ३ अवाय और ४ धारणा।

१. अनुमानाद्यतिरेकेण विशेषप्रतिभासनम्।
तद् वैशद्य मत बुद्धेरवैशद्यमत परम्॥ लघीयस्त्रय, कारिका ४

अवग्रहके पर्यायवाची ग्रह, ग्रहण, अवलोकन, अवधारण आदि है। कहा जाता है कि इन्द्रिय विषयको ग्रहण करनेके लिए जैसे ही प्रवृत्त होती है, वैसे ही स्व-प्रत्यय होता है, जिसे दर्शन कहते हैं और तदनन्तर विषयका ग्रहण होता है, जो अवग्रह कहलाता है। यथा 'यह मनुष्य है' यह ज्ञान होना अवग्रह है। यह ज्ञान इतना क्षणिक और निर्बल है' कि इसके पश्चात् सशय उत्पन्न हो सकता है। अतएव सशयापन्न अवस्थाको दूर करनेके लिए या विगत ज्ञानको व्यवस्थित करनेके लिए जो ईहन विचारणा या गवेषणा होती है, वह ईहा ज्ञान है। 'मैंने जो देखा है वह मनुष्य ही होना चाहिए' ऐसा ज्ञान ईहा है। ईहाके होनेपर भी जाना हुआ पदार्थ मनुष्य ही है ऐसा अवधान अर्थात् निर्णयका होना अवाय है। जाने हुए पदार्थको कालान्तरमे भी नही भूलनेकी योग्यताका उत्पन्न हो जाना ही धारणा है। यह धारणा ही स्मृति आदि ज्ञानोकी जननी है।

अवग्रहके दो भेद है १. व्यजनावग्रह और २ अर्थावग्रह। शब्दादि अर्थ अव्यक्त होते हैं, वे व्यञ्जन कहलाते हैं। चक्षु और मनका विषय अव्यक्त नही होता। शेष चार इन्द्रियोके विषय व्यक्त या अव्यक्त दोनो प्रकारके हो सकते है। चक्षु और मन अप्राप्यकारी है और शेष चार इन्द्रियाँ प्राप्यकारी और अप्राप्यकारी दोनो प्रकारकी है। अप्राप्त विषयको ग्रहण करना अर्थावग्रह है और प्राप्त अर्थके प्रथम ग्रहणको व्यञ्जनावग्रह कहा जाता है। जिस प्रकार मिट्टीके नूतन कोरे घडेपर पानीकी दो चार बूद डालनेपर वह गीला नही होता, किन्तु पुन-पुन सिञ्चन करनेपर वह अवश्य ही गीला हो जाता है। इसी प्रकार जबतक स्पर्शन, रसना, घ्राण और श्रोत्र इन्द्रियका विषय स्पृष्ट होकर भी अव्यक्त रहता है, तबतक उसका व्यञ्जनावग्रह ही होता है, किन्तु उसके व्यक्त होनेपर अर्थावग्रह ही होता है। सक्षेपत व्यक्तका नाम अर्थावग्रह है और अव्यक्त ग्रहणका नाम व्यजनावग्रह है।

सशयज्ञानके अतिरिक्त व्यजनावग्रह, अर्थावग्रह, ईहा, अवाय और धारणा यदि अर्थका यथार्थ निश्चय कराते है, तो प्रमाण है अन्यथा अप्रमाण है। प्रामाण्यका अर्थ है जो वस्तु जैसी प्रतिभासित होती है उसका उसी रूपमे मिलना।

मतिज्ञानके अवग्रह, ईहा अवाय और धारणा ये ज्ञान क्रमश उत्पन्न होते है। इनमे व्यतिक्रमका होना सम्भव नही। साधारणत अवग्रह आदि चारो ज्ञानोका एक ही अर्थमे उत्पन्न होना सम्भव नही है। कोई ज्ञान अवग्रह होकर छूट जाता है। किसी पदार्थके अवग्रह और ईहा, ये दोनो ही होते हैं। किसीके अवायसहित तीन होते है और किसी-किसी पदार्थके धारणासहित चारो ही ज्ञान पाये जाते हैं; किन्तु परिपूर्ण ज्ञान अवायके होनेपर ही माना जाता है।

मतिज्ञानके अन्तर्गत चार प्रकारकी बुद्धियोंकी भी गणना है। इन बुद्धियोंको अश्रुत-नि:सृत मतिज्ञान कहा गया है। ये शिक्षा या विद्या आदिके द्वारा प्राप्त नहीं होतीं और न किसी शास्त्र या विद्याका अनुगमन ही करती है। प्रकारान्तरसे अश्रुत-नि:सृत ज्ञानको मतिज्ञानका पृथक् भेद न मानकर ईहा, अवाय और धारणके अन्तर्गत ही समाहित किया जाता है। इस ज्ञानके चार भेद हैं १ औत्पत्तिक, २ वैनयिक, ३ कार्मिक, और ४ पारिणामिक।

औत्पत्तिक

जिस बुद्धि द्वारा अश्रुत और अदृष्ट पदार्थकी प्रतीति सहजरूपमे सम्भव हो वह मतिज्ञान औत्पात्तिक कहलाता है। उदाहरणार्थ बताया जाता है कि एकबार अवन्तिके नृपतिने रोहकसे कहा कि तुम अकेले मुर्गेको लडाई दिखलाओ। रोहक अभी वयस्क नही था, पर उसमे औत्पत्तिकी बुद्धि समाहित थी। अतएव उसने एक मुर्गेके समक्ष एक दर्पण लाकर रख दिया। जब मुर्गेने दर्पणमे अपने प्रतिबिम्बको देखा, तो उसने समझा कि दर्पणके भीतर दूसरा मुर्गा बैठा हुआ है। अतएव वह दर्पणमे अपने प्रतिबिम्बको देख-देखकर प्रतिबिम्बित कुक्कुटके साथ युद्ध करने लगा। यहाँ मुर्गेकी अनुपस्थिति और प्रतिबिम्बकी उपस्थिति दर्शन है। दर्शनके अनन्तर अवग्रह हुआ। यह प्रतिबिम्ब किस कोटिका है, यह ईहा और दर्पणमे स्थित प्रतिबिम्बका निश्चय अवाय और तदनन्तर धारणाकी उत्पत्ति होती है।

वैनयिक

वैनयिक बुद्धि धर्म, अर्थ, काम और मोक्षसबधी पुरुषार्थसे सम्बन्ध रखती है। यह कठिन-से-कठिन कार्यको सम्पन्न कर सकती है। इस बुद्धिकी उत्पत्ति सेवा और नम्रतामे होती है। जो साधक विनय और शीलगुण द्वारा अपनी लब्धि और उपयोगका विकास कर लेता है उसे इस प्रकारके ज्ञानकी उपलब्धि होती है। इस बुद्धि द्वारा इच्छाशक्ति और सकल्पका विकास होता है। वीर्य-अन्तरायकी उत्पत्तिमे बाधा उत्पन्न करनेवाले कर्मपुद्गलोका विलय हो जाता है। जो साधक गुरु-शुश्रूषा आदिके द्वारा इस प्रकारकी बुद्धिका विकास करता है, वह अदृष्ट और अननुभूत पदार्थोका ज्ञान प्राप्त कर लेता है।

कार्मिक

यह वह बुद्धि है जो कर्मके क्षयोपशमसे उत्पन्न चेतनाके कारण सत्यको ग्रहण करती है। यह सैद्धान्तिक और व्यावहारिक दोनो ही प्रकारके विषयोको जानती है। वस्तुत इस प्रकारके ज्ञानका विकास व्यावहारिक अनुभवसे होता है। शिक्षा या विद्या इसके विकासमे अधिक सहयोगी नही। जिस प्रकार एक

कुशल स्वर्णकार शुद्ध सोनेको और नकली सोनेको अपने अनुभवके बलसे तत्काल पहचान लेता है, उसी प्रकार इस बुद्धिका धारी व्यक्ति संसारके पदार्थोंका ज्ञान प्राप्त कर लेता है।

पारिणामिक

पारिणामिक बुद्धिका वह अंश है जो अपने उद्देश्यको अनुमान तर्क, उपमान, रूपक आदिके आधारपर पूर्ण करता है। विद्या, बुद्धि और आयुके विकासके साथ-साथ इस बुद्धिका भी विकास होता है। इसका वास्तविक उद्देश्य कर्म-कालिमाको क्षयकर निर्वाण प्राप्त करना है।

मतिज्ञानके भेद-प्रभेद

मतिज्ञानके ३३६ भेद माने गये है। अवग्रह आदि ज्ञान बहु, बहुविध, क्षिप्र, अनि सृत, अनुक्त, ध्रुव, अल्प, अल्पविध, अक्षिप्र, नि सृत, उक्त और अध्रुव इन बारह प्रकारके पदार्थोको ग्रहण करते है। बहुत वस्तुओके ग्रहण करनेको बहुज्ञान, बहुत तरहकी बहुत वस्तुओको ग्रहण करनेको बहुविधज्ञान; वस्तुके एक भागको देखकर पूरी वस्तुको जान लेना अनि सृतज्ञान, बिना कहे अभिप्राय-से ही जान लेना अनुक्तज्ञान, बहुत काल तक जैसे-का तैसा निश्चल ज्ञान होना ध्रुवज्ञान, अल्पका अथवा एकका ज्ञान होना अल्पज्ञान, एकप्रकारकी बहुत वस्तुओका ज्ञान होना एकविधज्ञान, शनै शनै वस्तुओको जानना अक्षिप्रज्ञान; सामने विद्यमान पूर्ण वस्तुको जानना नि सृतज्ञान, कहनेपर जानना उक्तज्ञान एव चञ्चल रूपमे पदार्थोको अवगत करना अध्रुवज्ञान है। इस प्रकार बारह प्रकारके पदार्थोके अवग्रह, बारह प्रकारकी ईहा, बारह प्रकारका अवाय और बारह प्रकारकी धारणा होती है। ये समस्त भेद मिलकर १२×४=४८ भेद होते हैं। इनमेसे प्रत्येक ज्ञान पाँच इन्द्रिय और मनके द्वारा होता है। अतएव ४८×६=२८८ अर्थावग्रह सहित मतिज्ञानके भेद है।

अस्पष्ट पदार्थके अवग्रहको व्यजनावग्रह और स्पष्ट पदार्थके अवग्रहको अर्थावग्रह कहा जाता है। अर्थावग्रह, ईहा, अवाय और धारणा ये ज्ञान सभी इन्द्रियोसे उत्पन्न होते है। पर व्यजनावग्रह चक्षु और मनसे उत्पन्न नही होता। यत चक्षु और मन पदार्थको दूरसे ही ग्रहण करते हैं, उनसे स्पृष्ट होकर नही। अत व्यजनावग्रह चार ही इन्द्रियोसे होता है। इस प्रकार व्यजनावग्रहके बहु आदि बारह विषयोकी अपेक्षा १२×४=४८ भेद है। अतएव मतिज्ञान-के कुल २८८+४८=३३६ भेद होते है। इस साव्यवहारिक प्रत्यक्षके अन्तर्गत मतिज्ञानका विशेष वर्णन निहित है।

श्रुतज्ञान

श्रुतज्ञान मतिज्ञानपूर्वक होता है। अर्थात् मतिज्ञानके निमित्तसे श्रुतज्ञानको उत्पत्ति होती है। सर्वप्रथम पाँच इन्द्रिय और मन इनमेसे किसी एकके निमित्तसे किसी भी विद्यमान वस्तुका मतिज्ञान होता है। तदनन्तर इस मतिज्ञानपूर्वक उस ज्ञात हुई वस्तुके विषयमे या उसके सम्बन्धसे अन्य वस्तुके विषयमे विशेष चिन्तन आरम्भ होता है, यह श्रुतज्ञान कहलाता है। मनका विषय श्रुत है और श्रुतका अर्थ शब्द सकेत आदिके माध्यमसे होनेवाला ज्ञान है। मनका व्यापार अर्थावग्रहसे आरम्भ होता है। वह पटुतर है। पदार्थके सबध सबध होते ही पदार्थको जान लेता है। अतएव इसे व्यंजनावग्रहकी आवश्यकता नही होती है। इन्द्रियोके साथ मनका सम्बन्ध होता है और मन शब्द-सकेत आदिके माध्यमसे श्रुतको ग्रहण करता है। शब्द कान द्वारा सुनाई पडता है, पर अर्थबोध मन द्वारा होता है। गाडीका सिगनल डाउन होना, यह चक्षुका विषय है, पर यह किस बातका सकेत करता है, इसे चक्षु नही जानती है। उसके सकेतको समझना मनका कार्य है और यही श्रुतज्ञानका विषय है। वस्तुके सामान्यरूपके ग्रहणके अनन्तर ज्ञानधाराका प्राथमिक अल्प अश अनक्षर ज्ञान होता है। उसमे शब्द-अर्थका सम्बन्ध, पूर्वापरका अनुसधानविकल्प एवं विशेष धर्मोका पर्यालोचन नही होता। ईहाके पश्चात् चिन्तनकी प्रक्रिया आरम्भ होती है और यह अन्तर्जल्पाकार ज्ञान ही श्रुतज्ञान है। मनोमूलक अवग्रहके पश्चात् होनेवाले ईहादि मनके होते हैं। मन मतिज्ञान और श्रुतज्ञान दोनोका साधन है। यह श्रुत शब्दके माध्यमसे पदार्थको तो जानता ही है। साथ ही शब्दका सहारा लिए विना शुद्ध अर्थको भी जानता है। साधारणत अर्थाश्रयी ज्ञान इन्द्रिय और मन दोनोको होता है। शब्दाश्रयी केवल मनको ही होता है। अत. स्वतन्त्ररूपमे 'श्रुत' मनका विषय है।

ज्ञान दो प्रकारका है (१) अर्थाश्रयी और (२) श्रोत्राश्रयी। सामान्य जलको देखकर नेत्रोसे निकलनेवाले पानीका ज्ञान होता है, यह अर्थाश्रयी ज्ञान है। 'पानी' शब्दके द्वारा 'पानी द्रव्य'का ज्ञान होता है, यह श्रोत्राश्रयी ज्ञान है। श्रोत्राश्रयी और अर्थाश्रयी ज्ञान मनको होता रहता है, पर इन्द्रियोको अर्थाश्रयी ज्ञान ही होता है।

वाच्य-वाचकके सम्बन्धसे होनेवाले ज्ञानका नाम श्रुतज्ञान है। इसे शब्द-ज्ञान या आगमज्ञान भी कहा जाता है। श्रुतका मनन या चिन्तनात्मक जितना भी ज्ञान होता है उसकी गणना श्रुतज्ञानमे है। श्रुतज्ञानको मतिपूर्वक माना जाता है। इन दोनोका कार्य कारण-सम्बन्ध है। मतिकारण है और श्रुत कार्य

है। श्रुतज्ञान शब्द, संकेत और स्मरणसे अर्थबोधक है। अमुक शब्दका अमुक अर्थमें संकेत है, यह जाननेके पश्चात् ही उस शब्दके द्वारा ही उसके अर्थका बोध होता है। संकेतको मतिज्ञान जानता है। उसके अवग्रहादि होते हैं। पश्चात् श्रुतज्ञान होता है। द्रव्यश्रुत मतिज्ञानका कारण बनता है, पर भावश्रुत उसका कारण नहीं बनता, विषय बनता है। कारण तब कहा जाता है जब श्रुतज्ञान शब्दके द्वारा श्रोत्रको उसके अर्थकी जानकारी प्राप्त कराये।

श्रुतज्ञानके अक्षरात्मक और अनक्षरात्मक दो भेद हैं। अङ्गबाह्य और अङ्गप्रविष्ट ये भी श्रुतके दो भेद हैं। इनमेंसे अङ्गबाह्यके अनेक भेद हैं और अङ्गप्रविष्टके आचाराङ्ग आदि बारह भेद हैं।

पारमार्थिक प्रत्यक्ष

आत्ममात्र सापेक्ष साक्षात् अतीन्द्रिय ज्ञानको मुख्य या पारमार्थिक प्रत्यक्ष कहा जाता है। यह प्रत्यक्ष सम्पूर्णरूपसे विशद होता है। यह आत्मासे उत्पन्न होता है। इन्द्रिय और मनके व्यापारकी इसमे आवश्यकता नहीं होती। इसके दो भेद हैं (१) विकल प्रत्यक्ष और (२) सकल प्रत्यक्ष। अवधिज्ञान और मनःपर्ययज्ञान विकल प्रत्यक्ष हैं और केवलज्ञान सकल प्रत्यक्ष।

अवधिज्ञान

अवधिज्ञानावरण और वीर्यान्तरायके क्षयोपशमसे उत्पन्न होनेवाला ज्ञान अवधिज्ञान है। यह पुद्गलादिरूपी द्रव्योंको ही विषय करता है, आत्मादि अरूपी द्रव्यको नहीं। यह पुद्गलद्रव्य और पुद्गलद्रव्यसे सम्बद्ध जीवद्रव्यकी कतिपय मर्यादाओंको जानता है, यतः संसारी जीव कर्मों से बँधा होनेसे मूर्त्तिक जैसा ही हो रहा है। अवधिज्ञानकी द्रव्य, क्षेत्र, काल और भावकी मर्यादा निश्चित है।

अवधिज्ञानके तीन भेद हैं (१) देशावधि, (२) परमावधि और (३) सर्वावधि। प्रकारान्तरसे अवधिज्ञानके दो भेद हैं (१) भवप्रत्यय और, (२) क्षयोपशमनिमित्त गुणप्रत्यय। भवप्रत्यय अवधिज्ञानका कारण भव जन्म ही है। देवों या नारकियोंमें जन्म लेते ही अवधिज्ञानावरणकर्मका क्षयोपशम हो जाता है। यहाँ क्षयोपशम होनेमें भव ही मुख्य कारण है। इस सन्दर्भमें यह ज्ञातव्य है कि सम्यग्दृष्टियोंके अवधिज्ञान होता है और मिथ्यादृष्टियोंके कुअवधिज्ञान होता है। अवधिज्ञानावरणकर्मका क्षयोपशम जिसमें निमित्त रहता है, वह क्षयोपशमनिमित्तक या गुणप्रत्यय अवधिज्ञान कहलाता है। यों तो सभी अवधिज्ञान क्षयोपशमके निमित्तसे उत्पन्न होते हैं, फिर भी इस अवधिज्ञानका नाम क्षयोपशमनिमित्तक इसलिए रखा है कि इसके होनेमें क्षयोपशम ही प्रधान

कारण है, भव नहीं। इसीसे इसे गुणप्रत्यय भी कहा जाता है। यह मनुष्य और तिर्यंचोंके उत्पन्न होता है। इसके छ भेद होते हैं (१) अनुगामी, (२) अननुगामी, (३) वर्धमान, (४) हीयमान, (५) अवस्थित और (६) अनवस्थित। जो अवधिज्ञान अपने स्वामी जीवके साथ-साथ जाता है, उसे अनुगामी कहते हैं। इसके भी तीन भेद हैं (१) क्षेत्रानुगामी, (२) भवानुगामी और (३) उभयानुगामी। जिस जीवके जिस क्षेत्रमे अवधिज्ञान उत्पन्न हुआ है, वह जीव यदि दूसरे क्षेत्रमे जाय तो उसके साथ अवधिज्ञान भी जाय, छूटे नही, उसे क्षेत्रानुगामी कहते हैं। जो अवधिज्ञान परलोकमे भी जीवके साथ जाता है, वह भवानुगामी एव जो अन्य क्षेत्र और अन्य भव जन्ममे साथ जाय, उसे उभयानुगामी कहते हैं।

जो अवधिज्ञान उत्पत्तिस्थानके छोड देनेपर स्थित नही रहता या जन्मान्तरमे साथ नही जाता, वह अननुगामी है। जो अवधिज्ञान उत्पत्तिकालमे अल्प होनेपर भी परिणामोकी विशुद्धिके कारण उत्तरोत्तर वृद्धिगत होता है, वह वर्धमान है। संक्लेश-परिणामोकी वृद्धिके कारण जो अवधिज्ञान उत्पत्तिकालसे लेकर उत्तरोत्तर क्षीण होता जाता है, वह हीयमान अवधिज्ञान है। जो अवधिज्ञान अपने उत्पत्तिकालसे लेकर मरणपर्यन्त एक-सा बना रहता है, न घटता है और न बढता है, वह अवस्थित अवधिज्ञान है। जलतरगोके समान जो अवधिज्ञान कभी घटता है, कभी बढता है और कभी अवस्थित रहता है, वह अनवस्थित अवधिज्ञान है।

देशावधि क्षयोपशमनिमित्तक होनेके कारण मनुष्य और तिर्यञ्चोंके उत्पन्न होता है। परमावधि और सर्वावधि चरमशरीरी मुनिके ही होते हैं। देशावधि प्रतिपाती होता है अर्थात् केवलज्ञान उत्पन्न होनेके पहले छूट जाता है, पर सर्वावधि और परमावधि प्रतिपाति नही होते। अवधिज्ञान सूक्ष्मरूपसे एक परमाणुको विषय करता है।

अवधिज्ञानका विषय

द्रव्यकी अपेक्षा जघन्य	मूर्त्तिमान द्रव्य।
,, ,, उत्कृष्ट	परमाणु।
क्षेत्रकी अपेक्षा जघन्य	एक अगुलका असख्यातवाँ भाग।
क्षेत्रकी अपेक्षा उत्कृष्ट	असख्यक्षेत्र-असख्यात लोकप्रमाण।
कालकी अपेक्षा जघन्य	एक आवलिका असख्यातवाँ भाग।
,, उत्कृष्ट	असख्यकाल।
भावकी अपेक्षा जघन्य—	अनन्तभव पर्याय।
,, उत्कृष्ट	अनन्तपर्यायोका अनन्तभाग।

मन:पर्ययज्ञान

अन्य व्यक्तियोके मनकी बातोको जानना मन पर्यय है। यह ज्ञान मनके प्रवर्त्तक या उत्तेजक पुद्गलद्रव्योको साक्षात् जाननेवाला है। चिन्तक जैसा सोचता है, उसके अनुरूप पुद्गलद्रव्योकी आकृतियाँ पर्यायें बन जाती हैं। ये पर-मनस्थितपर्यायें मन पर्ययज्ञानके द्वारा जानी जाती है। वस्तुत मन पर्ययका अर्थ है मनकी पर्यायोका ज्ञान।

सारांश यह है कि सज्ञी समनस्क जीवोके मनमे जितने विकल्प उत्पन्न होते हैं, संस्काररूपसे वे उसमे अवस्थित रहते हैं। मन पर्ययज्ञान संस्काररूपसे स्थित मनके इन्ही विकल्पोको जानता है। मन पर्ययज्ञानी पहले मतिज्ञान द्वारा अन्यके मानसको ग्रहण करता है और तदनन्तर मन.पर्ययज्ञानकी अपने विषयमे प्रवृत्ति होती है।

मन पर्ययज्ञानके दो भेद हैं (१) ऋजुमति और (२) विपुलमति। ऋजुमति सरल मन, वचन और कायसे विचार किये गये पदार्थको जानता है, पर विपुलमति सरल और कुटिल दोनो तरहसे विचारे गये पदार्थोको जानता है। यह ज्ञान देव, मनुष्य और तिर्यंच सभीके मनमे स्थित विचारको अवगत करता है, किन्तु वह विचार रूपीपदार्थ अथवा ससारी जीवके विषयमे होना चाहिए।

ऋजुमति और विपुलमतिमे विशुद्धि और सूक्ष्मताकी अपेक्षा अन्तर है। ऋजुमति केवलज्ञानकी प्राप्ति होनेके पहले छूट जाता है, पर विपुलमति केवलज्ञानकी प्राप्तिपर्यन्त बना रहता है और केवलज्ञान होनेपर ही छूटता है।

अवधिज्ञान और मन पर्ययज्ञानमे विशुद्धि, क्षेत्र, स्वामी और विषयकी अपेक्षा अन्तर है। अवधिज्ञान द्वारा ज्ञात किये गये पदार्थके अनन्तवे भागको मन.पर्ययज्ञान जानता है।

मन पर्ययज्ञानका विषय[1]

अवधिज्ञानकी अपेक्षा मन पर्ययज्ञानका विषय अत्यन्त सूक्ष्म है।

१. अवरं दव्वमुरालियसरीरणिजिण्णसमयपवद्धं तु।
चक्खिदियणिज्जण्ण उक्कस्सं उजुमदिस्स हवे ॥
मणदव्ववग्गणाणमणतिमभागेण उजुगउक्कस्सं।
खडिदमेत्तं होदि हु विउलमदिस्सावरं दव्वं ॥
अट्ठण्हं कम्माण समयपवद्धं विविस्ससोवचय।
धुवहारेणिगिवार भजिदे विदिय हवे दव्व ॥

गोम्मटसार जीवकाण्ड गाथा ४५०-४५२ तथा ४५३-४५८

द्रव्यापेक्षया	मनरूपमें परिणत पौद्गलिक मनोवर्गणाएँ पुद्गलपरमाणुका अनन्तवाँ भाग।	
क्षेत्रापेक्षया	मनुष्यक्षेत्र	मनुष्यक्षेत्रके भीतर स्थित मनुष्यके मनकी पर्यायें।
कालापेक्षया	अतीत, अनागत असख्यातकाल-सम्बन्धी मनकी पर्यायें।	
भावापेक्षया	मनोवर्गणाकी अनन्त अवस्थाएँ।	

केवलज्ञान

आत्मामे भूत, भविष्यत् और वर्तमानमे स्थित समस्त द्रव्य और उनकी समस्त पर्यायोको जाननेकी क्षमता है, पर आत्माकी यह क्षमता ज्ञानावरणकर्म द्वारा आवृत रहती है। समस्त ज्ञानावरणकर्मके समूल नाश होनेपर प्रादुर्भूत होनेवाला निरावरणज्ञान केवलज्ञान है। यह आत्ममात्र सापेक्ष होता है। इस ज्ञानके उत्पन्न होते ही समस्त क्षायोपशमिकज्ञान विलीन हो जाते है। यह समस्त द्रव्योकी त्रिकालवर्त्ती समस्त पर्यायोको जानता है। यह पूर्णत निर्मल और अतीन्द्रियज्ञान है।

जब आत्मा ज्ञानस्वभाव है और आवरणके कारण इसका यह ज्ञानस्वभाव खण्ड-खण्ड करके प्रकट होता है, तब सपूर्ण आवरणके विलीन होनेसे ज्ञानको अपने पूर्णरूपमे प्रकाशमान होना चाहिए। यथा अग्निका स्वभाव जलानेका है, यदि कोई प्रतिबन्ध न हो तो अग्नि ईन्धनको जलायेगी ही। इसी प्रकार ज्ञान-स्वभाव आत्मा प्रतिबन्धकोके हट जानेपर जगतके समस्त पदार्थो को जानेगी।

जो पदार्थ किसी ज्ञानके ज्ञेय है, वे किसी-न-किसीके प्रत्यक्ष अवश्य होते है, यथा पर्वतीय अग्नि।[1] इस प्रकार युक्तिद्वारा भी त्रिकालज्ञ केवलज्ञानकी सिद्धि होती है। जिसे केवलज्ञानकी प्राप्ति हो जाती है, वह सर्वज्ञ हो जाता है।[2] यह सर्वज्ञता मुख्य, निरूपाधिक एव निरवधि है।

परोक्षप्रमाण

अविशद ज्ञानको परोक्ष कहा जाता है। जिस ज्ञानमे ज्ञानान्तरका व्यवधान हो अथवा जो इन्द्रिय, मन, उपदेश, प्रकाश आदिकी सहायतासे उत्पन्न होता हो, उसे परोक्ष कहते हैं। वस्तुत जिस ज्ञानमे परकी अपेक्षा रहती है, वह

१. ज्ञो ज्ञेये कथमज्ञ स्यादसति प्रतिबन्धके।
दाह्येऽग्निर्दाहको न स्यादसति प्रतिबन्धके॥

अष्टसाहस्री, पृ० ५० पर उद्धृत

२ प्रवचनसार-ज्ञानाधिकार गाथा-४६-५१, अष्टशती-कारिका ११४, जयधवला प्रथम भाग, पृ० ६६

परोक्ष प्रमाण है। परोक्ष ज्ञानके पाँच प्रकार हैं (१) स्मरण, (२) प्रत्यभिज्ञान, (३) तर्क, (४) अनुमान और (५) आगम।

स्मृति या स्मरण

संस्कारका उद्बोध होनेपर स्मृति उत्पन्न होती है। धारणारूप संस्कार-को प्रकटताके निमित्तसे होनेवाले और 'वह' इस प्रकारके आकारवाले ज्ञान-को स्मृति कहते हैं। उदाहरणार्थ यों कहा जा सकता है कि किसी व्यक्तिने पहले देवदत्त नामक पुरुषको देखा और उसने उसके सम्बन्धमें अवधारणा कर ली। पश्चात् धारणारूप संस्कार उद्बुद्ध हुआ और उसे स्मरण आया कि वह देवदत्त है। इस प्रकार स्मरणरूप ज्ञानको स्मृति माना जाता है।[1] यद्यपि स्मरण-का विषयभूत पदार्थ सामने नही है, तो भी वह हमारे पूर्व अनुभवका विषय तो था ही और उस अनुभवका दृढ संस्कार हमे सादृश्य आदि अनेक निमित्तोंसे उस पदार्थको मनमे अंकित कर देता है। स्मरणके कारण ही विश्वमें लेन-देन आदिकी व्यवस्था चलती है। व्याप्तिस्मरणके विना अनुमान और संकेतस्मरण-के विना शब्दप्रयोग सम्भव ही नहीं है। गुरु-शिष्यादि सम्बन्ध, पिता-पुत्रभाव तथा अन्य अनेक प्रकारसे प्रेम, घृणा, करुणा आदि मूलक समस्त जीवन-व्यवहार स्मरणके द्वारा ही चलते हैं।

कुछ चिन्तक ग्रहीतग्राही और अर्थसे अनुत्पन्न होनेके कारण स्मृतिको प्रमाण नहीं मानते। पर उनकी यह मान्यता व्यवहारमे बाधक है। अनुभव जिस पदार्थको जिस रूपमे ग्रहण करता है, स्मृति उसे उसी रूपमे जानती है। न वह उसके किसी नये अंशका बोध कराती है और न किसी अनुभूत अंशको छोड़ती ही है।[2] 'ग्रहीतग्राहिता भी अप्रमाणताका कारण नही है। यत. स्मृति द्वारा स्मरण किये गये अर्थमे अविसंवादिता और समारोपविच्छेदकता विद्यमान है। दूसरी बात यह है कि धारणा नामक अनुभव पदार्थको 'इदम्' रूपसे जानता है। जबकि संस्कारसे होनेवाली स्मृति उसी पदार्थको 'तत्' रूपसे जानती है। इस प्रकार स्मृतिके विषयमे ग्रहीत-ग्राहिता दोष नही आता।

१. संस्कारोद्बोधनिबन्धना तदित्याकारा स्मृति ॥३॥
संस्कारस्योद्बोध. प्राकट्य स निबन्धन यस्याः सा यथोक्ता।
तदित्याकारा तादित्युल्लेखिनी। एवम्भूता स्मृतिर्भवतीति शेष।

प्रमेयरत्नमाला, ३-३, पृ० १३५.

२ सर्वे प्रमाणादयोऽनधिगतमर्थं सामान्यत प्रकारतो वाऽधिगमयन्ति, स्मृति पुनर्न पूर्वानुभवमर्यादामतिक्रामति, तद्विषया तदूनविषया वा, न तु तदधिकविषया, सोऽय वृत्त्यन्तराद्विशेष स्मृतेरिति विमृशति। तत्ववैशा० (चौखम्बा-संस्करण) १।१७

स्मृतिकी अविसंवादिता स्वतः सिद्ध है। अन्यथा अनुमानकी प्रवृत्ति, शब्द-व्यवहार और विश्वके अन्य समस्त व्यवहार निरर्थक हो जायेंगे। यह सम्भव है कि जिस स्मृतिके विषयमें विसंवाद हो उसे अप्रमाण माना जा सकता है।

विस्मरण, संशय और विपर्यासरूपी समारोपका निराकरण स्मृतिके द्वारा होता है। अतः इसे अविसंवादी होनेके कारण प्रमाण मानना पड़ेगा। अनुभव-परतन्त्र होनेके कारण स्मृतिको परोक्ष तो माना जा सकता है, पर अप्रमाण नहीं।

प्रत्यभिज्ञान

वर्त्तमान प्रत्यक्ष, और अतीत स्मरणसे उत्पन्न होनेवाला संकलनात्मक ज्ञान प्रत्यभिज्ञान कहलाता है।[1] यह संकलन एकत्व, सादृश्य, वैसादृश्य, प्रतियोगी, आपेक्षिक आदि अनेक प्रकारका होता है। वस्तुतः पूर्वोत्तरविवर्त्तवर्ती वस्तु-को विषय करनेवाले प्रत्ययको प्रत्यभिज्ञान कहा जाता है। प्रत्यवमर्श, संज्ञा और प्रत्यभिज्ञा ये उसीके पर्याय नाम हैं। प्रत्यभिज्ञानमें प्रत्यक्ष और स्मरण-इन दोनोंका समुच्चय रहता है। 'यह' अंशको विषय करनेवाला ज्ञान तो प्रत्यक्ष है और 'वह' अंशको ग्रहण करनेवाला ज्ञान स्मरण है।[2] इस प्रकार दो ज्ञानोंका संकलन या समुच्चय प्रत्यभिज्ञानमें पाया जाता है।

यह वही है, इस प्रकार वर्त्तमानका प्रत्यक्ष और उसके अतीतका स्मरण पूर्वक एकत्वका मानसिक संकलन एकत्वप्रत्यभिज्ञान कहलाता है। इसी प्रकार 'गाय सरीखा गवय' होता है। इस वाक्यको सुनकर कोई व्यक्ति वनमें गायके समान पशुको देखकर उस वाक्यका स्मरण करता है और अनन्तर मन-में निश्चय करता है कि यह गवय है। इस प्रकार सादृश्यविषयक संकलन, सादृश्यविषयक प्रत्यभिज्ञान है। 'गायसे विलक्षण भैंस होती हैं'। इस वाक्य-को सुनकर जिस वाड़ेमें गाय और भैंस दोनों ही विद्यमान है, वहाँ पहुँचनेवाला व्यक्ति गायसे विलक्षण पशुको देखकर उक्त वाक्यका स्मरण करता है और निश्चय करता है कि यह भैंस है। यह वैलक्षण्यविषयक वैसादृश्यप्रत्यभिज्ञान है। इसी प्रकार यह इससे दूर है, इत्याकारक आपेक्षिक प्रत्यभिज्ञान, परि-

१ दर्शनस्मरणकारणकं सङ्कलनं प्रत्यभिज्ञानम्। तदेवेदं तत्सदृशं तद्विलक्षणं तत्प्रतियोगीत्यादि ॥ परीक्षामुख ३।५

२ ननु च तदेवेत्यतीतप्रतिभासस्य स्मरणरूपत्वाद्, इदमिति संवेदनस्य प्रत्यक्षरूपत्वात् संवेदनद्वितयमेवैतत् तादृशमेवेदमिति स्मरणप्रत्यक्षसंवेदनद्वितयवत्। ततो नैकं ज्ञानं प्रत्यभिज्ञाख्यं प्रतिपद्यमानं सम्भवति। प्रमाणपरीक्षा, पृ० ६९

चायक प्रत्यभिज्ञान आदि भी प्रत्यक्ष और स्मरणके सकलनसे घटित होते हैं। आशय यह है कि 'दर्शन' और 'स्मरण' को निमित्त बनाकर जितने भी एकत्वादि विषयक मानसिक सकलन होते है, वे सभी प्रत्यभिज्ञान है और ये सभी प्रकारके प्रत्यभिज्ञान अपने विषयमे अविसवादी और समारोपव्यवच्छेदक होनेसे प्रमाण हैं। यथार्थत यह ज्ञान न तो अप्रमाण है और न प्रत्यक्षप्रमाण ही है। किन्तु यह प्रत्यक्ष और स्मरणके अनन्तर उत्पन्न होनेवाला और 'पूर्व' एव 'उत्तर' पर्यायोमे रहनेवाले एकत्व, सादृश्य आदिको विषय करनेवाला होनेसे स्वतन्त्र परोक्षप्रमाण है।[1]

यदि प्रत्यभिज्ञानका लोप किया जाय, तो अनुमानकी प्रवृत्ति नही हो सकती है। जिस व्यक्तिने पहले अग्नि और धूमके कार्य-कारणभावका ग्रहण किया है, वही व्यक्ति जब पूर्व धूमके सदृश अन्य धूएँको देखता है, तब ग्रहीत कार्य-कारणभावका स्मरण आनेपर ही अनुमान कर पाता है। प्रत्यभिज्ञानके न माननेसे न तो अनुमानकी ही सिद्धि होगी और न एकत्व, सादृश्य और विलक्षण आदि प्रत्यय ही घटित हो सकेगे।

प्रत्यभिज्ञानका प्रत्यक्षमे भी अन्तर्भाव नही किया जा सकता है। यत चक्षु आदि इन्द्रियाँ सम्बद्ध और वर्त्तमान पदार्थको ही विषय करती है। अत वे स्मृतिकी सहायता लेकर भी अविषयमे प्रवृत्ति नही कर सकती। 'पूर्व' और 'उत्तर' पर्यायमे रहनेवाला एकत्व इन्द्रियोका अविषय है। यदि इन्द्रियाँ अविषयको ग्रहण करें, तो गन्ध-स्मरणकी सहायतासे चक्षुको गन्धका भी परिज्ञान हो जाना चाहिए। सैकडो सहकारी मिलनेपर भी अविषयमे प्रवृत्ति नही हो सकती। यदि इन्द्रियोसे ही प्रत्यभिज्ञान उत्पन्न होता है, तो प्रथम प्रत्यक्ष कालमे ही उसे उत्पन्न होना चाहिये था।

'स एवाऽयम्' इस प्रतीतिको एक ज्ञान मानकर भी उसे इन्द्रियजन्य नही कहा जा सकता। अतएव इसे स्मरण और प्रत्यक्षपूर्वक होनेवाला सकलनात्मक स्वतन्त्र ज्ञान मानना पडेगा। यह अबाधित है, अविसवादी है और है समारोपक।

१ स्मरणप्रत्यक्षजन्यस्य पूर्वोत्तरविवर्त्तवर्त्त्येकद्रव्यविपयस्य प्रत्यभिज्ञानस्यैकस्य सुप्रतीतत्वात्। न हि तदिति स्मरण तथाविधद्रव्यव्यवसायात्मक, तस्यातीतविवर्त्तमात्रगोचरत्वात्। नापीदमिति सवेदन, तस्य वर्त्तमानविवर्त्तमात्रविषयत्वात्। ताभ्यामुपजन्य तु सकलनज्ञान तदनुवादपुरस्सर द्रव्यं प्रत्यवमृशत् ततोऽन्यदेव प्रत्यभिज्ञानमेकत्वविषयं, तदपह्नवे क्वचिदेकान्वयाव्यवस्थानात् सन्तानैकत्वसिद्धिरपि न स्यात्।

प्रमाणपरीक्षा, पृ० ६९,७०.

विच्छेदक। अतएव प्रत्यभिज्ञानकी गणना प्रमाणकोटिमे है, जो प्रत्यभिज्ञान बाधित या विसंवादी होता है, उसे प्रमाणाभास या अप्रमाण माना जा सकता है।

सादृश्य प्रत्यभिज्ञानमे उपमानका अन्तर्भाव

सादृश्यप्रत्यभिज्ञानको कुछ चिन्तक उपमान प्रमाण मानते है। उनका अभिमत है कि जिस व्यक्तिने गायको देखा है, जब वह जगलमे गवयको देखता है और उसे पूर्व दृष्ट गौका स्मरण आता है, तब 'इसके समान वह है' इस प्रकारका उपमान उत्पन्न होता है। यो तो गवयनिष्ठ सादृश्य प्रत्यक्षका विषय है और गोनिष्ठ सादृश्यका स्मरण आ रहा है, फिर भी 'इसके समान वह है' इस प्रकारका विशिष्ट ज्ञान उपमान प्रमाण है। यदि इस प्रकार साधारण विषयभेदसे प्रमाणोकी सख्या बढायी जाय, तो वैलक्षण्य, प्रातियोगिक, आपेक्षिक आदि प्रमाण भी पृथक् सिद्ध हो जायगे। अतएव सक्षेपमे उपमानका अन्तर्भाव सादृश्यप्रत्यभिज्ञानमे सम्भव है।[1]

सादृश्यप्रत्यभिज्ञानको अनुमान भी नही कहा जा सकता है, क्योकि अनुमान करते समय लिगका सादृश्य अपेक्षित है। इस सादृश्यज्ञानको भी अनुमान माननेपर उस अनुमानके अन्य लिगसादृश्यका ज्ञान आवश्यक होगा। इस प्रकार अनवस्थादूषण आ जायगा। अतएव प्रत्यभिज्ञान अविसवादी है, सम्यग्ज्ञान है और प्रमाणभूत है।

तर्क

सामान्यतया विचारविशेषका नाम तर्क है। इसके चिन्ता, ऊहा, ऊहापोह आदि पर्यायान्तर है। न्यायकी दृष्टिसे व्याप्तिके ज्ञानको तर्क कहा गया है।[2] साध्य और साधनके सार्वकालिक, सार्वदेशिक और सार्वव्यक्तिक अविनाभाव सम्बन्धको व्याप्ति कहते हैं। अविनाभाव शब्दका अर्थ है साध्यके बिना साधन-

---

१ उपमान प्रसिद्धार्थसाधर्म्यात्साध्यसाधनम्।
तद्वैधर्म्यात् प्रमाणं किं स्यात्सज्ञिप्रतिपादकम्॥ लघीयस्त्रय, श्लोक १९

२ उपलम्भानुपलम्भनिमित्त व्याप्तिज्ञानमूह।
इदमस्मिन् सत्येव भवत्यसति न भवत्येवेति च॥ परीक्षा० ३।७, ८.
उपलम्भ. प्रमाणमात्रमत्र गृह्यते। यदि प्रत्यक्षमेवोपलम्भशब्देनोच्यते तदा साधनेषु अनुमेयेषु व्याप्तिज्ञान न स्यात्। अथ व्याप्ति सर्वोपसहारेण प्रतीयते, सा कथमतीन्द्रियस्य साधनस्यातीन्द्रियेण साध्येन भवेदिति? नैवम्, प्रत्यक्षविषयेष्विवानुमानविषयेष्वपि व्याप्तेरविरोधात् तज्ज्ञानस्याप्रत्यक्षत्वाभ्युपगमात्। प्रमे र. ३।७,८.

का न होना। साधनका साध्यके होनेपर ही होना, अभावमे बिल्कुल न होना। इस नियमको सर्वोपसहाररूपसे ग्रहण करना तर्क है। प्रमाणसे जाना हुआ पदार्थ तर्क द्वारा पुष्ट होता है। प्रमाण जहाँ पदार्थोंको जानता है, वहाँ तर्क उनका पोषण करके उनकी प्रमाणताके स्थिरीकरणमे सहायता पहुँचाता है।

तर्ककी प्रक्रियानुसार व्यक्ति सर्वप्रथम कार्य और कारणका प्रत्यक्ष करता है और अनेक बार प्रत्यक्ष होनेपर, वह उसके अन्वय-सम्बन्धकी भूमिकापर झुकता है। साध्यके अभावमे साधनका अभाव देखकर व्यतिरेकके निश्चय द्वारा उस अन्वय ज्ञानको निश्चयात्मक रूप देता है। प्रक्रियाद्वारा यो कहा जा सकता है कि जैसे किसी व्यक्तिने सर्वप्रथम 'महानस' -भोजनशालामे अग्नि देखी, तथा अग्निसे उत्पन्न होता हुआ धुवाँ भी देखा। पश्चात् किसी तलावमे अग्निके अभावसे धुएँका अभाव जाना। पश्चात् रसोईघरमे अग्निसे धुआँ निकलता हुआ देखकर यह निश्चय करता है कि अग्नि कारण है और धूम कार्य है। यह उपलम्भ और अनुपलम्भनिमित्तक सर्वोपसहार करनेवाला विचार तर्ककी सीमा-मे समाहित है। इसमे प्रत्यक्ष, स्मरण, और सादृश्यप्रत्यभिज्ञान कारण होते हैं। इन सबकी पृष्ठभूमिपर 'यत्र-यत्र यदा-यदा धूम होता है, तत्र-तत्र, तदा-तदा अग्नि अवश्य रहती है' इस प्रकारका एक मानसिक विकल्प उत्पन्न होता है। इसे ऊह या तर्क कहते हैं। तर्कका क्षेत्र केवल प्रत्यक्षके विषयभूत साध्य और साधन ही नही है, अपितु अनुमान और आगमके विषयभूत प्रमेयोमे भी अन्वय और व्यतिरेक द्वारा अविनाभावका निश्चय करना तर्कका कार्य है। तर्क भी अपने विषयमे अविसवादी है। अतएव वह अन्य प्रमाणोका अनुग्राहक है। जिस तर्कमे विसवाद पाया जाता है, उसे तर्काभास कह सकते हैं।

अनुमान

साधनसे साध्यके ज्ञानको अनुमान कहते हैं। अनुमानशब्द अनु + मानसे निष्पन्न है, जिसका अर्थ लिङ्गग्रहण और व्याप्तिस्मरणके पश्चात् होनेवाला ज्ञान है। यथार्थत व्याप्तिनिर्णयके पश्चात् होनेवाला मान प्रमाण अनुमान कहलाता है। यह ज्ञान अविशद होनेसे परोक्ष है। पर अपने विषयमे अविसवादी और सशय, विपर्यय, अनध्यवसाय आदि समारोपोका निराकरण करनेके कारण प्रमाणभूत है। साधनसे साध्यका नियत ज्ञान अविनाभावके बलसे ही होता है। साधनको देखकर पूर्वगृहीत अविनाभावका स्मरण होता है। तदनन्तर जिस साधनसे साध्यकी व्याप्ति ग्रहण की जाती है, उस साधनके साथ वर्तमान साधनका सादृश्यप्रत्यभिज्ञान किया जाता है, तब साध्यका अनुमान होता है। वस्तुत अविनाभाव अनुमानका मूल आधार है। अविनाभाव सहभावनियम और

क्रमभावनियमरूप होता है। सहचारियो रूपरसादिको और व्याप्य-व्यापको शिशपात्व-वृक्षत्वादिकमे सहभावनियम होता है तथा पूर्वचर-उत्तरचरो और कार्य-कारणोमे क्रमभावनियम होता है। अविनाभावको तादात्म्य और तदुत्पत्ति-से ही नियन्त्रित नही किया जा सकता। जिनमे परस्पर तादात्म्य नही है, ऐसे रूप-रसादिमे रूपसे रसका अनुमान तथा जिनमे परस्पर कार्यकारण-सबध नही है, ऐसे कृत्तिकोदय और शकटोदयमे कृत्तिकोदयको देखकर शकटोदयका अनुमान किया जाना तादात्म्य और तदुत्पत्ति-सम्बन्धसे पृथक् क्षेत्रवर्ती है। अत अनुमान-की मूलधुरा साध्य-साधनोके अविनाभाव व्याप्तिके निश्चयपर स्थित है।

सामान्यतया अविनाभावको तथोपपत्ति और अन्यथानुपपत्ति सज्ञाओसे प्रतिपादित किया है। साध्यके होनेपर साधनका होना तथोपपत्ति और साध्यके न होनेपर साधनका न होना अन्यथानुपपत्ति है। यथा अग्निके होनेपर धूमका होना और अग्निके न होनेपर धूमका न होना। यह तथोपपत्ति और अन्यथा-नुपपत्ति ही अनुमानकी नियामिकायें हैं। यो तो अनुमानके लिए अविनाभाव-सबधरूप व्याप्ति अपेक्षित है। साध्य और साधनभूत पदार्थोका धर्म व्याप्ति कहलाता है, जिसके ज्ञान और स्मरणसे अनुमानकी पृष्ठभूमि तैयार होती है। 'साध्यके विना साधनका न होना और साध्यके होनेपर ही होना' ये दोनो धर्म एक प्रकारसे साधननिष्ठ हैं। 'इसी प्रकार साधनके होनेपर साधनका होना ही' यह साध्यका धर्म है। साध्यके होनेपर ही साधनका होना अन्वय और साध्यके अभावमे साधनका न होना व्यतिरेक कहलाता है।

कुछ चिन्तकोने व्याप्तिग्रहणके निम्नलिखित साधन वतलाये है

१ भूय सहचार-दर्शन।
२ व्यभिचारज्ञान-विरह।
३. तर्क विपक्षबाधक तर्क।
४ अनुपलम्भ व्यतिरेक।
५ भूयो दर्शनजनित सस्कार।
६. सामान्यलक्षणा।
७. शब्द और अनुमान।

वस्तुत व्याप्तिका निश्चय तर्कसे होता है, जो उपलम्भ तथा अनुपलम्भ-पूर्वक होता है। यथा अग्निके होनेपर ही धूमका होना और अग्निके अभावमे धूमका न होना, इनका व्याप्तिसम्बन्ध है। व्याप्तिका ग्रहण तर्क द्वारा ही प्रतिष्ठित है। व्याप्तिके दो या तीन भेद प्राप्त होते हैं। तीन भेदोमे बहिर्व्याप्ति, सकलव्याप्ति

और अन्तर्व्याप्तिकी गणना है।[1]

सपक्षमे साध्यके साथ साधनको व्याप्ति होना वहिर्व्याप्ति है और पक्ष तथा सपक्ष दोनोमे साध्यके साथ साधनकी व्याप्ति होना सकलव्याप्ति है। पक्ष, सपक्ष न हो अथवा उनमे हेतु न रहे केवल साध्यके साथ साधनका अविनाभाव होनेसे अन्तर्व्याप्ति होती है।[2] इन त्रिविध व्याप्तियोमे आदि की दोनो व्याप्तियो-के न होनेपर भी अनुमानमे अन्तर्व्याप्तिके बलसे साधनको साध्यका गमक माना जाता है।[3] अन्तर्व्याप्तिके अभावमे अन्य दोनो व्याप्तियोका सद्भाव निरर्थक है। यथा 'स श्याम तत्पुत्रत्वात् इतरतत्पुत्रवत्' इस अनुमानमे वहिर्व्याप्ति और सकलव्याप्ति दोनो विद्यमान हैं, पर अन्तर्व्याप्तिके न होनेसे 'तत्पुत्रत्वात्' हेतु 'श्यामत्व' साध्यका गमक नही है। इसी प्रकार 'उदेष्यति शकट कृत्तिकोद-यात्' इस अनुमानमे न वहिर्व्याप्ति है और न सकलव्याप्ति है, किन्तु साधनकी साध्यके साथ अन्तर्व्याप्ति होनेसे कृत्तिकोदय हेतु शकटोदय साध्यका गमक है। अतएव अन्तर्व्याप्ति ही नियामक है।

१ 'सा च त्रिधा वहिर्व्याप्ति ' साकल्यव्याप्ति अन्तर्व्याप्तिश्चेति। 'प्रभाचन्द्र, प्रमेयक० मा० ३।१५ पृ० ३६४, अकलक, सिद्धिवि० ५।१५,१६ प्रमाणस० का० ३२,३३, पृष्ठ १०६। देवसूरि, प्र० न० त० ३।३८,३९। यशोविजय, जैनतर्कभा, पृष्ठ १२।

२ (क) पक्षीकृत एव विषये साधनस्य साध्येन व्याप्तिरन्तर्व्याप्तिः, अन्यत्र तु वहिर्व्या-प्तिरिति। वहि पक्षीकृताद्विषयादन्यत्र तु दृष्टान्तधर्मिणि तस्य तेन व्याप्तिर्वहि-र्व्याप्तिरभिधीयते। देवसूरि, प्रमाणनयत० ३।३९

(ख) पक्षे सपक्षे च सर्वत्र साध्यसाधनयो व्याप्ति सकलव्याप्ति।

सि० वि० टी० टिप्प ५।१६, पृष्ठ ३४७.

(ग) पक्ष एव साधनस्य साध्येन व्याप्तिरन्तर्व्याप्ति।

वही, पृ० ३४६

३ (क) अन्तर्व्याप्त्यैव साध्यस्य सिद्धौ वहिरुदाहृति।
व्यर्था स्यात्तदसद्भावेऽप्येव न्यायविदो विदु।

—सिद्धसेन, न्यायाव० का० २०

(ख) विनाशी भाव इति वा हेतुनैव प्रसिद्ध्यति।
अन्तर्व्याप्तावसिद्धाया वहिर्व्याप्तिरसाधनम्।
साकल्येन कथ व्याप्तिरन्तर्व्याप्त्या विना भवेत्।

अकलक, सि० वि० ५।१५, १६, पृ० ३४५-३४७। प्रमाणस०-३२-३३.

(ग) अन्तर्व्याप्त्या हेतो साध्यप्रत्यायने शक्तावशक्तौ च वहिर्व्याप्तेरुद्भावन व्यर्थम् इति। देवसूरि, प्र० न० त० ५।३८, पृ०५६२.

साधन या हेतु

जिसका साध्यके साथ अविनाभाव निश्चित है, उसे साधन कहते हैं।[1] अविनाभाव, अन्यथानुपपत्ति और व्याप्ति ये सब एकार्थक शब्द हैं। साधनका निश्चय अन्यथानुपपत्तिरूपसे ही होता है। वस्तुत साधन या हेतुके विना अनुमानकी उत्पत्ति ही नही हो सकती। कुछ चिन्तक हेतुका स्वरूप त्रिलक्षण अथवा पचलक्षण स्वीकार करते हैं, पर इन सभीका अन्तर्भाव अन्यथानुपपत्ति-रूप हेतुमे हो सकता है।

दूसरे, हेतुका त्रैरूप्य या पाचरूप्य नियम निर्दोष नही है, किन्तु अविनाभाव ऐसा व्यापक और व्यभिचारी लक्षण है, जो समस्त सद्हेतुओमे पाया जाता है और असद्हेतुओमे नही। परम्परासे 'अन्यथानुपपन्नत्व' को ही हेतुका अव्यभिचारी और प्रधान लक्षण कहा है, क्योकि 'समस्त पदार्थ क्षणिक है, यत वे सत् है' इस अनुमानमे सत्वहेतु सपक्षसत्वके अभावमे भी गमक है। अतएव अविनाभाव ही हेतुका वास्तविक नियामक लक्षण है। पक्षधर्मत्व आदिको हेतुका लक्षण माननेमे अतिव्याप्ति एव अव्याप्ति दोष आते हैं।

साध्य

इष्ट, अबाधित और असिद्ध पदार्थको साध्य कहते हैं।[2] जो प्रत्यक्षादि प्रमाणोसे अबाधित होनेके कारण सिद्ध करने योग्य है, वह शक्य है। वादीको इष्ट होनेसे जो अभिप्रेत है और सन्देह आदि युक्त होनेके कारण असिद्ध है, वही वस्तु साध्य होती है।

साध्यका अर्थ है सिद्ध करने योग्य अर्थात् असिद्ध। सिद्ध पदार्थका अनुमान व्यर्थ है। अनिष्ट तथा प्रत्यक्षादि बाधित पदार्थ साध्य नही बन सकते। अतएव अनुमानके प्रयोगमे साधनके समान साध्य भी एक आवश्यक अग है।

अनुमानके भेद

अनुमानके दो भेद हैं (१) स्वार्थानुमान और (२) परार्थानुमान। स्वय निश्चित साधनके द्वारा होनेवाले साध्यके ज्ञानको स्वार्थानुमान कहते है और अविनाभावी साधनके वचनोसे श्रोताको उत्पन्न होनेवाला साध्यज्ञान परार्थानुमान है। स्वार्थानुमाता किसी परके उपदेशके विना स्वय ही निश्चित अविनाभावी साधनके ज्ञानसे साध्यका ज्ञान प्राप्त करता है। उदाहरणार्थ जब वह धूमको

१ 'साध्याविनाभावित्वेन निश्चितो हेतु'।

परीक्षामुख ३।११

२ इष्टमबाधितमसिद्ध साध्यम्

वही, ३।१६

देखकर अग्निका ज्ञान; रसको चखकर उसके सहचर रूपका ज्ञान अथवा कृत्तिकाके उदयको देखकर एक मुहूर्त बाद होनेवाले शकटके उदयकाज्ञान प्राप्त करता है, तब उसका वह ज्ञान स्वार्थानुमान कहलाता है।

जब वही स्वार्थानुमाता उक्त हेतुओ और साध्योको कहकर दूसरोको उन साध्यसाधनोकी व्याप्ति ग्रहण कराता है तथा दूसरे उसके वचनोको सुनकर व्याप्ति ग्रहण करके उक्त हेतुओसे उक्त साध्योका ज्ञान करते है, तो दूसरोका वह अनुमान ज्ञान परार्थानुमान कहा जाता है और वे परार्थानुमाता माने जाते है। अत अनुमानके उपादानभूत हेतुका प्रयोजक तत्व अन्यथानुपपन्नत्व स्व और पर दोके द्वारा गृहीत होने तथा दोनो अन्यथानुपपन्नत्व-ग्रहीताओको अनुमान होनेसे स्वार्थानुमान और परार्थानुमान भेद सम्भव होते हैं। सक्षेपमे स्वार्थ स्व-प्रतिपत्तिका साधन और परार्थ पर-प्रतिपत्तिका साधन होनेके कारण अनुमान-के दो भेद हैं।

प्रतिज्ञा और हेतुरूप परोपदेशकी अपेक्षा न कर स्वय ही निश्चित तथा इससे पूर्व तर्कद्वारा गृहीत व्याप्तिके स्मरणसे सहकृत धूमादि साधनसे उत्पन्न हुए पर्वत आदि धर्मीमे अग्नि आदि साध्यके ज्ञानको स्वार्थानुमान कहा जाता है। यथा यह पर्वत अग्निवाला है, धूमवाला होनेसे।[1]

प्रतिज्ञा और हेतुरूप परोपदेशकी अपेक्षा लेकर श्रोताको जो साधनसे साध्य-का ज्ञान उत्पन्न होता है, वह परार्थानुमान है।[2] स्वार्थानुमान ज्ञानरूप है और परार्थानुमान वचनरूप है। वक्ता परार्थानुमानवचन-प्रयोगद्वारा श्रोताको व्याप्तिज्ञान कराता है। व्याप्तिज्ञानके अनन्तर साधनसे साध्यका ज्ञान वह स्वय करता है।

१. तत्र स्वयमेव निश्चितात्साधनात्साध्यज्ञान स्वार्थानुमानम्। परोपदेशमनपेक्ष्य स्वयमेव निश्चितात्प्राक्तर्कानुभूतव्याप्तिस्मरणसहकृताद्धूमादे , साधनादुत्पन्नपर्वतादौ धर्मिण्य-ग्न्यादे साध्यस्य ज्ञान स्वार्थानुमानमित्यर्थ। यथा पर्वतोऽयमग्निमान् धूमव-त्त्वादिति। अय हि स्वार्थानुमानस्य ज्ञानरूपस्यापि शब्देनोल्लेख। यथा 'अयं घट' इति शब्देन प्रत्यक्षस्य।

डॉ० दरबारीलाल कोठिया, न्यायदीपिका (वीरसेवामन्दिर) पृ० ७१-७२.

२ परोपदेशमपेक्ष्य यत्साधनात्साध्यविज्ञानं तत्परार्थानुमानम्। प्रतिज्ञाहेतुरूपपरोपदे-शवशात् श्रोतुरुत्पन्न साधनात्साध्यविज्ञान परार्थानुमानमित्यर्थ। यथा पर्वतोऽयम-ग्निमान् भवितुमर्हति धूमवत्त्वान्यथानुपपत्तेरिति वाक्ये केनचित्प्रयुक्ते तद्वाक्यार्थं पर्यालोचयन स्मृतव्याप्तिकस्य श्रोतुरनुमानमुपजायते।

डॉ० दरबारीलाल कोठिया, न्यायदीपिका (वीरसेवामन्दिर) पृ० ७५

स्वार्थानुमानके अंग

स्वार्थानुमानके तीन अग है (१) धर्मी, (२) साध्य और (३) हेतु। हेतु-गमक होनेसे, साध्य गम्य होनेसे एव धर्मी साध्य और हेतु धर्मोका आधार होनेसे अग हैं। आधार-विशेषमे ही अनुमेयकी सिद्धि करना अनुमानका प्रयोजन है। साध्यको पक्ष भी कहा जाता है, यह धर्मविशिष्ट धर्मी है। यो तो पक्षशब्द-से साध्यधर्म और धर्मीका समुदाय विवक्षित है। स्वार्थानुमानके ज्ञानरूप होने-के कारण ज्ञानमे धर्म-धर्मीका विभाग सम्भव नही, पर अनुमानका प्रयोग करनेके लिए उसका शब्दसे उल्लेख करना ही पडता है। यथा 'पर्वतोऽय वह्निमान्, 'धूमवत्वात्' अनुमानवाक्यका प्रयोग पर्वतमे वह्निको अवगत करनेके लिए करना पडता है, उसी प्रकार स्वार्थानुमानमे भी उसके बोधार्थ वाक्यका प्रयोग अपेक्षित होता है।

धर्मी स्वरूप-निर्धारण

धर्मी प्रसिद्ध होता है।[1] इसकी प्रसिद्धि कही प्रमाणसे, कही विकल्पसे और कही प्रमाण-विकल्प दोनोसे होती है।[2] प्रत्यक्षादि प्रमाणोसे सिद्ध धर्मी प्रमाण-सिद्ध कहलाता है, यथा पर्वतादि। जिसकी प्रमाणता और अप्रमाणता निश्चित न हो और जो प्रतीतिमात्रसे सिद्ध हो, वह विकल्पसिद्ध कहा जाता है। विकल्पसिद्ध धर्मीमे सत्ता या असत्ता साध्य होती है, यत जिनकी सत्ता या असत्तामे विवाद है, वे ही धर्म विकल्पसिद्ध होते हैं। प्रमाण और विकल्प दोनोसे सिद्ध धर्मी उभयसिद्ध कहलाते है।

परार्थानुमानके अंग

परार्थानुमानके भी स्वार्थानुमानके समान धर्मी, साध्य और साधन ये तीन अथवा पक्ष और हेतु ये दो अग माने जाते हैं। ज्ञानात्मक परार्थानुमानमे उक्त अग सभव हैं, पर वचनात्मक परार्थानुमानमे प्रतिज्ञा और हेतु दो ही अवयव होते है।

धर्म-धर्मीके समुदायरूप पक्षके वचनको प्रतिज्ञा कहा जाता है। यथा "पर्वतोऽय वह्निमान्" मे साध्यका निर्देश किया गया है, अत उक्तपद प्रतिज्ञा-वाक्य है।

अनुमेयको सिद्ध करनेके लिए साधनके रूपमे जिस वाक्यावयवका प्रयोग किया जाता है, वह हेतु है। साधन और हेतुमे साधारणत कोई अन्तर नही है, इसी कारण दोनोका प्रयोग पर्यायरूपमे पाया जाता है, पर इनमे वाच्य-

१ प्रसिद्धो धर्मी परीक्षामुख ३।२३

२ विकल्पसिद्धे तस्मिन् सत्तेतरे साध्ये—वही, ३।२४.

वाचकका भेद है। साधन वाच्य है यत वह कोई वस्तुरूप होता है और हेतु वाचक है, यत उसके द्वारा वह वस्तु कही जाती है। हेतुको साध्याभावके साथ न रहनेवाला अर्थात् अविनाभावी होना आवश्यक वतलाया है।

हेतुका प्रयोग तथोपपत्ति और अन्यथानुपपत्तिरूपसे होता है। इसीको अन्वय-विधि और व्यतिरेकविधि भी कह सकते हैं। व्युत्पन्न श्रोताको मात्र प्रतिज्ञा और हेतुरूप परोपदेशसे परार्थानुमान उत्पन्न होता है।

अनुमानके अन्य अवयव

अनुमानके प्रतिज्ञा, हेतु, उदाहरण, उपनय और निगमन ये पाँच अवयव माने जाते हैं। इन अवयवोका प्रयोग इस प्रकार होता है 'पर्वत अग्निवाला है धूमवान् होनेसे,जो-जो धूमवान् है, वह अग्निवाला होता है, जैसे महानस। इसी प्रकार पर्वत भी धूमवान् है, इसलिए अग्निवाला है' इन अवयवोमे प्रतिज्ञा और हेतु ये दो अवयव ही कार्यकारी है। प्रतिज्ञाप्रयोगके विना साध्यधर्मीके आधारमे सन्देह बना रहता है। प्रतिज्ञाके विना सिद्धि किसकी की जायगी। पक्षको उपस्थित करनेके अनन्तर हेतुप्रयोग न्याय्य माना जाता है। अतः साधनवचनरूप हेतु और पक्षवचनरूप प्रतिज्ञा इन दो अवयवोसे ही परिपूर्ण अर्थका बोध हो जाता है। दृष्टान्त, उपनय और निगमनका प्रयोग वादकथामे व्यर्थ है।

वस्तुत अनुमानके अवयवोका प्रयोग प्रतिपाद्यकी दृष्टिसे किया जाता है। प्रति-पाद्य दो प्रकारके होते हैं (१) व्युत्पन्न और (२) अव्युत्पन्न। व्युत्पन्न वे हैं जो सक्षेप या सकेतमे वस्तुस्वरूपको समझ सकते है तथा जिनके हृदयमे तर्कका प्रवेश है। अव्युत्पन्न वे प्रतिपाद्य हैं, जो अल्पप्रज्ञ हैं, जिन्हे विस्तारसे समझाना आवश्यक होता है और जिनके हृदयमे तर्कका प्रवेश कम रहता है।

अनुमानके उपयोगिताकी दृष्टिसे दो ही अवयव हैं। दृष्टान्तके अभावमे भी अनुमान समीचीन होता है। यथा 'सर्वं क्षणिकं सत्त्वात्' इस अनुमानमे दृष्टान्त नही है, फिर भी यह प्रमाणभूत है।

उदाहरणकी सार्थकता व्याप्तिस्मरणके लिए भी नही है, यत. अविनाभावी हेतुके प्रयोगमात्रसे ही व्याप्तिका स्मरण हो जाता है। संसारमे विभिन्न चिन्तक तथ्योको विभिन्न रूपमे स्वीकार करते हैं, अत सर्वसम्मत दृष्टान्तका मिलना अशक्य है। दूसरी बात यह है कि दृष्टान्तमे व्याप्तिका ग्रहण करना अनिवार्य भी नही है, क्योकि जव समस्त वस्तुओको पक्ष बना लिया जाता है, तव किसी दृष्टान्तका मिलना असम्भव हो जाता है। अत विपक्षमे वाधक प्रमाण देखकर पक्षमे ही साध्य और साधनकी व्याप्ति सिद्ध कर ली जाती है। वादकथाकी दृष्टिसे दृष्टान्त निरर्थक और अव्यवहार्य है।

उपनय और निगमन तो केवल उपसंहारवाक्य हैं, जिनकी अपनेमें कोई उपयोगिता नहीं है। पक्षमें हेतुका उपसंहार उपनय और हेतुपूर्वक पक्षका वचन निगमन है। संक्षेपमें लाघव, आवश्यकता और उपयोगिताकी दृष्टिसे प्रतिज्ञा और हेतु ये दो ही अवयव ग्राह्य हैं।

हेतु भेद एवं प्रकार

अविनाभावके व्यापक स्वरूपके आधारपर हेतुके सात भेद हैं (१) स्वभाव, (२) व्यापक, (३) कार्य, (४) कारण, (५) पूर्वचर, (६) उत्तरचर और, (७) सहचर। सामान्यतः हेतुके दो भेद हैं (१) उपलब्धिरूप और (२) अनुपलब्धिरूप। ये दोनों हेतु विधि और प्रतिषेध दोनोंके साधक हैं। इनके संयोगसे हेतुके २२ भेद हो जाते हैं।
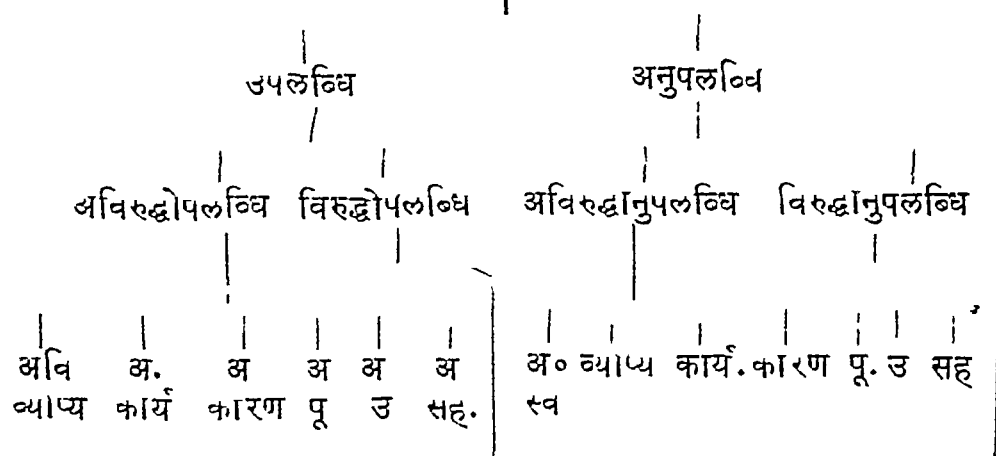
(प्रमाणपरीक्षाके अनुसार)

हेतुके बाईस भेदोंका सामान्य स्वरूप

विधिसाधक उपलब्धिको अविरुद्धोपलब्धि और प्रतिषेध-साधक उपलब्धिको विरुद्धोपलब्धि कहा जाता है।

१ अविरुद्धव्याप्योपलब्धि शब्द परिणामी है, कृतक होनेसे।

२ अविरुद्धकार्योपलब्धि इस प्राणिमे बुद्धि है, वचनप्रयोगकी प्रवृत्ति होनेसे।

३ अविरुद्धकारणोपलब्धि यहाँ छाया है, छत्र होनेसे।

४ अविरुद्धपूर्वचरोपलब्धि एक मुहूर्तके अनन्तर रोहिणीका उदय होगा, इस समय कृत्तिकाका उदय होनेसे।

५ अविरुद्धोत्तरचरोपलब्धि एक मुहूर्त पहले भरणीका उदय हो चुका है, वर्तमानमे कृत्तिकाका उदय होनेसे।

६ अविरुद्धसहचरोपलब्धि - इस आममे रूप है, क्योकि रस पाया जाता है।

७ विरुद्धव्याप्योपलब्धि यहाँ शीतस्पर्श नही है, क्योकि उष्णता पायी जाती है।

८ विरुद्धकार्योपलब्धि यहाँ शीत स्पर्श नही है, धूमका सद्भाव रहनेसे।

९ विरुद्धकारणोपलब्धि इस प्राणीमे सुख नही है, हृदयमे शल्य होनेसे।

१० विरुद्धपूर्वचरोपलब्धि एक मुहूर्तके बाद रोहिणीका उदय नही होगा, क्योकि इस समय रेवतीका उदय है।

११ विरुद्धोत्तरचरोपलब्धि एक मुहूर्त पहले भरणीका उदय नही हुआ है, क्योकि इस समय पुष्यका उदय हो रहा है।

१२ विरुद्धसहचरोपलब्धि इस दीवालमे उस ओरके हिस्सेका अभाव नही है, क्योकि इस ओरका हिस्सा देखा जाता है।

१३ अविरुद्धस्वभावानुपलब्धि इस भूतल पर घड़ा नही है, अनुपलब्ध होनेसे।

१४. अविरुद्धव्यापकानुपलब्धि यहाँ शीशम नही है, वृक्षाभाव होनेसे।

१५. अविरुद्धकार्यानुपलब्धि यहाँ पर अप्रतिबद्ध शक्तिशाली अग्नि नही है धूमाभाव होनेसे।

१६. अविरुद्धकारणानुपलब्धि यहाँ धूम नही है, अग्निका अभाव होनेसे।

१७ अविरुद्धपूर्वचरानुपलब्धि एक मुहूर्तके बाद रोहिणीका उदय नही होगा, क्योकि अभी कृत्तिकाका उदय नही हुआ है।

१८ अविरुद्धोत्तरचरानुपलब्धि एक मुहूर्त पहले भरणीका उदय नही हुआ; क्योकि अभी कृत्तिकाका उदय नही है।

१९ अविरुद्धसहचरानुपलब्धि इस सम तराजूका एक पलड़ा नीचा नही है, क्योकि दूसरा पलड़ा ऊँचा नही पाया जाता।

२० विरुद्धकार्यानुपलब्धि इस प्राणीमे कोई व्याधि है, क्योकि इसकी चेष्टाएँ निरोग व्यक्तिकी नही हैं।

२१ विरुद्धकारणानुपलब्धि इस प्राणीमे दुख है, क्योकि इष्टसयोग नही देखा जाता।

२२ विरुद्धस्वभावानुपलब्धि वस्तु अनेकान्तात्मक है, क्योकि एकान्त स्वरूप उपलब्ध नही होता।

अर्थापत्तिका अनुमानमे अन्तर्भाव

किसी दृष्ट या श्रुत पदार्थसे वह जिसके विना नही होता, उस अविनाभावी अदृष्ट अर्थकी कल्पना करना अर्थापत्ति है, यथा 'मोटा देवदत्त दिनको भोजन नही करता है' इस प्रसगमे अर्थापत्ति द्वारा देवदत्तके रात्रि भोजनकी कल्पना कर ली जाती है, यत भोजनके विना पीनत्व मोटापन आ नही सकता। अर्थापत्तिसे अतीन्द्रिय शक्ति आदि पदार्थोंका ज्ञान किया जाता है। इसके छ भेद है (१) प्रत्यक्षपूर्विका, (२) अनुमानपूर्विका, (३) श्रुतार्थापत्ति, (४) उपमानार्थापत्ति, (५) अर्थापत्तिपूर्विका अर्थापत्ति और (६) अभावपूर्विका अर्थापत्ति।

अर्थापत्ति और अनुमानमे पृथक्त्वका कारण पक्षधर्मत्व है। अनुमानमे हेतुका पक्षधर्मत्व आवश्यक है, पर अर्थापत्तिमे पक्षधर्मत्व आवश्यक नही माना जाता। अत अर्थापत्तिको पृथक् प्रमाण माननेकी आवश्यकता है।

अर्थापत्तिको अनुमानसे भिन्न माननेमे उक्त तर्क निर्बल है। यत. अविनाभावी एक अर्थसे दूसरे अर्थका ज्ञान करना जैसे अनुमानके है, वैसे अर्थापत्तिमे भी है। पक्षधर्मत्व अनुमानके लिए आवश्यक भी नही है। कृत्तिकोदय आदि हेतु पक्षधर्मरहित होकर भी सच्चे हैं और मैत्रतनयत्व आदि हेतु पक्षधर्मत्व रहनेपर भी गमक नही है। सक्षेपमे अर्थापत्ति अविनाभावमूलक या अन्यथानुपपन्नत्वमूलक होनेके कारण अनुमानके अन्तर्गत है, इसे पृथक् प्रमाण माननेकी आवश्यकता नही है।

अभावका प्रत्यक्षादिमे अन्तर्भाव

अभाव भी स्वतन्त्र प्रमाण नही है। जो यह कहा जाता है कि जिस प्रकार भावरूप प्रमेयके लिए भावात्मक प्रमाण होता है, उसी तरह अभावरूप प्रमेयके लिए अभावप्रमाणकी आवश्यकता है। वस्तु सत् और असत् रूपमे पायी जाती है। अतः इन्द्रियोके द्वारा सदशके ग्रहण हो जानेपर भी असदशके ज्ञानके लिए अभावप्रमाण अपेक्षित है। जहाँ सद्भावग्राहक पाँच प्रमाणोकी प्रवृत्ति नही होती, वहाँ अभावप्रमाणकी प्रवृत्ति देखी जाती है। यह दोषपूर्ण

है। यत भावांशके समान अभावांश भी प्रत्यक्ष, अनुमान और प्रत्यभिज्ञान आदि प्रमाणोंसे गृहीत हो जाता है। जिस प्रकार 'इस भूतलपर घट है' यह प्रत्यक्ष द्वारा जाना जाता है, उसी प्रकार 'इस भूतलपर घट नहीं है' यह घटाभाव भी प्रत्यक्ष द्वारा ही गृहीत है।

अनुमानके उपलब्धि और अनुपलब्धि रूप हेतु भी अभावोंके ग्राहक हैं। यह कोई नियम नहीं है कि भावरूप प्रमेयके लिए भावरूप प्रमाण और अभावरूप प्रमेयके लिए अभावरूप प्रमाण ही होना चाहिए।

अभाव भावान्तररूप होता है, यह अनुभवसिद्ध है। अतः भावग्राहक प्रमाणोंसे ही वस्तुके अभावांशका भी ग्रहण सम्भव होनेसे अभावको पृथक् प्रमाण माननेकी आवश्यकता नहीं है।

आगमप्रमाण विमर्श

मतिज्ञान द्वारा ज्ञात पदार्थमें मनकी सहायतासे होनेवाले विशेष ज्ञानको श्रुतज्ञान या आगमज्ञान कहते हैं। पाँच इन्द्रियों और मनसे ज्ञात विषयको ही अवलम्बन लेकर श्रुतज्ञान व्यापार करता है। इसके मूल दो भेद हैं- (१) अनक्षरात्मक और (२) अक्षरात्मक। श्रोत्र इन्द्रियके अतिरिक्त शेष चार इन्द्रियों और मनकी सहायतासे होनेवाले मतिज्ञानपूर्वक श्रुतज्ञानको अनक्षरात्मक श्रुतज्ञान कहते हैं और श्रोत्र इन्द्रियजन्य मतिज्ञानपूर्वक जो श्रुतज्ञान होता है, उसे अक्षरात्मक श्रुतज्ञान कहते हैं। जैसे जीवशब्द कहनेपर श्रोत्र इन्द्रिय द्वारा इस शब्दका सुनना मतिज्ञान है और उसके निमित्तसे जीव नामक पदार्थके अस्तित्वको अवगत करना अक्षरात्मक श्रुतज्ञान है। प्रकारान्तरसे जबतक श्रुतज्ञान ज्ञानरूप रहता है, तबतक अनक्षरात्मक है और जब वचनरूप होकर दूसरेको ज्ञान करानेमें कारण होता है, तब वही अक्षरात्मक हो जाता है।

ज्ञानके द्वारा ही हम सबको जानते हैं और दूसरेको ज्ञान करानेका मुख्य साधन वचन है। ज्ञाता वचनके द्वारा श्रोताओंको बोध कराता है और वचन-व्यवहार केवल श्रुतज्ञानमें ही पाया जाता है। वक्ता द्वारा कहा गया शब्द श्रोताके श्रुतज्ञानमें कारण होता है।

वचनके दो भेद हैं (१) द्रव्यवाक् और (२) भाववाक्। द्रव्यवाक्के भी दो भेद हैं (१) द्रव्यरूप और (२) पर्यायरूप। पर्यायरूप द्रव्यवाक् श्रोत्रइन्द्रियसे ग्राह्य है। भाषावर्गणारूप पुद्गल द्रव्यवाक् है। यह द्रव्यरूप वचन समस्त-ज्ञानोंमें नहीं पाया जाता। ज्ञानावरणकर्मके क्षय अथवा क्षयोपशमसे युक्त आत्मामें जो सूक्ष्म बोलनेकी शक्ति है, वह भाववाक् है। इस भाववाक्के बिना

किसीके मुखसे कभी भी वचन नही निकल सकते। भाववाक्रूपी शक्तिका सद्-भाव समस्त आत्माओमे पाया जाता है, क्योकि वह चेतनका सामान्य धर्म है।

श्रुतज्ञानके बीस भेद है (१) पर्याय, (२) पर्यायसमास, (३) अक्षर, (४) अक्षरसमास, (५) पद, (६) पदसमास, (७) सघात, (८) सघातसमास, (९) प्रतिपत्तिक, (१०) प्रतिपत्तिकसमास, (११) अनुयोग, (१२) अनुयोगसमास, (१३) प्राभृत, (१४) प्राभृतसमास, (१५) प्राभृत-प्राभृत, (१६) प्राभृत-प्राभृत-समास, (१७) वस्तु, (१८) वस्तुसमास, (१९) पूर्व और (२०) पूर्वसमास।

सूक्ष्म निगोदिया लब्ध्यपर्याप्तक जीवके उत्पन्न होनेके प्रथम समयमे स्पर्शन इन्द्रियजन्य मतिज्ञानपूर्वक लब्ध्यक्षररूप श्रुतज्ञान होता है। यह ज्ञान अविनश्वर और निरावरण होता है। यह सर्वजघन्य ज्ञान है। इसके ऊपर क्रमशः अनन्तभागवृद्धि, असख्यातभागवृद्धि, सख्यातभागवृद्धि, सख्यातगुणवृद्धि, असंख्यातगुणवृद्धि और अनन्तगुणवृद्धि ये छह वृद्धियाँ होती है। इन वृद्धियोके अनन्तर पर्यायसमासज्ञान आता है। पर्यायसमासके अनन्तर वृद्धिगत होते हुए क्रमश. अक्षर, अक्षरसमास आदि श्रुतज्ञानके भेद उत्पन्न होते है।

आप्तके वचनादिके निमित्तसे होनेवाले अर्थज्ञानको आगम कहते है। आप्त-पदसे वीतराग, सर्व । और हितोपदेशी व्यक्ति अभीष्ट है। जो जहाँ अवचक है, वह वहाँ आप्त है। वस्तुत जो राग, द्वेष, मोह अज्ञान आदि दोषोसे रहित है, परहितका प्रतिपादन करना ही जिसका एकमात्र कार्य है, ऐसा व्यक्ति ही आप्त कहलानेके योग्य है। आप्तवचनको अर्थज्ञानका कारण होनेसे आगम कहा जाता है। तीर्थंकर जिस अर्थको अपनी दिव्यध्वनिसे प्रकाशित करते है, उसका द्वादशागरूपमे कथन गणधरोके द्वारा किया जाता है। यह श्रुत अग-प्रविष्ट कहलाता है और जो श्रुत अन्य आरातीय शिष्य-प्रशिष्योके द्वारा रचा जाता है, वह अगबाह्य है। अगप्रविष्ट श्रुतके आचाराग, सूत्रकृताग, स्थानाग, समवायाग, व्याख्याप्रज्ञप्ति, ज्ञातृधर्मकथा, उपासकाध्ययन, अतकृत्दश, अनुत्तरोपपादिकदश, प्रश्नव्याकरण, विपाकसूत्र और दृष्टिवाद ये बारह भेद है। अगबाह्य श्रुत सामायिक, चतुर्विशस्तव, वन्दना आदि भेदसे चौदह प्रकारका है। वस्तुत आगमके द्वारा उतने ही पदार्थोका बोध प्राप्त किया जा सकता है, जितने पदार्थोका केवलज्ञानद्वारा। ज्ञानकी अपेक्षा श्रुतज्ञान और केवलज्ञान दोनो समान है, पर विशद और अविशदकी अपेक्षा दोनोमे अन्तर है। श्रुतज्ञान इन्द्रिय और मनकी सहायतासे होता है। अतएव वह अमूर्त पदार्थ और उनकी अर्थपर्यायके सूक्ष्म अशोको स्पष्टरूपसे नही जान पाता। पर केवलज्ञान निरा-वरण होनेके कारण समस्त पदार्थोको विशदरूपसे जानता है।

कुछ चिन्तकोका विचार है कि जहाँ वक्ता अनाप्त, अविश्वसनीय, अतत्त्वज्ञ और कषायकलुष हो, वहाँ हेतु द्वारा तत्त्वकी सिद्धि होती है। पर जहाँ आप्त सर्वज्ञ और वीतराग हो वहाँ उसके वचनोपर विश्वास करके तत्त्वसिद्धि की जाती है।[1]

शब्द और अर्थका सम्बन्ध

शब्द अर्थप्रतिपत्तिके साधन किस प्रकार बनते हैं और उनका अर्थके साथ क्या सम्बन्ध है, यह भी एक विचारणीय प्रश्न है। शब्द स्वाभाविक योग्यता और सकेतके कारण हस्तसज्ञा आदि वस्तुकी प्रतिपत्ति करानेवाले है। जिस प्रकार ज्ञान और ज्ञेयमे ज्ञापक एवं ज्ञाप्य शक्ति स्वाभाविक है उसी प्रकार शब्द और अर्थमे प्रतिपादक और प्रतिपाद्य शक्ति स्वभावत विद्यमान है। शब्द और अर्थका सम्बन्ध कथचित् नित्य और कथचित् अनित्य होता है। शब्दमे अर्थबोधकी क्षमता स्वभावत निहित है।

शब्द और अर्थम तादात्म्य और तदुत्पत्ति सम्बन्ध न होनेपर भी योग्यता-रूप सम्बन्ध पाया जाता है। जिस प्रकार चक्षुका घटादिके रूपके साथ तादात्म्य-तदुत्पत्ति-सम्बन्ध नही होनेपर भी योग्यतारूप सम्बन्ध देखा जाता है, उसी प्रकार शब्द और अर्थमे भी यह योग्यतासम्बन्ध निहित रहता है। शब्दमे कहनेकी शक्ति है और अर्थमे कहे जानेकी शक्ति है। इसीका नाम योग्यता है।

वस्तुत शब्द और अर्थमे वाच्य-वाचकशक्तिरूप सम्बन्ध स्वाभाविक ही है। केवल उसको जाननेके लिये सकेतग्रहणकी आवश्यकता होती है। यदि इस स्वाभाविक सम्बन्धमे व्यतिक्रम किया जाय, तो दीपक और घटमे जो प्रकाश्य-प्रकाशकशक्ति है उसमे भी व्यतिक्रमकी आपत्ति प्रस्तुत हो जायगी और यह आपत्ति प्रतीतिविरुद्ध है। अत शब्द और अर्थमे वाच्य-वाचकशक्तिका मानना आवश्यक है। साराशत शब्द और अर्थमे वाच्य-वाचकभावरूप शक्ति स्वभावत विद्यमान है और सकेतवशसे आप्तप्रणीत शब्द वस्तुके ज्ञानमे कारण होते है।[2]

प्रमाणफल

प्रमाणरूप ज्ञानके दो कार्य हैं (१) अज्ञाननिवृत्ति और (२) स्वपरका

१ वक्तर्यनाप्ते यद्धेतो साध्य तद्धेतुसाधितम्।
आप्ते वक्तरि तद्वाक्यात् साधितमागमसाधितम्॥ आप्तमी०, श्लोक ७८.

२ सहजयोग्यतासङ्केतवशाद्धि शब्दादयो वस्तुप्रतिपत्तिहेतव.।—परीक्षामुख ३।९६

व्यवसाय। ज्ञानका आध्यात्मिक फल मोक्षप्राप्ति है। अत प्रमाणसे साक्षात् अज्ञानकी निवृत्ति होती है। जिस प्रकार प्रकाश अधकारको हटाकर पदार्थोंको प्रकाशित करता है, उसी प्रकार ज्ञान अज्ञानको हटाकर पदार्थोंका बोध कराता है। पदार्थबोधके पश्चात् होनेवाले हान हेयका त्याग, उपादान और उपेक्षा वुद्धि प्रमाणके परम्पराफल है। मति, श्रुत आदि ज्ञानोमे हान, उपादान और उपेक्षा ये तीनो फल निहित रहते है, पर केवलज्ञानमे केवल उपेक्षा ही रहती है। राग और द्वेषमे चित्तका प्रणिधान नही होना उपेक्षा है।

ज्ञान आत्माका अभिन्न गुण है। इस ज्ञानकी पूर्व अवस्था प्रमाण और उत्तर अवस्था फल है। जो ज्ञानधारा अनेक ज्ञानक्षणोमे व्याप्त रहती है, उस ज्ञानधाराका पूर्व क्षण साधकतम होनेसे प्रमाण होता है और उत्तर क्षण साध्य होनेसे फल। प्रमाण और फल कथचित् भिन्नाभिन्न है। आत्मा प्रमाण और फल दोनोरूपसे परिणति करती है। अत प्रमाण और फल अभिन्न है तथा कार्य और कारणरूपसे क्षणभेद एव पर्यायभेद होनेके कारण वे भिन्न है। अतएव प्रमाण और फलमे कथचित् भिन्नाभिन्नसम्बन्ध है। प्रमाणका साक्षात्फल अज्ञाननिवृत्ति और परम्पराफल हान, उपादान और उपेक्षा वुद्धि है।

प्रमाणाभास

जो वास्तविक प्रमाणलक्षणसे रहित है और प्रमाणके तुल्य प्रतीत होते है, वे प्रमाणाभास है। अस्वसविदितज्ञान, गृहीतार्थज्ञान, निर्विकल्पक दर्शन, सशय, विपर्यय और अनध्यवसाय आदि प्रमाणाभास है, क्योकि इनके द्वारा प्रवृत्तिके विषयका यथार्थज्ञान नही होता। जो अस्वसविदितज्ञान अपने स्वरूपको ही नही जानता है, वह पुरुषान्तरके ज्ञानके समान हमे अर्थबोध कैसे करा सकेगा? निर्विकल्पकदर्शन सव्यवहारानुपयोगी होनेसे प्रमाण-कोटिमे नही आता। अविसवादी और सम्यग्ज्ञान प्रमाण कहा जाता है। जिस ज्ञानमे यह लक्षण घटित न हो, वह ज्ञान प्रमाणाभास है। सशयज्ञान अनिर्णयात्मक होनेसे, विपर्ययज्ञान विपरीत एक कोटिका निश्चय होनेसे और अनध्यवसायज्ञान किसी भी एक कोटिका निश्चायक न होनेसे विसवादी होनेके कारण प्रमाणाभास हैं।

प्रमाणाभासोकी सख्या अगणित हो सकती है। पर इनमे प्रत्यक्षाभास, परोक्षाभास, साव्यवहारिकप्रत्यक्षाभास, मुख्यप्रत्यक्षाभास, स्मरणाभास, प्रत्यभिज्ञानाभास, तर्काभास, अनुमानाभास, आगमाभास, हेत्वाभास, विषयाभास

आदि मुख्य हैं। यहाँ समस्त प्रमाणाभासोंका निर्देश न कर ज्ञानमें उपयोगी होनेसे केवल हेत्वाभासोंका विवेचन किया जाता है।

हेत्वाभास

जो हेतुलक्षणसे रहित हैं, पर हेतुके समान प्रतीत होते हैं, वे हेत्वाभास हैं। इन्हें साधनके दोष होनेके कारण साधनाभास भी कहा जा सकता है।

कुछ चिन्तकोंने असिद्ध, विरुद्ध अनैकान्तिक, कालात्ययापदिष्ट और प्रकरणसम ये पाँच हेत्वाभास स्वीकार किये हैं। पर यथार्थतः असिद्ध, विरुद्ध और अनैकान्तिक ये तीन ही हेत्वाभास प्रमुख हैं।

असिद्ध

जो हेतु सर्वदा पक्षमें न पाया जाय अथवा जिसका सर्वथा साध्यके साथ अविनाभाव न हो, वह असिद्ध हेत्वाभास है। यथा 'शब्दोऽनित्यः, चाक्षुषत्वात्' शब्द अनित्य है, चक्षुका विषय होनेसे। इस अनुमानमें चाक्षुषत्वहेतु शब्दमें स्वरूपसे ही असिद्ध है। असिद्ध हेत्वाभासके दो भेद हैं स्वरूपासिद्ध और सदिग्धासिद्ध। जो स्वरूपसे असिद्ध हो, वह स्वरूपासिद्ध है। यथा शब्द अनित्य है, चाक्षुष होनेसे। इस अनुमानमें चाक्षुषत्वहेतु स्वरूपासिद्ध है। मूर्ख व्यक्ति धूम और वाष्पका विवेक न प्राप्तकर बटलोहीसे निकलनेवाले वाष्पको धूम मानकर उसमें अग्निका अनुमान करता है, तो वह सदिग्धासिद्ध कहलाता है।

विरुद्ध

जो हेतु साध्याभावमें ही पाया जाता है, वह विरुद्धहेत्वाभास कहलाता है। यथा 'सर्वं क्षणिकं सत्वात्' इस अनुमानमें सत्वहेतु सर्वथा क्षणिकत्वके विपक्षी कथञ्चित् क्षणिकत्वमें ही पाया जाता है।

अनैकान्तिक

जो हेतु पक्ष और विपक्ष दोनोंमें समानरूपसे पाया जाता हो, वह व्यभिचारी होनेके कारण अनैकान्तिक कहलाता है। यथा 'शब्दो अनित्यः प्रमेयत्वात् घटवत्'। यहाँ प्रमेयत्वहेतुका विपक्षभूत नित्य आकाशमें भी पाया जाना निश्चित है। अतः यह अनैकान्तिक है।

अकिंचित्कर

सिद्ध साध्यमें और प्रत्यक्षादि बाधित साध्यमें प्रयुक्त होनेवाला हेतु अकि-

चित्कर है। अन्यथानुपपत्तिसे रहित जितने भी त्रिलक्षण हेतु है, वे अकिंचित्-कर हैं। यथा शब्द विनाशी है, क्योकि कृतक है। अथवा यह अग्नि है, क्योकि धूम है। यहाँ कृतकत्व और धूमत्व हेतु प्रत्यक्षसिद्ध, विनाशित्व और अग्निको सिद्ध करनेमे अकिंचित्कर है।

दृष्टान्ताभास

दृष्टान्तमे साध्य-साधनक. निर्णय आवश्यक है। जो दृष्टान्त दृष्टान्तके लक्षणसे रहित है, वह दृष्टान्ताभास कहलाता है। दृष्टान्ताभासके मूलत (१) साधर्म्यदृष्टान्ताभास और (२) वैधर्म्यदृष्टान्ताभास ये दो भेद है। साधर्म्य-दृष्टान्तभासके नव भेद और वैधर्म्यदृष्टान्ताभासके भी नव भेद होते हैं।

साधर्म्यदृष्टान्ताभास भेदनिरूपण

१ साध्यविकल शब्द नित्य है, अमूर्त्तिक होनेसे, कर्मके समान। यहाँ कर्म दृष्टान्तसाध्यविकल है, क्योकि वह नित्य नही है, अनित्य है।

२ साधनविकल- शब्द नित्य है, अमूर्त्तिक होनेसे, परमाणुके समान। यहा परमाणु दृष्टान्तसाधनविकल है।

३. उभयविकल शब्द नित्य है, अमूर्त्तिक होनेसे, घटवत्। यहा घट दृष्टान्त उभयविकल है, क्योकि घट न तो नित्य है और न अमूर्त्तिक ही, वह अनित्य तथा मूर्तिक है।

४. सन्दिग्धसाध्य सुगत रागादिमान् है, उत्पत्तिमान् होनेसे, रथ्यापुरुषवत्। इस अनुमानमे रथ्यापुरुषमे रागादिका निश्चय नही है, अत प्रत्यक्षद्वारा उसका निश्चय करना अशक्य है।

५ सन्दिग्धसाधन यह मरणशील है, रागादिमान् होनेसे, रथ्यापुरुषवत्। यहाँ रथ्यापुरुषमे रागादिका पूर्ववत् अनिश्चय है।

६ सन्दिग्धोभय यह असर्वज्ञ हैं, रागादिमान् होनेसे, रथ्यापुरुषवत्। यहाँ रथ्यापुरुषमे साध्य और साधन दोनोका अनिश्चय है।

७ अनन्वय यह रागादिमान् हैं, वक्ता होनेसे, रथ्यापुरुषवत्। यहाँ रथ्या-पुरुषमे रागादिका सद्भाव सिद्ध न होनेसे अन्वय असिद्ध है।

८. अप्रदर्शितान्वय शब्द अनित्य है, क्योकि कृतक है, घटकी तरह। कृतकता और अनित्यताका अन्वय प्रदर्शित नही है।

९ विपरीतान्वय जो अनित्य होता है, वह कृतक होता है, ऐसा विपरीत अन्वय प्रस्तुत करना विपरीतान्वयसाधर्म्यदृष्टान्ताभास है।

वैधर्म्यदृष्टान्ताभास . भेदनिरूपण

१ साध्याव्यावृत्त शब्द नित्य है, अमूर्त्त होनेसे, जो नित्य नही होता, वह अमूर्त भी नही होता, यथा परमाणु। यहाँ परमाणुका दृष्टान्त साध्याव्यावृत्त वैधर्म्यदृष्टान्ताभास है, कारण परमाणुओमे साधनकी व्यावृत्ति होनेपर भी साध्यकी व्यावृत्ति नही है।

२ साधनाव्यावृत्त शब्द नित्य है, अमूर्त्त होनेसे, कर्मवत्। यहाँ कर्मका दृष्टान्त साधनाव्यावृत्त दृष्टान्ताभास है, कारण कर्ममे साध्यकी व्यावृत्ति होनेपर साधनकी व्यावृत्ति नही है।

३ उभयाव्यावृत्त शब्द नित्य है, अमूर्त्त होनेसे, आकाशवत्। यहाँ आकाश दृष्टान्त उभयाव्यावृत्त है, क्योकि आकाशमे न साध्यकी व्यावृत्ति है और न साधनकी।

४ सन्दिग्धसाध्यव्यतिरेक सुगत सर्वज्ञ है, क्योकि अनुपदेशादिप्रमाणयुक्त-तत्त्वप्रवक्ता है, जो सर्वज्ञ नही, वह उक्त प्रकारका वक्ता नही, यथा वीथी-पुरुष। यहाँ वीथीपुरुषमे सर्वज्ञत्वकी व्यावृत्ति अनिश्चित है।

५ सन्दिग्धसाधनव्यतिरेक शब्द अनित्य है, क्योकि सत् है, जो अनित्य नही होता वह सत् भी नही होता, यथा गगन। यहाँ गगनमे सत्त्वरूप साधनकी व्यावृत्ति सन्दिग्ध है, क्योकि वह अदृश्य है।

६ सन्दिग्धोभयव्यतिरेक हरिहरादि ससारी है, क्योकि अज्ञानादियुक्त है, जो ससारी नही, वे अज्ञानादिदोषयुक्त नही, यथा बुद्ध। यहाँ बुद्ध दृष्टान्तमे साध्य और साधन दोनोकी व्यावृत्ति अनिश्चित है।

७. अव्यतिरेक शब्द नित्य है, अमूर्त्त होनेसे, जो नित्य नही, वह अमूर्त्त नही, यथा घट। घटमे साध्यकी व्यावृत्ति रहनेपर भी हेतुकी व्यावृत्ति तत्प्रयुक्त नही है।

८. अप्रदर्शितव्यतिरेक शब्द अनित्य है, क्योकि सत् है, आकाशवत्। यहाँ वैधर्म्यसे आकाशमे व्यतिरेक अप्रदर्शित है।

९ विपरीतव्यतिरेक जो सत् नही, वह अनित्य नही, यथा आकाश। यहाँ साधनकी व्यावृत्तिसे साधनकी व्यावृत्ति दिखलायी गयी है, जो विरुद्ध है।

इसप्रकार दृष्टान्ताभासके ९ + ९ = १८ भेद हैं।

प्रकारान्तरसे दृष्टान्ताभासके दो भेद हैं -(१) अन्वयदृष्टान्ताभास और (२) व्यतिरेकदृष्टान्ताभास। अन्वयदृष्टान्ताभासके चार भेद हैं (१) असिद्ध-साध्य, (२) असिद्धसाधन, (३) असिद्धोभय और (४) विपरीतान्वय।

व्यतिरेकदृष्टान्ताभासके भी चार भेद हैं (१) असिद्धसाध्यव्यतिरेक, (२) असिद्धसाधनव्यतिरेक (३) असिद्धोभयव्यतिरेक और (४) विपरीत-व्यतिरेक।

ज्ञानसाधन नय

प्रत्येक वस्तु अनन्तधर्मात्मक है। इस कारण उसे अनेकान्तात्मक कहा जाता है। अर्थात् वस्तु कथञ्चित् नित्य कथञ्चित् अनित्य, कथञ्चित् एक, कथञ्चित् अनेक, कथञ्चित् सर्वगत, कथञ्चित् असर्वगत, कथञ्चित् सत्, कथञ्चित् असत् आदि अनेक धर्मोसे युक्त है। यदि वस्तुको सर्वथा नित्य माना जाय तो अर्थक्रिया न होनेसे वस्तु कूटस्थ हो जायेगी और वृक्ष आदिसे फल, पुष्प आदिकी उत्पत्ति नही हो सकेगी। अत प्रत्येक वस्तुको अनेकान्तात्मक मानना स्वभावसिद्ध और तर्कसगत है।

सामान्यत ज्ञानके दो भेद हैं (१) स्वार्थ, (२) परार्थ। जो परोपदेशके विना स्वय उत्पन्न हो उसको स्वार्थ और परोपदेशपूर्वक उत्पन्न हो उसको परार्थ कहते हैं। मति, अवधि, मन पर्याय और केवल ये चारो ज्ञान स्वार्थ ही है। श्रुतज्ञान स्वार्थ भी है और परार्थ भी।[1] जो श्रुतज्ञान श्रोत्र बिना अन्य इन्द्रियजन्य मतिज्ञानपूर्वक होता है, वह स्वार्थ श्रुतज्ञान है और जो श्रोत्रेन्द्रियजन्य मतिज्ञानपूर्वक होता है, वह परार्थश्रुतज्ञान है।

तथ्य यह है कि शब्दको सुनकर जो उत्पन्न हुआ ज्ञान है, वह परार्थश्रुत-ज्ञान कहलाता है। कारणके भेदसे कार्यमे भी भेद होता है। अतएव जब शब्दके अनेक भेद हैं, तो तज्जन्य श्रुतज्ञानके भी अनेक भेद स्वयं सिद्ध हैं। इस परार्थ-श्रुतज्ञानके प्रत्येक भेदको नय और इन समस्त नयोके समुदायको परार्थश्रुत-ज्ञान प्रमाण कहा जाता है। इसी कारण प्रमाण और नयमे अश-अशी भेद है। प्रमाण अशी और नय अश हैं। एक शब्दमे इतनी शक्ति नही है कि वह समस्त मुख्य और गौण धर्मोका एक साथ विवेचन कर सके। अतएव वस्तुके स्वरूपको अवगत करनेके लिए प्रमाण और नयकी आवश्यकता होती है।

१. तत्र प्रमाण द्विविध स्वार्थं परार्थं च। तत्र स्वार्थं प्रमाण श्रुतवर्ज्जम्। श्रुत पुन स्वार्थ भवति परार्थं च। ज्ञानात्मक स्वार्थं वचनात्मक परार्थम्। तद्विकल्पा नया।
—सर्वार्थसिद्धि–१।६

सुनय एवं दुर्नय

नय भी विषय-विवेचनकी दृष्टिसे सम्यक् और मिथ्यारूपमें विभक्त हैं। जो नय अनेकान्तात्मक वस्तुके किसी धर्मविशेषको सापेक्षिकरूपसे ग्रहण करता है वह सुनय कहलाता है। सुनय अनेकान्तात्मक वस्तुके किसी विशेष अंशको मुख्यभावसे ग्रहण करके भी अन्य अंशोंका निराकरण नहीं करता। उनकी ओर तटस्थभाव रखता है। यतः अनन्तधर्मा वस्तुमें सभी नयोंका समान अधिकार है। सुनय वही कहा जाता है जो अपने अंशको मुख्यरूपसे ग्रहण करके भी अन्य अंशोंको गौण तो करे, पर उनका निराकरण न करे और उनके अस्तित्वको स्वीकार करे। जो नय दूसरे धर्मोंका निराकरण करता है और अपना ही अधिकार प्रतिष्ठित करता है, वह दुर्नय है। प्रमाणमें पूर्ण वस्तु आती है। नय एक अंशको मुख्यरूपसे ग्रहण करके भी अन्य अंशोंको गौण करता है। पर उनकी अपेक्षा रखता है, तिरस्कार नहीं करता। पर दुर्नय अन्य निरपेक्ष होकर अन्यका निराकरण करता है। प्रमाण तत्-अतत्, सत्-और असत् सभीको ग्रहण करता है, किन्तु नय स्यात्, सत् रूपमें सापेक्ष ग्रहण करता है। दुर्नय स्यात्का तिरस्कार कर निरपेक्षताको अपनाता है।

जो अपने पक्षका आग्रह करते हैं, वे सभी नय मिथ्या है, क्योंकि इनके द्वारा परका निषेध होता है। पर जब ये ही परस्पर सापेक्ष और अन्योन्याश्रित होते हैं तब सम्यक्त्वके सद्भाववाले हो जाते हैं।[1] जिस प्रकार मणियाँ एक सूतमें पिरोये जानेपर रत्नावली या रत्नाहार बन जाती हैं उसी प्रकार सभी नय सापेक्ष होकर सम्यक् हो जाते हैं और सुनय कहलाते हैं। निरपेक्ष रहनेपर नयोंको दुर्नय कहा जाता है।

जितने वचनविकल्प हैं, उतने ही नय हैं।[2] जो वचनविकल्परूपी नय परस्पर सम्बद्ध होकर स्वविषयका प्रतिपादन करते हैं, वे स्वसमयप्रज्ञापना सम्यक् कथन हैं और जो अन्यनिरपेक्षवृत्ति हैं वे अन्य धर्मोके व्याघातक होनेसे दुर्नय या मिथ्या नय हैं।[3]

१. तम्हा सव्वे वि णया मिच्छादिट्ठी सपक्खपडिवद्धा।
अण्णोण्णणिस्सिआ उण हवन्ति सम्मत्तसब्भावा॥ सन्मतिसूत्र १।२१.

२. जावइया वयणवहा तावइया चेव होंति णयवाया।
जावइया णयवाया तावइया चेव परसमया॥ वही, सूत्र ३।४७

३. जो वयणिज्जवियप्पा संजुज्जन्तेसु होन्ति एएसु।
सा ससमयपण्णवणा तित्थयराऽऽसायणा अण्णा॥ वही, सूत्र १।५३

सारांश यह है कि प्रत्येक नय अपने-अपने विषयको ही ग्रहण करते हैं। उनका प्रयोजन अपनेसे भिन्न दूसरे नयके विषयका निराकरण करना नही, किन्तु गौण-प्रधानभावसे ये परस्परसापेक्ष होकर ही सम्यक् होते हैं। जिस प्रकार प्रत्येक तन्तु स्वतन्त्र रहकर पटकार्यको करनेमे असमर्थ है, किन्तु उन तन्तुओके मिल जानेपर पटकार्यकी उत्पत्ति होती है, उसी प्रकार प्रत्येक नय स्वतन्त्र रहकर अपने कार्यको उत्पन्न करनेमे असमर्थ है, परन्तु परस्परसापेक्ष-भावसे ये नय सम्यक्ज्ञानकी उत्पत्ति करते हैं। नयके विना मनुष्यको स्याद्वादकी प्रतिपत्ति नही होती। अत जो एकान्तके आग्रहसे मुक्त होना चाहते हैं, उन्हे नयद्वारा वस्तुज्ञानमे प्रवृत्त होना चाहिए।

नयभेद

वस्तु सामान्यविशेषात्मक है। जो वस्तुमे सामान्य धर्मको मुख्यतासे ग्रहण करता है, विशेष धर्मको गौण करता है, वह द्रव्यार्थिक नय है। इसके विपरीत जो वस्तुके सामान्य स्वरूपको गौणकर विशेष स्वरूपको मुख्यतासे ग्रहण करता है, उसे पर्यायार्थिक नय कहते हैं। द्रव्यार्थिकनय प्रमाणके विषयभूत द्रव्य-पर्यायात्मक, एकानेकात्मक अर्थका विभाग करके पर्यायार्थिक नयके विषयभूत भेदको गौण करता हुआ उसकी स्थिति मात्रको स्वीकारकर अपने विषयरूप द्रव्यको अभेदरूप व्यवहार करता है। अथवा द्रव्य ही जिसका प्रयोजन है, वह द्रव्यार्थिकनय है।[1] द्रव्यार्थिकनयोमे द्रव्य एव पर्यायार्थिकनयोमे पर्याय विषय है। द्रव्यार्थिकनयकी दृष्टिसे धर्मद्रव्य, अधर्मद्रव्य और आकाशद्रव्य एक-एक हैं। जीव, पुद्गल और काल द्रव्य अनेक है।[2]

पर्यायार्थिक नयका आधार पर्याय है। यह पर्याय अर्थपर्याय हो, या व्यञ्जन-पर्याय, स्थूलपर्याय हो या सूक्ष्मपर्याय, शुद्धपर्याय हो या अशुद्धपर्याय, सभी पर्यायार्थिक नयके विषय हैं। यद्यपि पर्यायें सादि सान्त ही होती है। पर अनेक पर्यायोके समूहरूप व्यञ्जनपर्यायकी अपेक्षा पर्यायोके अनेक भेद किये जा सकते हैं। इनमे अनादि पर्याय तो पुद्गल द्रव्यकी वह व्यञ्जनपर्याय है, जो सूक्ष्मरूपसे परिणमनशील रहनेपर भी बाह्यमे सदा ज्यो-की-त्यो दिखलाई

१. द्रव्यमर्थ प्रयोजनमस्येत्यसौ द्रव्यार्थिक ।
पर्यायोऽर्थ प्रयोजनमस्येत्यसौ पर्यायार्थिक ॥

सर्वार्थसिद्धि १-६

२ पर्यायो विशेषोऽपवादो व्यावृत्तिरित्यर्थ । तद्विषय पर्यायार्थिक ॥

सर्वार्थसिद्धि १-३३

मतिज्ञान, अवधिज्ञान, मनःपर्ययज्ञान और केवलज्ञान, ये चार ज्ञान ऐसे हैं, जो धर्म-धर्मीका भेद किये बिना वस्तुको जानते हैं। इसलिए ये सबके सब प्रमाणज्ञान हैं। श्रुतज्ञान विचारात्मक होनेसे कभी धर्म-धर्मीका भेद किये बिना स्वरूपका अवगत करता है और कभी धर्म-धर्मीका भेद करके वस्तुका बोध करता है। जब धर्म-धर्मीका भेद किये बिना वस्तु प्रतिभासित होती है, तब यह श्रुतज्ञान प्रमाण कहलाता है और जब उसमें धर्म-धर्मीका भेद होकर वस्तुका ज्ञान होता है, तब वह नय कहलाता है। इसी कारण नयोंको श्रुतज्ञानका भेद माना गया है।

नयस्वरूप

अनन्तधर्मात्मक होनेके कारण वस्तु बहुत जटिल है। उसको जाना तो जा सकता है, पर कहा नहीं जा सकता। उसे कहनेके लिए वस्तुका विश्लेषण कर एक-एक धर्म द्वारा क्रमपूर्वक उसका निरूपण करनेके अतिरिक्त अन्य उपाय नहीं है। वक्ता किसी एक धर्मको मुख्यकर उसका कथन करता है। उस समय उसकी दृष्टिमें अन्य धर्म गौण होते हैं, पर निषिद्ध नहीं। कोई एक निष्पक्ष श्रोता उस कथनको क्रमपूर्वक सुनता हुआ अन्तमें वस्तुके यथार्थ अखण्ड व्यापक रूपको ग्रहण कर लेता है। यह वस्तुधर्मग्रहणकी प्रक्रिया नय कहलाती है। नयका शाब्दिक अर्थ है नयति इति नय अर्थात् जो जीवादि पदार्थोंको लाते हैं या प्राप्त कराते हैं, वे ज्ञानांश नय कहलाते हैं।

अनेक धर्मोको युगपत् ग्रहण करनेके कारण प्रमाण अनेकान्तरूप और सकलादेश है तथा एक धर्मको ग्रहण करनेके कारण नय एकरूप व विकलादेशी है। प्रमाणज्ञानकी अन्य धर्मोकी अपेक्षाको बुद्धिमें सुरक्षित रखते हुए प्रयोग किया जानेवाला नय ज्ञान या सम्यक् वाक्य है।

पदार्थ तीन कोटियोंमें विभक्त हैं १ अर्थात्मक या वस्तुरूप, २ शब्दात्मक या वाचकरूप और ३ ज्ञानात्मक या प्रतिभासरूप। इन तीन प्रकारके पदार्थोंको विषय करनेके कारण नय भी तीन प्रकारके होते हैं (१) अर्थनय, (२) शब्दनय, (३) ज्ञाननय। वस्तुतः मुख्य-गौणविवक्षाके कारण वक्ताके अभिप्राय अनेक प्रकारके होनेसे नयके अनेक भेद हैं।

अनेकान्तात्मक वस्तुका जिस धर्मकी विवक्षासे वक्ता कथन करता है उसके उसी अभिप्रायको जाननेवाले ज्ञानको नय कहा जाता है। यह भावनयका लक्षण है। उस धर्म तथा उसके वाचक शब्दको द्रव्यनय कहते हैं। प्रकारान्तरसे धर्मविवक्षावश लोकव्यवहारके साधक, हेतुसे उत्पन्न श्रुतज्ञानके विकल्प-

को नय कहा जाता है ।[1] ज्ञानीका जो विकल्प वस्तुके एक अंशको ग्रहण करता है वह भी नय कहलाता है । यह नयव्यवस्था प्रमाणमे ही होता है, अप्रमाणमे नही । दूसरी बात यह है कि नय हमेशा प्रमाणका अंशरूप ही रहता है, पूर्ण रूप नही । यदि अप्रमाणमे नयव्यवस्था मान ली जाय तो किसी भी वस्तुकी सिद्धि सम्भव नही है और सर्वत्र अव्यवस्था या अनवस्था उपस्थित हो जायगी ।

प्रमाणके विषयभूत स्व और पदार्थके अंशका जिसके द्वारा निर्णय किया जाय वह नय कहलाता है ।[2]

"नीयते गम्यते येन श्रुतार्थांशो नयो हि स" अर्थात् जिसके द्वारा श्रुतज्ञानरूप प्रमाणके विषयभूत पदार्थके अंशका ज्ञान किया जाय, वह नय कहलाता है । नयका उद्भव श्रुतज्ञानसे होता है । यह एक सार्थक दृष्टिकोण है । इसका प्रयोग करनेके लिए वक्ता स्वतन्त्र है, पर अनुबन्ध इतना ही है कि वक्ता एक समयमे एक ही सुनिश्चित दृष्टिका सुनिश्चित अर्थमे प्रयोग करे । नय विरोधको शान्त करता है । निरपेक्ष नयको मिथ्या और सापेक्ष नयको अर्थकृत् माना जाता है ।

वस्तु-अधिगमके उपायोमे प्रमाणके साथ नयका भी निर्देश पाया जाता है । प्रमाण वस्तुके पूर्ण रूपको ग्रहण करता है और नय प्रमाणके द्वारा गृहीत एक अंशको । प्रमाण समग्रभावसे ग्रहण करता है और नय अंशरूपसे । यथा "अयं घट" इस ज्ञानमे प्रमाण घटको अखण्डभावसे रूप, रस, गन्ध, स्पर्श, आदि अनन्त गुण-धर्मका विभाग न करके पूर्णरूपमे जानता है, पर नयके कथनानुसार 'रूपवान् घट' 'रसवान् घट' आदि एक-एक गुणधर्मानुसार वस्तुका निरूपण किया जाता है । यहाँ यह स्मरणीय है कि प्रमाण और नय दोनो ही ज्ञानवृत्तियाँ हैं । दोनो ज्ञानात्मक पर्यायें हैं । जब ज्ञाताकी सकल ग्रहणकी दृष्टि होती है, तब ज्ञान प्रमाण होता है और जब उसी प्रमाणसे ग्रहीत वस्तुको खण्डश ग्रहण करनेकी दृष्टि रहती है, तब अंशग्राही नय कहलाता है । प्रमाणज्ञान नयकी उत्पत्तिके लिए भूमिका तैयार करता है । साराशत सकलग्राही ज्ञान प्रमाण और अंशग्राही विकल्पज्ञान नय है । अखण्डभावसे ग्रहण करना प्रमाणकी सीमामे समाविष्ट है और खण्डभावसे ग्रहण करना नयकी सीमाके अन्तर्गत है । इसीसे प्रमाणको सकलादेशी और नयको विकलादेशी भी कहा गया है ।

१ लोयाण ववहारं धम्मविवक्खाइ जो पसाहेदि ।
सुयणाणस्स वियप्पो सो वि णओ लिंगसभूदो ॥ स्वामीकार्तिकेयानुप्रेक्षा

२ 'स्वार्थैकदेशनिर्णीतिलक्षणो हि नय स्मृत. ।' तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक १।६।४

पडती है। यद्यपि इस स्थूलपर्यायमे भी प्रतिक्षण परिणमन होता रहता है। पर अनादिसे अनन्त तक उसकी एक ही धारा बनी रहती है। इसी कारण यह अनादि-अनन्तपर्याय कहलाती है। अकृत्रिम स्कन्धरूप सुमेरु, चन्द्र, सूर्य आदि रूपमे इस पर्यायकी धारा देखी जा सकती है।

अनादि-सान्तपर्याय जीवके औदयिकभावको कहा जाता है, क्योकि प्रत्येक प्राणी अनादिकालसे अशान्त है। वह कब सर्वप्रथम अशान्त या अशुद्ध हुआ था, यह कहना असम्भव है जीवकी अशुद्धताकी आदिका पता लगाना असम्भव होनेके कारण वह अनादि है। यदि जीव भव्य है तो किसी-न-किसी दिन इस अशुद्धताका अन्त करके शुद्ध और शान्त हो सकता है। ऐसे जीवको अशुद्धताका अन्त दिखलाई पडता है। अत वह सान्त है। इस तरह साधारण ससारी जीवकी अशुद्धता औदयिकभावजन्य होनेके कारण अनादि-सान्त है पुद्गलकी अनादि-सान्त कोई पर्याय प्रतिभासित नही होती, क्योकि परमाणु पृथक् हो-होकर पुन पुन बन्धको प्राप्त होता रहता है। सादि-अनन्तपर्याय क्षायिकभावजन्य है, जो उत्पन्न होनेके पश्चात् पुन. नष्ट नही होती, यथा सिद्ध परमेष्ठीकी पूर्ण शुद्धपर्याय किसी विशेष समयमे उनके तपश्चरण आदिके द्वारा प्रादुर्भूत तो अवश्य हुई थी, पर उसका विनाश कभी नही होता। अर्थात् इस पर्यायका आदि तो है, अन्त नही। इसीलिए यह सादि अनन्तपर्याय है।

सादि-सान्तपर्याय दो प्रकारकी होती है (१) क्षणभगुर और (२) दीर्घकालतक स्थित रहनेवाली। क्षणभगुरपर्याय प्रत्येक गुणके प्रतिक्षणके स्वाभाविक परिवर्तनमे घटित होती है। यह पर्याय केवलज्ञानगम्य है। इसे षट् गुणहानिवृद्धिरूप स्वभाविक क्षणिकपर्याय या सूक्ष्म-अर्थपर्याय भी कहते हैं। कुछ क्षणस्थायी पर्याय औपशमिकभावरूप है। यह पर्याय भी इतने कम समय स्थित रहती है कि स्थूलज्ञानी इसे ग्रहण नही कर पाते। पुद्गलमे भी यह पर्याय देखी जा सकती है। दीर्घकालस्थायी सादि-सान्तपर्याय भी दो प्रकारकी है (१) पूर्णअशुद्ध औदयिकभावरूप, (२) शुद्धाशुद्धक्षायोपशमिकभावरूप। क्षायोपशमिकभावके साथ औदयिकभावके रहनेसे ये पर्यायें सादि-सान्त स्थितिको प्राप्त होती हैं। सक्षेपमे सादि-सान्त पर्याय औपशमिकभाव, क्षायोपशमिकभाव और औदयिकभाव रूप होती हैं।

औपशमिकभाव तो सादि-सान्त शुद्धभाव है। क्षायोपशमिकभाव सादि-सान्त शुद्धाशुद्ध भाव हैं और औदयिकभाव सादि-सान्त अशुद्धभाव है। विचारकी दृष्टिसे पर्यायोके निम्नलिखित भेद हैं

१. अनादि-नित्य-शुद्ध,

२ सादि-नित्य-शुद्ध,

३ स्वभाव-अनित्य-शुद्ध,

४ स्वभाव-अनित्य-अशुद्ध,

५ विभाव-नित्य-शुद्ध,

६ विभाव-अनित्य-अशुद्ध।

यो तो वस्तुकी समस्त पर्याय सूक्ष्मदृष्टिसे सादि-सान्त ही होती है। परन्तु जिस प्रकार अर्थपर्यायकी अपेक्षा व्यञ्जनपर्याय अधिक समय तक रहती हुई प्रतीत होती है उसी प्रकार वस्तुकी कुछ व्यञ्जनपर्यायें भी ऐसी हैं जो अनादि नित्यरूपसे एक ही धाराके रूपमे प्रतीत होती है। सामान्यत व्यजनपर्याय कोई स्वतन्त्र पर्याय नही है किन्तु अनन्त अर्थपर्यायोका सामूहिक फल है।

पर्यायार्थिक नय उपर्युक्त सभी पर्यायोको विषय करता है।

अभेदग्रहण करनेवाली दृष्टि द्रव्यार्थिकनय या द्रव्यदृष्टि कही जाती है। और भेदग्राहिणी दृष्टि पर्यायार्थिकनय या पर्यायदृष्टि। अभेदका अर्थ सामान्य है और भेदका विशेष। वस्तुओमे अभेद और भेदकी कल्पनाका आधार-ऊर्ध्वता या तिर्यक् सामान्य है। अभेदकी एक कल्पना तो एक अखण्ड मौलिक द्रव्यमे अपनी द्रव्यशक्तिके कारण विवक्षित है जो द्रव्य या ऊर्ध्वतासामान्य कही जाती है। इस कल्पनावश कालक्रमसे होनेवाली क्रमिकपर्यायोमे ऊपर नीचे तक व्याप्त रहनेके कारण वस्तु ऊर्ध्वतासामान्य कहलाती है। क्रमिकपर्याय और सहभावी गुण व्याप्त रहते हैं। दूसरी अभेदकल्पना विभिन्न सत्तावाले अनेक द्रव्योमे सग्रहकी दृष्टिसे की जाती है। इसमे सादृश्यकी अपेक्षा रहनेसे तिर्यक् सामान्यका अस्तित्व रहता है। एक द्रव्यकी पर्यायोमे होनेवाली भेदकल्पना पर्यायविशेष कहलाती है और विभिन्न द्रव्योमे प्रतीत होनेवाली दूसरी भेद-कल्पना तिर्यक् कहलाती है। परमार्थत प्रत्येक द्रव्यगत अभेदको ग्रहण करने-वाला नय द्रव्यार्थिक और प्रत्येक द्रव्यगतपर्यायभेदको ग्रहण करनेवाला नय पर्यायार्थिक कहलाता है।

निश्चय और व्यवहारनय

आत्मसिद्धिमे प्रयोजनीय दो नय है (१) निश्चय और (२) व्यवहार अथवा (१) पर्यायार्थिक और (२) द्रव्यार्थिक। निश्चयनय आत्म-सिद्धिका हेतु है। निश्चयनयको भूतार्थ और व्यवहारको अभूतार्थ कहा जाता है। व्यवहारनय अभूतार्थ होनेसे अभूत अर्थको प्रकाशित करता है और निश्चयनय शुद्ध होनेके कारण भूतार्थको प्रकाशित करता है। यहाँ अभूतार्थमे नञ् समास किया गया

है और नञ् समासके दो अर्थ होते है पर्युदास और प्रसज्य। पर्युदासपक्ष निषेध-सूचक नियम होनेपर भी विधिके रूपमे उपस्थित होता है। यहाँ अभूतार्थमे 'अब्राह्मण' और 'अनुदरा कन्या'के समान पर्युदास पक्ष है। अनुदरा कन्या उदरसे हीन नही, अपितु लघु उदरवाली है, इसी प्रकार अभूतार्थ सर्वथा अभूतार्थ नही, अपितु किञ्चित् अभूतार्थ है। जब निश्चयनय शुद्धात्माको मुख्यतासे विषय करता है, उस समय व्यवहारनय गौणरूपमे उपस्थित रहता है। यदि एक नयका व्यवहार करते समय दूसरी नयदृष्टिका सर्वथा परित्याग कर दिया जाय, तो नयज्ञान सुनयकोटिमे नही आ सकता है।

निश्चयनयको प्रकृति अन्तर्मुखी अधिक और व्यवहारनयकी प्रकृति बहि-मुखी होती है। निश्चयनय द्वारा बाहरसे भीतरकी ओर देखना आरम्भ करता है अर्थात् शरीरसे आत्माको ओर उन्मुख होता है और व्यवहारनय द्वारा शरीरकी ओर ही दृष्टि रहती है।

वस्तुके एक, अभिन्न और स्वाश्रित परनिरपेक्ष परिणमनको जाननेवाला निश्चयनय है और अनेकरूप तथा पराश्रित पर-सापेक्षपरिणमनको अवगत करनेवाला व्यवहारनय है। वस्तुत गुणपर्यायोसे अभिन्न आत्माकी परिणतिके कथनको निश्चयनयका विषय माना जाता है और कर्मनिमित्तसे होनेवाली आत्माकी परिणतिको व्यवहारनयका विषय कहा जाता है। निश्चयनय स्वभाव-को विषय करता है, विभावको नही। जो 'स्व'मे 'स्व'के निमित्तसे होता है वह स्वभाव है, जैसे जीवके ज्ञानादि। और जो स्वमे परके निमित्तसे होते है वे विभाव हैं, जैसे जीवमे क्रोधादि। निश्चयनय आत्मामे क्रोध-मान-माया-लोभ आदि विकारोको स्वीकृत नही करता। वे पुद्गलद्रव्यके निमित्तसे होते हैं, अत पौद्गलिक कहे जाते हैं।

परके निमित्तसे होनेवाले काम-क्रोधादि विकार भी कथचित् आत्माके है अत अशुद्धनिश्चयनयकी अपेक्षा इन विकारोको भी आत्माकी विभावपरिणति-के रूपमे स्वीकार किया जाता है। निश्चय और व्यवहारनयमे भूतार्थ और अभूतार्थको कल्पना भी अपेक्षाकृत है। अर्थात् व्यवहारनय निश्चयनयकी अपेक्षा अभूतार्थ है, स्वरूप और स्वप्रयोजनकी अपेक्षासे नही। यदि व्यवहारको सर्वथा अभूतार्थ माना जाय तो वस्तुव्यवस्था घटित नहीं हो सकेगी।

चिन्तकोका अभिमत है कि जिस प्रकार म्लेच्छोको समझानेके लिये म्लेच्छ भाषाका प्रयोग करना उचित होता है, उसी प्रकार व्यवहारी जीवोको परमार्थ-का प्रतिपादक होनेसे तीर्थकी प्रवृत्तिके निमित्त अपरमार्थ होनेपर भी व्यवहार-नयका अभूतार्थ बतलाना न्यायसगत है। अर्थात् व्यवहारनय सर्वथा असत्य

नही है। यह भी सत्यके निकट पहुँचानेवाला है, अत उसके आलम्बनसे पदार्थ-का प्रतिपादन करना उचित है। अन्यथा व्यवहारके बिना निश्चयनयसे जीव शरीरसे सर्वथा भिन्न दिखलाया गया है। इस अवस्थामे जिस प्रकार भस्मका उपमर्दन करनेसे हिंसा नही होती, उसी प्रकार त्रस-स्थावर जीवोका नि शक उपमर्दन करनेसे हिंसा नही होगी और हिंसाके न होनेसे बन्धका अभाव हो जायगा। इसके अतिरिक्त रागी, द्वेषी और मोही जीव बन्धको प्राप्त होता है, अत उसे ऐसा उपदेश दिया गया है, जिससे वह राग-द्वेष और मोहसे छुटकारा पा ले। अर्थात् जो आचार्योने मोक्षका उपाय बतलाया वह व्यर्थ हो जायगा, क्योकि परमार्थसे जीव राग-द्वेष-मोहसे भिन्न ही दिखाया जाता है।

जब आत्मा सर्वथा शरीरसे भिन्न है तब मोक्षके उपाय स्वीकार करना असगत होगा और इस प्रकार मोक्षका भी अभाव हो जायगा।[1]

आशय यह है कि निश्चय और व्यवहार ये दोनो ही नय पात्रभेदकी दृष्टिसे प्रतिपादित हैं। एक ही नयका आश्रय लेनेसे समस्त पात्रोका कल्याण नही हो सकता। जो परमभावको अवगत करनेवाला है, उसके लिये शुद्ध तत्त्वका कथन करनेवाला निश्चयनय ग्राह्य है और जो अपरमभावमे स्थित हैं, उनके लिये व्यवहारनय।[2] निश्चय और व्यवहार ये दोनो ही अपनी-अपनी दृष्टिसे पदार्थ-स्वरूपके बोधक हैं। जो जीव यथार्थ रूपसे निश्चय और व्यवहार-को अवगत कर एकान्तपक्षका त्याग करता है और मध्यस्थवृत्ति ग्रहण करता है वही आत्म-स्वरूपको समझता है।

जो जीव स्वय मोहका वमनकर निश्चय और व्यवहारके विरोधको ध्वस्त करनेवाले 'स्यात्' पदसे चिह्नित नयवचनोका अनुसरण करता है, वह परम ज्योतिस्वरूप आत्माको अवगत कर लेता है। वस्तुस्वरूपका परिज्ञान प्राप्त

१ व्यवहारो हि व्यवहारिणा म्लेच्छभाषेव म्लेच्छाना परमार्थप्रतिपादकत्वादपर-मार्थोऽपि तीर्थप्रवृत्तिनिमित्त दर्शयितु न्याय्य एव। तमतरेण तु शरीराज्जीवस्य परमार्थतो भेददर्शनात् त्रसस्थावराणा भस्मन इव नि शकमुपमर्दनेन हिंसाऽभावाद्भ-वत्येव बन्धस्याभाव। तथा रक्तो द्विष्टो विमूढो जीवो बध्यमानो मोचनीय इति रागद्वेषमोहेभ्यो जीवस्य परमार्थतो भेददर्शनेन मोक्षोपायपरिग्रहणाभावात् भवत्येव-मोक्षस्याभाव।

समयसार गाथा ४८, अमृतचन्द्राचार्यकी टीका

२ समयसार गाथा १२

करनेके लिये दोनो नयोका अवलम्बन आवश्यक है। आत्मश्रद्धा या आत्मानुभूतिके समय व्यवहार नयका अवलम्बन हेय है। पर वस्तुस्वरूपका यथार्थ ज्ञान प्राप्त करनेके लिये उभयनयोका आलम्बन आवश्यक है।

नयोके अन्य भेद-प्रभेद

द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक इन मूलनयोके दो-दो भेद है १ अध्यात्मद्रव्यार्थिक, २ शास्त्रीयद्रव्यार्थिक, ३ अध्यात्मपर्यायार्थिक, ४ शास्त्रीयपर्यायार्थिक।

इनमेसे अध्यात्मद्रव्यार्थिकके दश भेद है और अध्यात्मपर्यायार्थिकके छह भेद है। शास्त्रीयद्रव्यार्थिकके मूलत तीन भेद है और उपभेदोकी अपेक्षा सात भेद हैं। तीन भेदोमे नैगम, सग्रह और व्यवहार हैं। नैगमके तीन भेद, सग्रहके दो भेद और व्यवहारके दो भेद इस प्रकार ३ + २ + २ = ७ भेद हैं। शास्त्रीयपर्यायार्थिकके चार भेद है ऋजुसूत्र, शब्द, समभिरूढ और एवभूत। इनमे ऋजुसूत्र नयके दो भेद है और शेष नयोमे कोई उपभेद नही है। इस प्रकार शास्त्रीयपर्यायार्थिकके २ + १ + १ + १ = ५ भेद है। इस तरह शास्त्रीयनयके ७ + ५ = १२ और अध्यात्मके १० + ६ = १६ कुल १६ + १२ = २८ निश्चयनयके भेद हैं।

व्यवहारनयके मूलत तीन भेद है १ सद्भूत, २ असद्भूत, ३ उपचरित। इनमे सद्भूतके दो, असद्भूतके तीन और उपचरितके तीन इस प्रकार व्यवहारनयके कुल आठ भेद है।

निश्चय २८ + व्यवहारनय ८ = ३६ नयके समस्त भेद है।

१. कर्मोपाधिनिरपेक्षशुद्धद्रव्यार्थिक कर्मबन्धसयुक्त ससारी जीवको शक्तिकी अपेक्षा सिद्धसमान शुद्ध ग्रहण करना।

२ सत्ताग्राहकशुद्धद्रव्यार्थिक उत्पाद-व्ययको गौणकर केवल सत्ताको ग्रहण करना।

३. भेदविकल्पनिरपेक्षशुद्धद्रव्यार्थिक गुण-गुणी और पर्याय-पर्यायीमे भेद न कर द्रव्यको गुण-पर्यायसे अभिन्न ग्रहण करना।

४ कर्मोपाधिसापेक्षअशुद्धद्रव्यार्थिक जीवमे क्रोधादिभावोंका ग्रहण करना।

५. सत्ताग्राहक अशुद्धद्रव्यार्थिक उत्पादव्ययमिश्रित सत्ताको ग्रहण करना।

६ भेदकल्पनासापेक्षअशुद्धद्रव्यार्थिक द्रव्यको गुण-गुणी आदि भेद सहित ग्रहण करना।

७ अन्वयद्रव्यार्थिक समस्त गुण-पर्यायोमे द्रव्यको अन्वयरूप ग्रहण करना।

८ स्वद्रव्यादिग्राहकद्रव्यार्थिक स्वद्रव्यादिचतुष्टयकी अपेक्षासे द्रव्यके सत्स्वरूपको ग्रहण करना।

९ परद्रव्यादिग्राहकद्रव्यार्थिक पर-द्रव्यादिचतुष्टयकी अपेक्षासे द्रव्यको असत्स्वरूप ग्रहण करना

१० परमभावग्राहीद्रव्यार्थिक अशुद्धशुद्धोपचाररहित द्रव्यके परमस्वभाव-को ग्रहण करना

११ अनादिनित्यपर्यायार्थिक अनादिनिधनपर्यायोको ग्रहण करना।

१२ सादिनित्यपर्यायार्थिक कर्मक्षयसे उत्पन्न अविनाशी पर्यायको ग्रहण करना।

१३ अनित्यशुद्धपर्यायार्थिक सत्ताको गौणकर उत्पाद-व्यय स्वभावको ग्रहण करना।

१४. अनित्य-अशुद्धपर्यायार्थिक पर्यायको एक समयमे उत्पाद-व्यय और ध्रौव्यस्वभावयुक्त ग्रहण करना।

१५ कर्मोपाधिनिरपेक्ष-अनित्य-अशुद्धपर्यायार्थिक ससारी जीवोकी पर्यायको सिद्धसदृश शुद्धपर्याय ग्रहण करना।

१६ कर्मोपाधिसापेक्ष-अनित्य-अशुद्धपर्यायार्थिक ससारी जीवोकी चतुर्गति-सम्बन्धी अनित्य-अशुद्ध पर्यायको ग्रहण करना।

१७. भूतनैगम अतीतमे वर्त्तमानका आरोप करना।

१८ भाविनैगम भावीमे भूतवत् कथन करना।

१९ वर्त्तमाननैगम प्रारम्भ हुए कार्यको तैयार हुआ कथन करना।

२० सामान्यसग्रह सत्सामान्यकी अपेक्षा समस्त द्रव्योको एकरूपमे ग्रहण करना।

२१. विशेषसग्रह जातिविशेषकी अपेक्षासे अनेक पर्यायोको एकरूपमे ग्रहण करना।

२२ शुद्धव्यवहार सामान्यसग्रहनयके विषयको भेदरूपमे ग्रहण करना।

२३. अशुद्धव्यवहार विशेषसग्रहके विषयको भेदरूपमे ग्रहण करना।

२४ सूक्ष्मऋजुसूत्र एकसमयवर्त्ती सूक्ष्म अर्थपर्यायको ग्रहण करना।

२५. स्थूलऋजुसूत्र अनेकसमयवर्त्तीस्थूल पर्यायको ग्रहण करना।

२६. शब्दनय लिङ्ग, सख्या, साधन आदिके व्यभिचारको दूर करने-वाले ज्ञान और वचनको ग्रहण करना।

२७ समभिरूढ शब्दके अनेक वाच्योमेसे किसी एक मुख्य वाच्यको ग्रहण करना।

२८ एवंभूत जिस क्रियाका वाचक जो शब्द है उस क्रियारूप-परिणत पदार्थको ग्रहण करना।

२९ सद्भूतव्यवहार पदार्थमें गुण-गुणीको भेदरूपसे ग्रहण करना।

३० उपचरितसद्भूतव्यवहार सोपाधिक गुण-गुणीको भेदरूपसे ग्रहण करना।

३१ अनुपचरितसद्भूतव्यवहार निरुपाधिक गुण-गुणीको भेदरूप ग्रहण करना।

३२ असद्भूतव्यवहार भिन्न पदार्थोंको अभेदरूप ग्रहण करना।

३३. उपचरितासद्भूतव्यवहार संश्लेषरहित वस्तुको अभेदरूप ग्रहण करना।

३४ अनुपचरितासद्भूतव्यवहार संश्लेषसहित वस्तुको अभेदरूप ग्रहण करना।[1]

आध्यात्मिक और मूलनय

आत्माके शुद्ध स्वरूपकी प्रतीति, अनुभूति और प्राप्तिमें सहायक, (१) शुद्ध-निश्चय, (२) अशुद्धनिश्चय, (३) उपचरितसद्भूतव्यवहार, (४) अनुपचरित-सद्भूतव्यवहार, (५) उपचरितासद्भूतव्यवहार और (६) अनुपचरितासद्भूत-व्यवहार नय हैं। इन नयों द्वारा वस्तुकी जानकारीसे 'स्व'का ग्रहण और 'पर'-का त्याग होता है।

मूलनयोंकी मान्यताके सम्बन्धमें विवाद है। किसी चिन्तकके मतसे मूल-नय पाँच, किसीके मतसे छ. और किसीके मतसे सात हैं। वस्तुतः विविध दृष्टिकोणोंके आधारपर नयोंके असंख्यात भी भेद संभव हैं। प्रत्येक नय एक नया दृष्टिकोण उपस्थित करता है और यह दृष्टिकोण अपनेमें समीचीन होता है। मूल नय सात हैं

१. नैगमनय

संकल्पमात्रके ग्राहकको नैगमनय कहा जाता है। यह शब्द, शील, कर्म, कार्य, कारण, आधार और आधेय आदिके आश्रयसे उपचारको विषय करता है। यथा 'अश्वत्थामा हतो नरो वा कुञ्जरो वा' वाक्यमें अश्वत्थामा नामक हाथीके मारे जानेपर अन्य व्यक्तिको भ्रम उत्पन्न करनेके हेतु अश्वत्थामा

१ नयोंकी विशेष जानकारीके लिए देखिए नयचक्र, आलापपद्धति और जैनसिद्धान्त-दर्पण।

शब्दका अश्वत्थामा नामक पुरुषमे उपचार किया गया है। इसी प्रकार शीलके निमित्तसे किसी मनुष्यको क्रोधी देखकर 'सिंह' कहना शीलोपचार है। राक्षस-कर्म करते हुए देखकर किसीको राक्षस कहना, अन्नका प्राणधारणरूप कार्य देखकर अन्नको प्राण कहना, स्वर्णहारको कारणकी मुख्यतासे स्वर्ण कहना, किसीको उच्चस्थानपर बैठनेके लिए मिल जानेपर उसे राजा कहना और किसीके ओजस्वी भाषणको सुनकर व्यासपीठका गर्जन कहना नैगमनय है।

संक्षेपमे जो भूत और भविष्यत् पर्यायोमे वर्त्तमानका संकल्प करता है या वर्त्तमानमे जो पर्याय पूर्ण नही हुई, उसे पूर्ण मानता है, उस ज्ञान या वचनको नैगमनय कहते हैं। यथा कोई व्यक्ति पानी भरकर चौकेमे लकडी डाल रहा है। उससे कोई पूछता है, क्या करते हो ? वह उत्तर देता है भात बनाता हूँ। यद्यपि उस समय भात नही है, किन्तु भात बनानेका संकल्प किया। यह संकल्प ही नैगमनय है।

नैगमनयके पर्यायनैगम, द्रव्यनैगम और द्रव्यपर्यायनैगम ये तीन भेद हैं। पर्यायनैगमके तीन भेद है (१) अर्थपर्यायनैगम, (२) व्यञ्जनपर्यायनैगम और (३) अर्थव्यञ्जनपर्यायनैगम। द्रव्यनैगमके दो भेद है (१) शुद्धद्रव्यनैगम और (२) अशुद्धद्रव्यनैगम। द्रव्यपर्यायनैगमके चार भेद हैं शुद्धद्रव्यार्थपर्यायनैगम, (२) अशुद्धद्रव्यार्थपर्यायनैगम और (४) अशुद्धद्रव्यव्यञ्जनपर्यायनैगम।

२ संग्रह

अपनी जातिका विरोध न करके समस्त विशेषोको एक रूपसे ग्रहण करनेवाला संग्रहनय है। संग्रहनयके दो भेद है (१) परसंग्रह और (२) अपरसंग्रह। समस्त विशेषोमे सदा उदासीन रहनेवाला परसंग्रह सन्मात्र शुद्धद्रव्यका ग्राहक है, यथा सत्सामान्यकी अपेक्षा विश्व अद्वैतरूप है, पर जो विशेषोका निराकरण-कर सत्ताद्वैतको मान्य करता है, वह परसंग्रहाभास है। सत्सामान्यके अवान्तर-भेदोको एकरूपसे संग्रह करनेवाला अपरसंग्रह है। यथा द्रव्यत्वकी अपेक्षा सब द्रव्य एक हैं और पर्यायत्वकी अपेक्षा सब पर्याय एक है।

३ व्यवहारनय

संग्रहनयके द्वारा गृहीत अर्थोका विधिपूर्वक विभाग करनेवाले अभिप्राय-को व्यवहारनय कहते हैं। संग्रहनय समस्त पदार्थोको सत् रूपसे ग्रहण करता है और व्यवहारनय उसका विभाग करता है, जो सत् है, वह द्रव्य और पर्यायरूप है। जिस प्रकार संग्रहनयमे संग्रहकी अपेक्षा रहती है, उसी प्रकार

व्यवहारनयमे विभागीकरणकी। पदार्थोके विधिपूर्वक विभाग करने रूप जितने विचार पाये जाते हैं, वे सब व्यवहारनयकी श्रेणीमे परिगणित हैं।

४. ऋजुसूत्रनय

यह नय भूत और भावी पर्यायोको छोडकर वर्त्तमान पर्यायको ही ग्रहण करता है। यह ज्ञातव्य है कि एक पर्याय एक समय तक ही रहती है, उस एक समयवर्त्ती पर्यायको अर्थपर्याय कहते है। यह अर्थपर्याय सूक्ष्म ऋजुसूत्रनयका विषय है। व्यवहारमे एक स्थूलपर्याय दीर्घकाल तक बनी रहती है। यथा मनुष्यपर्याय आयुके अन्त तक रहती है। स्थूलपर्यायको ग्रहण करनेवाला ज्ञान और वचन स्थूल ऋजुसूत्रनय कहा जाता है।

ऋजुसूत्रनय नित्य द्रव्यको गौणकर क्षणवर्ती पर्यायको प्रधानतासे ग्रहण करता है।

५. शब्दनय

लिङ्ग, सख्या, काल, कारक, पुरुष और उपसर्ग आदिके भेदसे अर्थको भेद रूप ग्रहण करनेवाला शब्दनय होता है। शब्दकी प्रधानताके कारण इसे शब्दनय कहते हैं। भिन्न-भिन्न लिङ्गवाले शब्दोका एक ही वाच्य मानना लिङ्गव्यभिचार है। यह नय मानता है कि जब ये सब अलग-अलग हैं तब इनके द्वारा कहा जाने-वाला अर्थ भी पृथक्-पृथक् ही होना चाहिए। इसी कारण क्रियाभेदसे भी अर्थ-भेद माना जाता है। यथा 'देवदत्त घटको करता है' और 'देवदत्त द्वारा घट किया जाता है' इन दोनो वाक्योमे कर्तृवाच्य और कर्मवाच्यका भेद होनेपर लौकिक व्यवहारकी दृष्टिसे एकार्थता मानी जाती है, पर इस नयकी दृष्टिसे यह ठीक नही है, क्योकि वाक्यभेदसे वाक्यार्थमे भेद होता है।

६ समभिरूढनय

लिङ्ग आदिका भेद न होनेपर भी शब्दभेदसे अर्थका भेद माननेवाला समभिरूढनय है। जहाँ शब्दनय शब्दभेदसे अर्थभेद नही मानता, वहाँ यह नय शब्दभेद द्वारा अर्थभेद स्वीकार करता है। यथा इन्द्र, शक्र और पुरन्दर ये तीनो शब्द स्वर्गके स्वामी इन्द्रके वाचक हैं और एक ही लिङ्गके हैं, किन्तु ये तीनो शब्द उस इन्द्रके भिन्न-भिन्न धर्मोको कहते हैं। जब आनन्द करता है तो इन्द्र कहा जाता है, शक्तिशाली होनेसे शक्र और पुरो नगरोको नष्ट करने-वाला होनेसे पुरन्दर कहलाता है। इस प्रकार यह नय पर्यायभेदसे शब्दके भिन्न अर्थ मानता है।

७. एवंभूतनय

जिस शब्दका जिस क्रियारूप अर्थ है, वह क्रिया जब हो रही हो तभी उस पदार्थको ग्रहण करनेवाला वचन और ज्ञान एवंभूतनय कहलाता है। समभिरूढ नय जहाँ शब्दभेदके अनुसार अर्थभेद करता है, वहाँ एवभूतनय व्युत्पत्त्यर्थके घटित होनेपर ही शब्दभेदके अनुसार अर्थभेद करता है। यह मानता है कि जिस शब्दका जिस क्रियारूप अर्थ है। तद्रूप क्रियासे परिणत समयमे ही उस शब्दका वह अर्थ हो सकता है, अन्य समयमे नही। यथा-पूजा करते समय ही पुजारी कहना, अन्य समयमे उस व्यक्तिको पुजारी न कहना एवभूतका विषय है।

ये सातो नय परस्पर सापेक्ष अवस्थामे ही सम्यक् माने जाते है, निरपेक्ष अवस्थामे दुर्नय। इनमे नैगम, संग्रह, व्यवहार और ऋजुसूत्र अर्थनय कहलाते हैं और शेष तीन शब्दनय। इन नयोका उत्तरोत्तर अल्पविषय होता गया है। इन नयोमे प्रारंभके तीन द्रव्यार्थिक हैं और शेष चार पर्यायार्थिक है।

स्याद्वाद

स्याद्वादशब्दकी निष्पत्ति 'स्यात्' और 'वाद' इन दो पदोके योगसे हुई है। 'स्यात्' विधिलिङ्मे बना हुआ तिङन्त प्रतिरूपक निपात है। इसमे महान् उद्देश्य और वाचक शक्ति निहित है। इसे सत्यका चिह्न या प्रतीक कहा गया है; साथ ही इसे सुनिश्चित दृष्टिकोणका वाचक माना गया है। शब्दका यह स्वभाव है कि वह किसी निश्चित अर्थका अवधारण कर अन्यका प्रतिषेध करे, किन्तु 'स्यात्' अन्यके प्रतिषेधपर अकुश लगाता है। शब्द स्वार्थका प्रतिपादन तो करता ही है, पर शेषका निषेध भी कर देता है, जिससे वस्तुस्थितिका चित्राङ्कन नही हो पाता। 'स्यात्' शब्द इसी निरकुशताको रोकता है, और न्याय्यवचनपद्धतिको सूचना देता है।

यह निपात है और निपात द्योतक एव वाचक दोनो प्रकारके होते है। अत 'स्यात्' शब्द अनेकान्त सामान्यका वाचक होता है और जब यह अनेकान्तका 'द्योतन' करता है, तब 'अस्ति' आदि पदोके प्रयोगसे जिन अस्तित्व आदि धर्मोका प्रतिपादन किया जा जाता है, वह अनेकान्तरूप है, यह द्योतित होता है। सक्षेपमे स्याद्वादका अर्थ 'कथञ्चित् कथन करना है। वस्तुके वास्तविक रूपकी प्राप्ति स्याद्वाद द्वारा ही होती है।

स्याद्वाद सुनय निरूपण करनेवाली विशिष्ट भाषापद्धति है। यह निश्चित रूपसे बतलाता है कि वस्तु केवल इसी धर्मवाली नही है, किन्तु इसके अतिरिक्त अन्य धर्म भी समाहित है। यथा "स्यात् रूपवान् घट" कहनेपर यह अर्थ

निकलता है कि समस्त घडेपर रूपका ही अधिकार नही है, अपितु घड़ा बहुत बडा है, उसमे अनन्त धर्म हैं। रूप भी उन अनन्त धर्मोमेसे एक है। रूपकी विवक्षा होनेसे अभी रूप हमारी दृष्टिमे मुख्य है और वही शब्द द्वारा वाच्य बन रहा है, पर रसकी विवक्षा होनेपर रूप गौणराशिमे सम्मिलित हो सकता है और रस प्रधान बन जाता है। इस प्रकार शब्द गौण-मुख्यभावसे अनेकान्त अर्थके प्रतिपादक है। इसी सत्यका उद्घाटन 'स्यात्' शब्द करता है।

वस्तुत 'स्यात्' शब्द एक सजग प्रहरी है, जो कहे जानेवाले धर्मको इधर-उधर नही जाने देता। वह अविवक्षित धर्मोके अधिकारका सरक्षक है। अत. इस शब्दका अर्थ शायद सम्भावना या कदाचित् नही है। 'स्यादस्ति घट' वाक्यमे अस्तिपदका वाच्य 'अस्तित्व' अश घटमे सुनिश्चितरूपसे वर्तमान है। 'स्यात्' शब्द उस अस्तित्वकी सुदृढ स्थितिका सूचक है और नास्तित्व आदि सहयोगी धर्मोका मौन स्वीकर्ता है, यह स्वद्रव्य, क्षेत्र, काल, भावकी दृष्टिसे जिस प्रकार घटमे निवास करता है उसी प्रकार परद्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव आदिकी अपेक्षासे उसका भाई नास्तित्व धर्म भी रहता है। वस्तुमे रहनेवाले अनन्तधर्मोमेसे 'स्यात्' शब्द किसी एक धर्मकी ओर मुख्यरूपसे इगितकर अवशेष धर्मोके सद्भावकी सूचना देता है।

सत्यका दर्शन स्याद्वादकी भूमिपर ही हो सकता है। यह अपेक्षाविशेषसे अन्य अपेक्षाओको निराकृत न करते हुए वस्तुका प्रतिपादन करता है।

जब हम किसी वस्तुको 'सत्' कहते है उस समय उस वस्तुके स्वरूपकी अपेक्षासे ही उसे 'सत्' कहा जाता है। अपनेसे भिन्न अन्यवस्तुके स्वरूपकी अपेक्षासे प्रत्येक वस्तु 'असत्' है। 'सत्' और 'असत्' सापेक्षिक है। जिस अपेक्षासे वस्तु 'सत्' है उस अपेक्षासे 'असत्' नही है और जिस अपेक्षासे 'असत्' है उस अपेक्षासे 'सत्' नही है। वस्तुमे अनेकधर्मता विद्यमान है। वक्ता जिस धर्म-का कथन करनेकी विवक्षा करता है, उस धर्मका वह किसी दृष्टिविशेषसे प्रतिपादन कर देता है। एक ही दृष्टिसे प्रत्येक वस्तु विवेच्य नही हो सकती है।

वस्तुत प्रत्येक वस्तु अनेकान्तात्मक है। उसमें अनेक धर्म-गुण-स्वभाव और अश विद्यमान हैं। जो व्यक्ति किसी भी वस्तुको एक ओरसे देखता है उसकी दृष्टि एक धर्म या गुणपर ही पड़ती है। अत वह उसका सम्यक्द्रष्टा नही कहा जा सकता। सम्यक्द्रष्टा होनेके लिये उसे उस वस्तुको सब ओरसे देखना चाहिए और उसके धर्मो, अशो और स्वभावोपर दृष्टि डालनी चाहिए। सिक्केकी एक ही पीठिका देखनेवाला व्यक्ति सिक्केके यथार्थरूपसे निर्णय नही कर सकता है। पर जब उसकी दृष्टि सिक्केकी दूसरी पीठिकापर पडती है, तो वह पूर्व पीठिका-

के स्वरूपका समन्वय किये विना उसका यथार्थ निर्णायक नही माना जा सकता है।

जो व्यक्ति किसी वस्तुके एक ही अश, धर्म अथवा गुण,स्वभावको देखकर उसे एक ही स्वरूप मानता है, दूसरे स्वरूपको स्वीकार नही करता, उस व्यक्तिकी एकान्त धारणा मानी जाती है। पर जब वही व्यक्ति अपनी दृष्टिको उदार बना लेता है और दूसरे पक्षका भी अवलोकन करने लगता है तो उसकी दृष्टि अनेकान्तात्मक हो जाती है।

इस बातके स्पष्टीकरणके लिये हाथी और जन्मान्ध व्यक्तियोका उदाहरण लिया जा सकता है। एक वनमे एक हाथी निकला और जिन जन्मान्ध व्यक्तियोने कभी हाथीका दर्शन नही किया था वे उसका दर्शन करनेके लिये गए। कुछ व्यक्तियोने उस हाथीकी सूँडका स्पर्श किया, कुछने उसके पेटका स्पर्श किया, कुछने पूछका स्पर्श किया, कुछने कानका स्पर्श किया और कुछने पैरका स्पर्श किया। वे जब आपसमे मिले तो हाथीके स्वरूपको लेकर आपसमे विवाद करने लगे। जिन्होने हाथीके कानका स्पर्श किया वे कहने लगे कि हाथी सूपके समान होता है। जिन्होने पूछका स्पर्श किया था वे कहने लगे हाथी झाडूके समान होता है। जिन्होने सूँडका स्पर्श किया था वे कहने लगे कि हाथी मूसलके समान होता है। जिन्होने पैरका स्पर्श किया था वे कहने लगे हाथी खम्भेके समान होता है। इस प्रकार अपनी-अपनी बातको लेकर वे सभी जन्मान्ध व्यक्ति आपसमे लडने-झगडने लगे और एक दूसरेसे शत्रुता धारणकर ईर्ष्यालु बन गये। एक नेत्रवाला व्यक्ति वहाँ आया और उसने उन लडते-झगडते हुए जन्मान्ध व्यक्तियोको समझाया कि आप सभी लोगोका कहना आशिक रूपमे सत्य है। जिन्होने पूछका स्पर्श किया है वे झाडूके समान कहते है। कानका स्पर्श करनेवाले व्यक्ति हाथीको सूपके समान बतलाते हैं। सूँडका स्पर्श करनेवाले व्यक्ति हाथीको मूसलके समान और पैरका स्पर्श करनेवाले उसे खम्भेके समान कहते है वस्तुत कान, नाक, पूछ और पैर आदि सभी अगोके सापेक्षिक मिला देनेपर हाथीका स्वरूप खडा हो सकता है। इसी प्रकार अनेक धर्मात्मक वस्तुके स्वरूपका निर्णय भी सापेक्षिक दृष्टियो द्वारा ही सम्भव है।

सर्वथा एकान्तका त्यागकर अनेकान्तको स्वीकार कर ही वस्तुका कथन किया जा सकता है। वस्तु अनेक विरोधी धर्मोका समूहरूप है। इन अनेक धर्मोका निरूपण एक साथ सम्भव नही है, यत अनेक धर्मोको एक साथ जाना तो जा सकता है किन्तु एक शब्द एक समयमे अनेक धर्मोका कथन नही कर सकता है। शब्दकी शक्ति वस्तुके एक ही धर्म-गुणके व्याख्यान तक सीमित

है। दूसरी बात यह है कि शब्दकी प्रवृत्ति वक्ताके अधीन है। वक्ता वस्तुके अनेक धर्मोमेसे किसी एक धर्मका मुख्यतासे व्यवहार करता है। यथा देवदत्त-को एक ही समयमे उसका पिता भी बुलाता है और पुत्र भी। पिता उसे पुत्र कहकर और पुत्र उसे पिता कहकर बुलाता है। देवदत्त यहाँ न केवल पिता ही है न केवल पुत्र ही, किन्तु वह पिता भी है और पुत्र भी। अतएव पिताकी दृष्टि-से देवदत्तका पुत्रत्व धर्म मुख्य है और शेष धर्म गौण है और पुत्रकी दृष्टिसे देवदत्तमे पितृत्व धर्म मुख्य है और शेष धर्म गौण है। क्योकि अनेक धर्मात्मक वस्तुमेसे जिस धर्मकी विवक्षा होती है वह धर्म या गुण मुख्य कहलाता है और इतर धर्म गौण। अत वस्तु अनेकान्तात्मक है या अनन्तसहभावी गणो और अनन्तक्रमभावी पर्यायोका समूह है। वस्तुका वस्तुत्व इतनेमे ही परिसमाप्त नही होता, वह इससे भी विशाल ह।

स्पष्टताके लिये यो कहा जा सकता है कि घट सामने है। आँखोसे घटका रूप और आकार दिखलाई पडता है। पर घट केवल रूप और आकारमात्र नही है। घटको ऊँचा उठानेपर या उसे इधर-उधर उठानेपर उसके अन्य धर्म गुण प्रगट होते है। अतः घटका पूरा स्वरूप समझनेके लिये किसी ऐसे तत्त्वज्ञानीकी शरण लेनी होगी जा घटमे रहनेवाले रूप-रस-गन्ध और स्पर्श आदि स्थूल इन्द्रियोसे प्रतीत होनेवाले तथा इन्द्रियोसे प्रतीत न होनेवाले अनन्त गुणोका निरूपण कर सके। घटमे अनन्तसहभावा गुणोके साथ अनन्तक्रम-भावी पर्याये भी विद्यमान है। अत सहभावा और क्रमभावी अनन्तगुणपर्याय-के जान लेनेपर ही वस्तुका स्वरूप पूर्ण होता है। यही कारण है कि वस्तुमे अनेक विरोधी-सत्ता, असत्ता, नित्यता, अनित्यता, एकता, अनेकता प्रभृति विभिन्नगुणपर्याय विद्यमान है।

अनेकधर्मात्मक वस्तुको पृथक्-पृथक् दृष्टिकोणोसे समझना और विभिन्न दृष्टिकोणोसे सगत होनेवाले किन्तु परस्पर विरुद्ध प्रतीत होनेवाले अनेक धर्मो-को प्रामाणिक रूपसे स्वीकार करना अनेकान्तवाद है। साधारणत अनेकान्त-सिद्धान्त स्याद्वाद कहलाता है। पर वास्तवमे अनेकान्तसिद्धान्त व्यक्त करने-वाली सापेक्ष भाषापद्धति ही स्याद्वाद है।

यह हमे ज्ञात है कि प्रत्येक वस्तुमे अनन्त धर्म विद्यमान है और उन समस्त धर्मोका अभिन्न समुदाय ही वस्तु है। इस वस्तुस्वरूपको व्यक्त करनेके लिये भाषाकी आवश्यकता है। यह अनेकान्तकी भाषा ही स्याद्वाद है।

भाषा शब्दोसे बनती है और शब्द धातुओसे निष्पन्न है। एक धातु भले

ही अनेकार्थक मानी जाय पर एक कालमे और एक ही प्रसगमे वह अनेक अर्थो का द्योतन नही कर सकती। अत धातुओसे निष्पन्न शब्द भी एक ही गुणधर्मका बोध कराता है। ऐसा कोई एक शब्द नही, जो एक साथ अनेक धर्मो का प्रतिपादन कर सके। अतएव यह आवश्यक है कि वस्तुके अस्तित्व, नास्तित्व आदि धर्मोका सापेक्षात्मक भाषा द्वारा कथन किया जाय।

यह पूर्वमे ही वताया जा चुका है कि स्याद्वाद वस्तुमे रहनेवाले सापेक्षिक धर्मोका दृष्टिभेदसे कथन करता है। 'स्यात्' शब्द धातुजनित न होकर अव्यय-निष्पन्न है। यह समस्त विरोधियोमे समझौता कर हमे सम्पूर्ण सत्यकी प्रतीति कराता है।

सप्तभङ्गी

वस्तुकी अनेकान्तात्मकता और भाषाके निर्दोष प्रकार स्याद्वादके कथनके अनन्तर सप्तभङ्गीके स्वरूपपर विचार करना भी आवश्यक है। सातभङ्ग या वस्तुविचारकी दृष्टियाँ अनेकान्तात्मक वस्तुस्वरूपके विश्लेषणमे आवश्यक हैं। एक वस्तुमे प्रश्नके वशसे प्रत्यक्ष और अनुमानसे अविरुद्ध विधि और निषेधकी कल्पनाको सप्तभङ्गी कहते हैं।[1] ये सातभङ्ग निम्न प्रकार है

१. विधि कल्पना।
२. प्रतिषेध कल्पना।
३. क्रमसे विधि-प्रतिषेध कल्पना।
४. युगपत् विधि-प्रतिषेध कल्पना।
५. विधि कल्पना और युगपत् विधि-प्रतिषेध कल्पना।
६ प्रतिषेध कल्पना और युगपत् विधि-प्रतिषेध कल्पना।
७ क्रम और युगपत् विधि-प्रतिषेध कल्पना।

इस प्रकार विशाल और उदारताकी दृष्टिसे वस्तुके विराट् रूपको देखा और समझा जा सकता है। यो तो वस्तुमे अनन्तधर्म रहनेके कारण और एक-एक धर्मके विधि-निषेधकी अपेक्षा अनन्तसप्तभगियाँ सम्भव है। पर विधि-निषेधात्मक रूपमे सात विकल्प रूप ही सम्भव है। ये सात ही भङ्ग क्यो होते हैं? इसका उत्तर यह है[2] कि वस्तुके सम्बन्धमे जिज्ञासा सात प्रकारकी होती

१. "प्रश्नवशादेकस्मिन् वस्तुन्यविरोधेन विधिप्रतिषेधकल्पना सप्तभगी"
तत्त्वार्थराजवार्तिक, पृष्ठ १-६, पृष्ठ ३६

२ अष्टसहस्री (नाथारग पाण्डुरग) पृष्ठ १२५.

। वस्तुत गौण और मुख्य विवक्षासे सभी भगोका प्रयोग सार्थक होता है। था द्रव्यार्थिक नयकी प्रधानता और पर्यायार्थिक नयकी गौणतामे पहला टित होता है।

पर्यायार्थिक नयकी प्रधानता और द्रव्यार्थिक नयकी गौणतामे दूसरा भग टित होता है। प्रधानता और अप्रधानता शब्दके अधीन है। जो शब्दके द्वारा विवक्षित हो, वह प्रधान है और जो शब्दके द्वारा नही कहा गया है और र्थमे गम्यमान होता है वह अप्रधान है।

प्रथम भगके प्रत्येक पदकी सार्थकता 'घट ही है' ऐसा अवधारण करनेपर टसे अतिरिक्त अन्य पदार्थोके अभावका प्रसग आता है। अत प्रथम भगमे स्यात्' शब्दका प्रयोग करनेसे स्वद्रव्य, स्वक्षेत्र, स्वकाल-स्वभावकी अपेक्षासे घटका स्तित्व सिद्ध होता है और परद्रव्य, परक्षेत्र, परकाल और परभावकी अपेक्षा- घटके नास्तित्व आदि धर्म प्रतिफलित होते हैं। इस तरह स्वचतुष्टयकी ष्टिसे घट है और पर-चतुष्टयकी अपेक्षा घट नही है, यह सिद्ध हो जाता है। द्वितीय भगके कथनमे परद्रव्य, परक्षेत्र, परकाल और परभावकी प्रधानता है। इसी चतुष्टयको मुख्यकर तथा द्रव्यार्थिक नयको गौणकर कथन करनेसे द्वितीय भग सिद्ध होता है।

तृतीय भंग स्याद् अवक्तव्यसिद्धि

जब दो गुणोद्वारा एक अखण्ड अर्थको अभिन्न रूपसे अभेदरूपसे एक साथ कथन करनेकी इच्छा होती है, तो तीसरा अवक्तव्य भग होता है। यथा प्रथम और द्वितीय भंगमे एक कालमे एक शब्दसे एक गुणके द्वारा क्रमश एक समस्त वस्तुका कथन हो जाता है। इसी प्रकार जब दो प्रतियोगी गुणोके द्वारा अवधारण रूपसे एक साथ एक कालमे एक शब्दसे समस्त वस्तुके कहनेकी इच्छा होती है, तो वस्तु अवक्तव्य हो जाती है, क्योकि उस प्रकार- का न तो कोई शब्द ही है और न अर्थ ही। साराश यह है कि जब किसी वस्तुमे अस्ति और नास्ति धर्म युगपत् विवक्षित होते हैं, उस समय दोनो धर्मोको एक साथ कहनेवाले शब्दका अभाव रहता है, क्योकि शब्दोमे क्रमश ज्ञान कराने- की शक्ति होती है। अत 'अस्ति' और 'नास्ति' इन दोनो धर्मोकी एक साथ प्रधानता होनेपर तृतीय भग 'स्यात् अवक्तव्य एव घट घडा कथचित् अवक्- तव्य है, बनता है।

कुछ समीक्षकोका अभिमत है कि शब्दमे वस्तुके तुल्यबलवाले दो धर्मोका मुख्यरूपसे युगपत् कथन करनेकी शक्यता न होनेसे निर्गुणत्वका प्रसग प्राप्त

होने एव विवक्षित उभय धर्मोका प्रतिपादन न हो सकनेके कारण वस्तु अवक्तव्य है ।

सामान्यत' अवक्तव्य भग रहस्यपूर्ण प्रतीत होता है, पर यथार्थत. वस्तुका स्वरूप कुछ इतना सश्लिष्ट एव सूक्ष्मातिसूक्ष्म है कि शब्द उसके अखण्ड अन्तस्तल तक नही पहुच पाता, क्योकि शब्द की अपनी सीमा है । फिर भी किसी प्रकार उसका वर्णन तो किया ही जाता है। पहले वस्तुका अस्तित्व वर्णित होता है, पश्चात् जब वहाँ अपर्याप्तता एव अपूर्णताकी अनुभूति होती है, तो उसका नास्तिरूप सामने आता है। पर जब वहाँ भी वस्तु अपूर्ण प्रतीत होती है और शब्दशक्तिकी अक्षमता दिखलायी पड़ती है, तो वस्तु अवक्तव्य, अनिर्वचनीय या अव्याकृत कह दी जाती है । यत शब्दके द्वारा पदार्थके दो धर्मोका एक साथ कथन सम्भव नही । क्योकि शब्द धातुओसे बनते है एव धातु क्रियाके वाचक है और क्रिया एक समयमे एक ही होती है, दो या तीन नही । अत दो धर्मोके एक साथ प्रतिपादन करनेका जब समय उपस्थित होता है, तब यह कहा जाता है कि पदार्थ अवक्तव्य है और यह अवक्तव्य भी अपेक्षाकृत है । इसके भी पूर्व 'स्यात्' जोडा गया है। अत मूल सत्ताके विषयमे एक समयमे अस्तित्व एव नास्तित्व, जो सत्ताके दोनो समान धर्म हैं, किसी एक शब्दप्रत्ययके द्वारा अभिव्यक्त नही हो सकते । 'अत स्यात् अवक्तव्य' भगका मानना आवश्यक है ।

चतुर्थभंगसिद्धि : स्यादस्तिनास्ति

अस्ति और नास्ति दोनो धर्मोका क्रमसे एक साथ कथन करनेपर चतुर्थभग बनता है । इस भंगमे दोनो नयोकी प्रधानता रहती है । इसलिये कहा जाता है कि कथचित् घट अस्ति-नास्तिरूप ही है । यदि वस्तुको सर्वथा उभयात्मक माना जाय, तो सत् और असत्मे परस्पर विरोध होनेसे उभय दोषका प्रसग आता है । जिस प्रकार ठडाईमे बादाम, सोफ, गोलमिर्च आदि विभिन्न द्रव्योके अशोकी विशेष प्रतिपत्ति होती है, उसी प्रकार अस्तित्व-नास्तित्व धर्मोके सम्बन्धसे जात्यन्तररूप भंगमे भी सत्-असत् इन दोनो धर्मोकी प्रतिपत्ति होती है ।

पञ्चमभंग स्यादस्ति अवक्तव्यसिद्धि

इस भगकी सिद्धिमे द्रव्यार्थिकनयकी प्रधानता और द्रव्यार्थिक एव पर्यायार्थिकनयकी अप्रधानता होती है । व्यस्त द्रव्य एव एक साथ अर्पित द्रव्य और पर्यायकी अपेक्षासे पचमभगकी प्रवृत्ति होती है । यथा 'स्यादस्ति च अवक्तव्यश्च एव घट' घडा कथचित् अस्तिरूप और अवक्तव्यरूप ही है ।

अनेक द्रव्य और अनेक पर्यायात्मक वस्तुके किसी विशेष द्रव्य अथवा पर्याय विशेषकी विवक्षामे एक घट अस्ति है । वही पूर्व विवक्षा तथा द्रव्यसामान्य

है और जिज्ञासा सात ही प्रकारकी क्यों होती है ? इसके समाधानरूपमे यही कहा जा सकता है कि संशय सात प्रकारके होते है और सात प्रकारके संशय होनेका कारण संशयकी विषयभूत वस्तुके धर्म सात प्रकारके है। अतएव अपुनरुक्त रूपसे सात ही भङ्ग सम्भव है। आशय यह है कि सप्तभङ्गीन्यायमें मनुष्यस्वभावकी तर्कमूलक प्रवृत्तिकी गहरी छानबीन की जाती है। जो सत्, असत्, उभय और अनुभव ये चार कोटियाँ तत्त्वविचारके क्षेत्रमे प्रचलित है और उनका अधिक-से-अधिक विकास सात रूपमें ही सम्भव है। सत्य त्रिकाला बाधित होता है, अत तर्कजन्य प्रश्नोका समाधान सप्तभंगी प्रक्रिया द्वारा किया जा सकता है।

प्रत्येक वस्तुके स्वतन्त्र गुण और पर्याय है और ये प्रतिपेध सापेक्ष है अर्थात् किसी भी वस्तुका प्रतिपादन उसके प्रतिपक्षी धर्मकी अपेक्षासे किया जाता है। सप्तभङ्गीन्याय वस्तुके यथार्थ स्वरूप तक पहुँचानेका साधन है।

प्रमाणसप्तभङ्गी एवं नयसप्तभङ्गी

सप्तभङ्गीके दो भेद हैं (१) प्रमाणसप्तभङ्गी और (२) नयसप्तभङ्गी। प्रमाण सकलवस्तुग्राही होता है और नय एकदेशग्राही। जहाँ वक्ता एक धर्मके द्वारा पूर्ण वस्तुका बोध कराना चाहता है वहाँ उसका वाक्य प्रमाण-वाक्य कहा जाता है। यदि वह एक ही धर्मका बोध कराना चाहता है और वस्तुके वर्तमान शेष धर्मोंके प्रति उसकी दृष्टि उदासीन है, तो उसका वाक्य नयवाक्य कहा जाता है। साधारणत जितना भी वचनव्यवहार है, वह नयके अन्तर्गत है। अत नयसप्तभङ्गीकी प्रमुखता है। यो तो अनेकधर्मात्मक वस्तुका बोध करानेके हेतु प्रवर्तमान शब्दकी प्रवृत्ति दो रूपसे होती है (१) क्रमश और (२) यौगपद्य। तीसरा वचनमार्ग नही है। जब वस्तुमे वर्तमान अस्तित्वादि धर्मो की काल आदिके द्वारा भेदविवक्षा होती है, तब एक शब्दमे अनेक अर्थोका ज्ञान करानेकी शक्तिका अभाव होनेसे क्रमश कथन होता है और जब उन्ही धर्मोमे काल आदिके द्वारा अभेदविवक्षा होती है तब एक शब्दको एक धर्मका बोध करानेकी मुख्यतासे तादात्म्यरूपसे एकत्वको प्राप्त सभी धर्मोका अखण्डरूपसे युगपत् कथन हो जाता है। यह युगपत् कथन सकलादेश होनेसे प्रमाण कहलाता है और क्रमश कथन विकलादेश होनेसे नय कहलाता है। सकलादेश और विकलादेश दोनोमे ही सप्तभंगी होती है। सकलादेशमे होनेवाली सप्तभङ्गी प्रमाणसप्तभङ्गी है और विकलादेशमे होने-वाली सप्तभङ्गी नयसप्तभङ्गी है। प्रमाणसप्तभङ्गी और नयसप्तभङ्गीके

प्रयोगमे वक्ताकी विवक्षाके अतिरिक्त और कोई मौलिक भेद नही है। दोनों ही सप्तभङ्गीमे "स्यादस्त्येव जीव" यह उदाहरण प्राप्त होता है। मतान्तरसे "स्यात् जीव, स्यात् जीव एव" यह प्रमाणवाक्यका और "स्यादस्त्येव जीव" यह नयवाक्यका उदाहरण है।

सप्तभङ्गोकी सिद्धि

प्रश्न सात प्रकारके होनेके कारण एक वस्तुमे सप्तभङ्ग ही होते हैं, क्योकि सातसे अतिरिक्त आठवे भङ्गका निमित्तभूत आठवाँ प्रश्न सभव नही है। प्रश्नके अभावमे न जिज्ञासा ही सम्भव है न सशयादि। यहाँ घटके साथ सातभङ्गी घटित करते हैं

१ स्यादस्त्येव घट ।
२ स्यान्नास्त्येव घट ।
३ स्यादवक्तव्य एव घटः ।
४. स्यादुभयो घट स्यादस्ति नास्ति घट ।
५ स्यादस्ति अवक्तव्य एव घट ।
६ स्याद् नास्ति अवक्तव्य एव घट ।
७ स्यादस्ति नास्ति अवक्तव्य एव घट ।

प्रथम-द्वितीय भगसिद्धि

'स्यादस्ति एव घट' इस वाक्यमे घटशब्द विशेष्य होनेसे द्रव्यवाची है और अस्तिशब्द विशेषण होनेसे गुणवाची है। इन दोनोमे विशेषण-विशेष्य-सम्बन्ध बतलानेके लिये एवकार रखा गया है। यदि 'अस्ति एव घट' घट सत् ही हैं', इतना ही कहा जाय, तो घटमे असत् आदि अन्य धर्मोकी निवृत्तिका प्रसग आयगा। अत घटमे अन्य धर्मो का अस्तित्व बतलानेके लिये 'स्यात्' शब्दका प्रयोग किया गया है।

यहाँ 'स्यात्' शब्दसे सामान्यत अनेकान्तका ग्रहण हो जाता है, पर विशेषार्थीको विशेष शब्दोका प्रयोग करना ही होता है। यथा वृक्ष शब्दसे सभी प्रकारके वृक्षोका ग्रहण होनेपर भी किसी विशेष वृक्षका कथन करनेके लिये 'शिशपा' आदि शब्दोका प्रयोग करना होता है।

'स्यात्' शब्द अनेकान्तका द्योतक होता है। वह किसी वाचकशब्दके निकटमे हुए बिना इष्ट अर्थका द्योतन नही कर सकता। अत. उसके द्वारा प्रकाश्य धर्मके आधारभूत अर्थका कथन करनेके लिये इतर शब्दोका प्रयोग किया जाता

और पर्यायसामान्य या दोनो युगपत् भेदविवक्षामे वचनोसे अगोचर होकर अवक्तव्य हो जाता है। यह भग प्रथम और तृतीय भगके मेलसे बनता है।

षष्ठभङ्ग स्यान्नास्ति अवक्तव्यसिद्धि

व्यस्त पर्याय और समस्त द्रव्यपर्यायकी अपेक्षा 'स्यान्नास्ति अवक्तव्य' भङ्ग बनता है। वस्तुगत नास्तित्व जब अवक्तव्यके साथ अनुबद्ध होकर विवक्षित होता है, तब यह भङ्ग निष्पन्न होता है। नास्तित्व पर्यायकी दृष्टिसे है और पर्यायें दो प्रकारकी होती है १ सहभाविनी और २ क्रमभाविनी। गति, इन्द्रिय, काय, योग, वेद, कषाय आदि सहभाविनी तथा क्रोध, मान, माया, लोभ शैशव, यौवन, वार्धक्य आदि क्रमभाविनी पर्यायें हैं। पर्यायदृष्टिसे गत्यादि और क्रोधादिपर्यायोमे भिन्न कोई एक अवस्थायी जीव नही हैं। किन्तु ये पर्याये ही जीव हैं। जो वस्तुत्वरूपसे सत् है वही द्रव्याग है तथा अवस्तुत्वरूपसे 'असत्' है वह पर्यायाग है। इन दोनोको युगपत् अभेदविवक्षामे वस्तु अवक्तव्य है।

यह भङ्ग द्वितीय और तृतीय भङ्गके मेलसे बना है। अत घट कथञ्चित् नास्ति और अवक्तव्य ही है। यह कथन पर्यायार्थिक नयकी प्रधानता और द्रव्यार्थिक एव पर्यायार्थिक दोनोकी अप्रधानताकी अपेक्षासे किया गया है।

सप्तमभङ्ग स्यादस्तिनास्ति अवक्तव्यसिद्धि

पृथक्-पृथक् क्रममे अर्पित तथा युगपत् अर्पित द्रव्यपर्यायकी अपेक्षा वस्तु स्यादस्ति-नास्ति अवक्तव्य है। किसी द्रव्यविशेषकी अपेक्षा अस्तित्व और पर्याय-विशेषकी अपेक्षा नास्तित्व होता है तथा किसी द्रव्यपर्यायविशेष एव द्रव्य-पर्याय सामान्यकी एक साथ विवक्षामे वही अवक्तव्य हो जाता है। यह सप्तम भङ्ग प्रथम, द्वितीय और तृतीय भङ्गके मेलसे बना है।

कुछ चिन्तक उपर्युक्त प्रकारसे स्यात् अवक्तव्यको तीसरा और स्यादस्ति-नास्तिको चौथा भङ्ग मानते हैं। पर कुछ स्यादस्ति-नास्तिको तीसरा और स्यादवक्तव्यको चौथा भङ्ग स्वीकार करते हैं।

निष्कर्ष

स्याद्वादको नीव अपेक्षा है और अपेक्षा वहाँ रहती है जहाँ वास्तविक और ऊपरसे विरोध दिखलाई दे। विरोध वहाँ होता है जहाँ निश्चय रहता है। दोनो सगयगोल अवस्थाओमे विरोध रही बन सकता। स्याद्वादका प्रयोगस्थान अनेकान्तात्मक वस्तु है, अत वस्तुके यथार्थ स्वरूपको ग्रहण करनेके लिये अनेकान्त

दृष्टि अपेक्षित है। स्याद्वाद उस दृष्टिको वाणीद्वारा व्यक्त करनेकी भाषापद्धति है। वह निमित्त या अपेक्षाभेदसे वस्तुगत विरोधी धर्म-युगलोका विरोध मिटाने वाला है। जो वस्तु सत् है वह असत् भी है, पर जिस रूपमे सत् है उस रूपमे असत् नही। स्व-रूपकी दृष्टिसे सत् है और पर-स्वरूपकी दृष्टिसे असत् है। दो निश्चित दृष्टिविन्दुओके आधारपर वस्तुतत्त्वका प्रतिपादन करनेवाला वाक्य सशयरूप हो ही नही सकता।

अर्थनियामक निक्षेप

सकेत-कालमे जिस वस्तुके लिये जो शब्द प्रयुक्त होता है वह वही रहे तो कोई समस्या नही आती, किन्तु ऐसा होता नही, अत कुछ समयके पश्चात् शब्द अपने लिये विशाल क्षेत्रका निर्माण करते है। इससे नियत शब्दकी इष्टार्थ-सम्बन्धी जानकारी देनेकी क्षमता समाप्त हो जाती है। इस समस्याका समाधान निक्षेपपद्धति द्वारा किया गया है। यह भाषा-सम्बन्धी नीति है। यत विश्वके व्यवहार और ज्ञानके आदान-प्रदानका मुख्य साधन भाषा है। भाषाके विना मनुष्यका व्यवहार चल नही सकता और न विचारोका आदान-प्रदान ही हो सकता है। मनुष्यके पास यदि व्यक्त भाषाका साधन न होता, तो उसे आज जो सभ्यता-सस्कृति एव तत्त्वज्ञानकी अमूल्य निधि प्राप्त है उससे वह वचित रह जाता। भाषा केवल वोलनेका ही साधन नही है अपितु विचार करनेका भी माध्यम है। भाषाका शरीर वाक्योसे निर्मित होता है और वाक्य शब्दोसे। प्रत्येक शब्दके अनेक अर्थ सम्भव है। वह प्रसग आशय, विषय, स्थान एव वातावरणके अनुसार विभिन्न प्रकारके अभिप्रायोको व्यक्त करता है। अतएव शब्दके मूल और उचित अर्थकी जानकारी निक्षेपविधि द्वारा सम्पन्न की जाती है।

मानव-विचारधाराके कुछ ऐसे दुरुह प्रसंग हैं, जो सामान्यत व्यक्तियोके मस्तिष्कमे सुलभतासे प्रवेश नही कर पाते। इसलिये कुछ चिन्तकोने उन प्रसगोका व्यक्तीकरण कर उन्हे वोधगम्य वनानेका प्रयास किया है। इसके लिए उन्हे कुछ प्रतीकोका आश्रय लेना पडा। इन प्रतीकोकी सज्ञा ही निक्षेप है।

इन निक्षेपो द्वारा प्रकृतिके कुछ तथ्योको उनकी अनुपस्थितिमे दूसरोको उनका अनुभव कराया जाता है। निक्षेपो द्वारा प्राप्त ज्ञान प्रत्यक्ष तो नही होता, पर सादृश्यकी स्मृतियोके जागरण द्वारा व्यक्तियोको योग्यतानुसार वस्तुके स्वरूपके वोधमे वहुत सीमा तक सहायक अवश्य होता है। इस प्रतीकात्मक व्यक्तीकरणकी प्रकृतिके कारण साहित्यमे नानाविधाएँ आविष्कृत हुईं और यही प्रतीकात्मक व्यञ्जना-प्रणाली निक्षेपके रूपमे प्रस्तुत हुई। वस्तुत प्रस्तुत

अर्थका बोध देनेवाली शब्द-रचना या अर्थका शब्दोमे आरोप निक्षेप है। अप्रस्तुत अर्थको दूर रखकर प्रस्तुत अर्थका बोध कराना ही इसका लक्ष्य है। यह संशय, विपर्यय और अनध्यवसाय ज्ञानको दूर करता है।

नय और निक्षेप

नय और निक्षेपमे विषय-विषयीभावका सम्बन्ध है। विषय-विषयी-सम्बन्ध तथा इस सम्बन्धको क्रिया नय द्वारा ज्ञात की जाती है। नाम, स्थापना और द्रव्य ये तीन निक्षेप द्रव्यार्थिक नयके विषय है और भावनिक्षेप पर्यायार्थिक नयका। भावमे अन्वय नही रहता उसका सम्बन्ध केवल वर्तमान पर्यायसे होता है। अत यह पर्यायार्थिक नयका विषय है। यो तो नय और निक्षेप दोनो ही अर्थबोधके साधन हैं।

निक्षेपकी उपयोगिता

निक्षेपकी विवक्षित अर्थको अवगत करनेकी दृष्टिसे महती उपयोगिता है। निक्षेप वक्ताको वस्तुके विवक्षित अर्थका बोध कराता है। भाषा और भावकी संगति इसीके द्वारा गठित होती है। निक्षेपको समझे बिना भाषाके प्रास्ताविक अर्थको नही समझा जा सकता है। अर्थसूचक शब्दके पहले अर्थकी स्थिति सूचित करनेवाला जो विशेषण लगता है, यही इसकी विशेषता है। अत. सविशेषणभाषाका प्रयोग ही निक्षेप है।

अर्थस्थितिके अनुरूप ही शब्द-रचना या शब्द-प्रयोगकी शिक्षा ही अर्थ-बोधका साधन हैं। अत अपेक्षादृष्टिको ध्यानमे रखना आवश्यक है। निक्षेप-दृष्टि अपेक्षादृष्टि ही है। निक्षेपकी उपयोगिता निम्न प्रकार सिद्ध है

१ निश्चय या निर्णयको प्राप्त करना।
२ सिद्धान्तप्रतिपादनकी क्षमता।
३ प्रकृत और अप्रकृत अर्थका बोध।
४ संशयका निराकरण।
५. नयदृष्टिसे वस्तुस्वरूपका यथार्थ कथन।
६ व्यवहारसिद्धिका सद्भाव।
७ विधि निर्णयका सद्भाव।

निक्षेपके भेद

शब्दसे अर्थका ज्ञान होनेमे निक्षेप निमित्त है। निक्षेपके अनन्त भेद सम्भव है, पर प्रधानरूपसे चार भेद हैं (१) नामनिक्षेप, (२) स्थापनानिक्षेप, (३) द्रव्यनिक्षेप और (४) भावनिक्षेप।

१ नामनिक्षेप

द्रव्य, गुण, क्रिया आदि निमित्तोकी अपेक्षा न कर लोक-व्यवहारके लिये वक्ताकी इच्छासे जो नामकरण किया जाता है, उसे नामनिक्षेप कहते हैं। यथा एक ऐसा व्यक्ति है, जिसमे पुजारीका एक भी गुण नही, पर किसीने उसका नाम पुजारी रख दिया है अत वह पुजारी कहलाता है। नामनिक्षेपमे वस्तुके गुणधर्मपर विचार नही किया जाता, केवल लोक-व्यवहारकी सुविधाके लिये शब्द रुढ कर लिया जाता है। दूसरा उदाहरण राजाका लिया जा सकता है किसीने अपने पुत्रका नाम राजा रख लिया है, पर वस्तुत राजाका उसमे कोई गुण नही है। यह नाम लोक-व्यवहार चलानेके लिये ही रखा गया है।

२ स्थापना-निक्षेप

किसी वस्तुमे अन्य वस्तुकी स्थापना करनेको स्थापना-निक्षेप कहते है। स्थापना-निक्षेपके दो भेद हैं. (१) तदाकार या सद्भावनानिक्षेप और (२) अतदाकार या असद्भावना-निक्षेप। पाषाण या धातुके बने हुए तदाकार प्रतिविम्वमें ऋषभनाथ या पार्श्वनाथकी स्थापना करना तदाकार स्थापना-निक्षेप है। जो मुख्य वस्तुका दर्शन करना चाहता है उसे उसकी प्रतिमाको देखकर उसमे उसकी वुद्धि होती है, क्योकि दोनोमे कथञ्चित् समानता पायी जाती है। ऋषभदेवकी स्थापना उनकी प्रतिकृतिरूप प्रतिमामे की जाती है तो दर्शकको उस प्रतिमामे यह आदितीर्थंकर हैं ऐसी वुद्धि होती है।

मुख्य वस्तुके आकारसे शून्य वस्तुमात्रको अतदाकार-स्थापना कहते है। यथा शतरंजके मोहरोमे दूसरेके कथानानुसार ही राजा, मत्री, घोडा, हाथी इत्यादिका वोध होता है। यो तो उन मोहरोका आकार न राजाका है, न मत्रीका है, न हाथीका है और न घोडेका है। पर व्यवहार चलानेके लिये इस-प्रकारकी स्थापना की गई है।

नामनिक्षेप और स्थापना-निक्षेपमे अन्तर स्थापना-निक्षेपमे तो मनुष्य आदरभाव और अनुग्रहकी इच्छा करता है पर नामनिक्षेपमे नही। ऋषभदेवकी प्रतिमामे व्यक्ति तीर्थंकर ऋषभदेव जैसा आदरभाव करता है, उसकी पूजा करता है और दर्शन एव पूजन द्वारा आत्म-विशुद्धि भी प्राप्त करता है। किन्तु ऋषभदेव नामके व्यक्तिमे न तो वैसा आदरभाव ही होता है और न उस व्यक्तिसे आत्मविशुद्धिकी प्रेरणा ही प्राप्त होती है। सक्षेपमे नाम तो लोक-व्यवहारके चलानेके लिये है पर स्थापनानिक्षेप आत्म-प्रेरणा और आत्म-विशुद्धिके लिये है।

३ द्रव्यनिक्षेप

जो वस्तु भावि पर्यायके प्रति अभिमुख है उसे द्रव्यनिक्षेप कहते हैं। इसके दो भेद हैं (१) आगम द्रव्यनिक्षेप और (२) नोआगम द्रव्यनिक्षेप। जीव-विषयक शास्त्रका ज्ञाता किन्तु उसमे अनुपयुक्त जीव आगम द्रव्यजीव है। नोआगमके तीन भेद है —(१) ज्ञायकशरीर, (२) भावि और (३) तद्व्यतिरिक्त। उस ज्ञाताके भूत, भावि और वर्तमान शरीरको ज्ञायकशरीर कहते हैं। भाविपर्यायको भावि नोआगम द्रव्यनिक्षेप कहा जाता है। यथा भविष्यमे होनेवालेको अभी राजा कहना। तद्व्यतिरिक्तके दो भेद हैं कर्म और नोकर्म। कर्मके ज्ञानावरणादि अनेक भेद है और शरीरके पोषक आहारादिरूप पुद्गल द्रव्य नोकर्म ह।

४. भावनिक्षेप

वस्तुकी वर्तमान पर्यायको भावनिक्षेप कहते है। वस्तुके पर्याय-स्वरूपको भाव कहा जाता है। यथा स्वर्गके अधिपति साक्षात् इन्द्रको इन्द्र कहना भाव-निक्षेप है।

अतीत और अनागत पर्याय भी स्वकालकी अपेक्षा वर्तमान होनेसे भाव-रूप है। जो पर्याय पूर्वोत्तरकी पर्यायोमे अनुगमन नही करती उसे वर्तमान कहते हैं। यही भावनिक्षेपका विषय है। द्रव्यनिक्षेपके समान भावनिक्षपके भी दो भेद है. (१) आगम भावनिक्षेप और (२) नोआगम भावनिक्षप। जीवादिविषयक शास्त्रका ज्ञाता जब उसमे उपयुक्त होता है तो उसे आगमभाव कहते हैं। और जीवादि पर्यायसे युक्त जीवको नोआगमभाव कहते है।

निक्षेपोसे बोध्य अर्थका सम्यक् बोध होता है। आरम्भके तीन निक्षेप द्रव्यार्थिकनयके निक्षेप है और भाव पर्यायार्थिकनयका निक्षेप है।

प्रमाण, नय और निक्षेप तीनो ही ज्ञानसाधन है। इन तीनोके द्वारा द्रव्य-पर्यायात्मक वस्तुकी पूर्ण जानकारी प्राप्त होती है।

दशम परिच्छेद

धर्म और आचार-मीमांसा

जीवन और धर्म

जीवन जड नही, गतिमान है। अत आवश्यक है कि उस गतिको उचित ढगसे इस भाँति नियमित और नियन्त्रित किया जाय कि जीवनका अन्तिम लक्ष्य प्राप्त हो सके। जीवनका उद्देश्य केवल जीना नही है, वल्कि इस रूपमे जीवन-यापन करना है कि इस जीवनके पश्चात् जन्म और मरणके चक्रसे छुटकारा मिल सके। आज सुविचारित क्रमवद्ध और व्यवस्थित जीवन-यापनकी अत्यन्त आवश्यकता है। धर्माचरण व्यक्तिको लौकिक और पारलौकिक सुख-प्राप्तिके साथ आकुलता और व्याकुलतासे मुक्त करता है। वह जीवन कदापि उपादेय नही, जिसमे भोगके लिए भौतिक वस्तुओकी प्रचुरता समवेत की जाय। जिस व्यक्तिके जीवनमे भोगोका वाहुल्य रहता है और त्यागवृत्तिकी कमी रहती है, वह व्यक्ति अपने जीवनमे सुखका अनुभव नही कर सकता। भोग जीवनका

स्वार्थपूर्ण और सकीर्ण दृष्टिकोण है। ऐसा जीवन उच्चतर आदर्शका प्रतिनिधित्व नही कर सकता, क्योकि सर्वोच्च ऐश्वर्य भी शनै शनै नष्ट होते-होते एक दिन बिलकुल नष्ट हो जाता है और अभावजन्य आकुलताएँ व्यक्तिके जीवनको अशान्त, अतृप्त और व्याकुल बना देती है ।

मनुष्य जन्म लेता है, समस्त सुखोपर अपना एकाधिकार करनेका प्रयत्न भी करता है। परिवार सहित सर्वोच्च ऐश्वर्य एव सुखोका भोग भी करता है, पर एक दिन ऐसा आता है जब वह सब कुछ यहाँका यही छोड मृत्युको प्राप्त होता है। अत यह सदैव स्मरणीय है कि सासारिक सुख ऐश्वर्य और भोग क्षणभगुर है। इनका यथार्थ उपयोग त्यागवृत्तिवाला व्यक्ति ही कर सकता है। जिसने शाश्वत, चिरन्तन आत्म-सुखकी अनुभूति प्राप्त की है, वही व्यक्ति ससारके विलास-वैभवोके मध्य निर्लिप्त रहता हुआ उनका उपभोग करता है।

शाश्वत सुख अथवा परमशक्ति तक पहुँचनेका मार्ग ससारके मध्यसे ही है। चिरन्तन आत्म-सुख और अशाश्वत भौतिक सुख परस्परमे अविच्छिन्नरूपसे सम्बद्ध दिखलाई पडते हैं, पर जिन्होने अपनी अन्तरात्मामे प्रकाशको प्राप्त कर लिया है, वे व्यक्ति मोहकी जडोमे बद्ध नही रह पाते। वस्तुत मानव-जीवनका मुख्य उद्देश्य आत्मसुख प्राप्त करना है। पर इस सुखकी उपलब्धि इस शरीरके द्वारा ही करनी है। अत सयम, अहिंसा, तप और साधनारूप धर्मका आश्रय लेना परम आवश्यक है।

मानव-जीवनके प्रमुख चार उद्देश्य है (१) धर्म, (२) अर्थ, (३) काम और (४) मोक्ष। मोक्ष परमलक्ष्य है। इस लक्ष्य तक पहुँचनेका साधन धर्म है। काम लौकिक जीवनका उपादेय तत्त्व है और इसका साधन अर्थ है। अर्थ मानवको स्वाभाविक प्रवृत्तियोकी ओर प्रेरित करता है। वह धनार्जनको इच्छापूर्तिके लिए उपयोगी मानते हुए भी अन्याय, अत्याचार एव पर-पीड़नको स्थान नही देता। यह मनुष्यकी पाशविक प्रवृत्तियोका नियत्रण कर उसे मनुष्य बननेके लिए अनुप्रेरित करता है।

सामाजिक व्यवस्थामे धर्म अत्यन्त महत्त्वपूर्ण एव प्रभावशाली अवधारणा है। धर्म मानवके समस्त नैतिक जीवनको नियन्त्रित करता है। मनुष्यकी अनेक प्रकारकी इच्छाएँ एव अनेक सघर्षात्मक आवश्यकताएँ होती है। धर्मका उद्देश्य इन समस्त इच्छाओ तथा आवश्यकताओको नियमित एव व्यवस्थित करना है। अतएव धर्म वह है जो मानव-जीवनकी विविधताओ, भिन्नताओ, अभिलाषाओ, लालसाओ, भोग, त्याग, मानवीय आदर्श एव मूल्योको नियमबद्ध

कर एकता और नियमितता प्रदान करे। वास्तवमें धर्म जीवनका एक ऐसा तरीका है जो कार्यो और क्रियाओको सयोजित और नियन्त्रित करता है। धर्मके अभावमे मानवका जीवन मनुष्य-जीवन नही रह जाता है, अपितु वह पशुजीवनकी कोटिमे सम्मिलित हो जाता है ।

मानव-जीवनमे चरित्रका अपना स्थान है। जीवनकी ऊँचाई केवल ज्ञान या विश्वाससे नही आँकी जा सकती। दिव्यताकी ओर होनेवाली यात्राका मुख्य मापदण्ड आचार ही है। दैनिक जीवनमे यह सभीको दिखलाई पड़ता है कि विश्वास और ज्ञान तबतक जीवनमे साकार नही हो पाते, जबतक मनुष्य अपने आचार-व्यवहारको मानवोचित रूप प्रदान नही करता। सन्तोप, क्षमा, आत्म-सयम, इन्द्रिय-निग्रह, दया, अहिसा और सत्य ऐसे मार्ग है, जिनका अनुसरण करनेसे व्यक्ति और समाज सुख-शान्ति प्राप्त करता है।

मनुष्यकी विविध रुचियो, इच्छाओ, सघर्षात्मक आवश्यकताओ एव उत्तरदायित्वोके बीच सामञ्जस्य उत्पन्न करनेका कार्य आचारात्मक धर्म ही करता है। व्यक्ति या समाजके विभिन्न सदस्य जब धर्मके निर्देशानुसार अपने करणीय कर्त्तव्यको निश्चित ढंगसे तथा निष्ठापूर्वक करते है, तो समाजमे सुव्यवस्था, शान्ति और समृद्धि सरल हो जाती है। अर्थ और कामका नियन्त्रक भी धर्म है। केवल अर्थ और केवल काम जीवनमे भोग तो उत्पन्न कर सकते हैं, पर जीवनको उदात्त नही बना सकते। अतएव मानव-जीवनका साफल्य नियन्त्रण, निग्रह, त्याग और सन्तोषपर ही निर्भर है।

ससार एक अनन्त अविराम प्रवाह है और नाना जीव इस प्रवाहमे अनादि कालसे अनन्तकाल तक धर्मविमुख हो लुढकते और टक्करें खाते रहते है। जीवनकी गति कही भी विश्रान्ति प्राप्त नही करती। सदाचार, विश्वास और तत्त्वज्ञान ही मानव-जीवनमे व्यवस्था, शान्ति और बन्धनोसे मुक्ति कराते हैं। क्षणिक जीवनके बदले शाश्वत जीवनका लाभ होता है और ससारके निस्सार सुख-दु खोसे ऊपर उठकर आत्मा अनन्त सुखमयमुक्तिका लाभ करती है। अत सक्षेपमे जीवनको सुव्यवस्थित और नियन्त्रित करनेके लिए धर्मकी परम आवश्यकता है।

धर्म : व्युत्पत्ति एवं स्वरूप

धर्मशब्द धृ + मन्‌से निष्पन्न है। "ध्रीयते लोकोऽनेन, धरति लोक वा धर्म अथवा इष्टे स्थाने धत्ते इति धर्म" अर्थात् जो इष्ट स्थान मुक्तिमे धारण कराता है अथवा जिसके द्वारा लोक श्रेष्ठ स्थानमे धारण किया जाता है अथवा जो लोकको श्रेष्ठ स्थानमे धारण करता है, वह धर्म है। धर्म सुखका कारण है।

धर्म और सुखमे कार्य-कारणभाव या दीपक और प्रकाशके समान सहभावी-भाव है, अर्थात् जहाँ दीपक है वहाँ प्रकाश अवश्य रहता है और जहाँ दीपक नही, वहाँ प्रकाश भी नही रहता। इसी प्रकार जहाँ धर्म होगा वहाँ सुख अवश्य रहेगा और जहाँ धर्म नही होगा वहाँ सुख भी नही रहेगा।

जो धारण किया जाय या पालन किया जाय, वह धर्म है। धर्मका एक अर्थ वस्तुस्वभाव भी है। जिस प्रकार अग्निका धर्म जलाना, जलका शीतलता, वायुका वहना धर्म है, उसी प्रकार आत्माका चेतन्य धर्म है। वस्तुस्वभावरूप धर्म है तो यथार्थ, पर इसकी उपलब्धि आचारके विना सम्भव नही। जिस आचार द्वारा अभ्युदय और नि श्रेयस मुक्तिकी प्राप्ति हो, वह धर्म कहलाता है। अभ्युदयका अर्थ लोक-कल्याण है और नि श्रेयसका अर्थ कर्म-बन्धनसे मुक्त हो स्वस्वरूपकी प्राप्ति है।

स्वभावरूप धर्म जड और चेतन सभी पदार्थोंमे समाविष्ट है, क्योकि इस विश्वमे कोई ऐसी वस्तु नही है, जिसका कोई न कोई स्वभाव न हो, पर आचार-रूप धर्म केवल चेतन आत्मामे पाया जाता है। अत धर्मका सबध आत्मासे है। वस्तु स्वभावका विवेचन चिन्तनात्मक होनेसे दर्शन-कोटिमे भी प्रविष्ट हो जाता है और आत्मा, लोक-परलोक, विश्व, कर्तृत्व, भोक्तृत्व प्रभृति प्रश्नोका उससे समाधान अपेक्षित होता है। वस्तुत धर्म आत्माको परमात्मा बननेका मार्ग बतलाता है। इस मार्गके निरूपणक्रममे द्रव्य, गुण, पर्याय, तत्त्व आदिके स्व-भावकी जानकारी भी आवश्यक है। ज्ञाता व्यक्ति ही सम्यक् आचार द्वारा आत्मासे परमात्मा बननेके मार्गको प्राप्त करता है। जिस प्रकार कुशल स्वर्णकार-को स्वर्णके स्वभाव और गुणकी भली-भाँति पहचान होती है, तथा स्वर्ण-शोधनकी प्रक्रिया भी जानता है, वही स्वर्णकार स्वर्णको शुद्ध कर सकता है। इसी प्रकार जिस आत्म-शोधकको आत्मा और कर्मोके स्वरूप तथा विभाव-परिणतिजन्य उनके सयोगकी जानकारी है वही आत्मा परमात्मा बननेमे सफल होती है। मनुष्यके विचार भी आचारसे निर्मित होते है और विचारोसे निष्ठा या श्रद्धा उत्पन्न होती है।

धर्मकी उपयोगिता कर्मनाश और प्राणियोको ससारके दु खसे छुडाकर सुख प्राप्तिके लिए है। इस सुखकी प्राप्ति तबतक सम्भव नही है जबतक कर्म-बन्धनसे छुटकारा प्राप्त न हो। अत जो कर्म-बन्धका नाशक है वह धर्म है। ससारमे जो सुख है जिसे हम ऐन्द्रयिक सुख कहते है वह भी यथार्थमे सुख नही है। सुखकी प्राप्ति और दु खसे छुटकारा कर्म-बन्धनका नाश किये बिना सम्भव नही

है। सच्चा धर्म वही है जो कर्मबन्धनका नाश करा सके। सभी आत्म-अस्तित्ववादी विचारक आत्मा, परलोक और पुनर्जन्म स्वीकार करते है। शरीर जड है, जो मृत्युके पश्चात् भी रहता है, पर आत्माके निकलते ही उसमे निष्क्रियता आ जाती है और इन्द्रियो द्वारा जानने-देखनेका कार्य बन्द हो जाता है। इसका प्रधान कारण यह है कि शरीरमेसे चैतन्य धर्मका विलयन हो गया है। यह आत्मा ही ज्ञाता, द्रष्टा, कर्ता, भोक्ता आदि गुणोसे सम्पन्न है। इसी कारण इन्द्रियोके माध्यमसे जानने-देखनेकी क्रिया सम्पन्न होती है। ये विभिन्न क्रियाएँ शरीर या इन्द्रियोका धर्म नही है। ये तो आत्माकी क्रियाएँ है। आत्माके शरीरसे पृथक् होते ही चेतनाकी क्रियाएँ अवरुद्ध हो जाती है। अत शाश्वत तत्त्व आत्मा है और उसके गुण धर्म हैं।

जिस सुखकी चाहमे ससारके प्राणी भटकते हैं, वह सुख भी जडका धर्म नही, चेतनका ही धर्म है। यत मैं सुखी हूँ इस प्रकारकी प्रतीति आत्माके ज्ञान-गुणके बिना सम्भव नही। इसलिए सुख ज्ञानका ही सहभावी धर्म है। स्पष्टीकरण-के लिए यो कहा जा सकता है कि घट पट आदि पदार्थोको देखकर जो ज्ञान होता है, वह ज्ञान घट-पट आदि पदार्थोंका धर्म नही है। हाँ, ज्ञानके साथ उनका ज्ञेय-ज्ञायक सम्बन्ध आवश्यक है। इसी प्रकार हमे अपने अनुकूल वस्तु-की प्राप्तिसे सुख और प्रतिकूल वस्तुकी प्राप्तिसे दु खका जो अनुभव होता है, वह सुख या दु ख अनुकूल या प्रतिकूल वस्तुका धर्म नही है। ये वस्तुएँ हमारे सुख या दु खमे निमित्तमात्र अवश्य है, पर सुख या दु खका अस्तित्व स्वय हमारे भीतर विद्यमान है। सुखका खजाना कही दूसरी जगहसे लाना नही है। यह तो हमारे भीतर ही छिपा हुआ है। जो सुखकी खोजमे इधर-उधर भटकते हैं वे ही दु खका कारण बनते है।

प्राय यह देखा जाता है कि जो जिसे प्राप्त है, वह उसमे सुखी नही है। सुखकी प्राप्तिका इच्छुक व्यक्ति प्राप्तसे सन्तुष्ट न होकर अप्राप्तके लिए प्रयत्न-शील है। केवल प्राप्तिका यत्न करनेसे ही इष्ट और अभिलषित वस्तुएँ उपलब्ध नही होती, तथा जो प्राप्त होती है उनसे भी उसकी तृष्णा वृद्धिगत होती जाती है, जैसे जलती हुई अग्निमे इन्धन डालनेसे अग्नि बढती है। जिस विषय-सेवन-को सुख माना है, उसके अतिसेवनसे व्यक्तिकी शक्ति क्षीण होती है और अनेक रोगोका ग्रास बनता है। भोगोके समान ही भोग-सामग्रीका साधन अर्थ भी सुखके स्थानपर दु खका ही कारण बनता है और जीवनभर मनुष्यसे दुष्कर्म कराता है। अत ससारमे दु ख है।

बिना कारणके कार्यकी उत्पत्ति नही होती। उपादान और निमित्त कारण मिलकर ही कार्यके निष्पादक है। अतएव ससारमे दु खके अस्तित्वका भी

कोई हेतु अवश्य है। जीवके ज्ञान और सुख धर्म हैं, पर इन दोनोंकी जीवमें कमी देखी जाती है। विचार करनेपर दुःखका हेतु जीवका अज्ञान, अश्रद्धा और मिथ्याचरण है। अनादिकालसे यह प्राणी अज्ञानके वशीभूत होकर इतना बहिर्दृष्टि बन गया है और अन्तर्दृष्टिसे विमुख हो गया है कि इसे अपने स्वरूपको जाननेकी इच्छा नहीं होती। जिस शरीरके साथ उसका जन्म और मरण होता है, उसे ही अपना समझकर उसीकी चिन्ता और सवर्द्धनमें अपना समस्त जीवन व्यतीत करता है। इस प्राणीने कभी इस बातपर गम्भीरतासे विचार नहीं किया कि मैं शरीरसे भिन्न स्वतन्त्र आत्म-तत्त्व हूँ। ज्ञान और सुखके निमित्तोंको ही ज्ञात कर उन्हें ही परमार्थ समझ लिया गया और ज्ञान एव सुखके परमार्थ-स्वरूपको जाननेकी चेष्टा नहीं की तथा न इन्हें प्राप्त करनेका प्रयत्न ही किया।

जीवकी परपदार्थावलोकनकी यह दृष्टि निमित्ताधीन दृष्टि है। निमित्तको ही उसने अपना सर्वस्व समझा और उपादानकी ओर लक्ष्य नहीं दिया। उपादानकी ओर यदि कभी दृष्टि गई तो उसे भी निमित्तोंके अधीन समझा। फलत यह सदा बाहरकी ओर ही देखता रहा, भीतरकी ओर नहीं। इसने कर्मजन्य अवस्था या पर्यायको ही सब कुछ समझा है। यह इस बातको भूले हुए है कि द्रव्यकर्म उसकी भूलके परिणाम हैं। राग, द्वेष और मोहरूप परिणाम यह जीव उत्पन्न न करता तो द्रव्यकर्मोंका बन्ध ही नहीं होता। यदि प्राणी स्वभाव और विभावपरिणतिको पूर्णरूपसे समझ जाय और अपनी परिणतिके प्रति सावधान हो जाय, तो पूर्वबद्ध द्रव्यकर्मोंका उदय प्राणीकी परिणतिको विकृत नहीं कर सकता। राग, द्वेष और मोहकी त्रिपुटीसे विकृति उत्पन्न होती है और विकृतिसे बन्ध होता है। तथ्य यह है कि जीवके द्वारा किये गये रागादि परिणामोंका निमित्त प्राप्तकर अन्य पुद्गल-स्कन्ध स्वय ही ज्ञानावरणादि कर्मरूप परिणमन करते हैं तथा चैतन्यस्वरूप अपने रागादिपरिणामरूपसे परिणत पूर्वोक्त आत्माको भी पौद्गलिक ज्ञानावरणादिकर्म निमित्तमात्र होते हैं।[1]

अज्ञानी जीव राग-द्वेष, मोहादि रूपसे स्वय परिणमन करता है और इन रागादिभावोंका निमित्त पाकर शुभ और अशुभ, पुण्य और पापरूप कर्म-

१ जीवकृत परिणाम निमित्तमात्र प्रपद्य पुनरन्ये।
स्वयमेव परिणमन्तेऽत्र पुद्गला कर्मभावेन ॥
परिणममानस्य चितश्चिदात्मकै स्वयमपि स्वकैर्भावै।
भवति हि निमित्तमात्र पौद्गलिक कर्म तस्यापि ॥

पुरुषार्थसिद्ध्युपाय, पद्य १२-१३.

प्रकृतियोका बन्ध होता है। जीव और पुद्गलमे निमित्त-नैमित्तिक-सम्बन्ध है। आत्माके प्रदेशोमे रागादिके निमित्तसे बन्धे हुए पौद्गलिक कर्मोके कारण यह आत्मा अपनेको भूलकर अनेक प्रकारसे रागादिरूप परिणमन करती है। इसके वैभाविक भावोके निमित्तसे पुद्गलोमे ऐसी शक्ति उत्पन्न हो जाती है जो आत्माके विपरीत परिणमनमे कारण बनती है। इस प्रकार भावकर्मसे द्रव्य-कर्म और द्रव्यकर्मसे भावकर्मका बन्ध होता है और यही ससार है।

कर्मोके निमित्तसे रागादिरूपसे परिणमन करनेवाली आत्माके रागादि निजभाव नही है, क्योकि जो निजभाव होता है वह उसके स्वरूपमे प्रविष्ट रहता है, पर रागादि तो आत्माके स्वरूपमे प्रविष्ट हुए विना ऊपर ही ऊपर प्रतिफलित होते है। ज्ञानी आत्मा इस रहस्यको जानता है इसलिए वह धर्मविद् है, किन्तु अज्ञानी तो आत्माको रागादिस्वरूप ही मानता है। यही मान्यता अधर्म है।

धर्मका स्वरूप-निर्धारण कई दृष्टियोसे किया गया है। जो मोक्षका मार्ग है, वह धर्म है और मोक्षका मार्ग रत्नत्रय सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्-चारित्र है। सक्षेपमे धर्म उसीको कहा जा सकता है जो मुक्तिकी प्राप्तिका हेतु है या मुक्तिकी ओर ले जानेवाला है और जो इससे विपरीत है वह ससार-का कारण होनेसे अधर्म है। धर्मकी निम्नलिखित परिभाषाएँ सभव हैं [1]

१ वस्तुस्वभाव।

२ रत्नत्रय सम्यक्दर्शन, सम्यक्ज्ञान और सम्यक्चारित्ररूप।

३ उत्तमक्षमादि दशलक्षणरूप।

४ दया जीवका सरागभाव या शुभोपयोगरूप परिणति आचार-धर्मके विघातक मोह और भोग है। मोहके उपशम, क्षय एव क्षयोपशमके होनेपर जो आत्मामे विशुद्धि उत्पन्न होती है, वही वास्तविक एव भावरूप अन्तरग धर्म है। बाह्य रूपमे जीव असयमवाली प्रवृत्तियोका त्याग करता है, उसे बहिरग द्रव्यरूप धर्म कहते हैं। इन्द्रियो तथा मनके विषयसे निवृत्ति, हिंसा आदि पापोका त्याग एव द्यूत आदि महाव्यसनोसे उपरति बहिरग धर्म है। यह बहिरग धर्म मोहनीय कर्मके उपशम, क्षय और क्षयोपशमके बिना मन्द, मन्दतर और मन्दतम उदयकी स्थितिमे होता है। बहिरग धर्म अनेक अभ्युदयोके कारणभूत पुण्यबन्धका हेतु होनेके अतिरिक्त अन्तरग धर्मकी सिद्धिमे भी

१. चारित्तं खलु धम्मो-धम्मो जो सो समोत्ति णिद्दिट्ठो।
मोहक्खोह-विहीणो परिणामो अप्पणो हु समो॥

प्रवचनसार गाथा ७.

कारण होता है। अन्तरग धर्मके साथ वहिरग धर्मकी व्याप्ति है। जहाँ जिस-जिस प्रमाणमे अन्तरग धर्म पाया जाता है वहाँ उसके प्रतिपक्ष बाह्य असंयत प्रवृत्तिका अभाव भी अवश्य रहता है। अनन्तानुवन्धीकषाय तथा दर्शनमोहनीय-कर्मके उपशमादिसे सम्यग्दर्शनरूप धर्म उत्पन्न होता है। इस धर्मके उत्पन्न होते ही वहिरगमे भी निर्मलता आ जाती है और यह अन्तरग निश्चयरूपधर्म व्यवहारधर्मकी सिद्धिका सहायक होता है।

कर्मवन्धके कारण मोह और योग हैं। मोहके तीन भेद हैं (१) दर्शन-मोहनीय, (२) कषायवेदनीय और (३) नोकषायवेदनीय। कषायवेदनीयका भेद अनन्तानुवन्धीका उदय सम्यग्दर्शनरूप धर्मका प्रतिपक्षी है। जब इसका उपशम, क्षय, क्षयोपशम होता है, तब अन्तरगमे धर्मकी प्रवृत्ति उत्पन्न होती है और आत्मा अपने स्वरूपकी अनुभूति करती है।

सम्यग्दर्शन : स्वरूपविवेचन

वस्तु अनन्तगुणधर्मोंका अखण्ड पिण्ड है। इसके स्वरूपका परिज्ञान अने-कान्तात्मक वस्तुके स्वरूपज्ञानसे होता है। चारित्ररूप धर्म रत्नत्रयका ही रूपान्तर है। इस धर्मका मूल स्तम्भ सम्यग्दर्शन है। सम्यग्दर्शनके अभावमे न तो ज्ञान ही सम्यक् होता है और न चारित्र ही। सम्यग्दर्शन आत्मसत्ताकी आस्था है और है स्वस्वरूपविषयक दृढनिश्चय। मैं कौन हूँ, क्या हूँ, कैसा हूँ, इसका निर्णय सम्यग्दर्शन द्वारा ही होता है। जड-चेतनकी भेदप्रतीति भी सम्यग्दर्शनसे ही होती है। स्व और पर, आत्मा और अनात्मा, चैतन्य एव जडकी स्वस्वरूपोपलब्धिका साधन भी सम्यग्दर्शन ही होती है। सम्यग्दर्शनके आलोकमे ही आत्मा यह निश्चय करती है कि अनन्त अतीतमे जब पुद्गलका एक कण भी मेरा अपना नही हो सका है, तब अनन्त अनागतमे वह मेरा कैसे हो सकेगा। वर्तमान क्षणमे तो उसे अपना मानना नितान्त भ्रम मैं 'मैं' हूँ और पुद्गल 'पुद्गल' है। आत्मा कभी पुद्गल नही हो सकती और पुद्गल कभी आत्मा नही।

यह सत्य है कि पुद्गलोकी सत्ता सर्वत्र विद्यमान है और उस सत्ताको कभी भी नष्ट नही किया जा सकता। इस विश्वके कण-कणमे अनन्तकालसे पुद्गलो-की सत्ता रही है और अनन्त भविष्यमे भी सत्ता रहेगी। अतएव पुद्गलोके रहते हुए भी आत्माके स्वरूपकी आस्था करना ही सम्यग्दर्शन है। सम्यग्दर्शन-की निम्नलिखित परिभाषाएँ उपलब्ध होती हैं

१ तत्त्वार्थश्रद्धा -सप्ततत्त्व और नौ पदार्थोंकी प्रतीति।
२ स्वपरश्रद्धा 'स्व' और परकी रुचि।

३ परमार्थ देवशास्त्रगुरुकी प्रतीति।
४ आत्मश्रद्धान श्रद्धागुणकी निर्मल परिणति।
५ अनन्तानुबन्धीकी चार प्रकृतियाँ तथा दर्शनमोहनीयकी तीन इन सात प्रकृतियोके उपशम-क्षयोपशम अथवा क्षयसे प्रादुर्भूत श्रद्धागुणकी निर्मल परिणति।

सात तत्व, पुण्य पाप, एवं द्रव्य गुण पर्याय, का यथार्थश्रद्धान सम्यग्दर्शन है। मूलत दो तत्व हैं जीव और अजीव। चेतनालक्षण जीव है और उससे भिन्न अजीव। जीवके साथ नोकर्म, द्रव्यकर्म और भावकर्मका सयोग है। अनादि कालसे इन तीनोका सयोग चला आ रहा है। आत्म-कल्याणके लिये सात तत्व या नव पदार्थ प्रयोजनीय हैं। इनके स्वरूपका वास्तविक निर्णय कर प्रतीति करना सम्यग्दर्शन है। इन सात तत्वोमे जीव-अजीवका सयोग ससार है और इसके कारण आस्रव एव बन्ध है। जीव और अजीवका जो वियोग पृथक्भाव है उसके कारण सवर एव निर्जरा है। जिस प्रकार रोगी मनुष्यको रोग, उसके कारण, रोग-मुक्ति; और उसके कारण इन चारोका ज्ञान आवश्यक है, उसी प्रकार जीवको ससार, ससारके कारण, मुक्ति और मुक्तिके कारण इन चारोका परिज्ञान अपेक्षित है। सम्यग्दर्शनकी प्राप्ति अत्यन्त आवश्यक है क्योंकि जिसका मन मिथ्यात्वसे ग्रस्त है वह मनुष्य होते हुए भी पशुतुल्य है और जिसकी आत्मामे सम्यग्दर्शन प्रकट हुआ है वह पशु होकर भी मनुष्यके समान है।

सम्यक्त्वकी प्राप्तिके लिये कतिपय योग्यताओकी आवश्यकता है। पहली योग्यता तो उस जीवका भव्य होना है। भव्यको ही सम्यग्दर्शनकी प्राप्ति होती है, अभव्यको नही। यह योग्यता स्वाभाविक है, प्रयत्नसाध्य नही। इस योग्यता-के साथ सज्ञीपर्याप्तक तथा पाँच लब्धियोसे युक्त होना अपेक्षित है। इन लब्धियो-मे देशनालब्धि अत्यावश्यक है। यत सम्यक्त्वप्राप्तिके पूर्व तत्त्वोपदेशका लाभ होना आवश्यक है। साराश यह है कि सम्यग्दर्शन सज्ञी पचेन्द्रिय, पर्याप्तक, भव्यजीवको ही होता है, अन्यको नही। भव्योमे भी यह उन्हीको प्राप्त होगा, जिनका ससार-परिभ्रमणका काल अर्द्धपुद्गलपरावर्तनके कालसे अधिक अवशिष्ट नही है। लेश्याओके विषयमे यह कथन है कि मनुष्य और तिर्यञ्चोके तीन शुभ लेश्याओमेसे कोई भी लेश्या रह सकती है। देव और नारकियोमे जहाँ जो लेश्या है उसीमे औपशमिक सम्यग्दर्शन होता है। कर्म-स्थितिके विषयमे कहा जाता है कि जिसके बध्यमान कर्मोकी स्थिति अन्त कोडा-कोडी-प्रमाण हो तथा सत्तामे स्थित कर्मोकी स्थिति सख्यातहजार सागर कम अन्त कोडा-

कोडी प्रमाण रह गई हो वही सम्यग्दर्शन प्राप्त कर सकता है। इससे अधिक स्थितिबन्ध पडनेपर सम्यग्दर्शन प्राप्त नही हो सकता है।

सम्यग्दर्शन प्राप्त करनेकी योग्यता चारो गतिवाले भव्यजीवोको होती है। क्षायोपशमिक, विशुद्धि, देशना, प्रायोग्य और करण ये पाँच लब्धियाँ भव्यको प्राप्त होती है। इनमे चार लब्धियाँ तो सामान्य है, क्योकि वे भव्य और अभव्य दोनोको प्राप्त होती हैं, पर करणलब्धिविशेष है[1]। यह भव्यको ही प्राप्त होती है और इसके प्राप्त होनेपर नियमत सम्यग्दर्शन होता है। क्षायोपशमिक लब्धि-मे जीवके परिणाम उत्तरोत्तर निर्मल होते जाते हैं। विशुद्धिलब्धि प्रशस्त प्रकृतियोके बन्धमे कारणभूत परिणामोको प्राप्ति स्वरूप हैं। देशनालब्धिमे तत्त्वोपदेश और प्रायोग्यलब्धिमे अशुभकर्मोमेसे घातियाकर्मो के अनुभागको लता और दारुरूप तथा अघातिया कर्मो के अनुभागको नीम और काञ्जीरूप कर देना है। करणलब्धिमे भावोको उत्तरोत्तर विशुद्धि प्राप्त की जाती है। भाव तीन प्रकारके होते हैं (१) अध.करण, (२) अपूर्वकरण और (३) अनि-वृत्तिकरण। जिसमे आगामी समयमे रहनेवाले जीवोके परिणाम समान और असमान दोनो प्रकारके होते हैं वह अध करण है। इस कोटिके परिणामोमे समानता पायी जाती है तथा नाना जीवोकी अपेक्षा समानता और असमानता दोनो ही घटित होती है।

जिसमे प्रत्येक समय अपूर्व-अपूर्व-नये-नये परिणाम उत्पन्न हो, उसे अपूर्व-करण कहते हैं। अपूर्वकरणमे समसमयवर्ती जीवोके परिणाम समान एवं असमान दोनो ही प्रकारके होते हैं। परन्तु भिन्नसमयवर्ती जीवोके परिणाम असमान ही होते हैं। अपूर्वकरणका काल अन्तर्मुहूर्त है और उत्तरोत्तर वृद्धिको प्राप्त होता है।[2]

जहाँ एक समयमे एक ही परिणाम उत्पन्न होता है उसे अनिवृत्तिकरण कहते हैं। इस करणमे समसमयवर्ती जीवोके परिणाम समान ही होते हैं और विषमसमयवर्ती जीवोके परिणाम विषम ही होते है। इसका कारण यह है कि यहाँ एक समयमे एक ही परिणाम होता है। इसलिये उस समयमे जितने जीव होगे उन सबके परिणाम समान ही होगे और भिन्न समयोमे जो जीव होगे, उनके परिणाम भिन्न ही होगे। इसका काल भी अन्तर्मुहूर्त है पर अपूर्वकरण-की अपेक्षा कम है।

१ गोम्मटसार जीवकाण्ड, गाथा ६५१, ६५२
२. ,, ,, गाथा ५१,५२,५३, ४९, ५०.

तीनो करणोका उपयोग अध करण, अपूर्वकरण और अनिवृत्तिकरणका उपयोग मिथ्यात्वकर्मोंके निषेकोको घटाना है। अध करणमे परिणामोकी अनन्तगुणी विशुद्धिके साथ नवीन बन्धकी स्थितिका घटना, प्रशस्तप्रकृतियोके अनुभागमे अनन्तगुणी वृद्धिका होना, एव अप्रशस्तप्रकृतियोके अनुभागका अनन्तवाँ भाग घटना-रूप क्रियाएँ होती है। अपूर्वकरणमे सत्तामे स्थित पूर्व-कर्मो की स्थिति प्रत्येक अन्तर्मुहूर्तमे उत्तरोत्तर क्षीण होती है। अत स्थिति-काण्डकका घात होता है तथा प्रत्येक अन्तर्मुहूर्तमे उत्तरोत्तर पूर्वकर्मो का अनुभाग घटनेसे अनुभागकाण्डक भी क्षीण होता है। गुणश्रेणीके कालमे क्रमश असंख्यातगुणित कर्म निर्जराके योग्य होते है। अत गुणश्रेणि निर्जरा होती है। अपूर्वकरणके पश्चात् अनिवृत्तिकरण आता है। उसका काल अपूर्वकरणके कालसे सख्यातवें भाग होता है। अनन्तर अनिवृत्तिकरणकालके पीछे उदय आने योग्य मिथ्यात्वकर्मो के निषेकोका अन्तर्मुहूर्तके लिये अभाव होता है। मिथ्यात्वके जो निषेक उदयमे आनेवाले थे उन्हे उदयके अयोग्य किया जाता है।

सम्यग्दर्शनकी उत्पत्तिके कारण—कारण दो प्रकारके होते है (१) उपादानकारण और (२) निमित्तकारण। जो स्वय कार्यरूपमे परिणत होता है, वह उपादान कारण है और जो स्वय कार्यकी सिद्धिमे कारण होता है वह निमित्तकारण है। अन्तरग और बहिरगके भेदसे निमित्तके भी दो भेद है। सम्यग्दर्शनकी उत्पत्तिका उपादानकारण आसन्नभव्यता, कर्महानि; सज्ञित्व, शुद्धपरिणाम और देशना आदि विशेषताओसे युक्त आत्मा है। अन्तरग निमित्त-कारण सम्यक्त्वकी प्रतिबन्धक अनन्तानुबन्धि क्रोध-मान-मायादि, सात प्रकृतियो-का उपशम, क्षय तथा क्षयोपशम है। बहिरग निमित्तकारण सद्गुरु आदि है। अन्तरग निमित्तकारणके मिलनेपर सम्यग्दर्शननियमत होता है परन्तु बहिरग निमित्तके मिलनेपर सम्यग्दर्शन होता भी है और नही भी।

नरकगतिमे तीसरे नरक तक जातिस्मरण, धर्मश्रवण, और तीव्रवेदना अनुभव ये तीन, चतुर्थसे सप्तम नरक तक जातिस्मरण और तीव्रवेदनानुभव ये दो, तिर्यञ्चगति और मनुष्यगतिमे जातिस्मरण, धर्मश्रवण और जिनबिम्ब-दर्शन ये तीन, देवगतिमे बारहवे स्वर्ग तक जातिस्मरण, धर्मश्रवण, जिन-कल्याणकदर्शन और देवऋद्धिदर्शन, ये चार, त्रयोदश स्वर्गसे षोडश स्वर्ग तक देवऋद्धिदर्शनको छोडकर शेष तीन एवं उसके आगे नवम ग्रैवेयक तक जाति-स्मरण तथा धर्मश्रवण ये दो बहिरग निमित्त है। ग्रैवेयकसे ऊपर सम्यग्दृष्टि

ही उत्पन्न होते हैं अत वहाँ वहिरग निमित्तकी आवश्यकता नही है ।[1]

वस्तुत सम्यग्दृष्टि जीवको विपरीत अभिनिवेश रहित आत्माका श्रद्धान होता है तथा साथमे देवगुरु आदिका भी श्रद्धान रहता है। इनमेसे प्रथमको निश्चय-सम्यग्दर्शन और द्वितीयको व्यवहार-सम्यग्दर्शन कहा जाता है। जो अपना कल्याण करना चाहता है उसे सर्वप्रथम ऐसे व्यक्तियोसे परिचित होना चाहिये, जिन्होने अपने पुरुषार्थसे पूर्ण आत्मकल्याण किया है। दूसरे शब्दोमे वितराग-सर्वज्ञ और हितोपदेशीकी पहचान करना चाहिये। पश्चात् इनके द्वारा प्रतिपादित श्रुतके ज्ञानका अवलम्बन लेकर अपने आत्म-स्वरूपका निर्णय करना एव सच्चे देव, सच्चे गुरु और सच्चे शास्त्र ही उसमे निमित्त वनते हैं और उनकी श्रद्धाके विना आगे नही वढा जा सकता है। जिनकी स्त्री, पुत्र, धन, गृह आदि ससारके निमित्तोमे तीव्र रुचि रहती है उन्हे धर्ममे निमित्त देव शास्त्र-गुरुके प्रति रुचि उत्पन्न नही होती है। अतएव सर्वज्ञ, वीतराग और हितोप-देशीके वचनोका अवलम्बन लेकर आत्म-स्वरूपकी प्रतीतिका होना अशक्य है।

धर्म आत्माका स्वभाव है और यह किसी दूसरेके अधीन नही है और न दूसरेके अवलम्बनसे प्राप्त होता है। यह तो अपनेको जानने-देखनेसे अपनेमे ही प्रादुर्भूत होता है। इसी कारण ऐसे महापुरुषो और उनकी वाणीका आश्रय ग्रहण करना पडता है जिन्होने अपनेमे पूर्ण धर्म प्रकट किया है।

सम्यग्दर्शनके भेद

उत्पत्तिकी अपेक्षासे सम्यग्दर्शनके दो भेद हैं (१) निसर्गज और (२) अधिगमज। जो पूर्वसस्कारको प्रवलतासे परोपदेशके विना ही उत्पन्न होता है वह निसर्गज सम्यग्दर्शन कहलाता है। जो परके उपदेशपूर्वक होता है वह अधिगमज है। इन दोनो प्रकारके सम्यग्दर्शनोकी उत्पत्तिका अन्तरग कारण सात प्रकृतियोका उपशम, क्षय या क्षयोपशम ही है। वाह्य कारणकी अपेक्षा उक्त दो भेद हैं।

सम्यग्दर्शनके सामान्यत तीन भेद है औपशमिक, क्षायिक और क्षायो-पशमिक।

१. वाह्य नारकाणा प्राक्चतुर्थ्या सम्यग्दर्शनस्य साधन केषाञ्चिज्जातिस्मरण, केषाञ्चि-द्धर्मश्रवण, केषाञ्चिद्वेदनाभिभव । चतुर्थीमारभ्य आ सप्तम्यया नारकाणा जातिस्मरण वेदनाभिभवश्च । तिरश्चा केषाञ्चिज्जातिस्मरण, केषाञ्चिद्धर्मश्रवण, केषाञ्चिज्जिन-विम्वदर्शनम् । मनुष्याणामपि तथैव । देवाना केषाञ्चिज्जातिस्मरण, केषाञ्चिज्जिन-महिमदर्शन, केषाञ्चिद्देवर्द्धिदर्शन ··· · · ·

अनुदिशानुत्तरविमानवासिनामिय कल्पना न सम्भवति ।

औपशमिक सम्यक्त्व

अनन्तानुबन्धीकी चार और दर्शनमोहनीयकी तीन इन सात प्रकृतियोके उपशमसे औपशमिक सम्यक्त्व उत्पन्न होता है। इसके दो भेद है प्रथमोपशम सम्यग्दर्शन और द्वितीयोपशम सम्यग्दर्शन।

अध करण आदि परिणाम-विशुद्धिके द्वारा मिथ्यात्वके जो निषेक उदयमे आनेवाले थे, उन्हे उदय अयोग्यकर अनन्तानुबन्धीचतुष्कको भी उदयके अयोग्य किया जाता है। इस प्रकार उदय अयोग्य प्रकृतियोका अभाव होनेसे प्रथमोपशम सम्यक्त्व होता है। इस सम्यक्त्वके प्रथम समयमे मिथ्यात्व प्रकृतिके तीन भेद हो जाते हैं (१) सम्यक्त्व, (२) मिथ्यात्व और (३) सम्यड्मिथ्यात्व। इन तीन प्रकृतियो तथा अनन्तानुबन्धी क्रोध, मान, माया और लोभ इन चार प्रकृतियोका उदयाभाव होनेपर प्रथमोपशम सम्यक्त्व होता है। इस सम्यक्त्वका अस्तित्व चतुर्थगुणस्थानमे सप्तम गुणस्थान तक पाया जाता है।

अनन्तानुबन्धी-चतुष्कको विसयोजना और दर्शनमोहनीयकी तीन प्रकृतियोका उपशम होनेसे द्वितीयोपशम सम्यक्त्व होता है। इस सम्यग्दर्शनको धारण करनेवाला जीव उपशमश्रेणीका आरोहण कर ग्यारहवें गुणस्थान तक जाता है और वहाँसे पतनकर नीचे आता है। पतनकी अपेक्षा चतुर्थ, पचम और षष्ठ गुणस्थानमे भी इसका सद्भाव रहता है।

क्षायोपशमिक सम्यक्त्व

इस सम्यक्त्वका दूसरा नाम वेदकसम्यक्त्व भी है। मिथ्यात्व, सम्यड्मिथ्यात्व, अनन्तानुबन्धी क्रोध, मान, माया, लोभ इन छह सर्वघाती प्रकृतियोके वर्त्तमान कालमे उदय आनेवाले निषेकोका उदयाभावी क्षय तथा आगामी कालमे उदय आनेवाले निषेकोका सदवस्थारूप उपशम और सम्यक्त्वप्रकृतिनामक देशघाती प्रकृतिका उदय रहनेपर जो सम्यक्त्व होता है, उसे क्षायोपशमिक सम्यक्त्व कहते हैं। इस सम्यक्त्वमे सम्यक्त्वप्रकृतिका उदय रहनेसे चल, मलिन और अगाढ दोष उत्पन्न होते रहते है। छह सर्वघाती प्रकृतियोके उदयाभावी क्षय और सदवस्थारूप उपशमकी प्रधानताके कारण क्षायोपशमिक तथा सम्यक्त्वप्रकृतिके उदयकी अपेक्षा वेदकसम्यग्दर्शन कहलाता है। इसकी उत्पत्ति सादिमिथ्यादृष्टि और सम्यग्दृष्टि दोनोके होती है। यह सम्यग्दर्शन चारो गतियोमे उत्पन्न होता है। वस्तुत सर्वघाती छह प्रकृतियोंके उदयाभावी क्षय और सदवस्थारूप उपशम तथा सम्यक्त्वप्रकृति नामक देशघाती प्रकृतिका उदय अपेक्षित होता है।

क्षायिक सम्यग्दर्शन

मिथ्यात्व, सम्यङ्मिथ्यात्व, सम्यक्त्वप्रकृति और अनन्तानुबन्धी क्रोध, मान, माया, लोभ इन सात प्रकृतियोके क्षयसे जो सम्यक्त्व उत्पन्न होता है, वह क्षायिक सम्यक्त्व कहलाता है। दर्शनमोहनीयकर्मके क्षयका प्रारम्भ कर्मभूमिमे उत्पन्न हुआ मनुष्य केवली या श्रुतकेवलीके पादमूलमे आरम्भ करता है।[1] इसकी पूर्णता चारो गतियोमे सम्भव है। यह सम्यग्दर्शन छूटता नही है। जिसे क्षायिकसम्यक्त्वकी प्राप्ति हो जाती है, वह उसी भवसे मोक्ष प्राप्त कर लेता है, अथवा तृतीय, चतुर्थ भवसे। चतुर्थ भवका अतिक्रमण नही कर सकता है। जिस क्षायिक सम्यग्दृष्टिने आयुका बन्ध कर लिया है, वह नरक या देवगतिमे उत्पन्न होता है और वहाँसे मनुष्य होकर मोक्ष प्राप्त करता है। चारों गति-सम्बन्धी आयुका बन्ध होनेपर सम्यक्त्व हो सकता है। अत. बद्धायुष्क सम्यग्दृष्टि-का चारो गतियोमे जाना सम्भव है। यह नियम है कि सम्यक्त्वके कालमे यदि मनुष्य या तिर्यंचके आयुका बन्ध होता है, तो नियमत देवायु ही बंधती है। और नारकी तथा देवके नियमसे मनुष्य आयुका ही बंध होता है।[2]

सम्यग्दर्शनके अन्य भेद

सम्यग्दर्शनके निश्चयसम्यग्दर्शन और व्यवहारसम्यग्दर्शन ये दो भेद भी किये जाते हैं। शुद्धात्मकी श्रद्धा करना निश्चय सम्यग्दर्शन है और विपरीताभि-निवेश रहित परमार्थ देव, शास्त्र, गुरुकी पच्चीस दोषरहित अष्टांगसहित श्रद्धा करना व्यवहारसम्यग्दर्शन है। अथवा जीवादि सात तत्त्वोके विकल्पसे रहित शुद्ध आत्माके श्रद्धानको निश्चयसम्यग्दर्शन और सात तत्त्वोके विकल्पोसे सहित श्रद्धान करना व्यवहारसम्यग्दर्शन है। अध्यात्म-दृष्टिसे सम्यग्दर्शनके सराग और वीतराग ये दो भेद सम्भव हैं। आत्म-विशुद्धिमात्रको वीतराग सम्यग्दर्शन और प्रशम, सवेग, अनुकम्पा एव आस्तिक्य इन चार गुणोकी अभिव्यक्तिको सराग-सम्यग्दर्शन कहते हैं।

१ दंसणमोहक्खवणापट्ठवगो कम्मभूमिजादो हु।
मणुसो केवलिमूले णिट्ठवगो होदि सव्वत्थ ॥

गोम्मटसार, जीवकाण्ड, गाथा ६४७

२. चत्तारि वि खेत्ताइ आउगबधेण होदि सम्मत्तं।
अणुवदमहव्वदाइ ण लहइ देवाउगं मोत्तु ॥

वही, गाथा ६५२.

प्रशम

प्रशमगुण आत्माके कषाय या विकारोके उपशम होनेपर उत्पन्न होता है। राग या द्वेष जो आत्माके सबसे बडे शत्रु है, जिनके कारण इस जीवको नाना प्रकारकी इष्टानिष्ट कल्पनाएँ होती रहती है, जिनसे ससारके पदार्थोको सुख-मय समझा जाता है, वे सब समाप्त हो जाते है। प्रशमगुण आत्माको निर्मल बनाता है, चित्तके विकारोको दूर करता है और मनको विकल्पोसे रहित बनाता है। प्रशमगुण द्वारा जीवकी विकृत अवस्था दूर होती है और आत्माकी निर्मल प्रवृत्ति जागृत होती है।

संवेग

ससारसे भीतरूप परिणामोका होना सवेग है। इस गुणके उत्पन्न होनेसे आत्मामे शुद्धि उत्पन्न होती है। जो व्यक्ति इस ससारमे रहता हुआ यह विचार करता है कि आयुके समाप्त होनेपर मुझे अन्य गतिको प्राप्त करना है और यह ससारका चक्र निरन्तर चलता रहेगा, यह आत्मा अकेला ही राग-द्वेष, मोहके कारण उत्पन्न होनेवाली कर्म-पर्यायोका भोक्ता है। अतएव आत्मोत्थान-के लिये सदैव सचेष्ट रहना अत्यावश्यक है। जब तक ससारसे सवेग उत्पन्न नही होगा, तब तक अहकार और ममकारकी परिणति दूर नही हो सकती है। ज्ञान-दर्शनमय और ससारके समस्त विकारोसे रहित आध्यात्मिक सुखका भण्डार यह आत्मतत्त्व ही है और इसकी उपलब्धि सम्यक्त्वके द्वारा होती है।

अनुकम्पा

समस्त जीवोमे दयाभाव रखना अनुकम्पा गुण है। व्यवहारमे धर्मका लक्षण जीवरक्षा है। जीवरक्षासे सभी प्रकारके पापोका निरोध होता है। दयाके समान कोई भी धर्म नही है। अत पहले आत्म-स्वरूपको अवगत करना और तत्पश्चात् जीव-दयामे प्रवृत्त होना धर्म है। जिस प्रकार हमे अपनी आत्मा प्रिय है उसी प्रकार अन्य प्राणियोको भी प्रिय है। जो व्यवहार हमे अरुचिकर प्रतीत होता है, वह दूसरे प्राणियोको भी अरुचिकर प्रतीत होता होगा। अत समस्त परिस्थितियोमे अपनेको देखनेसे पापोका निरोध तो होता ही है, साथ ही अनुकम्पाकी भी प्रवृत्ति जागृत होती है। अनुकम्पा या दयाके आठ भेद हैं

१ द्रव्यदया अपने समान अन्य प्राणियोका भी पूरा ध्यान रखना और उनके साथ अहिसक व्यवहार करना।

२ भावदया अन्य प्राणियोको अशुभ कार्य करते हुए देखकर अनुकम्पा बुद्धिसे उपदेश देना।

३ स्वदया आत्मालोचन करना एवं सम्यग्दर्शन धारण करनेके लिये प्रयासशील रहना और अपने भीतर रागादिक विकार उत्पन्न न होने देना।

४. परदया षट्कायके जीवोकी रक्षा करना।

५ स्वरूपदया सूक्ष्म विवेक द्वारा अपने स्वरूपका विचार करना, आत्माके ऊपर कर्मोंका जो आवरण आ गया है, उसके दूर करनेका उपाय विचारना।

६. अनुबन्धदया मित्रो, शिष्यो या अन्य प्राणियोको हितकी प्रेरणासे उपदेश देना तथा कुमार्गसे सुमार्गपर लाना।

७ व्यवहारदया उपयोगपूर्वक और विधिपूर्वक अन्य प्राणियोकी सुख-सुविधाओका पूरा-पूरा ध्यान रखना।

८. निश्चयदया शुद्धोपयोगमे एकताभाव और अभेद उपयोगका होना। समस्त पर-पदार्थोंसे उपयोगको हटाकर आत्म-परिणतिमे लीन होना निश्चय-दया है।

आस्तिक्य

जीवादि पदार्थोंके अस्तित्वको स्वीकार करने रूप बुद्धिका होना आस्तिक्य-भाव है। आत्मा स्वतन्त्र द्रव्य है, अनन्त है, अमूर्त है, ज्ञान-दर्शनयुक्त है, चेतन है और है ज्ञानादिपर्यायोका कर्ता। इस आत्म-स्वरूपके साथ अजीवादि छह तत्त्वोंके सम्बन्धको स्वीकार करते हुए आत्माकी विकृत परिणतिको दूर करनेके हेतु सात तत्त्वोके स्वरूपपर दृढ आस्था रखना आस्तिक्यभाव है। आत्माके अस्तित्वरूपमे विश्वास करनेसे ही सम्यक्त्वकी उपलब्धि होती है।

ज्ञानप्रधान निमित्तादिककी अपेक्षासे सम्यक्त्वके दश भेद हैं

१ आज्ञासम्यक्त्व[1] जिनाज्ञाकी प्रधानतासे सूक्ष्म, अन्तरित और दूरवर्ती पदार्थों की उत्पन्न श्रद्धा।

२ मार्गसम्यक्त्व निर्ग्रन्थ मार्गका अवलोकनसे उत्पन्न।

३. उपदेशसम्यक्त्व आगमवेत्ता पुरुषोंके उपदेशके श्रवणसे उत्पन्न।

---

१ आज्ञामार्गसमुद्भवमुपदेशात्सूत्रबीजसंक्षेपात्।
विस्तारार्थाभ्या भवमवपरमावादिगाढं च॥
आज्ञासम्यक्त्वमुक्तं यदुत विरुचित वीतरागाज्ञयैव
त्यक्तग्रन्थप्रपञ्च शिवममृतपथं श्रद्दधन्मोहशान्ते.।
मार्गश्रद्धानमाहु पुरुषवरपुराणोपदेशोपजाता
या संज्ञानागमाब्धिप्रसृतिभिरुपदेशादिरादेशि दृष्टि'॥

४. सूत्रसम्यक्त्व मुनिआचरणके प्रतिपादक आचारसूत्रोके श्रवणसे उत्पन्न।

५ बीजसम्यक्त्व गणितज्ञानके कारण बीजसमूहोंके श्रद्धानसे उत्पन्न।

६ सक्षेपसम्यक्त्व पदार्थोके संक्षिप्त विवेचनको सुनकर श्रद्धाका उत्पन्न होना।

७. विस्तारसम्यक्त्व विस्तारपूर्वक आगमके सुननेसे उत्पन्न श्रद्धान।

८ अर्थसम्यक्त्व शास्त्रके वचन बिना किसी अर्थके निमित्तसे उत्पन्न श्रद्धान।

९. अवगाढसम्यक्त्व श्रुतकेवलीका तत्त्वश्रद्धान।

१० परमावगाढसम्यक्त्व केवलीका तत्त्वश्रद्धान।

सम्यग्दर्शनका स्थितिकाल

औपशमिक सम्यग्दर्शनकी स्थिति जघन्य और उत्कृष्ट स्थिति अन्तर्मुहूर्तकी है। क्षायोपशमिक सम्यग्दर्शनकी जघन्य स्थिति अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्ट छियासठ सागर प्रमाण है। क्षायिकसम्यग्दर्शन उत्पन्न होकर नष्ट नही होता, इसलिये इस अपेक्षासे उसकी स्थिति सादि अनन्त है,पर ससारमे रहनेकी अपेक्षा जघन्य स्थिति अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्ट स्थिति अन्तर्मुहूर्त सहित आठ वर्ष कम, दो करोड वर्ष पूर्व तथा तैतीस सागर है।

सम्यग्दर्शनके अंग

जिस प्रकार मानवशरीरमे दो पैर, दो हाथ, नितम्ब, पृष्ठ, उरस्थल और मस्तक ये आठ अग होते हैं और इन आठ अगोसे परिपूर्ण रहनेपर ही मनुष्य काम करनेमे समर्थ होता है, इसी प्रकार सम्यग्दर्शनके भी नि शकितत्व, नि काक्षितत्व, निर्विचिकित्सत्व, अमूढदृष्टित्व, उपगूहन, स्थितीकरण, वात्सल्य और प्रभावना ये आठ अग हैं। इन अष्टाङ्गयुक्त सम्यग्दर्शनका पालन करनेसे ही ससार-सततिका

> आकर्ण्याचारसूत्र मुनिचरणविधे सूचन श्रद्दधान
> सूक्तासौ सूत्रदृष्टिर्दुरधिगमगतेरर्थसार्थस्य बीजै ।
> कैश्चिज्जातोपलब्धेरसमशमवशाद्बीजदृष्टि पदार्थान्
> सक्षेपेणैव बुदध्वा रुचिमुपगतवान् साधु सक्षेपदृष्टि ॥
> य. श्रुत्वा द्वादशाङ्गी कृतरुचिरथ त विद्धि विस्तारदृष्टि
> सजातार्थात्कुतश्चित्प्रवचनवचनान्यन्तरेणार्थदृष्टि ।
> दृष्टि साङ्गाङ्गबाह्यप्रवचनमवगाह्योत्थिता यावगाढा
> कैवल्यालोकितार्थे रुचिरिह परमावादिगाढेति रूढा ॥
>
> आत्मानुशासन, गाथा ११-१४

उन्मूलन होता है। इन आठ अगोमे वैयक्तिक उन्नतिके लिए प्रारम्भिक चार अग और समाज-सम्बन्धी उन्नतिके लिए उपगूहनादि चार अग आवश्यक है।

निःशङ्कित-अंग

वीतराग, हितोपदेशी और सर्वज्ञ परमात्माके वचन कदापि मिथ्या नही हो सकते। कषाय अथवा अज्ञानके कारण ही मिथ्याभाषण होता है। जो राग-द्वेष-मोहसे रहित, निष्कषाय, सर्वज्ञ है, उसके वचन मिथ्या नही हो सकते। इसप्रकार वीतराग-वचनपर दृढ आस्था रखना नि शङ्कित अग है।

सम्यग्दृष्टि जिनोदित सूक्ष्म, अन्तरित और दूरवर्ती पदार्थोंके विषयमे भी शकित नही होता। सम्यग्दर्शनके आप्त, आगम, गुरु और तत्त्व ये चार विषय हैं। इनके सम्बन्धमे ये तत्त्व ये ही हैं, और इसी प्रकासे हैं, अन्य या अन्य प्रकार-से नही, इस प्रकारका श्रद्धान करना नि शङ्कित अग है। नि शकतामे अकम्पता-का रहना भी आवश्यक है। श्रद्धा या प्रतीतिमे चलिताचलित वृत्तिका पाया जाना वर्जित है।

नि शङ्कसम्यग्दर्शन ही ससार और उसके कारणोका उच्छेदक है। यदि श्रद्धामे कुछ भी शका बनी रहती है, तो तत्त्वज्ञानके रहनेपर भी अभीष्ट प्रयोजनकी सिद्धि नही होती।

शका मुख्यतया दो प्रकारसे उत्पन्न होती है (१) अज्ञानमूलक और (२) दौर्वल्यमूलक। दुर्वलताका कारण इहलोकभय, परलोकभय, वेदनाभय, अत्राण-भय, अगुप्तिभय, मरणभय और आकस्मिकभय ये सात भय वतलाये गये हैं। जो इन भयोसे मुक्त हो जाता है, वही नि शक हो सकता है।

नि कांक्षित-अंग

किसी प्रकारके प्रलोभनमे पडकर परमतको अथवा सासारिक सुखोकी अभिलाषा करना काक्षा है, इस काक्षाका न होना नि काक्षितधर्म है। सासारिक सुखकी किसी प्रकारकी आकाक्षा न करना नि काक्षित अग है। वस्तुत सासा-रिक सुख व्यक्तिके अधीन न होकर कर्मोके अधीन है। कर्मोके तीव्र, मन्द उदयके समय यह घटता-वढता रहता है। यह सांसारिक सुख सान्त है और है आकुलता उत्पन्न करनेवाला। यह सुख अनेक प्रकारके दु खोसे मिश्रित है और है वाधा उत्पन्न करनेवाला[1]।

पूर्ण शुद्ध सम्यग्दृष्टि अपने शुद्ध आत्मपदके सिवाय अन्य किसी भी पदको

१ सपर वाधासहियं विच्छिण्णं वंधकारणं विसम।
जं इंदियेहि लद्धं तं सोक्खं दुक्खमेव तथा॥ प्रवचनसार गाथा ७६.

अपना स्वतन्त्र, स्वाधीन, शाश्वतिक, सर्वथा निराकुल और उपादेय नही मानता। आत्मामे पर-पुद्गलके सम्बन्धसे विकार हैं अथवा होते है, वे वास्तवमे आत्माके नही है। शुद्ध आत्माका स्वरूप तत्वत. उन सभी विकारोसे रहित है। इस प्रकारकी नि.शंक और निश्चल आत्मा सभी प्रकारकी आकाक्षाओंसे रहित होती है। अतएव सम्यग्दृष्टि सासारिक सुखकी या भोगोकी आकाक्षा नही करता।

निर्विचिकित्सा-अंग

मुनिजन देहमे स्थित होकर भी देह-सम्बन्धी वासनासे अतीत होते हैं। अत वे शरीरका सस्कार नही करते। उनके मलिन शरीरको देखकर ग्लानि न करना निर्विचिकित्सा-अग है[1]। वस्तुत मनुष्यका अपवित्र देह भी रत्नत्रयके द्वारा पूज्यताको प्राप्त हो जाता है। अतएव मलिन शरीरकी ओर ध्यान न देकर रत्नत्रयपूत आत्माकी ओर दृष्टि रखना और बाह्य मलिनतासे जुगुप्सा या ग्लानि न करना निर्विचिकित्सा-अग है। यो तो विचिकित्साके अनेक कारण हो सकते हैं, पर सामान्यतया इन कारणोको तोन भागोमे विभक्त किया जा सकता है. (१) जन्मजन्य, (२) जराजन्य और (३) रोगजन्य।

अमूढदृष्टि-अग

सम्यग्दृष्टिकी प्रत्येक प्रवृत्ति विवेकपूर्ण होती है। वह किसीका अन्धानुकरण नही करता। वह सोच-विचारकर प्रत्येक कार्यको करता है। उसकी प्रत्येक क्रिया आत्माको उज्ज्वल बनानेमे निमित्त होती है। वह किसी मिथ्यामार्गी जीवको अभ्युदय प्राप्त करते हुए देखकर भी ऐसा विचार करता है कि उसका वह वैभव पूर्वोपार्जित शुभ कर्मो का फल है, मिथ्यामार्गके सेवनका नही। अत वह मिथ्यामार्गकी न तो प्रशसा करता है और न उसे उपादेय ही मानता है। यह श्रद्धालु तो होता है, पर अन्धश्रद्धालु नही। अमूढदृष्टि अन्धश्रद्धाका पूर्ण त्याग करता है।

उपगूहन-अंग

रत्नत्रयरूप मोक्षमार्ग स्वाभावत निर्मल है। यदि कदाचित् अज्ञानी अथवा शिथिलाचारियो द्वारा उसमे कोई दोष उत्पन्न हो जाय लोकापवादका अवसर आ जाय तो सम्यग्दृष्टि जीव उसका निराकरण करता है, उस दोषको छिपाता है। यह क्रिया उपगूहन कहलाती है। अज्ञानी और अशक्त व्यक्तियो द्वारा रत्नत्रय और रत्नत्रयके धारक व्यक्तियोंमे आये हुए दोषोका प्रच्छादन करना उपगूहन-अग है।

१ स्वभावतोऽशुचौ काये रत्नकरण्डश्रावकाचार, पद्य १३.

सम्यग्दृष्टि गुणी, संयमी, ज्ञानी और धर्मात्मा व्यक्तियोंकी समुचित प्रशंसा करता है उनके उत्साहकी वृद्धि करता है और यथाशक्ति धर्माराधनके लिए सहयोग प्रदान करता है। इस अंगका अन्य नाम उपबृंहण भी है, जिसका अर्थ आत्मगुणोंकी वृद्धि करना है।

स्थितीकरण-अंग

सांसारिक कष्टोंमें पड़कर, प्रलोभनोंके वशीभूत होकर या अन्य किसी प्रकारसे बाधित होकर जो धर्मात्मा व्यक्ति अपने धर्मसे च्युत होनेवाला है अथवा चारित्रसे भ्रष्ट होने जा रहा है, उसका कष्ट निवारण करना अथवा भ्रष्ट होनेके निमित्तको हटाकर उसे स्थिर करना स्थितीकरण-अंग है।

साधर्मी बन्धुको धर्मश्रद्धा और आचरणसे विचलित न होने देना तथा विचलित होते हुओंको धर्ममें स्थित करना भी स्थितीकरण है।

वात्सल्य-अंग

धर्मका सम्बन्ध अन्य सांसारिक सम्बन्धोंसे अधिक महत्त्वपूर्ण है। यह अप्रशस्त रागका कारण नहीं, किन्तु प्रकाशकी ओर ले जाने वाला है। साधर्मी बन्धुओंके प्रति उसी प्रकारका आन्तरिक स्नेह करना, जिस प्रकार गाय अपने बछड़ेसे करती है।

वस्तुतः साधर्मी बन्धुओंके प्रति निश्छल और आन्तरिक स्नेह करना वात्सल्य है। इस गुणके कारण साधर्मी भाई निकट सम्पर्कमें आते हैं और उनका संगठन दृढ़ होता है। धूर्तता मायाचार, वंचकता आदिको छोड़कर सद्भावनापूर्वक साधर्मियोंका आदर, सत्कार, पुरस्कार, विनय, वैयावृत्त्य, भक्ति, सम्मान, प्रशंसा आदि करना वात्सल्य है।

प्रभावना-अंग

जगतमें वीतराग-मार्गका विस्तार करना, धर्म-सम्बन्धी भ्रमको दूर करना और धर्मकी महत्ता स्थापित करना प्रभावना है।

जिनधर्म-विषयक अज्ञानको दूरकर धर्मका वास्तविक ज्ञान कराना प्रभावना है। देव, शास्त्र और गुरुके स्वरूपको लेकर जनसाधारणमें जो अज्ञान वर्तमान है, उसे दूर करना प्रभावनाके अन्तर्गत है।

सम्यग्दृष्टि रत्नत्रयके तेजसे आत्माको प्रभावित करते हुए दान, तप, विद्या, जिनपूजा, मन्त्रशक्ति आदिके द्वारा लोकमें जिनशासनका महत्त्व प्रकट करता है। जिनशासनकी महिमा जिन जिन कार्योंसे अभिव्यक्त होती है, उन उन कार्योंका आचरण सम्यग्दृष्टि करता है।

उपगूहन, स्थितीकरण, वात्सल्य और प्रभावना इन चारोंका पालन 'स्व' और 'पर' दोनोमे ही हुआ करता है। अन्य व्यक्तियोंके समान अपनेको भी संभालना, गिरनेका प्रसंग आनेपर सावधान हो जाना और कदाचित् गिरजाने-पर पुनः पदमे अपनेको प्रतिष्ठित करना आवश्यक है।

सम्यग्दर्शन अथवा मोक्षमार्गसे विचलित होनेके दो कारण है (१) आगम ज्ञानका अभाव या अल्पता और (२) सहननकी कमी। इन दोनो कारणोसे जीव परीषह और उपसर्ग सहन करनेसे विचलित हो सकता है।

सम्यग्दर्शनके पच्चीस दोष या न्यूनताएँ

सम्यग्दर्शनके आठ मद, आठ मल, छ अनायतन और तीन मूढताएँ इस प्रकार पच्चीस दोष होते हैं। मिथ्यादृष्टि इन दोषोंके अधीन होकर द्रव्य, क्षेत्र, काल, भव और भावरूप पंचपरावर्त्तन निरन्तर करता रहता है। ऐसी कोई पर्याय नहीं, जो इसने धारण न की हो, ऐसा कोई स्थान नही, जहाँ यह उत्पन्न न हुआ हो तथा जहाँ इसका मरण न हुआ हो, ऐसा कोई समय नही, जिसमे इसने जन्म न ग्रहण किया हो, ऐसा कोई भव नही, जो इसने न पाया हो। अतः मिथ्यात्वका त्यागकर पच्चीस दोषरहित सम्यग्दर्शन धारण करना मनुष्य-पर्यायका फल है।

मद या अहंकार सम्यग्दर्शनका दोष है। ज्ञान आदि आठ वस्तुओंका आश्रय लेकर अपना बडप्पन प्रकट करना मद है। मद आठ प्रकारके होते हैं

१ ज्ञानमद[1] क्षायोपशमिक ज्ञानका अहकार करना कि मुझसे बडा कोई ज्ञानी नही। मैं सकलशास्त्रोका ज्ञाता हूँ।

२ प्रतिष्ठा या पूजामद—अपनी पूजा-प्रतिष्ठा या लौकिक सम्मानका गर्व करना प्रतिष्ठा या पूजामद है।

३ कुलमद मेरा पितृपक्ष अतीव उज्ज्वल है, मेरे इस वशमे आजतक कोई दोष नही लगा है। इस प्रकार पितृवंशका गर्व करना कुलमद है।

४ जातिमद मेरा मातृपक्ष बहुत उन्नत है। यह शीलमे सुलोचना, सीता, अनन्तमती और चन्दनाके तुल्य है। इस प्रकार माताके वंशका अभिमान करना जातिमद है।

१ अहं ज्ञानवान् सकलशास्त्रज्ञो वर्ते अहं मान्यो महामण्डलेश्वरा मत्पादसेवका। कुलमपि मम पितृपक्षोऽतीवोज्ज्वलं। मम माता सघस्य पत्युर्दुहिता शीलेन सुलोचना-सीता-अनन्तमती-चन्दनादिका वर्तते। मम रूपाग्रे कामदेवोऽपि दासत्वं करोतीत्यष्टमदा। मोक्षपाहुड-टीका गा० २७.

५. बलमद   शारीरिक शक्तिकी दृष्टिसे गर्व करना बलमद है।

६ ऋद्धिमद   वृद्धि आदि ऋद्धियों अथवा गृहस्थको अपेक्षा धनादि वैभवका गर्व करना ऋद्धिमद है।

७ तपमद   अनशनादि तपोका गर्व करना तपमद है।

८ शरीरमद   अपने स्वस्थ एव सुन्दर शरीरका गर्व करना शरीरमद है।

वस्तुत सम्यग्दृष्टि विचार करता है कि क्षयोपशमजन्य ज्ञान, पूजा आदि वस्तुएँ मेरे अधीन नही है, किन्तु कर्माधीन हैं और कर्मोदय प्रतिक्षण परिवर्तित होता रहता है, अतएव शरीर, ज्ञान, ऐश्वर्य आदिका मद करना निरर्थक है। रत्नत्रयरूप धर्म ही जीवात्माके स्वाधीन है, कालानवच्छिन्न है, पवित्र-निर्मल और स्वय कल्याणस्वरूप है। ससारके अन्य सब पदार्थ 'पर' है और आत्मोत्थानमे सहायक नही हैं। अत सम्यग्दृष्टि यदि अपने अन्य सधर्मिओके साथ ज्ञान, पूजा, कुल, जाति आदि आठ विषयोमेसे किसीका भी आश्रय लेकर तिरस्कारभाव रखता है, तो वह उसका 'स्मय' नामक दोष कहलाता है। इससे उसकी विशुद्धि नष्ट होती है और कदाचित् वह अपने स्वरूपसे च्युत भी हो सकता है। यहाँ यह ज्ञातव्य है कि ज्ञानादि हेय नही हैं, अपितु ज्ञानादिके मद हेय हैं।

आस्था सम्बन्धी अन्धविश्वास

अन्धश्रद्धालु बनकर आत्महितका विचार किये विना ही लोक, देव, एव धर्म-सम्बन्धी मूढतायुक्त क्रियाओमे प्रवृत्त होना अन्धश्रद्धा या मूढता है। ये मूढताएँ तीन हैं -१ लोकमूढता, २ देवमूढता और ३ पाषण्डमूढता।

ऐहिकफलकी इच्छासे धर्म समझकर नदी, समुद्र एव पुष्कर आदिमे स्नान करना, बालुका एव पत्थरके ढेर लगाना पर्वतसे गिरना, एव अग्निमे कूदकर प्राण देना मूढता या अन्धश्रद्धामे समाविष्ट है। जो आत्मधर्मसे विमुख होकर लौकिक क्रिया-काण्डोको ही धर्म समझता है और धर्म-साधनाके रूपमे प्रवृत्ति करता है वह लोकमूढ कहा जाता है।

लौकिक अभ्युदय एव वरदान प्राप्तिकी इच्छासे आशायुक्त हो राग-द्वेषसे मलिन देवोकी आराधना करना देवमूढता है। वस्तुत. देवसम्बन्धी अन्धविश्वास एव उस विश्वासकी पूर्तिके साधन देवमूढतामे समाविष्ट हैं। देव सर्वज्ञ, वीतराग और हितोपदेशी होता है। इसके विपरीत जो रागद्वेषसे मलिन है वह कुदेव है और ऐसे कुदेवोकी आराधना करनेसे धर्माचरण नही होता है। यदि सम्यग्दृष्टि सासारिक फलकी इच्छासे वीतरागदेवकी उपासना भी करता है तो भी सम्यक्त्वमे दोष आता है। जो मिथ्या आशावश सराग देवोकी आराधनासे लौकिक फल प्राप्त करना चाहता है उसकी आस्था पङ्गु और अन्ध है।

रत्नत्रय मोक्षका मार्ग है और इस मार्गके लिये आरम्भ-परिग्रहके त्यागी गुरुके अवलम्बनकी आवश्यकता है। जो आरम्भ, परिग्रह और हिंसासे सहित, संसारपरिभ्रमणके कारणभूत कार्योंमे लीन है वे कुगुरु हैं। ऐसे कुगुरुओंकी भक्ति, वन्दना करना पाषण्ड या गुरुमूढता है।

षड् अनायतन या मिथ्या आस्थाएँ

भय, आशा एवं स्नेहवश कुगुरु, कुदेव, कुधर्म और इन तीनोंके आराधकोंकी भक्ति-प्रशंसा करना षड् अनायतन हैं।

शंकादि दोष

सम्यग्दर्शनके अष्टांगोंके विपरीत शंकादि आठ दोष भी श्रद्धाको मलिन बनाते है। वे हैं शंका, आकांक्षा, विचिकित्सा, मूढदृष्टि, दोषव्यक्तीकरण, अस्थितीकरण, अवात्सल्य और अप्रभावना।

वस्तुत सम्यग्दर्शन आत्माके श्रद्धागुणकी निर्मल पर्याय है। इसे धारण कर नीचकुलोत्पन्न चाण्डाल भी महान् बन जाता है और श्वान जैसा निन्द्यप्राणी भी देवोंद्वारा पूज्य बन जाता है।

सम्यग्ज्ञान

नय और प्रमाण द्वारा जीवादि पदार्थोंका यथार्थ ज्ञान सम्यग्ज्ञान है। दृढ आत्मविश्वासके अनन्तर ज्ञानमे सम्यक्पना आता है। यो तो संसारके पदार्थोंका हीनाधिक रूपमे ज्ञान प्रत्येक व्यक्तिको होता है। पर उस ज्ञानका आत्मविकासके लिये उपयोग करना कम ही व्यक्ति जानते हैं। सम्यग्दर्शनके पश्चात् उत्पन्न हुआ ज्ञान आत्मविकासका कारण होता है। 'स्व' और 'पर' का भेदविज्ञान यथार्थत. सम्यग्ज्ञान है।

निश्चयसम्यग्ज्ञान अपने आत्म-स्वरूपका बोध ही है। जिसने आत्माको जान लिया है, उसने सब कुछ जान लिया है और जो आत्माको नही जानता, वह सब कुछ जानते हुए भी अज्ञानी है। सम्यग्ज्ञानके सम्बन्धमे ज्ञान-मीमासाके अन्तर्गत विचार किया जा चुका है।

सम्यक्चारित्र या सम्यगाचार

सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान सहित व्रत, गुप्ति, समिति आदिका अनुष्ठान करना उत्तमक्षमादि दशधर्मोंका पालन करना, मूलगुण और उत्तरगुणोंका धारण करना सम्यक्चारित्र है। अथवा विषय, कषाय, वासना, हिंसा, झूठ,

चोरी, कुशील और परिग्रहणरूप क्रियाओंसे निवृत्ति करना सम्यक्चारित्र है[1]। चारित्र वस्तुत आत्मस्वरूप है। यह कषाय और वासनाओंसे सर्वथा रहित है। मोह और क्षोभसे रहित जीवकी जो निर्विकार परिणति होती है, जिससे जीवमे साम्यभावकी उत्पत्ति होती है, चारित्र है[2]। प्रत्येक व्यक्ति अपने चारित्रके बलसे ही अपना सुधार या बिगाड़ करता है। अत मन, वचन और कायकी प्रवृत्तिको सर्वदा शुभ रूपमे रखना आवश्यक है। मनसे किसीका अनिष्ट नही सोचना, वचनसे किसीको बुरा नही कहना तथा शरीरसे कोई निन्द्य कार्य नही करना सदाचार है।

विषय-तृष्णा और अहकारकी भावना मनुष्यको सम्यक् आचरणसे रोकती है। विषयतृष्णाकी पूर्तिहेतु ही व्यक्ति प्रतिदिन अन्याय, अत्याचार, बलात्कार, चोरी, बेईमानी हिंसा आदि पापोको करता है। तृष्णाको शान्त करनेके लिये स्वय अशान्त हो जाता है तथा भयकर-से-भयकर पाप कर बैठता है। अत विषय-निवृत्तिरूप चारित्रको धारण करना परमावश्यक है।

मनुष्यके सामने दो मार्ग विद्यमान हैं शुभ और अशुभ। जो राग-द्वेष-मोहको घटाकर शुभोपयोगरूप परिणति करता है वह शुभमार्गका अनुगामी माना जाता है और जो रागद्वेष-कषायरूप परिणतिमे सलग्न रहता है वह अशुभमार्गका अनुसरणकर्त्ता है। अज्ञान एव तीव्र रागद्वेषके अधीन होकर व्यक्ति कर्त्तव्य-च्युत होता है। जीव अपनी सत्प्रवृत्तिके कारण शुभका अर्जन करता है और असत्प्रवृत्तिके कारण अशुभका। एक ही कर्म शुभ और अशुभ प्रवृत्तियोके कारण दो रूपोमे परिणत हो जाता है। शुभ और अशुभ एक ही पुद्गलद्रव्यके स्वभावभेद हैं। शुभ कर्म सातावेदनीय, शुभायु, शुभ नाम, शुभगोत्र एव अशुभ कर्म, घाति या असाता वेदनीय अशुभायु, अशुभ नाम, अशुभगोत्र हैं। यह जीव शुद्धनिश्चयसे वीतराग, सच्चिदानन्दस्वभाव है और व्यवहारनयसे रागादिरूप परिणमन करता हुआ शुभोपयोग और अशुभोपयोगरूप है। यो तो आत्माकी परिणति शुद्धोपयोग, शुभोपयोग और अशुभोपयोगरूप है। चैतन्य, अखण्ड आत्मस्वभावका अनुभव करना शुद्धोपयोग, कषायोकी मन्दतावश शुभरागरूप परिणति होना शुभोपयोग एव तीव्र कषायोदयरूप परिणामोका होना अशुभोपयोग है। शुद्धोपयोगका नाम

---

१ असुहादो विणिवित्ती सुहे पवित्ती य जाण चारित्तं।
वदसमिदिगुत्तिरूवं ववहारणया दु जिणभणिय ॥ द्रव्यसग्रह ४५

२ साम्य तु दर्शनचारित्रमोहनीयोदयापादितसमस्तमोहक्षोभाभावादत्यन्तनिर्विकारो जीवस्य परिणाम । प्रवचनसार, गाथा ७ की अमृतचन्द्र-टीका.

वीतराग चारित्र, शुभोपयोगका नाम सदाचार एवं अशुभोपयोगका नाम कदाचार है।

परमपद-प्राप्तिहेतु : आचारके भेद

परमपद-प्राप्तिके मार्गविवेचनकी दृष्टिसे आचारके दो भेद हैं:—(१) निवृत्तिमूलक आचार और (२) प्रवृत्तिमूलक आचार। निवृत्तिमूलक आचारको त्याग-मार्ग या श्रमणमार्ग कहा जाता है। यह मार्ग कठिन है, पर जल्द पहुँचानेवाला है। समस्त पदार्थोंसे मोह-ममत्व त्यागकर वीतराग आत्म-तत्त्वकी उपलब्धिके हेतु अरण्यवास स्वीकार करना और इन्द्रिय तथा अपने मनको अधीनकर आत्मस्वरूपमें रमण करना निवृत्ति या त्यागमार्ग है। यह आचारका मार्ग सर्वसाधारणके लिये सुलभ नहीं। पर है निर्वाणको प्राप्त करानेवाला। यह कण्टकाकीर्ण मार्ग है। इसकी साधना विरले जितेन्द्रिय ही कर पाते हैं। इसमें सन्देह नहीं कि इस निवृत्तिमार्गका अनुसरण करनेसे रागद्वेष-मोहादिसे रहित निर्मल आत्मतत्त्वकी उपलब्धि शीघ्र ही होती है। इस आचारमार्गका नाम सकलचारित्र या मुनिधर्म है।

द्वितीय मार्ग प्रवृत्ति मार्ग है। यह सरल है, पर है दूरवर्ती। इस मार्ग द्वारा आत्मतत्त्वकी प्राप्तिमें वहुत समय लगता है। इस आचारमार्गमें किसीका भय नहीं है। अतः इसे पुष्पाकीर्ण मार्ग कहा जाता है। प्रवृत्तिके दो रूप हैं:—(१) शुभ और (२) अशुभ। अशुभ प्रवृत्तिका त्यागकर शुभ प्रवृत्तिका अनुसरण करना विकलाचरण है। संक्षेपमें आचारको दो भागोंमें विभक्त किया जा सकता है। मुनि या साधुका आचार और गृहस्थ या श्रावकका आचार।

श्रावकाचार

श्रावकशब्द तीन वर्णोंके संयोगसे वना है और इन तीनों वर्णोंके क्रमशः तीन अर्थ हैं:—(१) श्रद्धालु, (२) विवेकी और (३) क्रियावान। जिसमें इन तीनों गुणोंका समावेश पाया जाता है वह श्रावक है। व्रतधारी गृहस्थको श्रावक, उपासक और सागार आदि नामोंसे अभिहित किया जाता है। यह श्रद्धापूर्वक अपने गुरुजनों—निर्ग्रन्थमुनियोंके प्रवचनका श्रवण करता है, अतः यह श्राद्ध या श्रावक कहलाता है। श्रावकके आचारका वर्गीकरण कई दृष्टियोंसे किया जाता है। पर इस आचारके वर्गीकरणके तोन आधार प्रमुख हैं:—

१. द्वादशव्रत, २. एकादशप्रतिमाएँ, ३. पक्ष, चर्या और साधन।

सावद्यक्रिया—हिंसाकी शुद्धिके तीन प्रकार हैं:—(१) पक्ष, (२) चर्या या

निष्ठा और (३) साधन। वीतराग, सर्वज्ञ और हितोपदेशी देव, निर्ग्रन्थ गुरु और निर्ग्रन्थ धर्मको मानना पक्ष है। ऐसे पक्षको रखनेवाला श्रावक पाक्षिक कहलाता है। इस श्रेणीके श्रावककी आत्मामें समस्त प्राणियोंके प्रति मैत्री, गुणी जीवोंके प्रति प्रमोद, दीन-दुःखियोंके प्रति करुणा एवं विपरीतवृत्तिवालोंके प्रति माध्यस्थ्यभाव रहता है। यह न्यायपूर्वक आजीविकाका उपार्जन करते हुए जीवहिंसासे विरत रहनेकी चेष्टा करता है। पाक्षिकश्रावकके लिये निम्नलिखित क्रियाओंका पालन करना आवश्यक है।

१. न्यायपूर्वक धनोपार्जन – गार्हस्थिक कार्योंको सम्पादित करनेके लिये आजीविका अर्जित करना आवश्यक है। पर विश्वासघात, छल-कपट, धूर्त्तता और अन्यायपूर्वक धनार्जन करना त्याज्य है। जिसे धर्मका पक्ष है, देव, शास्त्र और गुरुके प्रति निष्ठा या श्रद्धा है ऐसा श्रावक धनार्जनमें अन्याय और अनीतिका प्रयोग नहीं करता। सन्तोष, शान्ति और नियन्त्रित इच्छाओंके आलोकमें शुभप्रवृत्तियों द्वारा आजीविकोपार्जनका प्रयास करता है। आजीविकाके साधनोंमें हिंसा और आरम्भका उपयोग कम-से-कम किया जाय, इस बातका पूरा ध्यान रखता है। तृष्णा और विषय-कषायोंको सीमित और नियन्त्रित कर परिवारके भरण-पोषणके हेतु आजीविकोपार्जन करता है।

२. गुणपूजा—आत्मामें मार्दवधर्मके विकासहेतु गुणी व्यक्ति और ज्ञान, दर्शन, चैतन्यादि गुणोंका बहुमान, श्लाघा एवं प्रशंसा करना गुणपूजा है। गुण, गुरु और गुणयुक्त गुरुओंका पूजन एवं सम्मान करना गुणविकासका कारण है। अपने भीतर सदाचार, सज्जनता, उदारता, दानशीलता और हित-मित-प्रिय-वचनशीलताका प्रयोग स्व और परका उपकारक है। जिस पाक्षिकश्रावकको धर्मके प्रति निष्ठा है वह अपने आचरणमें वैय्यावृत्ति एवं गुण-गुरु-पूजाको उपयोगी समझता है, अतः पाक्षिकश्रावककी पात्रता प्राप्त करनेके लिये गुण-पूजा आवश्यक है। इससे आत्माके अहंकार और ममकार भी क्षीण होते हैं।

३. प्रशस्त वचन—निर्दोष वाणीका प्रयोग करना प्रशस्त वचन है। पर-निंदा और कठोरता आदि दोषोंसे रहित प्रशस्त तथा उत्कृष्ट वचनोंका व्यवहार जीवनके लिये हितकर और उपयोगी है।

४. निर्बाध त्रिवर्गका सेवन—धर्म, अर्थ और काम इन तीनों पुरुषार्थोंका विरोध रहित सेवन करना निर्बाध त्रिवर्गसेवन है। इन तीन पुरुषार्थोंमेंसे कामका कारण अर्थ है, क्योंकि अर्थके विना इन्द्रिय-विषयोंकी सामग्री उपलब्ध नहीं हो सकती है और अर्थका कारण धर्म है, क्योंकि पुण्योदय अथवा प्रामाणि-

कताके बिना धनकी प्राप्ति नहीं होती। प्रामाणिकता सदाचारपर निर्भर है। पाक्षिक श्रावकको अविरोधभावसे उक्त तीनों पुरुषार्थोंका सेवन करना चाहिये।

५. **त्रिवर्गयोग्य स्त्री, ग्राम, भवन**—त्रिवर्गके साधनमें सहायक स्त्री या भार्या है। सुयोग्य भार्याके रहनेसे परिवारमें शान्ति, सुख और सहयोग विद्यमान रहते हैं। संयम, अतिथि-सेवा एवं शिष्टाचारकी वृद्धि होती है। भार्याके समान ही त्रिवर्गमें साधक भवन और ग्रामका होना भी आवश्यक है।

६. **उचित लज्जा**—लज्जा मानवजीवनका भूषण है। लज्जाशील व्यक्ति स्वाभिमानकी रक्षाके हेतु अपयशके भयसे कदाचारमें प्रवृत्त नहीं होता है। विरुद्ध परिस्थितिके आनेपर भी लज्जाशील व्यक्ति कुकर्म नहीं करता। वह शिष्ट और संयमित व्यवहारका आचरण करता है।

७. **योग्य आहार-विहार**—अभक्ष्य, अनुपसेव्य और चलितरसके सेवनका त्याग करना तथा स्वास्थ्यप्रद और निर्दोष भोजन ग्रहण करना योग्य आहार है। जिह्वालोलुपी और विषयलम्पटी भक्ष्य-अभक्ष्यका विवेक नहीं रख सकता है। अतएव विवेक और संयमपूर्वक आहार-विहारपर नियन्त्रण रखना योग्य आहार-विहार है।

८. **आर्यसमिति**—जिनके सहवाससे आत्मगुणोंमें विकास हो, संयमकी प्रवृत्ति जागृत हो और आत्मप्रतिष्ठा बढ़े, ऐसे सदाचारी व्यक्तियोंकी संगति करना आर्यसमिति कहलाती है। व्यक्ति शुभाचरणवाले पुरुषोंके सम्पर्कसे आचारवान् बनता है। नीच और दुराचारी व्यक्तियोंकी संगतिका त्याग अत्यावश्यक है।

९. **विवेक**—कर्त्तव्याकर्त्तव्यका तर्क-वितर्कपूर्वक निर्धारण करना विवेक है। विवेक द्वारा लौकिक और पारलौकिक सभी प्रकारके करणीय और अकरणीय कार्योंका निर्धारण किया जाता है।

१०. **उपकार-स्मृति या कृतज्ञता**—कृतज्ञता मनुष्यका एक गुण है। जो व्यक्ति अपने ऊपर किये गये दूसरोंके उपकारोंका स्मरण रखता है और उपकारके बदलेमें प्रत्युपकार करनेकी भावना रखता है वह कृतज्ञ कहलाता है। कृतज्ञता जीवन-विकासके लिये आवश्यक है। इस गुणके सद्भावसे धर्मधारणकी योग्यता उत्पन्न होती है।

११. **जितेन्द्रियता**—इन्द्रियोंके विषयोंको नियन्त्रित करना तथा अनाचार और दुराचाररूप प्रवृत्तिको रोकना जितेन्द्रियता है। जो व्यक्ति इन्द्रियोंके अधीन हैं और विषय-सुखोंको ही जिसने अपना सर्वस्व मान लिया है वह कषाय

और विकारोंसे छुटकारा नहीं प्राप्त कर सकता है। इन्द्रियविषयलोलुपी जीव मिथ्यादृष्टि कहलाता है। वह आत्मासे विमुख हुआ विषय-सेवनको ही सुखका साधन समझता है। अतः इन्द्रियोंको नियन्त्रित्त करना जितेन्द्रियता है।

१२. धर्मविधि-श्रवण—अभ्युदय और निःश्रेयसका साधन धर्म है। युक्ति और आगमसे सिद्ध धर्मकी प्रतिष्ठा अथवा उसके स्वरूपका प्रतिदिन श्रवण धर्मविधिश्रवण है। अज्ञानता और तीव्र राग-द्वेपके वशीभूत हुआ व्यक्ति धर्मका श्रवण नहीं कर पाता है। इसके लिये आत्मपरिणामोंका कोमल होना आवश्यक है।

१३. दयालुता—दुःखी प्राणियोंके दुःखोंको दूर करनेकी इच्छा दया कहलाती है। जिसके हृदयमें कोमलता, करुणा और आर्द्रता है वही दयालु हो सकता है। धर्म-धारणकी योग्यता प्राप्त करनेके लिये आत्म-परिणतिका दयायुक्त होना आवश्यक है। जिस व्यक्तिकी आत्मामें दयाकी जितनी अधिक भावना समाहित रहती है वह व्यक्ति अपनी आत्माको उतना ही धर्मधारण करनेके योग्य बनाता है।

१४. पापभीति—अनिष्ट फल प्रदान करनेवाले हिंसा, झूठ, चोरी आदि पापोंसे भीत रहना अपनेको धर्मधारणका अधिकारी बनाना है। जो निर्भय होकर पापाचरण करता है वह धर्मका अधिकारी नहीं हो सकता है। अतएव पाप-कार्योंसे डरकर दूर रहना पापभीति है।

इस प्रकार पाक्षिक श्रावक उक्त चौदह गुणों द्वारा अपनी आत्माको धर्म-धारणके योग्य बनाता है।

श्रावकके द्वादश व्रतों और एकादश प्रतिमाओंका पालन करना चर्या अथवा निष्ठा है। इस चर्याका आचरण करनेवाला गृहस्थ नैष्ठिक श्रावक कहा जाता है।

जीवनके अन्तमें आहारादिका सर्वथा त्यागकर सल्लेखना द्वारा आत्म-साधना करना साधन है। इस प्रकारके साधनको अपनाते हुए ध्यानशुद्धिपूर्वक आत्म-शोधन करनेवाला साधक श्रावक कहलाता है।

श्रावकके द्वादशव्रत

ज्ञान, दर्शन और चारित्रकी त्रिवेणी मुक्तिको ओर प्रवाहित होती है। किन्तु मानव अपनी-अपनी क्षमताके अनुसार उसकी गहराईमें प्रवेश करता है और अपनी शक्तिके अनुसार चारित्रको ग्रहण करता है। श्रावक घरमें रहकर पारिवारिक, सामाजिक राष्ट्रीय उत्तरदायित्वोंका निर्वाह करते हुए मुक्ति-मार्गकी साधना करता है।

व्रत : स्वरूप-विचार और आवश्यकता

जीवनको सुन्दर वनानेवाली और आलोककी ओर ले जाने वाली मर्यादाएँ नियम कहलाती हैं। जो मर्यादाएँ सार्वभौम हैं, प्राणीमात्रके लिए हितावह हैं और जिनसे 'स्व', 'पर' का कल्याण होता है, उन्हें नियम या व्रत कहा जाता है।

व्रतकी परिभाषामें वताया जाता है कि सेवनीय विषयोंका संकल्पपूर्वक यम या नियम रूपसे त्याग करना, हिंसा आदि निन्द्य कार्योंका छोड़ना अथवा पात्रदान आदि प्रशस्त कार्योंमें प्रवृत्त होना व्रत[1] है। जिसप्रकार सतत प्रगतिशील प्रवाहित होनेवाली सरिताके प्रवाहको नियंत्रित रहनेके लिये दो तटोंकी आवश्यकता होती है, उसीप्रकार जीवनको नियंत्रित, मर्यादित वनाये रखनेके लिये व्रतोंकी आवश्यकता है। जैसे तटोंके अभावमें नदीका प्रवाह छिन्न-भिन्न हो जाता है, उसी प्रकार व्रतविहीन मनुष्यकी जीवनशक्ति छिन्न-भिन्न हो जाती है। अतएव जीवनशक्तिको केन्द्रित करने और योग्य दिशामें ही उसका उपयोग करनेके लिये व्रतोंकी अत्यन्त आवश्यकता है।

मूल दोष

यों तो व्यक्तिमें अगणित दोप होते हैं और उनकी गणना भी सम्भव नहीं है। पर उन सभी दोषोंके मूलकी यदि खोज की जाय, तो विदित होगा कि मूलभूत दोष पाँच ही हैं। शेष समस्त दोष इन्हींके अन्तर्भूत हैं। ये पाँच दोष ही व्यक्तिके जीवनमें नाना प्रकारकी वुराइयाँ उत्पन्न करते हैं और इन पाँच दोषोंके कारण मानवता संत्रस्त रहती है। इन्हींके प्रभावसे मानव दानव, राक्षस, चोर, लुटेरा, अनाचारी, स्वार्थी, प्रपंची आदि वना रहता है और ये ही दोष आत्माके उत्थानके मार्गमें गतिरोध उत्पन्न करते हैं। इन दोषोंके उत्पादक राग और द्वेष हैं। दोष निम्नलिखित हैं—

(१) हिंसा—राग-द्वेषके वशीभूत हो प्राणोंका घात करना। हिंसामें प्रमाद अवश्य निहित रहता है। प्राणवध द्रव्यहिंसा है और प्रमादयोग भावहिंसा।

(२) असत्य भाषण—अयथार्थ और अप्रशस्त भाषण करना। दूसरोंको कष्ट पहुँचानेवाले वचनोंका प्रयोग भी असत्य भाषणमें गर्भित है।

---

१. सङ्कल्पपूर्वकः सेव्ये, नियमोऽशुभकर्मणः।
निवृत्तिर्वा व्रतं स्याद्वा, प्रवृत्तिः शुभकर्मणि॥ —सागारधर्मामृत २।८०

(३) अदत्तादान—वस्तुके स्वामीकी इच्छाके बिना किसी वस्तुको ग्रहण करना, या अपने अधिकारमें करना अदत्तादान है। मार्गमें पड़ी हुई या भूली हुई वस्तुको हड़प जाना भी अदत्तादान है। नीति-अनीतिके विवेकको तिलांजलि देकर अनधिकृत वस्तुपर भी अधिकार करनेका प्रयत्न करना चोरी है।

(४) मैथुन—स्त्री और पुरुषके कामोद्वेगजनित पारस्परिक सम्बन्धकी लालसा एवं क्रिया मैथुन है और है यह अब्रह्म। यह आत्माके सद्गुणोंका विनाश करनेवाला है। इस दोषाचरणसे समाजकी नैतिक मर्यादाओंका उल्लंघन होता है।

(५) परिग्रह—किसी भी परपदार्थको ममत्वभावसे ग्रहण करना परिग्रह है। ममत्व, मूर्च्छा या लोलुपताको वास्तवमें परिग्रह कहा जाता है। संसारके अधिकांश दुःख इस परिग्रहके कारण ही उत्पन्न होते हैं। आत्मा अपने स्वरूपसे विमुख होकर और राग-द्वेषके वशीभूत होकर परिग्रहमें आसक्त होती है।

इन दोषोंके शमनसे आत्मामें स्वहितकी क्षमता और योग्यता उत्पन्न होती है। जो श्रावकके द्वादश व्रतोंका पालन करना चाहता है, उसे सप्तव्यसनका त्याग आवश्यक है। द्यूतक्रीड़ा, मांसाहार, मदिरा-पान, वेश्यागमन, आखेट, चोरी और परस्त्रीगमन ये सातों ही व्यसन जीवनको अधःपतनकी ओर ले जानेवाले हैं। व्यसनोंका सेवन करनेवाला व्यक्ति श्रावकके द्वादश व्रतोंके ग्रहण करनेका अधिकारी नहीं है। इसीप्रकार मद्य, मांस, मधु और पंच क्षीर-फलोंके भक्षणका त्याग कर अष्ट मूलगुणोंका निर्वाह करना भी आवश्यक है। वास्तवमें मद्यत्याग, मांसत्याग, मधुत्याग, रात्रिभोजनत्याग, पंचोदुम्बरफल-त्याग, देववन्दना, जीवदया और जलगालन ये आठ मूलगुण श्रावकके लिये आवश्यक[1] हैं।

इसप्रकार जो सामान्यतया विरुद्ध आचरणका त्याग कर इन्द्रिय और मनको नियंत्रित करनेका प्रयास करता है, वही श्रावक धर्मको ग्रहण करता है।

श्रावकके द्वादश व्रतोंमें पाँच अणुव्रत, तीन गुणव्रत और चार शिक्षाव्रतोंकी गणना की गयी है। वस्तुतः इन व्रतोंका मूलाधार अहिंसा है। अहिंसासे ही मानवताका विकास और उत्थान होता है, यही संस्कृतिकी आत्मा है और है आध्यात्मिक जीवनकी नींव।

---

१. मद्यपलमधुनिशाशनपञ्चफलीविरतिपञ्चकाप्तनुती।
जीवदयाजलगालनमिति च क्वचिदष्टमूलगुणाः॥ —सागारधर्मामृत, २।१८.

अणुव्रत

हिंसा, असत्य, चोरी, कुशील और मूर्च्छा—परिग्रह इन पाँच दोष या पापोंसे स्थूलरूप या एक देशरूपसे विरत होना अणुव्रत है। अणुशव्दका अर्थ लघु या छोटा है। जो स्थूलरूपसे पंच पापोंका त्याग करता है, वही अणुव्रतका धारी माना जाता है। अणुव्रत पाँच हैं—

(१) अहिंसाणुव्रत—स्थूलप्राणातिपातविरमण—जीवोंकी हिंसासे विरत होना अहिंसाणुव्रत है। प्रमत्तयोगसे प्राणोंके विनाशको हिंसा कहा जाता है। प्रमत्तयोगका अभिप्राय राग-द्वेषरूप प्रवृत्तिसे है। यहाँ प्रमत्तयोग कारण है और प्राणोंका विनाश कार्य। प्राण दो प्रकारके होते हैं:—(१) द्रव्यप्राण और (२) भावप्राण। प्रमत्तयोगके होनेपर द्रव्यप्राणोंके विनाशका होना नियमित नहीं है। हिंसाके अन्य भी निमित्त हो सकते हैं। पर प्रमत्तयोगसे भावप्राणोंका विनाश होता है और भावप्राणोंका विनाश ही यथार्थमें हिंसा है। राग-द्वेषकी प्रवृत्ति हिंसा है और निवृत्ति अहिंसा। वस्तुतः संसारमें न कोई इष्ट होता है, न कोई अनिष्ट, न कोई भोग्य होता है और न कोई अभोग्य। मनुष्यका राग-द्वेष ही संसारको इष्ट और अनिष्ट रूपमें दिखलाता है[1]। इष्टसे राग और अनिष्टसे द्वेष होता है। अतः राग-द्वेषके अवलम्बनरूप बाह्य पदार्थोंका त्याग आवश्यक है। हिंसाका कारण राग-द्वेषरूप परिणति ही है। अतएव अहिंसाका पालन आवश्यक है। इसीके द्वारा मनुष्यताकी प्रतिष्ठा सम्भव है। अत्याचारीकी इच्छाके विरुद्ध अपने समस्त आत्मबलको लगा देना ही संघर्षका अन्त करना है और यही अहिंसा है। अहिंसा ही अन्याय और अत्याचारसे दीन-दुर्बलोंकी रक्षा कर सकती है। यही विश्वके लिये सुखदायक है।

हिंसा विश्वमें शान्ति और सुखकी स्थापना नहीं कर सकती। प्रत्येक प्राणीको यह जन्मसिद्ध अधिकार प्राप्त है कि वह स्वयं सुखपूर्वक जिये और अन्य प्राणियोंको भी जीवित रहने दे। आजका मनुष्य स्वार्थ और अधिकारके वशीभूत हो स्वयं तो सुखपूर्वक रहना चाहता है; पर दूसरोंको चैन और शान्तिसे नहीं रहने देता है। अतएव अहिंसाणुव्रतका जीवनमें धारण करना आवश्यक है। अहिंसाका अर्थ मनसा, वाचा और कर्मणा प्राणीमात्रके प्रति सद्भावना और प्रेम रखना है। दम्भ, पाखण्ड, ऊँच-नीचकी भावना, अभिमान, स्वार्थवृद्धि, छल-कपट प्रभृति भावनाएँ हिंसा हैं। अहिंसामें त्याग है, भोग नहीं।

१. रागद्वेषौ प्रवृत्तिः स्यान्निवृत्तिस्तन्निषेधनम्।
तौ च वाह्यार्थसंवद्धौ तस्मात्तान् सुपरित्यजेत् ॥ —आत्मानुशासन, श्लोक २३७.

जहाँ राग-द्वेष है, वहाँ हिंसा अवश्य है। अतः राग-द्वेषकी प्रवृत्तिका नियंत्रण आवश्यक है।

हिंसा चार प्रकारको होती है:—(१) संकल्पी, (२) उद्योगी, (३) आरंभी और (४) विरोधी। निर्दोष जीवका जानबूझकर वध करना संकल्पी; जीविका-सम्पादनके लिये कृषि, व्यापार, नौकरी आदि कार्यों द्वारा होनेवाली हिंसा उद्योगी; सावधानीपूर्वक भोजन बनाने, जल भरने आदि कार्यों में होनेवाली हिंसा आरम्भी एवं अपनी या दूसरोंकी रक्षाके लिये की जानेवाली हिंसा विरोधी हिंसा कहलाती है। प्रत्येक गृहस्थको संकल्पपूर्वक किसी भी जीवकी हिंसा नहीं करनी चाहिये। अहिंसाणुव्रतका धारी गृहस्थ संकल्पी हिंसाका नियमतः त्यागी होता है। इस हिंसाके त्याग द्वारा श्रावक अपनी कायिक, वाचिक और मानसिक प्रवृत्तियोंको शुद्ध करता है। अहिंसक यतनाचारका धारी होता है।

अहिंसाणुव्रतका धारी जीव त्रसहिंसाका त्याग तो करता ही है, साथ ही स्थावर-प्राणियोंकी हिंसाका भी यथाशक्ति त्याग करता है। इस व्रतकी शुद्धिके लिये निम्नलिखित दोषोंका त्याग भी अपेक्षित है—

(१) बन्ध—त्रसप्राणियोंको कठिन बन्धनसे बाँधना अथवा उन्हें अपने इष्ट स्थानपर जानेसे रोकना। अधीनस्थ व्यक्तियोंको निश्चित समयसे अधिक काल तक रोकना, उनसे निर्दिष्ट समयके पश्चात् भी काम लेना, उन्हें अपने इष्ट स्थानपर जानेमें अन्तराय पहुँचाना आदि बन्धके अन्तर्गत हैं।

(१) वध—त्रसप्राणीको मारना, पीटना या त्रास देना, वध है। प्रत्यक्ष या परोक्षरूपसे किसी भी प्राणीकी हत्या करना, कराना, किसीको मारना, पीटना या पिटवाना, सन्ताप पहुँचाना, शोषण करना आदि वधके विविध रूप हैं। स्वार्थवश वधके विविध रूपोंमें व्यक्ति प्रवृत्त होता है। जिसके हृदयमें सर्वहितकी भावना समाहित रहती है, वह वध नहीं करता है।

(३) छविच्छेद—किसीका अंग भंग करना, अपंग बनाना या विरूप करना छविच्छेद है।

(४) अतिभार—अश्व, वृषभ, ऊँट आदि पशुओं पर, अथवा मजदूर आदि नौकरोंपर उनकी शक्तिसे अधिक बोझ लादना अतिभार है। शक्ति एवं समय होनेपर भी अपना काम स्वयं न कर दूसरोंसे करवाना अथवा किसीसे शक्तिसे अधिक काम लेना भी अतिभार है।

(५) अन्न-पाननिरोध—अपने आश्रित प्राणियोंको समयपर भोजन-पानी न देना अधीनस्थ सेवकोंको उचित वेतन न देना अन्न-पाननिरोध है।

अहिंसाणुव्रतकी रक्षाके लिये निम्नलिखित पाँच भावनाओंका पालन करना भी आवश्यक है—

(१) वचनगुप्ति—वचनकी प्रवृत्तिको रोकना,

(२) मनोगुप्ति—मनकी प्रवृत्तिको रोकना,

(३) ईर्यासमिति—सावधानीपूर्वक देखकर चलना,

(४) आदान-निक्षेपणसमिति—सावधानीपूर्वक देखकर वस्तुको उठाना और रखना।

(५) आलोकितपानभोजन—दिनमें अच्छी तरह देख-भालकर आहार-पानीका ग्रहण करना।

२. सत्याणुव्रत—अहिंसा और सत्यका परस्परमें घनिष्ट सम्बन्ध है। एकके अभावमें दूसरेकी साधना शक्य नहीं। ये दोनों परस्पर पूरक तथा अन्योन्याश्रित हैं। अहिंसा सत्यको स्वरूप प्रदान करती है और सत्य अहिंसाकी सुरक्षा करता है। अहिंसाके बिना सत्य नग्न एवं कुरूप है। अतः मृषावादका त्याग अपेक्षित है। स्थूल झूठका त्याग किये बिना प्राणी अहिंसक नहीं हो सकता है। यतः सत्ता और धोखा इन दोनोंका जन्म झूठसे होता है। झूठा व्यक्ति आत्मवंचना भी करता है। मिथ्याभाषणमें प्रमुख कारण स्वार्थकी भावना है। स्वच्छन्दता, घृणा, प्रतिशोध जैसी भावनाएँ, असत्य या मिथ्याभाषणसे उत्पन्न होती हैं। मानवसमाजका समस्त व्यवहार वचनोंसे संचालित होता है। वचनके दोषसे व्यक्ति और समाज दोनोंमें दोष उत्पन्न होता है। अतएव मृषावादका त्याग आवश्यक है।

असत्य वचनके तीन भेद हैं—१. गर्हित २. सावद्य और ३. अप्रिय। निन्दा करना, चुगली करना, कठोर वचन बोलना एवं अश्लील वचनोंका प्रयोग करना गर्हित असत्यमें परिगणित हैं। छेदन, भेदन, मारन, शोषण, अपहरण एवं ताड़न सम्बन्धी वचन भी हिंसक होनेके कारण सावद्य असत्य कहलाते हैं। इन दोनों प्रकारके वचनोंके अतिरिक्त अविश्वास, भयकारक, खेदजनक, वैर-शोक उत्पादक, सन्तापकारक आदि अप्रिय वचनोंका त्याग करना आवश्यक है।

झूठी साक्षी देना, झूठा दस्तावेज या लेख लिखना, किसीकी गुप्त बात प्रकट करना, चुगली करना, सच्ची झूठी कहकर किसीको गलत रास्ते पर ले जाना, आत्मप्रशंसा और परनिन्दा करना आदि स्थूल मृषावादमें सम्मिलित हैं।

सावधानीपूर्वक सत्याणुव्रतका पालन करनेके लिए निम्नलिखित अति-चारोंका त्याग आवश्यक है।

१. मिथ्योपदेश—सन्मार्ग पर लगे हुए व्यक्तिको भ्रमवश अन्य मार्ग पर ले जानेका उपदेश करना मिथ्योपदेश है। असत्य साक्षी देना और दूसरे पर अपवाद लगाना भी मिथ्योपदेशके अन्तर्गत है।

२. रहोभ्याख्यान—गुप्त बात प्रकट करना रहोभ्याख्यान है। विश्वासघात करना भी इसीमें सम्मिलित है।

३. कूटलेखक्रिया—झूठे लेख लिखना, झूठे दस्तावेज तैयार करना, झूठे हस्ताक्षर करना, गलत बही, खाते तैयार कराना, नकली सिक्के तैयार करना अथवा नकली सिक्के चलाना कूटलेखक्रिया है।

४. न्यासापहार—कोई धरोहर रखकर उसके कुछ अंशको भूल गया, तो उसकी इस भूलका लाभ उठाकर धरोहरके भूले हुए अंशको पचानेकी दृष्टिसे कहना कि जितनी धरोहर तुम कह रहे हो उतनी ही रखी थी, न्यासापहार है।

५. साकारमन्त्रभेद—चेष्टा आदि द्वारा दूसरेके अभिप्रायको ज्ञात कर ईर्ष्यावश उसे प्रकट कर देना साकारमन्त्रभेद है। इस व्रतका सम्यक्तया पालन करनेके लिए क्रोध, लोभ, भय और हास्यका त्याग करना तथा निर्दोष वाणीका व्यवहार करना आवश्यक है।

अचौर्याणुव्रत

मन, वाणी और शरीरसे किसीकी सम्पत्तिको विना आज्ञा न लेना अचौर्याणुव्रत है। स्तेय या चोरीके दो भेद हैं—(१) स्थूल चोरी और (२) सूक्ष्म चोरी। जिस चोरीके कारण मनुष्य चोर कहलाता है, न्यायालयसे दंडित होता है और जो चोरी लोकमें चोरी कही जाती है, वह स्थूल चोरी है। मार्ग चलते-चलते तिनका या कंकड़ उठा लेना सूक्ष्म चोरीके अन्तर्गत है।

किसीके घरमें सेंध लगाना, किसीके पॉकेट काटना, ताला तोड़ना, लूटना, ठगना आदि चोरी है। आवश्यकतासे अधिक संग्रह करना या किसी वस्तुका अनुचित उपयोग करना भी एक प्रकारसे चोरी है। अचौर्याणुव्रतके धारी गृहस्थको एकाधिकारपर भी नियन्त्रण करना चाहिए। समस्त सुविधाएं अपने लिए सञ्चित करना तथा आवश्यकताओंको अधिक-से-अधिक बढ़ाते जाना भी स्तेयके अन्तर्गत है। संसारमें धनादिककी जितनी चोरी होती है, उससे कहीं अधिक विचार एवं भावोंकी भी चोरी होती है। अतएव अचौर्य भावना द्वारा भौतिक आवश्यकताओंको नियन्त्रित करना चाहिए। वस्तुतः जीवनकी किसी भी प्रकारकी

कमजोरीको छिपाना कमजोरी है। जीवनमें अगणित कमजोरियाँ हैं और होती रहेंगी, पर उनपर न तो पर्दा डालना और न उनके अनुसार प्रवृत्ति करना ही उचित है।

अचौर्याणुव्रतके पालनके लिए निम्नलिखित अतिचारोंका त्याग भी अपेक्षित है—

१. स्तेनप्रयोग—चोरी करनेके लिए किसीको स्वयं प्रेरित करना, दूसरेसे प्रेरणा कराना या ऐसे कार्यमें सम्मति देना स्तेनप्रयोग है।

२. स्तेनाहृत—अपनी प्रेरणा या सम्मतिके बिना किसीके द्वारा चोरी करके लाये हुए द्रव्यको ले लेना स्तेनाहृत है।

३. विरुद्धराज्यातिक्रम—राज्यमें विप्लव होनेपर हीनाधिक मानसे वस्तुओंका आदान-प्रदान करना विरुद्धराज्यातिक्रम है। राज्यके नियमोंका अतिक्रमण कर जो अनुचित लाभ उठाया जाता है, वह भी विरुद्धराज्यातिक्रम है।

४. हीनाधिकमानोन्मान—मापने या तौलनेके न्यूनाधिक बाँटोंसे देन-लेन करना हीनाधिकमानोन्मान है।

५. प्रतिरूपकव्यवहार – असली वस्तुके बदलेमें नकली वस्तु चलाना या असलीमें नकली वस्तु मिलाकर उसे बेचना या चालू करना प्रतिरूपकव्यवहार है।

वास्तवमें इन अतिचारोंका उद्देश्य विश्वासघात, बेईमानी, अनुचित लाभ आदिका त्याग करना है।

अचौर्याणुव्रतकी शून्यागारावास—निर्जन स्थानमें निवास, विमोचितावास—दूसरेके द्वारा त्यक्त आवास, परोपरोधाकरण—अपने द्वारा निवास किये गये स्थानमें अन्यका अनवरोध, भैक्ष्यशुद्धि—भिक्षाके नियमोंका उचित पालन करना एवं सधर्माविसंवाद ये पाँच भावनाएँ हैं।

स्वदारसन्तोष—मन, वचन और कायपूर्वक अपनी भार्याके अतिरिक्त शेष समस्त स्त्रियोंके साथ विषयसेवनका त्याग करना स्वदारसन्तोषव्रत है। जिस प्रकार श्रावकके लिए स्वदारसन्तोषव्रतका विधान है उसी प्रकार श्राविकाके लिए स्वपतिसन्तोषका नियम है। काम एक प्रकारका मानसिक रोग है। इसका प्रतिकार भोग नहीं, त्याग है। रोगके प्रतिकारके लिए नियन्त्रित रूपमें विषयका सेवन करना और परस्त्रीगमनका त्याग करना ब्रह्मचर्याणुव्रत या स्वदारसन्तोषमें परिगणित है। यह अणुव्रत जीवनको मर्यादित करता है और मैथुनसेवनको नियन्त्रित करता है। इस व्रतके निम्नलिखित पाँच अतिचार हैं।

१. परविवाहकरण—जिनका विवाह करना अपने दायित्वके अन्तर्गत नहीं है उनका विवाह सम्पादित कराना, परविवाहकरण है।

२. इत्वरिकापरिगृहीतागमन—जो स्त्रियाँ परदारकोटिमें नहीं आतीं, ऐसी स्त्रियोंको धनादिका लालच देकर अपनी बना लेना अथवा जिनका पति जीवित है, किन्तु पुंश्चली हैं उनका सेवन करना इत्वरिकापरिगृहीतागमन है। वस्तुतः यह अतिचार उसी समय अतिचारके रूपमें आता है जब व्रतका एकदेश भंग होता है, अन्यथा व्रतभंग माना जाता है।

३. इत्वरिकाअपरिग्रहीतागमन—जो स्त्री अपरिग्रहीता—अस्वीकृतपतिका है, उसके साथ अल्प कालके लिए कामभोगका सम्बन्ध स्थापित करना इत्वरिका-अपरिग्रहीतागमन है। वेश्या या अनाथ पुंश्चली स्त्रीका नियत काल सेवन करनेमें यह अतिचार है।

४. अनङ्गक्रीड़ा—कामसेवनके अतिरिक्त अन्य अङ्गोंसे क्रीड़ा करना अनङ्गक्रीड़ा है।

४. कामतीव्राभिनिवेश—काम एवं भोगरूप विषयोंमें अत्यन्त आसक्ति रखना कामतीव्राभिनिवेश है।

ब्रह्मचर्याणुव्रतके धारीको स्त्रीरागकथाश्रवणत्याग, स्त्रीमनोहराङ्ग-निरीक्षणत्याग, पूर्वरतानुस्मरणत्याग, वृष्य-इष्टरसत्याग और स्वशरीर-संस्कार-त्याग करना भी आवश्यक है।

परिग्रहपरिमाण-अणुव्रत

परिग्रह संसारका सबसे बड़ा पाप है। संसारके समक्ष जो जटिल समस्याएँ आज उपस्थित हैं, सर्वव्यापी वर्गसंघर्षकी जो दावाग्नि प्रज्वलित हो रही है, वह सब परिग्रह—मूर्च्छाकी देन है। जब तक मनुष्यके जीवनमें अमर्यादित लोभ, लालच, तृष्णा, ममता या गृद्धि विद्यमान है, तब तक वह शान्तिलाभ नहीं कर सकता। श्रावक अपनी इच्छाओंको नियन्त्रित कर परिग्रहका परिमाण ग्रहण करता है। संसारके धन, ऐश्वर्य आदिका नियमन कर लेना परिग्रह-परिमाणव्रत है। अपने योग-क्षेमके लायक भरणपोषणकी वस्तुओंको ग्रहण करना तथा परिश्रम कर जीवन यापन करना न्याय और अत्याचार द्वारा धनका संचय न करना परिग्रहपरिमाण है। धन, धान्य, रुपया, पैसा, सोना, चाँदी, स्त्री, पुत्र, गृह प्रभृति पदार्थोंमें ये मेरे हैं। इस प्रकारके ममत्वपरिणामको परिग्रह कहते हैं। इस ममत्व या लालसाको घटाकर उन वस्तुओंको नियमित या कम करना परिग्रहपरिमाणव्रत है। इस व्रतका लक्ष्य समाजकी आर्थिक विषमताको दूर करना है। इस व्रतके निम्नलिखित पाँच अतिचार हैं—

१. खेत और मकानके प्रमाणका अतिक्रमग ।

२. हिरण्य और स्वर्णके प्रमाणका अतिक्रमण ।

३. धन और धान्यके प्रमाणका अतिक्रमण ।

४. दास ओर दासीके प्रमाणका अतिक्रमण ।

५. कुप्य-भाण्ड (बर्तन) आदिके प्रमाणका अतिक्रमण ।

इस व्रतको इन्द्रियोंके मनोज्ञ विषयोंमें राग नहीं करना और अमनोज्ञ विषयोंमें द्वेष नहीं करना रूप पाँच भावनाएँ हैं ।

गुणव्रत और शिक्षाव्रत

अणुव्रतोंकी सम्पुष्टि, वृद्धि और रक्षाके लिए तीन गुणव्रत और चार शिक्षाव्रतोंका पालन करना आवश्यक है। इन व्रतोंके पालनसे मुनिव्रतके ग्रहण करनेकी शिक्षा प्राप्त होती है। गुणव्रत तीन हैं—

१. दिग्व्रत ।

२. देशव्रत या देशावकाशिकव्रत ।

३. अनर्थदण्डव्रत ।

दिग्व्रत—मनुष्यकी अभिलाषा आकाशके समान असीम और अग्निके समान समग्र भूमण्डलपर अपना एकच्छत्र साम्राज्य स्थापित करनेका मधुर स्वप्न ही नहीं देखती, अपितु इस स्वप्नको साकार करनेके लिए समस्त दिशाओंमें विजय करना चाहती है। अर्थलोलुपी मानव तृष्णाके वश होकर विभिन्न देशोंमें परिभ्रमण करता है और विदेशोंमें व्यापारसंस्थान स्थापित करता है। मनुष्यकी इस निरंकुश तृष्णाको नियन्त्रित करनेके लिए दिग्व्रतका विधान किया गया है।

पूर्वादि दिशाओंमें नदी, ग्राम, नगर आदि प्रसिद्ध स्थानोंकी मर्यादा बाँधकर जन्मपर्यन्त उससे बाहर न जाना और उसके भीतर लेन-देन करना दिग्व्रत है। इस व्रतके पालन करनेसे क्षेत्रमर्यादाके बाहर हिंसादि पापोंका त्याग हो जाता है और उस क्षेत्रमें वह महाव्रतीतुल्य बन जाता है। दिग्व्रतके निम्नलिखित पाँच अतिचार हैं—

१. ऊर्ध्वव्यतिक्रम—लोभादिवश ऊर्ध्वप्रमाणका अतिक्रम।

२. अधोव्यतिक्रम—वापी, कूप, खदान आदिकी अधःमर्यादाका अतिक्रम ।

३. तिर्यग्व्यतिक्रम—तिरछे रूपमें क्षेत्रका अतिक्रम ।

४. क्षेत्रवृद्धि—एक दिशासे क्षेत्र घटाकर दूसरी दिशामें क्षेत्रप्रमाणकी वृद्धि ।

५. स्मृत्यन्तराधान—निश्चित की गई क्षेत्रकी मर्यादाका विस्मरण ।

देशावकाशिक व्रत

दिग्व्रतमें जीवन पर्यन्तके लिए दिशाओंका परिमाण किया जाता है। इसमें किये गये परिमाणमें कुछ समयके लिए किसी निश्चित देश पर्यन्त आनेजानेका नियम ग्रहण करना देशावकाशिकव्रत है। इस व्रतके पाँच अतिचार हैं—

१. आनयन—मर्यादासे बाहरकी वस्तुका बुलाना।

२. प्रेष्यप्रयोग—मर्यादासे बाहर स्वयं न जाना, किन्तु सेवक आदिको आज्ञा देकर वहाँ बैठे हुए ही काम करा लेना प्रेष्यप्रयोग है।

३. शब्दानुपात—मर्यादाके बाहर स्थित किसी व्यक्तिको शब्दद्वारा बुलाना।

४. रूपानुपात—मर्यादित क्षेत्रके बाहरसे आकृति दिखाकर संकेतद्वारा बुलाना।

५. पुद्गलक्षेप—मर्यादाके बाहर स्थित व्यक्तिको अपने पास बुलानेके लिए पत्र, तार आदिका प्रयोग करना।

अनर्थदण्डव्रत

बिना प्रयोजनके कार्योंका त्याग करना अनर्थदण्डव्रत कहलाता है। जिनसे अपना कुछ भी लाभ न हो और व्यर्थ ही पापका संचय होता हो, ऐसे कार्योंको अनर्थदण्ड कहते हैं और उनके त्यागको अनर्थदण्डव्रत कहा जाता है। अनर्थदण्डके निम्न पाँच भेद हैं—

१. अपध्यान—दूसरोंका बुरा विचारना।

२. पापोपदेश—पापजनक कार्योंका उपदेश देना।

३. प्रमादाचरित—आवश्यकताके बिना वन कटवाना, पृथ्वी खुदवाना, पानी गिराना, दोष देना, विकथा या निन्दा आदिमें प्रवृत्त होना।

४. हिंसादान—हिंसाके साधन अस्त्र, शस्त्र, विष, विषैली गैस आदि सामग्रीका देना अथवा संहारक अस्त्रोंका आविष्कार करना।

५. अशुभश्रुति—हिंसा और राग आदिको बढ़ानेवाली कथाओंका सुनना, सुनाना अशुभश्रुति है।

शिक्षाव्रतके चार भेद हैं—१. सामायिक, २. प्रोषधोपोवास, ३. भोगोपभोगपरिमाण और ४. अतिथिसंविभाग।

सामायिक—तीनों सन्ध्याओंमें समस्त पापके कर्मोंसे विरत होकर नियत स्थानपर नियत समयके लिए मन, वचन और कायके एकाग्र करनेको सामायिक-

व्रत कहते हैं। जितने समय तक व्रती सामायिक करता है, उतने समय तक वह महाव्रतीके समान हो जाता है। समभाव या शान्तिकी प्राप्तिके लिए सामायिक किया जाता है। सामायिकव्रतके निम्नलिखित पाँच अतिचार हैं—

१. कायदुष्प्रणिधान—सामायिक करते समय हाथ, पैर आदि शरीरके अवयवोंको निश्चल न रखना, नींदका झोंका लेना।

२. वचनदुष्प्रणिधान—सामायिक करते समय गुनगुनाने लगना।

३. मनोदुष्प्रणिधान—मनमें संकल्प-विकल्प उत्पन्न करना एवं मनको गृहस्थीके कार्यमें फँसाना।

४. अनादर—सामायिकमें उत्साह न करना।

५. स्मृत्यनुपस्थान—एकाग्रता न होनेसे सामायिककी स्मृति न रहना।

प्रोषधोपवास

पाँचों इन्द्रियाँ अपने-अपने विषयसे निवृत्त होकर उपवासी—नियन्त्रित रहें, उसे उपवास कहते हैं। प्रोषध अर्थात् पर्वके दिन उपवास करना प्रोषधोपवास है। साधारणतः चारों प्रकारके आहारका त्याग करना उपवास है, पर सभी इन्द्रियोंके विषयभोगोंसे निवृत्त रहना ही यथार्थमें उपवास है। प्रोषधोपवाससे ध्यान, स्वाध्याय, ब्रह्मचर्य और तत्त्वचिन्तन आदिकी सिद्धि होती है। प्रोषधोपवासके निम्नलिखित अतिचार हैं—

१. अप्रत्यवेक्षिताप्रमार्जितोत्सर्ग—जीव-जन्तुको देखे बिना और कोमल उपकरण द्वारा बिना प्रमार्जनके ही मल-मूत्र और श्लेष्मका त्याग करना।

२. अप्रत्यवेक्षिताप्रमार्जितादान—बिना देखे और बिना प्रमार्जन किये ही पूजाके उपकरण आदिको ग्रहण करना।

३. अप्रत्यवेक्षिताप्रमार्जितसंस्तरोपक्रमण—बिना देखे और बिना प्रमार्जन किये ही भूमिपर चटाई आदि बिछाना।

४. अनादर—प्रोषधोपवास करनेमें उत्साह न दिखलाना।

५. स्मृत्यनुपस्थान—प्रोषधोपवास करनेके समय चित्तका चञ्चल रहना।

भोगोपभोगपरिमाण

आहार-पान, गन्ध-माला आदिको भोग कहते हैं। जो वस्तु एकबार भोगने योग्य है, वह भोग है और जिन वस्तुओंको पुनः-पुनः भोगा जा सके वे उपभोग हैं। इन भोग और उपभोगकी वस्तुओंका कुछ समयके लिये अथवा जीवन पर्यन्तके लिए परिमाण करना भोगोपभोगपरिमाणव्रत है। इस व्रतके पालन

करनेसे लोलुपता एवं विषयवाँछा घटती है। इस व्रतके निम्नलिखित अति-चार हैं—

१. सचित्ताहार—अमर्यादित वस्तुओंका उपयोग करना और सचित्त पदार्थों-का भक्षण करना।

२. सचित्तसम्बन्धाहार—जिस अचित्त वस्तुका सचित्त वस्तुसे संबंध हो गया हो, उसका उपयोग करना।

३. सचित्तसम्मिश्राहार—चींटी आदि क्षुद्र जन्तुओंसे मिश्रित भोजनका आहार अथवा सचित्तसे मिश्रित वस्तुका व्यवहार।

४. अभिषवाहार—इन्द्रियोंको मद उत्पन्न करनेवाली वस्तुका सेवन।

५. दुष्पक्वाहार—अधपके, अधिकपके, ठीक तरहसे नहीं पके हुए या जले भुने हुए भोजनका सेवन।

अतिथिसंविभाग

जो संयमरक्षा करते हुए विहार करता है अथवा जिसके आनेकी कोई निश्चित तिथि नहीं है, वह अतिथि है। इस प्रकारके अतिथिको शुद्धचित्तसे निर्दोष विधिपूर्वक आहार देना अतिथिसंविभागव्रत है। इस प्रकारके अति-थियोंको योग्य औषध, धर्मोपकरण, शास्त्र आदि देना इसी व्रतमें सम्मिलित है। अतिथिसंविभागव्रतके निम्नलिखित अतिचार हैं—

१. सचित्तनिक्षेप—सचित्त कमलपत्र आदिपर रखकर आहारदान देना।

२. सचित्तापिधान—आहारको सचित्त कमलपत्र आदिसे ढकना।

३. परव्यपदेश—स्वयं दान न देकर दूसरेसे दिलवाना अथवा दूसरेका द्रव्य उठाकर स्वयं दे देना।

४. मात्सर्य—आदरपूर्वक दान न देना अथवा अन्य दाताओंसे ईर्ष्या करना।

५. कालातिक्रम—भिक्षाके समयको टालकर अयोग्य कालमें भोजन कराना।

सल्लेखनाव्रत

सम्यक् रीतिसे काय और कषायको क्षीण करनेका नाम सल्लेखना है। जब मरणसमय निकट आ जाय तो गृहस्थको समस्त पदार्थोंसे मोह-ममता छोड़कर शनैः शनैः आहारपान भी छोड़ देना चाहिए। इस प्रकार शरीरको कृश करनेके साथ ही कषायोंको भी कृश करना तथा धर्मध्यानपूर्वक मृत्युका स्वागत करना सल्लेखनाव्रतके अन्तर्गत है।

शरीरका उद्देश्य धर्मसाधन है। धार्मिक विधि-विधानका अनुष्ठान इस शरीरके द्वारा ही सम्भव होता है। अतः जब तक यह शरीर स्वस्थ है और धर्मसाधनकी क्षमता है तबतक धर्मसाधनमें प्रवृत्त रहना चाहिए, पर जब शरीरके विनाशके कारण उपस्थित हो जायें और प्रयत्न करनेपर भी शरीरकी रक्षा सम्भव न हो, तब आहार, पानको त्याग करते हुए गृहस्थ राग, द्वेष और मोहसे आत्माकी रक्षा करता है। वस्तुतः श्रावकके लिए आत्मशुद्धिका अन्तिम अस्त्र सल्लेखना है। सल्लेखनाद्वारा ही जीवनपर्यन्त किये गये व्रताचरणको सफल किया जाता है। यह आत्मघात नहीं है, क्योंकि आत्मघातमें कषायका सद्भाव रहता है, पर सल्लेखनामें कषायका अभाव है। सल्लेखनाव्रतके निम्नलिखित अतिचार हैं—

१. जीविताशंसा—जीवित रहनेकी इच्छा।
२. मरणाशंसा—सेवा-सुश्रूषाके अभावमें शीघ्र मरनेकी इच्छा।
३. मित्रानुराग—मित्रोंके प्रति अनुराग जागृत करना।
४. सुखानुबन्ध—भोगे हुए सुखोंका पुनः पुनः स्मरण करना।
५. निदान—तपश्चर्याका फल भोगरूपमें चाहना।

श्रावकके दैनिक षट् कर्म

श्रावक अपना सर्वांगीण विकास निर्लिप्तभावसे स्वकर्त्तव्यका सम्पादन करते हुए घरमें रहकर भी कर सकता है। दैनिक कृत्योंमें षट्कर्मोंको गणना की गई है।

१. देवपूजा—देवपूजा शुभोपयोगका साधन है। पूज्य या अर्च्य गुणोंके प्रति आत्मसमर्पणकी भावना ही पूजा है। पूजा करनेसे शुभरागकी वृद्धि होती है, पर यह शुभराग अपने 'स्व'को पहचाननेमें उपयोगी सिद्ध होता है। पूजाके दो भेद हैं—द्रव्यपूजा और भावपूजा। अष्टद्रव्योंसे वीतराग और सर्वज्ञदेवकी पूजा करना द्रव्यपूजा है। और बिना द्रव्यके केवल गुणोंका चिन्तन और मनन करना भावपूजा है। भावपूजामें आत्माके गुण ही आधार रहते हैं, अतः पूजकको आत्मानुभूतिकी प्राप्ति होती है। सराग वृत्ति होनेपर भी पूजन द्वारा रागद्वेषके विनाशकी क्षमता उत्पन्न होती है।

पूजा सम्यग्दर्शनगुणको तो विशुद्ध करती ही है, पर वीतराग आदर्शको प्राप्त करनेके लिये भी प्रेरित करती है। यह आत्मोत्थानकी भूमिका है।

२. गुरुभक्ति—गुरुका अर्थ अज्ञान-अन्धकारको नष्ट करने वाला है। यह निर्ग्रन्थ, तपस्वी और आरम्भपरिग्रहरहित होता है। जीवनमें संस्कारोंका

प्रारम्भ गुरुचरणोंकी उपासनासे ही सम्भव है। इसी कारण गृहस्थके दैनिक षट्कर्मो में गुरूपास्तिको आवश्यक माना है। यतः गुरुके पास सतत निवास करनेसे मन, वचन, कायकी विशुद्धि स्वतः होने लगती है और वाक्संयम, इन्द्रियसंयम तथा आहारसंयम भी प्राप्त होने लगते हैं। गुरु-उपासनासे प्राणी-को स्वपरप्रत्ययकी उपलब्धि होती है। अतएव गृहस्थको प्रतिदिन गुरु-उपासना एवं गुरुभक्ति करना आवश्यक है।

स्वाध्याय—स्वाध्यायका अर्थ स्व–आत्माका अध्ययन–चिन्तन–मनन है। प्रतिदिन ज्ञानार्जन करनेसे रागके त्यागकी शक्ति उपलब्ध होती है। स्वाध्याय समस्त पापोंका निराकरणकर रत्नत्रयकी उपलब्धिमें सहायक होता है। बुद्धिवल और आत्मवलका विकास स्वाध्याय द्वारा होता है। स्वाध्याय द्वारा संस्कारोंमें परिणामविशुद्धि होती है और परिणामविशुद्धि ही महाफलदायक है। मनको स्थिर करनेकी दिव्यौषधि स्वाध्याय ही है। हेय-उपादेय और ज्ञेयकी जानकारीका साधन स्वाध्याय है। स्वाध्याय वह पीयूष है जिससे संसाररूपी व्याधि दूर हो जाती है। अतएव प्रत्येक श्रावकको आत्मतन्मयता, आत्मनिष्ठा, प्रतिभा, मेधा आदिके विकासके लिये स्वाध्याय करना आवश्यक है।

संयम—इन्द्रिय और मनका नियमनकर संयममें प्रवृत्त होना अत्यावश्यक है। कषाय और विकारोंका दमन किये बिना आनन्दकी उपलब्धि नहीं हो सकती है। संयम ही ऐसी ओषधि है, जो रागद्वेषरूप परिणामोंको नियन्त्रित करता है। संयमके दो भेद हैं—१. इन्द्रियसंयम और २. प्राणिसंयम। इन दोनों संयमोंमें पहले इन्द्रियसंयमका धारण करना आवश्यक है क्योंकि इन्द्रियोंके वश हो जानेपर ही प्राणियोंकी रक्षा सम्भव होती है। इन्द्रिय-सम्बन्धी अभिलाषाओं, लालसाओं और इच्छाओंका निरोध करना इन्द्रिय-संयमके अन्तर्गत है। विषय-कषायाओंको नियन्त्रित करनेका एकमात्र साधन संयम है। जिसने इन्द्रियसंयमका पालन आरम्भ कर दिया है वह जीवन-निर्वाहके लिये कम-से-कम सामग्रीका उपयोग करता है, जिससे शेष सामग्री समाजके अन्य सदस्योंके काम आती है, संघर्ष कम होता है और विषमता दूर होती है। यदि एक मनुष्य अधिक सामग्रीका उपभोग करे तो दूसरोंके लिये सामग्री कम पड़ेगी, जिससे शोषण आरम्भ हो जायगा। अतएव इन्द्रिय-संयमका अभ्यास करना आवश्यक है।

प्राणिसंयममें षट्कायके जीवोंकी रक्षा अपेक्षित है। प्राणिसंयमके धारण करनेसे अहिंसाकी साधना सिद्ध होती है और आत्मविकासका आरम्भ होता है।

तप—इच्छानिरोधको तप कहते हैं। जो व्यक्ति अपनी महत्त्वाकांक्षाओं और इच्छाओंका नियन्त्रण करता है, वह तपका अभ्यासी है। वास्तवमें अनशन, ऊनोदर आदि तपोंके अभ्याससे आत्मामें निर्मलता उत्पन्न होती है। अहंकार और ममकारका त्याग भी तपके द्वारा ही सम्भव है। रत्नत्रयके अभ्यासी श्रावकको अपनी शक्तिके अनुसार प्रतिदिन तपका अभ्यास करना चाहिए।

दान—शक्त्यनुसार प्रतिदिन दान देना चाहिए। सम्पत्तिकी सार्थकता दानमें ही है। दान सुपात्रको देनेसे अधिक फलवान् होता है। यदि दानमें अहंकारका भाव आ जाय तो दान निष्फल हो जाता है। श्रावक मुनि, आर्यिका, क्षुल्लिका, क्षुल्लक, ब्रह्मचारी, व्रती आदिको दान देकर शुभभावोंका अर्जन करता है।

श्रावकाचारके विकासकी सीढ़ियाँ

श्रावक अपने आचारके विकासके हेतु मूलभूत व्रतोंका पालन करता हुआ सम्यग्दर्शनकी विशुद्धिके साथ चारित्रमें प्रवृत्त होता है। उसके इस चारित्रिक विकास या आध्यात्मिक उन्नतिके कुछ सोपान हैं जो शास्त्रीय भाषामें प्रतिमा या अभिग्रहविशेष कहे जाते हैं। वस्तुतः ये प्रतिमाएँ श्रमणजीवनकी उपलब्धिका द्वार हैं। जो इन सोपानोंका आरोहणकर उत्तरोत्तर अपने आचारका विकास करता जाता है वह श्रमणजीवनके निकट पहुँचनेका अधिकारी बन जाता है। ये सोपान या प्रतिमाएँ ग्यारह हैं।

१. **दर्शनप्रतिमा**—देव, शास्त्र और गुरुकी भक्ति द्वारा जिसने अपने श्रद्धानको दृढ़ और विशुद्ध कर लिया है और जो संसार-विषय एवं भोगोंसे विरक्त हो चला है वह निर्दोष अष्टमूलगुणोंका पालन करता हुआ दर्शनप्रतिमाका धारी श्रावक कहलाता है। दार्शनिक श्रावक मद्य, मांस, मधुका न तो स्वयं सेवन करता है और न इन वस्तुओंका व्यापार करता है, न दूसरोंसे कराता है, न सम्मति ही देता है। मद्य-मांसके सेवन करनेवाले व्यक्तियोंसे अपना सम्पर्क भी नहीं रखता है। चर्मपात्रमें रखे हुए घृत, तैल या जलका भी उपभोग नहीं करता। रात्रिभोजनका त्याग करनेके साथ जल छानकर पीता है और सप्तव्यसनोंका त्यागी होता है। यह श्रावक नियन्त्रित रूपमें ही विषय-भोगोंका सेवन करता है।

२. **व्रतप्रतिमा**—माया, मिथ्यात्व और निदान इन तीन शल्योंसे रहित होकर निरतिचार पञ्चाणुव्रत और सप्तशीलोंका धारण करनेवाला श्रावक व्रतिक या व्रती कहलाता है। राग-द्वेष और मोहपर विजय प्राप्त करनेके

लिये साम्यभाव रखना व्रतिकके लिये आवश्यक है। पूर्वमें प्रतिपादित श्रावकके द्वादश व्रतोंका पालन करना व्रतिकके लिये विधेय है।

३. **सामायिकप्रतिमा**—व्रतप्रतिमाका अभ्यासी श्रावक तीनों संध्याओंमें सामायिक करता है और कठिन-से-कठिन कष्ट आ पड़नेपर भी ध्यानसे विचलित नहीं होता है। वह मन, वचन और कायकी एकाग्रताको स्थिर बनाये रखता है। सामायिक करनेवाला व्यक्ति एक-एक कायोत्सर्गके पश्चात् चार बार तीन-तीन आवर्त करता है। अर्थात् प्रत्येक दिशामें "णमो अरहंताणं" इस आद्य सामायिकदण्डक और "थोस्सामि हं" इस अन्तिम स्तविकदण्डकके तीन-तीन आवर्त और एक-एक प्रणाम इस तरह बारह आवर्त और चार प्रणाम करता है। श्रावक इन आवर्त आदिकी क्रियाओंको खड़े होकर सम्पन्न करता है। सामायिकका उद्देश्य आत्माकी शक्तिका केन्द्रीकरण करना है। सामायिक-प्रतिमाका धारण करनेवाला सामायिकी कहलाता है। दूसरी प्रतिमामें जो सामायिकशिक्षाव्रत है वह अभ्यासरूप है और इस तीसरी प्रतिमामें किया जानेवाला सामायिक व्रतरूप है।

४. **प्रोषधप्रतिमा**—प्रत्येक अष्टमी और चतुर्दशीको उपवास करना प्रोषध प्रतिमा है। पूर्वमें द्वितीय प्रतिमाके अन्तर्गत जिस प्रोषधोपवासका वर्णन किया गया है, वह अभ्यासरूपमें है। पर यहां यह प्रतिमा व्रतरूपमें ग्रहीत है।

५. **सचित्तविरत-प्रतिमा**—पूर्वकी चार प्रतिमाओंका पालन करनेवाले दयालु श्रावक द्वारा हरे साग, सब्जी, फल, पुष्प आदिके भक्षणका त्याग करना सचित्तविरत-प्रतिमा है। वस्तुतः इस प्रतिमामें किये गये सचित्तत्यागका उद्देश्य संयम पालन करना है। संयमके दो रूप हैं—१. प्राणिसंयम और २. इन्द्रियसंयम। प्राणियोंकी रक्षा करना प्राणिसंयम और इन्द्रियोंको वशमें करना इन्द्रियसंयम है।

वस्तुतः वनस्पतिके दो भेद हैं :—(१) सप्रतिष्ठित और (२) अप्रतिष्ठित। सप्रतिष्ठित दशामें प्रत्येक वनस्पतिमें अगणित जीवोंका वास रहता है, अतएव उसे अनन्तकाय कहते हैं और अप्रतिष्ठत दशामें उसमें एक ही जीवका निवास रहता है। सप्रतिष्ठित या अनन्तकाय वनस्पतिके भक्षणका त्याग अपेक्षित है। जब वही वनस्पति अप्रतिष्ठित—अनन्तकायके जीवोंका वास नहीं रहनेके कारण अचित्त हो जाती है तो उसका भक्षण किया जाता है। सुखाकर, अग्निमें पकाकर, चाकूसे काटकर सचित्तको अचित्त बनाया जा सकता है। इन्द्रियसंयमका पालन करनेके लिये सचित्त वनस्पतिका त्याग आवश्यक है।

६. **दिवामैथुन या रात्रिभुक्तित्याग**—पूर्वोक्त पाँच प्रतिमाओंके आचरणका

पालन करते हुए श्रावक जब दिनमें मन, वचन और कायसे स्त्रीमात्रका त्याग करता है तब उसके दिवामैथुनत्याग-प्रतिमा कहलाती है। पूर्वोक्त पाँचवीं प्रतिमामें इन्द्रियमदकारक वस्तुओंके खानपानका त्यागकर इन्द्रियोंको संयत करनेकी चेष्टा की गई है। इस छठी प्रतिमामें दिनमें कामभोगका त्याग कराकर मनुष्यकी कामभोगको लालसाको रात्रिके लिये ही सीमित कर दिया गया है।

इस प्रतिमाको रात्रिभुक्तिविरति भी कहा जाता है। दयालुचित्त श्रावक रात्रिमें खाद्य, स्वाद्य, लेह्य और पेय इन चारों ही प्रकारके भोजनोंको मन, वचन, काय और कृत, कारित, अनुमोदनासे त्याग करता है।

७. **ब्रह्मचर्यप्रतिमा**—पूर्वोक्त छह प्रतिमाओंमें विहित संयमके अभ्याससे मन, वचन, कायकी प्रवृत्ति द्वारा स्त्रीमात्रके सेवनका त्याग करना सप्तम ब्रह्मचर्यप्रतिमा है। छठी प्रतिमामें दिवामैथुनका त्याग कराया गया है और इस सप्तम प्रतिमामें रात्रिमें भी मैथुनका त्याग विहित है।

आत्मशक्तिको केन्द्रित करनेके लिये ब्रह्मचर्य एक अपूर्व वस्तु है। यहाँ ब्रह्मचर्यका अर्थ शारीरिक कामभोगोंसे निवृत्ति करना ही नहीं है अपितु पञ्चेन्द्रियोंके विषयभोगोंका त्याग करना है।

८. **आरम्भत्यागप्रतिमा**—पूर्वकी सात प्रतिमाओंका पालन करनेवाला श्रावक जब आजीविकाके साधन कृषि, व्यापार एवं नौकरी आदिके करने-कराने का त्याग कर देता है तो वह आरम्भत्यागप्रतिमावाला कहलाता है। ब्रह्मचर्य-प्रतिमामें कौटुम्बिक जीवनको मर्यादित कर दिया जाता है और इस प्रतिमामें सुयोग्य संतानको दायित्व सौंपकर उससे विरत हो जाता है।

९. **परिगृहत्यागप्रतिमा**—पूर्वोक्त आठ प्रतिमाओंके आचारका पालन करनेके साथ-साथ भूमि, गृह आदिसे अपना स्वत्व छोड़ना परिगृहत्याग-प्रतिमा है। अष्टम प्रतिमामें अपना उद्योग-धन्धा पुत्रोंको सुपुर्दकर सम्पत्ति अपने ही अधिकारमें रखता है। पर इस प्रतिमामें उसका भी त्याग कर देता है।

१०. **अनुमतित्यागप्रतिमा**—पूर्वकी नौ प्रतिमाओंके आचारका अभ्यास हो जानेके पश्चात् घरके किसी भी कारोबारमें किसी भी प्रकारकी अनुमति न देना अनुमतित्यागप्रतिमा है। इस प्रतिमाका धारी श्रावक घरमें न रहकर मन्दिर या चैत्यालयमें निवास करने लगता है और अपना समय स्वाध्यायमें

व्यतीत करता है। मध्यान्ह कालमें आमन्त्रण मिलनेपर अपने या दूसरेके घर भोजन कर आता है। भोजनमें उसकी अपनी कोई भी रुचि नहीं रहती।

११. उद्दिष्टत्यागप्रतिमा—अपने उद्देश्यसे बनाये गये आहारका ग्रहण न करना उद्दिष्टत्यागप्रतिमा है। इस प्रतिमाके दो भेद हैं:—(१) ऐलक और (२) क्षुल्लक। क्षुल्लक लंगोटीके साथ चादर भी रखता है और कैंची या छुरेसे अपने केशोंको बनवाता है। जिस स्थान पर क्षुल्लक बैठता या उठता है उस स्थानको कोमल वस्त्र आदिसे स्वच्छ कर लेता है, जिससे किसी जीवको पीड़ा नहीं होती है।

ऐलक केवल एक लंगोटी ही रखता है तथा केशलुञ्च करता है।

मुन्याचार या साध्वाचार

श्रमण-संस्था आत्मकल्याण और समाजोत्थान दोनों ही दृष्टियोंसे उपयोगी है। मुनि-आचार, पुरुषार्थमार्गका द्योतक है। मुनि परम पुरुषार्थके हेतु ही निर्ग्रन्थपद धारण करते हैं। वे विमल स्वभावकी प्राप्ति हेतु अन्तरंग और बहिरंग दोनों प्रकारके परिग्रहका त्याग करते हैं। वास्तवमें दिगम्बर वेश आकिंचन्यकी पराकाष्ठा है और है अहिंसाकी आधारशिला। कषाय और वासनासे हिंसक परिणति होती है तथा आकिंचनत्व न स्वीकार करने पर अहंकारका उदय होकर अहिंसा धर्मकी उच्चकोटिकी परिपालनामें विक्षेप उत्पन्न हो सकता है। अतएव मुनिके लिये दिगम्बर वेश परमावश्यक है। निर्ग्रन्थत्वके कारण ही मुनि कंचन और कामिनी इन दोनों ही परवस्तुओंका त्याग कर मोह-रात्रिका उपशमन करता है। अतएव यहाँ संक्षेपमें मुनिके आचारका विचार प्रस्तुत किया जा रहा है—

मुनिके अट्ठाईस मूलगुण होते हैं। इन मूलगुणोंका भली प्रकार पालन करता हुआ मुनि आत्मोत्थानमें प्रवृत्त होता है।

पंच महाव्रत—अहिंसा महाव्रत, सत्य महाव्रत, अचौर्य महाव्रत, ब्रह्मचर्य महाव्रत और अपरिग्रह महाव्रत। श्रावक जिन व्रतोंका एकदेशरूपसे अणु-रूपमें पालन करता था, मुनि उन्हीं व्रतोंका पूर्णतया पालन करता है। षट्कायके जीवोंका घात नहीं करते हुए राग-द्वेष, काम, क्रोधादि विकारोंको उत्पन्न नहीं होने देता। प्राणोंपर संकट आनेपर भी न असत्य भाषण करता है, न किसीको विना दी हुई वस्तुको ग्रहण करता है। पूर्ण शीलका पालन करते हुए अन्तरंग और बहिरंग सभी प्रकारके परिग्रहोंका त्यागी होता है। शुद्धिके हेतु कमण्डलु और प्राणिरक्षाके लिये मयूरपंखकी पिच्छि ग्रहण करता है।

९–१० पाँच समितियाँ—मुनि दिनमें सूर्यालोकके रहने पर चार हाथ आगे भूमि देखकर गमन करते हैं। हित, मित और प्रिय वचन बोलते हैं। श्रद्धा और भक्तिपूर्वक दिये गये निर्दोष आहारको एक बार ग्रहण करते हैं। पिच्छि-कमण्डलु आदिको सावधानीपूर्वक रखते और उठाते हैं। जीव-जन्तु रहित भूमि पर मल-मूत्रका त्याग करते हैं। प्रमादत्यागकी हेतुभूत ईर्या, भाषा, एषणा, आदान-निक्षेपण और व्युत्सर्ग ये पाँच समितियाँ हैं।

११–१५ पंचेन्द्रियनिग्रह—जो विषय इन्द्रियोंको लुभावने लगते हैं, उनसे मुनि राग नहीं करते और जो विषय इन्द्रियोंको बुरे लगते हैं, उनसे द्वेष नहीं करते।

१६–२१ षडावश्यक—सामायिक, स्तुति, वन्दना, प्रतिक्रमण, प्रत्याख्यान और कायोत्सर्ग इन षडावश्यकोंका मुनिपालन करते हैं। सामायिकके साथ तीर्थंकरोंकी स्तुति, उन्हें नमस्कार, प्रमादसे लगे हुए दोषोंका शोधन, भविष्यमें लग सकनेवाले दोषोंसे बचनेके लिए अयोग्य वस्तुओंका मन-वचन-कायसे त्याग, तपवृद्धि अथवा कर्मनिर्जराके लिये कायोत्सर्ग करना अपेक्षित है। खड़े होकर दोनों भुजाओंको नीचेकी ओर लटकाकर, पैरके दोनों पंजोंको एक सीधमें चार अंगुलके अन्तरालसे रखकर आत्मध्यानमें लीन होना कायोत्सर्ग है।

२२–२८ शेष ७ गुण—स्नान नहीं करना, दन्तधावन नहीं करना, पृथ्वीपर शयन करना, खड़े होकर भोजन करना, दिनमें एक बार भोजन करना, नग्न रहना और केशलुञ्च करना।

मुनि क्षुधा, तृषा, शीत, उष्ण, दंश-मशक, नाग्न्य, अरति, स्त्री, चर्या, निषद्या, शय्या, आक्रोश, वध, याचना, आलाभ, रोग, तृण-स्पर्श, मल, सत्कार-पुरस्कार, प्रज्ञा, अज्ञान और अदर्शन इन बाईस परीषहोंको सहन करता है। मुनि कष्ट आनेपर सभी प्रकारके उपसर्गोंको भी शान्तिपूर्वक सहता है। उसके लिये शत्रु-मित्र, महल-श्मशान, कंचन-कांच, निन्दा-स्तुति सब समान हैं। यदि कोई उसकी पूजा करता है, तो उसे भी वह अशीर्वाद देता है और यदि कोई उसपर तलवारसे वार करता है, तो उसे भी आशीर्वाद देता है। उसे न किसीसे राग होता है और न किसीसे द्वेष। वह राग-द्वेषको दूर करनेके लिये ही साधु-आचरण करता है। साधु या मुनिकी आवश्यकताएँ अत्यन्त परिमित होती हैं। नग्न रहनेके कारण उसकी निर्विकारता स्पष्ट प्रतीत होती है। वह विकार छिपानेके लिये न तो लंगोटी ग्रहण करता है और न किसी प्रकारका संकोच ही करता है।

साधुका जीवन अकृत्रिम और स्वाभाविक रहता है, किसी भी प्रकारका

आडम्बर उसके पास नहीं रहता। सिर, दाढ़ी, मूछोंके केशोंको द्वितीय, चतुर्थ और छठे महीनोंमें वह अपने हाथसे उखाड़ डालता[1] है।

साधुका अन्य आचार

मुनि-आचार या साधु-आचारका पालन करनेके लिये गुप्ति, समिति, अनुप्रेक्षा, परीषहजय और चारित्रका पालन करना भी आवश्यक है। योगोंका सम्यक् प्रकारसे निग्रह करना गुप्ति है। गुप्तिका जीवनके निर्माणमें बड़ा हाथ है, क्योंकि भावबन्धनसे मुक्ति गुप्तियोंके द्वारा ही प्राप्त होती है। गुप्ति प्रवृत्ति-मात्रका निषेध कहलाती है। शारीरिक क्रियाका नियमन, मौन धारण और संकल्प-विकल्पसे जीवनका संरक्षण क्रमशः काय, वचन और मनोगुप्ति है।

जब-तक शरीरका संयोग है, तब-तक क्रियाका होना आवश्यक है। मुनि गमनागमन भी करता है। आचार्य, उपाध्याय, साधु या अन्य जनोंसे सम्भाषण भी करता है, भोजन भी लेता है। संयम और ज्ञानके साधनभूत पिच्छि, कमण्डलु और शास्त्रका भी व्यवहार करता है और मल-मूत्र आदिका भी त्याग करता है। यह नहीं हो सकता कि मुनि होनेके बाद वह एक साथ समस्त क्रियाओंका त्याग कर दे। अतः वह पाँच प्रकारकी समितियोंका पालन करता है। जीवनमें पूर्णतया सावधानी रखता है।

मुनि कर्मोंके उन्मूलन और आत्मस्वभावकी प्राप्तिके हेतु, उत्तम क्षमा, उत्तम मार्दव, उत्तम आर्जव, उत्तम शौच, उत्तम सत्य, उत्तम संयम, उत्तम तप उत्तम त्याग, उत्तम आकिंचन्य और उत्तम ब्रह्मचर्यका पालन करता है। उत्तम क्षमाका अर्थ है—क्रोधके कारण मिलनेपर भी क्रोध न कर सहनशीलता बनाये रखना। भीतर और बाहर नम्रता धारण करना एवं अहंकारपर विजय पाना मार्दव है। मन-वचन और कायकी प्रवृत्तिको सरल रखना आर्जव है। सभी प्रकारके लोभका त्यागकर शरीरमें आसक्ति न रखना शौच है। साधु पुरुषोंके लिये हितकारी वचन बोलना सत्य है। षट्कायके जीवोंकी रक्षा करना और इन्द्रियोंको विषयोंमें प्रवृत्त नहीं होने देना संयम है। शुभोद्देश्यसे त्यागके आधारभूत नियमोंको अपने जीवनमें उतारना तप है। संयतका ज्ञानादि

---

१. जधजादरूवजादं उप्पाडिदकेसमंसुगं सुद्धं।
रहिदं हिंसादीदो अप्पडिकम्मं हवदि लिंगं॥
मुच्छारंभविजुत्तं जुत्तं उवजोगजोगसुद्धीहिं।
लिंगं ण परावेक्खं अपुणब्भवकारणं जेण्हं॥

—प्रवचनसार, गाथा २०५-२०६.

गुणोंका प्रदान करना त्याग है। शरीर और परवस्तुओंसे ममत्व न रखना आकिंचन्य है। स्त्री-विषयक सहवास, स्मरण और कथा आदिका सर्वथा त्याग करना ब्रह्मचर्य है।

संसार एवं संसारके कारणोंके प्रति विरक्त होकर धर्मके प्रति गहरी आस्था उत्पन्न करना अनुप्रेक्षा है। अनुप्रेक्षाका अर्थ है, पुनः पुनः चिन्तन करना। साधु या अन्य आत्मसाधक व्यक्ति संसार और संसारकी अनित्यता आदिके विषयमें और साथ ही आत्मशुद्धिके कारणभूत भिन्न-भिन्न साधनोंके विषयमें पुनः पुनः चिन्तन करता है, जिससे संसार और संसारके कारणोंके प्रति विरक्ति उत्पन्न होती है और धर्मके प्रति आस्था उत्पन्न होती है। अनुप्रेक्षाएँ निम्नलिखित बारह हैं—

(१) अनित्य—शरीर, इन्द्रिय, विषय और भोगोपभोगको जलके बुलबुलेके समान अनवस्थित और अनित्य चिन्तन करना। मोहवश इस प्राणीने पर-पदार्थोंको नित्य मान लिया है, पर वस्तुतः आत्माका ज्ञान-दर्शन और चैतन्य स्वभाव ही नित्य है और यही उपयोगी है।

(२) अशरण—यह प्राणी जन्म, जरा, मृत्यु और व्याधियोंसे घिरा हुआ है। यहाँ इसका कोई भी शरण नहीं है। कष्ट या विपत्तिके समय धर्मके अतिरिक्त अन्य कोई भी रक्षक नहीं है। इसप्रकार संसारको अशरणभूत विचार करना अशरणानुप्रेक्षा है।

(३) संसारानुप्रेक्षा—संसारके स्वरूपका चिन्तन करना तथा जन्म-मरण-रूप इस परिभ्रमणमें स्वजन और परिजनकी कल्पना करना व्यर्थ है। जो साधक संसारके स्वरूपका चिन्तनकर वैराग्य उत्पन्न करता है, वह संसारानुप्रेक्षाका चिन्तक होता है।

(४) एकत्वानुप्रेक्षा—मैं अकेला ही जन्मता हूँ और अकेला ही मरण प्राप्त करता हूँ। स्वजन या परिजन ऐसा कोई नहीं जो मेरे दुःखोंको दूर कर सकते हैं, इस प्रकार चिन्तन करना एकत्वानुप्रेक्षा है।

(५) अन्यत्वानुप्रेक्षा—शरीर जड़ है, मैं चेतन हूँ। शरीर अनित्य है, मैं नित्य हूँ। संसारमें परिभ्रमण करते हुए, मैंने अगणित शरीर धारण किये, पर मैं जहाँ-का-तहाँ हूँ। जब मैं शरीरसे पृथक् हूँ, तब अन्य पदार्थोंसे अविभक्त कैसे हो सकता हूँ? इस प्रकार शरीर और बाह्य पदार्थोंसे अपनेको भिन्न चिन्तन करना अन्यत्वानुप्रेक्षा है।

(६) अशुचित्वानुप्रेक्षा—शरीर अत्यन्त अपवित्र है। यह शुक्र, शोणित

आदि सप्त धातुओं और मल-मूत्रसे भरा हुआ है। इससे निरन्तर मल झरता है। इस प्रकार शरीरकी अशुचिताका चिन्तन करना अशुचि-अनुप्रेक्षा है।

(७) आस्रवानुप्रेक्षा—इन्द्रिय, कषाय और अव्रत आदि उभय लोकमें दुःखदायी हैं। इन्द्रियविषयोंकी विनाशकारी लीला तो सर्वत्र प्रसिद्ध है। जो इन्द्रियविषयों और कषायोंके अधीन है, उसके निरन्तर आस्रव होता रहता है और यह आस्रव ही आत्मकल्याणमें बाधक है। इस प्रकार आस्रवस्वरूपका चिन्तन करना आस्रवानुप्रेक्षा है।

(८) संवरानुप्रेक्षा—संवर आस्रवका विरोधी है। उत्तम क्षमादि संवरके साधन हैं। संवरके बिना आत्मशुद्धिका होना असम्भव है। इस प्रकार संवर-स्वरूपका चिन्तन करना संवरानुप्रेक्षा है।

(९) निर्जरानुप्रेक्षा—फल देकर कर्मोंका झड़ जाना निर्जरा है। यह दो प्रकार की है—(१) सविपाक और (२) अविपाक। जो विविध गतियोंमें फलकालके प्राप्त होनेपर निर्जरा होती है, वह सविपाक है। यह अबुद्धि-पूर्वक सभी प्राणियोंमें पायी जाती है। किन्तु अविपाक निर्जरा तपश्चर्याके निमित्तसे सम्यग्दृष्टिके होती है। निर्जराका यही भेद कार्यकारी है। इस प्रकार निर्जराके दोष-गुणका विचार करना निर्जरानुप्रेक्षा है।

(१०) लोकानुप्रेक्षा—अनादि, अनिधन और अकृत्रिम लोकके स्वभावका चिन्तन करना तथा इस लोकमें स्थित दुःख उठानेवाले प्राणीके दुःखोंका विचार करना लोकानुप्रेक्षा है।

(११) बोधिदुर्लभानुप्रेक्षा—जिस प्रकार समुद्रमें पड़े हुए हीरकरत्नका प्राप्त करना दुर्लभ है, उसी प्रकार एकेन्द्रियसे त्रसपर्यायका मिलना दुर्लभ है। त्रसपर्यायमें पंचेन्द्रिय, संज्ञी, पर्याप्त, मनुष्य एवं सम्यग्ज्ञानकी प्राप्तिके योग्य साधनोंका मिलना कठिन है। कदाचित् ये साधन भी मिल जायें, तो रत्नत्रयकी प्राप्तिके योग्य बोधिका मिलना दुर्लभ है। इसप्रकार चिन्तन करना बोधि-दुर्लभानुप्रेक्षा है।

(१२) धर्मस्वाख्यातत्त्वानुप्रेक्षा—तीर्थंकर द्वारा उपदिष्ट धर्म अहिंसामय है और इसकी पुष्टि सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह, विनय, क्षमा, विवेक आदि धर्मों और गुणोंसे होती है। जो अहिंसा धर्मको धारण नहीं करता। उसे संसारमें परिभ्रमण करना पड़ता है, इस प्रकार चिन्तन करना धर्म-स्वाख्यातत्वानुप्रेक्षा है।

इन अनुप्रेक्षाओंके चिन्तनसे वैराग्यकी वृद्धि होती है। ये अनुप्रेक्षाएँ माताके समान हितकारिणी और आत्म-आस्थाको उद्‌बुद्ध करनेवाली हैं।

चारित्र

संयमी व्यक्तिकी कर्मोंके निवारणार्थ जो अन्तरंग और बहिरंग प्रवृत्ति होती है वह चारित्र है। परिणामोंकी विशुद्धिके तारतम्यकी अपेक्षा और निमित्तभेदसे चारित्रके पाँच भेद हैं। मुनि इन पाँचों प्रकारके चारित्रोंका पालन करता है।

१. सामायिक चारित्र—सम्यक्त्व, ज्ञान, संयम और तप इनके साथ ऐक्य स्थापित करना और राग एवं द्वेषका विरोध करके आवश्यक कर्त्तव्योंमें समताभाव बनाये रखना सामायिक चारित्र है। इसके दो भेद हैं—(१) नियत काल और (२) अनियत काल। जिनका समय निश्चित है ऐसे स्वाध्याय आदि नियत काल सामायिक हैं और जिनका समय निश्चत नहीं है ऐसे ईर्यापथ आदि अनियतकाल हैं। संक्षेपतः समस्त सावद्ययोगका एकदेश त्याग करना सामायिक चारित्र है।

२. छेदोपस्थापना चारित्र—सामायिक चारित्रसे विचलित होनेपर प्रायश्चित्तके द्वारा सावद्य व्यापारमें लगे दोषोंको छेदकर पुनः संयम धारण करना छेदोपस्थापना चारित्र है। वस्तुतः समस्त सावद्ययोगका भेदरूपसे त्याग करना छेदोपस्थापना चारित्र है। यथा—मैंने समस्त पापकार्योंका त्याग किया, यह सामायिक है और मैंने हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील और परिग्रहका त्याग किया, यह छेदोपस्थापना है।

३. परिहारविशुद्धि—जिस चारित्रमें प्राणिहिंसाकी पूर्ण निवृत्ति होनेसे विशिष्ट विशुद्धि पायी जाती है उसे परिहारविशुद्धि कहते हैं। जिस व्यक्तिने अपने जन्मसे तीस वर्षकी अवस्थातक सुखपूर्वक जीवन व्यतीत किया, पश्चात् दिगम्बर दीक्षा लेकर आठ वर्ष तक तीर्थंकरके निकट प्रत्याख्याननामक नवम पूर्वका अध्ययन किया हो तथा तीनों सन्ध्याकालको छोड़कर दो कोष बिहार करनेका जिसका नियम हो उस दुर्धरचर्याके पालक महामुनिको ही परिहारविशुद्धि चारित्र होता है। इस चारित्रवालेके शरीरसे जीवोंका घात नहीं होता है। इसीसे इसका नाम परिहारविशुद्धि है।

४. सूक्ष्मसाम्पराय चारित्र—जिसमें क्रोध, मान, माया इन तीन कषायोंका उदय नहीं होता, किन्तु सूक्ष्म लोभका उदय होता है वह सूक्ष्मसाम्पराय चारित्र है। यह दशमगुणस्थानमें होता है।

५. यथाख्यात चारित्र—समस्त मोहनीयकर्मके उपशम अथवा क्षयसे जैसा आत्माका निर्विकार स्वभाव है वैसा ही स्वभाव हो जाना यथाख्यात चारित्र है।

तप—विषयोंसे मनको दूर करनेके हेतु एवं राग-द्वेषपर विजय प्राप्त करनेके हेतु जिन-जिन उपायों द्वारा शरीर, इन्द्रिय और मनको तपाया जाता है अर्थात् इनपर विजय प्राप्त की जाती है वे सभी उपाय तप हैं। तपके दो भेद हैं—(१) बाह्य एवं (२) आभ्यन्तर। बाह्य द्रव्यकी अपेक्षा होनेके कारण जो दूसरोंको दिखाई पड़ते हैं, वे बाह्यतप हैं। बाह्यतप आभ्यन्तर तपकी पुष्टिमें कारण हैं। जिन तपोंमें मानसिक क्रियाओंकी प्रधानता हो, जो अन्यको दिखलाई न पड़ें वे आभ्यन्तर तप हैं।

बाह्यतप

अनशन, अवमौदर्य, वृत्तिपरिसंख्यान, रसपरित्याग, विविक्तशय्यासन और कायक्लेश ये छह बाह्य तप हैं।

१. **अनशन**—संयमकी पुष्टि, रागका उच्छेद, कर्मनाश और ध्यानसिद्धिके लिये भोजनका त्याग करना अनशन तप है। इसमें ख्याति, पूजा आदि फल-प्राप्तिकी आकांक्षा नहीं रहती।

२. **अवमौदर्य**—संयमको जागृत रखने, दोषोंके प्रशम करने, सन्तोष एवं स्वाध्यायको सिद्ध करनेके लिये भूखसे कम खाना अवमौदर्य तप है। मुनिका उत्कृष्ट ग्रास बत्तीस ग्रास है, अतः इससे अल्प आहार करना अवमौदर्य है।

३. **वृत्तिपरिसंख्यान**—आहारके लिये जाते समय घर, गली आदिका नियम ग्रहण करना वृत्तिपरिसंख्यान तप है। यह चित्तवृत्तिपर विजय प्राप्त करने और आसक्तिको घटानेके लिये धारण किया जाता है।

४. **रसपरित्याग**—इन्द्रियों और निद्रा पर विजयप्राप्तार्थ घी, दुग्ध, दधि, तैल, मीठा और नमकका यथायोग्य त्याग करना रसपरित्याग तप है।

५. **विविक्तशय्यासन**—ब्रह्मचर्य, स्वाध्याय, ध्यान आदिकी सिद्धि हेतु एकान्त स्थानमें शयन करना तथा आसन लगाना विविक्तशय्यासन तप है।

६. **कायक्लेश**—कष्ट सहन करनेके अभ्यासके हेतु विलासभावनाको दूर करने तथा धर्मकी प्रभावनाके लिये ग्रीष्म ऋतुमें पर्वतशिलापर, शीत ऋतुमें खुले मैदानमें और वर्षा ऋतुमें वृक्षके नीचे ध्यान लगाना कायक्लेश है।

आभ्यन्तर तप—आभ्यन्तर तपके प्रायश्चित्त, विनय, वैय्यावृत्य, स्वाध्याय, व्युत्सर्ग और ध्यान ये छह भेद हैं।

१. **प्रायश्चित्त**—प्रमादसे लगे हुए दोषोंको दूर करना प्रायश्चित्त तप है।

इसके आलोचना, प्रतिक्रमण, तदुभय, विवेक, व्युत्सर्ग, तप, छेद, परिहार, और उपस्थापना ये नौ भेद हैं। गुरुसे अपने प्रमादको निवेदन करना आलोचना; किये गये अपराधके प्रति मेरा दोष मिथ्या हो ऐसा निवेदन प्रतिक्रमण; आलोचना और प्रतिक्रमण दोनोंका एक साथ करना तदुभय; अन्य पात्र और उपकरण आदिके मिल जाने पर उनका त्याग करना विवेक; मनमें अशुभ या अशुद्ध विचारोंके आनेपर नियत समय तक कायोत्सर्ग करना व्युत्सर्ग है; दोषविशेषके हो जानेपर उसके परिहारके लिये अनशन आदि करना तप है। किसी विशेष दोषके होनेपर उस दोषके परिहारार्थ दीक्षाका छेद करना छेद है; विशिष्ट अपराधके होनेपर संघसे पृथक् करना परिहार हैं; और बड़े दोषके लगने पर उस दोषके परिहारहेतु पूर्ण दीक्षाका छेद करके पुनः दीक्षा देना उपस्थापना है।

२. विनय—पूज्य पुरुषोंके प्रति आदरभाव प्रकट करना विनयतप है। इसके चार भेद हैं। मोक्षोपयोगी ज्ञान प्राप्त करना, उसका अभ्यास रखना और किये गये अभ्यासका स्मरण रखना ज्ञानविनय है; सम्यग्दर्शनका शंकादि दोषोंसे रहित पालन करना दर्शनविनय; सामायिक आदि यथायोग्य चारित्रके पालन करनेमें चित्तका समाधान रखना चारित्रविनय है। और आचार्य आदिके प्रति "नमोस्तु" आदि प्रकट करना उपचारविनय है।

३. वैय्यावृत्य—शरीर आदिके द्वारा सेवा-शुश्रूषा करना वैय्यावृत्य है। जिनकी वैय्यावृत्ति की जाती है, वे दश प्रकारके हैं।

१. आचार्य—जिनके पास जाकर मुनि व्रताचरण करते हैं।

२. उपाध्याय—जिनके पास मुनि-गण शास्त्राभ्यास करते हैं।

३. तपस्वी—जो बहुत व्रत-उपवास करते हैं।

४. शैक्ष्य—जो श्रुतका अभ्यास करते हैं।

५. ग्लान—रोग आदिसे जिनका शरीर क्लान्त हो।

६. गण—स्थविरोंकी संतति।

७. कुल—दीक्षा देने वाले आचार्यकी शिष्यपरम्परा।

८. संघ—ऋषि, यति, मुनि और अनगारके भेदसे चार प्रकारके साधुका समूह।

९. साधु—बहुत समयसे दीक्षित मुनि।

१०. मनोज्ञ—जिनका उपदेश लोकमान्य हो अथवा लोकमें पूज्य हों।

४. स्वाध्याय—आलस्यको त्यागकर ज्ञानका अध्ययन करना स्वाध्याय है। स्वाध्यायके पाँच भेद हैं।

१. वाचना—ग्रन्थ, अर्थ तथा दोनोंका निर्दोपरीतिसे पाठ करना।

२. पृच्छना—शंकाको दूर करने या विशेष निर्णयकी पृच्छा करना।

३. अनुप्रेक्षा—अधीत शास्त्रका अभ्यास करना, पुनः पुनः विचार करना।

४. आम्नाय—जो पाठ पढ़ा है उसका शुद्धतापूर्वक पुनः पुनः उच्चारण करना।

५. धर्मोपदेश—धर्मकथा या धर्मचर्चा करना।

५. व्युत्सर्ग—शरीर आदिमें अहंकार और ममकार आदिका त्याग करना व्युत्सर्ग है। इसके दो भेद हैं—(१) वाह्यव्युत्सर्ग और (२) आभ्यान्यर व्युत्सर्ग। भवन, खेत, धन, धान्य आदि पृथक्भूत पदार्थोंके प्रति ममताका त्याग करना वाह्यव्युत्सर्ग और आत्माके क्रोधादि परिणामोंका त्याग करना आभ्यन्तर व्युत्सर्ग है।

६. ध्यान—चञ्चल मनको एकाग्र करनेके लिए किसी एक विषयमें स्थित करना ध्यान है। उत्तम ध्यान तो उत्तम संहननके धारक मनुष्यको प्राप्त होता है। यह अपनी चित्तवृत्तिको सभी ओरसे रोककर आत्मस्वरूपमें अवस्थित करता है। जब आत्मा समस्त शुभाशुभ संकल्प-विकल्पोंको छोड़, निर्विकल्प समाधिमें लीन हो जाती है, तो समस्त कर्मोंकी शृङ्खला टूट जाती है। ध्यान-का अर्थ भी यही है कि समस्त चिन्ताओं, संकल्प-विकल्पोंको रोककर मनको स्थिर करना; आत्मस्वरूपका चिन्तन करते हुए पुद्गल द्रव्यसे आत्माको भिन्न विचारना और आत्मस्वरूपमें स्थिर होना।

ध्यान करनेसे मन, वचन और शरीरकी शुद्धि होती है। मनशुद्धिके विना शरीरको कष्ट देना व्यर्थ है, जिसका मन स्थिर होकर आत्मामें लीन हो जाता है वह परमात्मपदको अवश्य प्राप्त कर लेता है। मनको स्थिर करनेके लिए ध्यान ही एक साधन है।

ध्यानके भेद

ध्यानके चार भेद हैं—१. आर्त्तध्यान, २. रौद्रध्यान ३. धर्म ध्यान और ४. शुक्ल ध्यान। इनमेंसे प्रथम दो ध्यान पापास्रवका कारण होनेसे अप्रशस्त हैं और उत्तरवर्ती दो ध्यान कर्म नष्ट करनेमें समर्थ होनेके कारण प्रशस्त हैं।

आर्त्तध्यान : स्वरूप और भेद

ऋतका अर्थ दुःख है। जिसके होनेमें दुःखका उद्वेग या तीव्रता निमित्त है, वह आर्त्तध्यान है। आर्त्तध्यानके चार भेद हैं—१. अनिष्टसंयोगजन्य आर्त्तध्यान, २. इष्टवियोगजन्य आर्त्तध्यान, ३. वेदनाजन्य आर्त्तध्यान और ४. निदानज

आर्त्तध्यान। अनिष्ट पदार्थोंके संयोग हो जानेपर उस अनिष्टको दूर करनेके लिए बार-बार चिन्तन करना अनिष्टसंयोगजन्य आर्त्तध्यान है। स्त्री, पुत्र, धन, धान्य आदि इष्ट पदार्थोंके वियुक्त हो जानेपर उनकी प्राप्तिके लिए बार-बार चिन्तन करना इष्टवियोगजन्य आर्तध्यान है। रोगके होने पर अधीर हो जाना, यह रोग मुझे बहुत कष्ट दे रहा है, कब दूर होगा, इस प्रकार सदा रोगजन्य दुःखका विचार करते रहना तीसरा आर्त्तध्यान है। भविष्यत्कालमें भोगोंकी प्राप्तिकी आकांक्षाको मनमें बार-बार लाना निदानज आर्त्तध्यान है।

रौद्रध्यान : स्वरूप और भेद

रुद्रका अर्थ क्रूर परिणाम है। जो क्रूर परिणामोंके निमित्तसे होता है, वह रौद्रध्यान है। रौद्रध्यानके निमित्तकी अपेक्षा चार भेद हैं—१. हिंसानन्द रौद्रध्यान, २. मृषानन्द रौद्रध्यान, ३. चौर्यानन्द रौद्रध्यान और ४. विषयसंरक्षण रौद्रध्यान। जीवोंके समूहको अपने तथा अन्य द्वारा मारे जानेपर, पीड़ित किये जानेपर एवं कष्ट पहुँचाये जानेपर जो चिन्तन किया जाता है या हर्ष मनाया जाता है उसे हिंसानन्द रौद्रध्यान कहा जाता है। यह ध्यान निर्दयी, क्रोधी मानी, कुशीलसेवी नास्तिक एवं उद्दीप्तकषायवालेको होता है। शत्रुसे बदला लेनेका चिन्तन करना, युद्धमें प्राणघात किये गये दृश्यका चिन्तन करना एवं किसीको मारने-पीटने कष्ट पहुँचाने आदिके उपायोंका चिन्तन करना भी हिंसानन्द रौद्रध्यानके अन्तर्गत है। झूठी कल्पनाओंके समूहसे पापरूपी मैलसे मलिनचित्त होकर जो कुछ चिन्तन किया जाता है, वह मृषानन्द रौद्रध्यान है। इस ध्यानको करनेवाला व्यक्ति नाना प्रकारके झूठे संकल्प-विकल्पकर आनन्दानुभूति प्राप्त करता रहता है। चोरी करनेकी युक्तियाँ सोचते रहना, परधन या सुन्दर वस्तुको हड़पनेकी दिन-रात चिन्ता करते रहना चौर्यानन्द नामक रौद्रध्यान है। सांसारिक विषय भोगनेके हेतु चिन्तन करना, विषयभोगकी सामग्री एकत्र करनेके लिए विचार करना एवं धन-सम्पत्ति आदि प्राप्त करनेके साधनोंका चिन्तन करना विषयसंरक्षणनामक रौद्रध्यान है।

आर्त्त और रौद्र दोनों ही ध्यान आत्मकल्याणमें बाधक हैं। इनसे आत्मस्वरूप आच्छादित हो जाता है तथा स्वपरिणति लुप्त होकर परपरिणतिकी प्राप्ति हो जाती है। ये दोनों ध्यान दुर्ध्यान कहलाते हैं और दुर्गतिके कारण हैं। इनका आत्मकल्याणसे कुछ भी सम्बन्ध नहीं है।

धर्मध्यान : स्वरूप और भेद

शुभ राग और सदाचार सम्बन्धी चिन्तन करना धर्मध्यान है। धर्मध्यान

आत्माकी निर्मलताका साधन है। इस ध्यानके समग्र भेदोंका साधन करनेसे रत्नत्रयगुण निर्मल होता है और कर्मोंकी निर्जरा होती है। धर्मध्यानके चार भेद हैं—१. आज्ञा, २. अपाय, ३. विपाक और ४. संस्थान। आगमानुसार तत्त्वोंका विचार करना आज्ञाविचय, अपने तथा दूसरोंके राग-द्वेष-मोह आदि विकारोंको नाश करनेका चिन्तन करना अपायविचय, अपने तथा दूसरोंके सुख-दुःखको देखकर कर्मप्रकृतियोंके स्वरूपका चिन्तन करना विपाकविचय एवं लोकके स्वरूपका विचार करना संस्थानविचयनामक धर्मध्यान है। इस धर्मध्यानके अन्य प्रकारसे भी चार भेद हैं—१. पिंडस्थ, २. पदस्थ, ३. रूपस्थ और ४. रूपातीत। यह धर्मध्यान अविरत, देशविरत, प्रमत्तसंयत और अप्रमत्तसंयत जीवोंके सम्भव है। श्रेणि-आरोहणके पूर्व धर्मध्यान और श्रेणि-आरोहणके समयसे शुक्लध्यान होता है।

पिण्डस्थ ध्यान

शरीर स्थित आत्माका चिन्तन करना पिण्डस्थ ध्यान है। यह आत्मा निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्धसे रागद्वेषयुक्त है और निश्चयनयकी अपेक्षा यह बिलकुल शुद्ध ज्ञान-दर्शन चैतन्यरूप है। निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध अनादि-कालीन है और इसी सम्बन्धके कारण यह आत्मा अनादिकालसे इस शरीरमें आबद्ध है। यों तो यह शरीरसे भिन्न अमूर्तिक, सूक्ष्म और चैतन्यगुणधारी है, पर इस सम्बन्धके कारण यह अमूर्तिक होते हुए भी कथञ्चित् मूर्तिक है। इस प्रकार शरीरस्थ आत्माका चिन्तन पिण्डस्थ ध्यानमें सम्मिलित है। इस ध्यानको सम्पादित करनेके लिए पाँच धारणाएँ वर्णित हैं—१. पार्थिवी, २. आग्नेय, ३. वायवी ४. जलीय और ४. तत्त्वरूपवती।

पार्थिवी धारणा

इस धारणामें एक मध्यलोकके समान निर्मल जलका बड़ा समुद्र चिन्तन करे; उसके मध्यमें जम्बूद्वीपके तुल्य एक लाख योजन चौड़ा और एक सहस्र पत्रवाले तपे हुए स्वर्णके समान वर्णके कमलका चिन्तन करे। कर्णिकाके बीचमें सुमेरु पर्वत सोचे। उस सुमेरु पर्वतके ऊपर पाण्डुकवनमें पाण्डुक शिलाका चिन्तन करे। उसपर स्फटिक मणिका आसन विचारे। उस आसनपर पद्मासन लगाकर अपनेको ध्यान करते हुए कर्म नष्ट करनेके हेतु विचार करे। इतना चिन्तन बार-बार करना पार्थिवी धारणा है।

आग्नेयी धारणा

उसी सिंहासनपर बैठे हुए यह विचार करे कि मेरे नाभिकमलके स्थानपर

भीतर ऊपरको उठा हुआ सोलह पत्तोंका एक श्वेत रंगका कमल है। उसपर पीतवर्णके सोलह स्वर लिखे हैं। अ आ, इ ई, उ ऊ, ऋ ॠ, लृ लॄ, ए ऐ, ओ औ, अं अः, इन स्वरोंके बीचमें 'हँ' लिखा है। दूसरा कमल हृदयस्थानपर नाभिकमलके ऊपर आठ पत्तोंका औंधा विचार करना चाहिए। इस कमलको ज्ञानावरणादि आठ पत्तोंका कमल माना जायगा।

पश्चात् नाभि-कमलके बीचमें जहाँ 'हँ' लिखा है, उसके रेफसे धुँआ निकलता हुआ सोचे, पुनः अग्निकी शिखा उठती हुई विचार करे। यह लौ ऊपर उठकर आठ कर्मोंके कमलको जलाने लगी। कमलके बीचसे फूटकर अग्निकी लौ मस्तकपर आ गई। इसका आधा भाग शरीरके एक ओर और आधा भाग शरीरके दूसरी ओर निकलकर दोनोंके कोने मिल गये। अग्निमय त्रिकोण सब प्रकारसे शरीरको वेष्टित किये हुए है। इस त्रिकोणमें र र र र र र र अक्षरोंको अग्निमय फैले हुए विचारे अर्थात् इस त्रिकोणके तीनों कोण अग्निमय र र र अक्षरोंके बने हुए हैं। इसके बाहरी तीनों कोणोंपर अग्निमय साँथिया तथा भीतरी तीनों कोणोंपर अग्निमय 'ओम् हँ' लिखा सोचे। पश्चात् विचार करे कि भीतरी अग्निकी ज्वाला कर्मोंको और बाहरी अग्निकी ज्वाला शरीरको जला रही है। जलते-जलते कर्म और शरीर दोनों ही जलकर राख हो गये हैं तथा अग्निकी ज्वाला शान्त हो गई है अथवा पहलेके रेफमें समाविष्ट हो गई है, जहाँसे उठी थी। इतना अभ्यास करना 'अग्निधारणा' है।

वायु-धारणा

तदनन्तर साधक चिन्तन करे कि मेरे चारों ओर बड़ी प्रचण्ड वायु चल रही है। इस वायुका एक गोला मण्डलाकार बनकर मुझे चारों ओरसे घेरे हुए है। इस मण्डलमें आठ जगह 'स्वाँय स्वाँय' लिखा हुआ है। यह वायु-मण्डल कर्म तथा शरीरके रजको उड़ा रहा है। आत्मा स्वच्छ और निर्मल होती जा रही है। इस प्रकारका चिन्तन करना वायु-धारणा है।

जल-धारणा

तत्पश्चात् चिन्तन करे कि आकाशमें मेघोंकी घटाएँ आच्छादित हैं। विद्युत् चमक रही है। बादल गरज रहे हैं और घनघोर वृष्टि हो रही है। पानीका अपने ऊपर एक अर्ध चन्द्राकार मण्डल बन गया है। जिसपर प प प प कई स्थानोंपर लिखा है। जल-धाराएँ आत्माके ऊपर लगी हुई हैं और कर्मरज प्रक्षालित हो रहा है, इस प्रकार चिन्तन करना जल धारणा है।

तत्त्वरूपवती-धारणा

इसके आगे साधक चिन्तन करे कि अब मैं सिद्ध, बुद्ध, सर्वज्ञ, निर्मल, कर्म

और शरीरसे रहित चैतन्यस्वरूप आत्मा हूँ। पुरुषाकार चैतन्यधातुकी बनी शुद्ध मूर्तिके समान हूँ। पूर्ण चन्द्रमाके तुल्य ज्योतिस्वरूप हूँ।

क्रमशः इन पांच धारणाओं द्वारा पिण्डस्थ ध्यानका अभ्यास किया जाता है। यह ध्यान आत्माके कर्मकलङ्कपङ्कको दूरकर ज्ञान, दर्शन, सुख, वीर्य गुणोंका विकास करता है।

पदस्थ ध्यान

मन्त्रपदोंके द्वारा अर्हन्त, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय, साधु तथा आत्माका स्वरूप चिन्तन करना पदस्थ ध्यान है। किसी नियत स्थान—नासिकाग्र या भृकुटिके मध्यमें मन्त्रको अंकित कर उसको देखते हुए चित्तको एकाग्र करना पदस्थ ध्यानके अन्तर्गत है। इस ध्यानमें इस बातका चिन्तन करना भी आवश्यक है कि शुद्ध होनेके लिए जो शुद्ध आत्माओंका चिन्तन किया जा रहा है वह कर्मरजको दूर करनेवाला है। इस ध्यानका सरल और साध्य रूप यह है कि हृदयमें आठ पत्राकार कमलका चिन्तन करे और इन आठ पत्रोंमेंसे पाँच पत्रोंपर "णमो अरहंताणं णमो सिद्धाणं, णमो आइरियाणं, णमो उवज्झायाणं, णमो लोए सव्वसाहूणं," लिखा चिन्तन करे तथा शेष तीन पत्रोंपर क्रमशः "सम्यग्दर्शनाय नमः, सम्यग्ज्ञानाय नमः और सम्यक्चारित्राय नमः" लिखा हुआ विचारे। इस प्रकार एक-एक पत्तेपर लिखे हुए मंत्रका ध्यान जितने समय तक कर सके, करे।

रूपस्थ ध्यान

अर्हन्त परमेष्ठीके स्वरूपका-विचार करे कि वे समवशरणमें द्वादश सभाओंके मध्यमें ध्यानस्थ विराजमान है। वे अनन्तचतुष्टय सहित परम वीतरागी हैं अथवा ध्यानस्थ जिनेन्द्रकी मूर्तिका एकाग्रचित्तसे ध्यान करना रूपस्थ ध्यान है।

रूपातीत

सिद्धोंके गुणोंका विचार करे कि सिद्ध, अमूर्तिक, चैतन्यपुरुषाकार, कृतकृत्य, परमशान्त, निष्कलंक, अष्टकर्म रहित, सम्यक्त्वादि अष्टगुण सहित, निर्लेप, निर्विकार एवं लोकाग्रमें विराजमान हैं। पश्चात् अपने आपको सिद्धस्वरूप समझकर ध्यान करे कि मैं ही परमात्मा हूँ, सर्वज्ञ हूँ, सिद्ध हूँ, कृतकृत्य हूँ, निरञ्जन हूँ, कर्मरहित हूँ, शिव हूँ, इस प्रकार अपने स्वरूपमें लीन हो जाय।

शुक्ल ध्यान

मनकी अत्यन्त निर्मलताके होनेपर जो एकाग्रता होती है वह शुक्ल ध्यान

है। शुक्ल ध्यानके चार भेद हैं--१. पृथक्त्ववितर्कविचार, २. एकत्ववितर्क-अविचार, ३. सूक्ष्मक्रियाप्रतिपाति और ४. व्युपरतक्रियानिर्वति।

पृथक्त्ववितर्कविचार

उपशमश्रेणी या क्षपकश्रेणीका आरोहण करनेवाला कोई पूर्वज्ञानधारी इस ध्यानमें वितर्क—श्रुतज्ञानका आलम्बन लेकर विविध दृष्टियोंसे विचार करता है और इसमें अर्थ, व्यञ्जन तथा योगका संक्रमण होता रहता है। इस तरह इस ध्यानका नाम पृथक्त्ववितर्कविचार है। इस ध्यान द्वारा साधक मुख्य रूपसे चारित्रमोहनीयका उपशम या क्षपण करता है।

एकत्ववितर्क-अविचार

क्षीणमोहगुणस्थानको प्राप्त होकर श्रुतके आधारसे किसी एक द्रव्य या पर्यायका चिन्तन करता है और ऐसा करते हुए वह जिस द्रव्य, पर्याय, शब्द या योगका अवलम्बन लिये रहता है, उसे नहीं बदलता है, तब यह ध्यान एकत्ववितर्क-अविचार कहलाता है। इस ध्यान द्वारा साधक धातिकर्मकी शेष प्रकृतियोंका क्षय कर केवलज्ञान प्राप्त करता है।

सूक्ष्मक्रियाप्रतिपाति

सर्वज्ञदेव योगनिरोध करने लिए स्थूल योगोंका अभाव कर सूक्ष्मकाय-योगको प्राप्त होते हैं, तव सूक्ष्मक्रियाअप्रतिपाति ध्यान होता है। कायवर्गणा-के निमित्तसे आत्मप्रदेशोंका अतिसूक्ष्म परिस्पन्द शेष रहता है। अतः इसे सूक्ष्मक्रियाअप्रतिपाति कहते हैं।

व्युपरतक्रियानिर्वति

कायवर्गणाके निमित्तसे होनेवाले आत्मप्रदेशोंका अतिसूक्ष्म परिस्पन्दनके भी शेष नहीं रहनेपर और आत्माके सर्वथा निष्प्रकम्प होनेपर व्युपरतक्रियानिर्वति ध्यान होता है। किसी भी प्रकारके योगका शेष न रहनेके कारण इस ध्यानका उक्त नाम पड़ा है। इस ध्यानके होते ही सातावेदनीयकर्मका आस्रव रुक जाता है और अन्तमें शेष रहे सभी कर्म क्षीण हो जानेसे मोक्ष प्राप्त होता है। ध्यान-में स्थिरता मुख्य है। इस स्थिरताके बिना ध्यान सम्भव नहीं हो पाता।

आध्यात्मिक उत्क्रान्ति

आत्मिक गुणोंके विकासकी क्रमिक अवस्थाओंको गुणस्थान कहते हैं। आत्मा स्वभावतः ज्ञान-दर्शन-सुखमय है। इस स्वरूपको विकृत अथवा आवृत करनेका कार्य कर्मों द्वारा होता है। कर्मावरणकी घटा जैसे-जैसे घनी होती जाती है,

वैसे वैसे आत्मिक शक्तिका प्रकाश मन्द होता जाता है। इसके विपरीत जैसे-जैसे कर्मावरण हटता जाता है, वैसे-वैसे आत्माकी शक्ति प्रादुर्भूत होती जाती है। आत्मिक उत्क्रान्तिकी यह प्रक्रिया ही गुणस्थान है। गुणस्थानका शाब्दिक अर्थ गुणोंका स्थान है। जीवके कर्मनिमित्त सापेक्ष परिणाम गुण हैं। इन गुणोंके कारण संसारी जीव विविध अवस्थाओंमें विभक्त होते हैं और ये विविध अवस्थाएँ ही गुणस्थान हैं।

मोह और योग–मोह और मन, वचन, कायकी प्रवृत्तिके कारण जीवके अन्तरंग-परिणामोमें प्रतिक्षण होनेवाले उतार-चढ़ावका नाम गुणस्थान है। परिणाम अनन्त हैं; पर उत्कृष्ट, मलिन परिणामोंको लेकर उत्कृष्ट विशुद्ध परिणामों तक तथा उसके ऊपर जघन्य वीतराग परिणामसे लेकर उत्कृष्ट वीतराग परिणामतक की अनन्तवृद्धियोंके क्रमको वक्तव्य बनानेके लिए चौदह श्रेणियोंमें विभाजित किया गया है। ये श्रेणियाँ ही गुणस्थान कहलाती हैं—

(१) मिथ्यादृष्टि

मिथ्यात्व, सम्यङ्मिथ्यात्व और सम्यक्त्व प्रकृति तथा अनन्तानुबन्धी क्रोध, मान, माया, लोभ इन सात प्रकृतियोंके उदयसे जिसकी आत्मामें अतत्वश्रद्धान होता है, वह मिथ्यादृष्टि है। मिथ्यात्वगुणस्थानमें जीवको 'स्व' और 'पर' का भेदज्ञान नहीं रहता है। न तत्त्वका श्रद्धान होता है और न आप्त, आगम , निर्ग्रन्थ गुरु पर विश्वास ही। संक्षेपमें यह आत्माकी ऐसी स्थिति है जहाँ यथार्थ विश्वास और यथार्थ बोधके स्थानपर अयथार्थ श्रद्धा और अयथार्थ बोध रहता है। आत्मोत्क्रांतिकी यह प्राथमिक भूमिका है। यहींसे आत्मा मिथ्यात्वका क्षय, उपशम या क्षयोपशम कर चतुर्थ गुणस्थानपर पहुँचती है। यह है तो आत्माके ह्रासकी स्थिति, पर उत्क्रांति यहींसे आरम्भ होती है।

(२) सासादन

जिस आत्माने मिथ्यात्वका क्षय नहीं किया है, पर मिथ्यात्वको शान्त करके सम्यक्त्वकी भूमिका प्राप्त की थी, किन्तु थोड़े कालके पश्चात् ही मिथ्यात्वके उभर आनेसे आत्मा सम्यक्त्वसे च्युत हो जाती है। जब तक वह सम्यक्त्वसे गिरकर मिथ्यात्वकी भूमिपर नहीं पहुँच पाती, बीचकी यह स्थिति ही सासादान गुणस्थान है। इस गुणस्थानवर्ती आत्माका सम्यग्दर्शन अनन्तानुबन्धीका उदय आ जानेके कारण असादन—विराधनासे सहित होता हैं। आत्माकी यह स्थिति अत्यल्प काल तक रहती है।

(३) मिश्रगुणस्थान

सम्यग्दर्शनके कालमें यदि सम्यङ्मिथ्यात्वप्रकृतिका उदय आ जाता है तो आत्मा चतुर्थ गुणस्थानसे च्युत हो तृतीय गुणस्थानमें आजाती है। जिसप्रकार मिले हुए दही और गुड़का स्वाद मिश्रित होता है उसी प्रकार इस गुणस्थान-वर्ती जीवके परिणाम भी सम्यक्त्व और मिथ्यात्वसे मिश्रित रहते हैं। अनादि मिथ्यादृष्टि चतुर्थ गुणस्थानसे पतित हो तृतीय गुणस्थानमें आता है परन्तु सादि मिथ्यादृष्टि जीव प्रथम गुणस्थानसे भी तृतीय स्थानको प्राप्त करता है। यह गुणस्थान मिथ्यात्वसे ऊँचा है पर मिश्रपरिणामोंके कारण यथार्थ प्रतीति नहीं रहती है।

(४) अविरतसम्यग्दृष्टिगुणस्थान

अनादिमिथ्यादृष्टि जीवके मिथ्यात्व और अनन्तानुबन्धीचतुष्टय इन पाँच प्रकृतियोंके और सादिमिथ्यादृष्टि जीवके दर्शनमोहनीयकी तीन और अनन्तानुबन्धीचतुष्क इन सात प्रकृतियोंके उपशमादि होनेपर तत्त्वश्रद्धान उत्पन्न होता है। पर अप्रत्याख्यानावरणादि कषायोंका उदय रहनेसे संयम-भाव जागृत नहीं होते, अतः यह असंयत या अविरतसम्यग्दृष्टिगुणस्थान कहलाता है।

अविरतसम्यग्दृष्टि जीव श्रद्धानके सद्भावके कारण संयमका आचरण नहीं करनेपर भी आत्म-अनात्मके विवेकसे सम्पन्न रहता है। भोग भोगते हुए भी उनमें लिप्त नहीं रहता। वह अपने विचारोंपर पूर्ण नियन्त्रण रखता है। आर्त्त जीवोंकी पीड़ा देखकर उसके हृदयमें करुणाका निर्मल स्रोत प्रवाहित होने लगता है। उसका लक्ष्य और बोध शुद्ध हो जाता है और वह संयमके पथपर चलनेके लिए उत्कण्ठित रहता है।

(५) संयतासंयतगुणस्थान

अप्रत्याख्यानावरणकषायका क्षयोपशम होनेपर जिसके एकदेश चारित्र प्रकट हो जाता है उसे संयतासंयत गुणस्थान कहते हैं। त्रसहिंसासे विरत रहनेके कारण यह संयत और स्थावरहिंसासे अविरत रहनेके कारण असंयत कहलाता है। अप्रत्याख्यानावरणकषायके क्षयोपशम और प्रत्याख्या-नावरणकषायके उदयमें तारतम्य होनेसे दार्शनिक आदि अवान्तर ग्यारह भेद होते हैं। इस गुणस्थानसे आत्माकी यथार्थ उत्क्रांति आरम्भ होती है। चतुर्थ-गुणस्थानमें श्रद्धा और विवेक उपलब्ध होते हैं और इस पञ्चम गुणस्थानसे चारित्रिक विकास आरम्भ होता है।

(६) प्रमत्तसंयतगुणस्थान

आत्माको अपनी हीनतापर विजय पानेका विश्वास हो जाता है तो वह अपनी अपूर्णताओंको समाप्तकर महाव्रती बन जाता है और नग्न मुद्राको धारण कर लेता है। प्रत्याख्यानावरणकषायका क्षयोपशम और संज्वलनका तीव्र उदय रहनेपर प्रमाद सहित संयमका होना प्रमत्तसंयतगुणस्थान है। हिंसादि पापोंका सर्वदेश त्याग करनेपर भी संज्वलनचतुष्कके तीव्र उदयसे चार विकथा, चार कषाय, पाँच इन्द्रिय, निद्रा और स्नेह इन पन्द्रह प्रमादोंके कारण आचरण किञ्चित् दूषित बना रहता है।

(७) अप्रमत्तसंयतगुणस्थान

आत्मार्थी साधककी परमपवित्र भावनाके बलपर कभी-कभी ऐसी स्थिति प्राप्त होती है कि अन्तःकरणमें उठनेवाले विचार नितान्त शुद्ध और उज्ज्वल हो जाते हैं और प्रमाद नष्ट हो जाता है। संज्वलन कषायका तीव्र उदय रहनेसे साधक आत्मचिन्तनमें सावधान रहता है। इस गुणस्थानके दो भेद है :— स्वस्थानाप्रमत्त और सातिशय अप्रमत्त। स्वस्थानाप्रमत्त साधक छठे गुणस्थान से सातवेंमें और सातवेंसे छठे गुणस्थानमें चढ़ता उतरता रहता है। पर जब भावोंका रूप अत्यन्त शुद्ध हो जाता है तो साधक सातिशय अप्रमत्त होकर अस्खलितगतिसे उत्क्रांति करता है। सातिशय अप्रमत्तके अधःकरण आदि विशुद्ध परिणाम उत्पन्न होते हैं। जिसमें समसमय अथवा भिन्नसमयवर्ती जीवोंके परिणाम सदृश तथा विसदृश दोनों ही प्रकारके होते हैं वह अधःकरण है।

(८) अपूर्वकरणगुणस्थान

करणका अर्थ अध्यवसाय, परिणाम या विचार है। अभूतपूर्व अध्यवसायों या परिणामोंका उत्पन्न होना अपूर्वकरण गुणस्थान है। इस गुणस्थानमें चारित्र मोहनीयकर्मका विशिष्ट क्षय या उपशम करनेसे साधकको विशिष्ट भावोत्कर्ष प्राप्त होता है।

(९) अनिवृत्तिकरणगुणस्थान

इस गुणस्थानमें भावोत्कर्षकी निर्मल विचारधारा और तीव्र हो जाती है। फलतः समसमयवर्ती जीवोंके परिणाम सदृश और भिन्नसमयवर्ती जीवोंके परिणाम विसदृश ही होते हैं। इस गुणस्थानमें संज्वलनचतुष्कके उदयकी मन्दताके कारण निर्मल हुई परिणतिसे क्रोध, मान, माया एवं वेदका समूल नाश हो जाता है।

(१०) सूक्ष्मसाम्परायगुणस्थान

मोहनीयकर्मका क्षय या उपशम करके आत्मार्थी साधक जब समस्त

कषायको नष्ट कर देता है। सूक्ष्म लोभका उदय ही शेष रह जाता है, तो आत्माकी इस उत्कर्ष स्थितिका नाम सूक्ष्मसाम्परायगुणस्थान है।

अष्टम गुणस्थानसे श्रेणी आरोहण प्रारम्भ होता है। श्रेणियाँ दो प्रकारकी है:—(१) उपशमश्रेणी और (२) क्षपकश्रेणी। जो चारित्रमोहका उपशम करनेके लिये प्रयत्नशील हैं वे उपशमश्रेणीका आरोहण करते हैं और जो चारित्रमोहका क्षय करनेके लिये प्रयत्नशील है वे क्षपकश्रेणीका। क्षायिक सम्यग्दृष्टि क्षपकश्रेणी और औपशमिक एवं क्षायिक दोनों ही सम्यग्दृष्टि क्षपकश्रेणीपर आरोहण कर सकते हैं।

(११) उपशान्तमोहगुणस्थान

उपशमश्रेणीकी स्थितिमें दशम गुणस्थानमें चारित्रमोहका पूर्ण उपशम करनेसे उपशान्तमोहगुणस्थान होता है। मोह पूर्ण शान्त हो जाता है पर अन्तर्मुहूर्तके पश्चात् मोहोदय आजानेसे नियमतः इस गुणस्थानसे पतन होता है।

(१२) क्षीणमोह

मोहकर्मका क्षय संपादित करते हुए दशम गुणस्थानमें अवशिष्ट लोभांशका भी क्षय होनेसे स्फटिकमणिके पात्रमें रखे हुए जलके स्वच्छ रूपके समान परिणामोंको निर्मलता क्षीणमोहगुणस्थान है। समस्त कर्मोंमें मोहकी प्रधानता है और यही समस्त कर्मोंका आश्रय है, अतः क्षीणमोहगुणस्थानमें मोहके सर्वथा क्षीण हो जानेसे निर्मल आत्मपरिणति हो जाती है।

(१३) सयोगकेवलीगुणस्थान

शुक्लध्यानके द्वितीयपादके प्रभावसे ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय और अन्तरायके क्षयसे केवलज्ञान उत्पन्न होता है और आत्मा सर्वज्ञ-सर्वदर्शी बन जाती है। केवलज्ञानके साथ योगप्रवृत्ति रहनेसे यह सयोगकेवली गुणस्थान कहलाता है।

(१४) अयोगकेवली

योगप्रवृत्तिके अवरुद्ध हो जानेसे अयोगकेवलीगुणस्थान होता है। इस गुणस्थानका काल अ, इ, उ, ऋ, लृ इन पाँच लघु अक्षरोंके उच्चारण काल तुल्य है। व्युपरतक्रियानिवर्ति शुक्लध्यानके प्रभावसे सत्तामें स्थित पचासी प्रकृतियोंका क्षय भी इसी गुणस्थानमें होता है।

निष्कर्ष—मानवजीवनके उत्थानके हेतु धर्म और आचार अनिवार्य तत्त्व हैं। आचार और विचार परस्परमें सम्बद्ध हैं। विचारों तथा आदर्शोंका व्यवहारिक रूप आचार है। आचारकी आधारशिला नैतिकता है। वैयक्तिक और

सामाजिक जीवनमें धर्मकी प्रतिष्ठा भी नैतिकताके आधारपर होती है। धर्म और आचार भौतिक और शारीरिक मूल्यों तक ही सीमित नहीं हैं, अपितु इनका क्षेत्र आध्यात्मिक और मानसिक मूल्य भी है। ये दोनों ही आध्यात्मिक अनुभूति उत्पन्न करते हैं। आचार वही ग्राह्य है, जो धर्ममूलक है तथा आध्यात्मिकताका विकास करता है। दर्शनका सम्बन्ध विचार, तर्क अथवा हेतुवादके साथ है। जबकि धर्मका सम्बन्ध आचार और व्यवहारके साथ है। धर्म श्रद्धापर अवलम्बित है और दर्शन हेतुवादपर। श्रद्धाशील व्यक्ति आचार और धर्मका अनुष्ठान करता हुआ विचारको उत्कृष्ट बनाता है। अतएव आत्मविकासकी दृष्टिसे धर्म और आचारका अध्ययन परमावश्यक है।

एकादश परिच्छेद

समाज-व्यवस्था

लौकिक जीवनकी उन्नति और समृद्धिके लिए समाजका विशिष्ट महत्त्व है। व्यक्ति समाजकी इकाई अवश्य है, पर वह समाज या संघके बिना रह नहीं सकता है। यत: व्यक्तिके जीवनकी अगणित समस्याएँ समाजके द्वारा ही सही रूपमें सुलझती हैं और सामाजिक जीवनमें ही उसकी निष्ठा वृद्धिगत होती है।

जीवनमें जब सामाजिकताका विकास होता है, तो निजी स्वार्थ और व्यक्तिगत हितोंका बलिदान करना पड़ता है। अपने हित, अपने स्वार्थ और अपने सुखसे ऊपर समाजके स्वार्थ एवं सामूहिक हितको प्रधानता दी जाती है। मानव एकदूसरेके हितोंको समझकर अपने व्यवहारपर नियन्त्रण रखता है। परस्पर एकदूसरेके कार्योंमें सहयोगी बन, अन्यके दु:ख और पीड़ाओंमें यथोचित साहस-धैर्य बँधाकर उनमें भाग लेनेसे सामाजिक जीवनकी प्रथम भूमिकाका निर्वाह किया जाता है। जीवनमें जब अन्तर्द्वन्द्व उपस्थित हो जाते हैं और व्यक्ति अकेला उनका समाधान नहीं कर पाता, तो उस स्थितिमें

दूसरा साथी उसके अन्तर्द्वन्द्वोंको सस्नेह सहयोगी बन प्रकाश दिखलाता है और पराभवके क्षणोंमें उसे विजयमार्गकी ओर ले जाता है। अतएव वैयक्तिक जीवनको सुखी, शान्त और समृद्ध बनानेके लिए समाजकी आवश्यकता रहती है। व्यक्ति समाजके सहयोगके बिना एक कदम भी आगे नहीं बढ़ सकता है।

समाज : व्युत्पत्ति एवं अर्थविस्तार

समाजशब्द सम् + अज् + घञ्से निष्पन्न है। अज् धातु भ्वादिगणी है और इसका अर्थ गति और क्षेपण है। चुरादिगणी मानने पर 'दीप्ति' अर्थ है। पर यहाँ "संवीयतेऽत्रेति" अर्थात् एकत्रीकरण अभिप्रेत है। अमरकोषके अनुसार "पशुभिन्नानां संघः" पशु-पक्षीसे भिन्न मानवोंका समुदाय या संघ समाज है। समाजशब्द व्यापक है। एक प्रकारके व्यक्तियोंके विश्वास एवं स्वीकृतियाँ समाजमें विद्यमान रहती हैं।

समाज सम्बन्धोंका एक निश्चित रूप है। मानवजीवन सृष्टिका सबसे बड़ा विकसित रूप है। कर्त्तव्यकर्मोंका निर्वाह जीवनके विकासका सर्वोत्तम रूप है। समाजका गठन जीवन्त मानवके अनुरूप होता है। समाजके लिए कुछ मान्य नियम या स्वयं सिद्धियाँ होती हैं, जिनका पालन उस समुदाय-विशेषके व्यक्तियोंको करना पड़ता है। जिस समुदायमें एक-सा धर्म, संस्कृति, सभ्यता, परम्परा, रीति-रिवाज समान धरातलपर विकसित और वृद्धिगत होते हैं, वह समुदाय एक समाजका रूप धारण करता है। विश्वबन्धुत्वकी भावना जितनी अधिक बढ़ती जाती है, समाजका क्षेत्र भी उतना ही अधिक विस्तृत होता जाता है। भावनात्मक एकता ही समाज-विस्तारका घटक है। मनुष्यताका विकास क्षुद्रसे विराट्की ओर होता है। सुख-दुःखकी धारणाओं-को समत्व रूपमें जितना अधिक बढ़नेका अवसर मिलता है, समाजकी परिधि उतनी ही बढ़ती जाती है। अतः समाजका विकास प्रतिदिन होता जा-रहा है।

व्यक्तिकेन्द्रित चेतना जब समष्टिकी ओर मुड़ जाती है, कर्त्तव्य और उत्तरदायित्वका संकल्प जागृत हो जाता है, पारस्परिक सुख-दुःखात्मक अनुभूतिकी संवेदनशीलता बढ़ती जाती है, तो सामाजिकताका विकास होता जाता है। चिन्तन, मनन और अनुभवसे यह देखा जाता है कि मनुष्य अपने पिण्डकी क्षुद्र इकाईमें बद्ध रहकर अच्छे जीनेके ढंगसे जी नहीं सकता; अपना पर्याप्त भौतिक और बौद्धिक विकास नहीं कर सकता। जीवनकी सुख-समृद्धि-का द्वार नहीं खोल सकता और न अध्यात्मकी श्रेष्ठ भूमिका तक पहुँच सकता है। अकेला रहनेमें मनुष्यका दैहिक विकास भी सम्यक्तया नहीं हो पाता। अतएव

व्यक्तिको सामाजिक जीवन यापन करनेकी परम आवश्यकता रहती है। समाज एक व्यक्तिके व्यवहार पर निर्भर नहीं रहता, किन्तु बहुसंख्यक मनुष्यों-के व्यवहारोंके पूर्ण चित्रके आधार पर ही उसका गठन होता है। दूसरे शब्दोंमें यह माना जा सकता है कि समाज मनुष्योंकी सामुदायिक क्रियाओं, सामूहिक हितों, आदर्शों एवं एक ही प्रकारकी आचारप्रथाओंपर अवलम्बित है। अनेक व्यक्ति जब एक ही प्रकारकी जनरीतियों (folk ways) और रूढ़ियों (Mores) के अनुसार अपनी प्रवृत्ति करने लगते हैं, तो विभिन्न प्रकारके सामाजिक संगठन जन्म ग्रहण करते हैं। प्रत्येक सामाजिक संस्था समूहका एक ढाँचा (structure) होता है, जिसमें कर्त्तव्याकर्त्तव्यों, उत्सवों, संस्कारों एवं सामाजिक सम्बन्धोंका समावेश रहता है। सारांश यह है कि अधिक समय तक एक ही रूपमें कतिपय मनुष्योंके व्यवहार और विश्वासोंका प्रचलन सामाजिक संस्थाओं या समूहोंको उत्पन्न करता है।

समाजकी उत्पत्तिके कारण

समाजकी उत्पत्ति व्यक्तिकी सुख-सुविधाओके हेतु होती है। जब व्यक्तिके जीवनकी प्रत्येक दिशामें अशान्तिका भीषण ताण्डव बढ़ जाता है। भोजन, वस्त्र और आवासकी समस्याएँ विकट हो जाती है। भौतिक आवश्यकताएँ इतनी अधिक बढ़ जाती है, जिनकी पूर्ति व्यक्ति अकेला रहकर नहीं कर सकता। उस समय वह सामाजिक संगठन आरम्भ करता है। असन्तोष और अधिकार-लिप्सा वैयक्तिक जीवनकी अशान्तिके प्रमुख कारण हैं। भोग और लोभकी कामना विश्वके समस्त पदार्थोंको जीवनयज्ञके लिए विष बनाती है। तथा प्रभुताकी पिपासा विवेकको तिलांजलि देकर कामनाओंकी और अधिक वृद्धि करती है।

'अहं' भावना व्यक्तिमें इतनी अधिक समाविष्ट है, जिससे वह अन्यके अधिकारोंकी पूर्ण अवहेलना करता है। अहंवादी होनेके कारण उसकी दृष्टि अपने अधिकारों एवं दूसरोंके कर्त्तव्यों तक ही सीमित रहती है। फलतः व्यक्तिको अपने अहंकारकी तुष्टिके लिए समाजका आश्रय लेना पड़ता है। यही प्रवृत्ति समाजके घटक परिवारको जन्म देती है।

भोगभूमिके प्रारम्भमें ही युगलरूपमें मनुष्य जन्म ग्रहण करता था। इसी यौगलिक परम्परासे परिवारका विकास हुआ है। मनुष्य अकेला नहीं है, वह स्वयं पुरुष है और एक स्त्री भी उसके साथ है। वे दोनों साथ घूमते है और साथ साथ रहते हैं। उन दोनोका केवल दैहिक सम्बन्ध है, पति-पत्नीके रूपमें पवित्र पारिवारिक संबंधका परिस्फुरण नहीं है। वे साथी तो अवश्य

हैं पर सुख-दुःखमें भागीदार नहीं। उन्हें एकदूसरेके हितोंकी चिन्ता नहीं थी। जब पुरुषको भूख लगती थी, तो वह इधर उधर चला जाता था और तत्कालीन कल्पवृक्षोंसे अपनी क्षुधाको शान्त कर लेता था। नारीको जब भूख सताती, तो वह भी निकल पड़ती और पुरुषके ही समान कल्पवृक्षों द्वारा अपनी क्षुधाको शान्त कर लेती। न तो पुरुषको भोजनादिके लिए अर्थ-व्यवस्था ही करनी पड़ती थी और न नारीको पुरुषके लिए भोजनादि ही सम्पन्न करने पड़ते थे। पिपासा शान्त करनेके लिए भी कूप, सरोवर आदिके प्रबन्धकी आवश्यकता नहीं थी। उसका भी शमन प्रकृतिप्रदत्त कल्पवृक्षों द्वारा हो जाता था। इस प्रकार लाखों वर्षों तक नर और नारी साथ-साथ रहकर भी पृथक् पृथक् रहे, वे एकदूसरेके सुख-दुःखमें भागीदार नहीं बन सके और न उनमें पारस्परिक समर्पणकी कल्पना ही आ सकी। वे एक दूसरेकी समस्यामें भी रस नहीं लेते थे।

जब कर्मभूमिका प्रारम्भ हुआ, तो परिवार-संस्था प्रादुर्भूत हुई। नर नारी परस्पर सहयोगके बिना रह नहीं सकते थे। उनकी शारीरिक आवश्यकताएँ भी प्रकृतिद्वारा सम्पन्न नहीं होती थी। पुरुषको अर्थार्जनके लिए प्रयास करना पड़ता और नारीको भोजनादि सामग्रियाँ तैयार करनी पड़तीं। अब वे पूर्णतया पति-पत्नी थे, उनमें समर्पणकी भावना थी और वे एक दूसरेके प्रति उत्तरदायी थे। इस प्रकार परिवार-संस्थाकी उत्पत्ति हुई। वस्तुतः संस्कृति और सामा-जिकताका विकास परिवारसे ही होता है।

समाजघटक परिवार

समाजका आधारभूत परिवार है। चतुर्विध संघमें श्रावक और श्राविका संघकी अवस्थिति परिवार पर ही अवलम्बित है। यह कामकी स्वाभाविक वृत्तिको लक्ष्यमें रखकर यौनसम्बन्ध एवं सन्तानोत्पत्तिकी क्रियाओंको नियन्त्रित करता है। भावनात्मक घनिष्ठताका वातावरण तैयार कर बालकोंके समुचित पोषण और विकासके लिए आवश्यक पृष्ठभूमिका निर्माण करता है। इस-प्रकार व्यक्तिके सामाजीकरण और सांस्कृतिकरणकी प्रक्रियामें परिवारका महत्त्वपूर्ण योगदान रहता है। परिवारके निम्नि लिखित कार्य हैं—

१. स्त्री-पुरुषके यौनसंबंधको विहित और नियन्त्रित करना।

२. वंशवर्धनके हेतु सन्तानकी उत्पत्ति, संरक्षण और पालन करना, मानव-जातिके क्रमको आगे बढ़ाना।

३. गृह और गार्हस्थ्यमें स्त्री-पुरुषका सहवास और नियोजन।

४. जीवनको सहयोग और सहकारिताके आधार पर सुखी एवं समृद्ध बनाना।

५. व्यावसायिक ज्ञान, औद्योगिक कौशलके हस्तान्तरणका नियमन एवं वृद्ध, असहाय और बच्चोंकी रक्षाका प्रबन्धसम्पादन।

६. मानसिक विकास, संकेत (Suggestion) अनुकरण (Imitalton) एवं सहानुभूति (Sympathy) द्वारा बच्चोंके मानसिक विकासका वातावरण वस्तुत करना।

७. भोगेच्छाओंको नियन्त्रित करते हुए संयमित और आध्यात्मिक जीवनकी उन्नति करना।

८. जातीय जीवनके सातत्यको दृढ़ रखते हुए धर्मकार्य सम्पन्न करना।

९. प्रेम, सेवा, सहयोग, सहिष्णुता, शिक्षा, अनुशासन आदि मानवके महत्त्वपूर्ण नागरिक एवं सामाजिक गुणोंका विकास करना।

१०. आर्थिक स्थायित्वके हेतु उचित आयका सम्पादन करना।

११. विकास और दृढ़ताके लिए आमोद-प्रमोद एवं मनोरंजनसे सम्बद्ध कार्योंका प्रबन्ध करना।

१२. मुनि-संस्थाकी सुदृढ़ताके लिए वैयावृत्तिका सम्पादन करना।

१३. पारिवारिक वन्धनोंको स्वीकार करना।

१४. पारिवारिक दायित्व-निर्वाहोंके साथ आचार और धर्मका यथावत् पालन करना।

१५. अधिकारों और कर्त्तव्योंमें सन्तुलन स्थापित करना।

वस्तुतः परिवार-गठनका आधार मातृ-स्नेह, पितृ-प्रेम, दाम्पत्य-आसक्ति, अपत्य-प्रीति, अतिथि-सत्कार, सेवा-वैयावृत्ति और सहकारिता हैं। इन आधारों पर ही परिवारका प्रासाद निर्मित है। यदि ये आधार कमजोर या क्षीण हो जायँ, तो परिवार-संस्थाका विघटन होने लगता है। यों तो परिवारके उद्देश्योंमें स्त्री-पुरुषके यौनसम्बन्धकी प्रमुखता है, पर विषयभोगोंका सेवन कटु औषधके समान अल्परूपमें ही करना हितकर है। मनोहर विषयोंका सेवन करनेसे तृष्णाकी जागृत्ति होती है और यह तृष्णारूपी ज्वाला अहर्निश वृद्धिगत होती जाती है। अतएव विषयभोगोंका सेवन बहुत ही सीमित और नियंत्रित रूपमें करना चाहिए। जिस प्रकार अधिक मिठाई खानेसे स्वस्थ रहनेकी अपेक्षा मनुष्य बीमार पड़ जाता है। उसी प्रकार जो अधिक कामभोगोंका सेवन करता है, वह भी मानसिक और शारीरिक रोगोंसे आक्रान्त हो जाता है। वासनाकी शान्तिके लिए सीमित रूपमें ही विषयोंका सेवन परिवारके लिए हितकर होता

है। ज्ञान, शान्ति, सुख और सन्तोषके हेतु संयमका पालन परिवारमें भी आवश्यक है। वही परिवार सुखी रह सकता है, जिस परिवारके सदस्योंने अपनी आशाओं और तृष्णाओंको नियंत्रित कर लिया है। ये आशाएँ विषयसामग्रीके द्वारा कभी शान्त नहीं होती हैं। जिस प्रकार जलती हुई अग्निमें जितना अधिक ईंधन डालते जायें, अग्नि उत्तरोत्तर बढ़ती ही जायगी। यही स्थिति विषय-भोगोंकी अभिलाषाकी है।

समस्याएँ परिस्थिति, काल एवं वातावरणके अनुसार उत्पन्न होती हैं और इन समस्याओंके समाधान या निराकरण भी प्राप्त किये जा सकते हैं, पर इच्छाओंकी उत्पत्ति तो अमर्यादित रूपमें होती है। फलतः उन इच्छाओंको भोग द्वारा तो कभी भी पूर्ण नहीं किया जा सकता है, पर संयम या नियंत्रण द्वारा उन्हें सीमित किया जा सकता है। परिवारके कर्त्तव्य दया, दान और दमन—इन्द्रियसंयमकी त्रिवेणी रूपमें स्वीकृत हैं। यही संस्कृतिका स्थूल रूप है। प्रत्येक प्राणीके प्रति दया करना, शक्ति अनुसार दान देना एवं यथासामर्थ्य नियंत्रित भोगोंका भोग करना परिवारकी आदर्श मर्यादामें सम्मिलित हैं। क्रूरतासे मनुष्य सुख नहीं प्राप्त कर सकता और न संग्रहवृत्तिके द्वारा उसे शान्ति ही मिल सकती है। भोगमें मनुष्यको चैन नहीं। अतः दमन या संयमकी आवश्यकता है। परिवारको सुख-शान्तिके लिए भोग और त्याग दोनोंकी आवश्यकता है। शरीरके लिए भोग अपेक्षित हैं तो आत्मकल्याणके लिए त्याग। भोग और योगका संतुलन ही स्वस्थ परिवारका धरातल है। परिवारको सुखी करनेके लिए दया, ममता, दान और संयम परम आवश्यक हैं। परिवारको सुगठित करनेवाले सात गुण हैं:—१. प्रेम, २. पारस्परिक विश्वास, ३. सेवा-भावना, ४. श्रम, ५. कर्त्तव्यनिष्ठा, ७. सहिष्णुता, ७. और अनुशासनप्रवृत्ति।

प्रेम

प्रेम समाजका मानवीय तत्त्व है। इसके द्वारा जीवन-मन्दिरका निर्माण होता है। प्रेमके द्वारा हम आध्यात्मिक वास्तविकताका सृजन करते हैं और व्यक्तियोंके रूपमें अपनी भवितव्यताका विकास करते हैं। शारीरिक आनन्दके साथ मनकी प्रसन्नता और आत्मिक आनन्दका सृजन भी प्रेमसे ही होता है। प्रेम आत्माकी पुकार है। प्रेममें आत्मसमर्पणका भाव रहता है और वह प्रति-दानमें कुछ नहीं चाहता। इसमें किसी भी प्रकारका दुराव या प्रतिबन्ध नहीं रहता। यह भारी कामको हल्का कर देता है। प्रेमवश व्यक्ति बड़े-बड़े बोझको बिना भारका अनुभव किये ढोता है और श्रम या थकावटका अनुभव नहीं करता है।

प्रेम आत्माकी गहराइयोंमें विद्यमान रहता है। यह ऐसा रत्न-दीपक है जो परिस्थितियोंके झंझावातोंसे बुझता नहीं और न स्वार्थपूर्ण प्रवृत्तियोंके प्रभाव ही इसपर पड़ते हैं। यह ऐसी शक्ति है जो पृथ्वीको स्वर्ग बनाती है। शरीरके साथ मन और आत्माको सबल करती है। प्रेम पवित्रतम सम्बन्ध है और है जीवनकी अमूल्य निधि।

परिवारके समस्त गुणोंका विकास प्रेमके द्वारा ही होता है। समस्त सदस्यों-को एकताके सूत्रमें यही आबद्ध करता है। सच्चा प्रेम आत्मा और शरीरका मिलन है। पत्नी निस्वार्थभावसे पतिको प्रेम करती है और पति पत्नीको। प्रेममें कुछ पानेकी भावना नही रहती। यही एक ऐसा गुण है, जो सहस्र प्रकारके कष्टों-को सहन करनेके लिए व्यक्तिको प्रेरित करता है। दो व्यक्तियोंके बीचके ऐकान्तिक सम्बन्धको प्रेम स्थायित्व प्रदान करता है। अतः विवाहका उद्देश्य प्रेमके द्वारा स्थायित्व और पूर्णताको प्राप्त होता है। विवाहित जीवनका लक्ष्य प्राकृतिक वासनाको पूर्ण करना ही नहीं है, अपितु आत्माके लिए त्यागका मार्ग प्रस्तुत करना है। प्रेमकी भावनाके कारण मनुष्यका उत्सुक चित्त नये उत्साहके साथ अनुभवोंको ग्रहण करता है। सभी इन्द्रियां तीव्रतर आनन्दसे पुलकित हो जाती हैं। मानों किसी अदृश्य आत्माने संसारके सब रंगोंको नया कर दिया हो और प्रत्येक जीवित वस्तुमें नवजीवन भर दिया हो।

प्रेम ही पशु और मनुष्यके भेदको स्थापित करता है। यही जीवनमें चारुता, सुन्दरता और लालित्यको उत्पन्न करता है। एक मानवका दूसरे मानवके प्रति प्रेमसे बढ़कर आनन्दका अन्य कोई सुनिश्चित और सच्चा साधन नहीं है। प्रेम ही टूटते हुए हृदयोंको जोड़ता है और उत्पन्न हुए तनावोंको कम करता है। मानवीय गुणोंका विकास प्रेम द्वारा ही होता है। अतएवं परिवारको आदर्श, प्रतिष्ठित और समाजोपयोगी बनानेके लिए निस्वार्थ प्रेमकी आवश्यकता है। यह जिस प्रकार एक परिवारके सदस्योंमें एकता उत्पन्न करता है उसी प्रकार समाजके घटक विभिन्न परिवारोंमें भी एकत्वकी स्थापना करता है। परिवारके सदस्य साथ-साथ रहते हैं, भोजन-पान करते हैं, मनोरञ्जन करते हैं और अपने-अपने कार्योका सुचारु रूपसे संचालन करते हैं, इन समस्त कार्योके मूलमें प्रेम ही बन्धनसूत्र है।

पारस्परिक विश्वास

परिवारके प्रति ममता, स्नेह, भक्ति और दायित्वका विकास पारस्परिक विश्वास द्वारा ही होता है। यदि परिवारके सभी सदस्य परस्परमें आशंकित और भयभीत रहें, तो योग-क्षेमका निर्वाह संभव नहीं। कर्त्तव्यकी प्रेरणाका

जागरण भी आत्मविश्वाससे होता है । आत्मस्वार्थसे किया गया कार्य अभ्युदयका साधक नहीं हो सकता ।

वस्तुतः पति-पत्नी, पिता-पुत्रका निकटतम सूत्र विश्वासके धागोंसे जुड़ा हुआ है। जब परिवारके बीच संशय उत्पन्न हो जाता है, मनमें अविश्वास जग जाता है तो वे एक दूसरेकी जानके ग्राहक बन जाते हैं। यदि साथमें रहते भी हैं, तो शत्रुतुल्य। घर, परिवार, समाज राष्ट्रका हराभरा उपवन अविश्वासके कारण धूलिसात् हो जाता है। अविश्वासका वातावरण पारिवारिक जीवनको दिशाहीन और गतिहीन बना देता है। जीवन अस्त-व्यस्त-सा हो जाता है ।

जब तक परिवार और समाजमें अविश्वास या संशयका भाव बना रहेगा, तब तक इनकी प्रगति नहीं हो सकती है। जीवन, भविष्य, परिवार एवं समाजके यथार्थ विकास पारस्परिक विश्वास द्वारा ही संभव हैं। मानव-जीवन कीट-पतंगके समान अविश्वासकी भूमिपर रेंगनेके लिए नहीं है। अतः आस्थाके अनन्त गगनमें विचरण करनेका प्रयास करना चाहिए।

परिवारकी पतवारका आधार समस्त सदस्योंका पारस्परिक विश्वास ही है। उदारताके अभावमें संकोर्णता जन्म लेती है और इसीसे अविश्वास उत्पन्न होता है। परिवारकी आर्थिक सुदृढ़ता, धार्मिक क्रियाकलाप और सामाजिक चेतना आस्था एवं विश्वाससे ही सम्बद्ध हैं। जीवनकी उषामें मनोविनोदके रंग, उत्सवोंके विलास और लालित्यकी कलियाँ विश्वासके बलपर खिलती हैं।

विश्वासकी भावना दो भागोंमें विभाजित है—(१) आत्मस्थ और (२) परस्थ। आत्मस्थ भावनामें आत्माभिव्यक्तिका प्रबल वेग है। वह भावना अभिलाषाओं और इच्छाओंमें उमड़कर गन्तव्य दिशामें अपने आदर्शकी पूर्ति कर लेती है। भावनाका यह प्रवाह उदारता उत्पन्न करता है तथा आस्थावश स्वकथन या स्वव्यवहारको सबल बनाता हैं। परस्थ भावना अधिक सामाजिक है, यह विश्वासकी दैवी सम्पत्ति है और कार्यकारणकी शृंखलासे निबद्ध रहती है। परिवार या समाजकी नींव परस्थ विश्वासभावनापर ही अवलम्बित है। समाज और परिवारकी विविध परिस्थितियोंमें पारस्परिक विश्वास चिन्तन और व्यवहारको परिष्कृत करता है, जिसके फलस्वरूप समाज एवं परिवारमें कल्याणका सृजन होता है।

सेवा-भावना

सेवाशब्द √सेव – सेवने + टाप्से निष्पन्न है। दुःखी, रोगी, वृद्ध, अशक्त एवं गुणियोंको सान्त्वना देना, शरीर, वचन और मनसे परिचर्या करना तथा उनके प्रति आदरभाव रखना सेवा है। सेवाभावसे ही व्यक्तिका व्यावहारिक

जीवन श्रेष्ठ हो सकता है तथा परिवार और समाजमें वात्सल्यको स्थायित्व प्राप्त हो सकता है। एकता और शान्तिका विकास भी सेवाभावनाद्वारा किया जा सकता है। यह प्रायः देखा जाता है कि गुणग्राही होना संसारमें कठिन है। गुणग्राहिता ही सेवाभावनाको उत्पन्न करती है। देखा जाता है कि गुणीजन एक-दूसरेसे आपसमें हो द्वेष करते हैं, फलस्वरूप कषायभाव उत्पन्न होते हैं।

दीन-दुःखियोंकी सेवा करना, किसीसे घृणा न करना, परस्पर उपकारकी भावना रखना ही मानवता है और इसीसे परिवार एवं समाजकी स्थिति सुदृढ़ होती है। अहिंसक भावना ही सेवाभाव है, इसे किसी पाठशालामें सीखा नहीं जाता है; यह तो प्रत्येक आत्मामें वर्त्तमान है।

समस्त सफलताओंके मूलमें सेवा ही कार्यकारी है। इसके स्पर्शसे निर्जीव कोयला अग्निका रूप धारण करता है और अवरुद्ध जल वेगवान निर्झर वन जाता है। साधारण-से-साधारण प्रतिभा सेवाभावनाके वलसे सक्रियता प्राप्त कर लेती है। सेवावृत्ति कदाचित् किसी मन्द व्यक्तिको भी प्राप्त हो जाय, तो उसकी भी सुषुप्त शक्ति जागृत हो उठती है और वह अग्निपुंज वन जाता है। सेवाकी उपलब्धि एक सद्गुणके रूपमें होती है।

सेवा या वैयावृत्ति सफलताका आधारभूत उपादान है, यह कर्मके सभी रूपोंमें मौलिकतत्त्व है। सेवा और सहयोगके विना परिवार और समाजकी कल्पना ही संभव नहीं है।

"व्यापृते यत्क्रियते तद्वैयावृत्त्यम्"—रोगादिसे व्याकुल साधुके विषयमें जो कुछ किया जाता है, वह वैयावृत्य है। यह तप है, यतः सेवा या वैयावृत्ति साधारण वात नहीं है। इसके लिए अहंकारका त्याग, निःस्वार्थ प्रेम, दया और करुणा वृत्तिका सद्भाव आवश्यक है। सोने-वैठनेके लिए स्थान देना, उपकरण शोधन करना, निर्दोष आहार-औषध देना, व्याख्यान करना, अशक्त मुनि, सामाजिक या पारिवारिक सदस्यका मल-मूत्र उठाना, उसकी रोगीकी स्थितिमें सेवा करना, हाथ-पैर-सिर दवाना एवं विपत्तिमें पड़े हुओंका उद्धार करना आदि वैयावृत्ति—सेवामें परिगणित है।

सेवा या वैयावृत्तिके समय परिणामोंको कलुषित न होने देना, स्वार्थभाव या प्रत्युपकारबुद्धिका त्याग करना, परिणामोंमें कोमलता और आर्द्रता रखना तथा सेवा करते हुए प्रसन्नताका अनुभव करना आवश्यक है। निःस्वार्थभाव-से की गयी सेवा आत्मशुद्धिका कारण वनती है। यह वासनाओंके क्लेशसे

छुटकारा दिलाती है। अन्तः शोधनके लिए भी यह आवश्यक है। परिवार और समाजका कार्य सेवाभावके अभावमें नहीं चल सकता है। लूटमार, धोखाधड़ी, बेईमानी, घूंसखोरी, छीना-झपटी सेवाभावके अभावमें स्वार्थवृत्तिसे उत्पन्न होती हैं।

सेवा करनेसे व्यक्ति नीच या छोटा नहीं बनता; उसकी आत्मशक्ति प्रबल हो जाती है और वह अपनी असफलताओं, बुराइयों एवं कमजोरियों पर विजय प्राप्त करता है। सेवनीयसे सेवककी भावभूमि उन्नत मानी जाती है। जीवनके प्रत्येक विभागमें सेवाभावकी आवश्यकता है। सेवा या सहयोगसे जीवनमें सामर्थ्य, क्षमता और प्रगतिका सद्भाव आता है। यह सबसे मूल्यवान् वस्तु है। इसके द्वारा व्यक्ति जागरूक, कर्मरत एवं अहिंसक बनता है। परिवारके मध्य सम्पन्न होनेवाले अगणित कार्य इसीके द्वारा सम्पन्न होते हैं।

कर्त्तव्यनिष्ठा

परिवार और समाजका विकास कर्त्तव्यनिष्ठा द्वारा होता है। जीवनका एक क्षण या एक पल भी कर्त्तव्यरहित नहीं होना चाहिए। जागरण और शयनमें भी कर्त्तव्यनिष्ठाका भाव समाहित रहता है। यहाँ अप्रमाद या सावधानी ही कर्त्तव्यनिष्ठा है। मानव जबसे जीवनयात्रा आरम्भ करता है, तभीसे उसमें कर्त्तव्यभावना समाहित हो जाती है।

कर्त्तव्य प्राप्तकार्योंको श्रद्धा और सतर्कतापूर्वक करनेकी क्रिया है। यह ऐसी शक्ति है, जो प्रत्येक कार्यमें हमारे साथ है, इसे सहव्यापिनी कहा जा सकता है। करणीय कार्यको ईमानदारी, भक्ति, निष्ठा, औचित्य और नियमित रूपमें पूर्ण करना कर्त्तव्यनिष्ठा है। जिनका जीवनक्रम व्यवस्थित होता है, वे ही अपने कर्त्तव्यको निष्ठाके साथ सम्पादित करते हैं। कर्त्तव्यनिष्ठा मानवका अनिवार्य गुण है।

वस्तुतः मानवता और कर्त्तव्यपरायणता एक दूसरेके पूरक हैं। मानवमें बुद्धितत्त्वकी प्रधानता है और वह उसका प्रयोग करके यह समझानेकी शक्ति रखता है कि उसे कर्त्तव्य करना है, यह भाव अन्य प्राणियोंमें नहीं पाया जाता। अत; जीवनमें सफलता प्राप्त करनेका साधन कर्त्तव्यनिष्ठा है। यह एक ऐसा गुण है जिसकी सम्पूर्ति ही वास्तविक आनन्द और सफलता है। कर्त्तव्यनिष्ठाके बाधकतत्त्व निम्नलिखित हैं—

१. कार्यके प्रति रुचिका अभाव।
२. स्वार्थवृत्ति—स्वार्थवश मनुष्य कर्त्तव्यका निर्वाह नहीं कर पाता।
३. प्रमाद या शिथिलता।

४. जीवनके प्रति निराशा।

५. श्रमके प्रति अनास्था।

व्यवस्था और अनुशासनके योगका नाम कर्त्तव्यनिष्ठा है। व्यवस्थाकी सहायतासे कार्यमें क्षमता प्राप्त होती है और किसी प्रकारका वितण्डावाद उत्पन्न नहीं होता। जिनके जीवनमें अनुशासनहीनता और अराजकता है, वे लापरवाह और अपने विचारोंमें अव्यवस्थित होते हैं।

कर्त्तव्यनिष्ठाको जागृत करनेवाले चार तत्त्व हैं—

१. तत्परता—जागरूकता और व्यवस्थाप्रियता।

२. शुद्धता—उच्चस्तरीय नैतिक नियमोंके प्रति आस्था—अहिंसाके आधार पर मूल्योंकी परख।

३. उपयोगिता—छोटे-बड़े सभी कार्योंको समान महत्त्व देकर उनकी उपयोगिताकी अवधारणा।

४. विशदता—संगठन और प्रशासनकी योग्यता; दूसरे शब्दोंमें विचारों और कार्यव्यापारमें व्यवस्थाकी ओर सावधानी। विश्लेषण और संश्लेषणका एकीभूत सामर्थ्य।

वस्तुतः मूल्यों या अर्हाओंका निर्वाचन ही मनुष्यका कर्त्तव्य है। अतएव ज्ञानात्मक, क्रियात्मक और भावात्मक त्रिविध व्यवहारकी अभिव्यक्ति कर्त्तव्य-सीमा है। कर्त्तव्य विधि-निषेधात्मक उभय प्रकारके होते हैं। शुभ प्रवृत्तियों-का सम्पादन विध्यात्मक और अशुभ प्रवृत्तियोंका त्याग निषेधात्मक कर्त्तव्य हैं।

कर्त्तव्यके स्वरूपका निर्धारण अहिंसात्मक व्यवहार द्वारा संभव है। माता-पिता, पुत्र-पुत्री, भाई-बहन और पति-पत्नी आदिके पारस्परिक कर्त्तव्योंका अवधारण भावनात्मक विकासकी प्रक्रिया द्वारा होता है और यह अहिंसाका ही सामाजिक रूप है। मानव-हृदयकी आन्तरिक संवेदनाकी व्यापक प्रगति ही तो अहिंसा है और यही परिवार, समाज और राष्ट्रके उद्भव एवं विकासका मूल है। यह सत्य है कि उक्त प्रक्रियामें रागात्मक भावनाका भी एक बहुत बड़ा अंश है, पर यह अंश सामाजिक गतिविधिमें बाधक नहीं होता।

अहिंसा मानवको हिंसासे मुक्त करती है। वैर, वैमनस्य-द्वेष, कलह, घृणा, ईर्ष्या, दुःसंकल्प, दुर्वचन, क्रोध, अहंकार, दंभ, लोभ, शोषण, दमन आदि जितनी भी व्यक्ति और समाजकी ध्वंसात्मक प्रवृत्तियाँ हैं, विकृतियाँ हैं, वे सब हिंसाके रूप हैं। मानव-मन हिंसाके विविध प्रहारोंसे निरन्तर घायल होता रहता है। अतः क्रोधको क्रोधसे नहीं, क्षमासे; अहंकारको अहंकारसे नहीं, विनय—नम्रतासे; दम्भको दम्भसे, नहीं, सरलता और निश्छलतासे; लोभको

लोभसे नहीं, सन्तोष और उदारतासे जीतना चाहिए। वैर, घृणा, दमन, उत्पीड़न, अहंकार आदि सभीका प्रभाव कर्त्तापर पड़ता है। जिस प्रकार कुएँमें की गयी ध्वनि प्रतिध्वनिके रूपमें वापस लौटती है, उसी प्रकार हिंसात्मक क्रियाओंका प्रतिक्रियात्मक प्रभाव कर्त्तापर ही पड़ता है।

अहिंसाद्वारा हृदयपरिवर्त्तन सम्भव होता है। यह मारनेका सिद्धान्त नहीं, सुधारनेका है। यह संसारका नहीं, उद्धार एवं निर्माणका सिद्धान्त है। यह ऐसे प्रयत्नोंका पक्षधर है, जिनके द्वारा मानवके अन्तस्में मनोवैज्ञानिक परिवर्त्तन किया जा सकता है और अपराधकी भावनाओंको मिटाया जा सकता है। अपराध एक मानसिक बीमारी है, इसका उपचार प्रेम, स्नेह, सद्भावके माध्यमसे किया जा सकता है।

घृणा या द्वेष पापसे होना चाहिए, पापीसे नहीं। बुरे व्यक्ति और बुराईके बीच अन्तर स्थापित करना ही कर्त्तव्य है। बुराई सदा बुराई है, वह कभी भलाई नहीं हो सकती; परन्तु बुरा आदमी यथाप्रसंग भला हो सकता है। मूलमें कोई आत्मा बुरी है ही नहीं। असत्यके बीचमें सत्य, अन्धकारके बीचमें प्रकाश और विषके भीतर अमृत छिपा रहता है। अच्छे बुरे सभी व्यक्तियोंमें आत्मज्योति जल रही है। अपराधी व्यक्तिमें भी वह ज्योति है किन्तु उसके गुणोंका तिरोभाव है। व्यक्तिका प्रयास ऐसा होना चाहिए, जिससे तिरोहित गुण आविर्भूत हो जायें।

इस सन्दर्भमें कर्त्तव्यपालनका अर्थ मन, वचन और कायसे किसी भी प्राणीकी हिंसा न करना, न किसी हिंसाका समर्थन करना और न किसी दूसरे व्यक्तिके द्वारा किसी प्रकारकी हिंसा करवाना है। यदि मानवमात्र इस कर्त्तव्यको निभानेकी चेष्टा करे, तो अनेक दुःखोंका अन्त हो सकता है और मानवमात्र सुख एवं शान्तिका जीवन व्यतीत कर सकता है। जबतक परिवार या समाजमें स्वार्थोंका संघर्ष होता रहेगा, तबतक जीवनके प्रति सम्मानकी भावना उदित नहीं हो सकेगी। यह अहिंसात्मक कर्त्तव्य देखनेमें सरल और स्पष्ट प्रतीत होता है, किन्तु व्यक्ति यदि इसी कर्त्तव्यका आत्मनिष्ठ होकर पालन करे, तो उसमें नैतिकताके सभी गुण स्वतः उपस्थित हो जायँगे।

मूलरूपमें कर्त्तव्योंको निम्नलिखित रूपमें विभक्त किया जा सकता है—

१. स्वतन्त्रताका सम्मान।
२. चरित्रके प्रति सम्मान।
३. सम्पत्तिका सम्मान।
४. परिवारके प्रति सम्मान।
५. समाजके प्रति सम्मान।

६. सत्यके प्रति सम्मान।
७. प्रगतिके प्रति सम्मान।

स्वतन्त्रताका सम्मान

मनुष्यका दूसरे व्यक्तियोंकी स्वतन्त्रताके अधिकारको स्वीकार करनेका कर्त्तव्य उतना ही मान्य है, जितना कि जीवन-सम्बन्धी कर्त्तव्य आदरणीय है। यह कर्त्तव्य भी मनुष्यको ऐसा व्यवहार करनेके लिए निषेध करता है, जिसके द्वारा अन्य किसी व्यक्तिको स्वतन्त्रतामें वाधा पहुँचती हो। हमारा कोई अधिकार नहीं कि हम अपने व्यवहारके द्वारा किसी अन्य व्यक्तिके जीवनके विकासमें वाधाएँ उत्पन्न करें। किसी भी व्यक्तिकी स्वतन्त्रताको अवरुद्ध करनेका अर्थ उसके जीवनके विकासमें वाधक होना है। अतः यह कर्त्तव्य जीवनसम्बन्धी कर्त्तव्यसे घनिष्ठ सम्बन्ध रखता है। यदि मनुष्य अन्य व्यक्तियोंको भी अपने समान समझे, तो इस कर्त्तव्यकी कदापि अवहेलना न होगी। जो व्यक्ति सभी जीवोंको अपने ही समान देखता है, वही इस कर्त्तव्यका निर्वाह कर पाता है।

वास्तवमें स्वतन्त्रता सम्मानका एक ऐसा आधारभूत कर्त्तव्य है, जिसके विना किसी भी प्रकारकी वैयक्तिक अथवा सामाजिक प्रगति सम्भव नहीं हो सकती। सामाजिक और पारिवारिक विषमताका अन्त इसी कर्त्तव्यपालन द्वारा संभव है।

चरित्रके प्रति सम्मान

प्रत्येक परिवारके सदस्यको अन्य सदस्यके चरित्रका सम्मान करना चरित्रके प्रति सम्मान है। जीवनसम्बन्धी कर्त्तव्य हिंसाका निषेधक है, तो स्वतन्त्रता सम्बन्धी कर्त्तव्य अन्य व्यक्तियोंकी स्वतन्त्रताका दमन न करनेका संकेत करता है। यह कर्त्तव्य अन्य व्यक्तियोंको क्षति पहुँचानेका निषेध तो करता ही है, साथ ही इस बातकी विधि भी करता है कि हमें दूसरोंके व्यक्तित्वके विकासको प्रोत्साहित करना है। यह विधेयात्मक कर्त्तव्य अन्य व्यक्तियोंके चारित्रिक विकासके लिए अनुप्रणित करता है। जो व्यक्ति परिवार और समाजके समस्त सदस्योंको चारित्र-विकासका अवसर देता है, वह परिवारकी उन्नति करता है और सभी प्रकारसे जीवनको सुखी-समृद्ध बनाता है।

सम्पत्तिका सम्मान

सम्पत्तिके सम्मानका अर्थ व्यक्तियोंके सम्पत्तिसम्बन्धी अधिकारको स्वीकृत करना। यह कर्त्तव्य भी एक निषेधात्मक कर्त्तव्य है; क्योंकि यह अन्य व्यक्तियों

के सम्पत्तिसम्बन्धी अपहरणका निषेध करता है। यह 'अस्तेय' के नामसे अभिहित किया जा सकता है। आध्यात्मिक व्यक्तित्वके विकासके लिए यह आवश्यक है कि व्यक्ति शुद्ध अहिंसात्मक जीवन व्यतीत करे। इस कर्त्तव्यका आधार सत्य और अहिंसा हैं। यदि अहिंसाका अर्थ किसी भी व्यक्तिको मन, वचन और कर्मसे मानसिक और शारीरिक क्षति पहुँचाना है, तो यह स्पष्ट है कि दूसरेकी सम्पत्तिका अपहरण न करना अहिंसाका अंग है। किसीकी सम्पत्तिका अपहरण करनेका अर्थ निस्सन्देह उस व्यक्तिको मानसिक और शारीरिक क्षति पहुँचाना है और उसके व्यक्तित्व-विकासको अवरुद्ध करना है। यह कर्त्तव्य हमें इस बातके लिए प्रेरित करता है कि हम भोगोपभोगकी वस्तुओंका अमर्यादित रूपसे सेवन न करें। अपव्ययको भी यह कर्त्तव्य रोकता है। परिवारके लिए मितव्ययता अत्यावश्यक है। मितव्ययता समस्त वस्तुओंको मध्यम मार्गके रूपमें ग्रहण करनेमें है। सम्पत्तिका अपव्यय या अनुचित अवरोध ये दोनों ही कर्त्तव्यके बाहर हैं, जब भौतिक वस्तुओं या मानसिक शक्तिका अपव्यय किया जाता है, तो कुछ दिनोंमें व्यक्ति शक्तिहीन हो जाता है, जिससे व्यक्ति, परिवार और समाज ये तीनों विनाशको प्राप्त होते हैं। जो सम्पत्तिसम्मान का आचरण करता है, वह निम्नलिखित वस्तुओंमें मध्यम मार्ग या मित-व्ययताका प्रयोग करता है—

१. सम्पत्ति।
२. आहार-विहार।
३. वस्त्र और उपस्कर।
४. मनोरञ्जनके साधन।
५. विलास और आरामकी वस्तुएँ।
६. समय।
७. शक्ति।

अर्थका प्रतीक सिक्का परिवर्तनका मानदण्ड है और उससे हमारी क्रय शक्तिका बोध होता है। जो व्यक्ति सम्पत्ति प्राप्त करना चाहता है और ऋणसे बचना चाहता है, वह व्ययको आयके अनुरूप बनाकर अभिवृद्धि प्राप्त कर सकता है। विलास और आरामकी वस्तुओं के क्रय करनेमें अपव्यय होता है।

इस अपव्ययका रोकना परिवारके हितके लिए अत्यावश्यक है। अपव्यय ऐसा मानसिक रोग है जिसके कारण अनुचित लाभ और स्तेयसम्बन्धी क्रिया-प्रतिक्रियाएँ सम्पादित करनी पड़ती हैं। वह अनुचित रीतिसे किसीकी

सम्पत्ति, क्षेत्र, भवन आदिपर अपना अधिकार करता है। चोरीके अन्तरंग कारणोंपर विचार करनेसे ज्ञात होता है कि जब द्रव्यकी लोलुपता वढ़ जाती है, तो तृष्णा वृद्धिगत होती है, जिससे व्यक्ति येन केन प्रकारेण धनसंचय करनेकी ओर झुकता है। यहाँ विवेक और ईमानदारीके न रहनेसे व्यक्ति' अपनी प्रामाणिकता खो वैठता है, जिससे उसे अनैतिकरूपमें धनार्जन करना पड़ता है।

अपव्यय चोरी करना भी सिखलाता है। एक वार हाथके खुल जाने पर फिर अपनेको संयमित रखना कठिन हो जाता है। अपव्ययीके पास धन स्थिर नहीं रहता और वह निर्धन होकर चौर्यकर्मकी ओर प्रवृत्त होता है। कुछ व्यक्ति मान-प्रतिष्ठाके हेतु धनव्यय करते हैं और अपनेको वड़ा दिखलानेके प्रयासमें व्यर्थ खर्च करते हैं, परिणामस्वरूप उन्हें अनीति और शोषणको अपनाना पड़ता है। अतएव सम्पत्तिके सम्मान-कर्त्तव्यका आचरण करते हुए चिन्ता, उद्विग्नता. निराशा, क्रोध, लोभ, माया आदिसे वचनेका भी प्रयास करना चाहिए।

परिवारके प्रति सम्मान

परिवारके प्रति सम्मानका अर्थ है पारिवारिक समस्याओंके सुलझानेके लिए विवाह आदि कार्योंका सम्पन्न करना। संन्यास या निवृत्तिमार्ग वैयक्तिक जीवनोत्थानके लिए आवश्यक है, पर संसारके बीच निवास करते हुए पारिवारिक दायित्वोंका निर्वाह करना और समाज एवं संघकी उन्नतिके हेतु प्रयत्नशील रहना भी आवश्यक है। वास्तवमें श्रावक-जीवनका लक्ष्य दान देना, देवपूजा करना और मुनिधर्मके संरक्षणमें सहयोग देना है। साधु-मुनियोंको दान देनेकी क्रिया श्रावक-जीवनके विना सम्पन्न नहीं हो सकती। नारीके विना पुरुष और पुरुषके विना अकेली नारी दानादि क्रिया सम्पादित करनेमें असमर्थ है। अतः चतुर्विध संघके संरक्षण एवं कुलपरम्पराके निर्वाहकी दृष्टिसे पारिवारिक कर्तव्योंका निर्वाह अत्यावश्यक है। सातावेदनीय और चारित्रमोहनीयके उदयसे विवहन—कन्यावरण विवाह कहलाता है। यह जीवनमें धर्म, अर्थ, काम आदि पुरुषार्थोंका नियमन करता हैं। अतएव पारिवारिक कर्त्तव्यों तथा संस्कारोंके प्रति जागरूकता अपेक्षित है।

संस्कारशव्द धार्मिक क्रियाओंके लिए प्रयुक्त है। इसका अभिप्राय वाह्य धार्मिक क्रियाओं, व्यर्थ आडम्वर, कोरा कर्मकाण्ड, राज्य द्वारा निर्दिष्ट नियम एवं औपचारिक व्यवहारोंसे नहीं है; वल्कि आत्मिक और आन्तरिक सौन्दर्यसे

है। संस्कारशब्द व्यक्तिके दैहिक, मानसिक और बौद्धिक परिष्कारके लिए किये जानेवाले अनुष्ठानोंसे सम्बद्ध है। संस्कार तीन वर्गोंमें विभक्त हैं—

१. गर्भान्वय क्रियाएँ।
२. दीक्षान्वय क्रियाएँ।
३. क्रियान्वय क्रियाएँ।

इन क्रियाओं द्वारा पारिवारिक कर्त्तव्योंका सम्पादन किया जाता है।

समाजके प्रति सम्मान

सामाजिक व्यवस्थाको सुचारुरूपसे संचालित करनेके लिए समाज और व्यक्ति दोनोंके अस्तित्वकी आवश्यकता है। मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है और उसके सभी अधिकार उसे समाजका सदस्य होनेके कारण ही प्राप्त हैं। अतः वह समाज, जो कि उसके अधिकारोंका जनक और रक्षक है, व्यक्तिसे आशा रखता है कि वह सामाजिक संस्थाके संरक्षणको अपना प्रधान कर्त्तव्य समझे। समाजके प्रति आदर एवं सम्मानकी भावना वह भावना है जो व्यक्तिको परम्परागत प्रथाओंको भङ्ग करनेसे रोकती है। चाहे वे परम्पराएँ समाजकी इकाई कुटुम्बसे सम्बन्ध रखती हों, चाहें वे सम्प्रदायसे सम्बन्ध रखती हों अथवा राज्य या राष्ट्रसे। समाजमें प्रचलित अन्धविश्वासों और रूढ़िवादी परम्पराओंका निर्वाह कर्त्तव्यके अन्तर्गत नहीं है। कर्त्तव्य वह विवेकबुद्धि है जो समाजकी बुराइयोंको दूर कर उसके विकासके प्रति श्रद्धा या निष्ठा उत्पन्न करे। इसमें सन्देह नहीं कि व्यक्तिका समाजके प्रति बहुत बड़ा दायित्व है। उसे समाजको सुगठित, नैतिक और आचारनिष्ठ बनाना है।

सत्यके प्रति सम्मान

सत्यके प्रति सम्मान या सत्यनिष्ठा व्यक्ति और समाजके विकासके लिए आवश्यक है। सत्य और अहिंसाको साथ-साथ लिया जाता है और इनके आचरणसे सामाजिक कल्याण माना जाता है। सत्यके प्रति सम्मान या कर्त्तव्यकी भावना क्रियाशीलताके लिए प्रेरित करती है और सत्यपरायण जीवन व्यतीत करनेका आदेश देती है। इस आदेशका अर्थ यह है कि हमें अपने वचनोंके अनुसार ही व्यवहार करना है। जो व्यक्ति अपने जीवनको सत्यके आधार पर चलाता है, उसे व्यावहारिक कठिनाइयोंका सामना अवश्य करना पड़ता है, पर सत्यपरायण व्यक्तिको जीवनमें सफलता प्राप्त होती है। यदि व्यक्ति अपना कर्त्तव्य कर्त्तव्यभावसे सम्पादित करता है, तो उसका यह

कर्त्तव्य-सम्पादन विधायक तत्त्व माना जाता है। सत्यके आधार पर सम्पादित आचार-व्यवहार व्यक्ति और समाज दोनोंके लिए हितकर होते हैं।

मनुष्य जब लोभ-लालचमें फँस जाता है, वासनाके विषसे मूर्च्छित हो जाता है और अपने जीवनके महत्त्वको भूल जाता है, उस जीवनकी पवित्रता-का स्मरण नहीं रहता, तब उसका विवेक समाप्त हो जाता है और वह यह सोच नहीं पाता कि उसका जन्म संसारसे कुछ लेनेके लिए नहीं हुआ है बल्कि कुछ देनेके लिए हुआ है। जो कुछ प्राप्त हुआ है, वह अधिकार है और जो समाजके प्रति अर्पित किया जाता है वह कर्त्तव्य है। मनुष्यकी इस प्रकारकी मनोवृत्ति ही उसके मनको विशाल एवं विराट् बनाती है। जिसके मनमें ऐसी उदारभावना रहती है वही अपने कर्त्तव्य-सम्पादन द्वारा परिवार और समाज-को सुखी, समृद्ध बनाता है। अहंकार, क्रोध, लोभ और मायाका विष सत्याचरण द्वारा दूर होता है। जिसका जीवन सत्याचरणमें घुलमिल गया है, वही निश्छल और सच्चे व्यवहारद्वारा क्षुद्रताओंको दूर करता है।

सहजभावसे अपने कर्त्तव्यको निभानेवाला व्यक्ति केवल अपने आपको देखता है। उसकी दृष्टि दूसरोंकी ओर नहीं जाती। वह अपनी निन्दा और स्तुतिकी परवाह नहीं करता, पर भद्रता, सरलता और एकरूपताको छोड़ता भी नहीं। वास्तवमें यदि मनुष्य अपने व्यवहारको उदार और परिष्कृत बना ले, तो उसे संघर्ष और तनावोंसे टकराना न पड़े। जीवनमें संघर्ष, तनाव और कुण्ठाएँ असत्याचरणके कारण ही उत्पन्न होती हैं।

प्रगतिके प्रति सम्मान

द्रव्य, क्षेत्र, काल और भावके अनुसार प्रत्येक वस्तुमें निरन्तर परिवर्तन होता है। परिवर्तन प्रगतिरूप भी सम्भव है और अप्रगतिरूप भी। जिस व्यक्तिके विचारोंमें उदारता और व्यवहारमें सत्यनिष्ठा समाहित है, वह सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक कर्त्तव्योंका हृदयसे पालन करता है। संकटके समय व्यक्तिको किस प्रकारका आचरण करना चाहिए और परिस्थिति एवं वातावरण द्वारा प्रादुर्भूत प्रगतियोंको किस रूपमें ग्रहण करना चाहिए, यह भी कर्त्तव्यमार्गके अन्तर्गत है।

एकाकी मनुष्यकी धारणा निसन्देह कल्पनामात्र है। अतः कर्त्तव्योंका महत्त्व नैतिक और सामाजिक दृष्टिसे कदापि कम नहीं है। कर्त्तव्योंका संबंध अधिकारोंके समान सामाजिक विकाससे भी है। कर्त्तव्योंकी विशेषता जीवनके दो मुख्य अंगोंसे सम्बद्ध है—

१. जीवनका आर्थिक अंग।

२. जीवनका सामाजिक अंग।

आर्थिक दृष्टिसे मनुष्यके सम्पत्ति सम्बन्धी अधिकार और कर्त्तव्यविशेष महत्त्वपूर्ण हैं और सामाजिक दृष्टिसे मनुष्यके परिवार तथा समाज-सम्बन्धी अधिकार और कर्त्तव्य भी कम महत्त्वपूर्ण नहीं हैं। अधिकारों तथा कर्त्तव्योंका आर्थिक दृष्टिसे संतुलित रूपमें प्रयोग अपेक्षित है। पुरुषार्थोंके क्रममें अर्थ-पुरुषार्थको इसीलिए द्वितीय स्थान प्राप्त है कि इसके बिना धर्माचरण एवं कामपुरुषार्थका सेवन सम्भव नहीं है। आज आर्थिक प्रगतिके अनेक साधन विकसित हैं पर कर्त्तव्यपरायण व्यक्तिको अपनी नैतिकता बनाये रखना आवश्यक है। जीवनकी आवश्यकताओंके वृद्धिगत होने और आर्थिक समस्याओंके जटिल होने पर भी उत्पादन, वितरण और उपयोग सम्बन्धी नैतिक नियम जीवनको मर्यादित रखते हैं। सुरक्षा और आत्मानुभूति ये दोनों ही नैतिक जीवनके लिए अपेक्षित हैं। श्रम-सिद्धान्त भी प्रगतिके नियमोंको अनुशासित करता है। अतः सम्पत्तिके प्रति दो मुख्य कर्त्तव्य हैं—१. सम्पत्ति प्राप्त करनेके लिए कर्म करना और २. उपलब्ध सम्पत्तिका सदुपयोग करना। जो व्यक्ति किसी भी प्रकारका कर्म नहीं करता, उसका कोई अधिकार नहीं कि वह निष्क्रिय होते हुए भी सामाजिक सम्पत्तिका भोग करे। इस कर्त्तव्यके आधार पर यह भी कहा जा सकता हैं कि शारीरिक और मानसिक स्वास्थ्यके लिए श्रम करना अत्यावश्यक है। श्रम करनेसे ही श्रमणत्वकी प्राप्ति होती है और इसी श्रम द्वारा आश्रमधर्मका निर्वाह होता है। जो व्यक्ति अन्यके श्रम पर जीवित रहता है और स्वयं श्रम नहीं करता ऐसे व्यक्तिको समाजसे कुछ लेनेका अधिकार नहीं। जो कर्त्तव्यपरायण है वही समाजसे अपना उचित अंश प्राप्त करनेका अधिकारी है।

विवेक, साहस, संयम और न्याय ये ऐसे गुण हैं जो सामाजिक कल्याणकी ओर व्यक्तिको प्रेरित करते हैं। इन गुणोंके अपनानेसे परिवार और समाजकी विषमता दूर होकर प्रगति होती है तथा समानताका तत्त्व प्रादुर्भूत होता है। समाजके गतिशील होने पर साहस, संयम और विवेकका आचरण करते हुए कर्त्तव्यकर्मोंका निर्वाह अपेक्षित होता है। ज्यों-ज्यों समाजिक विकास होता है, अधिकारों और कर्त्तव्योंका स्वरूप स्वतः ही परिवर्तित होता चला जाता है। इसी कारण प्रत्येक समाजमें व्यवस्था, विधान और अनुशासनकी आवश्यकता रहती है। यदि अधिकार और कर्त्तव्योंमें संतुलन स्थापित हो जाय, तो समाजमें अनुशासन उत्पन्न होते विलम्ब न हो।

सहिष्णुता

पारिवारिक दायित्वोंके निर्वाहके लिए सहिष्णुता अत्यावश्यक है। परिवार-में रहकर व्यक्ति सहिष्णु न बने और छोटी-सी छोटी बातके लिए उत्तावला हो जाय, तो परिवारमें सुख-शान्ति नहीं रह सकती। सहिष्णु व्यक्ति शान्त-भावसे परिवारके अन्य सदस्योंकी बातों और व्यवहारोंको सहन कर लेता है, जिसके फलस्वरूप परिवारमें शान्ति और सुख सर्वदा प्रतिष्ठित रहता है। अभ्युदय और निःश्रेयसकी प्राप्ति सहनशीलता द्वारा ही संम्भव है। जो परिवार-में सभी प्रकारकी समृद्धिका इच्छुक है तथा इस समृद्धिके द्वारा लोकव्यवहारको सफलरूपमें संचालित करना चाहता है ऐसा व्यक्ति समाज और परिवारका हित नहीं कर सकता है। विकारी मन शरीर और इन्द्रियोंपर अधिकार प्राप्त करनेके स्थान पर उनके वश होकर काम करता है, जिससे सहिष्णुताकी शक्ति घटती है। जिसने आत्मालोचन आरम्भ कर दिया है और जो स्वयं अपनी बुराईयोंका अवलोकन करता है वह समाजमें शान्तिस्थापनका प्रयास करता है। सहिष्णुताका अर्थ कृत्रिम भावुकता नहीं और न अन्याय और अत्याचारोंको प्रश्रय देना ही है; किन्तु अपनी आत्मिक शक्तिका इतना विकास करना है, जिससे व्यक्ति, समाज और परिवार निष्पक्ष जीवन व्यतीत कर सके। पूर्वाग्रहके कारण असहिष्णुता उत्पन्न होती है, जिससे सत्यका निर्णय नहीं होता। जो शान्त-चित्त है, जिसकी वासनाएँ संयमित हो गई हैं और जिसमें निष्पक्षता जागृत हो गई है वही व्यक्ति सहिष्णु या सहनशील हो सकता है। सहनशील या सहिष्णु होनेके लिए निम्नलिखित गुण अपेक्षित हैं—

१. दृढता।
२. आत्मनिर्भता।
३. निष्पक्षता।
४. विवेकशीलता।
५. कर्त्तव्यकर्मके प्रति निष्ठा।

अनुशासन

मानवताके भव्य भवनका निर्माण अनुशासनद्वारा ही सम्पन्न किया जा सकता है। वास्तवमें जहाँ अनुशासन है, वहीं अहिंसा है। और जहाँ अनुशासन-हीनता है वहीं हिंसा है। पारिवारिक और सामाजिक जीवनका विनाश हिंसा द्वारा होता है। यदि धर्म मनुष्यके हृदयकी क्रूरताको दूर कर दे और अहिंसा द्वारा उसका अन्तःकरण निर्मल हो जाय तो जीवनमें सहिष्णुताकी साधना सरल हो जाती है। वास्तवमें अनुशासित जीवन ही समाजके लिए उपयोगी

है। जिस समाजमें अनुशासनका अभाव रहता है वह समाज कभी भी विकसित नहीं हो पाता। अनुशासित परिवार ही समाजको गतिशील बनाता है, प्रोत्साहित करता है और आदर्शकी प्रतिष्ठा करता है। संघर्षोंका मूलकारण उच्छृंखलता या उदण्डता है। जबतक जीवनमें उदण्डता आदि दुर्गुण समाविष्ट रहेंगे, तबतक सुगठित समाजका निर्माण सम्भव नहीं है। समाज और परिवारकी प्रमुख समस्याओंका समाधान भी अनुशासन द्वारा ही सम्भव है। शासन और शासित सभीका व्यवहार उन्मुक्त या उच्छृङ्खलित हो रहा है। अतः अतिचारी और अनियन्त्रित प्रवृत्तियोंको अनुशासित करना आवश्यक है।

अनुशासनका सामान्य अर्थ है कतिपय नियमों, सिद्धान्तों आदिका परिपालन करना और किसी भी स्थितिमें उसका उलंघन न करना। संक्षेपमें वह विधान, जो व्यक्ति, परिवार और समाजके द्वारा पूर्णतः आचरित होता है, अनुशासन कहा जाता है। जीवनके प्रत्येक क्षेत्रमें सुव्यवस्थाकी अनिवार्य आवश्यकताको कोई भी अस्वीकार नहीं कर सकता। इसके बिना मानव-समाज बिलकुल विघटित हो जायगा और उसकी कोई भी व्यवस्था नहीं बन सकेगी। जो व्यक्ति स्वेच्छासे अनुशासनका निर्वाह करता है, वह परिवार और समाजके लिए एक आदर्श उपस्थित करता है। जीवनके विशाल भवनकी नींव अनुशासनपर ही अवलम्बित है।

पारस्परिक द्वेषभाव, गुटबन्दी, वर्गभेद, जातिभेद आदि अनुशासनहीनताको बढ़ावा देते हैं और सामाजिक संगठनको शिथिल बनाते हैं। अतएव सहज और स्वाभाविक कर्त्तव्यके अन्तर्गगत असुशासनको प्रमुख स्थान प्राप्त है। अनुशासन जीवनको कलापूर्ण, शान्त और गतिशील बनाता है। इसके द्वारा परिवार और समाजकी अव्यवस्थाएँ दूर होती हैं।

पारिवारिक चेतनाका सम्यक् विकास, अहिंसा, करुणा, समर्पण, सेवा, प्रेम, सहिष्णुता आदिके द्वारा होता है। मनुष्य जन्म लेते ही पारिवारिक एव सामाजिक कर्तव्य एवं उत्तरदायित्वसे बंध जाता है। प्राणीमात्र एक दूसरेसे उपकृत होता है। उसका आधार और आश्रय प्राप्त करता है। जब हम किसीका उपकार स्वीकार करते हैं, तो उसे चुकानेका दायित्व भी हमारे ही ऊपर रहता है। यह आदान-प्रदानकी सहजवृत्ति ही मनुष्यकी पारिवारिकता और सामाजिकताका मूलकेन्द्र है। उसके समस्त कर्त्तव्यों एव धर्माचरणोंका आधार है। राग और मोह आत्माके लिए त्याज्य हैं, पर परिवार और समाज संचालनके लिए इनकी उपयोगिता है। जीवन सर्वथा पलायनवादी नहीं है। जो कर्मठ बनकर श्रावकाचारका अनुष्ठान करना चाहता है उसे अहिंसा, सत्य, करुणा

सेवा समर्पण आदिके द्वारा परिवार और समाजको दृढ़ करना चाहिए। यह दृढीकरणकी क्रिया ही दायित्वों या कर्त्तव्योंकी शृङ्खला है।

समाजगठनकी आधारभूत भावनाएँ

समाज-गठनके लिए कुछ मौलिक सूत्र हैं, जिन सूत्रोंके आधारपर समाज एकरूपमें बंधता है। कुछ ऐसे सामान्य नियम या सिद्धान्त हैं, जो सामाजिकताका सहजमें विकास करते हैं। संवेदनशील मानव समाजके बीच रहकर इन नियमोंके आधारपर अपने जीवनको सुन्दर, सरल, नम्र और उत्तरदायी बनाता है। मानव-जीवनका सर्वांगीण विकास अपेक्षित है। एकांगरूपसे किया गया विकास जीवनको सुन्दर, शिव और सत्य नहीं बनाता है। कर्मके साथ मनका सुन्दर होना और मनके साथ वाणीका मधुर होना विकासकी सीढ़ी है। जीवनमें धर्म और सत्य ऐसे तत्त्व हैं, जो उसे शाश्वतरूप प्रदान करते हैं। समाज-संगठनके लिए निम्नलिखित चार भावनाएँ आवश्यक है:—

१. मैत्री भावना।
२. प्रमोद भावना।
३. कारुण्य भावना।
४. माध्यस्थ्य भावना।

मैत्री भावना मनकी वृत्तियोंको अत्यधिक उदात्त बनाती है। यह प्रत्येक प्राणीके साथ मित्रताकी कल्पना ही नहीं, अपितु सच्ची अनुभूतिके साथ एकात्मभाव या तादात्मभाव समाजके साथ उत्पन्न करती है। मनुष्यका हृदय जब मैत्रीभावनासे सुसंस्कृत हो जाता है, तो अहिंसा और सत्यके वोरुध स्वयं उत्पन्न हो जाते हैं। और आत्माका विस्तार होनेसे समाज स्वर्गका नन्दन-कानन बन जाता है। जिस प्रकार मित्रके घरमें हम और मित्र हमारे घरमें निर्भय और निःकोच स्नेह एवं सद्भावपूर्ण व्यवहार कर सकता है उसी प्रकार यह समस्त विश्व भी हमें मित्रके घरके रूपमें दिखलाई पड़ता है। कहीं भय, संकोच एवं आतंककी वृत्ति नहीं रहती। कितनी सुखद और उदात्त भावना है यह मैत्रीकी। व्यक्ति, परिवार और समाज तथा राष्ट्रको सुगठित करनेका एकमात्र साधन यह मैत्री-भावना है।

इस भावनाके विकसित होते ही पारस्परिक सौहार्द, विश्वास, प्रेम, श्रद्धा एवं निष्ठाकी उत्पत्ति हो जाती है। चोरी, धोखाधड़ी लूट-खसोट, आदि सभी विभीषिकाएँ समाप्त हो जाती हैं। विश्वके सभी प्राणियोंके प्रति मित्रताका भाव जागृत हो जाय तो परिवार और समाजगठनमें किसी भी प्रकारका दुराव-

छिपाव नहीं रह सकता है। वस्तुतः मैत्री-भावना समाजकी परिधिको विकसित करती है, जिससे आत्मामें समभाव उत्पन्न होता है।

प्रमोद-भावना

गुणीजनोंको देखकर अन्तःकरणका उल्लसित होना प्रमोद-भावना है। किसीकी अच्छी वातको देखकर उसकी विशेषता और गुणोंका अनुभव कर हमारे मनमें एक अज्ञात ललक और हर्षानुभूति उत्पन्न होती है। यही आनन्दकी लहर परिवार और समाजको एकताके सूत्रमें आवद्ध करती है। प्रायः देखा जाता है कि मनुष्य अपनेसे आगे वढ़े हुए व्यक्तिको देखकर ईर्ष्या करता है और इस ईर्ष्यासे प्रेरित होकर उसे गिरानेका भी प्रयत्न करता है। जब तक इस प्रवृत्तिका नाश न हो जाय, तवतक अहिंसा और सत्य टिक नहीं पाते। प्रमोद-भावना परिवार और समाजमें एकता उत्पन्न करती है। ईर्ष्या और विद्वेष पर इसी भावनाके द्वारा विजय प्राप्त की जा सकती है। ईर्ष्याकी अग्नि इतना विकराल रूप धारण कर लेती है कि मनुष्य अपने भाई और पुत्रके भी उत्कर्ष-को फूटी आँखों नहीं देख पाता। यही ईर्ष्याकी परिणति एवं प्रवृत्ति ही परिवार और समाजमें खाई उत्पन्न करती है। समाज और परिवारकी छिन्न-भिन्नता ईर्ष्या, घृणा और द्वेपके कारण ही होती है। प्रतिस्पर्धावश समाज विनाशके कगारकी ओर वढ़ता है। अतः 'प्रमोद-भावना'का अभ्यास कर गुणोंके पारखी वनना और सही मूल्यांकन करना समाजगठनका सिद्धान्त है। जो स्वयं आदर-सम्मान प्राप्त करना चाहता है, उसे पहले अन्य व्यक्तियोंका आदर-सम्मान करना चाहिए। अपने गुणोंके साथ अन्य व्यक्तियोंके गुणोंकी भी प्रशंसा करनी चाहिए। यह प्रमोदकी भावना मनमें प्रसन्नता, निर्भयता एवं आनन्दका संचार करती है और समाज तथा परिवारको आत्मनिर्भर, स्वस्थ और सुगठित वनाती है।

करुणा-भावना

करुणा मनकी कोमल वृत्ति है, दुःखी और पीड़ित प्राणीके प्रति सहज अनु-कम्पा और मानवीय संवेदना जाग उठती है। दुःखीके दुःखनिवारणार्थ हाथ बढ़ते हैं और यथाशक्ति उसके दुःखका निराकरण किया जाता है।

करुणा मनुष्यकी सामाजिकताका मूलाधार है। इसके सेवा, अहिंसा, दया, सहयोग, विनम्रता आदि सहस्रों रूप संभव हैं। परिवार और समाजका आलम्बन यह करुणा-भावना ही है।

मात्राके तारतम्यके कारण करुणाके प्रमुख तीन भेद हैं—१. महाकरुणा, २. अतिकरुणा और, ३. लघुकरुणा। महाकरुणा निःस्वार्थभावसे प्रेरित

होती है और इस करुणाका धारी प्राणिमात्रके कष्ट-निवारणके लिए प्रयास करता है। इस श्रेणीकी करुणा किसी नेता या महान् व्यक्तिमें ही रहती है। इस करुणा द्वारा समस्त मानव-समाजको एकताके सूत्रमें आबद्ध किया जाता है और समाजके समस्त सदस्योंको सुखी बनानेका प्रयास किया जाता है।

अतिकरुणा भी जितेन्द्रिय, संयमी और निःस्वार्थ व्यक्तिमें पायी जाती है। इस करुणाका उद्देश्य भी प्राणियोंमें पारस्परिक सौहार्द उत्पन्न करना है। दूसरेके प्रति कैसा व्यवहार करना और किस वातावरणमें करना हितप्रद हो सकता है, इसका विवेक भी महाकरुणा और अतिकरुणा द्वारा होता है। प्रतिशोध, संकीर्णता और स्वार्थमूलकता आदि भावनाएँ इसी करुणाके फलस्वरूप समाज-से निष्कासित होती हैं। वास्तवमें करुणा ऐसा कोमल तन्तु है, जो समाजको एकतामें आबद्ध करता है।

लघुकरुणाका क्षेत्र परिवार या किसी आधारविशेषपर गठित संघ तक ही सीमित है। अपने परिवारके सदस्योंके कष्टनिवारणार्थ चेष्टा करना और करुणावृत्तिसे प्रेरित होकर उनको सहायता प्रदान करना लघुकरुणाका क्षेत्र है।

मनुष्यमें अध्यात्म-चेतनाकी प्रमुखता है, अतः वह शाश्वत आत्मा एवं अपरिवर्तनीय यथार्थताका स्वरूप सत्य-अहिंसासे सम्बद्ध है। कलह, विषयभोग, घृणा, स्वार्थ, संचयशीलवृत्ति आदिका त्याग भी करुणा-भावना द्वारा संभव है। अतएव संक्षेपमें करुणा-भावना समाज-गठनका ऐसा सिद्धान्त है जो अव्याप्ति और अतिव्याप्ति दोषोंसे रहित होकर समाजको स्वस्थ रूप प्रदान करता है।

माध्यस्थ्य-भावना

जिनसे विचारोंका मेल नहीं बैठता अथवा जो सर्वथा संस्कारहीन हैं, किसी भी सद्वस्तुको ग्रहण करनेके योग्य नहीं हैं, जो कुमार्गपर चले जा रहे हैं तथा जिनके सुधारने और सही रास्ते पर लानेके सभी यत्न निष्फल सिद्ध हो गये हैं, उनके प्रति उपेक्षाभाव रखना माध्यस्थ्य-भावना है।

मनुष्यमें असहिष्णुताका भाव पाया जाता है। वह अपने विरोधी और विरोध को सह नहीं पाता। मतभेदके साथ मनोभेद होते विलम्ब नहीं लगता। अतः इस भावना द्वारा मनोभेदको उत्पन्न न होने देना समाज-गठनके लिए आवश्यक है। इन चारों भावनाओंका अभ्यास करनेसे आध्यात्मिक गुणोंका विकास तो होता ही है, साथ ही परिवार और समाज भी सुगठित होते हैं।

माध्यस्थ्य-भावनाका लक्ष्य है कि असफलताकी स्थितिमें मनुष्यके उत्साहको

भंग न होने देना तथा बड़ी-से-बड़ी विपत्तिके आनेपर भी समाजको सुदृढ़ बनाये रखनेका प्रयास करना।

जिजीविषा जीवका स्वभाव है और प्रत्येक प्राणी इस स्वभावकी साधना कर रहा है। अतएव माध्यस्थ्य-भावनाका अवलम्बन लेकर विपरीत आचरण करनेवालोंके प्रति भी द्वेष, घृणा या ईर्ष्या न कर तटस्थवृत्ति रखना आवश्यक है।

संक्षेपमें समाज-गठनका मूलाधार अहिंसात्मक उक्त चार भावनाएँ हैं। समाजके समस्त नियम और विधान अहिंसाके आलोकमें मनुष्यहितके लिए निर्मित होते हैं। मानवके दुःख और दैन्य भौतिकवाद द्वारा समाप्त न होकर अध्यात्मद्वारा ही नष्ट होते हैं। समाजके मूल्य, विश्वास और मान्यताएँ अहिंसाके धरातल पर ही प्रतिष्ठित होती हैं। मानव-समाजकी समृद्धि पारस्परिक विश्वास, प्रेम, श्रद्धा, जीवनसुविधाओंकी समता, विश्वबन्धुत्व, मैत्री, करुणा और माध्यस्थ्य-भावना पर ही आधृत है। अतएव समाजके घटक परिवार, संघ, समाज, गोष्ठी, सभा, परिषद् आदिको सुदृढ़ता नैतिक मूल्यों और आदर्शों पर प्रतिष्ठित है।

समाजधर्म : पृष्ठभूमि

मानव-समाजको भौतिकवाद और नास्तिकवादने पथभ्रष्ट किया है। इन दोनोंने मानवताके सच्चे आदर्शोंसे च्युत करके मानवको पशु बना दिया हैं। जबतक समाजका प्रत्येक सदस्य यह नहीं समझ लेता कि मनुष्मात्रकी समस्या उसकी समस्या है, तबतक समाजमें परस्पर सहानुभूति एवं सद्भावना उत्पन्न नहीं हो सकती है। जातोय अहंकार, धर्म, धन, वर्ग, शक्ति, घृणा और राष्ट्रके कृत्रिम बन्धनोंने मानव-समाजके बीच खाई उत्पन्न कर दी है, जिसका आत्म-विकासके बिना भरना सम्भव नहीं। यतः मानव-समाज और सभ्यताका भविष्य आत्मज्ञान, स्वतन्त्रता, न्याय और प्रेमकी उन गहरी विश्वभावनाओंके साथ बंधा हुआ है, जो आज भौतिकता, हिंसा, शोषण प्रभृतिसे भाराक्रान्त है।

इसमें सन्देह नहीं कि समाजकी संकीर्णताएं, धर्मके नामपर की जानेवाली हिंसा, वर्गभेदके नामपर भेद-भाव, ऊंच-नीचता आदिसे वर्तमान समाज त्रस्त है। अतः मानवताका जागरण उसी स्थितिमें सम्भव है, जब ज्ञान-विज्ञान, अर्थ, काम, राजनीति-विधान एवं समाज-जीवनका समन्वय नैतिकताके साथ स्थापित्त हो तथा प्राणिमात्रके साथ अहिंसात्मक व्यवहार किया जाय। पशु-पक्षी भी मानवके समान विश्वके लिए उपयोगी एवं उसके सदस्य हैं। अतः उनके साथ

भी प्रेमपूर्ण व्यवहार होना आवश्यक है। विशाल ऐश्वर्य और महान् वैभव प्राप्त करके भी प्रेम और आत्मनियन्त्रणके विना शान्ति सम्भव नहीं। जबतक समाजके प्रत्येक सदस्यका नैतिक और आध्यात्मिक विकास नहीं हुआ है, तबतक वह भौतिकवादके मायाजालसे मुक्त नहीं हो सकता। व्यक्ति और समाज अपनी दृष्टिको अधिकारकी ओरसे हटाकर कर्त्तव्यकी ओर जबतक नहीं लायेगा, तबतक स्वार्थबुद्धि दूर नहीं हो सकती है।

वस्तुतः समाजका प्रत्येक सदस्य नैतिकतासे अनैतिकता, अहिंसासे हिंसा, प्रेमसे घृणा, क्षमासे क्रोध, उत्सर्गसे संघर्ष एवं मानवतासे पशुतापर विजय प्राप्त कर सकता है। दासता, बर्बरता और हिंसासे मुक्ति प्राप्त करनेके लिए अहिंसक साधनोंका होना अनिवार्य है। यतः अहिंसक साधनों द्वारा ही अहिंसामय शांति प्राप्त की जा सकती है। बिना किसी भेद-भावके संसारके समस्त प्राणियोंके कष्टोंका अन्त अहिंसक आचरण और उदारभावना द्वारा ही सम्भव है। भौतिक उत्कर्षकी सर्वथा अवहेलना नहीं की जा सकती, पर इसे मानव-जीवनका अन्तिम लक्ष्य मानना भूल है। भौतिक उत्कर्ष समाजके लिए वहीं तक अभिप्रेत है, जहाँतक सर्वसाधारणके नैतिक उत्कर्षमें बाधक नहीं है। ऐसे भौतिक उत्कर्षसे कोई लाभ नहीं, जिससे नैतिकताको ठेस पहुँचती हो।

समाज-धर्मका मूल यही है कि अन्यकी गलती देखनेके पहले अपना निरीक्षण करो, ऐसा करनेसे अन्यकी भूल दिखलायी नहीं पड़ेगी और एक महान् संघर्षसे सहज ही मुक्ति मिल जायगी। विश्वप्रेमका प्रचार भी आत्मनिरीक्षणसे हो सकता है। विश्वप्रेमके पवित्र सूत्रमें बंध जानेपर सम्प्रदाय, वर्ग, जाति, देश एवं समाजकी परस्पर घृणा भी समाप्त हो जाती है और सभी मित्रतापूर्ण व्यवहार करने लगते हैं। हमारा प्रेमका यह व्यवहार केवल मानव-समाजके साथ ही नहीं रहना चाहिए, किन्तु पशु, पक्षी, कीड़े और मकोड़ेके साथ भी होना चाहिए। ये पशु-पक्षी भी हमारे ही समान जनदार हैं और ये भी अपने साथ किये जानेवाले सहानुभूति, प्रेम, क्रूरता और कठोरताके व्यवहारको समझते हैं। जो इनसे प्रेम करता है, उसके सामने ये अपनी भयंकरता भूल जाते हैं और उसके चरणोंमें नतमस्तक हो जाते हैं; पर जो इनके साथ कठोरता, क्रूरता और निर्दयताका व्यवहार करता है; उसे देखते ही ये भाग जाते हैं अथवा अपनेको छिपा लेते हैं। अतः समाजमें मनुष्यके ही समान अन्य प्राणियोंको भी जानदार समझकर उनके साथ भी सहानुभूति और प्रेमका व्यवहार करना आवश्यक है।

समाजको विकृत या रोगी बनानेवाले तत्त्व हैं—(१) शोषण, (२) अन्याय, (३) अत्याचार, (४) पराधीनता, (५) स्वार्थलोलुपता, (६) अविश्वास और,

(७) अहंकार। इन विनाशकारी तत्त्वोंका आचरण करनेसे समाजका कल्याण या उन्नति नहीं हो सकती है। समाज भी एक शरीर है और इस शरीरकी पूर्णता सभी सदस्योंके समूह द्वारा निष्पन्न है। यदि एक भी सदस्य माया, धोखा, छल-प्रपंच और क्रूरताका आचरण करेगा, तो समाजका समस्त शरीर रोगी वन जायगा और शनैः शनैः संगठन शिथल होने लगेगा। अतः हिंसा, आक्रमण और अहंकारकी नीतिका त्याग आवश्यक है। जिस समाजमें नागरिकता और लोकहितकी भावना पर्याप्तरूपमें पायी जाती है वह समाज शान्ति और सुखका उपभोग करता है।

सहानुभूति

समाज-धर्मोंकी सामान्य रूपरेखामें सहानुभूतिकी गणना की जाती है। इसके अभावसे अहंकार उत्पन्न होता है। वास्तविक सहानुभूति प्रेमके रूपमें प्रकट होती है। अहंकारके मूलमें अज्ञान है। अहंकार उन्हीं लोगोंके हृदयमें पनपता है, जो यह सोचते हैं कि उनका अस्तित्व अन्य व्यक्तियोंसे पृथक् है तथा उनके उद्देश्य और हित भी दूसरे सामाजिक सदस्योंसे भिन्न हैं और उनकी विचारधारा तथा विचारधाराजन्य कार्यव्यवहार भी सही हैं। अतः वे समाजमें सर्वोपरि हैं, उनका अस्तित्व और महत्त्व अन्य सदस्योंसे श्रेष्ठ है।

सहानुभूति मनुष्यको पृथक् और आत्मकेन्द्रित जीवनसे ऊंचा उठाती है और अन्य सदस्योंके हृदयमें उसके लिए स्थान वनाती है, तभी वह दूसरोंके विचारों और अनुभूतियोंमें सम्मिलित होता है। किसी दुःखी प्राणीके कष्टके संवंधमें पूछ-ताछ करना एक प्रकारका मात्र शिष्टाचार है। पर दुःखीके दुःखको देखकर द्रवित होना और सहायताके लिए तत्पर होना ही सच्चे सहानुभूतिपूर्ण मनका परिचायक है। सच्ची सहानुभूतिका अहंकार और आत्मश्लाघाके साथ कोई सम्वन्ध नहीं है। यदि कोई व्यक्ति अपने परोपकारसम्वन्धी कार्योंका गुणानुवाद चाहता है और प्रतिदानमें दुर्व्यवहार मिलनेपर शिकायत करता है तो समझ लेना चाहिए कि उसने वह परोपकार नहीं किया है। विनीत, आत्मनिग्रही और सेवाभावीमें ही सच्ची सहानुभूति रहती है।

यथार्थतः सहानुभूति दूसरे व्यक्तियोंके प्रयासों और दुःखोंके साथ एकलयताके भावकी अनुभूति है। इससे मानवके व्यक्तित्वमें पूर्णताका भाव आता है। इसी गुणके द्वारा सहानुभूतिपूर्ण व्यक्ति अपनी निजतामें अनेक आत्माओंका प्रतीक वन जाता है। वह समाजको अन्यसदस्योंकी दृष्टिसे देखता है, अन्यके कानोंसे सुनता है, अन्यके मनसे सोचता है और अन्य लोगोंके हृदयके द्वारा ही अनुभूति प्राप्त करता है। अपनी इसी विशेषताके कारण वह अपनेसे भिन्न

व्यक्तियोंके मनोभावोंको समझ सकता है। अतः इसप्रकारके व्यक्तिका जीवन समाजके लिए होता है। वह समाजकी नींद सोता है और समाजकी ही नींद जागता है।

सहानुभूति ऐसा सामाजिक धर्म है, जिसके द्वारा प्रत्येक सदस्य अन्य सामाजिक सदस्योंके हृदयतक पहुँचता है और समस्त समाजके मदस्योंके साथ एकात्मभाव उत्पन्न हो जाता है। एक सदस्यको होनेवाली पीड़ा, वेदना अन्य सदस्योंकी भी बन जाती हैं और सुख-दुःखमें साधारणीकरण हो जाता है। भावात्मक सत्ताका प्रसार हो जाता है और अशेष समाजके साथ उसका रागात्मक सम्बन्ध स्थापित हो जाता है।

सहानुभूति एकात्मकारी तत्त्व है, इसके अपनानेसे कभी दूसरोंकी भर्त्सना नहीं की जाती और सहवर्ती जनसमुदायके प्रति सहृदयताका व्यवहार सम्पादित किया जाता है। इसकी परिपक्वावस्थाको वही व्यक्ति प्राप्त कर सकता है, जिसने जीवनमें सम्पूर्ण हार्दिकतासे प्रेम किया हो, पीड़ा सही हो और दुःखोंके गम्भीर सागरका अवगाहन किया हो। जीवनकी आत्यन्तिक अनुभूतियोंके संसर्गसे ही उस भावकी निष्पत्ति होती है, जिससे मनुष्यके मनसे अहंकार, विचारहीनता, स्वार्थपरता एवं पारस्परिक अविश्वासका उन्मूलन हो जाय। जिस व्यक्तिने किसी-न-किसी रूपमें दुःख और पीड़ा नहीं सही है, सहानुभूति उसके हृदयमें उत्पन्न नहीं हो सकती है। दुःख और पीड़ाके अवसानके बाद एक स्थायी दयालुता और प्रशान्तिका हमारे मनमें वास हो जाता है।

वस्तुतः जो सामाजिक सदस्य अनेक दिशाओंमें पीड़ा सहकर परिपक्वताको प्राप्त कर लेता है, वह सन्तोषका केन्द्र बन जाता है और दुःखी एवं भग्नहृदय लोगोंके लिए प्रेरणा और संवलका स्रोत बन जाता है। सहानुभूतिकी सार्वभौमिक आत्मभाषाको, मनुष्योंकी तो बात ही क्या, पशु भी नैसर्गिकरूपसे समझते और पसंद करते हैं।

स्वार्थपरता व्यक्तिको दूसरेके हितोंका व्याघात करके अपने हितोंकी रक्षाकी प्रेरणा करती है, पर सहानुभूति अपने स्वार्थ और हितोंका त्यागकर दूसरोंके स्वार्थ और हितोंकी रक्षा करनेकी प्रेरणा देती है। फलस्वरूप सहानुभूतिको समाज-धर्म माना जाता है और स्वार्थपरताको अधर्म। सहानुभूतिमें निम्नलिखित विशेषताएँ समाविष्ट हैं:—

१. दयालुता—क्षणिक आवेशका त्याग और प्राणियोंके प्रति दया—करुणाबुद्धि दयालुतामें अन्तर्हित है। अविश्वसनीय आवेशभावना दयालुतामें परि-

गणित नहीं है। किसीकी प्रशंसा करना और बादमें उसे गालियाँ देने लगना निर्दयता है। यदि दाता अपने दानका पुरस्कार चाहने लगता है, तो दान निष्फल है, इसीप्रकार कोई व्यक्ति किसी बाहरी प्रेरणासे उदारताका कोई कार्य करता है और कुछ समयके बाद किसी अप्रिय घटनाके कारण बाहरी प्रभावके वशीभूत हो विपरीत आचरण करने लगे, तो इसे भी चरित्रकी दुर्बलता माना जायगा। सच्ची दयालुता अपरिवर्तनीय है और यह बाहरी प्रभावसे अभिव्यक्त नहीं की जा सकती। प्राणियोंके दुःखको देखकर अन्तःकरणका आर्द्र हो जाना दयालुता है। यह जीवका स्वभाव है, इससे चरित्रके सौन्दर्यकी वृद्धि होती है और सौम्यभावकी उपलब्धि होती है। सामाजिक सम्बन्धोंकी रक्षामें दयाका प्रधान स्थान है।

२. **उदारता**—हृदयकी विशालताके साथ इसका सम्बन्ध है। जिस व्यक्तिके चरित्रमें औदार्य, दया, सहानुभूति आदि गुण पाये जाते हैं, उसका जीवन आकर्षण और प्रभावयुक्त हो जाता है। चरित्रकी नीचता और भोंड़ापन घृणास्पद है। उदारतावश ही व्यक्ति अपने सहवर्त्ती जनोंके प्रति आध्यात्मिक और सामाजिक ऐक्यका अनुभव करते हैं और अपनी उपलब्धियोंका कुछ अंश समाजके मंगल हेतु अन्य सदस्योंको भी वितरित कर देते हैं।

३. **भद्रता**—इस गुणद्वारा व्यक्ति निष्ठुरता और पाशविक स्वार्थपरतासे दूर रहता है। आत्मानुशासनके अभ्याससे इस गुणकी प्राप्ति होती है। अपनी पाशविक वासनाओंका दमन और नियन्त्रण करनेसे मनुष्यके हृदयमें भद्रता उत्पन्न होती है। जिस व्यक्तिमें इस भावकी निष्पत्ति हो जायगी, उसके स्वरमें स्पष्टता, दृढ़ता और व्यामोहहीनता आ जाती है। विपरीत और आपत्तिजनक परिस्थितियोंमें वह न उद्विग्न होता है और न किसीसे घृणा ही करता है।

भद्रतामें आत्मसंयम, सहिष्णुता, विचारशीलता और परोपकारिता भी सम्मिलित हैं। इन गुणोंके सद्भावसे समाजका सम्यक् संचालन होता है तथा समाजके विवाद, कलह और विसंवाद समाप्त हो जाते हैं।

४. **अन्तर्दृष्टि**—सहानुभूतिके परिणामस्वरूप समाजके पर्यवेक्षणकी क्षमता अन्तर्दृष्टि है। वाद-विवादके द्वारा वस्तुका बाह्य रूप ही ज्ञात हो पाता है, पर सहानुभूति अन्तस्तल तक पहुँच जाती है। निश्छल प्रेम एक ऐसी रहस्यपूर्ण एकात्मीयता है, जिसके द्वारा व्यक्ति एक दूसरेके निकट पहुँचते हैं और एक दूसरेसे सुपरिचित होते हैं।

अन्तर्दृष्टिप्राप्त व्यक्तिके पूर्वाग्रह छूट जाते हैं, पक्षपातकी भावना मनसे निकल जाती है और समाजके अन्य सदस्योंके साथ सहयोगकी भावना प्रस्फुटित

हो जाती है। प्रतिद्वन्द्विता, शत्रुता, तनाव आदि समाप्त हो जाते हैं और समाजके सदस्योंमें सहानुभूतिके कारण विश्वास जागृत हो जाता है।

संक्षेपमें सहानुभूति ऐसा समाज-धर्म है, जो व्यक्ति और समाज इन दोनोंका मंगल करता है। इस धर्मके आचरणसे समाज-व्यवस्थामें सुदृढ़ता आती है। अपने समस्त दोषोंसे मुक्ति प्राप्तकर मानव-समाज एकताके सूत्रमें बंधता है।

अहिंसाका ही रूपान्तर सहानुभूति है और अहिंसा ही सर्वजीव-समभावका आदर्श प्रस्तुत करती है, जिससे समाजमें संगठन सुदृढ़ होता है। यदि भावनाओं-में क्रोध, अभिमान, कपट, स्वार्थ, राग-द्वेष आदि हैं, तो समाजमें मित्रताका आचरण सम्भव नहीं है। वास्तवमें अहिंसा प्राणीकी संवेदनशील भावना और वृत्तिका रूप है, जो सर्वजीव-समभावसे निर्मित है। समाज-धर्मका समस्त भवन इसी सर्वजीव-समभावकी कोमल भावनापर आधारित है। अहिंसा या सहानु-भूति ऐसा गुण है, जो चराचर जगत्में सम्पूर्ण प्राणियोंके साथ मैत्रीभावकी प्रतिष्ठा करता है। किसीके प्रति भी वैर और विरोधकी भावना नहीं रहती। दुःखियोंके प्रति हृदयमें करुणा उत्पन्न हो जाती है।

जो किसी दूसरेके द्वारा आतंकित हैं, उन्हें भी अहिंसक अपने अन्तरकी कोमल किन्तु सुदृढ़ भावनाओंकी सम्पत्ति द्वारा अभयदान प्रदान करता है। उसके द्वारा संसारके समस्त प्राणियोंके प्रति समता, सुरक्षा, विश्वास एवं सह-कारिताकी भावना उत्पन्न होती हैं। अन्याय, अत्याचार, शोषण, द्वेष, बलात्कार, ईर्ष्या आदिको स्थान प्राप्त नहीं रहता। यह स्मरणीय है कि हमारे मनके विचार और भावनाओंकी तरंगें फैलती हैं, इन तरंगोंमें योग और बल रहता है। यदि मनमें हिंसाकी भावना प्रबल है, तो हिंसक तरंगें समाजके अन्य व्यक्तियोंको भी क्रूर, निर्दय और स्वार्थी बनायेंगी। अहिंसाकी भावना रहनेपर समाजके सदस्य सरल, सहयोगी और उदार बनते हैं। अतएव समाज-धर्मकी पृष्ठभूमिमें अहिंसा या सहानुभूतिका रहना परमावश्यक है।

सामाजिक नैतिकताका आधार : आत्मनिरीक्षण

समाज एवं राष्ट्रकी इकाई व्यक्तिके जीवनको स्वस्थ—सम्पन्न करनेके लिए स्वार्थत्याग एवं वैयक्तिक चारित्रकी निर्मलता अपेक्षित है। आज व्यक्तिमें जो असन्तोष और घबड़ाहटकी वृद्धि हो रही है, जिसका कुफल विषमता और अपराधोंकी बहुलताके रूपमें है, नैतिक आचरण द्वारा ही दूर किया जा सकता है, क्योंकि आचरणका सुधारना ही व्यक्तिका सुधार और आचरणका बिगड़ना ही व्यक्तिका बिगाड़ है।

प्रत्येक व्यक्ति अपने कार्योंको मन, वचन और काय द्वारा सम्पन्न करता है तथा अन्य व्यक्तियोंसे अपना सम्पर्क भी इन्हींके द्वारा स्थापित करता है। ये तीनों प्रवृत्तियाँ मनुष्यको मनुष्यका मित्र और ये ही मनुष्यको मनुष्यका शत्रु भी बनाती हैं। इन प्रवृत्तियोंके सत्प्रयोगसे व्यक्ति सुख और शान्ति प्राप्त करता है तथा समाजके अन्य सदस्योंके लिए सुख-शान्तिका मार्ग प्रस्तुत करता है, किन्तु जब इन्हीं प्रवृत्तियोंका दुरुपयोग होने लगता है, तो वैयक्तिक एवं सामाजिक दोनों ही जीवनोंमें अशान्ति आ जाती है। व्यक्तिकी स्वार्थमूलक प्रवृत्तियाँ विषय-तृष्णाको बढ़ानेवाली होती हैं; मनुष्य उचित-अनुचितका विचार किये बिना तृष्णाको शान्त करनेके लिए जो कुछ कर सकता है, करता है। अतएव जीवनमें निषेधात्मक या निवृत्तिमूलक आचारका पालन करना आवश्यक है। यद्यपि निवृत्तिमार्ग आकर्षक और सुकर नहीं है, तो भी जो इसका एकबार आस्वादन कर लेता है, उसे शाश्वत और चिरन्तन शान्तिकी प्राप्ति होती है। विध्यात्मक चारित्रका सम्बन्ध शुभप्रवृत्तियोंसे है और अशुभ-प्रवृत्तियोंसे निवृत्तिमूलक भी चारित्र संभव है। जो व्यक्ति समाजको समृद्ध एवं पूर्ण सुखी बनाना चाहता है, उसे शुभविधिका ही अनुसरण करना आवश्यक है।

व्यक्तिके नैतिक विकासके लिए आत्मनिरीक्षणपर जोर दिया जाता है। इस प्रवृत्तिके बिना अपने दोषोंकी ओर दृष्टिपात करनेका अवसर ही नहीं मिलता। वस्तुतः व्यक्तिकी अधिकांश क्रियाएँ यन्त्रवत् होती हैं, इन क्रियाओंमें कुछ क्रियाओंका सम्बन्ध शुभके साथ है और कुछका अशुभके साथ। व्यक्ति न करने योग्य कार्य भी कर डालता है और न कहने लायक बात भी कह देता है तथा न विचार योग्य बातोंकी उलझनमें पड़कर अपना और परका अहित भी कर बैठता है। पर आत्मनिरीक्षणकी प्रवृत्ति द्वारा अपने दोष तो दूर किये ही जा सकते हैं तथा अपने कर्त्तव्य और अधिकारोंका यथार्थतः परिज्ञान भी प्राप्त किया जा सकता है।

प्रायः देखा जाता है कि हम दूसरोंकी आलोचना करते हैं और इस आलोचना द्वारा ही अपने कर्त्तव्यकी समाप्ति समझ लेते हैं। जिस बुराईके लिए हम दूसरोंको कोसते हैं, हममें भी वही बुराई वर्तमान है, किन्तु हम उसकी ओर दृष्टिपात भी नहीं करते। अतः समाज-धर्मका आरोहण करनेकी पहली सीढ़ी आत्म-निरीक्षण है। इसके द्वारा व्यक्ति घृणा, द्वेष, ईर्ष्या, मान, मात्सर्य प्रभृति दुर्गुणोंसे अपनी रक्षा करता है और समाजको प्रेमके धरातल पर लाकर उसे सुखी और शान्त बनाता है।

आत्मनिरीक्षणके अभावमें व्यक्तिको अपने दोषोंका परिज्ञान नहीं होता

और फलस्वरूप वह इन दोषोंको समाजमें भी आरोपित करता है, जिससे समाजमें भेदभाव उत्पन्न हो जाते हैं और शनैः शनैः समाज विघटित होने लगता है।

समाजधर्मकी पहली सीढ़ी : विचारसमन्वय—उदारदृष्टि

"मुण्डे-मुण्डे मतिर्भिन्ना" लोकोक्तिके अनुसार विश्वके मानवोंमें विचार-भिन्नताका रहना स्वाभाविक है, क्योंकि सबकी विचारशैली एक नहीं है। विचार-भिन्नता ही मतभेद और विद्वेषोंकी जननी है। वैयक्तिक और सामाजिक जीवनमें अशान्तिका प्रमुख कारण विचारोंमें भेद होना ही है। विचार-भेदके कारण विद्वेष और घृणा भी उत्पन्न होती है। इस विचार-भिन्नताका शमन उदारदृष्टि द्वारा ही किया जा सकता है। उदारदृष्टिका अन्य नाम स्याद्वाद है। यह दृष्टि ही आपसी मतभेद एवं पक्षपातपूर्ण नीतिका उन्मूलन कर अनेकतामें एकता, विचारोंमें उदारता एवं सहिष्णुता उत्पन्न करती है। यह विचार और कथनको संकुचित, हठ एवं पक्षपातपूर्ण न बनाकर उदार, निष्पक्ष और विशाल बनाती है। वास्तवमें विचारोंकी उदारता ही समाजमें शान्ति, सुख और प्रेमकी स्थापना कर सकती है।

आज एक व्यक्ति दूसरे व्यक्तिसे, एक वर्ग दूसरे वर्गसे और एक जाति दूसरी जातिसे इसीलिए संघर्षरत है कि उससे भिन्न व्यक्ति, वर्ग और जातिके विचार उनके विचारोंके प्रतिकूल हैं। साम्प्रदायिकता और जातिवादके नशेमें मस्त होकर निर्मम हत्याएँ की जा रही हैं और अपनेसे विपरीत विचारवालोंके ऊपर असंख्य अत्याचार किये जा रहे हैं। साम्प्रदायिकताके नामपर परपस्परमें संघर्ष और क्लेश हो रहे हैं। धर्मकी संकीर्णताके कारण सहस्रों मूक व्यक्तियोंको तलवारके घाट उतारा जा रहा है। जलते हुए अग्निकुण्डोंमें जीवित पशुओंको डालकर स्वर्गका प्रमाणपत्र प्राप्त किया जा रहा है। इस प्रकार विचार-भिन्नताका भूत मानवको राक्षस बनाये हुए है।

उदारताका सिद्धान्त कहता है कि विचार-भिन्नता स्वाभाविक है क्योंकि प्रत्येक व्यक्तिके विचार अपनी परिस्थिति, समझ एवं आवश्यकताके अनुसार बनते हैं। अतः विचारोंमें एकत्व होना असम्भव है। प्रत्येक व्यक्तिका ज्ञान एवं उसके साधन सीमित हैं। अतः एकसमान विचारोंका होना स्वभाव-विरुद्ध है।

अभिप्राय यह है कि वस्तुमें अनेक गुण और पर्याय—अवस्थाएँ हैं। प्रत्येक व्यक्ति अपनी शक्ति एवं योग्यताके अनुसार वस्तुकी अनेक अवस्थाओंमेंसे

किसी एक अवस्थाको देखता और विचार करता है। अतः उसका ऐकांगिक ज्ञान उसीकी दृष्टि तक सत्य है। अन्य व्यक्ति उसी वस्तुका अवलोकन दूसरे पहलूसे करता है। अतः उसका ज्ञान भी किसी दृष्टिसे ठीक है। अपनी-अपनी दृष्टिसे वस्तुका विवेचन, परीक्षण और कथन करनेमें सभीको स्वतन्त्रता है; सभी-का ज्ञान वस्तुके एक गुण या अवस्थाको जाननेके कारण अंशात्मक है, पूर्ण नहीं। जैसे एक ही व्यक्ति किसीका पिता, किसीका भाई, किसीका पुत्र और किसीका भागनेय एक समयमें रह सकता है और उसके भ्रातृत्व, पितृत्व, पुत्रत्व एवं भागनेयत्वमें कोई बाधा नहीं आती। उसी प्रकार संसारके प्रत्येक पदार्थमें एक ही कालमें विभिन्न दृष्टियोंसे अनेक धर्म रहते हैं। अतएव उदारनीति द्वारा संसारके प्रत्येक प्राणीको अपना मित्र समझकर समाजके सभी सदस्योंके साथ उदारता और प्रेमका व्यवहार करना अपेक्षित है। मतभेदमात्रसे किसीको शत्रु समझ लेना मूर्खताके सिवाय और कुछ नहीं। प्रत्येक बातपर उदारता और निष्पक्ष दृष्टिसे विचार करना ही समाजमें शान्ति स्थापित करनेका प्रमुख साधन है। यदि कोई व्यक्ति भ्रम या अज्ञानतावश किसी भी प्रकारकी भूल कर बैठता है, तो उस भूलका परिमार्जन प्रेमपूर्वक समझाकर करना चाहिए।

अहंवादी प्रकृति, जिसने वर्तमानमें व्यक्तिके जीवनमें बड़प्पनकी भावना-की पराकाष्ठा कर दी है, उदारनीतिसे ही दूर की जासकती है। व्यक्ति अपनेको बड़ा और अन्यको छोटा तभी तक समझता है जबतक उसे वस्तुस्वरूपका यथार्थ बोध नहीं होता। अपनी ही बातें सत्य और अन्यकी बातें झूठी तभी तक प्रतीत होती हैं जबतक अनेक गुणपर्यायवाली वस्तुका यथार्थ बोध नहीं होता। उदारता समाजके समस्त झगड़ोंको शान्त करनेके लिए अमोघ अस्त्र है। विधि, निषेध, उभयात्मक और अवक्तव्यरूप पदार्थोंका यथार्थ परिज्ञान संघर्ष और द्वन्द्वोंका अन्त करनेमें समर्थ है। यद्यपि विचार-समन्वय तर्कके क्षेत्रमें विशेष महत्त्व रखता है, तो भी लोकव्यवहारमें इसकी उपयोगिता कम नहीं है। समाजका कोई भी व्यावहारिक कार्य विचारोंकी उदारताके बिना चलता ही नहीं है। जो व्यक्ति उदार है, वही तो अन्य व्यक्तियोंके साथ मिल-जुल सकता है। यहाँ यह ध्यातव्य है कि सत्य सापेक्ष होता है, निरपेक्ष नहीं। हमें वस्तुओंके अनन्त रूपों या पर्यायोंमेंसे एक कालमें उसके एक ही रूप या पर्याय-का ज्ञान प्राप्त होता है और कथन भी किसी एक रूप या पार्यायका ही किया जाता है। अतएव कथन करते समय अपने दृष्टिकोणके सत्य होनेपर भी उस कथनको पूर्ण सत्य नहीं माना जा सकता, क्योंकि उसके अतिरिक्त भी सत्य अवशिष्ट रहता है। उन्हें असत्य तो कहा ही नहीं जा सकता, क्योंकि वे वस्तुका

ही वर्णन करते हैं। अतः उन्हें सत्यांश कहा जा सकता है। अतएव एक व्यक्ति जो कुछ कहता है वह भी सत्यांश है, दूसरा जो कहता है वह भी सत्यांश है। तीसरा कहता है वह भी सत्यांश है। इस प्रकार अगणित व्यक्तियोंके कथन सत्यांश ही ठहरते हैं। यदि इन सब सत्यांशोंको मिला दिया जाय तो पूर्ण सत्य बन सकता है। इस पूर्ण सत्यको प्राप्त करनेके लिए हमें उन सत्यांशों अर्थात् दूसरोंके दृष्टिकोणोंके प्रति उदार, सहिष्णु और समन्वयकारी बनना होगा और यही सत्यका आग्रह है। जबतक हम उन सत्यांशों—दूसरोंके दृष्टिकोणोंके प्रति अनुदार-असहिष्णु बने रहेंगे, समन्वय या सामञ्जस्यकी प्रवृत्ति हमारी नहीं होगी, हम सत्यको नहीं प्राप्त कर सकेंगे और न हमारा व्यवहार ही समाजके लिए मंगलमय होगा। विराट् सत्य असंख्य सत्यांशोंको लेकर बना है। उन सत्यांशोंकी उपेक्षा करनेसे हम कभी भी उस विराट् सत्यको नहीं प्राप्त कर सकेंगे। आपेक्षिक सत्यको कहने और दूसरोंके दृष्टिकोणमें सत्य ढूँढ़ने एवं उनके समन्वय या सामंजस्य करनेकी पद्धति या शैली उदारता है। यह उदारता समाजको सुगठित, सुव्यवस्थित और समृद्ध बनानेके लिए आवश्यक है।

उदारता सत्यको ढूँढने तथा अपनेसे भिन्न दृष्टिकोणोंके साथ समझौता करनेकी प्रक्रिया है। इस प्रक्रिया द्वारा मनोभूमि विस्तृत होती है और व्यक्ति सत्यांशको उपलब्ध करता है। उदार दृष्टिकोण या समन्वयवृत्ति ही सत्यकी उपलब्धिके लिए एकमात्र मार्ग है। आग्रह, हठ, दम्भ और संघर्षोंका अन्त इसीके द्वारा सम्भव है। हठ, दुराग्रह और पक्षपात ऐसे दुर्गुण हैं जो एक व्यक्तिको दूसरे व्यक्तिसे समझौता नहीं करने देते। जब तक विचारोंमें उदारता नहीं, अपने दृष्टिकोणको यथार्थरूपमें समझनेकी शक्ति नहीं; तब तक पूर्वाग्रह लगे ही रहते हैं। उदारता यह समझनेके लिए प्रेरित करती है कि किसी भी पदार्थमें अनेक रूप और गुण हैं। हम इन अनेक रूप और गुणोंमेंसे कुछको ही जान पाते हैं। अतः हमारा ज्ञान एक विशेष दृष्टि तक ही सीमित है। जब तक हम दूसरोंके विचारोंका स्वागत नहीं करेंगे, उनमें निहित सत्यको नहीं पहचानेंगे, तबतक हमारी ऐकान्तिक हठ कैसे दूर हो सकेगी। उदारता या विचारसमन्वय वैयक्तिक और सामाजिक गुत्थियोंको सुलझाकर समाजमें एकता और वैचारिक अहिंसाकी प्रतिष्ठा करता है।

समाजधर्मकी दूसरी सीढ़ी : विश्वप्रेम और नियन्त्रण

समस्त प्राणियोंकी उन्नतिके अवसरोंमें समानता होना, समाजधर्मकी दूसरी सीढ़ी है और इस समानताप्राप्तिका साधन विश्वप्रेम या आत्मनियन्त्रण है। जिस व्यक्तिके जीवनमें आत्म-नियन्त्रण समाविष्ट हो गया है वह समाजके

सभी सदस्योंके साथ भाईचारेका व्यवहार करता है। उनके दुःख-दर्दमें सहायक होता है। उन्हें ठीक अपने समान समझता है। हीनाधिककी भावनाका त्याग-कर अन्य अन्य व्यक्तियोंकी सुख-सुविधाओंका भी ध्यान रखता है। पाखण्ड और धोखेबाजोकी भावनाओंका अन्त भी विश्वप्रेम द्वारा सम्भव है। शोषित और शोषकोंका जो संघर्ष चल रहा है, उसका अन्त विश्वप्रेम और आत्म-नियन्त्रणके बिना सम्भव नहीं। विश्वप्रेमकी पवित्र अग्निमें दम्भ, पाखण्ड, हिंसा, ऊँच-नीचकी भावना, अभिमान, स्वार्थबुद्धि, छल-कपट प्रभृति समस्त भावनाएँ जलकर छार बन जाती हैं—और कर्त्तव्य, अहिंसा, त्याग और सेवाकी भावनाएँ उत्पन्न हो जाती हैं।

यह एक ऐसा सिद्धान्त है जो व्यक्ति और समाजके बीच अधिकार और कर्त्तव्यकी शृङ्खला स्थापित कर सकता है। समाज एवं व्यक्तिके उचित संबंधोंका संतुलन इसीके द्वारा स्थापित हो सकता है। व्यक्ति सामाजिक हित-की रक्षाके लिए अपने स्वार्थका त्यागकर सहयोगकी भावनाका प्रयोग भी प्रेमसे ही कर सकता है। आज व्यक्ति और समाजके बीचकी खाई संघर्ष और शोषणके कारण गहरी हो गई है। इस खाईको इच्छाओंके नियन्त्रण और प्रेमा-चरण द्वारा ही भरा जा सकता है। निजी स्वार्थसाधनके कारण अगणित व्यक्ति भूखसे तड़प रहे हैं और असंख्यात बिना वस्त्रके अर्धनग्न घूम रहे हैं। यदि भोगोपभोगकी इच्छाओंके नियन्त्रणके साथ आवश्यकताएँ भी सीमित हो जायें और विश्वप्रेमके जादूका प्रयोग किया जाय, तो यह स्थिति तत्काल समाप्त हो सकती है।

मानवका जीना अधिकार है, किन्तु दूसरेको जीवित रहने देना उसका कर्त्तव्य है। अतः अपने अधिकारोंकी माँग करनेवालेको कर्त्तव्यपालनकी ओर सजग रहना अत्यावश्यक है। समाजमें व्याप्त विषमता, अशान्ति और शोषणका मूल कारण कर्त्तव्योंकी उपेक्षा है।

समाजधर्मकी दूसरी सीढ़ीके लिए सहायक

अहिंसाके आधारपर सहयोग और सहकारिताकी भावना स्थापित करनेसे समाजधर्मकी दूसरी सीढ़ीको बल प्राप्त होता है। समाजका आर्थिक एवं राज-नीतिक ढाँचा लोकहितकी भावनापर आश्रित हो तथा उसमें उन्नति और विकासके लिए सभीको समान अवसर दिये जायें। अहिंसाके आधारपर निर्मित समाजमें शोषण और संघर्ष रह नहीं सकते। अहिंसा ही एक ऐसा शस्त्र है जिसके द्वारा बिना एक बूँन्द रक्त बहाये वर्गहीन समाजकी स्थापना की जा

सकती है। यद्यपि कुछ लोग अहिंसाके द्वारा निर्मित समाजको आदर्श या कल्पनाकी वस्तु मानते हैं, पर यथार्थतः यह समाज काल्पनिक नहीं, प्रत्युत व्यावहारिक होगा। यतः अहिंसाका लक्ष्य यही है कि वर्गभेद या जातिभेदसे ऊपर उठकर समाजका प्रत्येक सदस्य अन्यके साथ शिष्टता और मानवताका व्यवहार करे। छलकपट या इनसे होनेवाली छीनाझपटी अहिंसाके द्वारा ही दूर की जा सकती है। यह सुनिश्चित है कि बलप्रयोग या हिंसाके आधारपर मानवीय संबंधोंकी दीवार खड़ी नहीं की जा सकती है। इसके लिए सहानुभूति, प्रेम, सौहार्द, त्याग, सेवा एवं दया आदि अहिंसक भावनाओंको आवश्यकता है। वस्तुतः अहिंसामें ऐसी अद्भुत शक्ति है जो आर्थिक, सामाजिक और राज-नीतिक समस्याओंको सरलतापूर्वक सुलझा सकतो है। समाजधर्मकी दूसरी सीढ़ीपर चढ़नेके लिए लोकहितकी भावना सहायक कारण है।

समाजको जर्जरित करनेवाली काले-गोरे, ऊँच-नीच और छुआ-छूतकी भावनाको प्रश्रय देना समाजधर्मकी उपेक्षा करना है। जन्मसे न कोई ऊँचा होता है और न कोई नीचा। जन्मना जातिव्यवस्था स्वीकृत नहीं की जा सकती। मनुष्य जैसा आचरण करता है, उसीके अनुकूल उसकी जाति हो जाती है। दुराचार करनेवाले चोर और डकैत जात्या ब्राह्मण होनेपर भो शूद्रसे अधिक नहीं हैं। जिन व्यक्तियोंके हृदयमें करुणा, दया, ममताका अजस्र प्रवाह समाविष्ट है, ऐसे व्यक्ति समाजको उन्नत बनाते हैं, जाति-अहंकारका विष मनुष्यको अर्धमूच्छित किये हुए हैं। अतः इस विषका त्याग अत्यावश्यक है।

जिस व्यक्तिका नैतिक स्तर जितना हो समाजके अनुकूल होगा वह उतना ही समाजमें उन्नत माना जायगा, किन्तु स्थान उसका भी सामाजिक सदस्य होनेके नाते वही होगा, जो अन्य सदस्योंका है। दलितवर्गके शोषण, जाति और धर्मवादके दुरभिमानको महत्त्व देना मानवताके लिए अभिशाप है। जो समाजको सुगठित और सुव्यवस्थित बनानेके इच्छुक हैं, उन्हें आत्म-नियन्त्रण कर जातिवाद, धर्मवाद, वर्गवादको प्रश्रय नहीं देना चाहिए।

समाजधर्मकी तीसरी सीढ़ी : आर्थिक सन्तुलन

समाजकी सारी व्यवस्थाएँ अर्थमूलक हैं और इस अर्थके लिए ही संघर्ष हो रहा है। व्यक्ति, समाज या राष्ट्रके पास जितनी सम्पत्ति बढ़ जाती है वह व्यक्ति, समाज या राष्ट्र उतना ही असन्तोषका अनुभव करता रहता है। अतः धनाभावजन्य जितनी अशान्ति है, उससे भी कहीं अधिक धनके सद्भावसे है।

धनके असमान वितरणको अशान्तिका सबल कारण माना जाता है, पर यह असमान वितरणको समस्या विश्वकी सम्पत्तिको बाँट देनेसे नहीं सुलझ

सकती है। इसके समाधानके कारण अपरिग्रह और संयमवाद हैं। ये दोनों संविधान समाजमेंसे शोषित और शोषक वर्गकी समाप्ति कर आर्थिक दृष्टिसे समाजको उन्नत स्तरपर लाते हैं। जो व्यक्ति समस्त समाजके स्वार्थको ध्यानमें रखकर अपनी प्रवृत्ति करता है वह समाजकी आर्थिक विषमताको दूर करनेमें सहायक होता है। यदि विचारकर देखा जाय तो परिग्रहपरिमाण और भोगोपभोगपरिमाण ऐसे नियम हैं, जिनसे समाजकी आर्थिक समस्या सुलझ सकती है। इसी कारण समाजधर्मकी तीसरी सीढ़ी आर्थिक सन्तुलनको माना गया है। स्वार्थ और भोगलिप्साका त्याग इस तीसरी सीढ़ीपर चढ़नेका आधार है।

परिग्रहपरिमाण : आर्थिक संयमन

अपने योग-क्षेमके लायक भरण-पोषणकी वस्तुओंको ग्रहण करना तथा परिश्रम कर जीवन यापन करना, अन्याय और अत्याचार द्वारा धनका संचय न करना परिग्रहपरिमाण या व्यावहारिक अपरिग्रह है। धन, धान्य, रुपया-पैसा, सोना-चाँदी, स्त्री-पुत्र प्रभृति पदार्थोंमें 'ये मेरे हैं', इस प्रकारके ममत्वपरिणामको परिग्रह कहते हैं। इस ममत्व या लालसाको घटाकर उन वस्तुओंके संग्रहको कम करना परिग्रहपरिमाण है। बाह्यवस्तु—रुपये-पैसोंकी अपेक्षा अन्तरंग तृष्णा या लालसाको विशेष महत्त्व प्राप्त है, क्योंकि तृष्णाके रहनेसे धनिक भी आकुल रहता है। वस्तुतः धन आकुलताका कारण नहीं है, आकुलताका कारण है तृष्णा। संचयवृत्तिके रहनेपर व्यक्ति न्याय-अन्याय एवं युक्त-अयुक्तका विचार नहीं करता।

इस समय संसारमें धनसंचयके हेतु व्यर्थ ही इतनी अधिक हाय-हाय मची हुई है कि संतोष और शान्ति नाममात्रको भी नहीं। विश्वके समझदार विशेषज्ञोंने धनसम्पत्तिके बटवारेके लिए अनेक नियम बनाये हैं, पर उनका पालन आजतक नहीं हो सका। अनियन्त्रित इच्छाओंकी तृप्ति विश्वकी समस्त सम्पत्तिके मिल जानेपर भी नही हो सकती है। आशारूपी गड्ढेको भरनेमें संसारका सारा वैभव अणुके समान है। अतः इच्छाओंके नियन्त्रणके लिए परिग्रहपरिमाणके साथ भोगोपभोगपरिमाणका विधान भी आवश्यक है। समय, परिस्थिति और वातावरणके अनुसार वस्त्र, आभरण, भोजन, ताम्बूल आदि भोगोपभोगकी वस्तुओंके संबंधमें भी उचित नियम कर लेना आवश्यक है।

उक्त दोनों व्रतों या नियमोंके समन्वयका अभिप्राय समस्त मानव-समाजकी आर्थिक व्यवस्थाको उन्नत बनाना है। चन्द व्यक्तियोंको इस बातका कोई अधिकार नहीं कि वे शोषण कर आर्थिक दृष्टिसे समाजमें विषमता उत्पन्न करें।

इतना सुनिश्चित है कि समस्त मनुष्योंमें उन्नति करनेकी शक्ति एक-सी न होनेके कारण समाजमें आर्थिक दृष्टिसे समानता स्थापित होना कठिन है, तो भी समस्त मानव-समाजको लौकिक उन्नतिके समान अवसर एवं अपनी-अपनी शक्तिके अनुसार स्वतन्त्रताका मिलना आवश्यक है, क्योंकि परिग्रहपरिमाण और भोगोपभोगपरिमाणका एकमात्र लक्ष्य समाजकी आर्थिक विषमताको दूर कर सुखी बनाना है। यह पूँजीवादका विरोधी सिद्धान्त है और एक स्थान पर धन संचित होनेकी वृत्तिका निरोध करता है। परिग्रहपरिमाणका क्षेत्र व्यक्तितक ही सीमित नहीं है, प्रत्युत समाज, देश, राष्ट्र एवं विश्वके लिए भी उसका उपयोग आवश्यक है। संयमवाद व्यक्तिकी अनियन्त्रित इच्छाओंको नियन्त्रित करता है। यह हिंसा झूठ, चोरी, दुराचार आदिको रोकता है।

परिग्रहके दो भेद हैं—बाह्यपरिग्रह और अन्तरंगपरिग्रह। बाह्यपरिग्रहमें धन, भूमि, अन्न, वस्त्र आदि वस्तुएँ परिगणित हैं। इनके संचयसे समाजको आर्थिक विषमताजन्य कष्ट भोगना पड़ता है। अतः श्रमार्जित योग-क्षेमके योग्य धन ग्रहण करना चाहिये। न्यायपूर्वक भरण-पोषणकी वस्तुओंके ग्रहण करनेसे धन संचित नहीं हो पाता। अतएव समाजको समानरूपसे सुखी, समृद्ध और सुगठित बनानेके हेतु धनका संचय न करना आवश्यक है। यदि समाजका प्रत्येक सदस्य श्रमपूर्वक आजीविकाका अर्जन करे, अन्याय और बेईमानीका त्याग कर दे, तो समाजके अन्य सदस्योंको भी आवश्यकताकी वस्तुओंकी कभी कमी नहीं हो सकती है।

आभ्यन्तरपरिग्रहमें काम, क्रोध, मोह, लोभ आदि भावनाएँ शामिल हैं। वस्तुतः संचयशील बुद्धि—तृष्णा अर्थात् असंतोष ही अन्तरंगपरिग्रह है। यदि बाह्यपरिग्रह छोड़ भी दिया जाय, और ममत्वबुद्धि बनी रहे, तो समाजकी छीना-झपटी दूर नहीं हो सकती। धनके समान वितरण होनेपर भी, जो बुद्धिमान हैं, वे अपनी योग्यतासे धन एकत्र कर ही लेंगे और समाजमें विषमता बनी ही रह जायगी। इसी कारण लोभ, माया, क्रोध आदि मानवीय विकारोंके त्यागनेका महत्त्व है। अपरिग्रह वह सिद्धान्त है, जो पूँजी और जीवनोपयोगी अन्य आवश्यक वस्तुओंके अनुचित संग्रहको रोक कर शोषणको बन्द करता है और समाजमें आर्थिक समानताका प्रचार करता है। अतएव संचयशील वृत्तिका नियन्त्रण परम आवश्यक है। यह वृत्ति ही पूंजीवादका मूल है।

तीसरी सीढ़ीका पोषक : संयमवाद

संसारमें सम्पत्ति एवं भोगपभोगकी सामग्री कम है। भोगनेवाले अधिक हैं और तृष्णा इससे भी ज्यादा है। इसी कारण प्राणियोंमें मत्स्यन्याय चलता है,

छीना-झपटी चलती है और चलता है संघर्ष। फलतः नाना प्रकारके अत्याचार और अन्याय होते हैं, जिनसे अहर्निश अशान्ति बढ़ती है। परस्परमें ईर्ष्या-द्वेष-की मात्रा और भी अधिक बढ़ जाती है, जिससे एक व्यक्ति दूसरे व्यक्तिको आर्थिक उन्नतिके अवसर ही नहीं मिलने देता। परिणाम यह होता है कि संघर्ष और अशान्तिकी शाखाएँ बढ़कर विषमतारूपी हलाहलको उत्पन्न करती हैं।

इस विषकी एकमात्र औषध संयमवाद है। यदि प्रत्येक व्यक्ति अपनी इच्छाओं, कषायों और वासनाओं पर नियन्त्रण रखकर छीना-झपटीको दूर कर दे, तो समाजसे आर्थिक विषमता अवश्य दूर हो जाय। और सभी सदस्य शारीरिक आवश्यकताओंकी पूर्ति निराकुलरूपसे कर सकते हैं। यह अविस्मरणीय है कि आर्थिक समस्याका समाधान नैतिकताके विना सम्भव नहीं है। नैतिक मर्यादाओंका पालन ही आर्थिक साधनोंमें समीकरण स्थापित कर सकता है। जो केवल भौतिकवादका आश्रय लेकर जीवनकी समस्याओंको सुलझाना चाहते हैं, वे अन्धकारमें हैं। आध्यात्मिकता और नैतिकताके अभावमें आर्थिक समस्याएँ सुलझ नहीं सकती हैं।

संयमके भेद और उनका विश्लेषण—संयमके दो भेद हैं—(१) इन्द्रियसंयम और (२) प्राणिसंयम। संयमका पालनेवाला अपने जीवनके निर्वाहके हेतु कम-से-कम सामग्रीका उपयोग करता है, जिससे अवशिष्ट सामग्री अन्य लोगोंके काम आती है और संघर्ष कम होता है। विषमता दूर होती है। यदि एक मनुष्य अधिक सामग्रीका उपभोग करे, तो दूसरोंके लिये सामग्री कम पड़ेगी तथा शोषण-का आरम्भ यहींसे हो जायगा। समाजमें यदि वस्तुओंका मनमाना उपभोग लोग करते रहें, संयमका अंकुश अपने ऊपर न रखें, तो वर्ग-संघर्ष चलता ही रहेगा। अतएव आर्थिक वैषम्यको दूर करनेके लिये इच्छाओं और लालसाओंको नियंत्रित करना परम आवश्यक है तभी समाज सुखी और समृद्धिशाली वन सकेगा।

अन्य प्राणियोंको किंचित् भी दुःख न देना प्राणिसंयम है। अर्थात् विश्वके समस्त प्राणियोंकी सुख-सुविधाओंका पूरा-पूरा ध्यान रखकर अपनी प्रवृत्ति करना, समाजके प्रति अपने कर्त्तव्यको सुचारूरूपसे सम्पादित करना एवं व्यक्तिगत स्वार्थभावनाको त्याग कर समस्त प्राणियोंके कल्याणकी भावनासे अपने प्रत्येक कार्यको करना प्राणिसंयम है। इतना ध्रुव सत्य है कि जब-तक समर्थ लोग संयम पालन नहीं करेंगे, तब तक निर्बलोंको पेट भर भोजन नहीं मिल सकेगा और न समाजका रहन-सहन ही ऊँचा हो सकेगा। आत्मशुद्धिके साथ सामाजिक, आर्थिक व्यवस्थाको सुदृढ़ करना और शासित एवं शासक या शोषित एवं शोषक इन वर्गभेदोंको समाप्त करना भी प्राणिसंयमका लक्ष्य है।

उत्पादन और वितरणजन्य आर्थिक विषमताका सन्तुलन भी अपरिग्रह-वाद और संयमवादद्वारा दूर किया जा सकता है। आज उत्पादनके ऊपर एक जाति, समाज या व्यक्तिका एकाधिकार होनेसे उसे कच्चे मालका संचय करना पड़ता है तथा तैयार किये गये पक्के मालको खपानेके लिए विश्वके किसी भी कोनेके बाजारपर वह अपना एकाधिकार स्थापित कर शोषण करता है। इस शोषणसे आज समाज कराह रहा है। समाजका हर व्यक्ति त्रस्त है। किसीको भी शान्ति नहीं। स्वार्थपरताने समाजके घटक व्यक्तियोंको इतना संकीर्ण बना दिया है, जिससे वे अपने ही आनन्दमें मग्न हैं। अतएव इच्छाओंको नियंत्रित कर जीवनमें संयमका आचरण करना परम आवश्यक है।

समाजधर्मकी चौथी सीढ़ी : अहिंसाकी विराट् भावना

समाजमें संघर्षका होना स्वाभाविक है, पर इस संघर्षको कैसे दूर किया जाय, यह अत्यन्त विचारणीय है। जिस प्रकार पशुवर्ग अपने संघर्षका सामना पशुबलसे करता है, क्या उसी प्रकार मनुष्य भी शक्तिके प्रयोग द्वारा संघर्षका प्रतिकार करे ? यदि मनुष्य भी पशुबलका प्रयोग करने लगे, तो फिर उसकी मनुष्यता क्या रहेगी ? अतः मनुष्यको उचित है कि वह विवेक और शिष्टताके साथ मानवोचित विधिका प्रयोग करे। वस्तुतः अत्याचारीकी इच्छाके विरुद्ध अपने सारे आत्मबलको लगा देना ही संघर्षका अन्त करना है, यही अहिंसा है। अहिंसा ही अन्याय और अत्याचारसे दीन-दुर्बलोंको बचा सकती है। यही विश्वके लिये सुख-शान्ति प्रदायक है। यही संसारका कल्याण करने वाली है, यही मानवका सच्चा धर्म है और यही है मानवताकी सच्ची कसौटी।

मानवकी यह विकारजन्य प्रवृत्ति है कि वह हिंसाका उत्तर हिंसासे झट दे देता है। यह बलवान-बलवानकी लड़ाई है। समाजमें सभी तो बलवान नहीं होते। अतः कमजोरोंकी रक्षा और उनके अधिकारोंकी प्राप्ति अहिंसाद्वारा ही सम्भव है। यह निर्बल, सबल, धनी, निर्धन, राक्षस और मनुष्य सभीका सहारा है। यह वह साधन है, जिसके प्रयोग द्वारा हिंसाके समस्त उपकरण व्यर्थ सिद्ध हो जाते हैं। पशुबलको पराजित कर आत्मबल अपना नया प्रकाश सर्वसाधारण-को प्रदान करता है।

इसमें सन्देह नहीं कि हिंसा विश्वमें पूर्ण शान्ति स्थापित करनेमें सर्वथा असमर्थ है। प्रत्येक प्राणीका यह जन्मसिद्ध अधिकार है कि वह आरामसे खाये और जीवन यापन करे। स्वयं 'जीओ और दूसरोंको जीने दो', यह सिद्धान्त समाजके लिये सर्वदा उपयोगी है। पर आजका मनुष्य स्वार्थ और अधिकारके वशीभूत हो वह स्वयं तो जीवित रहना चाहता है किन्तु दूसरोंके

जीवनकी रंचमात्र भी परवाह नहीं करता है। आजका व्यक्ति चाहता है कि मैं अच्छे-से-अच्छा भोजन करूँ, अच्छी सवारी मुझे मिले। रहनेके लिये अच्छा भव्य प्रासाद हो तथा मेरी आलमारीमें सोने-चाँदीका ढेर लगा रहे, चाहे अन्य लोगोंके लिये खानेको सूखी रोटियाँ भी न मिलें, तन ढकनेको फटे-चिथड़े भी न हों। मेरे भोग-विलासके निमित्त सैकड़ोंके प्राण जायें, तो मुझे क्या? इसप्रकार हम देखते हैं कि ये भावनाएँ केवल व्यक्तिकी ही नहीं, किन्तु समस्त समाजकी हैं। यही कारण है कि समाजका प्रत्येक सदस्य दुःखी है।

अविश्वासकी तीव्र भावना अन्य व्यक्तियोंका गला घोंटनेके लिये प्रेरित किये हुए है। अधिकारापहरण और कर्त्तव्य-अवहेलना समाजमें सर्वत्र व्याप्त हैं। निरकुंश और उच्छृंखल भोगवृत्ति मानवकी बुद्धिका अपहरण कर उसका पशुताकी ओर प्रत्यावर्त्तन कर रही है। सुखकी कल्पना स्वार्थ-साधन और वासना पूर्तिमें परिसीमित हो समाजको अशान्त बनाये हुए है। हिंसा-प्रतिहिंसा व्यक्ति और राष्ट्रके जीवनमें अनिवार्य-सी हो गयी है। यही कारण है कि समाजका प्रत्येक सदस्य आज दुःखी है।

मनुष्यमें दो प्रकारका बल होता है—(१) आध्यात्मिक और (२) शारीरिक। अहिंसा मनुष्यको आध्यात्मिक बल प्रदान करती है। धैर्य, क्षमा, संयम, तप, दया, विनय प्रभृति आचरण अहिंसाके रूप हैं। कष्ट या विपत्तिके आ जाने पर उसे समभावसे सहना, हाय हाय नहीं करना, चित्तवृत्तियोंको संयमित करना एवं सब प्रकारसे कष्टसहिष्णु बनना अहिंसा है और है यह आत्मबल। यह वह शक्ति है, जिसके प्रकट हो जाने पर व्यक्ति और समाज कष्टोंके पहाड़ोंको भी चूर-चूर कर डालते हैं। क्षमाशील बन जाने पर विरोध या प्रतिशोधकी भावना समाजमें रह नहीं पाती। अतएव अहिंसक आचरणका अर्थ है मनसा, वाचा और कर्मणा प्राणीमात्रमें सद्भावना और प्रेम रखना। अहिंसामें त्याग है, भोग नहीं। जहाँ राग-द्वेष हैं, वहाँ हिंसा अवश्य है। अतः समाजधर्मकी चौथी सीढ़ी पर चढ़नेके लिये आत्मशोधन या अहिंसक भावना अत्यावश्यक है। व्यक्तिका अहिंसक आचरण ही समाजको निर्भय, वीर एवं सहिष्णु बनाता है।

समाजधर्मकी पांचवीं सीढ़ी : सत्य या कूटनीतित्याग

कूटनीति और धोखा ये दोनों ही समाजमें अशान्ति-उत्पादक हैं। सत्यमें वह शक्ति है, जिससे कूटनीतिजन्य अशान्तिकी ज्वाला शान्त हो सकती है। दूसरेको कष्ट पहुँचानेके उद्देश्यसे कटु वचन बोलना या अप्रिय भाषण करना मिथ्या भाषणके अन्तर्गत है।

यह स्मरणीय है कि सत्ता और धोखा ये दोनों ही समाजके अकल्याणकारक हैं। इन दोनोंका जन्म झूठसे होता है। झूठा व्यक्ति आत्मवंचना तो करता ही है, किन्तु समाजको भी जर्जरित कर देता है। प्रायः देखा जाता है कि मिथ्या भाषणका आरम्भ स्वार्थकी भावनासे होता है। सर्वात्महितवादकी भावना असत्यभाषणमें बाधक हैं। स्वच्छन्दता, घृणा, प्रतिशोध जैसी भावनाएँ असत्य-भाषणसे ही उत्पन्न होती हैं, क्योंकि मानव-समाजका समस्त व्यवहार वचनोंसे चलता है। वचनोंमें दोष आ जानेसे समाजकी अपार क्षति होती है। लोकमें प्रसिद्धि भी है कि इसी जिह्वामें विष और अमृत दोनों हैं। समाजको उन्नत स्तर पर लेजानेवाले अहिंसक वचन अमृत और समाजको हानि पहुँचानेवाले वचन विष हैं। अश्लील भाषण करना, निन्दा या चुगली करना, कठोर वचन बोलना और हँसी-मजाक करना समाज-हितमें बाधक हैं। छेदन, भेदन, मारण, शोषण, अपहरण ओर ताड़न सम्बन्धीं वचन भी हिंसक होनेके कारण समाजकी शान्तिमें बाधक हैं। अविश्वास, भयकारक, खेदजनक, सन्तापकारक अप्रिय वचन भी समाजको विघटित करते हैं। अतएव समाजको सुगठित, सम्बद्ध और प्रिय व्यवहार करनेवाला बनानेके हेतु सत्य वचन अत्यावश्यक है। भोगसामग्रीकी बहुलताके हेतु जो वचनोंका असंयमित व्यवहार किया जाता है, वह भी अधिकार और कर्त्तव्यके सन्तुलनका विघातक है। समाजमें सच्ची शान्ति, सत्य व्यवहार द्वारा ही उत्पन्न की जा सकती है और इसीप्रकारका व्यवहार जीवनमें ईमानदारी और सच्चाई उत्पन्न कर सकता है। साधारण परिस्थितियोंके बीच व्यक्तिका विकास अहिंसक वचनव्यवहार द्वारा सम्भव होता है। यह समस्त मनुष्यसमाज एक बृहत् परिवार है और इस बृहत् परिवारका सन्तुलन साधन और साध्यके सामंजस्य पर ही प्रतिष्ठित है। जो नैतिकता, अहिंसा और सत्यको जीवन में अपनाता है, वह समाजको सुखी और शान्त बनाता है। आत्मविकासके साथ समाजविकासका पूरा सम्बन्ध जुड़ा हुआ है। मिथ्या मान्यताएँ, धर्मके संकल्प-विकल्प, क्रिया-काण्ड एवं धार्मिक सम्प्रदायोंके विभिन्न प्रकार आदि सभी सामाजिक जीवनकी गतिविधिमें बाधक हैं। अन्धश्रद्धा और मिथ्या विश्वासोंका निराकरण भी समाजधर्मकी इस पाँचवीं सीढ़ीपर चढ़नेसे होता है। अनुकम्पा, करुणा और सहानुभूतिका क्रियात्मक विकास भी सत्यव्यवहार द्वारा सम्भव है। जीवनके तनाव, कुण्ठाएँ, संग्रहवृत्ति, स्वार्थपरता आदिका एकमात्र निदान अहिंसक वचन ही है।

समाजधर्मकी छठी सीढ़ी : अस्तेय-भावना

अस्तेयकी भावना समाजके सदस्योंके हृदयमें अन्य व्यक्तियोंके अधिकारोंके

लिए स्वाभाविक सम्मान जागृत करती है। इसका वास्तविक रहस्य यह है कि दूसरेके अधिकारोंपर हस्तक्षेप करना उचित नहीं, बल्कि प्रत्येक अवस्थामें सामाजिक या राष्ट्रीय हितकी भावनाको ध्यानमें रखकर अपने कर्त्तव्यका पालन करना आवश्यक है। यह भूलना न होगा कि अधिकार वह सामाजिक वातावरण है, जो व्यक्तित्वकी वृद्धिके लिए आवश्यक और सहायक होता है। है। यदि इसका दुरुपयोग किया जाय तो समाजका विनाश अवश्यम्भावी हो जाय। अस्तेय-भावना एकाधिकारका विरोधकर समस्त समाजके अधिकारोंको सुरक्षित रखने पर जोर देती है। यह अविस्मरणीय है कि वैयक्तिक जीवनमें जो अधिकार और कर्त्तव्य एक दूसरेके आश्रित हैं वे एक ही वस्तुके दो रूप है। जब व्यक्ति अन्यकी सुविधाओंका ख्यालकर अधिकारका उपयोग करता है, तो वह अधिकार समाजके अनुशासनमें हितकर बन कर्त्तव्य बन जाता है--और जब केवल वैयक्तिक स्वत्व रक्षाके लिए उसका उपयोग किया जाता है, तो उस समय अधिकार अधिकार ही रह जाता है।

यदि कोई व्यक्ति अपने अधिकारोंपर जोर दे और अन्यके अधिकारोंकी अवहेलना करे, तो उसे किसी भी अधिकारको प्राप्त करनेका हक नहीं है। अधिकार और कर्त्तव्यके उचित ज्ञानका प्रयोग करना ही सामाजिक जीवनके विकासका मार्ग है। अचौर्यकी भावना इस समन्वयकी ओर ही इंगित करती है।

मनुष्यकी आवश्यकताएँ बढ़ती जा रही हैं, जिनके फलस्वरूप शोषण और संचयवृत्ति समाजमें असमानता उत्पन्न कर रही है। व्यक्तिका ध्यान अपनी आवश्यकताओंकी पूर्ति तक ही है। वह उचित और अनुचित ढंगसे धनसंचय कर अपनी कामनाओंकी पूर्ति कर रहा है, जिससे विश्वमें अशान्ति है। अस्तेयकी भावना उत्तरोत्तर आवश्यकताओंको कम करती है। यदि इस भावनाका प्रचार विश्वमें हो जाय, तो अनुचित ढंगसे धनार्जनके साधन समाप्त होकर संसारकी गरीबी मिट सकती है।

समाजमें शारीरिक चोरी जितनी की जा सकती है उससे कही अधिक मानसिक। दूसरोंकी अच्छी वस्तुओंको देखकर जो हमारा मन ललचा जाता है—या हमारे मनमें उनके पानेकी इच्छा हो जाती है, यह मानसिक चोरी है। द्रव्यचोरीकी अपेक्षा भावचोरीका त्याग अनिवार्य है, क्योंकि भावनाएँ ही द्रव्यचोरी करानेमें सहायक होती हैं। भोजन, वस्त्र और निवास आदि आरम्भिक शारीरिक आवश्यकताओंसे अधिक संग्रह करना भी चोरीमें सम्मिलित है। यदि समाजका एक व्यक्ति आवश्यकतासे अधिक रखने लग जाय, तो स्वाभाविक ही है कि दूसरोंको वस्तुएँ आवश्यकतापूर्तिके लिए भी नहीं मिल सकेंगी।

यदि दो जोड़ी कपड़ोंके स्थानपर यदि कोई पचास जोड़ी कपड़े रखने लग जाय, तो इससे उसे दूसरे चौबीस व्यक्तियोंको वस्त्रहीन करना पड़ेगा। अतः किसी भी वस्तुका सीमित आवश्यकतासे अधिक संचय समाज-हितकी दृष्टिसे अनुचित है।

सस्ता समझकर चोरोंके द्वारा लाई गई वस्तुओंको खरीदना, चोरीका मार्ग बतलाना, अनजान व्यक्तियोंसे अधिक मूल्य लेना, अधिक मूल्यकी वस्तुओं में कम मूल्यवाली वस्तुओंको मिलाकर बेचना चोरी है। प्रायः देखा जाता है कि दूध बेचनेवाले व्यक्ति दूधमें पानी डालकर बेचते हैं। कपड़ा धोनेके सोड़ेमें चूना मिलाया जाता है। इसी प्रकार अन्य खाद्यसामग्रियोंमें लोभवश अशुद्ध और कम मूल्यके पदार्थ मिलाकर बेचना नितान्त वर्ज्य है।

समाजधर्मकी सातवीं सीढ़ी : भोगवासना-नियन्त्रण

यों तो अहिंसक आचरणके अन्तर्गत समाजोपयोगी सभी नियन्त्रण सम्मिलित हो जाते है, पर स्पष्टरूपसे विचार करनेके हेतु वासना-नियन्त्रण या ब्रह्मचर्यभावनाका विश्लेषण आवश्यक है। यह आत्माकी आन्तरिक शक्ति है और इसके द्वारा सामाजिक क्षमताओंकी वृद्धि की जाती है। वास्तवमें ब्रह्मचर्यकी साधना वैयक्तिक और सामाजिक दोनों ही जीवनोंके लिए एक उपयोगी कला है। यह आचार-विचार और व्यवहारको बदलनेकी साधना है। इसके द्वारा जीवन सुन्दर, सुन्दरतर और सुन्दरतम बनता है। शारीरिक सौन्दर्यकी अपेक्षा आचरणका यह सौन्दर्य सहस्त्रगुणा श्रेष्ठ है। यह केवल व्यक्तिके जीवनके लिए ही सुखप्रद नहीं, अपितु समाजके कोटि-कोटि मानवोंके लिए उपादेय है।

आचरण व्यक्तिकी श्रेष्ठता और निकृष्टताका मापक यन्त्र है। इसीके द्वारा जीवनकी उच्चता और उसके उच्चतम रहन-सहनके साधन अभिव्यक्त होते हैं। मनुष्यके आचार-विचार और व्यवहारसे बढ़कर कोई दूसरा प्रमाणपत्र नहीं, है, जो उसके जीवनकी सच्चाईको प्रमाणित कर सके।

आचरणका पतन जीवनका पतन है और आचरणकी उच्चता जीवनकी उच्चता है। यदि रूढ़िवादवश किसी व्यक्तिका जन्म नीचकुलमें मान भी लिया जाय, तो इतने मात्रसे वह अपवित्र नहीं माना जा सकता। पतित वह है जिसका आचार-विचार निकृष्ट है और जो दिन-रात भोग-वासनामें डूबा रहता है। जो कृत्रिम विलासिताके साधनोंका उपयोगकर अपने सौन्दर्यकी कृत्रिमरूपमें वृद्धि करना चाहते हैं उनके जीवनमें विलासिता तो बढ़ती ही है, कामविकार भी उद्दीप्त होते हैं, जिसके फलस्वरूप समाज भीतर-ही-भीतर खोखला होता जाता है।

जो वासनाओंके प्रवाहमें वहकर भोगोंमें अपनेको डुवा देता है, वह व्यक्ति समाजके लिए भी अभिशाप वन जाता है। भोगाधिक्यसे रोग उत्पन्न होते हैं, कार्य करनेकी क्षमता घटती है और समाजकी नींव खोखली होती है। अतएव सामाजिक विकासके लिए वासनाओंको नियंत्रित कर ब्रह्मचर्य या स्वदारसन्तोष-की भावना अत्यावश्यक है।

ब्रह्मचर्य-साधनाके दो रूप सम्भव हैं—(१) वासनाओंपर पूर्ण नियन्त्रण और (२) वासनाओंका केन्द्रीकरण। समाजके वीच गार्हस्थिक जीवन व्यतीत करते हुए वासनाओंपर पूर्ण नियन्त्रण तो सबके लिए सम्भव नहीं, पर उनका केन्द्रीकरण सभी सदस्योंके लिए आवश्यक है। केन्द्रीकरणका अर्थ विवाहित जीवन व्यतीत करते हुए समाजकी अन्य स्त्रियोंको माता, वहिन और पुत्रीके समान समझकर विश्वव्यापी प्रेमका रूप प्रस्तुत करना। यहाँ यह विशेषरूपसे विचारणीय है कि अपनी पत्नीको भी अनियन्त्रित कामाचारका केन्द्र वनाना व्रतसे च्युत होना है। एकपत्नीव्रतका आदर्श इसीलिए प्रस्तुत किया गया है कि जो आध्यात्मिक सन्तोष द्वारा अपनी वासनाको नहीं जीत सकते, वे स्वपत्नीके ही साथ नियन्त्रितरूपसे काम-रोगको शान्त करें। आध्यात्मिक और शारीरिक स्वास्थ्यकी वृद्धिके लिए इच्छाओंपर नियन्त्रण रखना परमावश्यक है। सामाजिक और आत्मिक विकासकी दृष्टिसे ब्रह्मचर्यशब्दका अर्थ ही आत्माका आचरण है। अतः केवल जननेन्द्रिय-संबंधी विषयविकारोंको रोकना पूर्ण ब्रह्मचर्य नहीं है। जो अन्य इन्द्रियोंके विषयोंके अधीन होकर केवल जननेन्द्रियसंबंधी विषयोंके रोकनेका प्रयत्न करता है, उसका वह प्रयत्न वायुकी भीत होता है। कानसे विकारकी वातें सुनना, नेत्रोंसे विकार उत्पन्न करनेवाली वस्तुएँ देखना, जिह्वासे विकारोत्तेजक पदार्थोंका आस्वादन करना और घ्राणसे विकार उत्पन्न करनेवाले पदार्थोंको सूंघना ब्रह्मचर्यके लिए तो वाधक है ही, पर समाज-हितकी दृष्टिसे भी हानिकर है। मिथ्या आहार-विहारसे समाजमें विकृति उत्पन्न होती है, जिससे समाज अव्यवस्थित हो जाता है। सामाजिक अशान्तिका एक वहुत वड़ा कारण इन्द्रियसंवंधी अनुचित आवश्यकताओंकी वृद्धि है। अभक्ष्य-भक्षण भी इसी इन्द्रियकी चपलताके कारण व्यक्ति करता है।

वस्तुतः सामाजिक दृष्टिसे ब्रह्मचर्य-भावनाका रहस्य अधिकार और कर्त्तव्यके प्रति आदर-भावना जागृत करना है। नैतिकता और वलप्रयोग ये दोनों विरोधी हैं। ब्रह्मचर्यकी भावना स्वनिरीक्षण पर जोर देती है, जिसके द्वारा नैतिक जीवनका आरम्भ होता है। सामाजिक और राष्ट्रीय जीवनमें संगठन-शक्तिकी जागृति भी इसीके द्वारा होती है। संयमके अभावमें समाजकी व्यवस्था सुचारुरूपसे नहीं की जा सकती। यतः सामाजिक जीवनका आधार नैतिकता है। प्रायः

देखा जाता है कि संसारमें छीना-झपटीकी दो ही वस्तुएँ हैं—१. कामिनी और २. कञ्चन। जबतक इन दोनोंके प्रति आन्तरिक संयमकी भावना उत्पन्न नहीं होगी, तबतक समाजमें शान्ति स्थापित नहीं होगी। अभिप्राय यह है कि जीवन निर्वाह—शारीरिक आवश्यकताओंकी पूर्तिके हेतु अपने उचित हिस्सेसे अधिक ऐन्द्रियिक सामग्रीका उपयोग न करना सामाजिक ब्रह्मभावना है।

आध्यात्म-समाजवाद

समाजवाद शोषणको रोककर वैयक्तिक सम्पत्तिका नियन्त्रण करता है। यह उत्पादनके साधन और वस्तुओंके वितरणपर समाजका अधिकार स्थापित कर समस्त समाजके सदस्योंको समता प्रदान करता है। प्रत्येक व्यक्तिको जीवित रहने और खाने-पीनेका अधिकार है तथा समाजको, व्यक्तिको कार्य देकर उससे श्रम करा लेना और आवश्यकतानुसार वस्तुओंकी व्यवस्था कर देना अपेक्षित है। सम्पत्ति समाजकी समस्त शक्तियोंकी उपज है। उसमें सामाजिक शक्तिकी अपेक्षा, वैयक्तिक श्रमको भी कम महत्त्व प्राप्त नहीं है। सम्पत्ति सामाजिक रीति-रिवाजोंपर आधारित है। अतएव सम्पत्तिके हकोंकी भी उत्पत्ति सामाजिक रूपसे होती है। यदि सारा समाज सहयोग न दे, तो किसी भी प्रकारका उत्पादन सम्भव नहीं है। सामाजिक आवश्यकताएँ व्यक्तिकी आवश्यकताएँ हैं। अतएव व्यक्तिको अपनी-अपनी आवश्यकताओंकी पूर्तिके साथ सामाजिक आवश्यकताओं-की पूर्तिके लिए सचेष्ट रहना चाहिए। प्रत्येक व्यक्तिको उस सीमातक वस्तुओं पर अधिकार करनेका हक है, जहाँ तक उसे अपनेको पूर्ण बनानेमें सहायता मिलती है। उसकी भूख, प्यास आदि उन प्राथमिक आवश्यकताओंकी पूर्ति अनिवार्य है, जिनकी पूर्तिके अभावमें वह अपने व्यक्तित्वका विकास नहीं कर पाता।

उस व्यक्तिको जीवनोपयोगी सामग्री प्राप्त करनेका कोई अधिकार नहीं, जो जीनेके लिए काम नहीं करता है। दूसरेकी कमाईपर जीवित रहना अनैतिकता है। जिनकी सम्पत्ति दूसरोंके श्रमका फल है, वे समाजके श्रमभोगी सदस्य हैं। उन वस्तुओंके उपभोगका उन्हें कोई अधिकार नहीं, जिन वस्तुओंके अर्जनमें उन्होंने सीधे या परम्परारूपमें सहयोग नहीं दिया है। समाजमें वह अपने भीतर ऐसे वर्गको सुरक्षित रखता है जो केवल स्वामित्वके कारण जिन्दा है। अतएव समाजशास्त्रीय दृष्टिसे प्रत्येक व्यक्तिको श्रमकर अपने अधिकारको प्राप्त करना चाहिए। जो समाजके संचित धनको समान वितरण द्वारा समाजमें समत्व स्थापित करना चाहते हैं, वे अंधेरेमें हैं। यदि हम यह मान भी लें कि पूँजीके समान वितरणसे समाजमें समत्व स्थापित होना सम्भव है, तो भी यह आशंका निरन्तर बनी रहेगी कि प्रत्येक व्यक्तिमें बुद्धि, क्षमता और शक्ति पृथक्-पृथक्

रहनेके कारण यह समत्व चिरस्थायी नहीं हो सकता है। जब भी समाजके इन क्षमतापूर्ण व्यक्तियोंको अवसर मिलेगा, समाजमें आर्थिक असमता उत्पन्न हो ही जायगी। अतएव इस सम्भावनाको दूर करनेके लिए आध्यात्मिक समाजवाद अपेक्षित है। भौतिक समाजवादसे न तो नैतिक मूल्योंको प्रतिष्ठा ही सम्भव है और न वैयक्तिक स्वार्थका अभाव ही। वैयक्तिक स्वार्थोंका नियन्त्रण आध्यात्मिक आलोकमें ही सम्भव है। रहन-सहनकी पद्धतिविशेषमें किसीका स्थान ऊँचा और किसीका स्थान नीचा हो सकता है, पर आध्यात्मिक और नैतिक मूल्योंके मानदण्डानुसार समाजके सभी सदस्य समान सिद्ध हो सकते हैं। परोपजीवी और आक्रामक व्यक्तियोंकी समाजमें कभी कमी नहीं रहती है। कानून या विधिका मार्ग सीमाएँ स्थापित नहीं कर सकता। जहाँ कानून और विधि है, वहाँ उसके साथ उन्हें तोड़ने या न माननेकी प्रवृत्ति भी विद्यमान है। अतएव आध्यात्मिक दृष्टिसे नैतिक मूल्योंकी प्रतिष्ठा कर समाजमें समत्व स्थापित करना सम्भव है। सभी प्राणियोंकी आत्मामें अनन्त शक्ति है, पर वह कर्मावरणके कारण आच्छादित है। कर्मका आवरण इतना विचित्र और विकट है कि आत्माके शुद्ध स्वरूपको प्रकट होने नहीं देता। जिस प्रकार सूर्यका दिव्य प्रकाश मेघाच्छन्न रहनेसे अप्रकट रहता है उसी प्रकार कर्मोंके आवरणके कारण आत्माकी अनन्त शक्ति प्रकट नहीं होने पाती। जो व्यक्ति जितना पुरुषार्थ कर अहंता और ममताको दूर करता हुआ कर्मावरणको हटा देता है उसकी आत्मा उतनी ही शुद्ध होती जाती है। संसारके जितने प्राणी हैं सभीकी आत्मामें समान शक्ति है। अतः विश्वकी समस्त आत्माएँ शक्तिकी अपेक्षा तुल्य हैं और शक्ति-अभिव्यक्तिकी अपेक्षा उनमें असमानता है। आत्मा मूलतः समस्त विकार-भावोंसे रहित है। जो इस आत्मशक्तिकी निष्ठा कर स्वरूपकी उपलब्धिके लिए प्रयास करता है उसको आत्मामें निजी गुण और शक्तियाँ प्रादुर्भूत हो जाती हैं। अतएव संक्षेपमें आत्माके स्वरूप, गुण और उनकी शक्तियोंको अवगत कर नैतिक और आध्यात्मिक मूल्योंकी प्रतिष्ठा करनी चाहिए। सहानुभूति, आत्मप्रकाशन एवं समताकी साधना ऐसे मूल्योंके आधार हैं, जिनके अन्वयनसे समाजवादको प्रतिष्ठा सम्भव है। ये तथ्य सहानुभूति और आत्मप्रकाशनके पूर्वमें बतलाये जा चुके हैं। समताके अनेक रूप सम्भव हैं। आचारकी समता अहिंसा है, विचारोंकी समता अनेकान्त है, समाजकी समता भोगनियन्त्रण है और भाषाकी समता उदार नीति है। समाजमें समता उत्पन्न करनेके लिए आचार और विचार इन दोनोंकी समता अत्यावश्यक है। प्रेम, करुणा, मैत्री, अहिंसा, अस्तेय, अब्रह्म, सत्याचरण समताके रूपान्तर हैं। वैर, घृणा, द्वेष, निन्दा, राग, लोभ, क्रोध विषमतामें सम्मिलित हैं।

सामाजिक आचरणके लिए आत्मौपम्य दृष्टि अपेक्षित है। प्रत्येक आत्मा तात्त्विक दृष्टिसे समान है। अतः मन, वचन, और कायसे किसीको न स्वयं सन्ताप पहुँचाना, न दूसरेसे सन्ताप पहुँचवाना, न सन्ताप पहुँचानेके लिए प्रेरित करना नैतिक मूल्योंकी व्यवस्थामें परिगणित है।

हमारे मनमें किसीके प्रति दुर्भावना है, तो मन अशान्त रहेगा; नाना प्रकारके संकल्प-विकल्प मनमें उत्पन्न होते रहेंगे और चित्त क्षुब्ध रहेगा। अतएव समाजवादकी प्रतिष्ठाके हेतु प्रत्येक सदस्यका आचरण और कार्य दुर्भावना रहित अत्यन्त सावधानीके साथ होना चाहिए। नैतिक या अहिंसक मूल्योंके अभावमें न व्यक्ति जीवित रह सकता है, न परिवार और न समाज ही पनप सकता है। अपने अस्तित्वको सुरक्षित रखनेके लिए ऐसा आचार और व्यवहार अपेक्षित होता है, जो स्वयं अपनेको रुचिकर हो। व्यक्ति, समाज और देशके सुख एवं शान्तिकी आधारशिला अध्यात्मवाद है। और इसीके साथ अहिंसा, मैत्री और समताकी कड़ी जुड़ी हुई है। जो अभय देता है वह स्वयं भी अभय हो जाता है। जब दूसरोंको पर माना जाता है, तब भय उत्पन्न होता है और जब उन्हें आत्मवत् समझ लिया जाता है, तब भय नहीं रहता। सब उसके बन जाते हैं और वह सबका बन जाता है। अतएव समताकी उपलब्धिके लिए तथा समाजवादको प्रतिष्ठित करनेके लिए निम्नलिखित तीन आधारोंपर जीवन-मूल्योंकी व्यवस्था स्वीकार करनी चाहिए। मूल्यहीन समाज अत्यन्त अस्थिर और अव्यवस्थित होता है। निश्चयतः मूल्योंकी व्यवस्था ही समाजवाद-को प्रतिष्ठित कर सकती है।

१. स्वलक्ष्य मूल्य एवं अन्तरात्मक मूल्य—शारीरिक, आर्थिक और श्रम संबंधी मूल्योंके मिश्रण द्वारा जीवनकी मूलभूत प्रवृत्तियोंसे ऊपर उठकर तुष्टि, प्रेम, समता और विवेकको दृष्टिमें रखकर मूल्योंका निर्धारण।

२. शाश्वत एवं स्थायी मूल्य—विवेक, निष्ठा, सद्वृत्ति और विचारसामञ्जस्यकी दृष्टिसे मूल्य निर्धारण। इस श्रेणीमें क्षणिक विषयभोगकी अपेक्षा शाश्वतिक आध्यात्मिक मूल्योंका महत्त्व। ज्ञान, कला, धर्म, शिव, सत्य सम्बन्धी मूल्य।

३. सृजनात्मक मूल्य—उत्पादन, श्रम, जीवनोपभोग आदिसे सम्बद्ध मूल्य।

संक्षेपमें समाजवादकी प्रतिष्ठा भौतिक सिद्धान्तोंके आधारपर सम्भव न होकर अध्यात्म और नैतिकताके आधारपर ही सम्भव है।

व्यक्ति और समाज : अन्योन्याश्रय सम्बन्ध

व्यक्तियोंके समूह और उनके सम्बन्धोंसे समाजका निर्माण होता है। व्यक्ति अनेक सामाजिक समूहोंका सदस्य होता है, जो कि उसके बीच पाये जाने वाले सम्बन्धोंको प्रतिबिम्बित करते हैं। व्यक्तिके जीवनका प्रभाव समाजपर पड़ता है। व्यक्ति अपने व्यवहारसे अन्य सदस्योंको प्रभावित करता है और अन्य सदस्योंके व्यवहारसे स्वयं प्रभावित होता है। अतः व्यक्तिकी समस्त महत्त्व-पूर्ण क्रियाएं एवं चेतनाकी अवस्थाएँ सामाजिक परिस्थितियोंमें जन्म लेती हैं और इन्होंसे सामाजिक व्यक्तित्वका निर्माण होता है।

व्यक्ति और समाज एक ही वस्तुके दो पहलू हैं। अनेक व्यक्ति मिलकर समाजका गठन करते हैं। उन व्यक्तियोंकी विचार-धाराओं, संवेगों, आदतों आदिका पारस्परिक प्रभाव पड़ता है। अतः संक्षेपमें यह कहा जा सकता है कि व्यक्ति और समाज इन दोनोंका अन्योन्याश्रय सम्बन्ध है। व्यक्तिके बिना समाजका अस्तित्व नहीं और समाजके अभावमें व्यक्तिके व्यक्तित्वका विकास सम्भव नहीं। आर्थिक समानता, न्यायिक समानता, मानव समानता, स्व-तन्त्रता आदिका सम्बन्ध व्यक्तियोंके साथ है। व्यक्तिगत दक्षता समाजको पूर्णतया प्रभावित करती है। समाज-गठनके सिद्धान्तोंमें धर्म, संस्कृति, नैतिक सिद्धान्त, कर्त्तव्य-पालन, जीवनके आदर्श, काम्य-भोग आदि परिगणित हैं। अतएव सुखी, सम्पन्न और आदर्श समाजके निर्माण हेतु वैयक्तिक जीवनकी पवित्रता और आचारनिष्ठा भी अपेक्षित है।

सामान्यतः धार्मिक संस्कार और नैतिक विधि-विधान व्यक्तिके व्यक्तित्व-को परिष्कृत करनेके लिये आवश्यक है। जिस समाजके घटक व्यक्ति सच्च-रित्र, ज्ञानी और दृढ़संकल्पी होगें, उस समाजका गठन भी उतना ही अधिक सुदृढ़ होगा। व्यक्तिके समाजमें जन्म लेते ही कुछ दायित्व या ऋण उसके सिरपर आ जाते हैं, जिन दायित्वों और ऋणोंको पूरा करनेके लिये उसे सामाजिक सम्बन्धोंके बीच चलना पड़ता है। शारीरिक, पारिवारिक और सामाजिक सम्बन्धोंका निर्वाह करते हुए भी व्यक्ति इन सम्बन्धोंमें आसक्त न रहे। जीवनसे सभी प्रकारके कार्य करने पड़ते हैं, पर उन कार्योंको कर्त्तव्य समझकर ही किया जाय, आसक्ति मानकर नहीं। यों तो वैयक्तिक जीवनका लक्ष्य निवृत्तिमूलक है। वह त्यागमार्गके बीच रहकर अपनी आत्माका उत्थान या कल्याण करता है। जीवनको उन्नत और समृद्ध बनानेके लिये आत्मशोधन करता है। क्रोध, मान, माया, लोभ आदि विकारोंको आत्मासे पृथक् कर वह निष्काम कर्ममें प्रवृत्त होता है। अतः व्यक्ति और समाज इन दोनोंका पर-

स्परमें अन्योन्याश्रय सम्बन्ध है और परस्परमें दोनोंके सहयोगसे ही समाजका विकास और उन्नति होती है।

समाजघटक, सामाजिक संस्थाएँ एवं समाजमें नारीका स्थान

सामाजिक जीवनके अनेक घटक हैं। व्यक्ति माँके उदरसे जन्म लेता है। माँ उसका पालन-पोषण करती है। पिता आर्थिक व्यवस्था करता है। भाई-बहन एवं मुहल्लेके अन्य शिशु उसके साथी होते हैं। शिक्षाशालामें वह शिक्षकोंसे विद्याध्ययन करता है। बड़ा होनेपर उसका विवाह होता है। इस प्रकार एक मनुष्यका दूसरे मनुष्यके साथ अनेक प्रकारका सन्बन्ध स्थापित होता है। इन्हीं सम्बन्धोंसे वह बंधा हुआ है। उसका स्वभाव और उसकी आवश्यकताएँ इन सम्बन्धोंमें उसे रहनेके लिए बाध्य करती हैं। फलतः मनुष्य-को अपनी अस्तित्व-रक्षा और सम्बन्ध-निर्वाहके लिये समाजके बीच रहना पड़ता है। एकरूपता, सहयोग सहकारिता, संघटन और अन्योन्याश्रितता तो पशुओंके बीच भी पायी जाती है, किन्तु पशुओंमें क्रिया-प्रतिक्रियात्मक सम्बन्धों के निर्वाह एवं सम्वन्ध-सम्बन्धी प्रतिबोधका अभाव है। सामाजिक सम्बन्धोंके घटक अनेक तत्त्व हैं। इनमें निम्नलिखित तत्त्वों की प्रमुखता है—

१. वैयक्तिक लाभके साथ सामूहिक लाभकी ओर दृष्टि
२. न्यायमार्गकी वृत्ति
३. उन्नति और विकासके लिये स्पर्द्धा
४. कलह, प्रेम, एवं संघर्षके द्वारा सामाजिक क्रिया-प्रतिक्रिया।
५. मित्रताकी दृष्टि
६. उचित सम्मान-प्रदर्शन
७. परिवारका दायित्व
८. समानता और उदारताकी दृष्टि
९. आत्म-निरीक्षणकी प्रवृत्ति
१०. पाखण्ड-आडम्बरका त्याग
११. अनुशासनके प्रति आस्था
१२. अर्जनके समान त्यागके प्रति अनुराग
१३. कर्त्तव्यके प्रति जागरूकता
१४. एकाधिकारका त्याग और स्वावलम्बनकी प्रवृत्ति
१५. सेवा-भावना

सामाजिक जीवन अर्हाओं और नैतिक नियमोंपर अवलम्वित है। रक्षा-विधि और अस्तित्व-निर्वाह समाजके लिये आवश्यक है। सामाजका आर्थिक

एवं राजनीतिक ढाँचा लोकहितकी भावनापर आश्रित है, तथा सामाजिक उन्नति और विकासके लिये सभीको समान अवसर प्राप्त हैं। अतः अहिंसा, दया, प्रेम, सेवा और त्यागके आधारपर सामाजिक सम्बन्धोंका निर्वाह कुशलतापूर्वक सम्पन्न होता है।

अपने योग-क्षेमके लायक भरण-पोषणकी वस्तुओंको ग्रहण करना तथा परिश्रम कर जीवन यापन करना, अन्याय, अत्याचार द्वारा धनार्जन करनेका त्याग करना एवं आवश्यकतासे अधिक संचय न करना स्वस्थ समाजके निर्माण-में उपादेय हैं। अहिंसा और सत्यपर आधृत समाजव्यवस्था मनुष्यको केवल जीवित ही नहीं रखती, बल्कि उसे अच्छा जीवन यापनके लिये प्रेरित करती है। मनुष्यकी शक्तियोंका विकास समाजमें ही होता है। कला, साहित्य, दर्शन, संगीत, धर्म आदिकी अभिव्यक्ति मनुष्यकी सामाजिक चेतनाके फलस्वरूप ही होती है। ज्ञानका आदान-प्रदान भी सामाजिक सम्बन्धोंके बीच सम्भव होता है। समाजमें ही समुदाय संघ और संस्थाएँ बनती हैं।

निसन्देह समाज एक समग्रता है और इसका गठन विशिष्ट उपादानोंके द्वारा होता है। तथा इसके भौतिक स्वरूपका निर्माण भावनोपेत मनुष्यों-के द्वारा होता है। इसका आध्यात्मिक रूप विज्ञान, कला, धर्म, दर्शन आदिके द्वारा सुसम्पादित किया जाता है। अतः समाज एक ऐसी क्रियाशील समग्रता है, जिसके पीछे आध्यात्मिकता, नैतिक भावना और संकल्पात्मक वृत्तियोंके संश्लेषोंका रहना आवश्यक है।

सामाजिक संस्था : स्वरूप और प्रकार

समाजके विभिन्न आदर्श और नियन्त्रण जनरीतियों, प्रथाओं और रूढ़ियोंके रूपमें पाये जाते हैं। अतः नियन्त्रणमें व्यवस्था स्थापित करने एवं पारस्परिक निर्भयता बनाये रखनेके हेतु यह आवश्यक है कि उनको एक विशेष कार्यके आधारपर संगठित किया जाय। इस संगठनका नाम ही सामाजिक संस्था है। यह अत्यन्त महत्त्वपूर्ण आवश्यकताकी पूर्तिके हेतु सामाजिक विरासतमें स्थापित सामूहिक व्यवहारोंका एक जटिल तथा घनिष्ठ संघटन है। मानव सामूहिक हितोंकी रक्षा एवं आदर्शोंके पालन करनेके लिये सामाजिक संस्थाओंको जन्म देता है। इनका मूलाधार निश्चित आचार-व्यवहार और समान हित-सम्पादन है। अधिक समय तक एक ही रूपमें कतिपय मनुष्योंके व्यवहार और विश्वासों-का प्रचलन सामाजिक संस्थाओंको उत्पन्न करता है। ये मनुष्योंकी सामूहिक क्रियाओं, सामूहिक हितों, आदर्शों एवं एक ही प्रकारके रीति-रिवाजोंपर अव-

लम्बित हैं। सामाजिक संस्थाओंमें निम्नलिखित गुण और विशेषताएँ पायी जाती हैं—

१ सामाजिक संस्थाएँ प्रारम्भिक आवश्यकताओंकी पूर्तिका साधन होती हैं।

२. सामाजिक संस्थाओं द्वारा सामाजिक नियन्त्रणका कार्य सम्पन्न होता है।

३. सामाजिक अर्हाओं और प्रजातिक व्यवहारोंका सम्पादन सामाजिक संस्थाओं द्वारा सम्भव है।

४. अनुशासन और आदर्शकी रक्षा इन्हींके द्वारा होती है।

५. इनका कोई निश्चित उद्देश्य होता है।

६. नैतिक आदर्श और व्यवहारोंका सम्पादन इन्हींके द्वारा होता है।

७. सामाजिक संस्थाएँ ऐसे बन्धन हैं, जिनसे समाज मनुष्योंको सामूहिक रूपसे अपनी संस्कृतिके अनुरूप व्यवहार करनेके लिये बाध्य कर देता है; अतः सामाजिक संस्थाओंके आदर्श और धारणाएँ होती हैं, जिन्हें समाज अपनी संस्कृतिकी रक्षाके लिये आवश्यक मानता है।

८. सामाजिक संस्थाओंका संचालन आचार-संहिताओंके आधारपर होता है।

९. प्रत्येक धर्म सम्प्रदायकी आचार-संहिता भिन्न होती है। अतः सामाजिक संस्थाओंका रूपगठन भी भिन्न धरातलपर सम्पन्न होता है।

यों तो सामाजिक संस्थाएँ अनेक हो सकती हैं, पर आध्यात्मिक चेतना और लोक-जीवनके सम्पादनके लिये जिन सामाजिक संस्थाओंकी आवश्यकता है, वे निम्नलिखित हैं—

१. चतुर्विध संघ-संस्था
२. आश्रम-संस्था
३. विवाह-संस्था
४. कुल-संस्था
५. संस्कार-संस्था
६. परिवार-संस्था
७. पुरुषार्थ-संस्था
८. चैत्यालय-संस्था
९. गुणकर्माधारपर प्रतिष्ठित वर्णजातिसंस्था

इन संस्थाओंके सम्बन्धमें विशेष विवेचन करनेकी आवश्यकता नहीं है। नामसे ही इनका स्वरूप स्पष्ट है।

वर्त्तमानमें समाजमें नारीका स्थान वहुत निम्न श्रेणीका हो रहा है। आज नारी भोगेषणाकी पूर्तिका साधन मात्र रह गयी है। न उसे अध्ययन कर आत्म-विकासके अवसर प्राप्त हैं और न वह धर्म एवं समाजके क्षेत्रमें आगे ही आ सकती है। दासीके रूपमें नारीको जीवन यापन करना पड़ता है, उसके साथ होनेवाले सामाजिक दुर्व्यवहार प्रत्येक विचारशील व्यक्तिको खटकते हैं। नारी-समाजको देखनेसे ऐसा प्रतीत होता है जैसे युगयुगान्तरसे इनकी आत्मा ही खरीद ली गयी है। अनमेल-विवाहने नारीकी स्थितिको और गिरा दिया है। सामन्तयुगसे प्रभावित रहनेके कारण आज दहेज लेना-देना वड़प्पनका सूचक समझा जाता है। आज नारीका स्वतन्त्र व्यक्तित्व नहीं रहा है, पुरुषके व्यक्तित्वमें ही उसका व्यक्तित्व मिल गया है। अतः इस दयनीय स्थितिको उन्नत वनाना अत्यावश्यक है। यह भूलना न होगा कि नारी भी मनुष्य है और उसको भी अपनी उन्नतिका पूरा अधिकार प्राप्त है।

वर्त्तमान समाजने नारी और शूद्रके लिये वेदाध्ययन वर्जित किया है। यदि कदाचित् ये दोनों वर्ग किसीप्रकार वेदके शब्दोंको सुन लें, तो इनके कानमें शीशा गर्म कर डाल देना चाहिये। ऐसे निर्दयता एवं क्रूरतापूर्ण व्यवहार समाजके लिये कभी भी उचित नहीं हैं। नारी भी पुरुषके समान धर्मसाधन, कर्त्तव्यपालन आदि समाजके कार्योंको पूर्णतया कर सकती है। अतएव वर्त्तमानमें समाज-गठनके लिये लिंग-भेद, वर्ग-भेद, जाति-भेद, धन-भेदके भावको दूर करना परमावश्यक है। नारीको सभी प्रकारके सामाजिक, धार्मिक, राजनीतिक और आर्थिक अधिकार प्राप्त होने चाहिये। भेद-भावकी खाई समाजको सम धरातल-पर प्रतिष्ठित नहीं कर सकती है। नर-नारी, ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र सभी मनुष्य हैं और सवकी अपनी-अपनी उपयोगिता है। जो इनमें भेद-भाव उत्पन्न करते हैं, वे सामाजिक सिद्धान्तोंके प्रतिरोधी हैं। अतः समाजमें शान्ति-सुखव्यवस्था स्थापित करनेके लिये मानवमात्रको समानताका अधिकार प्राप्त होना चाहिये।

तीर्थंकर महावीरकी समाजव्यवस्थाकी आधुनिक उपयोगिता

तीर्थंकर महावीर द्वारा प्रतिपादित समाज-व्यवस्था आधुनिक भारतमें भी उपयोगी है। महावीरने नारीको जो उच्च स्थान प्रदान किया, आजके संविधान-ने भी नारीको वही स्थान दिया है। वर्गभेद और जाति-भेदके विषको दूर करने के लिये महावीरने अपनी पीयूष-वाणी द्वारा समाजको उद्वोधित किया। उनकी समाज-व्यवस्था भी कर्मकाण्ड, लिंग, जाति, वर्ग आदि भेदोंसे मुक्त थी। इनकी

समाज-व्यवस्थाका आधार अध्यात्म, अहिंसा, नैतिक नियम और ऐसे धार्मिक नियम थे, जिनका सम्बन्ध किसी भी जाति, वर्ग या सम्प्रदायसे नहीं था। महावीरका सिद्धान्त है कि विश्वके समस्त प्राणियोंके साथ आत्मीयता, बन्धुता और एकताका अनुभव किया जाय। अहिंसा द्वारा सबके कल्याण और उन्नतिकी भावना उत्पन्न होती है। इसके आचरणसे निर्भीकता, स्पष्टता, स्वतन्त्रता और सत्यता बढ़ती है। अहिंसाकी सीमा किसी देश, काल, और समाज तक सीमित नहीं है। अपितु इसकी सीमा सर्वदेश और सर्वकाल तक विस्तृत है। अहिंसासे ही विश्वास, आत्मीयता, पारस्परिक प्रेम एवं निष्ठा आदि गुण व्यक्त होते हैं। अहंकार, दम्भ, मिथ्या विश्वास, असहयोग आदिका अन्त भी अहिंसा द्वारा ही सम्भव है। यह एक ऐसा साधन है जो बड़े-से-बड़े साध्यको सिद्ध कर सकता है।

अहिंसात्मक प्रतिरोध अनेक व्यक्तियोंको इसीलिये निर्बल प्रतीत होता है कि उसके अनुयायियोंने प्रेमकी उत्पादक शक्तिको पूर्णतया पहचाना नहीं है। वास्तवमें आत्मीयता और एकताकी भावनासे ही समाजमें स्थायित्व उत्पन्न होता है। यदि भावनाओंमें क्रोध, अभिमान, कपट, स्वार्थ, राग-द्वेष आदि हैं, तो ऊपरसे भले ही दया या करुणाका आडम्बर दिखलायी पड़े, आन्तरिक विश्वास जागृत नहीं हो सकता। यदि हृदयमें प्रेम है, रक्षाकी भावना है और है सहानुभूति एवं सहयोगकी प्रवृत्ति, तो ऊपरका कठोर व्यवहार भी विश्वासोत्पादक होगा। इसमें सन्देह नहीं है कि अहिंसाके आधारपर प्रतिष्ठित समाज ही सुख और शान्तिका कारण बन सकता है।

शक्तिप्रयोगसम्बन्धी सिद्धान्तका विश्लेषण इंजिनियरिंग कलाके आलोकमें किया जा सकता है। मनुष्यके स्वभाव और समाजमें अपार शक्ति है। इसके क्रोधादिके रूपमें फूट पड़नेसे रोकना चाहिये और प्रेमकी प्रणाली द्वारा उपयोगी कार्योंमें लगाना चाहिये। इस सिद्धान्तको यों समझा जा सकता है कि हम भापकी शक्तिको फूट पड़नेसे रोक कर वायलर और अन्य वस्तुओंकी रक्षा करते हैं और इंजिनको शक्तिशाली बनाते हैं। इसीप्रकार हम व्यक्तिके अहंकार, काम, क्रोधादि दुर्गुणोंको फूट पड़नेसे रोक सकें और इन गुणोंका परिवर्तन अहिंसक शक्तिके रूपमें कर सकें, तो समाजको संचालित करनेके लिये अपार शक्तिशाली व्यक्तिरूपी एंजिन प्राप्त होता है।

एकताकी भावना अहिंसाका ही रूप है। कलह, फूट, द्वन्द्व और संघर्ष हिंसा है। ये हिंसक भावनाएँ सामाजिक जीवनमें एकता और पारस्परिक विश्वास उत्पन्न नहीं कर सकती हैं।

यदि हम समाजके प्रत्येक सदस्यके साथ समता, सहानुभूति और सहृदयताका व्यवहार करें, तो समाजके विकासमें अवरोध पैदा नहीं हो सकता है।

तीर्थंकर महावीरने समाज-व्यवस्थाके लिये दया, सहानुभूति, सहिष्णुता और नम्रताको साधनके रूपमें प्रतिपादित किया है। ये चारों ही साधन वर्तमान समाज-व्यवस्थाके लिए अत्यन्त उपयोगी हैं। समाजके कष्टोंके प्रति दया एक अच्छा साधन है। इससे समाजमें एकता और बन्धुत्वकी भावना उत्पन्न होती है। तीर्थंकर महावीरका सिद्धान्त है कि दयाका प्रयोग ऐसा होना चाहिये, जिससे मनुष्यमें दयनीयताकी भावना उत्पन्न न हो और दया करनेवालोंमें अभिमानकी भावना जागृत न हो। समाज-व्यवस्थाके लिये दया, दान, संयम और शील आवश्यक तत्त्व हैं। इन तत्त्वों या गुणोंसे सहयोगकी वृद्धि होती है। समाजकी समस्त विसंगतियाँ एवं कठिनाइयाँ उक्त साधनों द्वारा दूर हो जाती हैं।

सहिष्णुताकी भावनाको भी समाज-गठनके लिये आवश्यक माना गया है। मानव-समाज एक शरीरके तुल्य है। शरीरमें जिस प्रकार अंगोपांग, नस, नाड़ियाँ अवस्थित रहती हैं, पर उन सबका सम्पोषण हृदयके रक्तसंचालन द्वारा होता है, इसी प्रकार समाजमें विभिन्न स्वभाव और गुणधारी व्यक्ति निवास करते हैं। इन समस्त व्यक्तियोंकी शारीरिक एवं मानसिक योग्यताएँ भिन्न-भिन्न रहती हैं, पर इन समस्त सामाजिक सदस्योंको एकताके सूत्रमें अहिंसाके रूप प्रेम, सहानुभूति, नम्रता, सत्यता आदि आवद्ध करते हैं। नम्रता और सहानुभूतिको कमजोरी, कायरता और दुरभिमान नहीं माना जा सकता। इन गुणोंका अर्थ हीनता नहीं, किन्तु आत्मिक समानता है। भौतिक बड़प्पन, वर्गश्रेष्ठता, कुलीनता, धन और पदवियोंका महत्त्व आध्यात्मिक दृष्टिसे कुछ भी नहीं है। अतएव समाजको अहिंसात्मक शक्तियोंके द्वारा ही नियन्त्रित किया जा सकता है। अहिंसक आत्मनिग्रही बनकर समाजको एक निश्चित मार्गका प्रदर्शन करता है। वास्तवमें मानव-समाजको यथार्थ आलोककी प्राप्ति राग-द्वेष और मोहको हटानेपर ही हो सकती है। अहिंसक विचारोंके साथ आचार, आहार-पान भी अहिंसक होना चाहिए।

कर्त्तव्य-कर्मोंका सावधानी पूर्वक पालन करना तथा दुर्व्यसन, द्यूत क्रीड़ा, मांसभक्षण, मदिरापान, आखेट, वेश्यागमन, परस्त्री-सेवन एवं चौर्यकर्म आदिका त्याग करना सामाजिक सदस्यताके लिये अपेक्षित है।

धन एवं भोगोंकी आसुरी लालसाने व्यक्तिको तो नष्ट किया ही है, पर अगणित समाजोंको भी वर्बाद कर डाला है। आसुरी वासनाओंकी तृप्ति एक

काल तो क्या त्रिकालमें भी सम्भव नहीं है। अतएव न्याय-अन्याय, कर्त्तव्य-अकर्त्तव्य, पुण्य-पाप आदिका विचार कर समाजको अहिंसक नीति द्वारा व्यवस्थित करना चाहिये। इसमें सन्देह नहीं कि महावीरकी समाज-व्यवस्था आजके युगमें भी उतनी ही उपयोगी है, जितनी उपयोगी उनके समयमें थी। महावीरने श्रमको जीवनका आवश्यक मूल्य बताया है। मानवीय मूल्योंमें इसका महत्त्वपूर्ण स्थान है। समाज धन या सम्पत्तिसे पूर्ण सुखका अनुभव नहीं कर सकता है। पर नीति और अध्यात्मके द्वारा तृष्णा, स्वार्थ और द्वेषका अन्त हो सकता है।

●

उपसंहार

महावीर : व्यक्तित्व-विश्लेषण

कांचन काया

सात हाथ उन्नत शरीर, दिव्य काञ्चन आभा, आजानबाहु, समचतुरस्र-संस्थान, वज्रवृषभनाराचसंहनन आदिसे युक्त तीर्थंकर महावीर तन और मन दोनोंसे ही अद्भुत सुन्दर थे। उनकी लावण्य-छटा मनुष्योंको ही नहीं, देव, पशु-पक्षी एवं कीट-पतंगको भी सहजमें अपनी ओर आकृष्ट करती थी। देवेन्द्र भी उनके दिव्य तेजसे आकृष्ट हो चरण-वन्दनके लिये आते, अगणित मनुष्य-सामन्तोंकी तो बात ही क्या।

उनके व्यक्तित्वको लोक-कल्याणकी भावनाने सजाया था, सँवारा था। वे अपने भीतर विद्यमान शक्तिका स्फोटन कर प्रतिकूल कण्टकाकीर्ण मार्गको पुष्पावकीर्ण बनानेके लिये सचेष्ट थे। महावीर ऐसे नद थे, जो चट्टानोंका भेदन

कर स्वयं अपने लिये पथका निर्माण करते हैं। वे निर्झर थे, कुलिका (नहर) नहीं। उन्होंने कठिन-से-कठिन तप कर, कामनाओं और वासनाओंपर विजय पा कर लोक-कल्याणका ऐसा उज्ज्वल मार्ग तैयार किया, जो प्राणिमात्रके लिये सहजगम्य और सुलभ था।

कर्मयोगी

महावीरके व्यक्तित्वमें कर्मयोगकी साधना कम महत्त्वपूर्ण नहीं है। वे स्वयंबुद्ध थे, स्वयं जागरुक थे और बोधप्राप्तिके लिये स्वयं प्रयत्नशील थे। न कोई उनका गुरु था और न किसी शास्त्रका आधार ही उन्होंने ग्रहण किया था। वे कर्मठ थे और स्वयं उन्होंने पथका निर्माण किया था। उनका जीवन भय, प्रलोभन, राग-द्वेष सभीसे मुक्त था। वे नील गगनके नीचे हिंस्र-जन्तुओंसे परिपूर्ण निर्जन वनोंमें कायोत्सर्ग मुद्रामें ध्यानस्थ हो जाते थे। वे कभी मृत्यु-छायासे आक्रान्त श्मशानभूमिमें, कभी गिरि-कन्दराओंमें, कभी गगनचुम्बी उत्तुंग पर्वतोंके शिखरोंपर, कभी कल-कल, छल-छल निनाद करती हुई सरिताओंके तटोंपर और कभी जनाकीर्ण राजमार्गपर कायोत्सर्ग-मुद्रामें अचल और अडिगरूपसे ध्यानस्थ खड़े रहते थे। वे कर्मयोगी शरीरमें रहते हुए शरीरसे पृथक्, शरीरकी अनुभूतिसे भिन्न जीवनकी आशा और मरणके भयसे विप्रमुक्त स्वकी शोधमें संलग्न रहते थे।

कर्मयोगी महावीरने अपने श्रम, साधना और तप द्वारा अगणित प्रकारके उपसर्गोंको सहन किया। कहीं सुन्दरियोंने उन्हें साधनासे विचलित करनेका प्रयास किया, तो कहीं दुष्ट और अज्ञानियोंने उन्हें नाना प्रकारकी यातनाएँ दीं, पर वे सब मौनरूपसे सहन करते रहे। न कभी मनमें ही विकार उत्पन्न हुआ और न तन ही विकृत हुआ। इस कर्मयोगीके समक्ष शाश्वत विरोधी प्राणी भी अपना वैरभाव छोड़कर शान्तिका अनुभव करते थे। धन्य है महावीरका वह व्यक्तित्व, जिसने लौह पुरुषका सामर्थ्य प्राप्त किया और जिस व्यक्तित्वके समक्ष जादू, मणि, मन्त्र-तन्त्र सभी फीके थे।

अद्भुत साहसी

महावीरके व्यक्तित्वमें साहस और सहिष्णुताका अपूर्व समावेश हुआ था। सिंह, सर्प जैसे हिंस्र जन्तुओंके समक्ष वे निर्भयतापूर्वक उपस्थित हो उन्हें मौन रूपमें उद्बोधित कर सन्मार्गपर लाते थे। जरा, रोग और शारीरिक अवस्थाओंके उस घेरेको, जिसमें फँस कर प्राणी हाहाकार करता रहता है, महावीर साहसी बन मृत्यु-विजेताके रूपमें उपस्थित रहते थे। महावीरने बड़े साहसके

साथ परिवर्तित होते हुए मानवीय मूल्योंको स्थिरता प्रदान की और प्राणियोंमें निहित शक्तिका उद्घाटन कर उन्हें निर्भय बनाया। उन जैसा अपूर्व साहसी शताब्दियोंमें ही एकाध व्यक्ति पैदा होता है। शूलपाणि जैसे यक्षका आंतक और चण्डकौशिक जैसे सर्पकी विषज्वाला इनके साहसके फलस्वरूप ही शमनको प्राप्त हुई। अनार्य देशमें साधना करते हुए महावीरके स्वरूपसे अनभिज्ञ व्यक्तियोंने उन्हें गालियाँ दीं, पाषाण बरसाए, दण्डोंसे पूजा की, दंश-मशक और चीटियोंने काटा, पर महावीर अपने साहससे विचलित न हुए। उनकी अपूर्व सहिष्णुता और अनुपम शान्ति विरोधियोंका हृदय परिवर्तित कर देती थी। वे प्रत्येक कष्टका साहसके साथ स्वागत करते, शरीरको आराम देनेके लिये न वस्त्र धारण करते, न पृथ्वी पर आसन बिछाकर शयन करते, न अपने लिये किसी वस्तुकी कामना ही करते। उनके अनुपम धैर्यको देखकर देवराज इन्द्र भी नतमस्तक था। संगमदेवने महावीरके साहसकी अनेक प्रकारसे परीक्षा की, पर वे अडिग हिमालय ही बने रहे।

लोक-प्रदीप

महावीरके व्यक्तित्वमें अनुपम प्रदीप-प्रकाश उपलब्ध है। उन्होंने संसारके घनीभूत अज्ञान-अन्धकारको दूरकर सत्य और अनेकान्तके आलोकद्वारा जन-नेतृत्व किया था। घरका दीपक घरके कोनेमें ही प्रकाश करता है, उसका प्रकाश सीमित और धुंधला होता है, पर महावीर तो तीन लोकके दीपक थे। लोकत्रयको प्रकाशित किया था। महावीर ऐसे दीपक थे, जिसकी ज्योतिके स्पर्शने अगणित दीपोंको प्रज्वलित किया था। अज्ञानअन्धकारको हटा जनताको आवरण और बन्धनोंको तोड़नेका सन्देश दिया था। उन्होंने राग-द्वेष विकल्पोंको हटाकर आत्माको अखण्ड ज्ञान-दर्शन चैतन्यरूपमें अनुभव करनेका पथ आलोकित किया था। निश्चयसे देखनेपर आत्मापर बन्धन या आवरण है ही नहीं। अनन्त चैतन्यपर न कोई आवरण है और न कोई बन्धन। ये सब बन्धन और आवरण आरोपित हैं। जिसके घटमें ज्ञान-दीप प्रज्वलित है, उसके बन्धन और आवरण स्वतः क्षीण हैं। संकल्प-विकल्पोंका जाल स्वयमेव ही विलीन हो जाता है।

करुणामूर्ति

महावीरका संवेदनशील हृदय करुणासे सदा द्रवित रहता था। वे अन्ध-विश्वास, मिथ्या आडम्बर और धर्मके नामपर होनेवाले हिंसा-ताण्डवसे अत्यन्त द्रवीभूत थे। 'यज्ञीयहिंसा हिंसा न भवति' के नारेको बदलनेका संकल्प

दयालु महावीरने ग्रहण किया और मानवताके ललाटपर अक्षय कुंकुमका विजय-तिलक लगाया। प्राणिमात्रको अन्तिम श्वांस तक स्वाधीनतापूर्वक जीवित रहने और कार्य करनेका सही मार्ग निर्दिष्ट किया। हिंसा, असत्य शोषण, संचय और कुशीलसे संत्रस्त मानवताकी रक्षा की। बर्बरतापूर्वक किये जानेवाले अश्वमेध, नरमेध आदिको दूर कर अहिंसा और मैत्री भावनाका प्रचार किया। वास्तवमें तीर्थंकर महावीरके व्यक्तित्वमें करुणाका अपूर्व समवाय था। वे इस लोकके समस्त प्राणियोंका आत्मविकास और लोककल्याण चाहते थे और तदनुकूल प्रयास करते थे। महावीर जैसा करुणाका मसीहा इस धराधामपर कभी कदाचित् ही जन्म ग्रहण करता है।

दिव्य तपस्वी

महावीर उग्र, घोर एवं दिव्य तपस्वी थे। उनकी यह तपः साधना विवेककी सीमामें समाहित थी। सहज तप था, आकुलताका नामोनिशान नहीं और अन्तरंगमें आनन्दकी अजस्र धारा प्रवाहित हो रही थी। महावीर बाह्य तपके साधक नहीं अन्तस् तपके साधक थे। उनकी तपस्याके प्रभावसे जीवनकी समस्त अशुभ वृत्तियाँ शुभ रूपमें परिणत होकर शुद्ध रूपको प्राप्त हुई थीं। न उन्हें गर्व था और न ग्लानि ही। अभिग्रहके अनुसार अहार मिल जाता, तो उसे ग्रहण कर लौट आते और न भी मिलता तो प्रसन्न चित्तसे अपनी साधनामें लीन रहते। वे लाभालाभकी परिस्थितिमें समरस थे। साधारण व्यक्तियोंको कठिनाईयाँ आगे बढ़नेसे रोक देती हैं, कभी-कभी उन्हें वापस भी लौटना पड़ता है, पर महावीर न कहीं रुके और न वे आगे बढ़नेसे विमुख हुए। सच्चे अर्थोंमें वे दिव्य तपस्वी थे।

लोककल्याण और लोकप्रियता

आकर्षक व्यक्तित्वके धनी महावीरके व्यक्तित्वकी सबसे बड़ी गहरायी लोककल्याण और लोकप्रियताकी है। इन्होंने अपनी साधना द्वारा सिद्धि प्राप्त कर आत्म-कल्याणके साथ-साथ विश्वकल्याणकी प्रेरणा दी। सर्वोदय तीर्थका प्रवर्त्तन कर अशान्त जनमानसको शान्ति प्रदान की। तीर्थंकर महावीर मानवमात्रका ही नहीं, प्राणिमात्रका उदय चाहते थे। फलतः सर्वजीव-समभाव और सर्वजातिसममभावका प्रवर्त्तन कर समस्त प्राणियोंको उन्नतिके समान अवसर प्रदान करनेकी घोषणा की। उनका सिद्धान्त था कि दूसरोंका बुरा चाहकर कोई अपना भला नहीं कर सकता। मानव-मानवके बीच भेद-भावकी जो दीवालें खड़ी की गयी हैं, वे अप्राकृतिक हैं। रंगभेद, वर्णभेद, जातिभेद,

कुलभेद, देश और प्रान्तभेद आदि सभी मानवताके विघातक हैं। तनावका वातावरण और अविश्वासकी खाईको दूर करनेका एकमात्र साधन जन-सामान्यको पारस्परिक सहयोग और कल्याणके लिये प्रेरित करना है।

स्वर्गके देव विभूतिमें कितने ही बड़े क्यों न हो, उनका स्वर्ग कितना ही सुन्दर और सुहावना क्यों न हो, पर वे मनुष्यसे महान नहीं। मनुष्यके त्याग और इन्द्रियसंयमके प्रति उन्हें भी नतमस्तक होना पड़ता है। मानव-मानवताके कारण सभी मनुष्य समान हैं, जन्मसे कोई भी व्यक्ति न बड़ा है, न छोटा। कार्य, गुण, परिश्रम, त्याग, संयम ऐसे गुण हैं, जिनकी उपलब्धिसे कोई भी व्यवित महान् बन सकता है। जीवनका यथार्थ लक्ष्य आत्मस्वातन्त्र्यकी प्राप्ति है। कालका प्रवाह अनाहत चला आ रहा है। जीवन क्षण, पल, घड़ियोंमें कण-कण विखर रहा है। पार्श्ववर्ती स्तब्ध वातावरणमें भी सूक्ष्मरूपसे अतीत और व्यय समाहित हैं। नव नवीन रूपोंमें प्रस्फुटित हो रहा है और वस्तुकी ध्रौव्यता भी यथार्थरूपमें स्थित है। इसप्रकार उत्पादादित्रयात्मकरूप वस्तु आत्मद्रष्टाको तटस्थ वृत्तिकी ओर आकृष्ट करती है और यही उसे जन कल्याणकी ओर ले जाती है।

तीर्थंकर महावीर जन्मजात वीतराग थे। उनके व्यक्तित्वके कण-कणका निर्माण आत्मकल्याण और लोकहितके लिये हुआ था। लोककल्याण ही उनका इष्ट था और यही था उनका लक्ष्य। जीवनके प्रथम चरणसे ही उन्होंने जन-कल्याणके लिये संघर्ष आरम्भ किया, पर उनका यह संघर्ष वाह्य शत्रुओंसे नहीं था, अन्तरंग काम, क्रोधादि वासनाओंसे था। उन्होंने शाश्वत सत्यकी प्राप्तिके लिये राजवैभव, विलास, आमोद-प्रमोद आदिका त्याग किया और जनकल्याणमें संलग्न हो गये।

लोककल्याणके कारण ही तीर्थंकर महावीरने अपूर्व लोकप्रियता प्राप्त की थी। वे जिस नगर या ग्रामसे निकलते थे, जनता उनकी अनुयायिनी बन जाती थी। मनुष्य तो क्या; पशु-पक्षी भी उनसे प्रेम करते थे। हिंसक, क्रूर और पिशाच भी अपनी वृत्तियोंका त्यागकर महावीरकी शरण ग्रहण करते थे। वे तत्कालीन समाजकी कायरता, कदाचार और पापाचारको दूर करनेके लिये कटिबद्ध थे। अतः लोकप्रियताका प्राप्त होना उन्हें सहज था।

स्वावलम्बी

महावीरके व्यक्तित्वकी अन्य विशेषताओंमें स्वावलम्बनकी वृत्ति भी है। 'अपना कार्य स्वयं करो' के वे समर्थक थे। जब साधनाकालमें अपरिचयके

कारण कुछ अज्ञ व्यक्ति उनका तिरस्कार करते, अपमान करते, शारीरिक यातनाएँ देते, उस समय महावीर किसीकी सहायताकी अपेक्षा नहीं करते थे। वे अपने पुरुषार्थ द्वारा ही कर्मोंका नाश करना चाहते थे। जब इन्द्रने उनसे साधनामार्गमें सहायता करनेका अनुरोध किया, तब वे मौन भाषामें हुए कहने लगे—"देवेन्द्र, तुम भूल रहे हो। साधनाका मार्ग अपने-आपपर विजय प्राप्त करनेका मार्ग है। स्वयंकृत कर्मका शुभाशुभ फल व्यक्तिको अकेले ही भोगना पड़ता है। कर्मावरणको छिन्न करनेके लिये किसी अन्यकी सहायता अपेक्षित नहीं है। यदि किसी व्यक्तिको किसी दूसरेके सुख-दुःख और जीवन-मरणका कर्त्ता माना जाय, तो यह महान् अज्ञान होगा और स्वयंकृत शुभाशुभ फल निष्फल हो जायेंगे। यह सत्य है कि किसी भी द्रव्यमें परका हस्तक्षेप नहीं चलता है। हस्तक्षेपकी भावना ही आक्रमणको प्रोत्साहित करती है। यदि हम अपने मनसे हस्तक्षेप करनेकी भावनाको दूर कर दें, तो फिर हमारे अन्तस्में सहजमें ही अनाक्रमणवृत्ति प्रादुर्भूत हो जायगी। आक्रमण प्रत्याक्रमणको जन्म देता है और यह आक्रमण-प्रत्याक्रमणकी परम्परा विश्व-शान्ति और आत्मिक शान्तिमें विघ्न उत्पन्न करती है।" इस प्रकार तीर्थंकर महावीरके व्यक्तित्वमें स्वावलम्बन और स्वतन्त्रताको भावना पूर्णतया समाहित थी।

अहिंसक

महावीरके व्यक्तित्वका सम्पूर्ण गठन ही अहिंसाके आधारपर हुआ है। मनुष्यको जैसे अपना अस्तित्व प्रिय है, अपना सुख अभीष्ट है, उसी तरह अन्य प्राणियोंको भी अपना अस्तित्व और सुख प्रिय है। अहिंसक व्यक्तित्वका प्रथम दृष्टिविन्दु सहअस्तित्व और सहिष्णुता है। सहिष्णुताके विना सहअस्तित्व सम्भव नहीं है। संसारमें अनन्त प्राणी हैं और उन्हें इस लोकमें साथ-साथ रहना है। यदि वे एक दूसरेके अस्तित्वको आशंकित दृष्टिसे देखते रहें, तो अस्तित्वका संघर्ष कभी समाप्त नहीं हो सकता है। संघर्ष अशान्तिका कारण है और यही हिंसा है।

जीवनका वास्तविक विकास अहिंसाके आलोकमें ही होता है। वैर-वैमनस्य द्वेष, कलह, घृणा, ईर्ष्या, क्रोध, अहंकार, लोभ-लालच, शोषण-दमन आदि जितनी भी व्यक्ति और समाजको ध्वंसात्मक विकृतियाँ हैं, वे सब हिंसाके ही रूप हैं। मनुष्यका अन्तस् हिंसाके विवध प्रहारोंसे निरन्तर घायल होता रहता है। इन प्रहारोंका शमन करनेके लिये अहिंसाकी दृष्टि और अहिंसक जीवन ही आवश्यक है। महावीरने केवल अहिंसाका उपदेश हो नहीं दिया, अपितु उसे अपने जीवनमें उतारकर शत-प्रतिशत यथार्थता प्रदान की। उन्होंने अहिंसा-

के सिद्धान्त और व्यवहारपक्षको एक करके दिखला दिया। विरोधीसे विरोधीके प्रति भी उनके मनमें घृणा नहीं थी, द्वेष नहीं था वे उत्पीड़क एवं घातकके प्रति भी मंगलकल्याणकी पवित्र भावना रखते थे। संगमदेव और शूलपाणि यक्ष जैसे उपसर्ग देनेवाले व्यक्तियोंके प्रति भी उनके नेत्रोंमें करुणा थी। तीर्थंकर महावीरका अहिंसक जीवन क्रूर और निर्दय व्यक्तियोंके लिये भी आदर्श था।

महावीरका सिद्धान्त था कि अग्निका शमन अग्निसे नहीं होता, इसके लिये जलकी आवश्यकता होती है। इसीप्रकार हिंसाका प्रतिकार हिंसासे नहीं, अहिंसासे होना चाहिये। जब तक साधन पवित्र नहीं, साध्यमें पवित्रता आ नहीं सकती। हिंसा सूक्ष्मरूपमें व्यक्तिके व्यक्तित्वकी अनन्त पर्तोंमें समाहित है। उसे निकालनेके लिये सभी प्रकारके विकारों, वासनाओंका त्याग आवश्यक है। यही कारण है कि महावीरने जगतको बाह्य हिंसासे रोकनेके पूर्व अपने अन्तरमें विद्यमान राग-द्वेषरूप भावहिंसाका त्याग किया और उनके व्यक्तित्वका प्रत्येक अणु अहिंसाकी ज्योतिसे जागृत हो उठा। महावीरने अनुभव किया कि समस्त प्राणी तुल्य शक्तिधारी हैं, जो उनमें भेद-भाव करता है, उनकी शक्तिको समझने में भूल या किसी प्रकारका पक्षपात करता है, वह हिंसक है। दूसरोंको कष्ट पहुँचानेके पूर्व ही, विकृति आ जानेके कारण अपनी ही हिंसा हो जाती है।

सचमुचमें अहिंसाके साधक महावीरका व्यक्तित्व धन्य था और धन्य थी उनकी संचरणशक्ति। वे बारह वर्षोंतक मौन रहकर मोह-ममताका त्याग कर अहिंसाकी साधनामें संलग्न रहे। महावीरके व्यक्तित्वकी प्रमुख विशेषताओंमें उनका अहिंसक व्यक्तित्व निर्मल आकाशके समान विशाल और समुद्रके समान अतल स्पर्शी है। उनकी अहिंसामें आग्रह नहीं था, उद्दण्डता नहीं थी, पक्षपात नहीं था और न किसी प्रकारका दुराव या छिपाव ही था। दया, प्रेम और विनम्रताने उनकी अहिंसक साधनाको सुसंस्कृत किया था।

क्रांतिद्रष्टा

तीर्थंकर महावीरके व्यक्तित्वमें क्रान्तिकी चिनगारी आरम्भसे ही उपलब्ध होती है। वे व्यवहारकुशल, स्पष्ट वक्ता, निर्भीक साधक, अहिंसक, लोक-कल्याणकारी और जनमानसके अध्येता थे। चाटुकारिताकी नीतिसे वे सदा दूर थे। उनके मनमें आत्मविश्वासका दीपक सदा प्रज्वलित रहता था। धर्मके नामपर होनेवाली हिंसाएँ और समाजके संगठनके नामपर विद्यमान भेद-भाव एवं आत्मसाधनाके स्थानपर शरीर-साधनाको प्रमुखताने महावीरके मनमें किशोरावस्थासे ही क्रान्तिका बीज-वपन किया था। रईसों और अमीरोंके यहाँ दास-दासीके रूपमें शोषित नर-नारी महावीरके हृदयका अपूर्व मंथन करते

थे। फलतः वे उस युगकी प्रमुख-धर्म-धारणा यज्ञ और क्रिया-काण्डके विरोधी थे। उन दिनोंमें नर और नारी नीति और धर्मका आँचल छोड़ चुके थे। वे दोनों ही कामुकताके पंकमें लिप्त थे। नारियोंमें पातिव्रत, शील और संकोचकी कमी हो रही थी। वे बन्धनोंको तोड़ और लज्जाके आवरणको फेंक स्वच्छन्द बन चुकी थीं। पुरुषोंमें दानवी वासनाका प्राबल्य था। वे आचार-विचार-शील-संयमका पल्ला छोड़ वासनापूर्तिको ही धर्म समझते थे। चारों ओर बलात्कार और अपहरणका तूफान उठ खड़ा हुआ था। चन्दना जैसी कितनी नारियोंका अपहरण अहर्निश हो रहा था। जनमानसका धरातल आत्माकी धवलतासे हटकर शरीरपर केन्द्रित हो गया था। भोग-विलास और कृत्रिमताका जीवन ही प्रमुख था। मदिरापान, द्यूतक्रीड़ा, पशुहिंसा, आदि जीवनकी साधारण बातें थीं। बलिप्रथाने धर्मके रूपको और भी विकृत कर दिया था।

भौतिकताके जीवनकी पराकाष्ठा थी। धर्म और दर्शनके स्वरूपको औद्धत्य, स्वैराचार, हठ और दुराग्रहने खण्डित कर दिया था। वर्ग-स्वार्थकी दूषित भावनाओंने अहिंसा, मैत्री और अपरिग्रहको आत्मसात् कर लिया था। फलतः समाजके लिये एक क्रान्तिकारी व्यक्तिकी आवश्यकता थी। महावीरका व्यक्तित्व ऐसा ही क्रान्तिकारी था। उन्होंने मानव-जगतमें वास्तविक सुख और शान्तिकी धारा प्रवाहित की और मनुष्यके मनको स्वार्थ एवं विकृतियोंसे रोककर इसी धरतीको स्वर्ग बनानेका सन्देश दिया। महावीरने शताब्दियोंसे चली आ रही समाज-विकृतियोंको दूरकर भारतकी मिट्टीको चन्दन बनाया। वास्तवमें महावीरके क्रान्तिकारी व्यक्तित्वको प्राप्तकर धरा पुलकित हो उठी, शत-शत वसन्त खिल उठे। श्रद्धा, सुख और शान्तिकी त्रिवेणी प्रवाहित होने लगी। उनके क्रान्तिकारी व्यक्तित्वसे कोटि-कोटि मानव कृतार्थ हो गये। निस्सन्देह पतितों और गिरोंको उठाना, उन्हें गलेसे लगाना और करस्पर्श द्वारा उनके व्यक्तित्वको परिष्कृत कर देना यही तो क्रान्तिकारीका लक्षण है। महावीरकी क्रान्ति जड़ नहीं थी, सचेतन थी और थी गतिशील। जो अनुभव-सिद्ध ज्ञानके शासनमें चल मुक्त चिन्तन द्वारा सत्यान्वेषण करता है, वही समाजमें क्रान्ति ला सकता है।

पुरुषोत्तम

महावीर पुरुषोत्तम थे। उनके बाह्य और आभ्यन्तर दोनों ही प्रकारके व्यक्तित्वोंमें अलौकिक गुण समाविष्ट थे। उनका रूप त्रिभुवनमोहक, तेज सूर्य-को भी हतप्रभ बनानेवाला और मुख सुर-नर-नागनयनको मनहर करने वाला था। उनके परमौदारिक दिव्य शरीरकी जैसी छटा और आभा थी,

उससे भी कहीं अधिक उनकी आत्माका दिव्य तेज था। अनन्तज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्त सुख और अनन्तवीर्य गुणोंके समावेशने उनके आत्मतेजको अलौकिक बना दिया था। निष्कामभावसे जनकल्याण करनेके कारण उनका आत्मबल अनुपम था। वे संसार-सरोवरमें रहते हुए भी कमलपत्रवत् निर्लिप्त थे। उनका यह व्यक्तित्व पुरुषोत्तम विशेषणसे विशिष्ट किया जा सकता है।

यों तो महावीरके व्यक्तित्वमें एक महामानवके सभी गुण प्राप्य थे, पर वे एक सच्चे ज्ञानी, मुक्ति-नेता, कुशल उपदेष्टा और निर्भीक शिक्षक थे। जो भी उनकी वाणी सुनता, वही उनकी ओर आकृष्ट हो जाता। वे ऐसे ऊर्ध्वरेता ब्रह्मचारी थे, जिन्हें 'घोरबंभचेर' कहा गया है। ब्रह्मचर्यकी उत्कृष्ट साधना और अहिंसक अनुष्ठानने महावीरको पुरुषोत्तम बना दिया था। तपःपूत भगवान् महावीर तीर्थंकर पुरुषोत्तम थे। श्रेष्ठ पुरुषोचित सभी गुणोंका समवाय उनमें प्राप्त था।

निःस्वार्थ

महावीरके व्यक्तित्वमें निस्वार्थ साधकके समस्त गुण समवेत हैं। वे तपश्चरण और उत्कृष्ट शुभ अध्यवसायके कारण निरन्तर जागरूक थे। उन्हें सभी प्रकारकी ऋद्धि-सिद्धियाँ उपलब्ध थीं, पर वे उनसे थे निर्लिप्त, आत्मकेन्द्रित, शान्त और वीतराग। आत्मापर कठोर संयमकी वृत्ति रखनेके कारण उनमें विश्व बन्धुत्व समाहित था।

महावीर न उपसर्गोंसे ही घबराते थे और न परीषह सहन करनेसे ही। वे सभी प्रकारके स्वार्थ और विकारोंको जीतकर स्वतन्त्र या मुक्त होना चाहते थे। अनादिकालसे चैतन्य-ज्योति आवरणोंसे आच्छादित है। जिसने इन आवरणोंको हटाकर बन्धनोंको तोड़ा है, जो संकल्प-विकल्पोंसे मुक्त हुआ है और जिसने शरीर और इन्द्रियोंपर पड़ी हुई परतोंको हटाया है, वही निःस्वार्थ जीवन यापन कर सकता है। तीर्थंकर महावीरके व्यक्तित्वमें यह निस्वार्थकी प्रवृत्ति पूर्णतया वर्त्तमान थी।

वस्तुतः तीर्थंकर महावीरके व्यक्तित्वमें एक महामानवके सभी गुण विद्यमान थे। वे स्वयंबुद्ध और निर्भीक साधक थे और अहिंसा ही उनका साधनासूत्र था। उनके मनमें न कुण्ठाओंको स्थान प्राप्त था और न तनावोंको। प्रथम दर्शनमें ही व्यक्ति उनके व्यक्तित्वसे प्रभावित हो जाता था। यही कारण है कि इन्द्रभूति गौतम जैसे तलस्पर्शी ज्ञानी पण्डित भी महावीरके दर्शनमात्रसे प्रभावित हुए और उनके शिष्य बन गये।

यह सार्वजनीन सत्य है कि यदि व्यक्तिके मुखपर तेज, छविमें सौन्दर्य, आँखोंमें आभा, ओठों पर मन्द मुस्कान, शरीरमें चारुता और अन्तरंगमें निश्छल प्रेम हो, तो वह सहजमें ही अन्य व्यक्तियोंको आकृष्ट कर लेता है। महावीरके बाह्य और अन्तरंग दोनों ही व्यक्तित्व अनुपम थे। उनका शारीरिक गठन, संस्थान और आकार जितना उत्तम था उतना ही वीतरागताका तेज भी दीप्ति युक्त था। वृषभके समान मांसल स्कन्ध, चक्रवर्तीके लक्षणों से युक्त पदकमल, लम्बी भुजाएँ, आकर्षक सौम्य चेहरा उनके बाह्य व्यक्तित्वको भव्यता प्रदान करते थे। साथ ही तपःसाधना, स्वावलम्बनवृत्ति, श्रमणत्वका आचार, तपोपलब्धि, संयम, सहिष्णुता, अद्भुत साहस, आत्मविश्वास आदि अन्तरंग गुण उनके आभ्यन्तर व्यक्तित्वको आलोकित करते थे। महावीर धर्मनेता, तीर्थंकर, उपदेशक एवं संसारके मार्ग-दर्शक थे। जो भी उनकी शरण या छत्रच्छायामें पहुँचा, उसे ही आत्मिक शान्ति उपलब्ध हुई।

निस्सन्देह वे विश्वके अद्वितीय क्रान्तिकारी, तत्वोपदेशक और जननेता थे। उनकी क्रान्ति एक क्षेत्र तक सीमित नहीं थी। उन्होंने सर्वतोमुखी क्रान्तिका शंखनाद किया, आध्यात्मिक, दर्शन, समाजव्यवस्था, धर्मानुष्ठान, तपश्चरण यहाँ तककी भाषाके क्षेत्रमें भी अपूर्व क्रान्तिकी। तत्कालीन तापसोंकी तपस्याके बाह्यरूपके स्थानमें आभ्यन्तररूप प्रदान किया। पारस्परिक खण्डन-मण्डनमें निरत दार्शनिकोंको अनेकान्तवादका महामन्त्र प्रदान किया। सद्गुणोंकी अवमानना करने वाले जन्मगत जातिवादपर कठोर प्रहारकर गुणकर्माधारपर जातिव्यवस्थाका निरूपण किया। इन्होंने नारियोंकी खोयी हुई स्वतन्त्रता उन्हें प्रदान की। इस प्रकार महावीरका व्यक्तित्व आद्यन्त क्रान्ति, त्याग, तपस्या, संयम, अहिंसा आदिसे अनुप्राणित है।

●